भागवत-दर्शन

(श्रीमद्भागवत-महापुराण)



प्रवचन

स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती

संकलन

सतीशबाला महेन्द्रलाल जेठी

भागवत-दर्शन

: २ :

(श्रीमद्भागवत-महापुराण)



प्रवचन

स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती

संकलन

श्रीमती सतीशबाला महेन्द्रलाल जेठी

भागवत-दर्शन : २ :
(श्रीमद्भागवत-महापुराण)

दोनों खंडों का मूल्य
४५०-००
चार सौ पचास रूपये मात्र

प्रथम संस्करण : ५०००
१५ फरवरी, १९८१
द्वितीय संस्करण : ११००
तृतीय संस्करण : १३००
चतुर्थ संस्करण : ११००
पंचम संस्करण : ११००
षष्ठ संस्करण : ७५०
सप्तम् संस्करण : ११००
अष्टम संस्करण : ११००
२४ जून २००६
रथ यात्रा



प्रकाशक :
सत्साहित्य प्राकाशन ट्रस्ट
'विपुल' २८९१६ बी.जी. खेर मार्ग
मलाबार हिल,
मुम्बई - ४००००६
फोन : २३६८२०५५



मुद्रक – मैजिक इंटरनेशनल प्राइवेट लिमिटेड,
ग्रेटर नोएडा

।। श्री हरिः ।।

शुभाशीराशयः सन्तु

समय–समय पर पृथक् पृथक् स्थानों पर श्रीमद्भागवत के पाक्षिक प्रवचन हुए। अनेक भक्तों ने उन प्रवचनों को टेप कर लिया था। उनमें वह मुख्य प्रवचन था जो वाराणसी में श्री श्री माँ आनन्दमयी के आश्रम में हुआ था। सौभाग्यवती श्रीमती सतीशबाला जेठी ने वर्षों तक अत्यधिक परिश्रम करके उन्हें मिला–मिलाकर एक वृहद् ग्रन्थ प्रस्तुत कर दिया। यह काम बड़े परिश्रम और लगन का था। श्रीमती सतीशबाला महेन्द्रलाल जेठी यदि इतने परिश्रम और बुद्धिमत्ता से यह काम न करती तो इसका सम्पन्न होना बहुत ही कठिन था। हम उन्हें भूरि–भूरि शुभाशीर्वाद देते हैं। साथ ही श्री देवधर शर्मा को भी आशीर्वाद देते हैं, जिनकी सूझबूझ और सम्पादन–कला से यह प्रस्तुति इतनी सुन्दर और उपादेय बन सकी।

इसके प्रकाशित होने में सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट के ट्रस्टियों एवं विशेष करके श्रीमती हेमलता खटाऊ एवं रतनसी भाई खटाऊका जो उत्साहपूर्ण सहयोग रहा, वह भी कम प्रशंसनीय नहीं है। भगवान इन सभी उत्साही, प्रयत्नशील भागवत–प्रेमियों को अपनी भक्ति और भगवत्सेवा में रुचि देता रहे।

श्री विश्वम्भरनाथ द्विवेदी, आनन्दकानन प्रेस के प्रकाशक, मुद्रक भी सर्वथा आशीर्वाद एवं धन्यवाद के पात्र हैं, जिन्होंने इतना विशाल ग्रन्थ अल्प समय में ही मुद्रित करके दे दिया।

धर्मे मतिरस्तु, भगवति रतिरस्तु !

स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती

॥ श्री हरिः ॥

सबके लिए हितकारी

अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः ।
तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम् ॥ (२.३.१०)

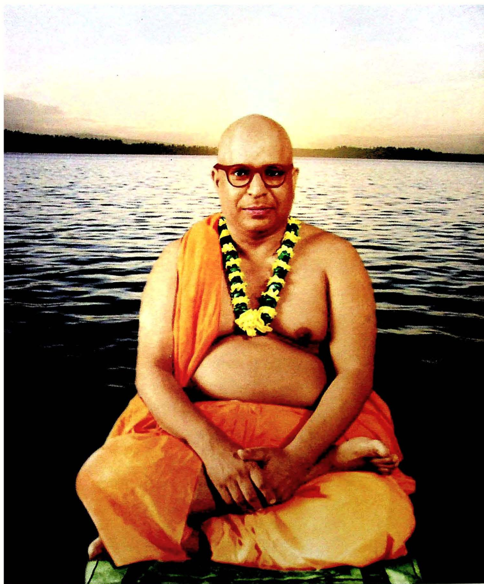
सम्पूर्ण विश्व के भगवद्चरणानुरागी,विरागी संतसमाज एवं श्रीमद्भागवत सप्ताह के कथावाचक,विद्यार्थी,विद्वान्-सबके लिए हितकारी,परम पूज्य परम आराध्य सद्गुरुदेव महाराजश्री के मुखारविन्द से प्रकट यह भगवद्विग्रह वाङ्मय 'भागवत - दर्शन' अपने अष्टम संस्करण में प्रवेश करने जा रहा है।

जो बुद्धिमान पुरूष है-वह चाहे निष्काम हो,कामनाओं से युक्त हो अथवा मोक्ष चाहता हो-उसे तो तीव्र भक्तियोग के द्वारा केवल पुरुषोत्तम भगवान् की ही आराधना करनी चाहिए------और श्रीमद्भागवत महापुराण का दर्शन ,स्पर्श,स्मरण,अध्ययन,श्रवण आदि भगवदाराधना का ही रूप है,जिससे अन्तःकरण शुद्ध होता है और भगवान् एवं उनकी दया का साक्षात् अनुभव प्राप्त होता है।

इस चंचल संसार में अचल है श्रीमद्भागवत का ज्ञान !

स्वामी सच्चिदानन्द सरस्वती
अध्यक्ष
सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट

श्रीवृन्दावन धाम
२४ जून २००६
रथ यात्रा



स्वामी अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज

भागवत-दर्शन : २ :

विषय-क्रम

भागवत-दर्शन

श्रीमद्भागवत महापुराण

२

भूमिका



प्रवचन
अनन्तश्री विभूषित
स्वामी अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज

श्रीमद्भागवत-महापुराण

प्रथमस्कन्ध : अधिकार

भगवान् ही प्रतिपाद्य :

श्रीमद्भागवत महापुराणमें केवल भगवान् ही प्रतिपाद्य हैं। 'भग' छः होते हैं—ज्ञान, वैराग्य, धर्म, ऐश्वर्य, यश और श्री। ये छः जिसमें सम्पूर्ण रूपसे नित्य निवास करते हैं, उसको भगवान् कहते हैं। इसी भगवान्‌का प्रतिपादक होनेके कारण इस महापुराणका नाम 'भागवत' है। प्रथम स्कन्धके प्रथम अध्यायमें छः प्रश्न होनेका यही अभिप्राय है। प्रश्न अनेक होनेपर भी उनके द्वारा एक ही वस्तु प्रष्टव्य एवं ज्ञातव्य है। सूतजी प्रश्नका अभिनन्दन करते हुए कहते हैं कि आप लोगोंने श्रीकृष्णके सम्बन्धमें प्रश्न किया है, अतः इन प्रश्नोंसे ही हृदय पवित्र एवं निर्मल हो जाता है। अन्य पुराणोंमें समग्र ऐश्वर्य, धर्म आदि 'भग' शब्दार्थका जिस क्रमसे वर्णन है वह यहाँ विवक्षित नहीं है। प्रश्न छः हैं और स्कन्ध बारह हैं, अतः दो-दो स्कन्धोंमें एक-एक प्रश्नका उत्तर होना चाहिए। पहले दो स्कन्धोंमें ज्ञान, तीसरे-चौथे स्कन्धोंमें वैराग्य, पाँचवें-छठे स्कन्धोंमें धर्मके दो प्रकार—स्थान तथा पोषण, सातवें-आठवेंमें प्रह्लाद, मनु आदिके चरित्रोंके द्वारा ऐश्वर्य, नवें-दसवेंमें यश एवं ग्यारहवें-बारहवेंमें श्रीका निरूपण है। यही भगवान्‌का स्वरूप-रमण है। अथवा क्रम-भङ्ग न करके क्रमसे ही ऐश्वर्य आदिका प्रतिपादन किया जा सकता है। इस प्रकार प्रश्नोंसे ही 'श्रीमद्भागवत' नाम सिद्ध हो जाता है।

मङ्गलाचरणमें गायत्री, सृष्टि, श्रुति और ब्रह्मसूत्रका सार आजाता है। भगवान् ही सृष्टिकर्ता हैं, यह सविता पदका अर्थ है। उपनिषदोंमें भगवान्‌से ही सृष्टिका वर्णन है। ब्रह्मसूत्रमें 'जन्माद्यस्य यतः' यह सूत्र है, जो कि श्रीमद्भागवतका प्रथम वाक्य है। इससे यह सिद्ध होता है कि वेद, उपनिषद् और ब्रह्मसूत्रका जो परम तात्पर्य है वही श्रीमद्भागवतका भी है। विशेषता यह है कि ब्रह्मसूत्रोंमें जहाँ अधिकारी-विशेषके लिए ब्रह्मज्ञानका उपदेश है, वहाँ भागवतमें 'अथातः'का प्रयोग किये बिना ही 'जन्माद्यस्य यतः'का उल्लेख है। ठीक ही है, भगवान्‌से प्रीति और उनकी सेवा करनेमें अधिकारका कोई प्रश्न नहीं उठ सकता। अपने स्वामीका ज्ञान हो या आत्माका ज्ञान हो, उसमें अधिकारका क्या प्रश्न है? यही कारण है कि श्रीमद्भागवतके प्रारम्भमें 'अथातः'का प्रयोग नहीं है।

भगवत्तत्त्व क्या है?

मङ्गलाचरणमें ही भगवत्तत्त्वका स्वरूप स्पष्ट कर दिया गया है, जिससे इस दृश्यमान नामरूपात्मक प्रपञ्चका जन्म, स्थिति एवं प्रलय होता है, वह सद् वस्तु ही भगवान् है। प्रपञ्च = जगत्‌का जन्म होता है,

स्थिति भी होती है और प्रलय भी होता है, परन्तु जिससे यह सब होता है, वह इनसे विलक्षण है। जगत्का जन्म है, सत्यका नहीं। जगत्की स्थिति है, सत्यकी नहीं। जगत्का प्रलय है, सत्यका नहीं। जगत् इदं है, सत्य इदंसे विलक्षण है। उसी सत्यसे सबकी सिद्धि होती है। परन्तु सबके बिना भी सत्य ज्यों-का-त्यों रहता है। इदं न होनेके कारण वह अहंसे उपलक्षित होता है। अहंसे उपलक्षित होनेके कारण वह चेतन है। चेतन होनेपर भी वह जीव या हिरण्यगर्भ नहीं है, उनसे विलक्षण है। वेदोंका ज्ञान भी उसीके द्वारा प्रकट होता है। वेदोंसे ही वह सिद्ध होता है। वेदोंको प्रकट करनेवाला परमात्माके सिवाय और कोई नहीं हो सकता। उसीकी सत्तासे सबकी सत्ता है, उसीके ज्ञानसे सबका ज्ञान है। उसकी सत्ता और ज्ञान नित्य सिद्ध हैं। जगत्की सत्ता और ज्ञान बादमें प्रकट होते हैं और पहले लुप्त हो जाते हैं। अतः सत्ता एवं ज्ञान परमात्माके ही यथार्थ हैं, दूसरेकी सत्ता एवं ज्ञान मिथ्या हैं। उस परमात्मामें न माया है, न छाया है। वह प्रत्यक्-चैतन्यसे अभिन्न है। इसी-वस्तु निर्देशात्मक मङ्गलाचरणके चिन्तनसे श्रीमद्भागवतका प्रारम्भ होता है।

अधिकार-विचार :

श्रीकृष्ण-सम्बन्धी प्रश्न एवं उत्तर हृदयको शुद्ध करता है। धर्मसे अन्तःकरणकी शुद्धि होती है, यह ठीक है। परन्तु भगवत्सम्बन्धी प्रश्नोत्तरसे अन्तःकरण शुद्धिके साथ-साथ भगवान्के प्रति अहैतुकी भक्ति एवं भगवत्तत्त्वका ज्ञान भी हो जाता है, क्योंकि भक्ति, ज्ञान एवं वैराग्यकी जननी है। धर्मका भलीभाँति अनुष्ठान करनेपर भी यदि भगवद्भक्ति न हो तो वह केवल श्रम ही रह जाता है। धर्मका फल मोक्ष है, धन नहीं। जीवके जीवनकी सफलता है, तत्त्वविचार, कर्म नहीं। यह बात स्पष्ट कही गयी है कि तत्त्वके नाम तो भगवान्, परमात्मा, ब्रह्म अनेक हैं, परन्तु उसका वास्तविक स्वरूप ज्ञाता एवं ज्ञेयके विभागसे रहित अद्वय ज्ञान ही है। तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति होनेपर हृदय-ग्रन्थिका भेदन, सम्पूर्ण संशयोंका छेदन एवं अनादि परम्परासे सञ्चित कर्म-राशिका क्षय हो जाता है।

भगवान् अरूप एवं चिदात्मा हैं। यह सम्पूर्ण प्राकृत रूप परमात्मामें उसी प्रकार भास रहा है, जैसे आकाशमें बादल। अज्ञानके कारण ही यह परमात्मामें आरोपित हुआ है। जब ब्रह्मात्मैक्य-बोधके द्वारा स्थूल-सूक्ष्म कार्य-कारण भावका निषेध हो जाता है, तब वस्तु-तत्त्वका साक्षात्कार होता है। इस प्रकार इन तीन अध्यायोंमें ग्रन्थका उपक्रम किया गया है। यह सूत-शौनक-सम्वाद नैमिषारण्य क्षेत्रमें यज्ञाङ्गके रूपमें हुआ है। शौनकादि ऋषि यज्ञमें अवकाश प्राप्त होनेपर सूतसे पुराण-श्रवण करते हैं। यह भी शास्त्रीय विधि है, इसमें कथा मुख्य नहीं होती, यज्ञ ही मुख्य होता है। यजमान हैं ऋषि और वक्ता हैं सूत। अतः श्रोतामें अपनी श्रेष्ठताका अभिमान भी है। इस स्थितिमें श्रीमद्भागवतका श्रवण, वर्णन विलम्बसे फलप्रद होता है। तीन अध्यायोंका यह सार है।

चतुर्थ अध्यायसे षष्ठ-अध्यायतक नारद-व्यास संवाद है। व्यासजी स्वयं भगवान्के कलावतार हैं,

परन्तु लोकहितकी चिन्ता उन्हें लगी हुई है। उन्होंने अपनी शक्तिभर लोक-कल्याणके लिए प्रयत्न किया, परन्तु उनके चित्तमें पूर्ण सन्तोष नहीं है। उनके समाधानके लिए भगवत्स्वरूप नारदका आगमन होता है। दोनोंके संवादमें यह अभिप्राय प्रकट हुआ है—अल्पज्ञ, अल्पशक्ति जीव अपने प्रयत्नके द्वारा चाहे वे कितने भी विद्वान् हों, कर्मठ हों, इस संसारका पार नहीं पा सकते। परिपूर्णतम प्रभुके वर्णन, श्रवण, चिन्तन एवं स्मरणके अतिरिक्त इस संसारकी चिन्ता एवं दुःखसे मुक्ति पानेका कोई साधन नहीं है। नारदजीने केवल प्रवचनके द्वारा नहीं, अपनी अनुभूतिके रससे भी इस रसको पुष्ट किया। लोकचिन्ताके कारण व्यासजीको चिरकालतक समाधिके द्वारा भगवान्‌के स्वरूप, स्वभाव, गुण, लीला आदिका चिन्तन करना पड़ा। चिन्ताकी निवृत्ति चिन्तनसे ही हो सकती है। अतएव नारद-व्यास-संवाद एक दीर्घकालिक श्रवण, कीर्तन, स्मरण आदिमें परिसमाप्त होता है। जैसे व्यासको लोकचिन्ता है, वैसे ही नारदको भी लोकचिन्ता है। वे लोक-लोकान्तरमें पर्यटन करके स्वयं भी भगवान्‌में रमते हैं और लोगोंको भी रमण करनेके लिए प्रेरित करते रहते हैं। यहाँ भी श्रवण तत्काल सफल नहीं होता है, कालान्तरमें फलपर्यवसायी होता है।

तीसरा संवाद है शुकदेव एवं परीक्षितका। श्रीमद्भागवतके यही दोनों मुख्य वक्ता एवं श्रोता हैं। बारह अध्यायोंमें परीक्षितका एवं एक अध्यायमें शुकका वर्णन है। परीक्षितको न यज्ञके अङ्गके रूपमें भागवतका श्रवण करना है और न तो लोकहितकी दृष्टिसे। उनमें स्वयं अपने कल्याणकी दृष्टि तथा सत्यकी जिज्ञासा है। ऐसा होना स्वाभाविक था, क्योंकि राजा परीक्षित अनेक दृष्टियोंसे योग्य अधिकारी थे। उनकी प्रपितामही कुन्ती, पितामही सुभद्रा एवं माता उत्तरा तीनों ही भगवद्भक्त थीं। कुन्तीने अपने लिए विपत्तिका वरदान माँगा था कि उन विपत्तियोंसे रक्षा करनेके लिए बार-बार भगवान्‌का दर्शन होता रहे। सुभद्रा और द्रौपदीने पुत्रोंकी मृत्यु होनेपर भी भगवान्‌को कोई उलाहना नहीं दिया। सुभद्रा तो मूक रहकर अपने भाई श्रीकृष्णकी लीला देख रही थी। द्रौपदी सोते हुए पुत्रोंकी मृत्यु होनेपर भी उनके कल्याणके लिए ही या भगवत्प्राप्तिके लिए ही दुःखी हुईं, ममता सम्बन्धसे नहीं। उनको ऐसा लगने लगा कि बिना युद्धके निद्रावस्थामें मारे जानेके कारण वे कहीं श्रीकृष्ण-प्राप्तिसे वंचित न रह जायें! इसका स्पष्ट प्रमाण है कि पुत्रघाती अश्वत्थामाको पाशबद्ध देखकर उनका मन गुरुपुत्रके प्रति श्रद्धासे भर आया, सिर झुकाकर, हाथ जोड़कर प्रणाम किया और करुण स्वरमें कहा कि 'जैसे पुत्र-शोकसे मैं दुःखी हो रही हूँ, वैसा दुःख इसकी माता कृपीको न हो, छोड़ दो, छोड़ दो।' परीक्षित जब अपनी माता उत्तराके गर्भमें थे और अश्वत्थामाने ब्रह्मास्त्रका प्रयोग किया तब उत्तरा पाण्डवोंकी शरणमें न जाकर श्रीकृष्णकी शरणमें आयी और निवेदन किया कि इस ब्रह्मास्त्रसे मैं भले ही मर जाऊँ परन्तु गर्भस्थ शिशुकी मृत्यु नहीं होनी चाहिए, क्योंकि वह आपके भक्तवंशका अन्तिम अंकुर है, उसके न रहनेपर भक्तिका ह्रास होगा और आपके यशमें कलंक लग जायेगा। भगवान् स्वयं गर्भमें प्रवेश करके उत्तराके पुत्र बने और अपने बड़े भाई परीक्षितकी रक्षाके लिए इतने व्याकुल हो गये कि गदा और चक्र दोनोंका ही प्रयोग कर दिया और

परीक्षितकी रक्षा की। जिसने गर्भावस्थामें ही भगवान्का दर्शन प्राप्त कर लिया, उसका अधिकार भागवत-श्रवण करनेके लिए कितनी उच्चकोटिका था, यह कहनेकी आवश्यकता नहीं है।

अधिकारी-चिन्तन :

लौकिक सम्बन्धसे परीक्षितके प्रपितामह पाण्डु थे। वे साधारणतः पौरव एवं कौरव वंशसे पृथक् हो गये थे, क्योंकि वे महर्षि व्यासके पुत्र हैं। उनकी पत्नी कुन्ती धर्मशील यदुवंशकी पुत्री थी। दैविक सम्बन्धसे युधिष्ठिर आदि पाण्डव जिनमें अर्जुन भी थे, देवताकी सन्तान थे। कुन्तीपर शङ्करांश दुर्वासाकी कृपा थी और इन्द्रके पुत्रके रूपमें ही अर्जुनका जन्म हुआ था। अर्जुन साधारण मनुष्य नहीं, देवांश थे। वे श्रीकृष्णके अभिन्न सखा थे। श्रीकृष्ण सारथ्य आदिके द्वारा उनकी सेवा करके सुखी होते थे। श्रीकृष्णने अपने मुखसे ही अर्जुनको सखा, भक्त एवं अपना इष्ट कहा है। अर्जुनकी पत्नी सुभद्रा श्रीकृष्णकी सगी बहन थी। योगमायारूप होनेके कारण वे श्रीकृष्णकी शक्ति हैं। श्रीकृष्णके अतिरिक्त उनका कोई दूसरा पति नहीं हो सकता था, परन्तु अर्जुन एवं कृष्ण, नर-नारायण होनेके कारण एक ही सत्त्वके दो रूप हैं। अतः अर्जुनके साथ उनका विवाह हुआ; क्योंकि इस अवतारमें भाई-बहन होनेके कारण श्रीकृष्णके साथ उनका विवाह उचित नहीं था। ऐसे अर्जुन परीक्षितके पितामह हैं। परीक्षितके पिता थे अभिमन्यु। वे गर्भमें ही कितने प्रतिभा-सम्पन्न थे कि चक्रव्यूहका भेदन सीख लिया। शक्तिशाली इतने थे कि किशोरावस्थामें ही कौरव महारथियोंके छक्के छुड़ा दिये। उन्हें भक्ति करनी नहीं पड़ी थी, भानजेके सम्बन्धसे मामाका वरद हस्त उनके सिरपर था। बरसोंतक द्वारकामें रहकर उन्होंने शिक्षा प्राप्त की थी। ऐसे पिताके पुत्र थे परीक्षित। गर्भमें भगवान्का दर्शन होनेके कारण जो कोई भी उनके सामने आता, एक बार उनकी दृष्टि इसी बातपर जाती कि कहीं यह वही तो नहीं हैं?

परीक्षित भगवान्के सम्बन्धी, कृपापात्र भक्त एवं वात्सल्यभाजन थे। उनमें दिव्यदृष्टि स्वाभाविक थी। उन्होंने धर्म और पृथिवीका (जो कि वृषभ एवं गायके रूपमें थे) सम्वाद सुनकर समझ लिया और पहचान लिया कि ये पृथिवी और धर्म हैं। कलियुग-रूप कालको उन्होंने दण्ड दिया और शरणागत होनेपर वर भी दिया। इतने प्रभावशाली भक्तके प्रति भी यदि श्रीमद्भागवतका अवतरण न होता तो और किसके लिए होता? उन्हें सब कुछ प्राप्त था—मातृवंश-पितृवंशकी योग्यता, सप्तद्वीपवती पृथिवीका एकच्छत्र साम्राज्य, ऐश्वर्य, दैवी सिद्धि; प्रभाव, सद्गुण, दयालु स्वभाव, युवावस्था, विचार, वैराग्य, त्याग, भक्ति और सबसे बड़ा भगवान्का अनुग्रह। समाधिस्थ ऋषियोंको देखकर उनको बुद्धिमें विकार नहीं आया था, स्वर्ण धारणके कारण कलियुगके प्रभावसे उनकी बुद्धि भ्रष्ट नहीं हो सकती थी, उनकी बुद्धि भगवदीय थी। फिर उनके मनमें क्षोभ एवं क्रोध क्यों हुआ? इसलिए हुआ कि मृत्यु तो एक-न-एक दिन होनी ही थी, परन्तु वह मृत्यु भी सब लोगोंके लिए सब कालमें, सब देशमें कल्याणकारी हो जाये। जिस शरीरकी ब्रह्मास्त्रसे दग्ध होनेपर मृत्यु नहीं हो सकी थी, भगवान्ने बचा लिया था, उसकी मृत्यु किसी

अन्य निमित्तसे नहीं हो सकती थी। अतः भगवान्‌ने उनकी बुद्धिको ऐसी बना दिया कि उन्हें ब्रह्मास्त्रसे भी प्रबल ब्राह्मणके वाङ्‌मयास्त्रसे मृत्युकी प्राप्ति हो। ब्रह्मास्त्रका निवारण तो भगवान्‌ने स्वयं गदा एवं चक्रके प्रयोगसे कर दिया था, परन्तु वाङ्‌मयास्त्रका निवारण गदा, चक्र आदिके द्वारा नहीं हो सकता था, इस वाङ्‌मयास्त्रका निवारण तो वाङ्‌मय-अस्त्रसे ही हो सकता था। अतः परीक्षितको ही निमित्त बनाकर केवल द्वापरके लिए नहीं, सदाके लिए भगवान्‌ने भागवतके रूपमें वाङ्‌मय-अवतार ग्रहण किया। अपने अवतारके लिए ही प्रभुने परीक्षितको देवकी-यशोदाके समान पात्र निर्माण किया। परीक्षितकी इसी पात्रताका निरूपण बारह अध्यायोंमें है। इसी प्रसंगमें भीष्म पितामह, धृतराष्ट्र, विदुर, युधिष्ठिर, कुन्ती, द्रौपदी आदिकी मुक्तिका भी वर्णन है। जब परीक्षितके सभी सम्बन्धी पूर्वजोंकी भगवद्भक्ति और भगवच्चिन्तनसे मुक्ति हो गयी तो परीक्षितकी मुक्तिके सम्बन्धमें सन्देह ही कहाँ रह जाता है? अनिवार्य ब्रह्मास्त्रसे रक्षा और दुरत्यय ब्रह्मदण्डसे भी मुक्ति—यह भगवान्‌के विशेष अनुग्रहका द्योतक है और इससे बढ़कर दूसरा साधन हो नहीं सकता।

भागवतके श्रोता एवं वक्ताकी श्रेष्ठता :

श्रीशुकदेवजीके प्रति शौनकादि ऋषियोंकी अतिशय श्रद्धा है। वे उन्हें निवृत्तिपरायण, अत्यन्त विरक्त एवं आत्मारामके रूपमें जानते हैं। उनका मिलना दुर्लभ है—यह भी उन्हें ज्ञात है। उन्हें यह सुनकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि उन्होंने श्रीमद्भागवतका अध्ययन किया और सम्राट् परीक्षितको उसका श्रवण कराया। इस प्रसङ्गमें श्रीसूतजीने श्रीशुकदेवजीके निरतिशय माहात्म्यके साथ-साथ भगवान्‌के गुणोंकी आकर्षण-शक्तिका भी वर्णन किया था। भगवान्‌के गुण महान्-से-महान् व्यक्तिको भी आकृष्ट कर लेते हैं और वे उसके श्रवण-वर्णनमें तत्पर हो जाते हैं। शुकदेव सिद्धपुरुष थे या शङ्करके अवतार थे या स्वयं भगवान् ही अपने भक्तके प्रेमसे शुकदेव बनकर आये थे—इसके निर्णयमें पड़नेकी आवश्यकता नहीं है। व्यासजीने श्रीमद्भागवतके अनादि स्वरूपका स्मरण किया। तब युग-युगके, कल्प-कल्पके कोटि-कोटि शुकदेव और कोटि-कोटि परीक्षित उनके हृदय-पटलपर प्रकट होने लगे। उन्होंने सब शुकदेवोंमें-से त्याग-वैराग्य-अनुभूतिको और कोटि-कोटि परीक्षितोंमें-से भगवद्-अनुग्रह, भक्ति एवं श्रद्धाको समेटकर दोनोंको मूर्त रूप दिया और उनके द्वारा वही श्रुतिसार-सर्वस्व परमाह्लादमयी भगवत्कथारूप भागवतका बिस्तार किया। यह भागवत-पुराण अनादि है, सनातन है, प्रवाहरूपसे नित्य है और जीव-जगत्‌के लिए शाश्वत कल्याणका साधन है, भगवत्स्वरूप है। इसमें अनेक ऋषियोंके मध्यमें निर्गुणनिष्ठ श्रीशुकदेवके मुखसे निःसृत अमृतका समस्त शास्त्रोंके तात्पर्यका निर्णय है। यह ऋषिसम्मत है, लोकहितकारी है। अतएव श्रीमद्भागवतके मुख्य निर्गुण वक्ता शुकदेव हैं और मुख्य निर्गुण श्रोता परीक्षित हैं। इनके सम्वादमें न सूत-शौनकके सम्वादके समान भागवतकी गौणता है और न तो नारद, व्यास सम्वादके समान लोक-चिन्ता। भगवद्भावके सहज वक्ता हैं शुकदेव और भगवत्कृपापात्र परीक्षित हैं श्रोता। इस प्रकार

प्रथम स्कन्धमें तीन, तीन, बारह और एकके क्रमसे उन्नीस अध्यायोंमें श्रोता वक्ताके स्वरूपका निरूपण किया गया है।

द्वितीय स्कन्ध : साधन

श्रोता और वक्ता कैसा ?

यह असंदिग्ध रूपसे सिद्ध है कि श्रीमद्भागवतके मुख्य वक्ता और श्रोता श्रीशुकदेव एवं परीक्षित ही हैं। सूत और शौनक यज्ञाङ्गरूपसे वर्णन-श्रवण करते हैं। अतः वहाँ भागवत-श्रवण गौण हो जाता है। सूतका व्यवसाय है यज्ञ-प्रसङ्गमें श्रीमद्भागवत सुनाना। शौनकादि यज्ञकी ग्राङ्गतासिद्धिके लिए श्रवण करते हैं। नारद-व्यासके संवादमें भी लोकहितकी ही विशेष चिन्ता है। व्यासजीके शक्तिशाली प्रयास करनेपर भी न लोककल्याणकी सिद्धि हुई और न तो उनके चित्तको परितोष ही मिला। नारदने उनकी त्रुटियोंकी ओर संकेत किया और समाधिके द्वारा भगवल्लीला-चिन्तनका निर्देश दिया। इन दोनोंके सम्वादमें आत्म-लाभ, ब्रह्मज्ञान, मोक्ष-प्राप्ति अथवा भगवत्तत्त्व-साक्षात्कारके लिए कोई उत्सुकता अथवा उत्साह नहीं था। परन्तु शुक-परीक्षित-सम्वाद इन दोनों सम्वादोंसे सर्वथा विलक्षण है। यह ध्यान देने योग्य है कि श्रीशुक निर्गुण भावमें परिनिष्ठित हैं; निवृत्तिपरायण, आत्माराम एवं ब्रह्मनिष्ठ पुरुष हैं। साथ ही राजा परीक्षित लोक-परलोककी चिन्तासे मुक्त वैराग्यवान एवं निर्भय हैं। वे कहते हैं कि स्वयं मृत्यु अपने वेषमें या कपटी वेषमें आकर इस शरीरको भले ही नष्ट कर दे, परन्तु आप तो हमें भगवद्गाथा ही सुनाइये। इन दोनों श्रोता-वक्ताओंका व्यक्तिगत अथवा सामूहिक रूपसे कोई भी स्वार्थ-परार्थ नहीं है। ये शुद्ध रूपसे भगवद्-गुणाकृष्ट होकर मनसे उन्हींके वर्णन एवं श्रवणमें संलग्न हैं।

परम पुरुषार्थका एकमात्र साधन क्या ?

श्रीमद्भागवतके द्वितीय स्कन्धमें यह निर्णय किया गया है कि मनुष्यका जीवन क्षण-क्षण क्षीण हो रहा है। जान नहीं पड़ता, देखते-देखते आयु सरकती जाती है। ज्ञातव्य अनेक हैं, कर्त्तव्य भी अनेक हैं, परन्तु अल्प समयमें भी महान्-से-महान् उद्देश्य प्राप्त किया जा सकता है। भगवान् श्रीहरि सर्वान्तर्यामी एवं सर्वस्वरूप हैं। अतः अभय पदकी प्राप्तिके लिए भगवान्का ही श्रवण, कीर्तन तथा स्मरण करना चाहिए। नारायणका स्मरण ही जीवका सर्वोपरि कल्याण है। धर्मनिष्ठा सांख्य, योग अर्थात् सब साधनोंका फल परम लाभ यही है। साधारण जीवोंकी तो बात ही क्या, विधि-निषेध शास्त्रसे अतीत निर्गुणनिष्ठ मुनि भी भगवद्-गुणानुवादमें ही रमते हैं, क्योंकि उन्हें विषय-विक्षेप और समाधि-साधना दोनों ही निष्प्रयोजन हो चुके हैं। श्रीशुकदेवजी ऐसे ही महापुरुष हैं। उनका हृदय श्रीकृष्ण-लीलासे आकृष्ट है। उसीके ध्यान और ज्ञानमें वे मग्न रहते हैं। अतः श्रीमद्भागवतका यह निर्णय है कि भगवद्विषयक वर्णन एवं श्रवण ही मनुष्यके लिए एकमात्र परम पुरुषार्थका साधन है।

'श्रवण'से तात्पर्य :

'श्रवण' का अर्थ है—पदमें निहित सहज शक्ति और वाक्यके तात्पर्यका निश्चय। केवल कानोंसे शब्द एवं वाक्योंका श्रवण ही 'श्रवण' नहीं है। 'श्रवण'का अर्थ होता है साधन-साध्यके स्वरूपका निश्चय। वेदान्तमें भी उपनिषदोंके परम तात्पर्यका निश्चय ही 'श्रवण' शब्दसे कहा गया है। निर्गुणका श्रवण यदि प्रतिबन्ध-रहित हो तो तत्काल आवरणभंग कर देता है। सगुणका श्रवण अंगी है, शरीरी है और उसके तीन अङ्ग आवश्यक हैं। वे अङ्ग हैं—तत्त्वस्वरूपका ध्यान, हृदयका प्रसाद—निर्मलता, चित्तशुद्धि और तीसरा अङ्ग है मनन। इन्हींके अनुसार द्वितीय स्कन्धका प्रकरण-विभाग बनता है। पहले अङ्गकी पूर्तिके लिए निश्चिन्त होकर पुण्य-तीर्थ-सेवनकी अपेक्षा होती है। निर्भय होकर देह और उसके सम्बन्धियोंकी स्पृहाका परित्याग हो जाना चाहिए। आसनपर बैठकर भगवन्नामका जप और भगवत्स्वरूपका ध्यान करना चाहिए। मनुष्यके मनको कर्म करनेका अभ्यास हो गया है। इस स्वाभाविक प्रवृत्तिको भगवान्‌की ओर उन्मुख करनेके लिए निर्मल बनना आवश्यक होता है। निर्मल बनानेके लिए जो विषयोंमें राग-द्वेष है उसकी निवृत्ति होनी चाहिए। कारणका निवारण हुए बिना कार्यका निवारण नहीं होता। शुभ-अशुभ, हेय-उपादेयका चिन्तन करते-करते मनमें राग-द्वेष भर गया है। अनुकूलके प्रति राग और प्रतिकूलके प्रति द्वेष हो गया है। विश्व-प्रकृतिके प्रवाहमें अनुकूल-प्रतिकूल आते-जाते रहते हैं। इनका अनुरोध या विरोध करके कोई भी शान्ति-लाभ नहीं कर सकता। अतः यह विश्व-सृष्टि जिस तत्त्वसे प्रकट हुई, जिसमें रह रही है और जिसमें विलीन हो जाती है उसका ध्यान करना चाहिए। जिस वस्तुकी जिससे उत्पत्ति होती है, जिसमें लय होता है, जिसके प्रकाशसे प्रकाशित होती है, वह उससे भिन्न नहीं होती। संसारके सभी पदार्थ अपने अभावके अधिकरणमें ही भासते हैं। जिसमें अभाव है, उसीमें भाव है तो वह वस्तु अपने अत्यन्ताभावके अधिकरणसे पृथक् नहीं हो सकती। इसका अर्थ है कि सभी वस्तुएँ परमात्मरूपसे ही सत्य हैं, पृथक् नहीं। तब सब परमात्मा ही परमात्मा है। मनःकल्पित अनुकूलता-प्रतिकूलताका चिन्तन छोड़कर कोटि-कोटि ब्रह्माण्डोंके रूपमें भी परमात्माका ही चिन्तन करना चाहिए, क्योंकि एकमात्र वही सत्य है। जैसे स्वप्नके सब पदार्थ द्रष्टाकी दृष्टिमात्र ही हैं, वैसे ही जाग्रत्‌के पदार्थ भी द्रष्टाकी दृष्टि ही हैं। इस तत्त्वध्यानसे राग-द्वेषकी निवृत्ति होकर सब कुछ आत्मा-परमात्माके रूपमें अनुभव होने लगता है और आनन्दके निधान सर्वज्ञानस्वरूप भगवान्‌का अनुभव होने लगता है। श्रुत पदार्थका साक्षात्कार करनेके लिए यह ध्यान आवश्यक है। यदि यह 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'का ध्यान न हो सके तो साकाररूप इष्टदेवका ध्यान कर लेना चाहिए। साकार भगवान्‌के ध्यानसे चित्तशुद्धि हो जाती है। साकारके ध्यानसे चाहें तो ब्रह्मलोकमें भी जा सकते हैं। इससे क्रममुक्ति प्राप्त होती है। परन्तु ब्रह्मलोक और ब्रह्माण्डकी कल्पनासे विनिर्मुक्त होकर पृथिवी, जल आदि तत्त्वोंमें क्रमसे तादात्म्य करके ही तत्त्वसाक्षात्कारकी योग्यता आती है। भले ही क्रममुक्ति हो या सद्योमुक्ति, भक्ति ही निरुपद्रव मार्ग है। सभीके आत्मा श्रीकृष्ण हैं। वे ही आत्मरूपसे द्रष्टा हैं और सर्वरूप भी हैं।

इसलिए उनका श्रवण, कीर्तन एवं स्मरण ही सर्वविध मंगलोंका मूल है। निश्चय ही भगवान् सन्तोंके आत्माके रूपमें हैं। भगवान् निरावरण रूपसे रहते हैं। अतः कानके प्यालोंसे कथामृतको हृदयमें भर लेना चाहिए। इससे विषय-विदूषित हृदय पवित्र होता है और भगवत्तत्त्वका साक्षात्कार हो जाता है। तात्पर्य यह है कि समस्त-अनर्थ-निवृत्ति-पूर्वक भगवत्साक्षात्कार-रूप परमानन्दकी प्राप्तिके लिए श्रवण करना ही मुख्य साधन है। यही भक्ति है और भक्ति-जनक भी।

श्रवणमें श्रद्धाका रूप क्या है ?

तीसरे और चौथे अध्यायोंमें श्रद्धा सम्पत्तिका वर्णन है। सभी वेदोंमें श्रद्धाकी सर्वोपरि महिमाका वर्णन मिलता है। प्रातः, मध्याह्न और सन्ध्यामें श्रद्धाके आवाहन-मन्त्र हैं। श्रद्धासे ही सत्यकी प्राप्ति होती है। यदि श्रुतार्थमें सन्देह हो जाये तो उसका आचरण निष्फल और उसमें निष्ठा शिथिल हो जाती है। अतः संशयरहित होकर श्रवण करना चाहिए। यदि कामना-भेदसे देवता-विशेषमें श्रद्धा हो तो उसकी उपासना करनेसे मनोरथकी सिद्धि होती है। परन्तु देवताओंके विषय अलग-अलग होते हैं। वे अपने अधिकारके अन्तर्गत अपने जीवनकाल तकके लिए कोई वस्तु दे सकते हैं, सब वस्तु सर्वदाके लिए नहीं दे सकते। भगवान्में सभी विषय हैं और उनका अभाव भी। अतः सर्व विषयोंकी प्राप्तिके लिए या उनसे निष्काम होनेके लिए भी भगवान्का भजन ही श्रेष्ठ है। प्रभु स्वयं भावाभावसे मुक्त हैं। अतः उनके भजनसे परमार्थरूपसे ही मुक्तिकी प्राप्ति हो सकती है। देवतान्तरमें या विविध कामनाओंकी पूर्तिके लिए उपासना करनेमें सार-विशेष नहीं है। भगवद्-गुणानुवादमें ही श्रद्धा करनी चाहिए। श्रद्धा रतिकी जननी है। उससे कर्म एवं भोगके आधारभूत कर्तृत्व एवं भोक्तृत्वकी निवृत्ति हो जाती है। हृदयमें निर्मलता आती है। विषयोंमें अनासक्ति होती है। यह श्रद्धा-रति कैवल्य मोक्षके द्वारपर ले जाकर खड़ा कर देती है। अतः भगवत्कथामें रति विद्वान् पुरुषका स्वभाव होता है।

अपि च :

सम्पूर्ण दृश्यमान प्रपञ्च इस शरीरके साथ कालके विकराल गालमें समाता.जा रहा है। भगवत्स्मरणके बिना यह दुर्लभ आयु व्यर्थ बीतती जा रही है। हमें जो बुद्धि, मन, इन्द्रिय प्राप्त हैं उनकी सफलता विषय-चिन्तन, विषय-स्मरण या विषय-सेवनमें नहीं है। अपने जीवनके एक-एक अङ्गको श्रीहरिके रङ्गमें रंग देना चाहिए। वह हृदय नहीं, एक मांस-पिण्ड है और जो भगवान्के कथा-कीर्तन एवं नाम-स्मरणसे भी द्रुत नहीं होता। द्रुत होनेका लक्षण है—नेत्रोंमें अश्रु-प्रवाह, रोम-रोमका पुलकित होना। यही हृदयकी कठोरताको पिघलाकर भगवदाकार कर देता है। इसलिए भगवच्चरित्रका श्रवण अवश्य करना चाहिए। यह है शौनककी श्रद्धाका निदर्शन।

राजा परीक्षित अत्यन्त विवेकी एवं श्रद्धा-सम्पन्न थे। कथा-प्रवणचित्त होनेपर जो कुछ ममताका लेश चित्तमें शेष था, मिट गया। धर्म, अर्थ कामकी प्राप्तिके लिए कुछ कर्त्तव्य नहीं रहा। श्रद्धासे अहंकार

शिथिल हो गया। मोह-निबन्धन संसार-बन्धनका निःशेष निधन हो गया। वे प्रसन्न हृदयसे अत्यन्त विनयके साथ श्रीशुकदेवजी महाराजसे अपनी जिज्ञासाकी पूर्तिके लिए प्रश्न करने लगे।

हृत्-प्रसाद :

श्रीशुकका हृदय कितना निर्मल है। स्वयं आत्माराम निर्गुणनिष्ठ होनेपर भी भगवान् और उनके चरित्रके प्रति अत्यन्त आदर है। श्रद्धाने जीवन्मुक्तको नमस्कार-प्रवण कर दिया। वे भगवान्‌की स्मृति-धारामें निमग्न होकर स्तुति करने लगे। उनका निश्चय है कि भगवान्‌के समान और उनसे बड़ा कोई नहीं है। वे अपनी महिमामें ही रमण करते रहते हैं। प्रभुका कीर्तन, स्मरण, दर्शन, वन्दन, श्रवण और पूजन प्राणिमात्रकी पापराशिको तत्काल नष्ट कर देता है। संसारका श्रम और कलेश मिटा देता है! हीन-से-हीन पुरुष भी पूर्णता प्राप्त कर लेता है। भगवान्‌के चरणारविन्दके ध्यान-समाधिसे धुली हुई बुद्धि परमात्माके तत्त्वको साक्षात् देख लेती है। इसके बाद ध्यानी, ज्ञानी जीवन्मुक्त पुरुष अपनी रुचिके अनुसार परमात्माका निरूपण करने लग जाते हैं; क्योंकि परमात्माके अतिरिक्त तो और कुछ है ही नहीं। श्रीशुकदेवजी कहते हैं—वे ही प्रभु हमारी वाणी और उससे निकले हुए वाक्योंको अलंकृत कर दें। श्रीशुकदेवजीकी श्रद्धा अपार है, अनुभवमूलक है। इस प्रकार तीसरे और चौथे अध्यायोंमें सूत, शौनक, राजा परीक्षित एवं श्रीशुकदेवजीकी श्रद्धाको अभिव्यक्ति दी गयी है। यही हृदयका प्रसाद है।

'मनन'का मनन :

मननके दो प्रकार हैं। प्रथम प्रकारका मनन उत्पत्तिके विचार द्वारा होता है। द्वितीय प्रकारका मनन उपपत्तियोंके द्वारा सम्पन्न होता है। द्वितीय स्कन्धमें पाँचवें अध्यायसे सातवेंतक तीन अध्यायोंमें उत्पत्तिके द्वारा मननकी प्रक्रिया है, आठवेंसे दसवेंतक उपपत्तिके द्वारा। परिवर्तनशील अनित्य वस्तुओंका जन्म होता है। नित्य किन्तु परिच्छिन्न वस्तुओंका समागम होता है। नित्य एवं अपरिच्छिन्न वस्तुका प्राकट्य होता है। अभिप्राय यह कि जगत्‌का जन्म, जीवोंका समागम एवं ईश्वरका प्राकट्य होता है। सिद्धान्त यह है कि ईश्वरसे उत्पन्न होनेके कारण सब ईश्वररूप ही हैं। तत्त्वतः परमात्मासे पृथक् कोई वस्तु नहीं है। मायामोहित दुर्बुद्धि-पुरुष ही 'मैं' और 'मेरा'की बकवाद करते हैं। जो कुछ भी है—द्रव्य, कर्म, काल, स्वभाव, जीव—परमात्मासे पृथक् नहीं है। वेद, देवता, लोक, यज्ञ, योग, तप, ज्ञान, गति—सबका तात्पर्य परमतत्त्वके बोधनमें ही है। इसीसे अन्वय-व्यतिरेकके द्वारा जीव-जगत्‌की भगवद्रूपताका प्रतिपादन किया जाता है। जो कुछ हो रहा है, हुआ है और होगा—परमात्मा वह सब कुछ तो है ही, उससे परे भी है।

भगवानेव केवलम्, एक मनन :

ब्रह्माजी कहते हैं कि 'जब मैं परमात्माकी आकाशवत् विस्तीर्ण और उदीर्ण नाभिसे उत्पन्न कमलपर प्रकट हुआ तब मैंने देखा कि विराट् पुरुषके अवयवोंके अतिरिक्त विराट् प्रभुकी पूजा करनेके लिए कोई दूसरी सामग्री नहीं है। तब मैंने प्रभुके अवयवोंसे ही यज्ञकी समग्र सामग्री पशु, वनस्पति, कुश, यज्ञशाला, काल,

ओषधि, स्नेह, मन्त्र, नाम, देवता, कल्प, संकल्प आदिकी कल्पना की। पुरुषके अवयवोंसे ही पुरुषकी पूजा हुई। परमात्मासे पृथक् सद्-असद्रूप कोई भी वस्तु नहीं है। मैंने उसी विश्वात्मक विराट् पुरुषको उत्कण्ठा-युक्त हृदयसे धारण कर रखा है। अतएव मेरी वाणी कभी मिथ्या नहीं होती। मेरा मन कहीं व्यर्थ नहीं जाता। मेरे इन्द्रियसमूह कभी कुमार्गमें नहीं जाते। सच है, प्रभुके सर्वात्मरूपके ध्यानका यह स्वाभाविक परिणाम है। परम सत्य तो यह है कि मायासे सर्वथा मुक्त सर्वज्ञता, अल्पज्ञता आदि भागसे रहित ज्ञान ही प्रत्यगात्माका वास्तविक स्वरूप है। वह सर्वथा अबाधित, परिपूर्ण, अनादि निधन, निर्गुण एवं अद्वितीय है। इसको वे महामुनि अनुभव करते हैं जिनके शरीर, इन्द्रिय और अन्तःकरण प्रशान्त हो गये हैं। अनुभव होते ही तत्काल द्वैतप्रपञ्च ज्ञानाग्निसे भस्म हो जाता है। अतः भगवत्कथा ही कानोंसे हृदयमें जाकर सारी कटुता और वैमनस्यको सर्वदाके लिए मिटा देती है।

निश्चय ही प्रत्यक् चैतन्याभिन्न परमब्रह्म परमात्माका स्वरूप अद्वितीय है। अद्वितीयताका अनुभव हो जानेपर चिन्तन एवं वर्णन करनेके लिए कोई अन्य वस्तु नहीं रह जाती। तथापि जैसे निराकार प्रत्यगात्मा अविद्याके कारण साकार शरीर हो जाता है; वैसे ही परमात्मा भी अपनी करुणामयी माया शक्तिके द्वारा साकार शरीरी हो जाता है। जबतक साधक अपनेको साकार शरीरी जानता-मानता है तबतक परमात्माको साकार शरीरी माने बिना वह कल्याणभाजन नहीं हो सकता। इसीसे हम सब लोग भगवान्के अवतार-चरित्रका गान करते हैं। कर्मसे मुक्त होनेके लिए, मानसिक विकारोंसे मुक्त होनेके लिए, भगवान्की करुणा एवं प्रेमका, चित्तकी चञ्चलता मिटानेके लिए नाम-रूपमें एकाग्रता तथा अविद्याकी निवृत्तिके लिए उनके तात्त्विक स्वरूपका चिन्तन आवश्यक है। जो निष्कपट भावसे भगवद्भजन करता है एवं भगवच्चरणारविन्दका आश्रय ग्रहण करता है, उसके हृदयमें भगवान्का अनुग्रह निरावरणहो जाता है और वह मायाके विलाससे मुक्त हो जाता है। भगवद्भजनमें पापी-पुण्यात्मा, स्त्री-पुरुष, सुजाति-कुजाति, कुकर्मी-सुकर्मी आदिका भेद नहीं होता। पशु-पक्षी एवं लता-वृक्षको भी भगवान्से प्रेम करनेका अधिकार है। जैसे अपने आत्मासे प्रेम करना सबके लिए स्वाभाविक एवं जन्मसिद्ध अधिकार है वैसे ही सबके आत्मा परमात्मासे भी प्रेम करनेका, उनके अनुभव करनेका और उनसे एक हो जानेका सबको अधिकार है। उनके स्वरूपमें भेद नहीं है। शब्द और स्फुरण भी उनमें भेद उत्पन्न नहीं कर सकते। श्रीमद्भागवतका मूल संकल्प ही यह है कि सर्वात्मा भगवान्में सभीका प्रेम हो। कथा-श्रवण उसी प्रेमको जगा देता है। श्रद्धापूर्वक श्रवण एवं गान शीघ्र ही भगवान्को हृदयमें अवतीर्ण कर लेता है। कर्णरन्ध्र ही उनके प्रवेशका मार्ग है। पहले हृदय निर्मल करके भजन नहीं किया जाता। भगवान् हृदयमें आकर उसे निर्मल बना देते हैं। निर्मल हृदय परमात्माको छोड़कर और कहीं जाता ही नहीं। हृदयका निवास-स्थान—अधिष्ठान ही तो परमात्मा है।

परमात्मा अनुभवस्वरूप है। वह अनुभव जिसमें अनुभाव्य एवं अनुभविताका भेद नहीं होता। उस अनुभवका विषयरूप अर्थके साथ किसी प्रकारका सम्बन्ध नहीं है। जब कोई भी घटना विज्ञान, युक्ति या

अनुभवसे सिद्ध नहीं होती, तब उसे मायाघटित माना जाता है। यदि अन्य प्रकारसे उसकी उत्पत्ति प्राप्त हो जाय तब उसको मायाका विलास अथवा जादूका खेल कहना नहीं बनता। शुद्ध चैतन्यरूप अनुभवका न कारण है, न कार्य, न आश्रय हैं, न परिणाम। उसका जगत्के साथ मायाके अतिरिक्त कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता। माया ही उसे अनेक रूपमें दिखा रही है। क्या स्वप्न-द्रष्टाका स्वाप्निक दृश्योंके साथ कोई सम्बन्ध होता है? ठीक यही दशा आत्मा और जगत् की है।

ब्रह्माजी भगवन्नाभिनभःकमलपर विराजमान होकर सृष्टिका संकल्प करने लगे। परन्तु ब्रह्माको वह दृष्टि प्राप्त नहीं थी, जिससे सृष्टि होती। उन्हें अपने हृदयाकाशमें विराजमान प्रभुकी वाणी सुनायी पड़ी—त प, त प अर्थात् तपसे ब्रह्मकी जिज्ञासा करो—

'तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व' (तैत्तिरीय) यहाँ तपका अर्थ शारीरिक या मानसिक ताप सहन नहीं है, तत्त्वकी आलोचना-विवेचना है। चिरकालतक विवेचन करनेपर प्रभुके साक्षात्कारसे तत्त्वके सम्बन्धमें चार निष्कर्ष प्राप्त हुए। यही श्रीमद्भागवतका सार-सूत्र है। चारों सूत्रोंका परम तात्पर्य एक ही है। वह है प्रत्यक् चैतन्याभिन्न ब्रह्म।

१. ब्रह्म तत्त्व क्या है?

नामरूपात्मक प्रपञ्चकी प्रतीति हो रही है। इसके पूर्व क्या है? प्रतीतिमें पहले और पीछे क्या होता है? वहाँ पुरस्तात् और पश्चात् भी प्रतीतिमात्र ही हैं। आदि और अन्तकाल-वासनावासित जिज्ञासुको बोध करानेके लिए है। तब ऐसे कहा जायगा—'केवल मैं ही था, दूसरा कुछ नहीं। मैं केवल था ही था, क्रियाशील नहीं। न स्थूल, न सूक्ष्म, न उनसे विलक्षण। नामरूपात्मक प्रपञ्चके न रहनेपर भी मैं ही था। यह प्रतीयमान प्रपञ्च भी मैं ही था। अधिष्ठान आत्माके बोधसे भावाभावरूप निखिल दृश्यका बाध हो जानेपर जो सर्वथा अबाध्य, अशेष-विशेष-निषेधावधि तत्त्व है, वह मैं हूँ। मैंकी परिच्छिन्नता बाधित है, अपरिच्छिन्न अद्वय आत्मरूप अबाधित है। यह वह, ज्ञात-अज्ञात उसके बोधका द्वार नहीं है।' प्रत्यगात्मानुसन्धान ही अविद्या-निवृत्तिका एकमात्र उपाय है।

२. माया तत्त्व क्या है?

अपने स्वरूपमें जो वस्तु हुए बिना प्रतीत हो रही हा वह माया है। इस मायाके कारण ही जो नहीं है, वह प्रतीत हो रहा है। मायाका स्वभाव ही है अपने अधिकरणमें जो न हो उसे दिखाना और वस्तु-स्वरूपको आवृत कर देना। दो चन्द्रमा नहीं हैं, परन्तु दो दिखा देना माया है।

३. जगत्तत्त्व क्या है?

पञ्चभूतोंके कितने खण्ड-खण्ड पिण्ड हैं—प्राणियोंके भिन्न-भिन्न शरीर हैं। सबकी आकृति, विकृति, प्रकृति, संस्कृति पृथक्-पृथक् है परन्तु पञ्चभूत सबमें है। तब क्या इन छोटे-बड़े पदार्थोंके निर्माणके अनन्तर पञ्चभूतोंने उनमें प्रवेश किया है? वे तो पहलेसे ही विद्यमान थे। आकृतियाँ ही घटित हुई हैं, उपादान

नहीं। वस्तुतः सभी आकृतियोंका आदि, मध्य, अन्त उपादान ही है। वे अपने कार्यमें प्रविष्टसे जान पड़ते हैं; परन्तु प्रवेश नहीं है, विद्यमानता ही है। ठीक इसी प्रकार नामरूपात्मक प्रपञ्चमें परमात्मारूप उपादानकी स्थिति है। वही निमित्त है, वही उपादान है। न निमित्त है, न उपादान है। न कार्य-कारणभाव है, न अनुप्रवेश।

४. जिज्ञास्य क्या है ?

आत्मतत्त्वके जिज्ञासुके लिए केवल इतना ही जिज्ञास्य है कि जो वस्तु अन्वय-व्यतिरेकसे सर्वदा, सर्वत्र, सर्वरूपमें है; वह क्या है ? निश्चय ही वह आत्मतत्त्वके अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकता, क्योंकि आत्मतत्त्वसे ही सबकी सिद्धि एवं प्रसिद्धि है। कुछ न होनेपर भी आत्मतत्त्वका निषेध अथवा बाध नहीं हो सकता। यही वस्तु तत्त्व है।

उपसंहार :

इस प्रकार इन चार सूत्रोंके द्वारा श्रीमद्भागवतके समग्र निरूपणोंकी व्याख्या की जा सकती है। इसकी व्याख्याके लिए दस पदार्थ स्वीकार किये गये हैं। वे हैं—पदार्थोंकी सृष्टि, उनमें विविधता, स्थिति, पुष्टि, कर्मवासनाएँ, सद्धर्म, वंशकथा, निरोध, मुक्ति और आश्रय। आश्रयतत्त्व वही परम-तत्त्व है, जिसका संकेत पहले किया गया है। आधिदैविक, आधिभौतिक एव आध्यात्मिक पुरुष परस्पर सापेक्ष हैं। आश्रय-तत्त्व निरपेक्ष है। प्रातीतिक पदार्थोंमें जो भावाभाव है उसका अधिष्ठान वही है और प्रकाशक भी। प्रकाशक होनेसे चेतन है और अधिष्ठान होनेसे पूर्ण। प्रकाशक न होनेपर अधिष्ठान कल्पित एवं जड़ हो जायेगा। अधिष्ठान न होनेपर चेतन परिच्छिन्न हो जायेगा। अतः अद्वय चिद्वस्तुके आवरण-भङ्गमें ही श्रीमद्भागवतका परम तात्पर्य है और इसके लिए श्रवण ही एकमात्र साधन है।

तृतीय स्कन्ध : सर्ग

सृष्टि या ईक्षण :

प्रथम स्कन्धमें श्रोता वक्ताके स्वरूपका निरूपण हुआ है। दूसरे स्कन्धमें ध्यान, श्रद्धा एवं मननसे श्रवणका विधान किया गया है। तीसरे स्कन्धमें 'श्रोतव्य' विषयका प्रतिपादन है। भगवान्से कारण तत्त्वोंका किस प्रकार उदय होता है, इसका वर्णन करनेके लिए तैंतीस अध्यायोंका उपयोग हुआ है। अलौकिक सर्गकी दृष्टिसे तैंतीस देवताओंकी संख्या बनती है—अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्यौ, चन्द्रमा, वसु, प्राण, मन, रुद्र, इत्यादि। लौकिक दृष्टिसे अट्ठाईस तत्त्व, चार प्रकारके प्राणियोंके बीज और काल—इनकी गणना भी तैंतीस होती है। सृष्टि दो प्रकारकी होती है—बाह्य और स्वरूप। बाह्य सृष्टि लोकमें प्रसिद्ध है, उसका प्रलय होता है। मुख्य सृष्टि मोक्ष ही है। भगवत्कृपासे विरक्त, गृहस्थ सभीको मोक्षकी प्राप्ति हो सकती है।

सृष्टिकी विषमतासे भगवान्‌में किसी प्रकारकी विषमता नहीं आ सकती, क्योंकि वे किसी अन्यको दूसरे रूपमें नहीं बनाते, अपने आपको ही अनेक रूपमें प्रकट करते हैं। अपने साथ पक्षपात या क्रूरताका तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता। इसको माया कहो या शक्ति—इससे कोई भेद नहीं आता। इसको विवर्त, अविकृत-परिणाम, परिणाम, उल्लास या संकल्प कहनेसे भी कोई अन्तर नहीं आता। श्रुतिमें इसीको 'ईक्षण' कहा गया है। ईक्षणका अर्थ है अपने आपको ही तेज, अप् और अन्नके रूपमें देखना। यही त्रिगुणमयी सृष्टि है।

भगवत्संकल्प ही व्यवस्थापक :

तृतीय स्कन्धके दो विभाग हैं—क्रियाशक्तिकी प्रधानतासे वराहावतार और ज्ञानशक्तिकी प्रधानतासे कपिलावतार। यदि भगवान् ही सृष्टि, क्रिया और ज्ञानके रूपमें अवतीर्ण न होते तो यह सब कर्मके अधीन मानना पड़ता और भगवान्, भगवद्भक्ति तथा भगवत्-तत्त्वज्ञानके लिए कोई अवकाश भी नहीं रहता। सनत्कुमारादि नित्य मुक्त होते हैं। उन्हें महावाक्य-श्रवण अथवा तत्त्वज्ञान प्राप्त करनेकी आवश्यकता नहीं होती, परन्तु जन्म उनका भी होता है। जय-विजय भी नित्य मुक्त हैं, परन्तु उनका जन्म भी होता है। जीव बद्ध हैं, परन्तु वे मुक्त हो जाते हैं। इस सबका अभिप्राय यही है कि सृष्टि, बन्धन, मृत्यु—सबकी व्यवस्था भगवत्संकल्पसे ही होती है। भगवान्‌की इच्छासे गृहस्थ, विरक्त, स्त्री, पुरुष—सबकी मुक्ति है।

भगवत्कृपा और विदुर-चरित :

पहले अध्यायमें विदुरकी कथा आती है। विदुर गृहस्थ थे, धृतराष्ट्र उनके बड़े भाई थे। धृतराष्ट्रके प्रति प्रीतिभावसे और उनके बुलानेपर उन्होंने उसे सलाह दी कि पाण्डवोंसे युद्ध नहीं करना चाहिए। भगवान् श्रीकृष्णने पाण्डवोंको अपना लिया है। तुम्हारा पुत्र दुर्योधन श्रीकृष्णसे विमुख और द्वेषी है, उसके प्रति इतनी आसक्ति उचित नहीं है। इस सलाहको धृतराष्ट्रने नहीं माना। दुर्योधनने विदुरको बुरा-भला कहकर वहाँसे चले जानेको कह दिया। विदुरने युद्ध न करनेकी प्रतिज्ञा करके धनुष-बाण द्वारपर रख दिया और विरक्त होकर अवधूत-वेशमें वहाँसे चल पड़े। इस प्रसंगमें विदुरकी यह विशेषता बतायी गयी है कि विदुरने साधारण गृहका त्याग नहीं किया। उनके घरको अपना घर समझकर बिना निमन्त्रणके ही श्रीकृष्ण भगवान् वहाँ स्वयं पधारे थे। एक भक्तके लिए ऐसे घरको छोड़ देना कोई साधारण बात नहीं है। परन्तु उसमें रहनेपर भक्तिमें रुकावट पड़ती थी, अतः उन्होंने तीर्थयात्रा करके अपना अन्तःकरण शुद्ध किया। इससे बाह्य प्रतिबन्धकी निवृत्ति हुई। आन्तरिक प्रतिबन्धकी निवृत्ति तो भगवत्कथा-श्रवणसे ही होती है। भगवत्कृपा होनेपर तो कुछ शेष रह ही नहीं जाता।

वस्तुतः विदुर देवतास्वरूप यमराज ही थे। शापके कारण शूद्र मातासे जन्म लेना पड़ा और सौ वर्षतक शूद्र रहे। सौ बरस बीत जानेपर उनमें शूद्रताकी निवृत्ति हो गयी। वे व्यासपुत्र थे। श्रीकृष्णने उनके घरमें भोजन किया था। वे धृतराष्ट्रके समकाल ही उत्पन्न हुए थे और श्रीकृष्णके जन्मसे पूर्व ही

उनका जन्म हुआ था। अतः शूद्रत्व निवृत्त हो जानेपर भी वे श्रीकृष्ण प्रेमके कारण मर्त्यलोकमें रहे और शुद्ध जीवनमें सत्सङ्ग प्राप्त करके उन्होंने भगवत्कथाका श्रवण किया। यह बात उनके लिए कितनी आनन्द-दायक रही होगी कि भगवान् श्रीकृष्णने परमधाम जाते समय विदुरका स्मरण किया और उद्धवजीके सामने ही मैत्रेयजीको आज्ञा दी कि तुम इस ज्ञानका उपदेश विदुरके प्रति करना। सच पूछा जाये तो विदुर श्रीकृष्णके सच्चे सेवक थे। श्रीकृष्णकी आज्ञासे ही उन्होंने पाण्डवोंकी रक्षा की थी। उन्होंने श्रीकृष्णकी महिमा सुनी हो नहीं थी, अपनी आँखोंसे देखी भी थी, अतः विदुरका प्रसंग भगवत्कथामें विश्वास उत्पन्न करनेवाला है।

इसी प्रसङ्गमें श्रीकृष्णके प्रति उद्धवजीके प्रेमातिशयका भी वर्णन है। वे पाँच वर्षकी अवस्थामें श्रीकृष्णकी पूजा करके ही कुछ खाते-पीते थे। श्रीकृष्णकी सेवामें ही सम्पूर्ण जीवन व्यतीत हुआ। हृदयमें आनन्द, प्रेमकी धारा, शरीरमें रोमाञ्च, नेत्रोंमें आँसू—जिसके हृदयमें इतना प्रेम हो, वह सचमुच श्रीकृष्णमें तन्मय हो रहा है। उनके मुखसे विदुरजीने श्रीकृष्ण-कथा सुनी। एक अद्भुत बात कही उद्धवजीने कि श्रीकृष्णको द्वारकामें रहते-रहते गृहस्थाश्रमके सुखसे, भोग से, सम्पत्तिसे वैराग्य हो गया था। सचमुच श्रीकृष्णका ऐसा कौन अनुयायी होगा, जो पराधीन भोग और पराधीन शरीरमें फँसकर संसारमें आसक्त हो जाये? उद्धवने उन्हें बताया कि आप मैत्रेयजीके पास जाइये, भगवान्‌ने आपको तत्त्वज्ञानका उपदेश करनेकी उनको आज्ञा दी है।

भगवत्कृपा या भगवद्विज्ञान :

विदुरने गङ्गाद्वार, जहाँसे समतल भूमिपर गङ्गाजी प्रवाहित होती हैं हरिद्वारमें आकर मैत्रेय ऋषिसे अनेक प्रश्न किये और भगवान्‌की कथामें अपनी रुचि प्रकट की। मैत्रेयजीने बताया—यह सब भगवान्‌की मायाका खेल है, इसका पार कोई नहीं पा सकता। वाणीका एकमात्र लाभ यह है कि उससे भगवान्‌के गुण गाये जायें और कानोंका लाभ यह है कि उनके द्वारा कथामृतका पान किया जाये। विदुरजीका यह प्रश्न बहुत ही महत्त्वपूर्ण है कि परमात्मा निर्विकार चिन्मात्र है, निर्गुण है तो वह लीलासे गुणमयी सृष्टि, स्थिति, संहार क्यों करता है? बालक खेल खेलनेका प्रयास करते हैं, दूसरोंसे खेलनेकी इच्छा तो एक प्रकारका काम है, यह आत्मानन्द-मग्न और अद्वितीय परमात्मामें कहाँसे हो सकती है? जिसके ज्ञानका लोप नहीं हो सकता उसमें माया कहाँसे आ सकती है? वह सर्वान्तर्यामी होनेपर भी पराधीन और दुःखी क्यों हो जाता है? कर्म उसका स्पर्श कैसे करते हैं? इसके उत्तरमें मैत्रेयजीने कहा—यही है भगवान्‌की माया। यह विचारसे सिद्ध नहीं है। यह मायाका दूषण नहीं, भूषण है। जो न हो वह दिखा दे और जो हो उसको ढँक दे। अज्ञान-दृष्टिसे देखनेपर यह 'है' मालूम पड़ती है। तत्त्वज्ञानकी दृष्टिसे देखनेपर मिट जाती है। एक दृष्टिसे सत् और दूसरी दृष्टिसे असत् होनेके कारण अनिर्वचनीय है। यह व्यावहारिक रूपमें पञ्चभूत और उनसे बने पदार्थोंके रूपमें दीख पड़ती है, यही उसका अधिभूत रूप है। अध्यात्म-

दृष्टिसे वह आत्माके अज्ञान और उसके कार्यके रूपमें रहती है। इसका अधिदैव परमेश्वर है। इन तीनोंमें जो एक स्वप्रकाश अधिष्ठान तत्त्व है वही परमसत्य परमार्थ है। भगवद्‌गुणानुवादके श्रवणसे सब क्लेश शान्त हो जाते हैं। भगवान्‌के चरणारविन्दमें भक्ति होनेसे सारी आसक्तियाँ मिट जाती हैं। सच है, परमात्माके अतिरिक्त जो कुछ जान पड़ता है वह निर्मूल और अर्थशून्य है।

जैसे जादूके खेलमें किसी वस्तुका दीखना और लुप्त हो जाना क्रम, युक्ति अथवा संगतिकी अपेक्षा नहीं रखता, इसी प्रकार मायामयी सृष्टिमें क्रम, युक्ति या संगतिकी कोई अपेक्षा नहीं होती। वेदोंमें मायाके रूपमें अथवा इन्द्रजालके रूपमें सृष्टिका वर्णन आता है। अतः सृष्टि कभी कैसी होती है कभी कैसी, कभी कैसी प्रतीति होती है कभी कैसी, कभी कैसा सुख मालूम पड़ता है कभी कैसा? मायाकी रचनाको विचारसंगत बताना उचित नहीं होता। इसीसे कल्पभेदसे कथामें भी भेद होता है। कल्प क्या है? उसी मायावी जादूगरका संकल्प, अनादि-नित्यकालमें कल्पित विभाग। यही कारण है कि ब्राह्मकल्पमें पृथिवी विराट्‌की जाँघ है, पाद्मकल्पमें नाभिपद्म है और वाराहकल्पमें जलमें डूबी हुई है। जब जलमग्न पृथिवीके उद्धारके लिए ब्रह्माके मनमें संकल्प हुआ तब उनकी नासिकासे एक वराहवपु प्रकट हुआ। इसीको वराहावतार कहा जाता है।

वराहावतार-एक चिन्तन :

यह बात ध्यान देने योग्य है कि पृथिवी गन्ध गुणवती है अथवा गन्ध तन्मात्राका कार्य है। गन्धका ग्रहण नासिकासे होता है। अतः पृथिवीका उद्धार करनेके लिए वराहावतार नासिकासे हुआ। गन्ध अधिभूत है, नासिका अध्यात्म है, वराह अधिदैव है। वराह लौकिक रूपमें भी पृथिवीका प्रेमी है। पृथिवीके मलिनातिमलिन रूपको भी अपना भोग्य बनाता है। वराहकी सारी इन्द्रियोंका झुकाव पृथिवीकी ओर होता है। अतः वराहके द्वारा पृथिवीका उद्धार, वराहका पृथिवीसे विवाह, विहार और पृथिवीमें निवास भी संगत प्रतीत होता है।

पृथिवीके उद्धारके प्रसंगमें यह भी ध्यान देने योग्य है कि वराहके क्रिया-कलापमें बाधा डालनेके लिए हिरण्याक्ष कहाँसे टपक पड़ा? पृथिवी प्रलय-समुद्रमें निमग्न थी, दिति और कश्यप कहाँ रहा करते थे? उनके हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपु पुत्र कब हुए थे? वे प्रलयके समय कहाँ थे? निश्चय ही इस कश्यप-दितिका दाम्पत्य वराह कल्पका नहीं, उसके पूर्व कल्पका था। पूर्व कल्पमें ही हिरण्याक्ष, हिरण्यकशिपुका जन्म हुआ था। वे महाप्रलयके समय रसातलमें रहते थे अथवा प्रलय-समुद्रमें विहार कर रहे थे। कश्यप-दिति ऊर्ध्व लोकोंमें चले गये थे, पर उनसे युद्धका प्रसंग भी जल-विहारका ही सूचक है। वराहके क्रियाकलापका नारदसे पता चलना रसातलका सूचक है। भगवान्‌के उद्धार-कार्यमें बाधा डालना आसुर भावका संकेत है।

यह भी अद्भुत घटना जान पड़ती है कि हिरण्याक्ष एवं हिरण्यकशिपुको इतनी लम्बी आयु, इतना बल, इतना ऐश्वर्य, इतनी सम्पत्ति और इतना भोग प्राप्त था। पुराणोंमें वर्णित किसी भी चरित्रमें इतने

बड़े विशाल वैभवका निरूपण नहीं मिलता। इसका आशय यह है कि ये दोनों इस जन्मके पूर्व वैकुण्ठमें निवास करते थे, भगवान्‌के द्वारपाल थे। जैसे कि भगवान्‌के धाममें प्रवेश करना हो तो इन्द्रिय-जय और मनो-विजयकी साधना आवश्यक होती है वैसे ही वैकुण्ठमें भी जय-विजयकी स्वीकृतिसे ही प्रवेश हुआ करता है। भगवान्‌के धाममें अयोग्य पुरुषका प्रवेश निषिद्ध है। इसीसे एक बार तो जय-विजयने भगवान्‌को नित्यसंगिनी लक्ष्मीको भी द्वारके बाहर ही रोक दिया था। सनकादिकी बाल्यावस्था देखकर जय-विजयने उन्हें भी अयोग्य मानकर रोक दिया, शाप हुआ, भगवान् स्वयं आये और दोनोंको वैकुण्ठसे गिरना पड़ा। यह रमा-वैकुण्ठकी कथा नहीं है, नित्य-वैकुण्ठकी ही कथा है। अतः वहाँ किसी अल्पमुक्त जीवका प्रवेश नहीं है, जय-विजय भी नित्यमुक्त ही हैं। फिर इन नित्यमुक्त पुरुषोंका वैकुण्ठसे पतन क्यों हुआ? सच तो यह है वैकुण्ठमें जो कुछ होता है, उसमें भगवान्‌की इच्छाके अतिरिक्त और कोई कारण नहीं होता। ब्रह्मनिष्ठ सनकादिकके मनमें वैकुण्ठ जानेकी इच्छा ही क्यों हुई? जय-विजयको रोकनेकी प्रेरणा कहाँसे प्राप्त हुई? महात्माओंको क्रोध क्यों हुआ? शाप क्यों दे डाला? इन सब प्रश्नोंका एक ही उत्तर है—भगवान्‌की ऐसी ही इच्छा थी।

भगवान् ही पुरुषार्थके स्वामी :

भगवान्‌की लीलाशक्ति यह दिखाना चाहती है कि नित्यमुक्त भी भगवान्‌की इच्छासे बन्धनमें जा सकते हैं, बद्ध भी मुक्त हो सकते हैं, महात्माओंको क्रोध भी आ सकता है। भगवान् जिसको जब, जहाँ, जैसे रखना चाहें रख सकते हैं। हिरण्याक्ष एवं हिरण्यकशिपुको जो इतना वैभव प्राप्त हुआ वह वैकुण्ठके वैभवका एक तुच्छ अंश है। भगवान् जब किसीको वैकुण्ठसे बाहर निकालते हैं, धरतीपर गिरा देते हैं तब भी उसको इतना बल, वीर्य, ऐश्वर्य, आयु देकर भेजते हैं कि साधारण जनोंकी समझमें यह आजाये कि जब वहाँसे पतित अभिशप्त असुरोंमें भी इतनी विशेषता रहती है तो वहाँके वैभव एवं भोगकी तो कल्पना ही कौन कर सकता है! साथ ही यह भी सिद्ध होता है कि भगवान् कितने भक्तवत्सल हैं कि एक ओर तो सनकादिकोंके वचनको पूर्ण आदर देते हैं और दूसरी ओर अपने भक्तोंके मंगलके लिए असुर-योनिमें भी उनका परित्याग नहीं करते हैं और बार-बार आकर उनका उद्धार करते हैं। तीन जन्मोंमें क्रमशः उनका आसुर भाव क्षीण होता जाता है। प्रह्लाद, विभीषण जैसे भक्तोंका सङ्ग भी प्राप्त होता है और तीसरे जन्ममें स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण अपने हाथोंसे ही उन्हें अपने स्वरूपमें विलीन कर लेते हैं, अपनी गोदमें समेट लेते हैं। भोग और मोक्ष दोनोंके स्वामी केवल भगवान् ही हैं।

जहाँतक धर्मका सम्बन्ध है वह आज्ञा-पालनसे ही होता है और अन्ततः उसका फल निःश्रेयस होता है। शास्त्रानुसारी कर्म धर्म है और वासनानुसारी कर्म अधर्म है। कश्यपकी पत्नी दिति विधिपूर्वक विवाहित तो है, परन्तु स्वेच्छासे उसने कश्यपका वरण किया, तदनन्तर अपने पितासे कन्यादान करवाया है। इसमें उसकी वासना ही मुख्य रही, माता-पिताकी आज्ञा नहीं। सन्तान-उत्पत्तिके लिए भी उसने

कश्यपजीकी आज्ञा न मानकर अपने दुराग्रहको ही पूर्ण किया। सन्ध्या-वन्दनका समय, अग्निहोत्र-शालारूप देश, रुद्र देवताका अनादर और वासनानुसारी कर्म, ये सब मिलकर हिरण्याक्ष एवं हिरण्यकशिपु जैसे पुत्र होनेके कारण बने। हिरण्याक्ष अर्थ-प्रधान है। हिरण्य अर्थात् स्वर्ण, अक्ष माने दृष्टि। हिरण्यकी शय्यापर सोनेवाला हिरण्यकशिपु अर्थात् भोगी। धर्मका उल्लंघन करके होनेवाले पुत्र अर्थ-काम-प्रधान हो जाते हैं। वे भगवान्‌की सम्पत्तिको अपनी सम्पत्ति मानने लगते हैं और भगवान् जब अचल सम्पत्ति-रूप पृथिवीको लोक-धारणके लिए मर्यादामें स्थापित करना चाहते हैं तब वे भगवान्‌को ही चोर कहने लगते हैं, उनके विरुद्ध युद्ध करते हैं और अन्तमें मारे जाते हैं। तृतीय स्कन्धके उन्नीसवें अध्यायतक इस कथाका विस्तार है।

स्वायम्भुव मनु एवं उनकी पत्नी शतरूपा मनन तथा श्रद्धाकी मूर्ति हैं। धर्मानुष्ठानके लिए दोनोंकी आवश्यकता है। ये प्रजापतिके शरीरके ही दो भाग हैं। एकके बिना दूसरेकी स्थिति नहीं है, जन्मसे लेकर मृत्युपर्यन्त। भगवान्‌की विभूति हैं, भगवान्‌में ही मिलते हैं। इनके जीवनमें लोक-पितामह प्रजापति ब्रह्माके प्रति अत्यन्त श्रद्धा है, विनय है, विचारपूर्वक निवेदन है और आज्ञा-पालन भी है। अतः ये धर्मके सर्वोत्तम ज्ञाता हैं। उन्होंने ब्रह्माकी आज्ञासे सन्तानोत्पत्ति की है, अतः इनका कन्यावंश और पुत्रवंश दोनों ही धर्मके स्थापक, पालक और प्रभाववर्धक हुए हैं।

कर्दम प्रजापतिके पुत्र एवं पवित्रात्मा जीव हैं। वे प्रजापतिकी आज्ञासे विवाह करके दीर्घकाल-पर्यन्त तपस्या करते हैं, चिरकालतक तपस्या किये बिना ब्रह्मचर्य दृढ़ नहीं होता, वीर्यका संचय नहीं होता और वंश प्रभावशाली नहीं होता। कर्दमने भगवद्-दर्शनपर्यन्त तपस्यारूप आराधनाका अनुष्ठान किया, तदनन्तर प्रभुकी आज्ञाके अनुसार विवाह करनेका निश्चय किया। स्वायम्भुव मनु एवं शतरूपाने स्वयं कर्दम ऋषिके पर्णकुटीरपर उपस्थित होकर विधिपूर्वक कन्यादान किया। यहाँ विवाह वासनानुसारी नहीं, धर्मानुसारी है। निश्चय ही दोनोंके मनमें विवाहकी चर्चाके समय परस्पर आकर्षण उत्पन्न हो गया था, परन्तु विवाह धर्मानुसार ही सम्पन्न हुआ।

कर्दमकी पत्नी मानवी देवहूतिमें एक प्रकारकी दिव्य धर्मनिष्ठा एवं तपस्या थी। उसने अर्थ-काम एवं शरीर-सुखकी वासना छोड़कर अपने पतिको सन्तुष्ट किया। अर्थ और कामकी लेशमात्र वासना न रखकर, पवित्र हृदयसे अपने पतिदेवकी सेवा की। जब स्वयं कर्दमने ही उसे वर माँगनेके लिए प्रेरित किया, तब देवहूतिने दम्पती-धर्मके अनुरूप बड़े संकोचसे समागम और सन्तान-प्राप्तिके लिए संकेत किया। यही अर्थ-कामरहित धर्मनिष्ठा ज्ञानस्वरूप कपिलको जन्म देती है। दिति और देवहूतिमें सवासन और निर्वासन मनका प्रत्यक्ष दर्शन होता है। वासना-वासित मन संसारका हेतु है और निर्वासन मन मुक्तिका।

श्रीमद्भागवतमें प्रायः सर्वत्र ऐसा क्रम रखा गया है कि भगवान्‌से भागवतकी महिमा अधिक है। यह बात स्थान-स्थानपर स्पष्ट होती है। कर्दम-देवहूतिके संयोगसे कपिलका जन्म हुआ। कपिल साक्षात् ज्ञानावतार भगवान् हैं। परन्तु भगवान्‌के जन्म लेते ही कर्दमने ब्रह्मात्मैक्य-अनुभवसे परिपूर्ण होकर विश्वसे

निस्सङ्ग विचरणका निश्चय कर लिया। उन्हें अवतीर्ण-रूपमें भगवान्‌के सान्निध्य, पुत्रानुराग, लालन-पालन या वात्सल्य-भाव करनेकी कोई आवश्यकता नहीं रही। अधिकारी पुरुष ज्ञानके उदयमात्रसे कृतार्थ हो जाता है, उसको ज्ञानवृत्ति बनाये रखनेकी आवश्यकता नहीं होती। कर्दमके चरित्रसे यह स्पष्ट हो जाता है।

धर्मानुष्ठान एवं तपस्यासे परिपूत देवहूति अपने पुत्रके पास ही रहती हैं और उनके द्वारा प्रकृति-पुरुष-विवेक तथा भगवदाराधन भगवद्भक्ति-सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त करती हैं। विवेकसे प्रकृति स्वयं ही क्षीण होकर पुरुषके सम्मुख निःसत्त्व हो जाती है और उसका कोई अपकार नहीं कर सकती, पुरुष अपने स्वरूपमें स्थित हो जाता है। भक्तिका भी अन्तिम फल यही है। विवेकसे मूल स्वरूपमें स्थित हो जाता है और भक्तिपूर्वक भगवान्‌का ध्यान करनेसे अन्ततः चित्त निर्वाणको प्राप्त हो जाता है। जब चित्त आश्रय, विषय एवं राग-द्वेषसे मुक्त हो जाता है तब इन्धन सहित अग्निके समान शान्त हो जाता है, ऐसी अवस्थामें आत्मा और परमात्माके बीच कोई व्यवधान नहीं रहता और गुणमयी प्रकृतिका लोप हो जाता है। यह स्पष्ट है कि तृतीय स्कन्धका सांख्य, सांख्यकारिका आदिमें वर्णित सांख्यशास्त्र नहीं है; क्योंकि यह सिद्धान्ततः आत्मा-परमात्माकी एकताका प्रतिपादन करता है और भक्तियोगके द्वारा भगवत्तत्त्व और चित्तका शोधन करता है। जहाँ भागवतके कपिल भक्तियोगका दृढ़ प्रतिपादन करते हैं और ब्रह्मात्मैक्य-बोधमें उसको सफल बताते हैं, वहाँ सांख्यकारिका एवं वर्तमान सांख्यदर्शनके कपिल अपनी विचार-भूमिमें ईश्वरको स्वीकारतक नहीं करते। श्रीमद्भागवतका सांख्य सेश्वर सांख्य है।

भगवान् ही पुरुषार्थ-रूप :

कपिलने सभी शास्त्रोंका आदर किया है। उनका कहना है कि वस्तु एक है, द्रष्टा भी एक है, परन्तु इन्द्रियोंके द्वार-भेदसे एक ही द्रष्टाको वही एक वस्तु नानारूप में दीखने लगती है, जैसे एक ही गुलाबका फूल जिह्वासे कटु, नासिकासे सुगन्धित, नेत्रोंसे सुन्दर रक्तवर्ण, त्वचासे सुकुमार और सूख जानेपर चुरमुर शब्दवाला प्रतीत होता है, वैसे ही एक भगवान् शास्त्रीय साधनाओंके भेदसे अनेक रूपोंमें दर्शन देता है। भगवान् एक ही है, दर्शनके भेदसे उसमें किसी प्रकारका भेद नहीं होता। यह समन्वयका दृष्टिकोण अपूर्व है और शास्त्रोंके प्रति श्रद्धाकी स्थापना करता है।

कपिल जन्म, मृत्युको वास्तविक नहीं मानते। उनका कहना है कि पदार्थोंको जो उपलब्धि होती है, उसका स्थान है अन्तःकरण। जबतक उसमें तादात्म्य अथवा अहंभाव होता है तभीतक जीवका जन्म है। जब उसका तादात्म्य छूट जाता है, अन्तःकरणमें पदार्थोंके ग्रहण करनेकी योग्यता नहीं रहती तब उसको 'मृत्यु' कहते हैं। आत्माका जन्म-मरण नहीं है, अन्तःकरणके सम्बन्धसे ही जन्म-मृत्युकी प्रतीति होती है। देहमें 'मैं-मेरा' जन्म है और उससे मुक्त हो जाना ही मुक्ति है।

भगवदाराधनकी विलक्षणता :

कपिलने भगवान्‌की आराधनाका प्रकार भी विलक्षण ही बताया है। सम्पूर्ण प्राणियोंका हृदय ही भगवान्‌का मन्दिर है। अतः दान-मान-मैत्री और अभेद-दर्शनके द्वारा ही समस्त प्राणियों एवं पदार्थोंमें स्थित भगवान्‌की पूजा सम्पन्न होती है। जो दूसरोंके शरीरमें विद्यमान एवं वर्तमान ईश्वरकी अवहेलना करके कहीं अन्यत्र अथवा एकत्र ईश्वरकी आराधना करता है, वह आराधना नहीं करता, आराधनाकी विडम्बना करता है।

सर्ग द्वारा भगवान् ही अनुसन्धेय :

मुक्ति अपने आत्माका स्वरूप ही है। अपने स्वरूपकी उपलब्धिमें कोई अनधिकारी नहीं होता। उसमें समय, देश, जाति, लिङ्ग आदि प्रतिबन्धक नहीं हो सकते। दूसरेके घरमें प्रवेश करनेके लिए अधिकारकी अपेक्षा होती है, अपने घरमें प्रवेश करनेके लिए संविधान अथवा आज्ञाकी अपेक्षा नहीं रहती। फिर भी पवित्र होकर अपने घरमें प्रवेश करें तो वह घर भी दिव्य हो जाता है। देवहूति लिङ्गतः स्त्री-शरीरमें हैं। उन्हें ज्ञान प्राप्त करने और जीवन्मुक्तका स्वतः सिद्ध अधिकार है। भाषाका व्यवधान भी इसमें बाधक नहीं हो सकता। अतः देवहूतिकी जीवन्मुक्ति-अवस्थाका सविशेष वर्णन किया गया है।

इस प्रकार तृतीय स्कन्धमें क्रियाशक्ति-प्रधान वराहावतार एवं ज्ञानशक्ति-प्रधान कपिलावतारका वर्णन है। गीतामें आसुर सर्ग एवं दैव सर्ग दो प्रकारके सर्ग कहे गये हैं। तृतीय स्कन्धके पूर्वार्धमें असुर सर्ग और उत्तरार्धमें दैव सर्गका वर्णन है। तत्त्वार्थदीप निबन्धमें सर्गकी व्याख्या कई प्रकारसे की गयी है। अनेक विद्वानोंका मत है कि सर्ग-विसर्गादिमें स्कन्धोंका क्रम विवक्षित नहीं है। जिस स्कन्धमें सर्गादिका जहाँ-जहाँ वर्णन है, वहाँ-वहाँसे ही उसे ग्रहण कर लेना चाहिए। भिन्न-भिन्न स्थलोंपर वक्ता-श्रोताके भेदसे सर्ग क्रममें भी भेद मिलता है। कल्पभेदसे उनकी सङ्गति लगायी जाती है, परन्तु यह बात भी ध्यानमें रहनी चाहिए कि श्रुतियोंमें भी सृष्टिक्रमके वर्णनमें भेद उपलब्ध होता है। कहीं-कहीं ब्रह्मसे युगपत् सृष्टिका वर्णन मिलता है, कहीं तेज, अन्नके क्रमसे और कहीं पञ्चभूत आदिके क्रमसे। लयके क्रमसे यदि उत्पत्तिका विचार करें तो सर्गकी परम्परा भिन्न-भिन्न प्रकारकी हो जाती है। अतः श्रुतियोंमें और पुराणोंमें भी सर्गका वर्णन विवक्षित नहीं है। इन वर्णनोंके द्वारा सृष्टिकी तुच्छता एवं क्रमका मिथ्यात्व ही सिद्ध होता है। सर्गके द्वारा परमात्माका वर्णन ही अभीष्ट है।

चतुर्थ स्कन्ध : विसर्ग

अप्रतिहत-अनुग्रह :

वेदान्ती दो प्रकारकी सृष्टि मानते हैं—एक ईश्वर-सृष्टि और दूसरी जीव-सृष्टि। सांख्यवादी भी दो प्रकारकी मानते हैं—पहली प्राकृत सृष्टि और दूसरी आविद्यक सृष्टि। वल्लभाचार्यजी भी सृष्टिका द्वैविध्य स्वीकार करते हैं—प्रथम जगत्, द्वितीय संसार। प्रथम सृष्टि सामान्य है, द्वितीय सृष्टि विशेष है।

पहलेको सर्ग कहते हैं, दूसरीको विसर्ग। सर्ग ब्राह्म-सृष्टि है और विसर्ग पौरुष-सृष्टि है। भगवान्‌की स्वतन्त्रता सर्वत्र अप्रतिहत है, वैकुण्ठ, देवलोक एवं मर्त्यलोकमें वह एक-सी ही रहती है। पूर्व-पूर्व सर्गके अनुसार वह सृष्टि दो प्रकारकी हो जाती है, परन्तु भगवान्‌का अनुग्रह सर्वत्र रहता है। कहीं शरीर छुड़ाकर अनुग्रह करते हैं तो कहीं शरीर रखकर। अनुग्रह सबमें रहता है। हिरण्याक्षका वध, कर्दमकी स्वानुभूति देवहूतिकी जीवन्मुक्ति—सब अनुग्रहके ही विलास हैं।

स्कन्ध-विभागश :

श्रीमद्भागवतके श्रोता-वक्ता लोककामी नहीं हैं। अतः उन्हें लोकके श्रवण-वर्णनसे कोई प्रयोजन नहीं है। अलौकिक श्रोता-वक्ताके सम्मुख अलौकिक पदार्थका ही निरूपण होना चाहिए। अतः सर्ग-विसर्गादिका वर्णन भी अलौकिक ही होना चाहिए। चतुर्थ स्कन्धमें वर्णित विसर्ग अलौकिक ही है। इसमें विशिष्ट सर्गका प्रतिपादन है और पुरुष-प्रयत्नसे भगवान्‌का आश्रय लेकर धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—चारों पुरुषार्थ प्राप्त कर लेना शक्य है। अतः तत्त्वार्थदीप निबन्धके अनुसार चतुर्थ स्कन्धके चार विभाग हैं—पहला विभाग धर्म-प्रधान है। अतः सात अध्यायोंमें इसका वर्णन है, क्योंकि यज्ञरूप धर्म सप्ततन्तुके नामसे श्रुति-प्रसिद्ध है।

भगवान् ही धर्मके आश्रय :

धर्म-प्रकरणमें अत्रि-अनसूयाकी कथाका एक विशेष प्रयोजन है। वह यह कि बिना भगवदाश्रयके धर्मकी सिद्धि नहीं होती। गुण-भेदसे भगवान्‌के तीन रूप अवश्य हैं, परन्तु उनमें ईश्वर एक ही है। उनकी ईश्वरता भी एक-जैसी ही है। अतः इन तीनोंमें-से किसीका तिरस्कार करनेपर ईश्वरका ही तिरस्कार होता है और धर्मकी सिद्धि नहीं होती। दक्षने शिवका तिरस्कार करके धर्म-सम्पादन करना चाहा, इसलिए उसको यज्ञमें सिद्धि नहीं हुई। तीनों—ब्रह्मा, विष्णु, महेशकी अनुकूलता होनेपर ईश्वरका आश्रय पूर्ण हुआ। तब कहीं धर्मकी सिद्धि हुई। अतः ईश्वर रहित धर्म अकिंचित्कर है। इस प्रसङ्गमें धर्मकी सहधर्मिणी पत्नियोंका नाम स्मरण रखने योग्य है—श्रद्धा, मैत्री, दया, शान्ति, तुष्टि, पुष्टि, क्रिया, उन्नति, बुद्धि, मेधा, तितिक्षा, ह्री और मूर्ति। इनके पुत्रोंका नाम भी ध्यान देने योग्य है—शुभ, प्रसाद, अभय, सुख, मोद, स्मय, योग, दर्प, अर्थ, स्मृति, क्षेम, विनय एवं नर-नारायण। वास्तविक धर्मके साथ इन पत्नियोंका रहना और वंशका होना आवश्यक है। धर्मकी सिद्धिके लिए भगवान्‌का आश्रय आवश्यक है। धर्मका ही एक रूप निवृत्ति है। केवल विवाह या वंशवृद्धि ही धर्म नहीं है। अतः धर्मका यज्ञ-यागादि प्रवृत्तिरूप न होनेपर भी धर्मकी सिद्धि होती है। इसी कारण यहाँ प्रसङ्ग न होनेपर भी सनकादि, नारद, ऋभु, हंस, आरुणि, यति आदिका वर्णन है। इन्होंने निवृत्ति धर्मका पालन किया। इसीसे उन्हें परम-सिद्धिकी प्राप्ति हुई। धर्मका प्रतिपक्षी है—अधर्म। अधर्मके ज्ञानसे उसका परित्याग होता है। अतः अधर्म वंशका कथन भी त्याग द्वारा धर्मकी परिपुष्टिके लिए है।

अर्थसिद्धि भी भगवदाश्रयसे ही :

सात अध्यायोंमें धर्मप्रकरण पूरा करके पाँच अध्यायोंमें अर्थका निरूपण है। इनमें पहले अध्यायमें ध्रुवकी तपस्याका वर्णन है। वह साधन है। परन्तु यदि माता-पिताके द्वारा अपमान न होता तो भगवदाराधन-रूप साधन नहीं हो पाता। अतः अपमान, रोदन आदि भी साधनके ही अन्तर्गत हैं। दूसरे अध्यायमें भगवत्प्राप्ति-रूप साध्य फलका निर्देश है। तीसरे अध्यायमें राज्यादि प्रापञ्चिक पदार्थ स्वीकार करनेपर क्रोधादि दोषको प्राप्ति अनिवार्य है—यह कहा गया है। चौथे अध्यायमें स्वायम्भुव मनुके उपदेशसे दोष त्यागका वर्णन है। पाँचवें अध्यायमें अभीष्ट फलकी प्राप्ति और देवर्षि नारदके द्वारा कीर्तिगान सम्मिलित है। यहाँ ध्यान देने योग्य यह है कि भगवद्दर्शन होनेपर भी ध्रुवके जीवनसे दोषोंकी आत्यन्तिक निवृत्ति नहीं हुई, परन्तु परम भागवत स्वायम्भुव मनुके उपदेशसे दोषोंकी आत्यन्तिक निवृत्ति हो गयी।

ध्रुव : एक अनुस्मरण :

मैंने बङ्ग-भाषाके एक ग्रन्थमें पढ़ा था कि ध्रुवकी भगवत्प्राप्ति होनेके अनन्तर युग-युगके तपस्वी ऋषियोंने एक सभा जोड़ी थी। उसमें भगवान्के गुणोंमें पक्षपातकी शंका की गयी थी, हमलोग जन्म-जन्मके, युग-युगके तपस्वी हैं, फिर भी हमें भगवत्प्राप्ति नहीं हुई और इस कलके नन्हें-मुन्ने ध्रुवको केवल छह महीनेकी तपस्यासे भगवत्प्राप्ति हो गयी—यह भगवान्का विषम व्यवहार नहीं तो क्या है? ऋषिगण परस्पर यह विचार-विमर्श कर ही रहे थे कि वहाँ एक वृद्ध ब्राह्मण आ उपस्थित हुए। ब्राह्मणने कहा—ऋषियों, यहाँसे थोड़ी दूरपर एक समुद्र प्रकट हो गया है। आइये, आपलोग मेरे साथ नावमें बैठ जाइये, विचार-विमर्श करते रहिये; एक आश्चर्यमय दृश्य आप लोगोंको दिखाऊँगा। ऋषिगण सहमत हो गये और नावपर जाकर बैठ गये। नाव चलने लगी। ऋषियोंने देखा—सामने समुद्रमें बड़े-बड़े अनेक श्वेत पर्वत सिर उठाये खड़े हैं। कुतूहलवश ऋषियोंने ब्राह्मणसे पूछा—यह सब क्या है? ब्राह्मणने कहा—महात्माओं! 'यह ध्रुवके पूर्व-पूर्व अनेक तपस्वी जन्मोंकी अस्थियाँ हैं। ध्रुवने इतने जन्मोंमें तपस्या की है कि उनकी अस्थियोंकी इतनी बड़ी-बड़ी अनेक राशियाँ बन गयी हैं।' ऋषियोंने श्रद्धावनत होकर उन अस्थियोंको नमस्कार किया। तदनन्तर समुद्र, नाव, अस्थिपर्वत एवं ब्राह्मण—सबका लोप हो गया। कहना न होगा कि ऋषियोंकी शङ्काका समाधान करनेके लिए स्वयं भगवान्ने ही ब्राह्मणका रूप धारण करके यह माया दिखाई थी। श्रीवल्लभाचार्यने भागवतार्थ-प्रकरणमें यह संकेत दिया है कि ध्रुव पूर्व जन्ममें एक ऋषि थे, किसी राजकुमारको देखकर उनके मनमें राजकुमार बननेकी वासनाका उदय हो गया, इसलिए उन्हें परम भागवत स्वायम्भुव मनुके पौत्रके रूपमें राजकुमार होना पड़ा। उत्तानपादका वर्णन केवल ध्रुवके पिताका नाम बतानेके लिए ही है।

सुनीतिके पुत्र ध्रुव हैं। ध्रुवका अर्थ होता है नित्य। सुरुचिके पुत्र उत्तम हैं, जो तात्कालिक होते हैं। ऋषि होनेके बाद राजकुमार होना कोई उत्कर्ष नहीं है, अतः भगवदिच्छासे ही उन्हें अपमान मिला।

राजा अपनी पत्नी सुरुचिके वशमें थे, इसलिए उसके सामने कुछ बोल नहीं सके। यद्यपि सुरुचिने यथार्थ उपदेश किया था भगवद्भजनके लिए परन्तु उसमें दोष यह था, उसने भगवान्‌की आराधनासे ध्रुवके लिए अभीष्टकी प्राप्ति नहीं कही, प्रत्युत यह कह दिया—'आराधना करो, इस शरीरका त्याग करो, मेरे गर्भमें आओ तब राज्यासन तुम्हें मिलेगा।' इस वचनमें भगवान्‌की आराधनाका अपमान है। अभिप्राय यह कि भगवान्‌की आराधना करनेपर भी तुम इस शरीरसे राजाका आसन प्राप्त नहीं कर सकते। उसके लिए मेरे गर्भसे जन्म लेना पड़ेगा। सुरुचिका यही अपराध था, जिसके कारण उसे पुत्रका मरण और अल्पायुमें मृत्युका मुँह देखना पड़ा। भगवान्‌की आराधना स्वतन्त्ररूपसे फल देती है, वह किसीके गर्भकी अपेक्षा नहीं रखती।

सुनीतिके द्वारा भगवदाराधनका अनुमोदन और महलसे निकलते ही देवर्षि नारदका दर्शन, भगवान्‌का अनुग्रह है। ध्रुवने यह स्वीकार किया है—भगवद्भक्तिके विरुद्ध ऋषिकी आज्ञा भी नहीं माननी चाहिए। ऋषिने ध्रुवकी निष्ठा परिपक्व करनेके लिए ही 'स्थूणानिखनन-न्याय'से ही मना किया था। ध्रुवने तो दीक्षाके पूर्व ऋषिको प्रणाम भी नहीं किया था, परन्तु ऋषिके द्वारा प्रभुका अनुग्रह ही मूर्तिमान हो रहा था। ध्रुवकी तपस्या, आराधना, भगवद्-दर्शन एवं भगवद्भक्ति मूल ग्रन्थमें सविस्तार वर्णित है। भगवद्दर्शनके पश्चात् ध्रुवके मनमें राज्यकी या उत्तम पदकी प्राप्तिकी वासना नहीं रही थी, परन्तु भगवान्‌के प्रति आदर, भय एवं संकोचके कारण उन्होंने आज्ञाका उल्लंघन नहीं किया। घर लौट आये और राज्य तथा ध्रुवपद स्वीकार कर लिया। सम्भवतः नृसिंह पुराणमें यह बात कही हुई है कि अब भी ध्रुवलोकमें ध्रुवके नेत्रोंसे अश्रुपात होता रहता है कि हाय-हाय! मैंने चिन्तामणि छोड़कर काँचका टुकड़ा माँगा और अखण्ड भगवत्प्राप्ति रूप सायुज्यको छोड़कर उत्तमपद स्वीकार किया।

ध्रुव-वंशपर एक दृष्टि :

यदि ध्रुव भक्तिके मूर्तिमान स्वरूप हैं तो उनके पुत्र उत्कल ब्रह्मज्ञानके मूर्तिमान रूप। ध्रुवके प्रस्थानके अनन्तर उत्कलने अपने पिताकी साम्राज्य-सम्पत्तिको स्वीकार नहीं किया। वह जन्मसिद्ध, असंग एवं समदर्शी था। उसे सबमें आत्मा और आत्मामें सबका दर्शन होता था और अपने आत्माको ब्रह्मरूपमें अनुभव करता था। उसकी दृष्टिमें आत्माके अतिरिक्त और कुछ नहीं था। वह अवधूत वेषमें और अवधूतके समान अपना जीवन व्यतीत करने लगा। उसके दूसरे भाईसे ही राजवंशकी परम्परा चली। यह प्रत्यक्ष हो गया कि भक्तिके वैराग्य और ज्ञान नामके दो पुत्र होते हैं। यहाँ फलको ही पुत्र कहा गया है।

ध्रुववंशमें राजा अङ्गके कोई सन्तान नहीं थी। सन्तानके लिए उन्हें बहुत दुःख था। सन्तानकी प्राप्तिके लिए उन्होंने यज्ञपुरुषकी आराधना की। पुत्र तो हुआ, परन्तु वह अपने नानाके स्वभावके अनुसार क्रूर हो गया। राजाकी शिक्षा, युक्ति, उपाय, दण्ड सब व्यर्थ गये। पहले पुत्रके अभावका दुःख था; अब

कुपुत्रकी प्राप्तिसे दुःख हुआ। वे विचार करने लगे कि कुपुत्र होनेसे तो यही अच्छा था कि मैं अपुत्र ही रहता; क्योंकि कुपुत्रसे अपकीर्ति, अधर्म, विरोध एवं चिन्ताका जन्म होता है। यह मोह-बन्धन भी कितना कठोर है कि सम्पूर्ण जीवन क्लेशमय हो जाता है। राजाकी बुद्धि शुद्ध हुई। उन्होंने निश्चय किया—'अहो, भगवान्‌की बड़ी कृपा है, कुपुत्र होना श्रेष्ठ है, क्योंकि सुपुत्रसे मोह हो जाता है और मनुष्य संसारमें ही फँसा रहता है। कुपुत्रसे मुक्ति प्राप्त करनेके लिए वैराग्य होता है। मङ्गलमय भगवान्‌की यह कृपा ही है। वे रात्रिके समय चुपचाप उठकर कहीं चले गये, ढूँढ़नेपर भी नहीं मिले। इस प्रसङ्गमें पुत्रकी इच्छा, कुपुत्रकी उत्पत्ति, उसपर नानाका प्रभाव और उसमें भी भगवत्कृपाका दर्शन करके त्याग-वैराग्य ये सभी बातें मनुष्यके लिए शिक्षाप्रद हैं।

बहुत प्रयत्न करनेपर भी जब राजा अङ्ग नहीं मिले, तब लोकहितकारी ऋषियोंने अराजकताके भयसे और माताके आग्रहसे वेनको ही राजा बना दिया। यद्यपि ऋषियोंको ज्ञात था कि यह प्रजाके लिए मृत्यु है, धर्मनाशक है, तथापि जबतक उसके दोष प्रकट न हो जायें तबतक उसको पिताके उत्तराधिकारसे वंचित करना उचित नहीं था। ऋषियोंका स्वभाव है—सहिष्णुता और क्षमाशीलता। समतत्त्वके ज्ञानका यही फल है। जब वेनके सारे अपराध प्रकट हो गये, तब ऋषियोंने ऐसी हुँकार भरी कि वेनके प्राण-पखेरू उड़ गये। फिर प्रजा अराजक हो जानेके कारण उच्छृङ्खल हो गयी, अव्यवस्था, लूट-पाट, प्रजापीड़ाकी वृद्धि हो गयी लोग जहाँ-तहाँ अपना घरद्वार छोड़कर भागने लगे।

ऋषियोंने प्रजाकी यह पीड़ा देखकर वेनके शरीरका मन्थन किया। उन्होंने कहा कि राजर्षि ध्रुवके वंशका लोप नहीं होना चाहिए। अधोभागके मन्थनसे निषाद और बाहुओंके मन्थनसे लक्ष्मी-नारायण महाराज पृथु और उनकी पत्नी अर्चिका जन्म हुआ। पृथु अयोनिज थे। उनमें भगवत्ता प्रकट हुई! बाहु-मन्थनसे आविर्भाव होनेके कारण क्षत्रियत्व भी था। उनके जन्मकी यह प्रक्रिया ऋषियोंके विलक्षण एवं विचक्षण विज्ञानका संकेत करती है। जगत्‌का उपादान चाहे ईश्वर हो या प्रकृति, सबका बीज उसमें विद्यमान रहता है। बीजसे ही जगत्-वृक्षकी शाखा, प्रशाखा, पल्लव, पुष्प, फल, रस सबका निर्माण होता है। अतः अव्यक्त रूपसे सबमें सबकी स्थिति बनी रहती है। मन्थनके प्रयोग-विशेषसे चाहे जहाँ जिस विशेषताकी अभिव्यक्ति दी जा सकती है। जिसको हम निष्प्राण शव कहते हैं उसीका एक-एक अवयव सड़कर प्राणियोंका रूप धारण कर लेता है। चेतना, संस्कार, विकार, आकार कहाँ नहीं होते? प्रयोग करनेवाला पुरुष ही दुर्लभ होता है।

पुरुषार्थ-चतुष्टयकी पूर्णता, पृथु-चरित्रमें :

पृथुकी उत्पत्ति और प्रभावके साथ-साथ उनके क्रिया-कलापका भी आदर्श वर्णन है। उन्होंने अपनी सारी प्रजाके लिए अन्नकी व्यवस्था की। ध्यान देने योग्य है कि जिस प्राणीके लिए जो अन्न आवश्यक है, राजा उसीकी व्यवस्था करे। पृथुने न केवल मनुष्योंके लिए, प्रत्युत पशु-पक्षियोंके लिए भी, यहाँतक कि

साँप-बिच्छूके लिए भी अन्नकी व्यवस्था की। अन्नकी उत्पत्तिके लिए ऊँची-नीची धरतीको सम किया, जलाशय, बाँध बनाये। बन-उद्यानकी व्यवस्था की। प्रजाके लिए पृथक्-पृथक् नगर, पुर, ग्राम, घोष, खेट, खर्वट आदिका यथा योग्य निर्माण करवाया। इसके पहले प्रजा सुविधा देखकर इकट्ठी हो जाया करती थी, परन्तु उन्होंने सबको योग्य निवास दिया। यज्ञोंके द्वारा एकत्र किये हुए धनके वितरणकी व्यवस्था बनायी, जिससे ब्राह्मण वेद-पाठके द्वारा, क्षत्रिय रक्षाके द्वारा, वैश्य वस्तुओंके उत्पादन-विनिमय तथा वितरणके द्वारा और शूद्र कर्मके द्वारा, अपनी योग्यताके द्वारा लोक-कल्याण कर सकें और अपना निर्वाह भी करें। निष्काम होनेके कारण ब्रह्माकी आज्ञा मानकर उन्होंने सौ यज्ञ पूरा करनेका आग्रह छोड़ दिया और विघ्न डालनेवाले इन्द्रको क्षमा करके उसको अपने हृदयसे लगाया। यही वह योग्यता है जिससे सर्व-व्यापी भगवान् विष्णु भी प्रसन्न हो जाते हैं और अपने संकल्पका त्याग करके भक्तके संकल्पको पूर्ण करते हैं। इस प्रकार पृथुके जीवनमें अर्थ, काम एवं धर्म परिपूर्ण रूपसे विद्यमान थे। अर्थ बाहर रहता है, अतएव बहिरङ्ग है। काम मनमें रहता है, अतः अन्तरङ्ग है। धर्म दोनोंको नियन्त्रित रखनेके लिए बुद्धिमें रहता है, अतः आत्माके अत्यन्त निकट है और मोक्षका सोपान भी है। जो धर्मानुष्ठान करता है उसके जीवनमें मोक्ष-कामनाका उदय होता है। मोक्ष, अविद्या निवृत्तिसे उपलक्षित आत्माका अपना निज स्वरूप ही है। अतः भले ही ईश्वरका बाह्य या आन्तर प्रत्यक्ष अथवा अपरोक्ष दर्शन हो जाये, परन्तु महापुरुषके सत्सङ्ग और उपदेशके बिना अविद्या-बन्धनकी निवृत्ति नहीं होती। इसीसे पृथुके जीवनमें भगवद्दर्शनके पश्चात् सनकादि परमर्षियोंके सत्सङ्गका वर्णन है। ऋषियोंने पृथुको स्पष्ट रूपसे उपदेश दिया कि तुम्हारे इस शरीरमें ही जो सर्वान्तर प्रत्यगात्मा है, वही ब्रह्म है और तुम वही हो—ऐसा जानो। अन्तमें पृथु और अर्चिने राज्य-गृहका त्याग किया और वानप्रस्थ जीवन व्यतीतकर परब्रह्म परमात्मासे एकताका अनुभव किया। परमात्माकी प्राप्तिमें स्त्री-पुरुषका कोई भेद नहीं है। वस्तुतः यही पौरुष है। पृथुने इसी जीवनमें पौरुषके द्वारा अपनी सम्पूर्ण कामनाएँ पूर्ण कर लीं। उनके जीवनमें किसी भी पुरुषार्थकी न्यूनता नहीं रही। पुरुषार्थकी पूर्णता पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच ज्ञानेन्द्रिय और एक मनके योगसे तदनुकूल प्रयत्न करनेसे प्राप्त होती है। अतएव पृथु-चरित्रके ग्यारह अध्याय हैं।

धर्म, धर्म-नियन्त्रित अर्थ और कामका सात, पाँच एवं ग्यारह अध्यायोंमें क्रमशः वर्णन करके परमपुरुषार्थ मोक्षका निरूपण किया गया है। मोक्ष-सम्बन्धी आठ अध्याय हैं। किसी-किसीका मत है कि आठ अध्यायोंमें मुख्यतः ब्रह्म-साक्षात्कार रूप मोक्षका ही वर्णन है, परन्तु कोई-कोई कहते हैं कि पाँच अध्यायोंमें निर्गुण मोक्षका और तीन अध्यायोंमें सगुण मोक्षका प्रसंग है। किसीका यह भी कहना है कि बड़े मोक्षका पाँच अध्यायोंमें और छोटे मोक्षका तीन अध्यायोंमें। किसीका यह मत भी है कि निर्गुण-मोक्षका मिलना कठिन है, इसलिए पाँच अध्यायोंमें और सगुण मोक्षका मिलना सुगम है, अतः तीन अध्यायोंमें चाहे जो भी हो मोक्षमें बड़े-छोटेका भेद करना उचित नहीं है।

पृथु-वंशमें अध्यात्मदर्शन :

प्राचीनबर्हि पृथु-वंशमें एक कर्मठ राजा हुए। उन्होंने इतने यज्ञ किये कि पूर्वाभिमुख कुशोंके द्वारा सारी धरतीमें बिछाया जा सके। उन्हींके पुत्र थे प्रचेतागण। धर्मात्मा पिताने पुत्रोंको आज्ञा दी कि तुम लोग सबसे पहले तपस्या करो। पुत्र बड़े आज्ञाकारी और धर्मनिष्ठ थे। अतएव तपस्याके लिए यात्रा करनेपर उन्हें भगवान् शङ्करने प्रसन्न होकर मन्त्रका, जपका, प्रार्थना-स्तुतिका उपदेश किया और वे तपस्यामें संलग्न हो गये। इधर देवर्षि नारदने देखा कि कर्मासक्त प्राचीनबर्हि सकामभावसे पशुयाग कर रहा है, उनके हृदयमें करुणाका उदय हुआ और प्राचीनबर्हिको हिंसाका फल प्रत्यक्ष दिखाकर वैराग्य करा दिया और पशुयागका त्याग करा दिया। सचमुच 'नारद' शब्दका यही अर्थ है। जो नरकके हृदयमें रहनेवाले 'नार' अर्थात् जीव-भावका खण्डन कर दे, उसको 'नारद' कहते हैं। नारदने पुरञ्जननोपाख्यानके द्वारा प्राचीनबर्हिके देहाध्यासका विनाश किया। देहाभिमान ही जीवत्व है। वासना-संस्कारयुक्त बुद्धिके अधीन होना ही पुरञ्जनीके वशमें होना है। इसीसे स्त्री-भाव अथवा पुरुष-भावकी प्राप्ति होती है। देह, इन्द्रिय एवं मनके धर्मोंका अपनेमें अध्यास करनेके कारण ही यह निर्गुण चेतन कामनावश दुःखी हो रहा है। वस्तुतः एक ही मानसरोवरमें दो हंस खेल रहे हैं, वे हैं जीव और ईश्वर। तत्त्वदृष्टिसे जीव एवं ईश्वरमें कोई भेद नहीं है। ज्ञानी पुरुषोंकी यह दृष्टि है। इस दृष्टिमें भेद नहीं है। आत्मा तथा परमात्मामें कोई विभाजक रेखा नहीं है, दोनोंमें अन्तर उत्पन्न करनेके लिए स्वल्प भी अवकाश नहीं है। यह बात सत्सङ्गसे और सन्तोंके उपदेशसे ही ध्यानमें आती है। यही पुरञ्जनोपाख्यानका उपसंहार है। प्राचीनबर्हि अपनी ब्रह्मताका अनुभव करके अविद्या-बन्धनसे सर्वथा मुक्त हो गये।

और अन्तमें :

प्राचीनबर्हिके पुत्र शङ्कर भगवान्‌के द्वारा बतलायी हुई साधनामें मग्न हो गये। भगवान् विष्णुने उन्हें दर्शन दिया, वरदान दिया। वे अपने पिताके राज्यमें लौटे, क्योंकि उन्होंने पिताकी आज्ञासे, धर्मबुद्धिसे, शिवके उपदेशानुसार आराधना की थी। अतः पिताके राज्यमें लौटना आवश्यक था। पिता तो बहुत पहले ही विरक्त एवं मुक्त हो चुके थे। राज्यमें जङ्गल ही जङ्गल हो गया था। इसपर राज्यकी वासनावाले प्रचेताओंको क्रोध आगया और वे अपनी क्रोधाग्निसे जङ्गलको भस्म करने लगे। इसपर ओषधि वनस्पतियोंके राजा चन्द्रमाने उन्हें शान्त किया और वनकन्यासे विवाह करा दिया। भाई-भाई बड़े प्रेमसे राज-काज सँभालने लगे।

ध्यान देने योग्य है कि पिताकी आज्ञा, शङ्कर-विष्णुका दर्शन-उपदेश तथा वरदान प्राप्त होनेपर भी प्रचेताओंको क्रोध आया और वे गृहासक्त हो गये। शिव, विष्णु, उपदेश, वरदान---सब विस्मृतिके गर्भमें लीन हो गये। युग-युगसे, जन्म-जन्मसे अभ्यस्त संसार-वासना कितनी प्रबल होती है, इसका यह उदाहरण है। ईश्वर प्रपञ्चका स्थिति-स्थापक है, इसलिए वह संसारचक्रसे छुड़ानेमें आग्रह नहीं रखता। वह तो

अकारण-करुण कोमल-हृदय सत्पुरुषोंका ही उदार स्वभाव है कि वे इस संसार-चक्रसे छुड़ाते हैं। आप चतुर्थ स्कन्धके अन्तिम अध्यायमें नारदजीका प्रचेताओंके प्रति उपदेश पढ़िये। आपका हृदय भगवत्प्रेम-रससे परिप्लुत हो जायेगा। नारदने कहा—जिस जन्म-कर्म, आयु, मन एवं वचनके द्वारा भगवान्‌की सेवा नहीं होती, वह व्यर्थ है। संसारमें किसी वस्तुको कितना भी बड़ा, क्यों न माना जाता हो, भगवत्प्राप्तिके बिना वह निष्फल ही है। उसी परमात्मासे एक हो जाना, यह जीवनकी सफलता है। सबपर दया, प्राप्त परिस्थितिमें सन्तोष और इन्द्रियोंकी शान्ति ही परमात्माके प्रसादका हेतु है। वे अपने भक्तके वशमें होते हैं। उसको कभी छोड़ते नहीं। अभिमानियोंकी पूजा स्वीकार नहीं करते। वे लक्ष्मी और देवताओंका परित्याग करके भी अपने भक्तकी पराधीनता स्वीकार करते हैं। कोई भी कृतज्ञ एवं रसज्ञ पुरुष उनके चरणारविन्दका परित्याग कैसे कर सकता है?

कहना न होगा कि प्रचेतागण भगवन्मय हो गये।

इस प्रकार चतुर्थ-स्कन्धमें पौरुष विसर्गके द्वारा चार पुरुषार्थोंकी उपलब्धिका वर्णन है।

पञ्चम स्कन्ध : स्थान

'स्थान' क्या?

भगवत्प्राप्तिके अधिकारियोंके लिए लौकिक सर्ग-विसर्गका वर्णन निष्प्रयोजन है, अतएव लौकिक-अलौकिक उभयविध सर्ग-विसर्गोंके द्वारा भगवान्‌का ही वर्णन किया गया है। लक्षणका वर्णन अपने लक्ष्यमें ही तात्पर्य रखता है। लक्षण तटस्थ हो या स्वरूप, लक्ष्य-बोधमें ही उसका तात्पर्य होता है। सर्ग-विसर्गके समान ही तृतीय लक्षण है—स्थान। कहीं 'स्थान' शब्दका प्रयोग है, कहीं 'स्थिति'का। 'स्थान' शब्द करण और अधिकरण दोनों ही अर्थोंमें मिलता है, 'स्थिति' शब्द भावमें। जिस भगवान्‌से, भगवान्‌में, स्थिति है और होती है उसको 'स्थान' कहते हैं। दूसरे स्कन्धमें 'स्थिति'का अर्थ वैकुण्ठ-विजय है और बारहवें स्कन्धमें वृत्ति अर्थात् जीविका। जीवनका साधन अथवा आधार स्थान ही है, वह तत्त्वतः भगवान् ही हैं। वैकुण्ठ-विजयका अर्थ है यह सब भगवान्‌के अधीन है, सर्वत्र भगवत्सत्ता ही काम करती है। प्राकृत तत्त्व चौबीस होते हैं और आत्मा जीव एवं ब्रह्म-भेदसे दो प्रकारका होता है। अतः छब्बीस अध्यायोंमें स्थान-लीलाका निरूपण है। इस लीलाका अभिप्राय यह है कि विशेष पुरुष, विशेष कर्म और विशेष स्थानका परस्पर सम्बन्ध भगवान्‌के द्वारा ही नियन्त्रित होता है। यह नियन्त्रण ही वैकुण्ठ अर्थात् भगवान्‌की विजय है।

देश तीन प्रकारका होता है। तीन लोकको कौन नहीं जानता? काल इक्कीस प्रकारका होता है। स्थिति तीन प्रकारकी मानी जाती है—देशमें, कालमें और स्वरूपमें। भगवान् ही इन सबको अपने अधीन रखते हैं। प्रियव्रतके जीवनपर ध्यान दें। वे पहले विवेक-पूर्वक सद्गुरुके पास रहकर ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं। नारदजी भगवान्‌के प्रेमी भक्त हैं, परन्तु ब्रह्मा और मनु आकर प्रियव्रतको राज्य करनेके लिए

समझाते हैं। वेद ब्रह्माके मुखसे प्रकट होते हैं, ब्रह्मा वेदके आचार्य हैं, मनु स्मृतियोंके आचार्य हैं। श्रौत-स्मृति विभागके दोनों आचार्य जब प्रियव्रतके पास आये तो उन्होंने यही निश्चय किया कि इनकी आज्ञा वेद और धर्मशास्त्रकी आज्ञा है, इसलिए उसे स्वीकार करना चाहिए। स्वयं प्रियव्रतके मनमें भोगकी कोई कामना नहीं थी, परन्तु भगवान्‌का दिया हुआ उन्होंने स्वीकार किया। अतएव राज्य-भोगको प्राप्तिके अनन्तर भी इनको वैराग्य हुआ और मोक्षकी प्राप्ति हुई। स्पष्ट है कि यह सब भगवान्‌की लीला है। सद्‌गुरुकी सेवा ही मर्यादा-मार्गका सर्वोत्कृष्ट साधन है। अतएव नारदोक्त मार्गसे चलना ही मुक्ति-प्राप्तिका उपाय है। ईश्वरके भजनसे कालपर विजय प्राप्त की जा सकती है—यह सूचित करनेके लिए प्रियव्रतका रातको भी दिन बना देनेका कार्य है। उसके रथके पहियेसे सात द्वीप बन गये। यह देशपर विजय है और उन्होंने वैराग्यके द्वारा अपने व्यक्तित्वपर विजय प्राप्त करके परमात्मा-स्वरूप मोक्षको प्राप्त किया—यह आत्मापर विजय है। इस प्रकार प्रियव्रतने भगवान्‌की शक्तिसे, भगवान्‌में रहकर देश, कालादिपर विजय प्राप्त की। यही वैकुण्ठ-विजय है। यह सब भगवान्‌के द्वारा ही सम्पन्न होता है, अतएव भगवान्‌का लक्षण है।

सर्वत्र भगवत्सम्बन्ध ही मंगलकारी :

भगवद्-इच्छासे ही ब्रह्माने प्रियव्रतके पुत्र आग्नीध्रके लिए अप्सरा भेजी; क्योंकि प्रियव्रतके जीवनमें ब्रह्माकी आज्ञासे जो काम-भोगांश आया था उसकी प्रधानता आग्नीध्रमें थी, अतः आग्नीध्रको काम-भोगके लिए अप्सरा प्राप्त हुई। वे मरणके पश्चात् भी अप्सरा-लोकमें गये और वहीं काम-भोगका परित्याग करके भगवान्‌से एक हो गये। काम-भोगके लिए जड़ता स्वीकार करनी पड़ती है। इसी कारण अप्सराको देखकर वे जड़वत् हो गये थे और शृङ्गार रसानुसारी मधुर वचनोंसे उसको वशमें किया था। आग्नीध्र थे पुरुष, अप्सरा थी प्रकृति। भगवत्सम्बन्धसे पुरुष प्रकृतिको वशमें कर सकता है, वह शक्ति - आग्नीध्रकी नहीं, भगवान्‌की थी।

आग्नीध्रके पुत्र नाभि हुए। प्रियव्रतमें जो ब्रह्माकी वाणीपर वेदवत् श्रद्धा थी, वह नाभिके जीवनमें ब्राह्मणोंके प्रति श्रद्धाके रूपमें प्रकट हुई। वेदभक्तिने ब्राह्मण-भक्तिका रूप ग्रहण किया। ब्राह्मण ब्रह्मा हैं, क्योंकि उनकी वाणीसे वेदोंका प्रकाशन होता है। नाभिके पुत्र होनेके लिए ब्राह्मणोंने यज्ञानुष्ठान कराया और उसमें भगवान् प्रकट हुए। ब्राह्मणोंने ही भगवान्‌से प्रार्थना की कि यह राजा आपके समान पुत्र चाहता है। भगवान्‌ने कहा—मेरे समान और कोई नहीं है, अतः मैं ही इनका पुत्र बनूँगा। किसी-किसीका मत है कि ब्राह्मण एवं धर्मके प्रभावसे नाभिको यह फल प्राप्त हुआ, परन्तु धर्म, ब्राह्मणका सामर्थ्य भी भगवान्‌का ही सामर्थ्य है। अतएव पुत्र बननेसे भी भगवान्‌की स्थिति-स्थापकता ही सिद्ध होती है। भगवान्‌के प्रति लौकिक भाव भी मुक्तिका ही हेतु है। भगवान् जो करते हैं, उसमें प्रपञ्चकी निवृत्ति ही होती है, प्रवृत्ति नहीं। यही कारण है कि निवृत्तिके लिए ऋषभावतार होनेपर भी राज्य, पुत्रोत्पत्ति आदिसे सम्बन्ध रखनेवाले कार्य करते हैं।

ऋषभावतारका चिन्तन :

ऋषभदेवसे इन्द्रने स्पर्धा की। उनके राज्यमें वर्षा करना बन्द कर दिया, आश्चर्य है कि उस मन्वन्तरमें भगवान्के अंशावतार यज्ञ हो इन्द्र थे, ऋषभदेव भी भगवान्के अवतार ही थे, भगवान् भगवान्में स्पर्धा कैसी ? इसका उत्तर यह है कि यज्ञावतार क्रियाशक्ति-प्रधान था। यज्ञ भी क्रिया और उसके आराध्य देवता भी क्रियाशक्तिके अधिष्ठाता इन्द्र। ऋषभदेव ज्ञानशक्ति-प्रधान और निवृत्तिके लिए उनका अवतार। इन्द्रने उनके भगवत्तत्त्वकी परीक्षाके लिए अथवा प्राकटचके लिए वर्षा बन्द कर दी। ऐसा भी प्रतीत होता है कि इन्द्रको अपनी कन्या जयन्तीका विवाह ऋषभदेवके साथ करना था, अतः ऋषभदेवकी अलौकिक शक्ति प्रकट करनेके लिए इन्द्रने स्पर्धा की। कन्याका विवाह करनेके लिए वरकी परीक्षा भी आवश्यक होती है। ऋषभदेवके पुत्र होनेपर भी नाभिको मोक्षकी प्राप्ति नहीं हुई; क्योंकि पुत्र-कामनासे उन्होंने भगवान्को प्राप्त किया था। भगवान्ने उनकी कामना पूरी कर दी। अब भगवान्के पुत्र-रूपमें प्राप्त होनेपर भी नाभिने उन्हें तो ब्राह्मणोंके हाथोंमें समर्पित कर दिया और स्वयं नर-नारायणका आश्रय लेकर मुक्ति प्राप्त की। तपस्या एवं ज्ञानसे एकको ही भगवत्प्राप्ति होती है, परन्तु भगवद्भक्तिसे अनेकोंको हो भगवत्प्राप्ति होती है। नाभिने पत्नी सहित वानप्रस्थ-धर्मको रीतिसे भगवत्प्राप्ति की थी। प्रियव्रतके जीवनमें आदि-अन्तकी दृष्टिसे गुरुसेवाकी प्रधानतासे ब्रह्मचर्य है। आग्नीध्रमें गृहस्थाश्रम स्पष्ट है। ऋषभदेवने अपने पुत्रोंको उपदेश किया। यह पिता और राजाका कर्तव्य है।

ऋषभदेवने अपने पुत्रोंको सम्बोधित करके तपस्याका जीवन व्यतीत करनेका उपदेश किया और उसीको अनन्त ब्रह्मसुखका कारण बताया। सत्सङ्गमें प्रीति रखना, इन्द्रियोंकी तृप्तिमें मुग्ध न हो जाना, सावधान रहना। संसारकी वस्तुओंमें मैं-मेरा मोह हो है। अन्य पदार्थमें, दृश्यमें, आत्मामें, अहंभाव ही लिङ्ग शरीर है, जिससे गमनागमन होता है। कुशलतासे इसका निषेध कर देना चाहिए। जब हृदय-ग्रन्थि छिन्न-भिन्न हो जाये तब योगाभ्याससे भी उपराम हो जाना चाहिए। मूलग्रन्थमें यह उपदेश-प्रकरण बहुत ही महत्त्वपूर्ण है।

ऋषभदेवके जीवनमें यौगिक सिद्धियाँ स्वयं ही उपस्थित हुईं, परन्तु उन्होंने सिद्धियोंका अभिनन्दन नहीं किया। ध्यान देने योग्य है कि ऐसे सत्पुरुषके लिए सिद्धियाँ कोई विघ्न उपस्थित नहीं कर सकतीं, तथापि उन्होंने मनका विश्वास करना उचित नहीं समझा; क्योंकि मन अत्यन्त चञ्चल है, इससे मैत्री कर लेनेपर मनुष्य ठगा जाता है। बड़े-बड़े समर्थ पुरुष भी इस धूर्त मनके साथ मित्रता करके अपनी चिरसञ्चित तपस्या नष्ट कर बैठते हैं। यह पहले कहता है—देखनेमें क्या पाप है ? फिर कहता है—बात करनेमें क्या पाप है'? फिर कहता है—स्पर्श करनेमें क्या पाप है ? अनजानमें ही मनुष्यको पापके गर्तमें धकेल देता है। मन अपने अन्दर गुप्तरूपसे कामादि शत्रुओंको रखता हो है। इसलिए इसको स्वच्छन्दताका अवसर कभी नहीं देना चाहिए। इसीसे ऋषभदेवजीने सिद्धियोंको स्वीकार नहीं किया। मृत्युके समय भी

उन्होंने अपने मुँहमें पाषाण-खण्ड डाल लिया कि जिससे बाहरकी वस्तु भीतर प्रवेश न कर जाये, संसारका नाम भी मुखमें न आये। भक्तोंपर प्रसन्न होकर भगवान् उन्हें सन्मार्गकी शिक्षा देनेके लिए स्वयं कितना कष्ट उठाते हैं—इसका यह एक उदाहरण है।

अमोघ भगवदाराधन :

भरत-चरित्र मनुष्य जीवनका एक उत्कृष्ट प्रकाश है। पृथिवीका पालन, विवाह, पुत्रोत्पादन और इतना यश कि उन्हींके नामसे इस अजनाभ वर्षको 'भारतवर्ष' कहा जाने लगा। इस अर्थ-कामके साथ-साथ भरत मुख्यतः धर्मानुष्ठान-निष्ठ थे। वे सम्पूर्ण देवताओंमें और अपने यजमान-शरीरमें भी एक ही अन्तर्यामी परमेश्वरकी भावना करते थे। देवताका नाम चाहे कुछ भी हो और यजमान चाहे कोई भी हो, उसके नियन्ता प्रभु एक ही हैं। देवता, यज्ञ, यजमान, मन्त्र, पुरोहित, क्रिया-कलाप सब-के-सब प्रभुके अवयव ही हैं। इस दृष्टिसे वे यज्ञका अनुष्ठान करते थे। वे राज्य पुत्रोंको देकर स्वयं पुलहाश्रम गये। वहाँ भक्तिभावसे भगवान्‌की परिचर्या-सपर्या करने लगे। नेत्रोंमें आँसू, शरीरमें पुलकावलि, हृदयमें प्रेमानन्द, इतनी ऊँची स्थिति होनेपर भी उनके जीवनमें एक विघ्न आ ही गया।

वह विघ्न यह था कि एक अनाथ मृगशावकके प्रति उनके मनमें दयाका उदय हुआ। भक्ति होती है अन्तरङ्ग—अन्तर्यामीके प्रति। दया होती है बहिरङ्ग, दुःखी प्राणीके प्रति। दया सात्त्विक-वृत्ति होनेपर भी मनको बाहर फेंक देती है। यहाँतक तो ठीक है कि दुःखीका दुःख दूर करके दयावृत्ति फिर अन्तर्यामीके पास लौट आये, परन्तु जब वह अपनी दयालुताका राजसिक अभिमान धारण कर लेती है, तब भगवत्सेवामें विक्षेप-विघ्न उपस्थित हो जाता है। वह दयावृत्ति भी आसक्ति बनकर तामसिक हो जाती है एवं जड़ बना देती है। इस प्रकार सात्त्विक वृत्ति ही विकृत होकर बन्धनका रूप ग्रहण कर लेती है। भरतके जीवनमें भी ऐसा ही हुआ। वे हरिण-शावकका ध्यान करते हुए मरे और दूसरे जन्ममें हरिण हो गये। यह अवश्य है कि भगवान्‌की आराधना कभी व्यर्थ नहीं जाती। अतः हरिण शरीरमें भी उन्हें भगवत्-विस्मृति नहीं हुई और भगवान्‌का चिन्तन करते हुए उन्होंने समयपर उस शरीरका परित्याग कर दिया।

तीसरे जन्ममें ब्राह्मण-शरीर मिलनेपर भी उन्होंने किसीके साथ मेल-जोल नहीं रखा। हाँ, राजा रहूगणके मिलनेपर उनका तत्त्वज्ञान मुखरित हो उठा। कहीं-कहीं ऐसा उल्लेख मिलता है कि राजर्षि भरतका वही वात्सल्य-भाजन मृग-शिशु राजा रहूगणके रूपमें जन्म लेकर पूर्व संस्कारके अनुसार ज्ञान-प्राप्त करनेके लिए जड़भरतके पास पहुँच गया और पूर्व जन्मके वात्सल्य-संस्कारने जड़भरतके जीवनमें भी अपना चमत्कार दिखा दिया। जड़भरतने राजा रहूगणको जो बहुत डाँट-फटकारके उपदेश किया है वह भी वात्सल्यकी एक अभिव्यक्ति ही है।

जड़भरतकी तत्त्वाभिमुख स्थिति :

जड़भरतका स्पष्ट कहना है कि तत्त्वज्ञानको व्यवहारके साथ नहीं जोड़ना चाहिए। तत्त्वानुभूतिके

लिए तत्त्वातिरिक्तसे वैराग्य होना आवश्यक है। मन ही माया है, यह संसारका चक्र उसीका जादू है। उपेक्षासे यह बलवान् हो जाता है। गुरु हरिकी चरणोपासनाकी तलवारसे यह मारा जाता है। चराचर सृष्टिकी उत्पत्ति और प्रलय मृत्तिका ही है, भेद नाममात्रका है। राजापनेका अभिमान एक झूठा नशा है। सत्पुरुषोंके चरणोंकी धूलसे धूसरित हुए बिना और किसी उपायसे संसार-चक्रसे त्राण नहीं मिल सकता। 'भली-भाँति सत्सङ्ग करके ज्ञानकी तलवार प्राप्त करो और उससे इस मोह-बन्धनको काट दो।' जड़-भरतने परोक्ष और प्रत्यक्ष दोनों रूपोंमें जीवकी गतिका वर्णन करके रहूगणका अज्ञान दूर कर दिया। भरत-वंशमें गय नामका राजा प्रसिद्ध ब्रह्मज्ञानी हुआ है। इस प्रकार पन्द्रह अध्यायोंमें स्वरूप-स्थितिका वर्णन है। इनमें सत्सङ्ग, वैराग्य, देवतानुग्रह, यज्ञ, भगवत्प्रसाद, जीवन्मुक्ति, भक्ति, योग आदिके द्वारा देश-कालका अतिक्रमण और स्वरूप-स्थितिका वर्णन है। भगवद्-भजनसे ही ऐसा होना शक्य है। इसलिए इन सभी प्रसंगोंमें सबकी स्थिति भगवान्के अधीन ही है, यह रहस्य प्रकट किया गया है।

परमात्म-पर्यवसायी देश-वर्णन :

स्थानके प्रसंगमें भूगोल, खगोल, पाताल एवं नरकोंका वर्णन आवश्यक है। परन्तु यहाँ उनके वर्णनमें तात्पर्य नहीं है। आरम्भमें ही कहा गया है कि भगवान्के गुणमय स्थूल रूपमें मन लग जानेपर निर्गुण, सूक्ष्मतम आत्मज्योति परब्रह्ममें प्रवेशके योग्य हो जाता है, इसलिए उसका वर्णन करना है। अन्तमें उपसंहार भी यही किया गया है कि भगवान्के स्थूल रूपका वर्णन इसलिए किया गया है कि भगवान्के अग्राह्य रूपको भी जान सके; क्योंकि श्रद्धा-भक्तिसे बुद्धि शुद्ध हो जाती है। भगवान्के स्थूल, सूक्ष्म रूपका ध्यान करनेसे धीरे-धीरे मन सूक्ष्म होकर भगवान्में प्रवेश करता है। यह सम्पूर्ण विश्व-ब्रह्माण्ड भगवान्के स्थूल शरीरमें ही निवास करता है। अतः इस प्रसंगका अभिप्राय उन-उन पदार्थोंके वर्णनमें नहीं है, प्रत्युत परमात्माके वर्णनमें ही है।

पृथिवी शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्धसे युक्त है। अतः पाँच अध्यायोंमें उसका वर्णन किया गया है। इसमें सत्त्वप्रधान तम, रजःप्रधान तम, तमःप्रधान सत्त्व, तमःप्रधान रज और तम, गुणोंके इस मिश्रणसे भी पृथिवी पाँच प्रकारकी है। जम्बूद्वीप चतुर्विध पुरुषार्थका हेतु है, अतः उसके लिए चार अध्याय रखे गये हैं। पृथिवीके परिमाण और स्वरूपका वर्णन ध्यानके लिए ही है, यह स्पष्ट है, क्योंकि वह भगवान्का कटिभाग है। जिस द्वीपमें जन्म लेनेसे ही मनुष्य कल्याणकी ओर अग्रसर हो जाये, उसका नाम जम्बूद्वीप है। यहाँकी भूमि स्वतः शुद्ध है। जलकी दृष्टिसे भी यहाँकी भूमि परम पावन है; क्योंकि यहीं गंगा-वतरण हुआ है। चरण ब्रह्म-लोकमें धोया गया, वह जल मध्य-भागपर गिरा। अतः यह लोक और जल भगवद्-भजनके लिए उपयोगी है। गंगा-जलसे भगवान्की पूजा आदि करना चाहिए। गंगाके तीन रूप हैं—एक है—जल-रूप, जिससे सब व्यवहार किया जा सकता है। द्वितीय है—प्रवाहरूप, वह तीर्थ है। उसके स्नान-पानसे दोषकी निवृत्ति एवं पुण्यकी उत्पत्ति होती है। तीसरा रूप है—भगवच्चरणारविन्दका जल होना, इससे

मजनके योग्य शरीरका निर्माण होता है। गंगाके सम्बन्धसे दूसरी नदी एवं मार्गका जल भी गंगारूप हो जाता है, जो अपने सम्बन्धसे सबको पवित्र कर देता है। जम्बूद्वीपके सभी खण्डोंमें भगवान्की पूजा होती है।

भौगोलिक या खगौलिक दृष्टिसे विद्वानोंने इसका बहुत विचार किया है। परन्तु तत्त्वतः इसका तात्पर्य भगवान्के ध्यानमें ही है, इसलिए बहुत भौतिक अनुसन्धान अनुपयुक्त है।

जैसे पुरुषके शरीरमें शिरोभागसे लेकर पादतलपर्यन्त सभी प्रकारके अवयव होते हैं और अपना-अपना कार्य सम्पादन करते हैं, उसी प्रकार विराट् पुरुषके शरीरमें भी मल-स्थान, मूत्र-स्थानके समान नरक आदि हैं, जिनमें हम शुद्ध-अशुद्धका विभाग करते हैं। उनमें भी भगवान्के अतिरिक्त कोई दूसरा तत्त्व नहीं है। परिपूर्ण विराट्का ध्यान होनेके लिए उनका होना भी आवश्यक है। जैसे तृतीय स्कन्धमें सृष्टिकी उत्पत्तिका वर्णन है और चतुर्थमें विविधताका, वैसे ही पञ्चम स्कन्धमें उसके विस्तारका भी वर्णन है। इससे स्थान कितना बड़ा है और उसका अधिष्ठान स्वप्रकाश प्रत्यक्चैतन्याभिन्न परमात्मा कितना बृहद् है—यह समझनेमें सहायता मिलती है। कोई प्रत्यगात्माको छोड़कर बाहर स्थानका आदि, अन्त ढूँढ़नेके लिए किसी ओर भी जाये, कभी उसका आदि, अन्त नहीं मिल सकता, उससे भी आगे, उससे भी आगे। अन्ततः बुद्धि अज्ञानान्धकारमें लीन हो जाती है। परन्तु यदि प्रत्यगात्माका अनुसन्धान करें तो वहीं पूर्व-पश्चिम आदि देशका आरम्भ और अन्त मिल जायेगा। तदाकार बुद्धियोंका अन्तर्यामी ईश्वर प्रत्यगात्मासे अत्यन्त सन्निहित ही वास करता है। अतः नियम्यको उपाधिसे विनिर्मुक्त नियन्ता प्रत्यगात्मासे अभिन्न ही होता है। उसमें कालक्रम, देशक्रम, वस्तुके परिणाम और परिमाणसे ही जाने जाते हैं। वस्तु अपने अत्यन्ताभावके अधिष्ठानमें ही प्रकाशित होती है। अतः वस्तु, देश एवं कालका भेद अपने अत्यन्ताभावके अधिष्ठानमें प्रतीत होता है। इस विचारसे प्रत्यक् चैतन्यकी ब्रह्मरूपताका अनुभव हो जाता है। अतः स्थानके विचारसे अधिष्ठान अर्थात् स्थानापेक्षया अधिक निरतिशय बृहत् वस्तुके बोधमें सहायता मिलती है। इसीसे स्थानका निरूपण किया गया है।

षष्ठ स्कन्ध : पुष्टि अथवा रक्षण

भगवदनुग्रह क्या है ?

जैसे एक माली उद्यानकी देख-भाल करता है, जहाँ आवश्यक होता है वहाँ गोड़ता है, गीली मिट्टी सुखाता है, सिंचाई करता है, खाद देता है; इस प्रकार वृक्षोंको परिपुष्ट करता है, अपेक्षित होनेपर काट-छाँट भी करता है; इसी प्रकार भगवान् अपने इस जगद्रूप उद्यानकी पुष्टि एवं रक्षा करते रहते हैं। जीवनमें दोनों ही आवश्यक हैं; रोग निवृत्तिके द्वारा स्वास्थ्य-रक्षा एवं पुष्टिके द्वारा संवर्द्धन। क्रमशः दूसरे और बारहवें स्कन्धमें स्थानके पश्चात् पुष्टि एवं रक्षाका वर्णन है। स्थानके बाद पुष्टि, वृत्तिके बाद रक्षा, यही छठे

स्कन्धका स्वरूप है। इस स्कन्धमें यह बतलाया गया है कि जब जीवका बल क्षीण हो जाता है और वह हीन दशामें पहुँच जाता है, तब भगवान्‌का बल-वीर्य उसको संरक्षण एवं संवर्द्धन प्रदान करता है। जीवका बल-वीर्य अल्प है, भगवान्‌के बल-वीर्यसे बढ़कर और कोई बल-वीर्य नहीं है। जब जीव अपने निषिद्ध कर्मोंके आचरणमें अपने-आपको खो बैठता है, उस समय भगवान् पुष्टिरूप अनुग्रहके द्वारा उसका उद्धार करते हैं। यह त्वं-पदार्थका बल नहीं, तत्-पदार्थका बल है। अतः इसका अन्तर्भाव पौरुषमें नहीं हो सकता। प्रभुकी इच्छा दूसरी वस्तु है, अनुग्रह उससे भिन्न है। इच्छा, काल आदि तत्वोंको प्रवृत्त करती है और अनुग्रह उनके प्रभावको निवृत्त करता है। परमात्माने ही अपनी सत्ता, ज्ञान और स्वतन्त्रतासे जीव, जगत्‌को प्रवृत्तिको भी सत्ता, ज्ञान एवं स्वातन्त्र्य दे रखा है। जहां कालकर्मादिके द्वारा जीव ग्रस्त हो जाता है, वहाँ निवारण करनेके लिए अनुग्रहके रूपमें अपनेको प्रकट कर देता है। जीव-जगत्‌में परमात्माकी ही सत्ता, स्फूर्ति, स्वातन्त्र्य एवं प्रियता है। हिरण्यगर्भ-रूपसे सूक्ष्म आकृति, विकृति, संस्कृति देता है तथा विराट् रूपसे स्थूल आकृति, आयु एवं भोग देता है। वह जीव-जगत्‌को ग्रहण किये हुए है, उन्हें अनुगृहीत करता रहता है। सर्वथा अनुगत रहता है और कभी परित्याग नहीं करता। यह अपरित्याग-लक्षण अनुग्रह जीवको भी नष्ट नहीं होने देता, जबतक वह परमात्मासे एक न हो जाये। प्रवाह रूपसे जगत्‌की नित्यता भी अनुग्रह ही है।

समर्पण ही सर्वोत्तम प्रायश्चित्त है :

राजा परीक्षितने श्रीशुकदेवजीके मुखसे सुना कि पापी मनुष्यको नरकमें जाकर दुःख भोगना पड़ता है। अतः मृत्युके पूर्व ही उसको प्रायश्चित्त कर लेना चाहिए। बड़े पापका बड़ा प्रायश्चित्त होता है, छोटे पापका छोटा। राजाने विचार किया कि मुझसे पाप हुए हैं, मैंने प्रायश्चित्त भी नहीं किया है। अतः मुझे उनका फल-दुर्गति भोगना पड़ेगा। परन्तु प्रायश्चित्तोंके सम्बन्धमें एक शंका है। ज्ञान और कर्म दोनों ही पापके प्रायश्चित्त नहीं हो सकते, क्योंकि मनुष्य यह जानते हुए भी कि यह कर्म पाप है और मेरे लिए अहितकर है, किसी विवशतासे ग्रस्त होकर पाप करता है। प्रायश्चित्त कर्मके अनन्तर भी पुनः पाप होता है। यह तो हाथीका स्नान हुआ कि उसने नहा-धोकर बाहर निकलकर अपने ऊपर धूल डाल ली। श्रीशुकदेवजी महाराजने उत्तरमें कहा कि प्रायश्चित्तसे पापोंका नाश तो हो जाता है, परन्तु पुनः पाप न हो, यह व्यवस्था पापोंके ज्ञान एवं कर्मानुष्ठानसे नहीं हो पाती, यह तो तभी हो सकती है जब भगवान्‌के प्रति आत्मसमर्पण हो अथवा सत्पुरुषोंकी सेवा मिले। जो भगवान्‌से विमुख हैं, उनको सहस्र-सहस्र प्रायश्चित्त भी आत्यन्तिक पवित्रता नहीं दे सकते। क्या सुरा-घट नदीमें धोनेसे पवित्र हो सकता है? अतः भगवान्‌के चरणारविन्दमें मन लगाना ही सबसे बड़ा प्रायश्चित है और नरकसे बचनेका मार्ग है। इस विषयको स्पष्ट करनेके लिए अजामिलका दृष्टान्त है।

भगवन्नाम-समीक्षा :

इस प्रसंगमें तीन अध्याय हैं—नाम-श्रवण, नाम-कीर्तन एवं नाम-स्मरण। नाममें जीवका बल नहीं है, भगवान्‌का बल है। जैसे ज्ञान कर्ताके अधीन नहीं होता है, ज्ञेय वस्तुके स्वरूपके अधीन होता है,

इसी प्रकार नाम उच्चारणकर्ताके बलसे अपना फल नहीं देता, जिस प्रभुका नाम है उसके बलसे अपना फल देता है। नाममें अपना बल न होनेके कारण ही, उसके लिए पवित्र देश, पवित्र काल, पवित्र व्यक्ति एवं विधिपूर्वक उच्चारणकी आवश्यकता नहीं होती। नाममें श्रद्धा-अश्रद्धा एवं ज्ञान-अज्ञानका भी कोई प्रभाव नहीं होता, सर्वथा नामी भगवान्‌के बलसे ही वह प्राणीका कल्याण करता है। उसे पापी, पुण्यात्मा, शुद्ध, अशुद्धकी पहचान भी नहीं है। वह केवल भगवद्‌बलसे ही बली है। इसीसे अजामिलके मुखसे उच्चरित 'नारायण' नाम अजामिलके उद्धारका हेतु बन जाता है। अजामिलने मरणासन्न-अवस्थामें अपने नारायण नामक पुत्रको पुकारा। 'नारायण' नामका देवगुह्य माहात्म्य न जाननेके कारण यमदूत आ टपके और उसको बाँधकर ले जाने लगे, उसी समय अपने पार्षदोंके हृदयमें प्रवेश करके स्वयं नारायण वहाँ प्रकट हो गये। अजामिल सन्मार्गमें प्रवृत्त हो गया।

अभिमान ही दोषोंका मूल है :

अजामिल अपने पूर्व जन्ममें विद्वान्, सदाचारी, मातृ-पितृ-भक्त एवं अनेक सद्‌गुणोंसे सम्पन्न था, परन्तु उसमें अपनी श्रेष्ठताका अभिमान था, जिसके कारण काल-शक्तिरूप वेश्याने उसपर कामाक्रमण करके उसके अभिमानको चूर-चूर कर दिया और वह भोग-मदिराका पान करके मतवाला हो गया। कालशक्ति किसीके अभिमानको नहीं रहने देती। जब अभिमान टूट जाता है, जब विषयी एवं प्रमाता निर्बल हो जाता है, तब प्रमेयका बल अर्थात् भगवान्‌का बल प्रकट होता है। यही कालकर्मादि-निवारक भगवान्‌का अनुग्रह है।

भगवन्नाममें शक्ति :

भगवन्नाममें इतना बल कैसे आजाता है कि वह पापी-से-पापी और बड़े-से-बड़े अज्ञानीका भी कल्याण कर सके? निस्साधन तथा कुसाधनको भी भगवान्‌का अनुभव करा सके? यह निश्चित है कि नाम और नामीका अभेद है। नाम और अर्थका औत्पत्तिक सम्बन्ध है। स्वयं भगवान् आनन्दसे उल्लसित होते रहते हैं और अपने नामोंका दिव्य-संगीत गाते रहते हैं। वही भगवद्रसोल्लास सम्पूर्ण विश्वको रससे आप्लावित करता रहता है। अतएव न केवल नाममें, प्रत्युत नामाभासमें भी भगवान्‌का सम्पूर्ण बल प्रकट होता रहता है। भले ही किसीके पुत्रका भगवान्‌के नामपर नाम हो। परन्तु उस नामके वास्तविक अर्थ तो वही हैं, क्योंकि सम्पूर्ण नामों, रूपों और क्रियाओंमें उनकी व्याप्ति है। तादृश शब्द सुनते ही वह छलक पड़ती है। भगवान् अपने नामको इतना प्यार करते हैं कि दूसरा कोई अपना वह नाम रख भी ले तो भगवान् अपने नामके सौन्दर्य-माधुर्यपर मुग्ध होकर उसे अपना ही समझ बैठते हैं। मुग्धता भी भगवान्‌की स्वाभाविक शक्ति है।

भगवन्नाममें प्रमेय-बल है :

प्रश्न यह है कि मृत्युके समय कोई भगवान्‌के नामका उच्चारण, कीर्तन, श्रवण या स्मरण कैसे कर सकता है? अग्नि मन्द हो जाती है, प्राण क्षीण हो जाते हैं, इन्द्रियोंकी शक्ति लुप्त हो जाती है, मन मूर्च्छित हो जाता है, बुद्धि सुषुप्त हो जाती है, फिर कोई भगवान्‌का नाम कैसे सुने, कैसे बोले, कैसे स्मरण करे?

ठीक है, मृत्युके क्षणसे पूर्व तो नामोच्चारण हो सकता है। कितने पूर्व ? इतने पूर्व कि जिसके पश्चात् और मृत्युसे पहले पापकर्म न हो। नामोच्चारणमें इतना सामर्थ्य है कि अनादि संचित सम्पूर्ण पापराशि तत्क्षण भस्म हो जाती है और मृत्युके अनन्तर पापफलका भोगना शेष नहीं रह जाता। मनुष्य भगवत्प्राप्तिके मार्गपर अग्रसर हो जाता है।

और शास्त्र प्रमाण :

आश्चर्य है जीव अनादि है, अन्तःकरण अनादि है, कर्म अनादि है, पापोंकी कोई गणना नहीं है, नामोच्चारण मात्रसे अगणित राशि-राशि पाप कैसे भस्म हो जायेंगे ? विश्वास नहीं होता। ठीक है विश्वास नहीं होता, परन्तु क्यों नहीं होता ? इसलिए कि आपने शास्त्रीय प्रणालीसे पाप और पुण्यका निश्चय नहीं किया है, आपने निर्मूल अनुमानके बलपर एवं गतानुगतिक अन्धपरम्पराके अनुसार पाप-पुण्यकी कल्पना कर रखी है। पाप-पुण्य न प्रत्यक्ष हैं और न काल्पनिक, वे केवल शास्त्रीय विधि-निषेधसे ही प्राप्त होते हैं। इसका कारण यह है कि सृष्टिका मूल उपादान चाहे ब्रह्म हो, माया हो, ईश्वर हो, प्रकृति हो शून्य हो, चित्त हो, पञ्चभूत हो या अज्ञान हो, है एक ही। उसमें स्वाभाविक पाप-पुण्यकी विभाजक रेखा नहीं हो सकती। विशेष-विशेष परमाणुओंमें भी पाप-पुण्यके संस्कार नहीं होते, वह केवल शास्त्रीय संविधानसे ही प्राप्त होते हैं। इसलिए वे कब हैं और कब मिट जाते हैं, इसका निश्चय शास्त्रीय व्यवस्थाके अनुसार ही किया जा सकता है। शास्त्र स्पष्ट रूपसे कहता है कि नामोच्चारण ही नहीं, नामाभास भी सम्पूर्ण पापोंका नाश कर देता है। नामोच्चारणमें पाप-दाहकी इतनी शक्ति है कि कोई बड़े-से-बड़ा पापी भी उतना पाप नहीं कर सकता। अतः नामोच्चारणके अनन्तर मृत्युपर्यन्त यदि कोई पाप न हो तो पाप शेष या पापलेश भी नहीं रहता है और कल्याणका मार्ग खुल जानेमें किसी प्रकारकी बाधा नहीं रहती।

धर्मराज और उनके दूतोंके संवादसे और परम शैव महर्षि अगस्त्यके शपथपूर्वक कथनसे भी यह बात प्रमाणित होती है।

भगवद्रूप अनुग्रहस्वरूप है :

नामके समान ही भगवान्‌का रूप भी है। रूपमें भी भगवान्‌की सारी शक्तियाँ अभिव्यक्त रहती हैं। रूपका स्वरूप क्या है ? भगवान्। भगवान्‌का स्वरूप क्या है ? रूप। अतः भगवान्‌के रूपमें उनका सभी स्वभाव, प्रभाव, गुण, लीला, नाम, तत्त्व, रहस्य पूर्ण रूपसे रहता है। अहल्याके समान निःसाधन एवं कुब्जाके समान कुसाधनका कल्याण भी रूपके द्वारा ही सम्पन्न होता है। छठे स्कन्धमें अनुग्रहकी अभिव्यक्ति नामके सदृश ही रूपके द्वारा भी हुई है। एक दृष्टिसे देखा जाये तो चौदह अध्यायोंमें रूपका ही व्याख्यान है। रूपके चौदह प्रकार हैं—रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, नाद, योग, द्वेष, स्वामित्व, हीनभाव, केवल, निश्चित, भेदविषय, यथास्थित, एवं स्नेह। इनके द्वारा इतनी ही प्रकारकी लीला सम्पन्न होती है और उनका वर्णन मूल ग्रन्थमें है। जैसे पहलेके तीन अध्यायोंमें नामोच्चारणादिका वर्णन है, इसी प्रकार रूप-सम्बन्धी व्यानका वर्णन चौदह अध्यायोंमें है।

इस प्रसंगका सविशेष विवेचन 'निबन्ध'के षष्ठ स्कन्ध स्थित कठिनांशके निरूपणमें है। संक्षेपसे उसपर एक दृष्टि डालना प्रमोदावह रहेगा, अतएव उसको उद्धृत करते हैं। भगवान्‌के पूर्वोक्त चौदह गुण ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय और अन्तःकरण—इनके द्वारा ध्यानमें आते हैं और जीवका हित करते हैं। कर्मेन्द्रिय पाँच हैं, ज्ञानेन्द्रिय पांच हैं और अन्तःकरण चार हैं। दक्षने रूपका ध्यान किया, उसके सामने त्रैलोक्य-मोहन रूपधारी भगवान् प्रकट हुए। ऐसे रूपका ध्यान करनेसे शिवकी अवज्ञाका दोष निवृत्त हो गया एवं सृष्टि-कर्ममें प्रवृत्त होनेपर भी वह कल्याण-भाजन हुआ। भगवद्-रसका हर्यश्व एवं शबलाश्वको अनुभव हुआ। नारदके कहे हुए कूट वचनोंका अर्थबोध होनेपर सर्वेन्द्रिय और अन्तःकरणसे वेद्य आनन्दरूप भगवद्-रसकी अनुभूति प्राप्त हुई। इसीसे उन्होंने संसार-रसका परित्याग कर दिया। दक्षको उस रसका अनुभव नहीं हुआ। इसीसे उन्होंने नारदपर आक्षेप किया एवं शाप भी दिया। विश्वरूपमें कीर्तिरूप एवं अनुभावरूप भगवद्-गन्धका अनुभव ब्रह्माने किया था, अतः देवताओंको यह आदेश दिया कि तुम लोग विश्वरूपको पुरोहित बनाओ। देवताओंके हृदयमें श्रद्धा-भक्तिका उदय हुआ, अन्यथा शत्रुओंके दौहित्रको वे पुरोहित क्यों बनाते? देवताओंने जब विश्वरूपके पास जाकर उनका हृदयसे आलिङ्गन किया तब विश्वरूपाविष्ट भगवान्‌का स्पर्श प्राप्त हुआ, इससे तापकी निवृत्ति, प्रार्थना एवं वरण सम्पन्न हुआ। आथर्वण दधीचि ऋषिसे प्राप्त कवचरूप भगवन्नाम त्रिलोकीका मन हरण कर लेता है, उसको प्राप्त करके दैत्यांश युक्त विश्वरूप भी वैष्णव हो गया, परन्तु जब उसने इन्द्रको कवच दे दिया, तब भगवन्नामका सम्बन्ध दैत्यांशसे न रहे, इसके लिए स्वयं भगवान्‌ने ही विश्वरूपका वध किया। इस प्रकार भगवत्सम्बन्धी नादरूप कवच मनोहर होता है।

भक्ति अनुग्रहका रूप है :

योगसे भगवान् आत्मप्रवेश देते हैं—ऐसा कहा है। मूर्तिमती देवरूपा भक्ति वृत्रासुरके उदरमें रहती है। भक्तिसे ही भगवान् सन्तुष्ट होते हैं। वृत्रासुरका वध किये बिना वह भक्ति बाहर नहीं आ सकती। अतः देवतागण संकटग्रस्त हो गये। जब इन्द्रको कवचरूप नाद प्राप्त हो गया, तब देवताओंका हृदय भगवत्स्तुति-परायण हो गया। भगवान् प्रकट हुए, देवताओंसे सम्भाषण किया, उन्हें अपनाया, वृत्रवधका उपाय बताया। इस वाक्-व्यवहारसे देवता भगवत्पक्षी हो गये, उनमें भगवान्‌का प्रवेश हो गया। युद्ध-हेतु है द्वेष। वह परस्पर हस्त-व्यापारसे होता है। जब भगवान्‌के प्रति द्वेषकी भावना होती है, तब भगवान् युद्ध करके कालद्वारा मोक्ष देते हैं। इससे दैत्योंको पुनः कालग्रस्त नहीं होना पड़ता। भगवान्‌के प्रति किया हुआ द्वेष भी युद्धके रूपमें भगवान्‌के साथ हस्त-व्यापारका हेतु बन जाता है—यह बात वृत्रासुरने स्पष्ट रूपसे कही है। भगवान्‌के प्रति स्वामित्वकी स्थापनासे सब सुख मिलता है। वृत्रासुरके हृदयमें मूर्तिमती भक्ति विद्यमान है और अपने प्रति दास-भावना एवं स्त्री-भावना भी विद्यमान है। अतः परस्पर सम्भोग भी है। इसीसे भगवान् सारा सुख देते हैं। वृत्रासुरकी चतुःश्लोकीमें यह स्पष्ट है। भगवान्‌के प्रति कभी हीनभावना नहीं होनी चाहिए। वृत्रासुरकी वाणी और चेष्टासे इन्द्रको यह ज्ञात हो गया कि उसमें कितना

ज्ञान, कितनी भक्ति एवं कितना बल है। इन्द्रने सब कुछ जान लिया, फिर भी वृत्रासुरके साथ युद्ध किया। असलमें यह वृत्रासुरके हृदयमें स्थित भगवान्‌का ही अनादर एवं त्याग था। यही कारण है कि उन्हें वृत्रासुरकी हत्याका दोष लगा और दुःख भोगना पड़ा।

केवल भगवान्‌को प्राप्ति सम्पूर्ण अर्थ प्रदान करती है।' पूर्वोत्तर दिशामें लक्ष्मी कमलपर विराजमान रहती हैं। वहाँ सब पार्षदोंको छोड़कर केवल भगवान् लक्ष्मीके साथ विहार करते हैं। जब हत्याके दोषसे भयभीत इन्द्रको कहीं भी आश्रय न मिला, तब वे मानस-सरोवरमें प्रविष्ट हो गये। भगवान्‌ने इन्द्रको जो आश्वासन दिया था, उसीके बलपर इन्द्र वहाँ पहुँच गये। इन्द्रकी हीन भावना निवृत्त होनेपर फिर उत्कृष्ट बुद्धिका उदय हो गया। आधिदैविक हत्या केवल भगवान्‌से, आध्यात्मिक हत्या रुद्रसे और भौतिक हत्या यज्ञसे निवृत्त हो गयी।

ज्ञान भी भगवदनुग्रह है :

भगवान् जब मित अर्थात् मतिके विषय, ज्ञानके विषय होते हैं, तब योग देते हैं। जिन्होंने अपरिमित-रूपसे भगवान्‌को मित कर लिया, उन्हें भगवान् अपना योग देते हैं। चित्रकेतु एवं अङ्गिराके सम्वादके द्वारा व्यतिरेक-मुखसे यह स्पष्ट किया गया है। अङ्गिरा ऋषि उपदेश करनेके लिए आये थे, परन्तु चित्रकेतुने पुत्र-प्राप्तिमें ही उत्कृष्ट सुखकी भावना प्रकट की, भगवद्भावनाका परित्याग कर दिया। इससे उसे भगवत्प्राप्ति तो हुई नहीं, दुःखकी प्राप्ति हुई। यहाँ भगवान्‌के सम्बन्धमें उत्कृष्टता, परमानन्दता और अनन्तताका ज्ञान न होनेके कारण भगवत्प्राप्तिका प्रसङ्ग आनेपर भी सफल नहीं हुआ। यदि वह भगवान्‌की महिमाको पहचान लेता, मतिका विषय मित कर लेता, तो भगवत्प्राप्ति तत्काल हो जाती। अतः भगवद्-ज्ञानके द्वारा ही भगवान्‌का मिलन होता है।

अतः अहङ्कार छोड़ो :

यदि कोई भगवान्‌को भिन्न कर दे अर्थात् अहङ्कारके वशमें होकर भगवान्‌का छेदन-भेदन कर दे, तो उसे मृत्युकी प्राप्ति होती है। यह भेदन एवं विदारण अहङ्कारका कार्य है। यह अहङ्कार ही ऐसा है जो एक सर्वात्मा अद्वितीय आत्मस्वरूप परमात्माका विदारण करके जीवात्माको अलग कर देता है। इस प्रकार जीवात्मा ममता करके जड़ वस्तुओंको भी भगवान्‌से अलग कर लेता है, इससे भगवान् जीवके पास दुःख भेज देते हैं। चित्रकेतुके बालककी मृत्यु और उसके कारण शोक-मोह-भयकी प्राप्ति बतलायी गयी। इसीसे इस प्रसङ्गमें उपदेश किया गया कि द्वैतकी सत्यतापर विश्वास मत करो, अहङ्कारके लयके लिए सङ्कर्षणकी उपासनाका उपदेश किया गया, क्योंकि वे अहङ्कारके अधिदेव हैं। उनकी उपासनासे अहङ्कारका लय हो जाता है, फिर कभी उदय नहीं होता। भागवतमें सर्वत्र अहङ्कारको ही बन्धन एवं जन्म-मृत्युका हेतु कहा है। भगवद्-इच्छासे कभी अहङ्कार आजाये तो अपना कार्य करके पुनः निवृत्त हो जाता है। जैसे चित्रकेतुको वृत्रासुर बनानेके लिए शङ्करकी अवज्ञाके हेतु अहङ्कारका उदय तो हो गया, परन्तु भगवत्कार्य

सम्पन्न होनेपर वह निरहङ्कार होकर देवीको प्रसन्न करनेमें समर्थ हो गया। भगवान्‌की भक्ति असुर-योनिमें भी हो सकती है—यह दिखाना ही वहाँ भगवत्ता है।

यथास्थित भगवान् ज्ञानदाता हो जाते हैं। जीवात्माने नारदके योगबलसे प्रकट होकर अपने यथास्थित स्वरूपका ज्ञान दिया, जिससे राजाकी ममता टूट गयी। नारदने यथास्थित परमात्माका ज्ञान देकर सङ्कर्षणका सान्निध्य प्रदान किया। सङ्कर्षणके उपदेशसे सर्वात्मा अद्वितीय यथास्थित परमात्माके स्वरूपका ज्ञान प्राप्त हुआ, वहाँ परमात्मा और आत्माकी एकताका साक्षात्कार हो गया।

भगवदनुवृत्ति उपाय है :

स्नेहसे भगवान् अवश्य ही वशमें हो जाते हैं। स्नेह मनका विषय है। भक्तिके लिए 'एकमना अविच्छिन्न मनोगति'—ऐसा वर्णन है। अतः भक्ति ही स्नेह है, स्नेह ही भक्ति है। चित्रकेतुने सहस्रों वर्षों तक भगवान्‌की अनुवृत्ति और भक्ति की। अतः असुर-योनिमें भी वृत्रासुरके हृदयमें भक्ति होनेके कारण उसका मन भगवान्‌में प्रविष्ट हो गया। इस प्रकार चौदह अध्यायोंमें, चौदह करणोंके द्वारा, चौदह प्रकारसे ध्यानका फल भगवत्प्राप्ति है—यह बात सूचित की गयी। पहले तीन अध्याय नामके, उसके बाद चौदह अध्याय ध्यानके और अन्तिम दो अध्याय भगवत्पूजाके हैं। जिसपर भगवान्‌का अनुग्रह होता है, उसके जीवनमें नाम, ध्यान एवं पूजा ये तीनों या तीनोंमें-से कोई एक प्रकट हो जाते हैं। यही भगवान्‌के अनुग्रहकी पहचान भी है।

प्रवृत्ति सर्वरूपाश्रयसे :

शिवका अपमान करनेके कारण दक्षकी मृत्यु हुई और पश्चात् उसको बकरेका मुख मिला। भगवदाश्रयके बिना कर्मका फल विपरीत हो गया। ऐसा मुख मिलनेके कारण वह लज्जित हुआ और शरीर त्यागकर प्रचेताओंके पुत्रके रूपमें उत्पन्न हुआ। उसमें कर्मकी दक्षतासे जितना भी सामर्थ्य एवं ज्ञान होता है वह सब था। वह अपने सङ्कल्पसे सृष्टि बनाता था। परन्तु यह ज्ञानमूलक सङ्कल्प स्थिर नहीं होता था। यावत्सङ्कल्प सृष्टि रहकर मिट जाती थी। अतः उसने भगवान्‌की आराधना की। ज्ञान अग्नि है, वह अन्तःकरण-रूप वस्त्रको जला देता है, परन्तु वही ज्ञानाग्नि जब आराधनाके रसमय जलपर आरूढ़ होकर आता है तब अन्तःरूप वस्त्रका प्रक्षालन कर देता है। जब दक्षका ज्ञान-बल आराधनासे तर हो गया तब उसकी असमर्थता मिट गयी। दक्षने सर्वरूपमें भगवान्‌का अनुभव किया, उसने देखा कि परस्पर वाद-विवाद करनेवाले पक्षी-प्रतिपक्षी दोनोंके हृदयमें बैठकर भगवान् ही उनमें युक्ति और शक्तिका प्रकाश करते हैं। अस्ति एवं नास्ति दोनोंमें भगवान् समान हैं, क्योंकि उनके बिना अस्ति और नास्तिकी सत्ता एवं स्फूर्ति हो ही नहीं सकती। भगवान्‌की आज्ञासे दक्षने सृष्टि की। शिवापमानकृत दोष निवृत्त हो गया और सृष्टि कार्यमें संलग्न होनेपर भी वह कल्याण-भाजन हुआ—यही पुष्टि है।

निवृत्तिमें भी भगवदाश्रय :

परन्तु भगवान् केवल प्रवृत्ति-मार्गके ही पोषक नहीं हैं, निवृत्ति-मार्गके भी पोषक हैं। अतः नारदके हृदयमें बैठकर दक्षके पुत्रोंको जिनका नाम हर्यश्व एवं शबलाश्व था, कूट वाक्योंके अर्थचिन्तनमें लगाकर

निवृत्तिपरायण कर दिया। नारदका मिलना, उपदेशका सुनना, चिन्तन करना, निवृत्ति एवं मुक्त हो जाना, दक्षपुत्रोंपर भगवान्‌का अनुग्रह था। दक्षको क्रोध आया, नारदपर। आक्षेप किये, शाप दे दिया। यह प्रवृत्ति-मार्गकी पुष्टि थी और नारदने सब कुछ सह लिया, प्रसन्न हुए, शाप देनेका सामर्थ्य होनेपर भी शाप नहीं दिया, यह निवृत्ति पक्षकी पुष्टि थी। सहिष्णुता ही साधुका लक्षण है। दक्षकी पुत्रियोंके द्वारा सृष्टिकी वृद्धि-समृद्धि होना यह उनपर अनुग्रह है।

अतएव कृपाका अनुसन्धान कीजिये :

इन्द्र देवताओंका राजा है। स्वयं मर्यादामें रहना और दूसरोंको मर्यादामें रखना उसका काम है। परन्तु उसने ऐश्वर्यके मदमें आकर मर्यादाका अतिक्रमण किया, भरी सभामें गुरुका अपमान। गुरु सब जानते थे, चुपचाप अन्तर्धान हो गये। गुरुका गुरुत्व इसीमें है कि ऐसे शिष्यको भी शाप न दे। प्रजापतिने देवताओंको सलाह दी कि तुम लोग विश्वरूपको गुरु बनाओ। विश्वरूप पहले मनुष्य था; पुरोहित बननेपर देवता हो गया। यज्ञको विपरीत करना उसका दैत्यत्व था। उसके पास दधीचि ऋषिका दिया हुआ कवच था, वह इन्द्रको प्राप्त हुआ, दैत्यभावके कारण वह मारा गया। इस प्रसंगमें इन्द्रके लिए विश्वरूप, दधीचि एवं वृत्रासुर तीनोंकी मृत्युमें इन्द्रके प्रति भगवान्‌का अनुग्रह ही हेतु है। चाहे कोई कर्मी हो, ज्ञानी हो, भक्त हो, तुष्टि-पक्षमें उनका ध्यान नहीं रखा जाता। भगवान्‌का अनुग्रह ही सर्वश्रेष्ठ है। वृत्रासुरके हृदयमें इतनी रस-पूरित भक्तिका होना भी पुष्टि हो है। भगवान्‌का अनुग्रह पूर्व जन्मके या इस जन्मके पापको, अभिमान आदि दोषको या जातिगत हीनताको नहीं देखता, वह तो सबके ऊपर बरसता-ही-बरसता है। इन्द्रकी हत्याका दोष पृथिवी, वृक्ष और स्त्रियोंमें बाँटना भी, खात-पूर्ति, पुनःरोहण एवं भोग-समृद्धिके लिए अनुग्रह ही है। वृत्रासुरकी आहवनीय अग्निसे उत्पत्ति, वेदका प्रामाण्य सिद्ध करनेके लिए स्वरभङ्ग, विद्याधरके अहंकार-शोषका भञ्जन—ये सब अनुग्रहके ही शेष रूप हैं। वृत्रासुरका कर्मोत्पादित देह दधीचिके ज्ञानास्त्रसे नष्ट होता है।

दैत्योंकी माता दितिमें भगवत्पूजाके प्रति श्रद्धाका उपाय, पूजाका अनुष्ठान, गर्भमें पुत्रका आगमन, इन्द्रकी सेवा, पुत्रोंका अनेक रूप होना और दैत्यके स्थानपर देवता हो जाना—यह सब भगवान्‌का अनुग्रह है। छठे स्कन्धमें इन उन्नीस अध्यायोंके द्वारा रक्षा, पुष्टि अर्थात् अनुग्रहका निरूपण है। निश्चय ही जगत्‌के प्रत्येक पदार्थमें भगवान्‌की सत्ता, चिन्ता और प्रियता अनुगत रहती है। उसकी अनुगतिके बिना न कोई हो सकता, न जान सकता, न जाना जा सकता। न प्रेम कर सकता और न प्रियतम हो सकता। सच्चिदानन्द-स्वरूप भगवान्‌के अनुग्रह अथवा अनुगतिसे ही कर्ता-कर्म, ज्ञाता-ज्ञेय एवं भोक्ता-भोग्यका व्यवहार चल रहा है। भगवान् सबसे व्यावृत्त रहकर भी सबमें अनुवृत्त हैं। यह अनुवृत्ति ही वेदान्त-सिद्धान्तमें अनुगति एवं भक्ति-सिद्धान्तमें अनुग्रहके नामसे प्रसिद्ध है। जैसे मृत्तिकामें घट और घटत्व जातिका विभाग नहीं है इसी प्रकार परमात्मामें देही-देहका विभाग नहीं है। उसके अनुग्रहसे ही भेद-अभेदके सारे व्यवहार सिद्ध होते हैं वह अनुग्रहका ही एकमात्र आश्रय है।

सप्तम स्कन्ध : ऊति—कर्मवासना

विविधता परन्तु भगवत्तत्त्व एकरस :

विद्युत्-शक्तिका चमत्कार व्यवहारमें प्रत्यक्ष होता रहता है। ध्वनिमें वृद्धि होती है, वायुका विस्तार होता है, उष्णता बढ़ती है, शीतलता आजाती है, ठोस तरल एवं तरल ठोस हो जाता है, दाह और प्रकाश दोनों होते हैं। विद्युत्शक्ति सबमें एक ही है, फिर यह क्रिया-भेद क्यों होता है? यन्त्रगत संस्कारके भेदसे। इसमें क्या विद्युत् भिन्न-भिन्न है? यन्त्र भिन्न-भिन्न होनेपर भी विद्युत् अभिन्न ही है। अन्तःकरण यन्त्रके समान है, उसमें संस्कार एवं वासनाके भेद हैं, इसीसे भगवच्छक्ति एवं अनुग्रह भिन्न-भिन्न अन्तःकरणोंमें विविध रूपसे प्रकट होते हैं। क्या ही अद्भुत है कि पृथिवी ठोस हो और जल तरल, जल शीत हो और अग्नि उष्ण, अग्निमें दाहकी प्रधानता और सूर्यमें प्रकाशकी, वायु गतिशील हो और आकाश स्थिर, कोई उद्भिद् हो, कोई स्वेदज, कोई अंडज हो, कोई जरायुज। मनुष्य, देवता, दैत्य, पशु, पक्षी एक ही शक्ति एवं सत्ताके विस्तार हैं। जब हम अपनी वासनाओंके अनुकूल देखना चाहते हैं तभी पक्षपात एवं निर्दयताके दर्शन होते हैं। भगवत्तत्त्व ऐसा है जो सबको अनुगृहीत कर रहा है। सप्तम स्कन्धमें यही स्थापना की गयी है कि विषमता भगवान्‌में नहीं होती, यन्त्रगत संस्कार-विशेषसे ही होती है। भगवान्‌के साथ उसका सम्बन्ध नहीं होता, भगवत्तत्त्व तो एकरस ही है।

वासनाके विलास :

सप्तम स्कन्धके प्रारम्भमें भगवान्‌में विषमताका आरोप करके उसका समाधान किया गया। संसारमें जो दुःख-सुख आदिका भेद है, वह सद्वासना-दुर्वासनाके कारण है, इससे भगवान्‌पर दोषारोण करना अनुचित है। आध्यात्मिक, आधिदैविक एवं आधिभौतिकके भेदसे कर्म तीन प्रकारके होते हैं। वे अविद्या, विद्या एवं अधिष्ठान-पञ्चकके कारण पाँच-पाँच प्रकारके होते हैं। अविद्याके पाँच पर्व हैं—अस्मिता आदि। विद्याके पाँच पर्व हैं—ज्ञान-वैराग्यादि और अधिष्ठानादि हैं, गीतोक्त। कर्ता-कर्म प्रभृति जीवोंकी वासना ही भगवान्‌के विषम आचरणमें हेतु है, दैत्यांश है हिरण्यकशिपुमें और देवांश है प्रह्लादमें। यह भेद कर्ममूलक ही है। नारद पहले एक लम्पट गन्धर्व थे, फिर दासीपुत्र मनुष्य हुए। अतः तीनों गुणोंका आवेश उनमें है, वे सबका रहस्य जानते हैं। युधिष्ठिर भी ज्ञानी-भक्त तथा कर्मी हैं, इसलिए वे भी इसका रहस्य समझते हैं। अतः उनके सम्वादका इस प्रसंगमें उपक्षेप किया गया है। निश्चय ही जय-विजयने सनकादिका तिरस्कार सेवा-धर्मके अनुसार नहीं किया; क्योंकि यदि वह सेवा-धर्मके अनुसार होता तो अवज्ञा नहीं मानी जाती। सेवा-धर्मके अनुसार बेंतका प्रयोग नहीं किया जा सकता था, उनकी हँसी भी नहीं उड़ाई जा सकती थी। किसी-न-किसी प्रकार विनय करके वे सनकादिको मना लेते और सनकादिकोंको क्रोध भी नहीं आता। अविद्यापर्वमें लोभ, काम एवं क्रोधकी प्रधानता होती है जो कि क्रमशः हिरण्यकशिपु, रावण एवं शिशुपाल-दन्तवक्त्रादिमें देखी जाती है। स्पष्ट है, निश्चय ही भगवान्‌ने अपने भक्तोंमें स्थित दोषका

निराकरण करनेके लिए ही शाप देनेकी प्रेरणा दी। हिरण्यकशिपुके लोभका नाश करनेके लिए क्रोधका रूप—नृसिंहरूप धारण करके प्रकट हुए और उसकी वासनाका नाश किया। हिरण्यकशिपुमें ज्ञान है, तप है, ब्रह्माकी स्तुति है एवं वरकी प्राप्ति है। वेदोंमें वराह और सिंह दोनोंको ही क्रोधरूप कहा गया है। इतना ऐश्वर्य प्राप्त होनेपर भी, भोग-सम्पत्ति मिलनेपर भी वासनाके आधिक्यके कारण हिरण्यकशिपुको तृप्ति नहीं हुई। अबतक वासना-पूर्तिके मार्गसे चलकर किसीको तृप्ति नहीं मिली है। हिरण्यकशिपुमें जो भक्ति-सम्बन्धी पूर्व वासना थी, उसीसे प्रह्लादका जन्म हुआ। पूर्व सामर्थ्यसे ही हिरण्यकशिपु वैकुण्ठमें भी जा सकता था और उसमें ज्ञान भी था। हिरण्यकशिपुमें औद्धत्य, सर्वपीड़ा, स्वपीड़ा, काम, भोग और भगवद्भक्त-पीड़ा—ये पाँच प्रकारकी वासनाएँ थी। सद्वासनाके द्वारा ही इनकी निवृत्ति होती है। सद्-वासनाके पाँच पर्व हैं—दया, महापुरुषकी कृपा, क्रिया, जीवका सम्मुख होना तथा शरीर, वाणी एवं मनकी निर्मलता। इससे दुर्वासनाओंकी निवृत्ति हो जाती है और जीव पूर्णकाम हो जाता है।

वासनाका निरास :

दुर्वासनाका मूल त्रिपुरासुर है। वह मायावी है। सद्वासनाके मूल स्वयं भगवान् हैं। अतः उसके विमानमें स्थित रसका पान, शङ्करजीकी रक्षा, सर्वत्र भगवान्के प्रसादका ही निरूपण है। हिरण्यकशिपुमें स्थूल वासना थी, इसलिए उसके देहका नाश करना पड़ा। प्रह्लादमें आग्रहकी प्रधानता थी और ब्रह्मामें बाह्य भावोंसे प्रभावित होनेके कारण भविष्यका अदर्शन था, अतः उपदेशके द्वारा भगवान्ने उनको आग्रह एवं अविचारसे मुक्त कर दिया। शङ्करके मनमें जो दुःख था वह उन्हींके भक्तके द्वारा दिया हुआ था। भगवान्ने दोनोंको दुःखसे मुक्त किया।

यदि सद्वासना सहज हो तो सत्सङ्गसे बढ़ती है और असद्वासना हो तो सन्तोंके अपमानसे वह भी बढ़ जाती है। धर्मानुष्ठान करनेसे मूल वासनाकी भी निवृत्ति हो जाती है। जितनी अशुद्धि होती है उसीके अनुरूप धर्म शुद्ध कर देता है, अन्तःकरणके कषायका परिपाक हो जाता है, उसीके हृदयमें भक्तिमार्गका उदय होता है। इसके पश्चात् चाहे केवल भक्ति आवे या तत्त्व-ज्ञान—दोनों ही परम कल्याणकारी हैं। जब हृदयसे दुष्ट भावनाकी निवृत्ति हो जाती है, तब वासनाओंका क्षय समझना चाहिए। इसकी पहचान यह है कि किसीके प्रति भी अपने मनमें दोषाकार-वृत्ति नहीं होनी चाहिए। यदि ऐसा न हो तो भगवान्का भजन करके धीरे-धीरे इस दोष-दृष्टिको मिटा देना चाहिए। किसी भी अवस्थामें धर्म-त्याग नहीं करना चाहिए। क्योंकि धर्म छूट जानेपर हृदयमें दुर्बुद्धि आजाती है, भगवान्से द्वेष हो जाता है और जीव अपराधी हो जाता है। भीष्म, अक्रूर, अर्जुन आदिको भी भगवान्की उपेक्षा करनेसे दुःखकी प्राप्ति होती है। इसीलिए विधर्म, परधर्म, धर्माभास आदिका परित्याग करके सच्चे धर्मका अनुष्ठान करना चाहिए। इसीसे दुर्वासनाका नाश होता है। जीवको ब्रह्मभावकी प्राप्ति होनेपर सब वासनाओंका नाश हो जाता है। यह स्थिति गुरु-भक्ति, गुरु-उपदेश, गुरुमें भगवद्-बुद्धि करनेसे ही होती है। धर्मके द्वारा दोषोंका परिपाक हो जानेपर ही ज्ञान या भक्तिके द्वारा उनका नाश होता है। जब धर्मानुष्ठानके द्वारा अन्तःकरण परिपक्व हो

जाता है, तभी योग, भक्ति या ज्ञानके द्वारा लिङ्ग-भङ्ग होता है। तपस्यासे प्राण-वासना, योगसे इन्द्रिय-वासना और कर्मसे शरीर-वासनाओंकी निवृत्ति होती है। इसीसे जीवनमें योग, तपस्या, भक्ति और ज्ञानकी आवश्यकता होती है। गुरुकृपासे सारी दुर्वासनाओंका नाश होनेपर मनुष्यको भगवत्प्राप्ति हो जाती है।

वासना-निवृत्तिमें सन्तकृपा अव्यर्थ है :

सनकादिकी कृपासे जय-विजयके हृदयमें गुप्त एवं सूक्ष्मरूपसे रहनेवाली वासनाएँ प्रकट हो गयीं और भगवान्‌ने उनको मिटा दिया। प्रह्लादको गर्भावस्थामें ही सत्सङ्ग मिला। माताके माध्यमसे सन्त सेवा हुई। अतः प्रह्लादकी सब वासनाएँ मिट गयीं और स्वयं प्रह्लाद ही मुक्त नहीं हुए प्रत्युत उनकी करुणासे सभी दैत्योंकी मुक्ति हो गयी। उन्होंने नृसिंह भगवान्‌से स्पष्ट कह दिया कि इन बेचारे अज्ञानी जीवोंको छोड़कर मैं अकेला मुक्त होना नहीं चाहता। निश्चय ही प्रह्लादके सत्सङ्ग, उपदेश एवं करुणासे सभी दैत्योंका कल्याण हो गया। संसारमें कुछ चाहने, करने या कहने योग्य नहीं है, प्रह्लादने स्पष्ट कहा कि यही विचारकर सत्पुरुष मौन ग्रहण कर लेते हैं। परमात्माके अतिरिक्त दूसरी कोई वस्तु नहीं है। वासनाका कितना अभाव हो गया है प्रह्लादमें, यह तब प्रकट होता है जब नृसिंह भगवान् उनसे वर माँगनेको कहते हैं। प्रह्लादने पहले तो भगवान्‌को प्रलोभन देनेसे और स्वयं वर माँगनेसे मना कर दिया परन्तु फिर माँगा तो यह माँगा कि मेरे हृदयमें कामनाका बीज ही न रहे, जिससे उसके अङ्कुरोत्पत्तिकी सम्भावना सर्वथा मिट जाये। अपने भक्तको और उसकी भक्तिको लोगोंमें प्रकट करनेके लिए ही भगवान्‌ने प्रह्लादसे वर माँगनेको कहा था; क्योंकि भगवान् सर्वज्ञ हैं, वे प्रह्लादके हृदयको पहलेसे ही जानते थे। इसीलिए तो हिरण्यकशिपुके उच्छिष्ट सिंहासनको प्रह्लादके योग्य उन्होंने नहीं समझा, स्वयं उसपर बैठकर प्रसाद बनाकर तब प्रह्लादको दिया।

जीवनमें उदारता और सावधानी :

त्रिपुरासुरके प्रसङ्गमें यह ध्यान देने योग्य है कि त्रिगुणाभिमानी देवताके द्वारा त्रिगुणमयी पुरियोंका नाश नहीं हो सकता। अतः त्रिगुणातीत परमात्मा ही त्रिगुणमयी पुरियों एवं त्रिविध गतियोंसे मुक्त करनेमें समर्थ है। धर्मके प्रसङ्गमें भी यह बात प्रकारान्तरसे कही गयी है कि प्रधानता जाति, वर्ण या आश्रमोंकी नहीं है, धर्मानुष्ठानको है। अतः धर्मकी प्रधानतासे ही श्रेष्ठता-कनिष्ठताका निर्णय करना चाहिए जाति या वर्णकी प्रधानतासे नहीं।

गृहस्थ-धर्मका जैसा निरूपण सप्तम स्कन्धमें है, वैसा अन्यत्र मिलना दुर्लभ है। जो गति-मति अवधूतोंको प्राप्त होती है, सब कुछ त्याग देनेपर, वही एक गृहस्थको भी मिल सकती है। संसारी सम्बन्ध एक-न-एक दिन छूटेंगे। अतः वह इतने ही होने चाहिए। जितनेसे शरीरका निर्वाह होता चले। मनमें वैराग्य हो और लोक-व्यवहारमें मनुष्यता। अपना आग्रह न रखे, सम्बन्धियोंकी इच्छाका अनुमोदन कर दे। इस सृष्टिमें सब कुछ भगवान्‌का है, अपने जीवनके निर्वाहमात्रके लिए जो वस्तु है उसीपर मनुष्यका स्वत्व है, अधिकका अभिमान नहीं करना चाहिए। जैसे पुत्र हैं वैसे ही चाण्डालादि और पशु-पक्षी भी हैं। सबको

बाँटकर ही खाना चाहिए, पत्नीको भी लोगोंकी सेवामें लगा देना चाहिए। मूर्ति-पूजा तो बादमें चली है, मनुष्य-पूजा सबसे श्रेष्ठ है। यदि मनुष्यसे द्वेष हो और मूर्तिकी पूजा हो तो वह सफल नहीं होती। हमेशा सन्तुष्ट रहना चाहिए और दोषोंकी निवृत्तिके लिए सतत सावधान। यदि साधनोंसे जीवनमें संयम नहीं आया तो सब व्यर्थ चले जाते हैं।

वासनाकी आत्यन्तिक निवृत्ति :

यह जो कालमें आदि-अन्त, देशमें बाहर-भीतर और वस्तुमें कारण-कार्यका भेद मालूम पड़ता है, ज्ञानमें वचन-वाच्य, ज्ञान-अज्ञान आदि सब परमात्माका स्वरूप ही है। ये मिथ्या होनेपर भी भास रहे हैं। अतएव कार्य-कारणकी एकता, प्रतीयमान सब कर्मोंका परमात्मामें समर्पण और सब सम्पत्तिको भगवदीय समझकर सर्व, सर्वातीत, सर्वसाक्षी एवं अद्वितीय रूपमें आत्मासे अभिन्न परमात्माका अनुभव करना चाहिए।

अनुग्रहका ग्रहण :

सप्तम स्कन्धकी रचना निराली है। भगवान् सबपर अनुग्रह करते हैं। यह सत्य है, परन्तु जिस अन्तःकरण-यन्त्रमें जैसी वासना होती है, उसके अनुरूप ही उसपर अनुग्रह करते हैं। अतः उनके अनुग्रहके सम्बन्धमें (जिसका वर्णन छठे स्कन्ध में है) विषमता अर्थात् पक्षपात और निर्दयताका आरोप नहीं करना चाहिए। घट-पटादि रूप आकृतियोंमें जैसे सद्वस्तुका अन्वय है, अनुवृत्ति, अनुगति है उसी प्रकार भगवान्का अनुग्रह भी है जो देवता-दैत्य, ऋषि, पशु-पक्षी, पापी-पुण्यात्मा, ज्ञानी-अज्ञानी सबपर एकरस बरस रहा है और उनकी वासनाके अनुरूप उसका ग्रहण होता है।

अष्टम स्कन्ध : सद्धर्म

सद्धर्म क्यों ?

सातवें स्कन्धमें सदाचार-रूप सामान्य धर्मोंका वर्णन किया गया। वे व्यक्तिके देह, इन्द्रिय एवं अन्तःकरणके द्वारा सम्पन्न होते हैं। सद्धर्म विशेषतः सत्पुरुषोंमें निवास करता है और यह भगवद्-वीर्यकी अभिव्यक्ति है। सद्धर्म कारणरूप तत्त्वात्मक प्रकृति एवं उसके चौबीस रूपोंमें निवास करते हैं और उन्हें शुद्ध करते हैं। अतएव चौबीस अध्यायोंमें उनका वर्णन है। भक्ति जीवात्मक पुरुषमें रहती है। अतः सामान्य धर्म व्यक्ति-शोधक हैं और सद्धर्म प्रकृतिके प्राकृत पदार्थके शोधक हैं। भक्ति पुरुषनिष्ठ है। अतएव वह उनसे श्रेष्ठ है। प्राकृत वासनाओंका नाश सद्धर्मसे ही होता है। मन्वन्तरोंमें और भी बहुत-सी बातें होती हैं, परन्तु सद्धर्म उनकी विशेषता है। सातवें स्कन्धमें कर्मज वासनाओंका निवारण है, आठवेंमें प्राकृत वासनाओंका निवारण है, नवें स्कन्धमें भक्तोंके चरित्र द्वारा भक्तिका प्रवर्तन है। आठवें स्कन्धके अन्तिम अध्यायमें मत्स्यावतारकी कथा है, जो धर्मके वक्ता एवं प्रमाणस्वरूप हैं। उन्हींसे सभी प्रकारके धर्मोंकी स्थिति होती है। इन धर्मोंके पालन बिना वासनाकी निवृत्ति नहीं होती।

मन्वन्तरोंमें धर्म-प्रकाश :

ब्रह्माके एक दिनमें चौदह मन्वन्तर होते हैं। सभी मनु किसी-न-किसी विशेष धर्मकी स्थापना करते हैं। प्रथम मनु स्वायंभुवने तपस्यापूर्वक उपनिषदोंका पाठ किया। स्वारोचिष मन्वन्तरमें भगवदवतार विभुने ब्रह्मचर्यकी प्रतिष्ठा की। तीसरे मन्वन्तरमें सत्यसेनने असत्यवादी एवं दुःशील जनोंका नाश करके सत्यवादका प्रवर्तन किया। चतुर्थ तामस मन्वन्तरमें वैधृति नाम देवोंने वेदाभ्यासका संवर्द्धन किया। पाँचवें रैवत-मन्वन्तरमें रमाकी प्रार्थनासे रमा-वैकुण्ठका निर्माण हुआ। विकुण्ठ भगवान्ने ही तुलसीदलार्पणादिके द्वारा सेवाकी पद्धति प्रवृत्त की। छठे चाक्षुष मन्वन्तरमें अजित भगवान्ने समुद्र-मन्थन, अमृतोत्पादन आदिके द्वारा महान् सत्पुरुषों एवं सन्तोंकी सेवा प्रचलित की। सातवें वैवस्वत मन्वन्तरमें एकादशी आदि व्रतोंकी पद्धति चालू की गयी। आठवें सावर्ण्य मन्वन्तरमें सार्वभौमने बलिको इन्द्रपद देकर पुष्टि-धर्म परिपुष्ट किया। नवें मन्वन्तरमें इन्द्रके समृद्ध लोकत्रयका वर्णन किया गया जो कि यज्ञादिमें प्राप्त होता है। उसी समय यज्ञादिकी प्रवृत्ति हुई। दसवें दक्ष सावर्ण्य मन्वन्तरमें अमूर्ति-अवतारने जगत्को आप्यायित कर दिया अर्थात् लोक-रक्षाके लिए लोक-सुखप्रद धर्मोंका प्रवर्तन किया। ग्यारहवें धर्म सावर्ण्य मन्वन्तरमें धर्मसेतुने आत्मनिष्ठा-पर्यन्त स्मार्त धर्मोंका उज्जीवन किया। बारहवेंमें राग-द्वेषादिसे अभावयुक्त धर्मोंका, तेरहवेंमें उपास्य देवताओंके पोषक धर्मोंका एवं चौदहवेंमें भोगयुक्त, ज्ञाननिष्ठ धर्मोंका स्थापन हुआ। जैसे काल-भेदसे धर्म होते हैं वैसे ही देश-भेदसे भी धर्म होते हैं।

धर्म-सर्वस्व :

आपत्ति-विपत्तिमें भगवान्का स्मरण, सुख-सम्पत्तिमें सर्वदान और अपने वचनका निर्वाह—ये तीन सबसे बड़े धर्म हैं। गजेन्द्रकी कथामें पहला, अमृत मन्थनमें दूसरा और बलि-प्रसंगमें तीसरा प्रकट हुआ है। गजेन्द्रके प्रसंगमें चार अध्याय हैं। इनमें गजेन्द्रके धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष चारों पुरुषार्थोंकी सिद्धि केवल भगवत्स्मरणसे ही हो जाती है। इस भगवत्स्मरणमें भी धर्मके विरुद्ध कार्य होनेपर क्लेशकी प्राप्ति अवश्य होती है। यदि धर्मके द्वारा धर्ममें बाधा उपस्थित हो तो धर्म अपना मुख्य फल न देकर अर्थ एवं कामका साधक हो जाता है। गजेन्द्रके जीवनपर एक दृष्टि डालिये—इन्द्रद्युम्न भगवत्पूजा-निष्ठ राजा था। महात्मा अगस्त्यके आनेपर उसने उनका उचित सत्कार नहीं किया। अतः उसे दुर्योनिकी प्राप्ति हुई और फल-प्राप्तिमें विलम्ब हो गया। यह निश्चित है कि भक्तिमार्गमें स्खलन और पतन नहीं है, तथापि शिवभक्त शैव अगस्त्यके प्रति दोषका भाव इन्द्रद्युम्नके पतनका हेतु हो गया। वस्तुतः कभी-कभी भगवान् भी धर्म-मर्यादाकी स्थापनाके लिए शाप दिला देते हैं, परन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि अविरोधी धर्म ही वास्तविक धर्म होता है। गजेन्द्रको तत्काल मोक्षकी सिद्धि न होनेपर भी उसे अर्थ-सिद्धि और काम-सिद्धि हुई। अन्तमें क्लेश हुआ और उसने भगवान्की स्तुति की। जीवनमें कामनाका उत्कृष्ट रूप भगवान्की स्तुति एवं प्रार्थना ही है। मोक्ष तो स्वयं भगवान् ही हैं। प्रसन्न होकर भगवान्ने केवल गजेन्द्रको ही नहीं, इस प्रसंगके स्मरण

करनेवाले आगे-पीछेके सभी भक्तोंके लिए मोक्षका दान कर दिया। सचमुच ये चारों अध्याय भगवत्स्मरणके दिव्य फलका निरूपण करते हैं।

सर्वदान :

अब दस अध्यायोंमें सर्वदानका निरूपण है। दुर्वासाके शापसे लोकत्रयके निःश्रीक हो जानेपर देवतागण ब्रह्माके पास गये। ब्रह्मा विष्णुके धाममें गये एवं शिवने बाधक विषका निराकरण कर दिया। इस प्रकार सर्वदान-क्रियामें तीनोंका सहयोग प्राप्त है। सभी क्रियाओंमें त्रिगुणका सम्बन्ध रहता है। कालकूट विष तम है, देव-दैत्योंका कपट-मिलन राजस है और शंकरजीके द्वारा विषका पान शुद्ध सात्त्विक है। शिवने प्रलयपर्यन्त विषको सुरक्षित रखनेके लिए अपने कण्ठमें रख लिया। वह अपना दोष एवं शिवके गुणोंका ख्यापन करनेके लिए उनके कण्ठमें नीलचिह्न बनकर बस गया। इससे भगवान् प्रसन्न हुए और भवानीने अनुमोदन किया। समुद्र-मन्थनके प्रसंगमें उत्तम रत्नोंका प्राकटच सबके सुखके लिए है। कामधेनु आदिसे सभीको सिद्धि मिलती है। मुख्य आनन्द रमाके रूपमें प्रकट हुआ। वह ब्रह्मानन्दस्वरूप हैं। गीतामें उन्हें महद्ब्रह्म कहा गया है। भगवान्के सिवाय उनका दूसरा कोई भोक्ता नहीं हो सकता। अतएव उन्होंने स्वयंवरके द्वारा भगवान्को वरण किया। कामधेनु, रमा एवं अमृत ये तीनों मुख्य रत्न हैं।

अमृतके पिता धन्वन्तरिके रूपमें स्वयं भगवान् हैं, वे अमृत-घट अपने हाथोंमें लेकर आये। अमृतकी माता भी भगवान् हैं। मोहनीके रूपमें उन्होंने पुनः अमृत-घटको अपने हाथोंमें ले लिया। इस प्रकार रूपद्वयसे अमृत उत्पन्न करके सत्पात्रोंको पिलाया। सच तो यह है कि जगत्में जो कोई जो कुछ भी दान करता है, वह भगवान् ही करते हैं। स्वयं भगवान्ने अपने हाथोंसे अमृतका दान करके यही सत्य प्रकट किया। ठीक ही है जब ससुरके बेटा न हो तो उसका सब काम जमाईको ही करना पड़ता है।

यह समुद्र-मन्थनसे उत्पन्न अमृत अक्षय अमृत नहीं है, क्योंकि यही ओषधि-वनस्पतियोंके द्वारा बहकर दैत्योंके काम आता है। राहु दैत्यको पहचानते हुए भी भगवान्ने अमृत दिया, पीते समय उसका मुख नीचे था, भगवान्ने उसका सिर अलग कर दिया। सूर्य-चन्द्रमाने सूचना दी, इसलिए चुगली करनेके दोषसे उन्हें ग्रहण लगने लगा। सच्चा अमृत तो भगवान्ने सन्तोंको ही दिया है। उन्होंने उसे छक-छककर पिया है और जब उनके मुखसे निकलता है, तब उसका जो भी पान करता है, वास्तविक अमृततत्त्व प्राप्त कर लेता है।

भगवद्-बलको ही देखिये :

देवताओंको, हम समुद्रमन्थन कर लेंगे, यह अभिमान था। उसके टूट जानेपर भगवान्ने उनकी सहायता की। इसी प्रकार अमृत पी लेनेपर देवताओंको फिर अभिमान हुआ कि हम अपने बलसे दैत्योंपर विजय प्राप्त कर लेंगे। भगवत्-सम्बन्धसे चेतन अमृतने विचार किया कि देवता कृतघ्न हैं। अतः अमृत पीनेके पश्चात् भी देवता लोग मरने लगे; क्योंकि अमृतने अपना गुण प्रकट नहीं किया। जब स्वयं भगवान् प्रकट होकर देवताओंके पक्षसे युद्ध करने लगे तब अमृतकी शङ्का दूर हो गयी और वह सफल हो गया। इस

प्रसङ्गमें यह ध्यान देने योग्य है कि लोक-व्यवहारमें विद्वानोंको जो विद्यारूप अमृत प्राप्त है वह भी भगवान्‌का ही दिया हुआ है। यदि वे भगवान्‌को भुला देंगे तो यह विद्यामृत भी उनको उपकृत एवं उपस्कृत नहीं करेगा।

पुराण-प्रकृति :

शङ्कर मोहनीका प्रसङ्ग भी विलक्षण है, मानो विष्णु शङ्करमें सलाह हुई हो। विष्णुने कहा—शङ्करजी, दैत्य तुम्हारी शरणमें आयें तब भी उनकी सहायता मत करना। शङ्करने कहा—'शरणागत होनेपर तो मैं अवश्य सहायता करूँगा।' विष्णु बोले—'कोई युक्ति बताओ।' शङ्करने कहा—'वही मोहनी-रूप धारण करके मेरे सामने आओ, मैं मोहित हो जाऊँगा और मेरी विवशता देखकर दैत्य मेरी शरणमें नहीं आयेंगे, मैं उनकी सहायता नहीं करूँगा।' ठीक ऐसा ही हुआ।

पुराणोंकी यह रीति है कि जिस पुराणका जो रूप प्रतिपाद्य होता है उसकी श्रेष्ठताका वर्णन किया जाता है, वह ब्रह्मका रूप तो है ही, उपासकके मनमें उस रूपके प्रति दृढ़ भक्ति-निष्ठा उत्पन्न करनेके लिए दूसरे रूपको हीन बताकर भी उपासना परिपक्व की जाती है। यही कारण है कि वैष्णव-पुराणमें शिवको मोहित बताकर विष्णुकी विशेषता प्रकट की गयी है।

सदा सावधान :

शङ्कर-मोहनी लीलाका यही अभिप्राय है कि जब शङ्कर-सरीखे ईश्वर भी भगवान्‌की मायासे मुग्ध हो सकते हैं तो दूसरे किसीको तो यह विश्वास और अभिमान कभी करना ही नहीं चाहिए कि मेरा मन अब कभी मायापर मोहित नहीं होगा। सर्वदा - सर्वथा सावधान रहना चाहिए।

निष्ठाका यह रूप :

सत्पुरुषका जीवन राग-द्वेषशून्य होता है, उसमें तात्कालिक काम, क्रोधका कोई झोंका कभी आ भी सकता है। उसके आनेपर भी सत्पुरुषको अपनी तत्त्वनिष्ठा छोड़कर उनके कारण या निवारणके चिन्तनमें नहीं उलझना चाहिए। पश्चात्ताप भी नहीं करना चाहिए। उन्हें अपनी निष्ठामें ही स्थिर रहना चाहिए। बाह्य पदार्थोंके चिन्तनसे तत्त्वनिष्ठाका ह्रास होता है। इस प्रसंगमें शंकरकी अखण्ड तत्त्वनिष्ठाको प्रकट किया गया है।

भगवान् बड़े भक्तवत्सल हैं। उन्हींके निर्देश एवं अनुमोदनसे शंकरने विष पी लिया था। वह शंकरके शरीरमें बना रहे यह भगवान्‌को अभीष्ट नहीं था। अतएव जैसे मोहनीरूप धारण करके अमृत पिलानेकी लीला की थी, इसी प्रकार वही रूप धारण करके शंकरके शरीरसे विष निकाल देनेकी भी लीला की। शंकरके शरीरमें विषका रहना किसी प्रकार उचित नहीं था। इस प्रकार भगवान्‌की एक ही लीला अनेक अभिप्रायोंको प्रकट करती है।

सर्वत्र, सर्वदा और सर्वथा भगवदाश्रय ही :

इस स्कन्धमें अबतक यह बात कही गयी कि भगवान्‌के आश्रयसे चारों पुरुषार्थोंकी प्राप्ति होती है।

महात्मा, गुरुके अपमानसे और ईश्वरको भुलाकर अभिमान करनेसे सारी सुख-सम्पत्ति नष्ट हो जाती है। देवताओंने जब ब्रह्माकी सलाहसे भगवान्‌का आश्रय लेकर शंकरके द्वारा विघ्न-निवारण करके और संघटित होकर प्रयत्न किया तो उन्हें सफलता मिली। अमृतकी प्राप्ति हुई, कामधेनुसे धर्म, लक्ष्मीसे अर्थ और भगवान्‌से अमृत। इस विश्वसृष्टिमें जितने भी रत्न हैं वे सब भगवान्‌के ही दिये हुए हैं। यह बात भी स्पष्ट कर दी गयी कि समुद्र-मन्थनके उद्यममें देवता-दैत्य दोनों ही संलग्न थे। देश, काल, हेतु, प्रयोजन, कर्म एवं बुद्धिमें कोई भेद नहीं था; परन्तु भगवान्‌के चरणारविन्दका आश्रय लेनेसे देवताओंको अमृत-फलकी प्राप्ति हुई। आश्रय न लेनेसे दैत्योंको नहीं। सच तो यह है कि यह जीव अपने प्राण, धन, कर्म, मन तथा वाणीसे शरीर एवं इसके सम्बन्धियोंके लिए जो कुछ करता है वह असत् हो जाता है; क्योंकि उसमें भेद-बुद्धि है। परन्तु उन्हीं प्राण, धन, कर्म, मन और वचनोंसे जो कुछ भगवान्‌के लिए करता है वह सत् हो जाता है, क्योंकि वहाँ भेद-बुद्धि नहीं होती। ठीक ही है, वृक्षके मूलमें जल देनेसे तना, शाखा, पल्लव, फूल, फल सबके लिए हो जाता है, भगवान्‌की आराधना ही सम्पूर्ण विश्वकी सेवा है।

भगवद्धर्म :

अब नौ अध्यायोंमें यह प्रसंग प्रारम्भ करते हैं कि जीव भगवान्‌के प्रति क्या-क्या अर्पण कर सकता है। वह अपने लोक-परलोक एवं अहंभावको भी भगवान्‌के प्रति समर्पित कर सकता है। चाहे सर्वस्व चला जाये, अतिशय पीड़ा सहनी पड़े, परन्तु इस धर्मसे कभी विमुख नहीं होना चाहिएक्योंकि यह सब भगवान्‌का है। यदि गुरु भी विचलित करे, जैसा कि शुक्राचार्यजीने किया और भगवान् भी छल करें, अन्यायपूर्वक पीड़ा दें, तब भी अपनी धर्म-प्रतिज्ञासे विचलित नहीं होना चाहिए। बलिके जीवनमें प्रतिज्ञा-निर्वाहरूप धर्मकी दृढ़ निष्ठा प्रकट हुई है।

बलि-चरित्र सार-सार :

देवासुर, संग्राममें बलिकी मृत्यु हो चुकी थी। उनके मृत शरीरको दैत्यगण गुरुदेव भृगु ब्राह्मणोंके पास ले गये। उन्होंने मृत संजीवनी विद्यासे बलिको जीवित कर दिया। बलिने सर्वात्मना उनके प्रति अपनेको समर्पित कर दिया। ब्राह्मणोंने विश्वजित-यज्ञ करवाया, दिव्य सामग्री प्राप्त हुई, असुर संघटित हो गये, उन्हें स्वर्गपर विजय प्राप्त हो गयी, इन्द्रादि देवता बिना लड़े ही स्वर्ग छोड़कर पलायन कर गये। उनके गुरुदेवकी ऐसी ही सलाह थी। अब भृगुवंशी ब्राह्मणोंने बलिसे सौ अश्वमेध-यज्ञ करानेका संकल्प किया जिससे उनका स्वर्ग-राज्य, इन्द्रत्व स्थिर हो जाये।

देवमाता अदिति अत्यन्त धर्म-परायण, पतिव्रता एवं भगवद्भक्त थी। अपने पतिके परामर्शसे उसने भगवान्‌की आराधनाके लिए पयोव्रत किया। बलिके विश्वजित-यज्ञ और अश्वमेधमें यही त्रुटि थी कि वह भगवान्‌की आराधनाके लिए नहीं था। उसमें कर्ता, ब्राह्मण, विधि, मन्त्रसे साध्य धर्मानुष्ठानका बल था, परन्तु अदितिने सब ओरसे निस्सहाय होकर भगवान्‌का आश्रय लिया और भगवान् वामनके रूपमें उसके पुत्र

बने। जैसे उत्तराके गर्भमें आये बिना भगवान् ब्रह्मास्त्रसे परीक्षितकी रक्षा नहीं कर सकते थे वैसे ही अदितिके गर्भमें आये बिना धर्म-परायण बलिको स्वर्ग-राज्य इन्द्रपदसे च्युत करना उचित नहीं था। जब कोई सत्पथपर चल रहा होता है तो ईश्वर भी अन्यायपूर्वक उसे वहाँसे च्युत नहीं कर सकता। माता-पिताकी आज्ञा और उनकी भक्तिसे प्रसन्न होकर भगवान् आये तो सही, परन्तु बलिके सामने जाकर याचना करनेके लिए उन्हें वामन बनना पड़ा। माँगनेवालेको छोटा होना ही पड़ता है।

धर्मका यह रूप स्तुत्य है :

बलिने स्वागत-सत्कार करके वामनको जो चाहिए वह देनेकी प्रतिज्ञा कर ली। वामनने उनको प्रतिज्ञाको पक्की करनेके लिए जैसे कुछ चाहनेवाले दाताकी, उसके वंशकी और सम्बन्धियोंकी प्रशंसा करते हैं, वैसे ही वन्दीजनके समान स्तुति की। सच है, चाटुकारिताके बिना किसीसे कुछ लेना कठिन होता है। शुक्राचार्यके मना करनेपर भी बलि अपनी प्रतिज्ञापर दृढ़ रहे। पत्नीने सहयोग दिया। तीन पग भूमि देनेका संकल्प हो गया। भगवान् माँगनेके समय तो छोटे-से थे परन्तु लेनेके समय ब्रह्माण्डव्यापी विराट् बन गये। बलि चाहते तो मना कर देते, परन्तु अपनी प्रतिज्ञाका निर्वाह सर्वोत्तम धर्म है। यदि वह छल करनेवालेके साथ भी हो, संकट आनेपर भी हो, विपत्तिमें भी हो तो उससे बड़ा और कोई धर्म नहीं हो सकता। यहाँ तो यह भी स्पष्ट हो गया कि यह माँगनेवाला कोई साधारण जीव नहीं है, साक्षात् भगवान् हैं। उन्हींका तो सब कुछ है, वे ही सबके मालिक हैं। उनकी वस्तु उन्हें समर्पित करनेमें आनाकानी क्या! बलिके महान् धर्मानुष्ठानमें जो न्यूनता थी, वह भगवान्की आराधनाका भाव आते ही दूर हो गयी। भले ही कोई कितना बड़ा धर्मात्मा क्यों न हो, परन्तु भगवदर्पणके बिना धर्म अधूरा ही रहता है।

अद्भुत निर्वाहक भगवान् :

बलिके दानमें एक विशेष बात हुई। कोई दाता जब दान देगा तो वह धर्मका फल लोक-परलोक दे सकता है, परन्तु अपने कर्तापनका अहंकार नहीं दे सकता। यह तो जब भगवान्की बड़ी कृपा होती है, उसका अहंभाव भी ग्रहण करते हैं। दो पगमें बलिका लोक-परलोक तो भगवान्ने ले लिया था, परन्तु इससे वे सन्तुष्ट नहीं हुए थे, तीसरा पग उन्हें और चाहिए था। प्रतिज्ञा पूर्ण न होनेके कारण वेदरूप गरुड़ने बलिको बाँध लिया, परन्तु वे तनिक भी विचलित नहीं हुए। उन्होंने कहा कि मेरे सिरपर तीसरा पाँव रख लीजिये। यही अहंभावका समर्पण है, यही आत्म-बलि है, इसीको बलिदान कहते हैं। यह केवल जगत्के सच्चे स्वामी भगवान्के प्रति ही हो सकता है। उनकी वस्तु उन्हें दे दी गयी, पहलेसे ही उनकी थी, अपनेपनका तो केवल अभिमान ही था। प्रह्लादने, पत्नी विन्ध्यावलिने तथा ब्रह्माने बलिके इस प्रतिज्ञा पालनरूप दान-धर्मकी प्रशंसा की। भगवान्ने कहा—यह तो मेरा अनुग्रह है। अब इसकी रक्षा-दीक्षाका सारा भार मुझपर है, मैं स्वयं गदा हाथमें लेकर इसके सामने खड़ा रहूँगा। बलि करता रहेगा मेरा दर्शन और मैं करूँगा इसकी रक्षा। अगले मन्वन्तरमें यह इन्द्र हो जायेगा। बलिको निरन्तर सत्सङ्ग प्राप्त होता

रहे, इसके लिए भगवान्ने प्रह्लादको आज्ञा दे दी कि तुम भी सुतल लोकमें चलो। शुक्राचार्यने भी अनुमोदन किया कि पहले यज्ञके यजमान तो बलि थे, अब तुम हो गये। यज्ञ तो सफल हो ही गया, मेरी पुरोहिती भी सफल हो गयी। इस प्रकार इस स्कन्धमें चारों पुरुषार्थोंकी सिद्धि, भगवान्के द्वारा जगत्को रत्नदान और बलिके द्वारा सर्वस्व-दान, यही सद्धर्म है, जो सामान्य धर्माचरणसे विलक्षण है। इससे वासनाएँ मिट जाती हैं और जीवको भगवान्की प्राप्ति होती है।

सद्धर्ममें प्रमाण भगवान् मत्स्य :

सद्धर्मके इन तीनों रूपोंमें जिन्हें पुरुषार्थ-प्राप्ति, दान एवं प्रतिज्ञा-निर्वाहके नाम से कहा गया है, प्रमाण होना आवश्यक है। प्रमाण क्या है ? स्वयं भगवान् मत्स्य। भगवान्के अवतार अनेक हैं। अवतीर्ण भगवान् ही मर्यादाके संस्थापक होते हैं। जैसे वेदान्तोंमें वृत्त्यारूढ़ चैतन्य ही अविद्या एवं तत्कार्यका निवर्तक माना गया है, सामान्य चेतन नहीं, उसी प्रकार सगुण भक्तिके प्रसंगमें भी अवतीर्ण भगवान् ही विशेष कल्याणकारी होते हैं। भले वह देवकी, यशोदा, कौसल्या आदिसे उत्पन्न हों अथवा स्वयं प्रकट हों। मत्स्यके रूपमें भगवान् स्वयं प्रकट हैं। सद्धर्मके सम्बन्धमें वे प्रमाण इसलिए हैं कि वेदोंके समुद्धर्ता हैं। वेद निरपेक्ष प्रमाण है, परन्तु वक्ताकी विशेषतासे उसकी शोभा बढ़ जाती है। यह भगवान्का अनुग्रह ही है कि सत्यव्रतको जो आगे चलकर वैवस्वत मनु होनेवाले थे, दर्शन देकर भगवान्ने उन्हें मन्वन्तराधिपति बननेकी योग्यता प्रदान की और ज्ञानोपदेश किया। बलिमें अपनी प्रतिज्ञाको सत्य करनेका दृढ़ निश्चय था, सत्यव्रतमें भी अञ्जलिमें आये हुए मत्स्यको रक्षाका व्रत था। भगवान्ने अनुग्रह यह किया कि उनमें जो रक्षकत्वका अभिमान था, वह मिट गया। सत्यव्रतने प्रत्यक्ष देख लिया कि प्रलयकालमें प्राणियों एवं ओषधि, वनस्पति आदि पदार्थोंके बीजकी रक्षा करनेवाला कौन है! अतः अपने रक्षकपनेका अभिमान छूट जानेके बाद उन्होंने प्रभुको रक्षकके रूपमें पहचान लिया। इस प्रत्यक्ष दर्शनका फल यह हुआ कि वे मनु जीवनमें भी भक्त रहे, भक्त-वंशका विस्तार किया और लोगोंमें भक्तिकी स्थापना की। अतः सद्धर्ममें प्रमाणके रूपमें वेदकी रक्षा करनेके कारण मत्स्यावतारकी कथा अष्टम स्कन्धमें सुसंगत है।

नवमस्कन्ध : ईशानुकथा

ईशानुकथा : भक्तिका एक रूप :

सातवें स्कन्धमें जीवबलसे अनुष्ठित होनेवाले सामान्य धर्मका वर्णन है, अष्टम स्कन्धमें भगवद्-बलसे अनुष्ठित होनेवाले सद्धर्मका। आठवें स्कन्धमें जो कुछ है—स्वायम्भुव मनुकी मुक्ति, गजेन्द्रका उद्धार, देवताओंको समुद्र-मन्थनका परामर्श, मन्दरानयन, कच्छपादि रूपमें उसका धारण, देवतादिमें प्रवेश करके मन्थन, धन्वन्तरिरूपमें अमृतका दान, मोहनीरूपमें वितरण, दैत्योंका पराजय, बलिका आत्मसमर्पण—सब कुछ भगवद्-बलसे ही निष्पन्न एवं सम्पन्न होता है। अब नवम स्कन्धमें बारहवें स्कन्धके वंश्यानुचरित

एवं द्वितीय स्कन्धके अवतार एवं भक्तोंके चरित्रकी प्रधानतासे ईशानुकथारूप भक्तिवर्द्धक प्रसंगका निरूपण करते हैं। बहिरंग एवं अन्तरङ्ग धर्मोंके अनुष्ठानका फल भक्ति ही है, वह ईशानुकथाके श्रवण-कीर्तन-स्मरणसे होती है। इन कथाओंके द्वारा बीजकी शुद्धि होती है; क्योंकि बीजका नाश हुए बिना दुःखका नाश एवं सुखकी प्राप्ति नहीं हो सकती। दुःख होता है गुणोंके भेदसे। गुणोंके भेदसे नौ प्रकारके दुःखोंका निवारण करनेके लिए भगवान्के अनुवर्ती भी नौ प्रकारके होते हैं। ज्ञानी एक प्रकारका होता है। ज्ञानी, कर्मी एवं भक्तके भेदसे चरित्र तीन प्रकारके होते हैं। इस प्रकार दुःखके निवारणके लिए तेरह अध्याय हैं। दस इन्द्रियोंके द्वारा सुखकी प्राप्ति होती है। अतः भगवान्के भक्त दस प्रकारके हैं और एक स्वयं भगवान् हैं। इस प्रकार तेरह और ग्यारह दोनों मिलकर नवम स्कन्धमें चौबीस अध्याय हैं। यद्यपि इस स्कन्धमें वंशीय और वंशधरोंका चरित्र है तथापि अवतीर्ण भगवान् एवं उनके अनुवर्तियोंका चरित्र विशेष रूपसे है। अतः धर्म एवं सद्धर्मकी अपेक्षा यह विशेष है। धर्मसे वासनाओंमें परिवर्तन, सद्धर्मसे वासना-क्षय और भक्तिसे वासनाओंके बीजका ही नाश हो जाता है। यदि जीव भगवान्की लीलाका चिन्तन करे कि मेरे प्रभुने ऐसी-ऐसी लीला की है, हम सेवकोंको भी उन लीलाओंके अनुकूल कर्म करना चाहिए, तो वह लोक-व्यवहारमें भी दृढ़ निश्चयके साथ अपने पशु-पुत्रादिकोंके साथ सर्वभावसे श्रीकृष्णका भजन करने लगता है। उसको बलपूर्वक भजन करनेकी आवश्यकता नहीं रहती। अतः यह ईशानुकथा-रूप भक्ति, पहले भक्तोंके चरित्र एवं पूर्व लक्षणोंसे भी अधिक है। इन भक्तोंकी सारी क्रिया जन्मसे लेकर मृत्यु-पर्यन्त भगवदनुकूल ही होती है। अतः प्रभु स्वयं उन्हें अपना बना लेते हैं।

सूर्य-वंशका स्मरण :

सूर्य द्वादशात्मा, पुराणपुरुष, पूर्ण गुण हैं। अतः बारह अध्यायोंमें उनके वंशका वर्णन है। चन्द्रवंशका भी वर्णन बारह अध्यायोंमें ही है, जिससे छोटे-बड़ेका भेद न हो। भगवान्के अवतार-कालमें जो उनके साथ रहते हैं, उन सबको जीवनमें सुख, भक्ति और अन्तमें मोक्षकी प्राप्ति होती है। उस समय कोई अपने साधन-बलसे मुक्त नहीं होता, प्रमेय-बलसे ही मुक्त हो जाता है। प्रमेय अर्थात् साक्षात् दृश्यमान भगवान्। भगवान्के अन्तर्धान हो जानेपर उनकी कीर्तिका संकीर्तन करके दूसरे लोग मुक्त होते हैं। सूर्यवंशमें जिनका जन्म होता है, उनमें दोषका संस्पर्श नहीं होता, इसलिए सब शुद्ध, भक्त एवं महानुभाव हो जाते हैं। मोक्ष तो सबका समान ही होता है, परन्तु उनका अनुभाव-प्रभाव विशेष होता है। वैवस्वत मनुके पुत्रोंमें तीन विभाग हैं—सुद्युम्न, कवि, शर्याति आदि वैराग्य एवं ज्ञानसे परिपूर्ण होते हैं, अतः शास्त्रकी रीतिसे उन्हें उत्तम माना जाता है। नाभाग, अम्बरीष एवं शशाद —ये मध्यम कोटिके माने जाते हैं। हरिश्चन्द्र, सगर, भगीरथ—ये तीसरी कक्षाके हैं।

सभी चरित्रोंमें ईश्वरानुगति :

नवम स्कन्धमें वंशका विचार करें अथवा एक-एक व्यक्तिका, सबमें ही कोई न-कोई विशेषता,

है। कोई ज्ञानी है, कोई वैराग्यवान् है, कोई भक्त है, कोई गुरुसेवक है, कोई ब्रह्मचारी है, कोई मन्त्रद्रष्टा है, कोई न्यायकारी है। इनके जीवनमें ईश्वरानुगत होनेके कारण प्रत्येकमें कुछ-न-कुछ विलक्षण अनुभाव-प्रभाव प्राप्त होता है। अतः भगवान्‌के अनुग्रहसे लौकिक दृष्टिसे जिनमें दोष है, वे भी मुक्त हो जाते हैं। भगवान्‌का अनुग्रह जातिसे, कर्मसे, ज्ञानसे, अज्ञानसे बाधित नहीं होता है। अतः सभी चरित्रोंमें ईश्वरेच्छा एवं ईश्वरानुगति दर्शनीय है। इसमें अपवित्र भी पवित्र हो जाता है, वंशोंमें परिवर्तन हो जाता है, श्रेष्ठ पुरुषोंसे भी अनुचित आचार हो जाता है, क्षमाशीलोंको क्रोध आजाता है, गुरु-शिष्यमें युद्ध हो जाता है, ब्राह्मण-क्षत्रियका विवाह हो जाता है, परन्तु सबमें ईश्वरेच्छा अनुगत रहती है, अतः सब ईशानुकथा है। इसमें न केवल पाप-कर्म एवं वासनाको विध्वंश करनेकी शक्ति है, प्रत्युत बीजको भी सर्वथा नष्ट कर देनेकी शक्ति है।

वैराग्य-पोषक हैं ये चरित्र :

पौरुषके ऐसे प्रसंग हैं कि स्वयं गंगा भी धरतीपर लायी जाती हैं। भक्तोंके ऐसे प्रभावका वर्णन है कि चक्र भी उनकी रक्षामें नियुक्त है, विष निष्प्रभाव हो जाता है, दो घड़ीके भजनसे संसार-सागरसे मुक्ति मिल जाती है—ये सब ईश्वर और उनके भक्तोंकी ही कथा है। यदि साधारण दृष्टिसे भी देखें तो इन सत्पुरुषोंके नामोच्चारणसे पापकी निवृत्ति और अन्तःकरण-शोधक पुण्यराशिकी प्राप्ति होती है। एकके बाद एक शत-शत व्यक्तियोंकी उत्पत्ति एवं मृत्युका पुनः-पुनः स्फुरण होनेसे संसारके प्रति वैराग्यका उदय होता है। वे भी न रहे, वे भी न रहे, कौन रहा है इस संसारमें? इक्ष्वाकु-वंश न रहा, मान्धाता जैसे प्रतापी न रहे, रघुवंश न रहा, रामके उत्तराधिकारी वंशज न रहे, निमिने तो शरीर-धारण करना ही उचित न समझा, उनके वंशमें सब ज्ञानी हुए, परन्तु रहा कौन? इन सब बातोंपर विचार करनेसे संसारके प्रति दृढ़ वैराग्यका उदय होता है और सर्वात्मना ईश्वरका भजन होने लगता है।

वासना-बीजका नाश, भगवत्कृपासे :

यह सत्य है कि चाहे आकृति, नाम, गुण, कर्म कुछ भी हो, भगवान् उनमें अनुगत रहते हैं। वे आकृति-प्रभृति नहीं है, स्वयं तत्त्व हैं। अतः मत्स्य, कच्छप, वराहकी आकृति धारण करनेमें भी उन्हें कोई संकोच नहीं होता। लौकिक दृष्टिकी अच्छाई-बुराई भगवान्‌का स्पर्श नहीं करती है, तथापि रामावतारमें अपने समकालीन उत्तर कोसलके समग्र जन-समूहको अपने धाममें ले जाना एक विशेष बात है। लंकामें जाकर वहाँके राक्षसों और राक्षसियोंतकको अपना दर्शन देकर मुक्त करना—यह बीजका नाश नहीं तो और क्या है? जिन्होंने भी भगवान्‌का दर्शन किया, स्पर्श किया, अनुगमन किया, सबके वासना-बीजका सर्वथा नाश हो गया। क्यों न हो, जिस वंशमें उन्होंने जन्म लिया था उसके सत्पुरुषोंने गंगाको धरतीपर उतारकर सर्वदाके लिए, सबके लिए मुक्तिमार्ग प्रशस्त कर दिया था। परशुरामके द्वारा भी यही कल्याणकारी गुण प्रकट हुआ था। ठीक यही बात श्रीकृष्णावतारमें देखनेमें आती है। महाभारतकी युद्ध-

भूमिमें जो भी श्रीकृष्णका दर्शन करते हुए मारे गये थे उन्हें स्वरूपका साक्षात्कार हो गया, भले ही वे कौरवोंके सैनिक क्यों न रहे हों ? जिन वृक्ष, पक्षी, पशुओंके मनमें पूर्व सिद्ध भक्ति नहीं थी, उन्हें अपने गानसे, रूप-दर्शनसे, छेड़-छाड़से भक्ति देकर अपनी ओर आकृष्ट कर लेना, इससे बढ़कर वासना-बीजके नाशका और क्या प्रमाण हो सकता है ? इससे नवम स्कन्धका महत्त्व और अधिक बढ़ जाता है। यह दशम स्कन्धकी पूर्व पीठिका है, अत· विचारपूर्वक एकाग्र चित्तसे इसका अनुसन्धान करना चाहिए। ईशानुकथा ही भगवान्‌के आविर्भावका मूल है। कथासे ही भगवान्‌का प्राकट्य होता है। यदि एक-एक व्यक्तिका नाम लेकर उसके चरित्रकी विशेषता बतायी जाये और इसमें भगवद्-इच्छा या भगवदनुगतिका निरूपण किया जाये तो एक दूसरा भागवत बन सकता है। अतः पूर्वाचार्योंने इस स्कन्धपर जिस रीतिसे विचार किया है, उसको ध्यानमें लाना नितान्त अपेक्षित है।

वस्तुतः भगवान् ही वासना-बीजका आत्यन्तिक नाश कर सकते हैं।

दशम स्कन्ध : आश्रय अथवा निरोध

भगवान् ही ध्यानाश्रय और प्रलयाश्रय हैं :

यह सर्वसम्मत है कि दशम स्कन्धमें भगवान् भक्तोंके अनुरूप अपनी आनन्दमयी लीलाका प्रकाश करके जीवोंके मनको अपनी ओर आकृष्ट करते हैं। अपने प्रति आसक्ति उत्पादन करना ही उनका मुख्य लक्ष्य है। कहीं ध्यानाश्रय हैं तो कहीं आत्यन्तिक प्रलयाश्रय हैं। इसीसे अनेक महात्माओंका मत है कि सर्ग-विसर्गादिके वर्णनमें स्कन्धोंका क्रम विवक्षित नहीं है। जिस स्कन्धके जिस प्रसंगमें जिस लक्षणके अनुसार पदार्थका वर्णन है वहाँ वही समझना चाहिए। श्रीधर स्वामी दशम स्कन्धको आश्रय-स्कन्ध कहते हैं और आचार्य वल्लभ निरोध-स्कन्ध। दोनों ही अपने-अपने सम्प्रदायके अनुसार प्रतिपादन करते हैं। दशम स्कन्धको मुख या मुख्य माननेमें दोनोंको कोई आपत्ति नहीं है। श्रीमद्भागवत पुरुषोत्तम भगवान्‌का स्वरूप है। मुखमें आनन्दकी अभिव्यक्ति देनेवाली मुस्कान है जो सदा रस बरसाती रहती है, वही भक्तोंका प्राण है। जिसके हृदयमें यह भागवत-रूप पुराण-पुरुषोत्तम सदा आनन्द बिखेरते रहते हैं, उससे बढ़कर और कोई नहीं है। अपने सौन्दर्य-माधुर्यके प्रकाशके द्वारा भक्तोंका मन बलात् आकृष्ट करके अपनेमें सदाके लिए अवरुद्ध कर लेना यह भगवान्‌की एक क्रीड़ा है और इसका नाम चाहे कुछ भी रखें, जीवोंके लिए परम आश्रय स्वरूप है।

पूर्व स्मरण :

पहले यह निरूपण किया जा चुका है कि ध्यान, हृत्-प्रसाद एवं मननके साथ भगवद्-विषयक श्रवण ही मुख्य साधन है। इस स्कन्धके प्रारम्भमें ही परीक्षितकी श्रवणमें कितनी श्रद्धा है, यह प्रकट हो जाता है और वह मुक्त, मुमुक्षु एवं विषयी सभी पुरुषोंके लिए श्रवणको कल्याणकारी मानते हैं और श्रवण न

करनेवालेको पामर, आत्मघाती। यह भवरोगकी भवौषधि है, तृष्णारहित वैद्यके द्वारा बतलायी हुई श्रोत्र-मनःपेय एवं मधुर-मधुर ! वंशका सम्बन्ध, शरीरका सम्बन्ध एवं अमृत-प्रदाता भगवान्‌की महिमा, क्षुधा-पिपासाकी निवृत्ति एवं श्रीशुकदेवजी महाराजके मुखसे अमृतास्वादन। श्रीशुकदेवजीने कलि-कलमषघ्न परम पावन श्रीकृष्ण-लीलाका संगीत सुनाकर उन्हें भगवद्-रससे तृप्त कर दिया। श्रवणानन्तर उनका कुछ भी कर्तव्य शेष नहीं रहा।

अवतरण-भूमिका :

ब्रह्मसत्ता ही भूमि है। अभिमान-दल भेदबुद्धि दितिके पुत्र ही भार हैं। अभेद-बुद्धिके समान भेद-बुद्धिके मूल अधिकरण भी ब्रह्मा ही हैं, रजोगुणकी प्रधानतासे ब्रह्मा। तमोगुणकी प्रधानतासे रुद्र एवं सत्त्वगुणकी प्रधानतासे देवता, सभी वृत्तियाँ-आधिभौतिक, आध्यात्मिक एवं आधिदैविक शुद्ध सत्त्वगुण-रूप क्षीरसागरमें विराजमान विष्णु भगवान्‌की शरणमें जाते हैं। उनकी वाणी अन्तःकरण-ब्रह्मा समाधिमें श्रवण करते हैं और बताते हैं कि जैसे एक पत्नीका दुःख पतिको पहलेसे ही ज्ञात होता है वैसे ही पृथिवीका दुःख वास्तविक पृथिवी-पतिको पहलेसे ही ज्ञात है। जैसे उदार ब्रह्म-दृष्टिके बिना संकीर्ण जीव-दृष्टिका निवारण नहीं हो सकता, इसी प्रकार व्यापक विष्णुके प्राकट्यके बिना अभिमान-दैत्यका विनाश नहीं हो सकता। जैसे अज्ञान-नाशके लिए ज्ञानकी आवश्यकता है वैसे ही अभिमान-नाशके लिए या दैत्योंके विनाशके लिए भगवान्‌के अवतारकी आवश्यकता है।

वेदान्तमें प्रसिद्ध है कि प्रातिभासिक सर्प एवं रजत आदिकी भ्रान्ति मिट जानेपर भी रज्जु-शुद्धि आदिकी व्यावहारिक सत्ता बनी रहती है, पारमार्थिक ब्रह्मसत्ताका बोध होनेपर व्यावहारिक सत्ता भी बाधित हो जाती है।

स्वप्नमें प्यास लगे तो वह स्वप्नके जलसे ही मिटती है, जाग्रत्-अवस्थाका जल वहाँ काम नहीं देता। ऐसे ही जाग्रदवस्थामें प्यास लगे तो जाग्रत्‌के जलसे ही वह मिटती है, स्वप्नका जल वहाँ काम नहीं देता। इसी प्रकार संसारके जो दुःख-सुख हैं, वे जिस सत्तामें होते हैं, वे उसी सत्ताके उपायसे दूर होते हैं। जब मनुष्य भौतिक सृष्टिमें भौतिक पदार्थोंके निमित्तसे भौतिक रूपमें दुःखी होता है तो दुःख-निवारणके लिए भौतिक रूपमें ही भगवान्‌की आवश्यकता होती है। साथ ही यह भी सुनिश्चित है कि दुःख-सुख चाहे दैविक निमित्तसे हों, चाहे भौतिक निमित्तसे; होते हैं आध्यात्मिक वृत्तियोंके ही रूपमें। अतः भगवान् दैविक एवं भौतिक निमित्तोंकी निवृत्तिके लिए भले ही दैविक एवं भौतिक रूपसे प्रकट हों, परन्तु दुःखोंकी निवृत्तिके लिए तो आध्यात्मिक रूपसे प्रकट होना आवश्यक हो जाता है। भगवान् अवतारके द्वारा दैविक, भौतिक व्यक्तियोंके रूपमें तो अवतार लेते ही हैं, श्रवण-वर्णनके द्वारा आध्यात्मिक रूपमें अवतार लेते हैं। असंदिग्ध रूपसे यह कहा जा सकता है कि भगवान्‌का स्वरूप निर्गुण हो या सगुण, सामान्य रूपसे अज्ञान, अभिमान या दुःखका निवर्तक नहीं होता, अवतीर्ण रूपसे ही उनका निवर्तक होता है। यह कौन नहीं जानता कि

वृत्त्यारूढ़ चेतन ही अज्ञानका निवर्तक होता है। प्रमा ही भ्रमको निवृत्त करती है। इसी प्रकार हृदयमें अवतीर्ण भगवान् अभिमान तथा दुःखका और बाहर अवतीर्ण भगवान् उनके निमित्तोंका विध्वंस करते हैं। अतः इस प्रसंगमें अवतार लेकर भगवान् पृथिवीका भार दूर करेंगे और सन्तोंको सुख देंगे—यह बात स्पष्ट की गयी।

जन्म-प्रसंग :

श्रीमद्भागवतमें भगवान्‌के माता-पिताका जिस रूपमें चित्रण किया गया है वह भी विचित्र है। नव-दम्पती विवाहके तत्काल बाद मंगलसूत्र धारण किये बड़े प्रेम और उत्साहके साथ विदा होते हैं। ऐश्वर्यशाली कंस वैभवके साथ पहुँचानेके लिए चलते हैं। घोड़ोंकी बागडोर हाथमें है। भाई-बहनके प्रेमका दृश्य प्रकट हो रहा है। इतनेमें ही आकाशवाणी हुई—'कंस! तेरी मृत्यु देवकीके आठवें गर्भसे है।' क्षणभरमें सारा प्रेम उड़ गया। स्वार्थीका प्रेम तभीतक रहता है जबतक उसके स्वार्थमें बाधा न पड़े। कंसने केश पकड़कर देवकीको रथसे नीचे खींच लिया, दाहिने हाथमें तलवार, गला कटने ही वाला है, देवकी मौन है; न कंससे कहती है कि मुझे छोड़ दो, न वसुदेवसे कहती है कि मुझे बचाओ। ऐसी क्षमा, ऐसी शान्ति, ऐसी समता, ऐसा मौन! वस्तुतः देवकीको उस कक्षामें पहुँचा देता है जो भगवान्‌की माता बननेके योग्य है। ऐसी देवकीको यदि भगवान् माता नहीं बनावेंगे तो और किसको माता बनावेंगे? वासुदेवकंससे भिड़े नहीं, लड़े नहीं। कंस अभिमान है, वसुदेव-देवकी भी एक प्रकारसे उसके आश्रित हैं, ऐसे अवसरपर बल काम नहीं देता, बुद्धि काम देती है। उन्होंने साम, दान एवं भेदसे काम लिया। अभिमानी समझाने-बुझानेसे नहीं मानता, उसके गौरवकी रक्षा होनी चाहिए, किसी-न-किसी अंशमें उसका स्वार्थ पूरा होना चाहिए। विचारपूर्वक बालकोंके देनेकी प्रतिज्ञा करनेपर कंस मान गया। वसुदेवके सत्यप्रतिज्ञ होनेका लोहा कंस भी मानता था। शुद्ध अन्तःकरण वसुदेव है और सूक्ष्म एकाग्र बुद्धि देवकी है।

कंसकी बुद्धि स्थिर नहीं रही, सुन-सुनाकर उसका बुद्धि-भेद हो गया। बालक देनेकी प्रतिज्ञा वसुदेवने नहीं तोड़ी, कंसने ही उनके सत्यपर संशय करके अपनी प्रतिज्ञा तोड़ दी और अविश्वाससे उन्हें बन्दी बना लिया। न केवल देवकी-वसुदेवको प्रत्युत सम्पूर्ण यदुवंशियोंको वह सताने लगा। स्वयं अपने हाथोंसे ही पिता उग्रसेनको भी बन्दी बनाकर राजा बन बैठा। राजा बन जानेपर उसके समान दूसरे असुर भी इकट्ठे हो गये। अभिमान, यातना और आसुरी वृत्तिका साम्राज्य हो गया। कंसके अधीन रहकर ही देवकी-वसुदेवने अपनेको भगवान्‌के अवतरणके योग्य बना लिया। सच है, पीड़ा सहे बिना कोई भी सिद्धि प्राप्त नहीं होती।

देवकीके गर्भमें छह बालक आये और मारे गये। वे पहले देवता थे, शापके कारण असुर हुए, कंसने ही उन्हें मारा, बलिके पास कुछ दिनोंतक रहकर देवकीके वात्सल्यसे वे पुनः देवता हो गये। भगवान्‌की शय्या 'शेष' गर्भमें आये, योगमायाने उन्हें रोहिणीके गर्भमें पहुँचा दिया, मानो भगवान्‌के हृदयमें प्रकट होनेकी बहुत उतावली हो!

वसुदेवका मन भगवान्‌के चिन्तनसे भर गया। भगवान् रहते सब जगह हैं, परन्तु चिन्तनमें प्रकट हो जाते हैं। उनका चिन्तन था भक्ति-विशिष्ट। जैसे दीयेकी लौसे दूसरी लौ प्रज्वलित हो जाती है, वैसे ही वसुदेवके मनसे देवकीका मन भी भगवच्चिन्तनसे चमक उठा। वसुदेवके हृदयके भगवान् देवकीके हृदयमें आगये। गुरुके ज्ञानका शिष्यमें संक्रमण हुआ, मानो मानसी दीक्षा हो गयी हो। मनकी प्रीति बुद्धिमें भर गयी। देवकीका मानसिक रूपसे ही नहीं, शारीरिक रूपसे भी इतना प्रभाव बढ़ा, उसके सामने आनेपर कंस भी हर्षित हो गया और उसकी बुद्धि थोड़ी देरके लिए सद्भावसे युक्त हो गयी। जिसके हृदयमें भगवान् हों उसके सामने आनेपर बुद्धिमें ऐसा परिवर्तन आश्चर्यजनक नहीं है।

गर्भस्थ भगवान्‌की स्तुति भी विलक्षण है। ब्रह्मा, शिव, ऋषिगण, भूमि एवं देवानुचर सब वहाँ उपस्थित हुए। तीनों गुण एवं उनकी वृत्तियाँ भी। जगत्‌के अभिन्न निमित्तोपादान कारणके रूपमें भगवान्‌की स्तुति की गयी। यदि भगवान्‌का अवतार न हो तो भवसागरसे पार जानेके लिए और भगवान्‌की आराधनाके लिए कोई आश्रय ही न रहे। अवतार भगवान्‌का एक विनोद है और इसके बिना उनका वास्तविक विज्ञान प्राप्त करना कठिन है। इस प्रसङ्गसे भगवान्‌की भगवत्ता प्रमाणित होती है। ब्रह्मा, शङ्कर आदिकी स्तुतिका यही अभिप्राय है। यह कितने आनन्दकी बात है कि जीवके सखा भगवान् अपने सख्यका निर्वाह करनेके लिए गर्भस्थ भी होते हैं, वे कहीं कभी किसी रूपमें जीवका परित्याग नहीं करते हैं।

कृष्णस्तु भगवान् स्वयम् :

लोगोंके हृदयमें भगवान्‌से रक्षाकी अपेक्षा, भगवान्‌के आविर्भाव योग्य माता-पिताका होना, देवताओंके द्वारा भगवान्‌की स्तुति, श्रौत दृष्टिसे तत्त्वका निरूपण—यह सब श्रीकृष्णकी भगवत्ताके ही सूचक हैं। आविर्भावके पूर्व जो प्रकृतिकी शुद्धि अथवा शृङ्गारका वर्णन है वह स्वामीके शुभागमनका ही सूचक है। जब कोई साधक अपने हृदयमें भगवान्‌का आविर्भाव चाहता है तब उसे हृदय-शुद्धि अथवा भूत-शुद्धि करनी पड़ती है। उसकी प्रक्रिया शास्त्रोंमें वर्णित है। इस प्रसङ्गमें प्रकृति भगवान्‌के आविर्भाव अथवा जन्मके लिए अपना शुद्ध रूप प्रकट करती है। कालके अन्तरङ्ग-बहिरङ्ग अङ्ग-प्रत्यङ्ग सुहावने, गुणयुक्त एवं शान्त हो गये। दिशाएँ निर्मल हो गयीं। नीले आकाशने तारे-हीरे छिटका दिये। वायु शीतल-मन्द-सुगन्ध बहकर सुखका दान करने लगा। अग्नि निर्धूम, नदी जल निर्मल एवं पृथिवी मङ्गलमयी हो गयी। मन प्रसन्न एवं ऋषि देवताओंके आत्मा त्यागपूर्वक श्रीकृष्णके दर्शनके लिए उत्सुक हो गये। प्रकृतिने नवद्रव्य शुद्ध कर लिये। अपने स्वामीके मङ्गलमय आगमनकी प्रतीक्षामें वासकसज्जा नायिकाके समान सज-धजकर स्वागतके लिए तत्पर हो गयी। ब्रह्माका नक्षत्र रोहिणी—चन्द्रवंशकी सर्वोत्तम रानी, कल्याणदायक भाद्रमास, कृष्णपक्ष, सन्धिस्थानीया अष्टमी तिथि, निशानाथकी प्रिया रात्रि, उसका भी सन्धिस्थल मध्यभाग, बुध दिन, धर्मप्रधान वृष लग्न—ऐसे शुभ अवसरपर रात्रिके घोर अन्धकारको चीरकर महान् प्रकाशका उदय हुआ। संन्यासियोंके चतुर्थ सन्ध्याकाल निशीथ-सन्धिमें श्रीकृष्णका प्राकट्य—उनकी ब्रह्मताका ही

द्योतक है। बालकमें इतने आश्चर्योंका निवास उसकी अनिर्वचनीयताका सूचक है, चार भुजा, चार आयुध, कमल-सी उत्फुल्ल दृष्टि, वस्त्रालङ्कार युक्त। क्या यह साधारण बालकका लक्षण है? यह अद्भुत, असाधारण है!

वसुदेवकी स्तुतिका चिन्तन करनेपर चतुःश्लोकी भागवतका आनन्द आजाता है। ब्रह्म-प्रकृतिसे सृष्टिका होना, नाम-रूपकी कल्पना होनेसे पूर्व होना, अप्रविष्टके प्रवेशका वर्णन, साथ ही सर्व सर्वात्मा प्रत्यगात्मा एवं परमार्थ वस्तुका होना—यह सब परब्रह्म परमात्माके स्वरूपके ही द्योतक हैं। साक्षी मन एवं इन्द्रियोंके द्वारा जिस प्रपंचका ग्रहण होता है, उसमें परमात्मा है, परन्तु वह भास्य नहीं है। तब नहीं क्यों न मानें? वह न होनेके कारण न भासता हो सो बात नहीं, उसीसे सबका भान होता है, उसका भासक दूसरा कोई नहीं है। अतः भास्यमें स्वप्रकाश अधिष्ठान चैतन्यके रूपमें रहनेपर भी किसीके द्वारा उसका ग्रहण नहीं होता है। पहचाना तो देवकीने भी, परन्तु उसमें मातृस्नेहका बाहुल्य था। अलौकिक स्नेहने श्रीकृष्णके अनावृत स्वरूपको आवृत कर दिया, यही स्नेहकी महिमा है। लौकिकके प्रति लौकिक स्नेह होता है। विषय अलौकिक होनेपर स्नेह भी अलौकिक हो जाता है। श्रीकृष्णने स्वयं भी अपने श्रीमुखसे उनके पूर्वजन्मकी तपस्या, वरदान आदिका स्मरण दिलाया, परन्तु स्नेह उसके प्रभावसे भी निवृत्त नहीं हुआ। भगवान्‌की ऐसी ही इच्छा थी, इसीसे आगेकी लीला सम्पन्न होती।

वसुदेवने शिशुभावापन्न श्रीकृष्णको गोदमें लिया, सारे बन्धन टूट गये, ताले खुल गये, कपाटने मार्ग दिया, द्वारपाल सो गये, मथुरावासी गाढ़ निद्रामें मग्न, विमुखजन-मोहनी मायाने सबको सुला दिया। वसुदेवकी गोदमें बैठकर भगवान् गोकुलके लिए चल पड़े। यमुनाकी बाढ़ भी उनके मार्गमें अकिंचित्कर हो गयी। भगवान् हृदयके उत्सङ्गमें हों, फिर बाधा किसकी?

श्रीकृष्ण : ब्रह्मका साधारणीकरण :

निर्गुणसे सगुण होना, निराकारसे साकार होना, अन्तरङ्गसे बहिरङ्ग होना और हृदयसे गोकुलमें आना—यह भगवान्‌का साधारणीकरण है। आत्माके रूपमें रहें, ज्ञान-ध्यानमें रहें, मन्दिरमें रहें, वह दूसरी बात है, परन्तु गोकुलमें अर्थात् इन्द्रियोंके समूहमें आना, अपने गन्ध, रस, रूप, स्पर्श एवं शब्दोंकी माधुरीसे मनको लुभा लेना, अपनी प्रेमभरी चितवन मुस्कान, संगीत, वंशीध्वनि एवं विविध चेष्टाओंके द्वारा स्वयं जीवोंके हृदयमें अनचाहे बलात् घुस जाना—यह श्रीकृष्णका गोकुलमें आगमन है।

अहैतुक—आगमन :

गोकुल निस्साधन है, दरवाजे बन्द हैं, गोप-ग्वाल-ग्वालिनें निद्रामें मग्न हैं, यशोदा माता बेसुध सो रही हैं। आये, भगवान् आये, अपने आप आये। किवाड़ खुल गये। सोती हुई यशोदाके पास श्रीकृष्ण सुला दिये गये। यशोदाने न तपस्या की थी, न अभिलाषा, न प्रार्थना, न जप-ध्यान। कोई लालसा उत्कण्ठा या व्याकुलता तो कभी हुई ही नहीं, ज्ञात भी नहीं था कि हमारे घर ब्रह्म आवेगा, परन्तु वह आया, चुपके-से

आया, पाँव दबाकर आया, निस्साधनके पास आया। वसुदेव माया लेकर चले गये। कृष्ण रोने लगे। एक भक्त मुझे छोड़कर माया लेकर चला गया, इसलिए? नहीं। वह तो आज्ञाकारी था। तब, किसलिए? इसलिए कि जिसके पास स्वयं आये हैं, बालक बने हैं, वह बेसुध सो रहा है। रोके भी किसी जीवको जगाना पड़े, सो वह भी करते हैं। गोकुलमें आये ही इसलिए हैं।

वसुदेव योगमायाको लेकर निर्विघ्न मथुरा पहुँच गये। सारे बन्धन ज्यों-के-त्यों। क्यों न हो, माया जो घरमें आगयी थी। रोकर पहरेदारोंको सूचना दी। कंसके आनेपर उड़ गयी आकाशमें। सूचना दे दी—जिसके भयसे तुम तन्मय रहते हो वह आगया! योगदानके लिए ही तो माया होती है। कंसका भययोग बढ़ गया। देवकी-वसुदेवके साथ सद्भावपूर्ण वार्तालाप एवं सौजन्य भी योगमायाका ही प्रताप है। यह भी स्पष्ट है कि दुष्टके मनपर सत्सङ्गका प्रभाव भी टिकाऊ नहीं होता। जब दुःसङ्ग मिला तब बुद्धि बदल गयी। दुष्टतामें मन स्थिर रखनेका सामर्थ्य नहीं है।

आनन्दकी अभिव्यक्ति :

गोकुलमें श्रीकृष्णके रोदनने चमत्कार दिखाया। उनके रोदनमें भी प्रमोदन है। समाचार फैलते देर नहीं लगी। 'नन्दके आनन्द भये जै कन्हैया लालकी।' शास्त्रीय एवं लौकिक कृत्य किये गये। गोकुल जो श्रीकृष्णके बिना, न जाने कबसे सूना पड़ा था, आनन्दसे भर गया। क्षण-क्षणमें, कण-कणमें, जन-जनमें, मन-मनमें आनन्द मूर्तिमान् होकर नृत्य करने लगा।

नन्द-यशोदा :

ध्यान देने योग्य है कि यशोदा नन्दके औरस पुत्र श्रीकृष्ण नहीं थे। यद्यपि कई सम्प्रदायोंमें ऐसा माना जाता है। परन्तु भगवान्का औरस पुत्र होना आवश्यक नहीं है, उनके प्रति पुत्र-भाव होना चाहिए। यदि पुत्र होनेपर ही पुत्र-भाव हो तो संसारके जीव वात्सल्य, भक्ति एवं वत्सल रससे वञ्चित ही रह जायेंगे। अतएव इस भावको सुगमताके लिए भावके जन्मको भी पुत्र-जन्म कहा हुआ है। यह भाव यशोदा-नन्दमें अत्यन्त गाढ़ था, क्योंकि उन्हें पूर्वजन्ममें आशीर्वादके रूपमें यह प्राप्त हो गया था, सहज था। उन्होंने श्रीकृष्णको चतुर्भुज ईश्वरके रूपमें देखा हो नहीं। कभी कुछ देखा भी तो उसका प्रभाव नहीं पड़ा। कभी-कभी ऐश्वर्य-दर्शन भी स्नेहकी गाढ़तामें बाधक हो जाता है। असंदिग्ध रूपसे यह कहा जा सकता है कि ऐश्वर्य-दर्शी देवकी-वसुदेवकी अपेक्षा यशोदा-नन्दमें स्नेहकी गाढ़ता अधिक थी और उत्तरोत्तर बढ़ती गयी। नन्दोत्सवके पश्चात् कंसको कर चुकानेकी चिन्ता भी स्नेहाधिक्यकी परिपुष्टि है।

वसुदेव-नन्दके संवादपर ध्यान दें तो शिष्टता एवं सौजन्यकी एक चमत्कार-पूर्ण झाँकी देखनेको मिलती है। वसुदेव नन्दके सुखका अभिनन्दन करते हैं, अपने दुःखकी गाथा नहीं सुनाते। नन्दबाबा वसुदेवके दुःखके प्रति संवेदना एवं सान्त्वना प्रकाशित करते हैं, अपने सुखकी चर्चातक नहीं करते। दोनों ही सहृदय हैं। एक दूसरेके सुखमें सुखी है तो दूसरा दूसरेके दुःखमें दुःखी है। यही तो परम योगीका लक्षण है।

वसुदेव मथुरावासी होते हुए भी अपना ध्यान गोकुलपर ही रखते हैं। उनका प्राण-सर्वस्व तो गोकुलमें ही रह रहा है ना! वे प्रेम-ध्यानके नेत्रसे देखते रहते हैं कि गोकुलमें हमारा लाला कैसे रह रहा है! उनका प्रेमदृष्ट दृश्य सर्वथा सत्य निकलता है। क्यों न हो, जीवनमें सत्यकी प्रतिष्ठा हो जानेपर ऐसा होता ही है।

पूतना-उद्धारलीला :

आचार्य वल्लभके मतसे पूतना-उद्धारलीला प्रमाण-प्रकरणके अन्तर्गत आती है। इस लीलाके द्वारा भगवान्‌के वीर्यका निरूपण है। उनका एक-एक काम अनेक-अनेक प्रयोजनोंकी सिद्धिके लिए होता है। पूतना अविद्या है। वृत्त्यारूढ़ ज्ञानके समान अवतीर्ण भगवान् उसका नाश करते हैं। दुष्टका निरोध होता है। दुष्टको भी सद्गति मिलती है। बालकोंकी रक्षा होती है। नन्दादि भक्तोंके हृदयसे वसुदेव-वाक्यजनित भयका निराकरण होता है। पूतनाकी मृत्युसे भक्तोंके बाह्य भयके निवारणके साथ भगवान्‌के अनुग्रहसे अत्यन्त अनधिकारी जीवका भी कल्याण हो जाता है।

नन्दबाबाके हृदयमें सत्यवादी वसुदेवके इस वचनपर कि गोकुलमें उत्पात हो रहे हैं, पूर्ण विश्वास है। इसलिए उन्होंने मन-ही-मन भगवान्‌की शरण ग्रहण की। सत्पुरुष विपत्तिके समय भगवान्‌का ही पल्ला पकड़ते हैं। यहाँ 'शरण' शब्दका अर्थ अपना घर भी होता है। जैसे मनुष्य आँधी-तूफान आनेपर अपने-अपने घरमें घुसकर सुरक्षित हो जाता है, वैसे ही नन्दबाबा अपने परम आश्रय भगवद्भवनमें प्रविष्ट हो गये। गोकुल तो दूर था, परन्तु यह घर तो सर्वथा अपने हृदयमें ही था। सच है, भक्तोंके एकमात्र शरण (गृह और रक्षक) भगवान् ही हैं।

विघ्न-बाधा-राक्षसी वहीं अपना बल प्रकट कर सकती है, जहाँ भगवान्‌के रक्षोघ्न श्रवण-कीर्तनादि न हों। जहाँ स्वयं भगवान् ही विराजमान हैं, वहाँ उत्पातका क्या भय है?

श्रीहरिसूरि कहते हैं कि कंसने अपने मनमें विचार किया कि जो बालक मुझ सरीखे वीरका वैरी होकर प्रकट हुआ है, वह अपूत = अपवित्र, न = नहीं हो सकता (न और अ दोनों कट गये) इसलिए वह अवश्य ही पूत होगा। उसको लानेके लिए पूतना (पूतं नयति) को भेजना ही उचित होगा। 'पूतना' शब्दका यह भी अर्थ सर्वमान्य है कि वह अविद्यारूप होनेके कारण बड़े-बड़े पूतात्मा अर्थात् पवित्रात्माओंको भी अभिमानके वशमें करके उड़ा ले जाती है।

पूतनाने गोकुलके साथ अपना मेल मिलाया। स्थान है गोकुल अर्थात् इन्द्रियोंका कुल और मैं हूँ खेचरी अर्थात् इन्द्रियोंमें विचरनेवाली। 'ख' और 'गो' दोनों एक ही तो हैं, इसलिए उसने जानेका निश्चय किया।

वह नन्दादि गोपोंके मथुरा जानेपर गोकुल गयी। इसका अभिप्राय है कि अच्युत बलशाली (अत्यन्त बलयुक्त अथवा कृष्ण और बलरामसे युक्त) गोकुलको भी केवल अबला (स्त्री) गणसे युक्त मान लिया। क्यों न हो, बकी जो थी!

उसने हेमाङ्गना अर्थात् स्वर्णवर्णा प्रमदाका रूप धारण किया। इसका अभिप्राय यह है कि गोकुल (गोकुल गाँव या इन्द्रिय समूह)को मोहित करनेके लिए सोना और स्त्री दो ही साधकके चित्तको मोहित करते हैं, इसलिए उसने सुवर्णाङ्ग वराङ्गनाका रूप धारण किया। क्या सुन्दर सूक्ति है !

हेमाङ्गने एव विमोहनैकतात्पर्यहेतू खलु गोकुलस्य।
सा मन्यमानैवमुरोचकार रूपं सुवर्णाङ्गवराङ्गनायाः॥

वह अपने शृंगार, सौन्दर्य, हाव-भाव, चितवन, मुसकान एवं मीठी वाणीसे गोकुलवासियोंका मनोहरण करती हुई आगे बढ़ी; क्योंकि वह सुमनोवर = देवशिरोमणि श्रीकृष्णका हरण करना चाहती थी। कोई भी योषित अनङ्ग भावकी प्राप्तिके लिए अपने पतिके पास जाती है। ठीक है, उसे अनङ्ग-कामकी प्राप्ति नहीं हुई तो क्या, अनङ्ग (अङ्गरहित = मृत्यु अथवा मोक्ष) तो मिला ! उसका भाव तो अमङ्गल था, परन्तु रूप मङ्गलमयी श्रीका धारणकर श्रीकृष्णकी ओर चली; इसीसे सद्गतिकी प्राप्ति हुई। श्रीका रूप धारण करना एक शकुन है। साक्षात् लक्ष्मीका दर्शन लोकमें दुर्लभ है, इसलिए उसका कृत्रिम रूप लोगोंके आकर्षणका कारण बन गया।

वेदान्तकी रीति यह है कि पहले 'नेति-नेति' निषेध-वचनके द्वारा नाम-रूपात्मक विश्व-प्रपञ्चका निषेध करके व्यतिरेक मुखसे परमात्माको जाना जाय। पीछे अन्वयदृष्टिसे—विधिमुखसे 'सब परमात्मा है', ऐसा अनुभव किया जाय। परन्तु इसने निषेध-वचनपर तो ध्यान दिया नहीं, पहले ही विधि अथवा विधि-विधानको आगे रखकर गोकुल (इन्द्रियों)में भगवान्‌को ढूँढ़ने निकल पड़ी। इसीसे यह गति हुई।

भगवान् श्रीकृष्ण भस्माच्छन्न अग्निके समान अपनी श्याम-दीप्तिसे आच्छन्न होकर पर्यङ्कपर विराजमान हैं। अजी, अग्निके सामने विष या दुर्विषयकी क्या दाल गलती है !

उसको देखकर माताएँ आश्चर्यचकित रह गयीं। उनकी दृष्टि श्रीकृष्णसे हटकर पूतनापर चली गयी। यह बात श्रीकृष्णको पसन्द नहीं है। उन्होंने निश्चय किया कि जिसपर भक्तकी दृष्टि है, उसकी गोदमें मेरा जाना आवश्यक है। वह किसी दूसरे बालकका अनिष्ट न करे, इसके लिए मेरी ओर आकृष्ट होना भी अपेक्षित है। समझ-बूझकर उन्होंने अपने नेत्र बन्द कर लिये, इसपर श्रीहरि सूरिकी काव्यधारा बड़े वेगसे बह निकली है। कुछ उदाहरण देखिये—

सर्वज्ञ प्रभुने अपने स्वच्छन्द लीला-विहारमें भी यह संकेत दिया कि जब परमात्मा सुषुप्तिका अनुकरण करता है अर्थात् अज्ञात रहता है तभी मनुष्यकी अनार्य स्वच्छन्द प्रवृत्ति पापप्रद होती है, अन्यथा नहीं। आँख मींचनेका यही भाव है—

सुप्तानुकारिणि मयीह भवत्यनार्यं स्वैरप्रवृत्तिरघदा किल नान्यथेति।
तत्ताद्दृशस्थितितया प्रभुणा व्यबोधि तत्स्वैरसंविहरणेष्वपि सर्ववेत्रा॥

एक शब्दालङ्कारका आनन्द लीजिये—ह्यस्तन (अतीत कल), श्वस्तन (आगामी कल), स्वस्तन

(अपना स्तन)। कल देखा नहीं, कल देखूँगा नहीं। न भूतमें रही, न भविष्यमें रहेगी; तब आज यह अपने स्तनोंमें विष लगाकर आयी है, यह देखनेकी क्या आवश्यकता है ?

श्रीकृष्णने अपने मनमें विचार किया कि मैं केवल अपनी रक्षा कर लूँ या त्रिलोकीके त्रैकालिक अखिल बालकोंका पालन करूँ। अन्तर्दृष्टिसे यही देखनेके लिए दीनत्राण परायण अकारणकरुण बालैक-कल्याणदर्शी प्रभुने दुष्ट-निरोधकी दृष्टिसे नेत्र बन्द कर लिये।

कार्यं स्वावनमेव केवलमितः किं वा त्रिकालोदिता-
त्रैलोक्याखिलबालपालनमपीत्यन्तर्दृशा वीक्षितुम्।
दीनत्राणपरायणोऽतुलकृपो बालैककल्याणदृग्
दुष्टध्वंसनदीक्षितः किमु विभुस्तादृक्तयाऽऽसीत्तदा॥

'यह कामिनी अन्धी हो गयी है। पिलाना चाहती है दूध और रूप धारण करके आयी है पत्नीका। मूर्खे ! मैं जान-बूझकर दूध पिलानेवालीके पत्नीरूपको क्यों देखूं ?' इसलिए आँखें बन्द कर लीं।

भगवान्‌ने अपनी आँखें इसलिए बन्द कीं—

ऐहिकं तु नहि साधनमस्या दृश्यतेऽण्वपि पुरातनमस्ति।
किं नवेति भगवान् ध्रुवमन्तश्चिन्तनाय कृतनेत्रपिधानः॥

कि इसने वर्तमान जन्ममें तो थोड़ा-सा भी कोई साधन नहीं किया। इसने पूर्वजन्ममें कोई साधन किया है या नहीं, यह अपने हृदयमें विचार करनेके लिए आँखें बन्द कीं।

यदि मनुष्यके जीवनमें अतर्कित रूपसे कोई ऐसा काम करनेका प्रसङ्ग उपस्थित हो जाय जो पहले कभी न किया हो तो बुद्धिमान् पुरुषको आँख बन्द करके उसका निर्वाह कर लेना चाहिए। जैसे कि कड़वा घूँट पीते समय करते हैं। क्या इसी लौकिक पद्धतिका अनुसरण करके श्रीकृष्णने इस पापिनीके हाथोंका संस्पर्श सहन किया ? देखिये मूल संस्कृत—

अनायत्याप्राप्तः क्वचिदपि पुरा यो न विहितः
प्रसङ्गश्चेत्तस्या वहनमिह कार्यं मतिमता।
निमील्याक्षीत्येवं जनसरणिमालोच्य किमसौ
तथा चक्रे कर्तुं तदघकरसंस्पर्शवहनम्॥

प्रभुने यह विचार किया कि बड़े-से-बड़े अनिष्टको निवृत्त करनेमें भी योग समर्थ है। इस क्षुद्रदृष्टि पूतनामें क्या रखा है, इसलिए नेत्र बन्द करके श्रीकृष्ण योगस्थ हो गये।

भगवान्‌के उदरवर्ती लोक व्याकुल हो गये। उनमें हाहाकार मच गया कि यह दूधके बहाने प्रभुको विष पिलाना चाहती है। यदि उन्होंने पी लिया तो आगे हम लोगोंकी क्या गति होगी ? मुझे ऐसा लगता है कि उन्हीं लोकवासियोंको अभयदान करनेके लिए प्रभुने नेत्रसम्मीलन कर लिया—

दातुं स्तन्यमिषाद्विषं किल धृतोद्योगेऽयमास्ते यतः
पीतं चेत्प्रभुणा पुरो वत्त गतिः का वास्मदीया भवेत् ।
इत्थं व्याकुलतान्निजोदरगतानालोक्य लोकान्प्रभु-
र्वक्तुं भात्यभयप्रदानवचनं चक्रेऽक्षिसम्मीलनम् ॥

जो स्त्री लोगोंमें माताका भाव दिखाये, मीठे वचन बोले; परन्तु अपने विषैले हृदयमें क्रूर हो, उसका मुख नहीं देखना चाहिए, यह शिक्षा देनेके लिए ही मानो कृष्णने नेत्र बन्द कर लिये ।

यदि करुणा-दृष्टिसे इसे देखूंगा तो यह निष्पाप हो जायगी । इस प्रकार दोनों ही दशामें इसके हृदयमें वासना-संस्कार शेष रह जायेंगे और पुनर्जन्मकी प्राप्ति होगी । वह न हो, यही विचार करके कृपालु कृष्णने अपने नेत्र बन्द कर लिये ।

दृष्टा चेत् करुणादृशेयमनघास्याच्चोग्रया भस्मसा-
देवं चेदवशिष्यते ह्युभयथा तद्वासनासंस्कृतिः ।
एतस्या हृदये तथा च भविता जन्मान्तराप्तिः पुनः
सा माभूदिति दीर्घदृष्टिरकरोदीशः स्वदृङ्मीलनम् ॥

यह उत्प्रेक्षा कितनी आनन्ददायक है, रसास्वादन कीजिये—

अस्यै दुष्टान्तरायै रिपुहितमतये कामपीशो न दद्या-
न्निम्नां वा प्रोन्नतां वा गतिमिह यदसौ सर्वतन्त्रस्वतन्त्रः ।
आवाभ्यां स्वात्ममार्गो मुनिसुजननुतो दीयते नेति मन्ये
श्रेशं चक्रेऽक्षियुग्मं रविविधुलसितं पक्ष्मसद्द्वारगुप्तिम् ॥

भगवान्ने कुछ नहीं सोचा । सूर्यचन्द्रोल्लसित श्रीकृष्ण-नेत्रोंने ही यह विचार किया कि श्रीकृष्ण तो सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र सर्वेश्वर हैं । वे इस दुष्टहृदया शत्रुहितकारिणी पूतनाको सद्गति दें या दुर्गति, वे जानें । हम दोनों अपने सूर्यमार्ग (देवयान) या चन्द्रमार्ग (पितृयान) से इनको सद्गति नहीं दे सकते । इसलिए नेत्रोंने ही अपने मार्ग बन्द कर लिये ।

पूतनाके नेत्र भी तो नेत्र ही हैं । भगवान्के नेत्रोंने सोचा—'हमें तो जातीय पक्षपातसे मुक्त रहना चाहिए; क्योंकि ये राक्षसीके मुखका शोभा बढ़ाते हैं; हम इन्हें नहीं देखेंगे ।

भगवान्के नेत्रमें निमि बैठे हैं । उन्होंने कहा—'चराचरात्मा प्रभु भले इस दुष्टाको अन्तर्दृष्टिसे देखें, यह बहिर्दृष्टिसे देखने योग्य नहीं है ।' उन्होंने ही नेत्र बन्द कर लिये ।

'यदि मैं अपने सूर्याश्रित और चन्द्राश्रित नेत्रोंसे इसे देखूंगा तो यह तामसी निशाचरी पहचान ली जायगी और मर जायगी । तब लीला कैसे होगी ?' यही सोचकर कृष्णने नेत्र बन्द कर लिये ।

भगवान्‌के नेत्र राजहंस हैं। उन्होंने इस बकीका मुख नहीं देखा, यह सर्वथा युक्तियुक्त है। महात्मा लोग अयोग्यके दर्शनके लिए उत्कण्ठित नहीं हुआ करते।

'यह निशाचरी दूध पिलानेके बाद मेरे वन्दनीय पूर्वज हरिणाङ्क चन्द्रमाके समान हो जायगी; इसलिए पहले ही इसे हरिणाङ्क बना दो', यह सोचकर श्रीहरिने उसके अंकका आश्रय लिया—'हरिणा अंकम्।'

इस प्रसङ्गपर श्रीजीवगोस्वामीजी महाराजने कुछ भाव लिखे हैं—

१. बाललीलामें शिशुका नेत्र बन्द रहना ही स्वाभाविक है।

२. भीरुता प्रकट होती है।

३. ऐसी दुष्टाका दर्शन न करना ही अभीष्ट है।

४. यदि भगवान् देखें तो उनकी दृष्टि स्वभावसे ही ऐसे दुष्टोंका दमन कर दे।

५. कल्याणनिधि भगवान् पूतनाका साक्षात् वध करनेमें लज्जित होते हैं—और उस लज्जाके आच्छादनके लिए नेत्र बन्द करते हैं।

६. भगवान्‌का हृदय इतना कोमल है कि मरते समय पूतनाकी विकलता और छटपटी नहीं देख सकते।

श्रीविश्वनाथ चक्रवर्तीने भी प्रायः इन्हीं भावोंको दुहराया है।

श्रीहरिसूरि कहते हैं कि 'प्रभो! जब आपके पास पूतना आयी तब माता, गोपी अथवा गोप किसीने भी उसको नहीं भगाया, यह देखते हुए भी मुझे अपने भाई-बन्धुओंके सहारे क्यों छोड़ते हो? जब तुम्हारे ही भाई-बन्धु तुम्हारे काम नहीं आये तब मेरे भाई-बन्धु कहाँसे मेरे काम आयेंगे?'

इसके बाद पूतनाने अपना विषदिग्ध स्तन श्रीकृष्णके मुखमें डाल दिया। भगवान्‌ने विचार किया कि 'क्षीरसागर या स्तनका समग्र विष तो शङ्कर ही पीते हैं—परन्तु अन्तरका विष तो मैं ही पी सकता हूँ और कोई नहीं।' इसलिए उन्होंने स्वयं पान किया।

'गरुड़ और शेष मेरे सेवक हैं। विषाशन शंकर मेरी वन्दना करते हैं। इस जरा-से विषमें क्या रखा है?'

'जैसे सजल मेघ अत्यन्त शोभायुक्त होता है, वैसे मैं भी इसके स्तनका विष धारण करके अत्यन्त सुषमाशाली हो जाऊँगा।'

'जैसे लक्ष्मी पयोधिजा हैं, वैसे ही विषश्री भी पयोधिजा है। श्रीधर तो एक मैं ही हूँ।'

'विष किञ्चित् भी शेष न रह जाय', इसके लिए सम्मर्दनपूर्वक पान किया।

'स्तन तो सबके जीवनका हेतु—दुग्ध देता है। यह विष क्यों दे रहा है? दुष्ट पूतनाका संग ही इसमें कारण है।' इसलिए निर्दय पीडन किया।

सविषा पूतनाको देखकर श्रीकृष्ण सरोष हो गये। सुरोचितका 'रो' है कृष्णमें, विकारका 'वि' है सविषामें।

समुद्रका विष पीनेवाले शंकरसे कृष्णने अपनी विशेषता दिखायी। पूतनाका विष पीकर उसे मोक्षामृतका दान किया।

इसके प्राणोंमें ही विशेष शक्ति है जो विषके साथ भी निरामय रहते हैं। इसलिए इन प्राणोंका संग्रह करना भी आवश्यक है जिससे विषका वीर्य व्याप्त न हो।

इस प्रसङ्गमें मूल देखनेसे स्पष्ट मालूम पड़ता है कि रोषसमन्वित प्रभुने प्राणोंके साथ स्तनका पान किया। अभिप्राय यह है कि रोष अर्थात् रोषाधिष्ठातृ रुद्रने प्राणोंका पान किया और श्रीकृष्णने केवल पयोमृतका। नेत्र बन्द करके सम्भवतः इसीलिए रुद्रका आह्वान किया था।

पूतनाका मातृभाव है तो स्तनका विष भी अमृत हो जायगा। वात्सल्य-स्नेहका भाव—स्वभाव ऐसा ही है। मेरा पुत्र-भाव है तो दूध पीनेमें क्या शङ्का? ऐसी स्थितिमें पूतनाको मारनेसे मैं मातृघ्न हो जाऊँगा। यह सोचकर श्रीकृष्णने उसके प्राणापहरणके लिए क्रोधाधिष्ठाता-देव रुद्रको अपने साथ कर लिया।

जिसका हृदय विषमित है अर्थात् भेद-भाव, राग-द्वेषसे युक्त अथवा विषाक्त है, उसको तत्काल वैसा फल भोगना ही पड़ता है। पूतनाके चरित्रमें यह बात स्पष्ट है।

कोई कितना भी कुमार्गगामी हो विषमस्वभाव हो, चाहे जिस किसी भावसे मुझे अपने हृदयमें धारण करे, उसे मैं भव-बन्धनसे मुक्त कर देता हूँ!

इस विषयमें श्रीहरिसूरिकी एक अन्य सूक्ति सुनिये—

कश्चित् प्राणापहारावधि दुरपकृतिं दुर्जनः सञ्चिकीर्षुः
प्राप्तश्चेदप्यमुष्मिन्नुपकृति-निरतेनैव भाव्यज्जनेन।
श्रीखण्डेनेव साधूनिति किल भवता हृत्स्थितं ज्ञापयित्रा
पापिन्यां पूतनायामुपकृतमपरं नैव बीजं प्रतीमः॥

कोई दुर्जन भले प्राणापहारपर्यन्त अपकार करनेकी इच्छासे आया हो तो भी सज्जन पुरुषको सब प्रकारसे उसका उपकार करना ही चाहिए जैसा कि श्रीखण्ड करता है। प्रभो! साधु पुरुषोंको अपने हृदयकी यही बात बोधन करनेके लिए आपने पापिनी पूतनाका भी उपकार किया। हमें इसका कोई दूसरा हेतु प्रतीत नहीं होता।

प्रभुने उसको निर्विष और निर्विषय दोनों ही बना दिया। पूर्व संस्कारके कारण ही उसका शव बड़ा हो गया।

नास्तिकोंके छह दर्शनके अनुसार उसका षाट्कौषिक शरीर छह कोसके वृक्षोंको तोड़कर धरतीपर गिरा।

गोपियाँ नन्दलालको पूतनाकी छातीपर चढ़कर उठा लायीं ! गोपोंका साहस नहीं हुआ। प्रेममें कितनी शक्ति है !

भगवान्‌की रक्षा करनेके लिए गोखुरकी धूलि, गोमय, गोमूत्र और गोपुच्छ काममें लाये गये। पहले गायोंसे भगवान्‌ने अपनी रक्षा करवा ली, फिर उनकी रक्षा की।

भगवंस्त्वदपेक्षयापि शक्तिस्तव-नाम्नि प्रबलेति मन्महे।
त्रिजगत्कृतरक्षणस्य तेऽपि यदभूद्रक्षणकारि गोकुले॥

भगवन् ! हमारा पक्का निश्चय है कि आपकी अपेक्षा भी आपके नामकी शक्ति प्रबल है। आप तीन लोकोंकी रक्षा करते हैं और गोकुलमें आपका नाम आपकी रक्षा करता है। इसीसे गोपियोंने आपके नाम-कवचसे आपको सुरक्षित किया।

आनन्दवृन्दावन-चम्पूमें कहा गया है कि 'मैं दुधमुँहा शिशु हूँ। यदि दूध पीनेसे ही पूतना मर जाती है तो मेरा क्या दोष ?'

जब गोपियोंने लाकर शिशु कृष्णको माँकी गोदमें दिया तो उन्हें विश्वास ही नहीं हुआ कि मेरा शिशु फिर लौट आया है। दूध पीनेपर कहीं जाकर उन्हें विश्वास हुआ।

श्रीहरि सूरि कहते हैं कि 'पूतनाके शरीरसे सुगन्ध निकलनेका भाव यह है कि पूतनाके शरीरमें पृथिवीका जो अंश क्लेश पा रहा था उसने सुगन्धके रूपमें अपनी प्रसन्नता प्रकट की। जिसके वक्षःस्थलपर विराजमान होकर स्वयं भगवान्‌ने दूध पिया उसके शरीरसे सुगन्धकी उत्पत्तिमें आश्चर्य क्या है ?'

अन्तमें श्रीहरि सूरि कहते हैं कि 'पूतना अनाचरण-प्रगल्भ थी', यह कोई भले ही कहे, मैं तो समझता हूँ कि वह पूत (पवित्र) नाना आचरणोंमें प्रगल्भ थी, इसके लिए उन्होंने एक ही वाक्यका प्रयोग किया है—'पूतनानाचरणप्रगल्भा।'

पूतना थी दुर्मतिकी सीमा और कृष्णने प्रकट की कृपाकी सीमा।

श्रीविश्वनाथ चक्रवर्तीने इस प्रसङ्गके अन्तिम अंशमें एक कैमुत्यमण्डलीकी स्थापना की है। उनका कहना है कि 'जब मारनेकी नीयतसे आनेपर भी पूतनाको सद्‌गतिकी प्राप्ति हुई तब कोई उदासीनता श्रद्धा अथवा श्रद्धाभक्तिसे भगवान्‌के पास आये तब तो कहना ही क्या !'

'भगवान्‌के किसी भी आविर्भावको कुछ अर्पित करे तो मुक्ति मिलती है, फिर परब्रह्म परमात्मा श्रीकृष्णको अर्पित करे तो कहना ही क्या !'

'यदि विषस्तन अर्पण करे तब भी कल्याणभागी हो जाय, फिर निर्विष वस्तु अथवा प्रिय, प्रियतर और प्रियतम वस्तु अर्पण करे तब तो कहना ही क्या !'

'जब पूतना नामक प्रसिद्ध राक्षसीको भी मातृगति—सद्‌गति प्राप्त हुई तब मानुषी भक्त, अनुरक्त और वात्सल्य भाववती गाँवकी गोपियोंको मातृगति प्राप्त होगी; इसमें कहना ही क्या !'

इन सब प्रसङ्गोंमें वात्सल्य स्नेहैकजीवना श्रीमती यशोदा माताका नाम नहीं लिया गया है। उनको वन्दनीयताके सिंहासनपर विराजमान करके केवल प्रणतिपात्री ही माना गया है; क्योंकि उनके लिए सद्गति प्राप्त करनेका तो कोई प्रश्न ही नहीं है। उनके नामस्मरण एवं ध्यानसे भी दूसरोंको सद्गति प्राप्त होती है।

कहना न होगा कि इस प्रसङ्गमें वात्सल्य-स्नेह-स्वरूपा श्रीयशोदा माताकी निरतिशय महिमा प्रकट की गयी है। देखनेमें यह श्रीकृष्णकी महिमा है : परन्तु इसमें यशोदा-माहात्म्यकी अन्तर्धारा है।

शकटासुर या जड़ाभिमान :

श्रीकृष्णने अविद्या-पूतनाका दूध पी लिया, विषकी उपेक्षा कर दी और उसे माताकी गति दे दी। देवकी सु-साधन है, यशोदा निस्साधन है, पूतना कु-साधन है। जीवनकालमें फलकी विविधता होनेपर भी अन्ततः सबकी एक ही गति है। अविद्याकी कार्य है जड़ता। शकटासुर जड़ाभिमानी है। श्रीकृष्ण हैं नीचे, शकटासुर है ऊपर। जड़से नीचे चैतन्यका स्थान अनुचित है। भगवान्‌के ऊपर दूसरा कोई नहीं हो सकता, उसमें भी दही, दूध, मक्खन आदिकी, रसोंकी स्थापना! श्रीकृष्णके चरण-स्पर्श मात्रसे ही यह जडोन्मुखता नष्ट हो गयी और उसपर रखे रसकी कल्पना भी मिट गयी। छकड़ा उलट गया। इस दृश्यमान प्रपञ्चमें न कुछ चेतन है, न जड़। भगवत्सम्बन्ध न होना ही जड़ता है और सम्बन्ध होना ही चेतनता। भगवच्चरण-सम्बन्ध होने मात्रसे ही वह पूज्य चेतन हो गया, ब्राह्मणोंको दान मिला, उनके आशीर्वाद सफल हुए।

तृणावर्त या काम :

तृणावर्त काम है। यह विश्वको तृणके समान उड़ा सकता है, नचा सकता है, गिरा सकता है। इसने श्रीकृष्णपर भी आक्रमण किया। बालक कृष्णने सहज स्वभावसे उसका गला पकड़ा। उसे भ्रम हुआ यह कहीं काला पत्थर तो नहीं है। पत्थरपर गिरा, टुकड़े-टुकड़े हो गया। कामके लिए पाषाणवत् हो जाना, उसे पाषाणपर पटक देना, वह अन्ततः पाषाण ही हो जायेगा। यह रजस् और तमस्-धूलि एवं अन्धकार लेकर आता है, गोकुलको व्याकुल करता है, अन्ततः कृष्ण ही उसका नाश करते हैं।

माँका स्नेह

माँ—स्नेहकी मूर्ति भगवान्‌को अपना शिशु मानकर गोदमें ले लेती है। किसको? जिसकी गोदमे सब हैं। अपना दूध पिलाती है, किसको? जो क्षीरसागरका स्वामी है और अपने संकल्पमात्रसे सकल प्राणियोंको उनके योग्य दूधके द्वारा पुष्टि देता है। स्नेह अमूर्त भाव होनेपर भी दूधके रूपमें व्यक्त हो जाता है। यह है माँका हृदय, स्नेहका अनन्त समुद्र। इस स्नेहका प्यासा है भगवान्, जिसकी प्यास अनन्त है। न प्यास हार मानती है न तृप्ति, दोनों एकसे एक बढ़कर हैं। ऐश्वर्य इसमें बाधक नहीं हो सकता। माताके स्नेहके उद्रेकमें रोक लगानेके लिए ऐश्वर्य-शक्ति आयी। मुखमें सम्पूर्ण विश्व है। तब क्या यह लालाकी लीला है? नहीं, नहीं, यह हमारी दृष्टिका भ्रम है। ये निगोड़ी आँखें क्या-क्या बनाती रहती हैं! स्नेहमयी माताने आँख बन्द कर लो।

नामकरण :

नाम क्या है ? जो रूप है। रूप क्या है ? जो नाम है। नाम और नामीमें भेद नहीं होता। एक ही स्वरूपकी दो अभिव्यक्तियाँ हैं। नाम-रूपके पहले जो था वही बादमें है। जो पहले और बादमें है, वही बीचमें है। गर्गाचार्यने स्पष्ट रूपसे कृष्ण ही नाम और कृष्ण ही रूप; दोनोंको एक करके नामकरण संस्कार किया।

निष्काम रसानुभूति :

वात्सल्यकी रीति निराली है। बालकके प्रति कामना और दोषदृष्टि नहीं होती। दोषसे वात्सल्यका ह्रास नहीं होता, गुणसे वात्सल्यकी वृद्धि नहीं होती। जैसे गोमाता अपने नवजात शिशुको अपनी जीभसे चाट-चाटकर स्वच्छ बनाती है और उसके शरीरमें लगे हुए मल-मूत्र-रक्त-पीबको भी चाट जाती है, इसी प्रकार वात्सल्य-स्नेहकी भावना शिशुके सारे दोषोंको आत्मसात् कर लेती है, न उसमें मलिनता है, न अपने होनेका भय। इतनी निष्काम रसानुभूति और किसी रसमें नहीं होती। उससे रक्षाकी अपेक्षा नहीं होती, रक्षा की जाती है। चोरी चालाकी-की बात सुनकर भी बालककी बुद्धि बढ़ रही है, यह सोचकर सन्तोष ही होता है। स्नेहमें दोषको गुण बनानेकी अप्रतिम क्षमता है।

चोर-चिन्तन :

भगवान्‌को भगवान् मानना, जो सम्पूर्ण विश्व-सृष्टिका स्वामी है, उसीको चोर भी कहना कितना असंगत है। चोर तो वे हैं जो भगवान्‌की सम्पत्तिको अपनी सम्पत्ति मानकर, भगवान्‌की सन्तानोंको ही उससे वंचित रखते हैं। फिर भी यह है भगवान्‌का प्रेम कि बलात् छीनते नहीं हैं, चोर बनकर, चोर कहलाकर, अपने भक्तोंको प्रसन्न करनेके लिए चोरीकी लीला रचते हैं। वेदोंने भगवान्‌को चोरोंका पति कहा है। कितना अच्छा होगा वह चोर, जिसके चोर बनके आनेसे और चोरी करनेसे मालिक और उसके घरवालोंको आनन्द मिलता हो। क्या गोपियाँ कृष्णको चोरी करते देखकर, खिलखिलाकर हँसती नहीं ? एक ओर तो 'चोर-चोर' कहकर आनन्द लेतीं और दूसरी ओर कंसके गुप्तचरोंसे कृष्णकी महत्ताका गोपन भी करतीं। वे निर्गुण-निराकर या सगुण-साकार वैकुण्ठनाथका चिन्तन नहीं करतीं। वे गाँवकी ग्वालिनें, चोरके रूपमें कृष्णका चिन्तन करतीं और यह था श्रीकृष्णका रूप = प्रमेयबल, जो चोरके रूपमें चिन्तन करनेपर भी चिन्तकको कल्याण-भाजन बना देता है। क्या परमात्मा अपने हृदयमें छिपा हुआ चोर नहीं है ? उसको प्रकट करना, चोर-चोर कहना, उसके रहस्य-ज्ञानका विस्तार है।

मृद्भक्षण-लीला

यशोदा माताकी श्रीकृष्णमें दृढ़ आसक्ति है। इसका लक्षण है—प्रपञ्च-विस्मरणपूर्वक स्नेहमयी श्रीकृष्णाकारवृत्ति। गोपियोंके द्वारा माखनचोरी, भाण्ड-भञ्जन आदि दोषारोपण करनेपर भी माताके मनमें पुत्रके प्रति दोष-दृष्टिका उदय नहीं हुआ। उसने सब कुछ सह लिया और दोषारोप करनेवाली गोपियोंके

हृदयमें भी प्रेमका दर्शन किया। गोपियोंके द्वारा किये हुए दोषारोपमें भी पुत्रके नवनीतास्वादन और चातुरी-विशेषकी कल्पनासे माताके मनमें एक प्रकारकी तृप्तिका उदय हुआ। ठीक इसीके बाद मृद्भक्षण-प्रकरणके उल्लेखका यह आशय है कि जहाँतक पुत्रके हितकी कल्पना है, वहाँतक तो रोष नहीं है, प्रत्युत सन्तोष है। परन्तु जहाँ मृद्भक्षणसे शारीरिक रोगरूप दोषोत्पत्तिकी सम्भावना है, वहाँ रोषका उदय भी है। ये दोनों वात्सल्यके ही विलास हैं। कभी-कभी मारमें भी रोष और ताड़नाकी अपेक्षा अधिक स्नेह-वात्सल्य ही रहता है।

श्रीवल्लभाचार्यके इस प्रकरणको ग्यारह श्लोकोंमें वर्णन करके यह सूचित किया गया है कि मनकी ग्यारह वृत्तियोंको निर्दोष करनेके लिए प्रत्येक श्लोकमें एक नवीन ज्ञानका उद्रेक हुआ है। दोष, उसकी निवृत्तिके लिए प्रयत्न, संवाद, आरोपका खण्डन, विषयज्ञानपूर्वक ज्ञानका उत्कर्ष, भय और अन्ततः भीतकी शरणागति। गोपियोंके दोषारोपणमें दर्शन-प्रेमकी प्रधानता है और गोपोंके दोषारोपणमें हित-प्रेमकी। माखनचोरीके उपालम्भकी लीलाके अनन्तर मृद्भक्षणके उल्लेखका यह आशय है कि बाह्य जगत्के कर्म, भोग एवं उपालम्भका फल भी रजोगुण ही है अथवा धूलि-चर्वणके समान ही है। श्रीकृष्णकी सूचना है कि उन सबसे अच्छा तो यह धूल खाना ही है।

मृद्भक्षणकी सूचना क्यों ?

प्रश्न यह होता है कि ग्वाल-बालोंने श्रीकृष्णके मृद्भक्षणकी सूचना यशोदा माताको क्यों दी? इसके उत्तरमें निवेदन है कि गोप-बालक श्रीकृष्णके साथ समानताका भाव रखते हैं; क्योंकि इसके बिना सख्यरसकी पुष्टि नहीं होती। इसीलिए वे जैसे अपना दोष देखनेके अधिकारी हैं, वैसे ही श्रीकृष्णके भी। पाँच वर्षकी अवस्थातक माता ही ताड़ना दे सकती है, इसलिए मातासे निवेदन किया। माखनचोरीके उलाहनेमें वात्सल्य-रसका विशेष आस्वादन है और मृद्भक्षण-लीलामें विस्मय-रसका। 'सिद्धान्त-प्रदीप'कारका कहना है कि गोपियोंके उलाहनेपर माताने दण्ड नहीं दिया तो श्रीकृष्णके मनमें यह विचार हुआ कि माता दण्ड नहीं देगी तो उसके वात्सल्यकी सम्पूर्ण अभिव्यक्ति नहीं होगी। भगवान्‌को भक्तकी परवशता चाहिए। इसीमें उनका रस है। मृद्भक्षणके प्रसंगमें माता शिशुके आरोग्यार्थ दण्ड देनेका संकल्प करती है। सूचना देनेवाले ग्वाल-बालोंका भी सख्यभाव वात्सल्य-मिश्रित ही है; क्योंकि मूलमें बलरामका नाम लिया गया है। वे बड़े भी हैं और सखा भी हैं।

मृद्भक्षण क्यों ?

श्रीकृष्णके लिए नवनीत और मृत्तिका—दोनों एक ही हैं। दोनों पृथिवीके ही दो रूप हैं। पृथिवीके घर आये हैं, पृथिवीका अंश खायेंगे। तब क्या, पृथिवीका उत्कृष्ट अंश मक्खन खायें और साधारण अंश धूल न खायें—ऐसा नहीं हो सकता। मीठा-कड़वा दोनों प्रिय हैं; क्योंकि अपने प्रियके हैं। ग्वाल-बालोंने अपने मनमें सोचा कि अबतक ये रसा (पृथिवी) के रसमय अंशका आस्वादन करते थे, तब तो हम लोगोंको

साथ रखते थे, अब इस साधारण अंश—धूलिके सेवनमें हमारा प्रतारण क्यों किया ? इसलिए चलकर मातासे कहना चाहिए । बलरामने कहा—'आये हो पृथिवीका भार हरने । ठीक है, ब्रह्माने कहा था—भू-पराग हरण करो, परन्तु कन्हैया मैया ! तुमने सन्धि-विच्छेद ठीक नहीं किया । भू (पृथिवी)का पराग (धूलि) नहीं था, लेकिन भू + उपराग (संकट) था । कहीं धूल खानेसे भार दूर होगा ?'

श्री हरिसूरिकी उत्प्रेक्षाओंके कुछ और नमूने लीजिये । कृष्ण हैं विधाताके पिता । पुत्रने कहा—पिता जी ! मेरा मनोरथ पूर्ण करो । श्रीकृष्णने पृथिवीका कुछ अंश लेकर अपने दाँतरूप द्विजोंको दान किया । ब्राह्मणोंको दान करनेसे इष्ट-पूर्ति होती है । यहाँ 'द्विज' शब्दका अर्थ है—'दो बार जन्म लेनेवाला' । जैसे—पक्षी, दाँत और द्विजाति । दाँत और द्विजाति भगवान्‌के मुख्य हैं ।

स्निग्ध, घृत, दधि, नवनीतादि पदार्थोंका भक्षण करके अशेष स्निग्धताका मार्जन करनेके लिए हाथोंमें मिट्टी लगानेकी प्रथा शिष्ट-सम्मत है । सम्भव है विश्वमुख प्रभुने यही सोचकर मृद्-भक्षण किया हो ।

श्रीकृष्णने पूतनाके स्तनमें प्रबल विषका पान किया था । अब उसकी शान्तिके लिए थोड़ी-सी अल्पहानिकरी धूलिका सेवन कर लिया । क्यों न हो—विष ही विषका महौषध है ।

श्री हरिसूरिने क्या ही मनोहर भाव प्रकट किया है—

यत् स्पृह्यं त्रिदशैरलभ्यमसता ध्येयं च यद्योगिनां
प्राप्तं स्यात्किसु तद्व्रजो व्रतगतं गोगोपिकापादगम् ।
इत्थं भूरि निजोदरस्थजनसद्वाञ्छां चिरं चिन्तयन्
मन्ये पूर्णदयार्णवः किमकरोत्तद्भक्षणं तत्कृते ।।

प्रभु पूर्ण दयार्णव हैं । उनके उदरमें अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड और उनमें अगणित भक्त-वृन्दका निवास है । भक्तोंके मनमें इच्छा रहती है कि हमें व्रजकी गायों और गोपियोंके चरणोंकी धूलि मिल जाय; क्योंकि वह देवताओंको भी वाञ्छनीय है, दुष्टोंके लिए दुर्लभ है और योगियोंके लिए ध्येय है । उनकी इस चिर-कालीन वाञ्छाको ध्यानमें रखकर ही प्रभुने मृद्भक्षण किया ।

श्रीकृष्णने अपने मनमें विचार किया कि आगेकी लीलामें मुझे अनेक रजोगुणी कार्य करने हैं, इसलिए व्रजरजका भक्षण करके रजोगुणका संग्रह कर लेना चाहिए ।

पृथिवीका एक मनोहर नाम है—'रसा । श्रीकृष्णने अपने मनमें सोचा कि मैंने 'रसा'का रसास्वादन नहीं किया तो क्या किया ! इसी भावसे मृद्भक्षण किया ।

क्या ही सुन्दर भाव है कि श्रीकृष्णने अपने हृदयमें विचार किया कि मेरे सखा ग्वाल-बाल मेरे साथ निर्मर्याद व्यवहार करते हैं । खेल-खेलमें मेरा अपमान भी कर देते हैं । ऐसी स्थितिमें क्षमा धारण किये बिना मेरी लीला नहीं बन सकती । इसी भावसे उन्होंने मृद्भक्षणके व्याजसे क्षमाको धारण किया । क्षमा

शब्दका अर्थ है—अपकारका बदला लेनेका सामर्थ्य रखनेपर भी सह लेना और पृथिवी। संस्कृतमें इसका रस लीजिये—

विशृङ्खल-विहारिणो मदवमानचेष्टाजुषो,
भवन्ति शिशवोऽखिला अपि तदत्र मत्क्रीडनम्।
क्षमांशविधृतिं विना नहि भवेत्स्वभक्तेष्विति,
प्रभुः किमु चकार तत्कृतितया क्षमाधारणम्॥

अपने मुखमें विश्वसृष्टि दिखानी है। रजोगुणके बिना सृष्टि हो नहीं सकती। इसलिए रजस्का संग्रह किया।

रज और रज।

मैं अपने भक्तोंका केवल आदर ही नहीं करता, उनके चरणोंकी धूल भी अपने मुखमें धारण करता हूँ और मुख्य बनाता हूँ। 'मुख्य' शब्दका दोनों अर्थ है।

एक विलक्षण भावकी अनूठी छटा देखिये—

यन्निष्कामतया तपो महदिमे कुर्वन्ति तेनारयः
कंसाद्या भृशमुन्मदाः समभवन्नेवं विचिन्त्याऽच्युतः।
संकल्पे रिपुघातसुष्ठुफलके योक्तुं तथा तान् द्विजान्
मृत्स्नाभक्षणकैतवादिह रजोयुक्तानकार्षीत् किमु॥

भगवान्ने विचार किया कि आज द्विजगण निवृत्तिपरायण होकर निष्काम भावसे महान् तपमें संलग्न हैं। यही कारण है कि कंस आदि दैत्यगण अत्यन्त उन्मत्त हो गये हैं। अब इन द्विजोंके मनमें भी दैत्योंके संहारका संकल्प उदय होना चाहिए, तभी सफलता मिलेगी—यही सोचकर मृद्भक्षणके व्याजसे भगवान्ने द्विजोंको रजोयुक्त कर दिया क्या? मुख ब्राह्मण है और 'द्विज' शब्दका अर्थ दाँत और ब्राह्मण दोनों है।

जिसका कल्याण चाहते हो, उससे ब्राह्मणोंको कुछ दान करवाना चाहिए। उचित ही है कि पृथिवीका कुछ अंश भगवान्ने अपने ब्राह्मण—मुखको दान किया। परशुरामावतारमें भी तो ब्राह्मणोंको पृथिवी-दान किया था।

भगवान्से भक्त जितना प्रेम करते हैं उतना ही भक्तोंसे भगवान्। दोनोंको दोनोंकी चरणधूलि प्यारी है।

समदर्शी महापुरुषकी दृष्टिमें उत्तम एवं अधम वस्तुओंमें कोई भेद नहीं है। मानो यही व्यक्त करनेके लिए श्रीकृष्णने मक्खनके समान ही मिट्टीको स्वीकार किया—

समदृष्टेर्विशेषोऽस्ति नोत्तमाधमवस्तुनि।
व्यञ्जयन्निति स श्रीशो गण्यवन्मृदमाददे॥

यशोदाने हाथ ही क्यों पकड़ा ?

मैयाने जान लिया कि अन्ततः मृद्भक्षण हाथसे ही तो किया होगा ? चोरका सहायक भी चोर। इसलिए हितभावनासे प्रेरित नेत्रोंसे देखकर यशोदाने हाथ पकड़ लिया।

नेत्र भयभीत क्यों ?

भगवान्‌के नेत्रोंमें सूर्य और चन्द्रमाका निवास है। उन्होंने श्रीकृष्णको मृद्भक्षण करते देखा था। वे यह सोचकर व्याकुल हो गये कि ये तो मृत्तिका खाकर भी न जाने क्या कह देंगे, हम लोगोंकी क्या गति होगी ?

अस्वीकार क्यों किया ?

'नाहं भक्षितवान्०'—इस श्लोककी व्याख्यामें कोई-कोई 'नाहम्' शब्दकी व्युत्पत्ति बन्धनार्थक 'नह्' धातुसे बतलाते हैं। उसका अर्थ है—बन्धन, प्रपञ्च। श्रीकृष्ण कहते हैं कि मैं समूचे प्रपञ्चको ही खा गया तो मिट्टीकी क्या चर्चा ?

'सर्वे मिथ्याभिशंसिनः०'—इसका पदच्छेद भी दो प्रकारसे किया जाता है—मिथ्या और अमिथ्या। श्रुतिने परमात्माको 'अनश्नन्' और 'न तदश्नाति' अर्थात् अभोक्ता कहा है। इसलिए भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि मैया! मुझे मिट्टीका भोक्ता कहनेवाले मिथ्याभाषी हैं। अथवा श्रीकृष्ण मैयाके अनन्त वात्सल्यके सम्मुख अपने ऐश्वर्यको भूल जाते हैं और भयवश कहते हैं कि ग्वालबालोंने मुझे मिथ्या कलङ्क लगाया है। 'अमिथ्या' पदच्छेदके पक्षमें यह अर्थ है कि मृत्तिका पहलेसे ही मेरे मुखमें है, इसलिए इनका कहना अमिथ्या अर्थात् यथार्थ ही है। इसका यह भी अभिप्राय है कि बलरामजीके वात्सल्य-मिश्रित सख्यसे भयभीत होकर उनके कथनको यथार्थ रूपसे स्वीकार कर लेते हैं। इसमें क्या आश्चर्य है कि जब सच्चिदानन्दघन ब्रह्म शिशुके रूपमें प्रकट हुआ तो शिशु-सुलभ स्वभावसे मिट्टी खा ले और उसके बारेमें बड़े-बूढ़ोंके सम्मुख 'नाहीं' कर दे।

'सत्यगिरः' पदका भी तीन प्रकारसे अर्थ किया जाता है। १. 'माता! यदि तुम ग्वालबालोंको ही सत्यवादी मानती हो तो प्रत्यक्षमें मेरा मुख देख लो।' इसका अभिप्राय यह है कि सभी लौकिक विषयोंमें शब्दकी अपेक्षा प्रत्यक्षको प्रबल प्रमाण माना जाता है। केवल अतीन्द्रिय विषयोंमें ही शब्दकी प्रबलता है। अभिप्राय यह कि तुम अपनी आँखोंसे मेरे मुखकी जाँच कर लो, लोगोंकी बातोंमें क्यों आती हो ? २. 'सत्यगिरः' 'मे'का विशेषण है, अर्थात् मैं सत्यवादी हूँ और प्रमाणके रूपमें मेरा मुख देख लो। श्रुतिका कहना है कि यदि दो विवादी एक साथ आवें और एक कहे कि मैंने सुना है; दूसरा कहे कि मैंने देखा है तो सुनी-सुनायी बातकी अपेक्षा देखी बातका मूल्य अधिक होता है। मेरे खाने-न-खानेके सम्बन्धमें दूसरोंकी सुनी-सुनायी बातकी अपेक्षा मेरे अनुभवकी बात अधिक प्रामाणिक है। तुम मेरा मुँह देख लो। हाथ कंगनको आरसी क्या ? मैं तुम्हें ही प्रत्यक्ष अनुभव कराये देता हूँ। ३. 'सत्यगिरः' अर्थात् हे सति!

'यदि अगिरः गीर्षु असामञ्जस्यं तर्हि मे समक्षं मुखं पश्य।' अर्थात् मैया! यदि मेरे वचनमें असंगति है, मैं एक ही बातको कभी मिथ्या और अमिथ्या, वस्तुतः अनिर्वचनीय बतलाता हूँ तो तू प्रत्यक्ष ही मेरा मुख देख ले; अर्थात् स्वयं अपरोक्ष अनुभव कर ले। प्रपञ्चके समान ही व्यवहार-दृष्टिसे मेरा भोक्तापन अमिथ्या अर्थात् यथार्थ है और तात्त्विक दृष्टिसे मिथ्या है। यह बात तेरे स्वयंके अनुभवके बिना स्पष्ट नहीं होगी, इसलिए मेरा मुख देख ले।'

बालकृष्णके मनमें एक यह भी बालोचित चातुर्य है कि पहली बार मेरे मुखमें विश्व देखकर माताने नेत्र बन्द कर लिये थे, अब मुख-दर्शनकी बातसे, पूर्व-घटनाका स्मरण हो आनेसे माता मुख नहीं देखेगी। परन्तु स्नेहाधिक्यके कारण यशोदाको वह प्रसङ्ग विस्मृत हो गया था, इसलिए उसने आज्ञा दे दी कि अच्छा, मुख खोलकर दिखाओ।

मुखमें विश्वदर्शन क्यों?

पूर्व प्रसङ्गमें यह लीला आ चुकी है कि जब यशोदा मातासे श्रीकृष्णको दूध पिलाते-पिलाते उनके मुखमें विश्वका दर्शन कर लिया, तब उनके नेत्र बन्द हो गये। ऐश्वर्यके सम्मुख वात्सल्य संकुचित तो हुआ, परन्तु फिर दिन-दूना रात-चौगुना वृद्धिगत होने लगा। श्रीकृष्णने अपने मनमें विचार किया कि अखिल विश्वविलासके दर्शनसे मैयाकी पुण्यराशि नटीके समान नृत्य करने लगी है। इस उल्लास और विलासके प्रसङ्गमें मुझे भी उसके सम्मुख मुख-विकास करना चाहिए। इसीसे मानो कृष्णने माँके सम्मुख अपना मुख खोल दिया हो। क्या ही सुन्दर द्रुतविलम्बित है—

सकल - विश्वविलासविलोकनोल्लसितपुण्यमयीयमिहाधुना।
अजनि तत्पुरतस्तु ममोचितो मुखविकास इति व्यकरोत्तथा॥

और देखिये—यद्यपि श्रीहरिने अपने मुखरूपी अम्बुजात (जलराशि अथवा कमल)में रजःप्रक्षेप किया था तथापि वहाँ पङ्ककी उत्पत्ति नहीं हुई। इससे यह प्रकट किया—ब्राह्मण-मुख निसर्ग-शुद्ध हैं और उनमें पाप-प्रक्षालनकी शक्ति है। और भी, हे जननी! मुख अविनाशी अभोक्तामें मृद्भक्षण मिथ्या ही आरोपित है। देख लिया न तुमने! ठीक इसी प्रकार गोपियोंने भी झूठ-मूठ ही मुझपर माखन-चोरीका कलङ्क लगाया था।

अनशनेऽपि मयीह यथा वृथा जननि रोपितमस्ति मृदोऽशनम्।
गणय तादृशमेव पुराऽबलेरितमिति प्रथयन्नमृदाननः॥

भगवान् श्रीकृष्णने विचार किया कि पहले-पहल वेदोंने ही लौकिक व्यवहारमें मेरा भिन्न-भिन्न विषयोंके रूपमें निरूपण किया है, अब फिरसे गोकुल-वृत्ति गोपियोंने भी मुझपर प्रौढ़ोवादसे उपालम्भ योग्य कलंकका आरोप कर दिया है। यह सब होनेपर भी माता यशोदाकी बुद्धि किञ्चित् भी संक्षुब्ध नहीं हुई और न उसका भाव ही शिथिल हुआ। इसलिए अब उसे सम्पूर्ण जगदाधारके रूपमें अपना दर्शन देना

उचित है। इसी भावसे श्रीकृष्णने मुखमें विश्वका दर्शन कराया। आरोपित भेदका अपवाद हो गया। श्रीकृष्ण ज्यों-के-त्यों। श्रीहरिसूरिकी निरूपण-चातुरी देखिये—

आम्नायैर्भुवि भिन्नभिन्नविषयं संप्रापितोऽपि प्रभु-
भूयो गोकुलवृत्तिभिः पुनरसौ सोल्लुण्ठमाभाषितः।
यद्बुद्धिर्न मनागभूत्तदपि संक्षुब्धा न वा प्रस्खलद्-
भावाऽशेषजगत्स्वरूपकलनं तस्यास्तु तत्साम्प्रतम्॥

यशोदा मैयाने डाँटा—तुम्हारे दाऊदादा और ग्वालबाल कहते हैं कि तुमने मिट्टी खायी है, इसपर भी तुम बार-बार कहते जा रहे हो कि मैंने नहीं खायी है। मैं तुम दोनोंमें किसपर विश्वास करूँ? माँकी यह वाणी सुनकर श्रीकृष्णने उसके संशयका निवारण करनेके लिए अपने मुखमें स्पष्ट रूपसे विश्वास्यताका दर्शन कराया। विश्वासपात्रको विश्वास्य कहते हैं। जिसके आस्य अर्थात् मुख हो उसको भी विश्वास्य कहते हैं।

भुक्तामृद्भवतेति गोपशिशवो जल्पन्ति रामादयो
नेति त्वं भणसीति तत्र कतमो विश्रम्भणीयो मया।
इत्थं मातृगिरं निशम्य भगवांस्तत्संशयोच्छित्तये
स्वास्ये स्पष्टमदर्शयत् किमु तदा मुख्यां सविश्वास्यताम्॥

मैया! ये ग्वालबाल मेरा ही नाम लेकर कह रहे हैं कि 'मैंने मिट्टी खायी—मिट्टी खायी, परन्तु यह सोलहों आने झूठ है। मैंने मिट्टी खायी है तो सबने मिट्टी खायी है। देख ले, सब मेरे मुँहमें बैठे हैं कि नहीं।' क्या कृष्णने इसी भावसे अपने मुखमें विश्व दिखाया?

मामेव तूद्दिश्य वदन्ति सर्वे मातस्तदत्यन्तमृषैव यस्मात्।
भुक्ता मया चेदखिलैरपीति सम्बोधयन् विश्वमदर्शयत्किम्॥

जब श्रीकृष्ण बालकोंके साथ बालक-जैसे होकर क्रीडा कर रहे थे तब मिट्टी खाकर उन्होंने बाल-चरित प्रकट किया। परन्तु जब बालकोंने यशोदा मातासे उनसे अपनेसे अलग होनेका वर्णन कर दिया, तब वे स्वतन्त्र भावसे आत्मचरित्र अर्थात् विश्वरूपका प्राकट्य दिखाने लगे।

तत्सावर्ण्यमवाप्य गोपशिशुभिः सक्रीड आसीद्यदा
तन्मृत्स्नाशनतश्च बालचरितं व्यक्तीचकाराऽच्युतः।
शंसद्भिः प्रसुवे यदा शिशुजनैः स्वातन्त्र्यमाप्रापितो
विश्वात्मा स तदाऽऽत्ममात्रचरितं चक्रे स्फुटं साधु तत्॥

मुखमें ही क्यों?

भिन्न-भिन्न भक्तोंने मेरे भिन्न-भिन्न नाम-रूपोंका भिन्न-भिन्न भाँतिसे अनुध्यान किया है। परन्तु उनमें जो सबकी अपेक्षा प्रमुख अथवा मुख्य है, वही जननीको दिखाना चाहिए। इसीसे कृष्णने कौतुकवश माताको

मुखमें ही विश्वका दर्शन कराया। अन्यथा अर्जुनके समान माताको भी अपने शरीरमें ही विराट् रूपका दर्शन क्यों नहीं कराया ?

तत्तद्भक्त विभावितानि बहुशो रूपाणि सन्त्येव मे
यत्तत्र प्रमुखं तदद्य जननीं संदर्शयाम्यञ्जसा।
मन्येऽसौ मुख एव विश्वविभवं प्रादर्शयत्कौतुकान्
नो चेदर्जुनवद् व्यदर्शि न कुतः स्वाङ्गे विराडात्मता॥

श्रीकृष्ण ब्राह्मण-भक्त हैं। वेदवेदी ब्राह्मणके शरीरमें सब देवता, सारे तीर्थ और तो क्या, सम्पूर्ण विश्व निवास करता है। इस वेदसिद्ध ब्राह्मण-महिमाको विशद करनेके लिए ही मानो, उन्होंने अपने ब्राह्मण-मुखमें निखिल विश्वका दर्शन कराया।

यावत्यो देवतास्ता विदधति वसतिं ब्राह्मणे वेदवेदि-
न्यारात्तीर्थानि कृत्स्नान्यपि किमु बहुना सर्वमेवापि विश्वम्।
इत्थं वेदोपपाद्यं विशदयितुमिह ब्राह्मणानां महत्त्वं
स्वास्ये कृष्णेन विश्वं निखिलमपि तदा ब्राह्मणात्मन्यदर्शि॥

माताने पूर्व जन्ममें धरा (द्रोणवसुकी पत्नी)के रूपमें प्रार्थना की थी कि मुझे तुम्हारे अनुरूप पुत्र-जन्मका सुख मिले। श्रीकृष्णने अपने मुखमें धरा (पृथिवी)का अंश धारण करके यही स्मरण कराया कि तुम्हारी उसी प्रार्थनाको पूर्ण करनेके लिए मैं उसी मुख्य रूपमें आया हूँ। सम्भव है भगवान्‌का यही आशय हो।

संस्कृत भाषामें पृथिवीका एक नाम गौ भी है। प्रभुने पृथिवीके अंश धूलिकी प्रधानतासे मुखमें विश्वका दर्शन कराकर मानो यह सूचित किया कि गौको आगे करके ही मुझे विश्वकी रक्षा करनी है।

इस संसारके गुरु (विशाल) काननमें जो वस्तु कहीं देखी-सुनी नहीं गयी, वही श्रीकृष्ण-कृपासे यशोदा माताको बालकानन अर्थात् बालकके मुखमें अथवा छोटे-से वनमें दीख गयी, क्या आश्चर्य है ? प्रभुने अपने मुखमें विश्वका दर्शन दिखाकर यह प्रकट किया कि सृष्टिके पूर्व और पश्चात् मेरा जो निर्विकार रूप है वेदोक्त, वही नाम-रूपकी कल्पना होनेपर भी ज्यों-का-त्यों ही निर्विकार रहता है, उसमें कोई अन्तर नहीं पड़ता। इसीसे नामकरणके पूर्व अपने मुखमें विश्वका दर्शन कराया और मिटाया। जिससे नामकरण होने पर कोई विकारी न समझ ले।

दो बार विश्वदर्शन क्यों ?

गुरुदेवका यह स्वभाव है कि जबतक शिष्यकी बुद्धिमें दृढ़तत्त्व निष्ठाका उदय न हो जाय, तबतक बार-बार उपदेश करता रहे। इसमें एक या अनेक बारका नियम नहीं है। निश्चय ही श्रीकृष्ण अनुग्रह-सम्प्रदायके सद्गुरु और करुणा-पयोनिधि हैं। इसीलिए उन्होंने यशोदाके दृढ़बोधकी उत्पत्तिके लिए बार-बार अपने मुखमें विश्व-दर्शन कराया।

यावत्तत्त्वमतिः सती समुदयत्यन्ते वसन्तं गुरु-
स्तं तावत्समुपादिशेन्न नियमस्तत्रासकृद्वा सकृत् ।
मन्येऽनुग्रहसम्प्रदायगुरुणा कारुण्यदुग्धाब्धिना
सञ्चिन्त्यैवमदर्शि विश्वमसकृत् तत्तत्त्वधीकारणात् ॥

यशोदाका मोह कैसे दूर हुआ ?

दर्पणका स्वभाव है—सब कुछ दिखा देना, परन्तु वह अपने स्वरूपको नहीं दिखा सकता, न देख सकता। यहाँ तो श्रीकृष्णके मुख-दर्पणमें स्वयं श्रीकृष्ण और उनका मुख भी दीख रहा है। यह आश्चर्य देखकर यशोदा माता अपने आप ही समझ गयीं कि यह तो प्रकाशान्तर-निरपेक्ष स्वयं प्रकाश आत्मदेव ही हैं। इसलिए उनका मोह निवृत्त हो गया।

सर्वदर्शनचणोऽपि दर्पणः स्वस्वरूप-कलने ह्यनीश्वरः ।
अत्र तद्युतमवेक्ष्य तन्मुखं युक्तमात्ममतिराशु साऽभवत्

वैष्णवी मायाका विस्तार क्यों ?

श्रीकृष्णने अपने मनमें विचार किया कि थोड़ी-सी तो मैंने मिट्टी खायी, इससे माताकी बुद्धि व्याकुल हो गयी। अब देख लिया इसने सम्पूर्ण विश्व मुखमें; तो अवश्य ही मूर्च्छित हो जायगी। इसलिए माताको सावधान रखनेके लिए श्रीकृष्णने अपनी मायाका विस्तार कर दिया।

अत्यल्पभूमिशकलादनमाविशङ्क्य सम्भ्रान्तधीरियमभूत्पुनरद्य विश्वम् ।
साक्षादवेक्ष्य भविताऽनवधानशालिन्येतद्धिया विभुरसावतनोत्स्वमायाम् ॥

यह ध्यान रखने योग्य है कि यह माया विमुखजन-मोहिनी नहीं है, स्वजन-मोहिनी है। इसलिए इसका विशेषण दिया है—'पुत्रस्नेहमयी'। यह भगवान्‌के सामीप्य और प्रेमको बढ़ाती है। विमुखजन-मोहिनी माया भगवान्‌से दूर और विमुख करती है, उसका प्रयोग दैत्योंपर होता है। स्वमोहिनी स्वयं श्रीजी हैं, जिन्हें देखकर स्वयं श्रीकृष्ण भी मोहित हो जाते हैं।

भगवान्‌ने विचार किया कि किसी विशेष प्रयोजनकी पूर्तिके लिए मैंने माताको मुखमें विश्वरूप दिखाया। यदि इस रूपकी स्फूर्ति सर्वदा बनी रहेगी तो न इसके हृदयमें वात्सल्य-स्नेह रहेगा और न मुझे माताका लाड़-प्यार ही मिल सकेगा। यही सोचकर अप्रतिहत लीलाशाली भगवान् श्रीकृष्णने यशोदाके मनमें प्रेममयी महावैष्णवी मायाका सञ्चार कर दिया।

किञ्चित्कार्यवशाददर्शि वदने यद्विश्वरूपं मया
तत्स्फूर्तिः समवस्थिता यदि सदैवास्यां ततश्चिन्तितः ।
अर्थो नैव भवे मनागपि ममेत्यालोच्य मन्येऽच्युतः
चित्तेऽसावतनोदकुण्ठचरितो मायां महावैष्णवीम् ॥

यशोदा धन्य क्यों ?

लोकपितामह ब्रह्मा जिनके पुत्र हैं और जगदम्बा, जगद्धात्री, महामाया जिनकी पत्नी हैं, उन्हीं परमेश्वरको अपना पुत्र माननेवाली यशोदाकी धन्यता स्वतः सिद्ध है।

पितामहोऽपि यत्पुत्रो जगद्धात्र्यपि यत्प्रिया।
तमीशमात्मजं मन्यमानाया धन्यताऽऽर्थिकी॥

जिसके नामसे ही निरतिशय अमृतका रसास्वादन प्राप्त होता है, जो स्वयं अमृतस्वरूप हैं, बड़े-बड़े ऋषि-मुनि ध्यान-दानादिके द्वारा जिनकी सेवा करते हैं अमृत-तत्त्वकी प्राप्तिके लिए, वही प्रभु अपने मुख्य-रूपका मूल्य चुकाकर जिसके स्तनका दूध पीते हैं, उस यशोदा माताके सुकृतकी सीमा अनुपम है, इसमें क्या सन्देह।

नाम्नैवामृतमुत्तमं दिशति यो यश्चामृतात्मा स्वयं
सेवन्तेऽप्यमृतार्थमेव मुनयो यं ध्यानदानादिभिः।
स श्रीशो निजमुख्यरूपममलं तन्मूल्यमाकल्पयन्
यत्स्तन्यं पिवति स्म भुष्यनुपमा तत्पुण्यसीमा स्फुटम्॥

अहो भाग्यम्! अहो भाग्यम्!!

यं चिन्वन्ति चिरन्तना मुनिवरा बुद्धयैकबोध्याध्वनि
यज्जातोऽपि न वेद वेदनिवहोऽप्यद्यापि तत्त्वार्थतः।
स श्रीमान् जगदादिहेतुरपि सानन्दोऽपि पुत्रात्मना
स्वैरं क्रीडति यत्र तद् व्रजजुषां भाग्यं किमाचक्ष्महे॥

चिरन्तन मनीषी मुनिजन चिरकाल तक सूक्ष्मवुद्धि द्वारा बोधगम्य मार्गमें जिनका अनुसन्धान करते रहते हैं; जिनके द्वारा प्रकाशित वेदसमूह आजतक तात्त्विक रूपमें अपने प्रकाशकको नहीं ढूँढ़ सका वही जगदादिकारण परमानन्दस्वरूप श्रीमान प्रभु पुत्र होकर जहाँ स्वच्छन्द क्रीड़ा करते हैं, उस ब्रजमें रहनेवाले प्राणियोंके सौभाग्यका हम क्या वर्णन करें!

उलूखल बन्धन-लीला :

ब्रिटिश शासनकालमें बंगालके सुप्रसिद्ध रंग-मञ्चपर 'नील-दर्पण' नाटकका अभिनय किया जा रहा था। उस दृश्यमें नीलके व्यापारी गोरे साहब गरीब जनतापर कैसा अत्याचार-अनाचार करते हैं; यह दिखलाया गया था। दर्शकोंकी श्रेणीमें विश्व-विश्रुत विद्वान् श्रीईश्वरचन्द्र विद्यासागर बैठे हुए थे। अभिनय देखते-देखते उन्हें यह विस्मृत हो गया कि यह नाटक है। वे क्रोधसे तिलमिलाकर मञ्चपर चढ़ गये और अंग्रेज बने अभिनेताको जूतेसे पीटने लगे। पर्दा गिरा। वे शान्त होकर अपने स्थानपर बैठ गये। नाटकके व्यवस्थापकने मञ्चपर आकर दर्शकोंके सम्मुख भाषण किया—कि आज हमारी अभिनय-कला धन्य-धन्य हो

गयी, विद्यासागर-जैसे महान् विद्वान् इस दृश्यके नाटकपनको भूल गये और सत्य समझकर अभिनेता नटपर प्रहार कर बैठे। धन्य है कला और धन्य है दर्शककी तन्मयता !

प्रपञ्चका विस्मरण और भगवान्‌में तन्मयता यही लीलाका प्रयोजन है। यह प्रपञ्चका लय करती है और भगवान्‌में लीन करती है। जहाँ स्वयं भगवान् ही लीलानायक हों, उस लीलाकी पूर्णतामें कोई सन्देह नहीं हो सकता। वहाँ प्रपञ्चका विस्मरण हो जाय, भगवान्‌की भगवत्ता भी भूल जाय, हम उनकी लीलामें तन्मय हो जायँ, यह कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। यहाँ हम इतना स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि भगवान्‌की लीलाके प्रतीकार्थ निकाले जा सकते हैं परन्तु वस्तुतः भगवान्‌की लीला प्रतीक नहीं होती। निराकारका साकार प्रतीक होता है। परोक्षका प्रत्यक्ष प्रतीक होता है। अज्ञातका ज्ञात प्रतीक होता है। परन्तु जो सर्वात्मा, सर्वस्वरूप है वह लीलाधारी और लीला भी है। अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है। सुनार भी वही, सोना भी वही। अतएव भगवान्‌की लीला भगवत्स्वरूप ही होती है और उसमें तन्मयता भगवत्स्वरूपापत्ति ही होती है। उस रस-कल्लोलमें उन्मज्जन-निमज्जनके अतिरिक्त उसका कोई अन्य प्रयोजन या फल नहीं होता। भगवान् स्वयं सब फलोंके फल हैं। उनकी लीला भी वैसी ही है। वह गौण हो और उसका फलितार्थ मुख्य—यह कल्पना ठीक नहीं है। उल्लसित रसका ही नाम लीला है। यह भगवन्मय भगवद्-विलास है। अविद्यामूलक बन्धनकी निवृत्तिके अनन्तर ही इसका यथार्थ अनुभव होता है।

आइये, मेरे साथ गोकुलमें चलिये। भले ही आप अन्तर्देशके निभृततम प्रदेशमें प्रवेश करके नितान्त शान्त स्थितिमें विराजमान हों। आइये, एकबार एकान्तकान्तारका शून्यप्रदेश छोड़कर, जहाँ गौएँ—इन्द्रियाँ घूम-फिरकर विषय-सेवन करती हैं, वहीं उन्हींके बीचमें, उन्हीं विषयोंमें, निराकार नहीं साकार, अचल नहीं चञ्चल, कारण नहीं कार्य, विराट् नहीं शिशु, गम्भीर नहीं स्मितसुन्दर, जगन्नियन्ता नहीं यशोदोत्सङ्ग-लालित, साक्षात्परब्रह्मका दर्शन करें। यह ब्रह्मका प्रतीक नहीं है, साधन करके ब्रह्म नहीं हुआ है, अविद्यानिवृत्ति करके ब्रह्मानुभूति नहीं प्राप्त की है, यह ब्रह्मका अवतार नहीं है, यह आचूल-आपादमूल शिशु-ब्रह्म है—इसके दर्शन कीजिये।

अभी-अभी यशोदा माता इस शिशुके मुखमें विश्व-दर्शन करके चकित-विस्मित हो चुकी हैं। श्याम-ब्रह्मने सोचा—कहीं मेरी माँ मुझे सिंहासनपर बैठाकर चन्दनमाल्य अर्पित न करने लगे, आरती न उतारने लगे, इसलिए 'मैया-मैया' कहकर गलेमें दोनों हाथ डाल दिये, हृदयसे मुख लगा दिया। माता सब कुछ भूलकर दुग्धाकार-परिणत हार्दस्नेह-रसका पान कराने लगी। पहलेका विश्वरूप विस्मृतिके गर्भमें लीन हो गया। ऐश्वर्य अन्तर्धान हो गया। शैशव-माधुरी अभिव्यक्त हुई। इसमें प्रपञ्चका विस्मरण और शिशु-ब्रह्ममें परमासक्ति अनिवार्य है। यह सुख स्वर्गके समान परोक्ष नहीं है, ब्रह्मानुभूतिके समान शान्त नहीं है, विषय-संसर्गके समान आपातरमणीय एवं विनाशी नहीं है। इस रसमें देश, काल एवं वस्तुका लोप हो जाता है। ऐसा ही हुआ। माँ सब कुछ भूलकर इसी रसमें डूब गयी।

राजा परीक्षित यह लीला सुनते-सुनते मृत्युकी विभीषिका और मोक्षकी अभीप्सासे मुक्त हो गये।

उन्होंने अपने हृदयकी लालसा प्रकट की—'यह सुख-सौभाग्य जो देवकी-वसुदेवके लिए भी अलभ्य है, इन्हें कैसे मिला ? मुझे कैसे मिलेगा ?' शुकदेव मुनि मुस्कराये—'बस, इतनेमें ही आश्चर्य-चकित हो गये ? यशोदा माताने इस शिशु-ब्रह्मको गाय बाँधनेकी रस्सीसे ऊखलमें बाँध दिया था। इतने भक्तवत्सल, भक्तोंके इतने अपने ! वस्तुतः प्रेम भक्तके हृदयमें नहीं होता, वह ईश्वरके हृदयमें होता है। ईश्वर जब भक्तके परवश होकर विवशताकी माधुरीका आस्वादन करता है तो उसे आत्मसुखसे भी कुछ अधिक अनुभूति होती है। जहाँ विवशतामें भी मिठासका अनुभव हो वहाँ प्रेमरस छलकता है। ईश्वरका यह बन्धन भक्त-वात्सल्यका अनुपम उदाहरण है।'

इसकी उपलब्धि कैसे होती है ? जो साधनसे मिलता है वह सीमित पारिश्रमिक होता है। जो स्वामीकी कृपासे मिलता है वह कब मिले; कब न मिले, यह निश्चित नहीं रहता। तब भगवद्रसका आस्वादन कैसे हो ? न साधन, न कृपा। एक तीसरा मार्ग है। 'वह है महापुरुषका प्रसाद। यह ठीक है कि ईश्वरके अधीन है सब-कुछ परन्तु वह ईश्वर प्रेमके अधीन है। प्रेमका धनी है महापुरुष और प्रेमका प्रेप्सु है ईश्वर। महापुरुष भिन्न-भिन्न व्यक्तियोंके हृदयमें प्रेमरसका सञ्चार करके उसके द्वारा ईश्वरकी रस-पिपासाको तृप्त करते हैं। अतएव महापुरुष जब ईश्वरसे कह देते हैं कि तुम इस भक्तके साथ ऐसी लीला करो, ईश्वरको वैसा ही करना पड़ता है और इस विवशतामें ईश्वरका प्रेमरस उच्छलित होने लगता है। महापुरुषके प्रसादसे यह रस केवल भक्तको ही नहीं, अभक्तको भी मिल सकता है। उदाहरणार्थ कुबेरके उद्दण्ड एवं जडभावापन्न यमलार्जुन।

नित्यसिद्ध भक्तोंकी चर्चा छोड़ दें। नित्यसिद्ध यशोदा-नन्दका दर्शन दुर्लभ है। ब्रह्मा हैं महापुरुष। उनके कृपाप्रसादके पात्र हैं द्रोणवसु एवं उनकी पत्नी धरा। इनका स्नेह सिद्ध हुआ ब्रह्माकी कृपासे। इन्होंने शिशु-ब्रह्मको प्रेम-बन्धनमें बाँध लिया। यशोदाने रस्सीसे ऊखलमें बाँधा। कृष्णके साथ बँधे ऊखलने जड़ वृक्षोंका उद्धार कर दिया। यह महापुरुषके प्रसादकी परम्परा हुई और भी देखिये, महापुरुष नारदके मनमें उद्दण्ड सुरापायी, अनाचारी, परस्त्रीसमासक्त यक्ष-राजकुमारोंपर करुणाका उदय हुआ। उन्होंने उनमें स्वधर्म (भगवद्भक्ति) का सञ्चार कर दिया। उन्हें प्रपञ्च-विस्मृतिके रूपमें जड़—वृक्षयोनि और हृदयमें भगवत्-स्मृति प्राप्त हुई। यह अनुग्रह है। श्रीकृष्णकी प्राप्ति हुई—यह प्रसाद है। इस प्रकार प्रपञ्च-विस्मरण, भगवत्स्मरण, भगवद्दर्शन महापुरुषके कृपा-प्रसादसे ही प्राप्त होते हैं।

आइये, गोकुल गाँवके तीन लोकसे न्यारे पथमें। यह स्थान-विशेषमें सर्वोपादान परमेश्वरका आविर्भाव है। दामोदर-मास कार्तिकमें अर्थात् कालविशेषमें लीलाका अवतरण है। यशोदा मैयाकी गोदमें रूपका अवतरण है। सब कृष्ण ही कृष्ण हैं।

भक्त माता यशोदाका दर्शन कीजिये। वह समग्रयशके निधान भगवान् श्रीकृष्णको सतृष्ण बनाकर अपना स्नेहसार आस्वादन करनेके लिए उत्सुक बना देती है। उसमें ऐसा क्या विशेष है ? देखिये, स्वयं आनन्दगेहिनी नन्दगेहिनी है परन्तु अपने शिशुके प्रति इतना प्रेम है कि जान-बूझकर गृहदासियोंको दूसरे

कर्मोंमें लगा देती है। अपने हाथों श्रीकृष्णके लिए विशेष रूपसे निश्चित पद्मगन्धा गायके दूधसे जमे दहीका मन्थन करती है। माँ अपने हृत्पिण्ड वात्सल्य-भाजन शिशुके लिए अपने हृदयका स्नेह तो देती ही है, उसका मूर्तरूप दूध भी पिलाती है। यदि नवनीत खिलाना हो तो दूसरोंके हाथका निकाला हुआ नहीं, अपने हाथका निकाला हुआ हो। माता माने मूर्तिमान् स्नेह। माताके अतिरिक्त और किसीके हृदयका भाव शिशुके लिए ठोस वस्तुका रूप (जैसे दूध) ग्रहण नहीं करता। माता यशोदाका कर्म दधि-मन्थन कृष्णके लिए है। उसके हृदयमें स्मरण कृष्णकी बाललीलाओंका है। स्मरण संगीतकी रसमयी धाराके रूपमें वाणीसे मूर्च्छित हो रहा है। कर्म, मन और वाणी तीनों कृष्णके लिए। भक्तिका यही स्वरूप है। कर्ममें उद्देश्य भगवान् हो अर्थात् उसके लिए किया जा रहा हो। स्मरणका विषय भगवान् हो। वाणीके शब्द भगवत्सम्बन्धी हों। यह मूर्तिमती भक्ति है। इसे अपने शरीर और शृङ्गार विस्मरण हैं। स्वेद झलकता है मुखपर। मालतीके पुष्प सिरसे झड़कर पाँवमें गिरते हैं। शुकदेवजी इसकी झाँकीका दर्शन करते हैं। सचमुच यह भक्तिमाता ही यशके निधान भगवान्‌में अविद्यमान यशका दान करती है। भगवान् स्वतन्त्र हैं वे भक्तके परतन्त्र हो जाते हैं, ऐसा यन्त्र-मन्त्र भक्तिमाताके जीवनमें ही होता है। माता न होती तो भक्त-वश्यताका यश कहाँ-से मिलता ?

हाँ, तो; माता दधि-मन्थन कर रही है। उसके मनमें लालसा है कि लालाके शयनसे उठनेके पूर्व सद्याखन (सद्योनवनीत) निकाल लूँ परन्तु मन्थन करे कृष्णको खिलानेके लिए, लालसा करे और वे सोते रहें—यह भगवत्स्वरूपके अनुरूप नहीं है—'तांस्तथैव भजाम्यहम्' इस स्वभावके अनुगुण ही कुछ करना चाहिए। माँका स्नेह देखकर कृष्णका हृदय स्नेहसे भर गया। हृदय द्रवित हुआ। शरीरमें रोमाञ्च, मुखपर मुसकान, नेत्रोंमें चमक, साथ ही माँके पास पहुँच जानेकी ललक। अँगड़ाई ली, हाथोंसे नेत्र मल लिये, कपोलोंपर कज्जल फैल गया। माँ-माँ बोले, पलङ्गपर पाँव लटकाकर बैठ गये। बिना हाथ-मुँह धोये माँके पास पहुँचकर पल्ला पकड़ लिया—ऊँ-ऊँ, मैं दूध पीऊँगा। माँ मन्थनमें लगी रही। शिशु अपना। दूध छातीमें। मक्खन आने ही वाला है, कहीं बैठ न जाय। ध्यान नहीं दिया। शिशु-ब्रह्म धरतीमें लोट-पोट होने लगा, रोने लगा। फिर भी ध्यान न देनेपर रयि (मथानी) पकड़कर मन्थनका निषेध कर दिया। सारे कर्म, सभी साधन तभीतक हैं जबतक परमेश्वर न मिले। वह नवनीतोंका नवनीत श्याम-ब्रह्म आगया तो मन्थनसे क्या लाभ ? प्रयोजन-पूर्तिसे साधनका बाध हो जाता है। नदीके पार पहुँच गये, अब नावका क्या प्रयोजन ? यशोदा माताने उपनिषत्सुधाब्धिमें आहिण्डन करनेवाली विवेकी मथानी मानो छोड़ दी। अपने हृदयसे लगे शिशु-ब्रह्मको दूध पिलाने लगी।

आचार्य वल्लभ इस प्रसङ्गका रसास्वादन करते हुए कहते हैं कि ऊखल-बन्धनका अत्यन्त विस्मयकारी चरित्र भक्तिको निश्चल करनेके लिए है। इसके द्वारा भगवान्‌के स्वरूप, कृपालु स्वभाव और दया-मिश्रित ज्ञानकी अभिव्यक्ति होती है। यदि भक्तोंका भगवान्‌में और भगवान्‌का भक्तोंमें परस्पर निरोध

हो जाय तो उभय सम्बन्धसे दृढ़ हो जाता है। जीवका ज्ञान-वैराग्य और भगवान्का अनुग्रह—इन्हींसे भगवान्का वशीकार सिद्ध होता है। भक्ति नवधा प्रसिद्ध है। दसवीं गुणातीत है। अथवा नौ अङ्ग हैं और उनमें अनुगत दसवीं भक्ति स्नेह है। अतः इसमें कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड दोनोंका समावेश हो जाता है। जीव जब ईश्वरसे प्रेम करने लगता है तब एकबार भगवान् भागते हैं। इससे आसक्ति और दृढ़ हो जाती है।

यशोदा गुणगान और दधि-मन्थन दोनों साथ-साथ करती हैं। बाल-लीलाएँ अनेक हैं। उनका गान मुख्य है। दधि-मन्थन गौण है। यदि वह शीघ्र समाप्त हो जाय तो गानके रसमें बाधा पड़े। केवल दही नहीं मथा जाता, क्रियाशक्ति भी मथी जाती है। इसीसे विषय (दही) और क्रिया (मन्थन)के सम्बन्धसे स्मृति परिपुष्ट होती है। परन्तु यशोदाने इस गानामृतके आस्वादनमें भी स्वसुखरूप स्वार्थ देखा। अतः उसको गौण करके पूरी शक्तिसे दधि-मन्थनमें लग गयीं। भले ही अपने शरीरको पीड़ा पहुँचे—स्वेदादि हों, भगवद्भोग्य स्तन्यपयोरसका भी निरोध करना पड़े, तद्गत देवताका निरोध करना पड़े, आन्तर स्नेह-धारामें प्रतिबन्ध उपस्थित हो, फिर भी यशोदा दही मथती जा रही हैं। उनकी यह तत्परता देखकर मुक्त पुरुषोंके हृदयमें भी क्षोभ होता है। वे भी अपने स्नेह-लोभका संवरण नहीं कर सकते। सोचने लगते हैं, हाय! यह सुख-सौभाग्य हमें प्राप्त नहीं हुआ। यशोदा माताके सिरसे मालतीके पुष्प गिर रहे हैं। इसका अभिप्राय बताते हुए आचार्य कहते हैं कि माताका केशपाश सिद्धस्थान है। वहाँ मालती अर्थात् ब्रह्मविद्याकी स्थिति है। मालती = मा + अलम् = लक्ष्मीसे परिपूर्ण जगत् 'मालम्' है, उसका अतिक्रम करके जो रहे, सो मालती अर्थात् ब्रह्मविद्या। वह भी भले चली जाय परन्तु यशोदा दही मथेगी।

भगवान्का आना और दर्शन देना, यह क्रिया और ज्ञान दोनोंका समन्वय है। सगुण-साकार दर्शनमें यह समन्वय अपेक्षित है। इसीसे बाह्य और आन्तर उभयविध वृत्तियोंका निरोध होता है। हरि दुःखहारी हैं। वे माताका श्रमदुःख निवारण करनेके लिए मथानीको पकड़ते हैं अर्थात् करणका निरोध कर देते हैं। यह मातृनिष्ठ और स्वनिष्ठ प्रीतिके युगपत उदयके लिए युक्ति-विशिष्ट है। प्रीति जग गयी। भगवान् अङ्कातीत होनेपर भी अङ्कपर आरूढ़ हुए। माताकी प्रीति और भगवान्के अनुग्रहका यह स्पष्ट निदर्शन है। कृष्ण माँका हार्द-रस स्नेह पी रहे हैं और माता पुत्रके स्मित-विकसित मुखारविन्द मधुका पान कर रही हैं। उभयनिष्ठ रस ही पूर्ण होता है, एकांगी रस अपूर्ण होता है!

श्रीजीव गोस्वामीके मतमें उलूखल बन्धन-लीला पूर्वलीला एवं उत्तर-लीलासे विलक्षण है। मृद्भक्षण एवं ग्वालिनोंकी तालीके साथ नृत्यसे इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। परन्तु श्रीधर स्वामीने इस लीलाकी यह संगति लगायी है कि मुखमें विश्वदर्शनसे माताके मनमें जो विस्मयका उदय हुआ था, उसकी शान्तिके लिए प्रत्येक रस्सी दो अंगुल न्यून है, यह दिखाकर अपनी पूर्णता अभिव्यक्त कर दी गयी। श्रीभक्तिरसायनकार भक्तकवि श्रीहरिसूरिने यह कहा है कि मुखमें नामरूपात्मक प्रपञ्चका दर्शन हो जानेपर

भगवत्सेवाके कार्यमें भक्तकी प्रवृत्ति स्वाभाविक है। जो कर्मानुष्ठानके समय भी भगवत्स्मरण करता है उसे भगवान् सुलभ होते हैं। माताके वस्त्राभूषणके वर्णनसे यह सिद्ध होता है कि जो भगवान्का श्रवण-वर्णन, ध्यान-गान एवं सेवा-स्नेहमें संलग्न है, उसको संसार-त्यागकी आवश्यकता नहीं है। वह अपने विहित सांसारिक विषय-भोगोंके साथ भी भगवान्को प्राप्त कर सकता है। भगवान् हृदयके स्तनद्वारा छलकते हुए रसको देखते हैं और उसका पान करना चाहते हैं। बाह्य नैवेद्य—नवनीतकी ओर नहीं देखते। भक्तिकी पूर्णतामें कर्मत्यागका प्रत्यवाय नहीं है। जब अमृतस्वरूप 'मैं' प्राप्त हो गया तो भूसी कूटनेसे क्या लाभ? यशोदाने सारे कर्म छोड़ दिये। वे स्मित-सुन्दर मुखका पान करने लगीं और श्रीकृष्ण दूधका।

शिशुका नैसर्गिक पेय है माताका स्तन्य। वह भगवद्भोग्य श्रीकृष्ण पेय-पय हो चुका है। अब प्रश्न है—दूसरोंके पयको भगवद्भोग्य बनानेका। यह भी महापुरुष ही कर सकते हैं। अतएव मन्थनस्थानके बाह्यदेशमें परिपक्व होनेके लिए अग्निपर गायका दूध चढ़ाया गया है। अग्नितापसे उसमें उत्सेक (उफान) आया। भागवत हृदयका स्वभाव यह है कि वह आत्मसुखका सङ्कोच अथवा परित्याग करके भी अन्यसुखको समृद्ध करे। इस प्रसंगमें माताने आत्मसुखका ही नहीं, भगवत्सुखमें भी बाधा डाली। वह श्रीकृष्णको छोड़कर वेगसे जलते दूधको सम्भालनेके लिए दौड़ पड़ी। दूधमें उफान क्यों आया? मन्थनानुरोधका परित्याग करके भगवदनुरोधके अनुसार दुग्धाध्यायनमें प्रवृत्त यशोदा उसकी उपेक्षा करके दुग्ध-रक्षणमें क्यों प्रवृत्त हुई?

सब कुछ भगवदात्मक ही है। भगवद्धामके जड़वत् प्रतीयमान पदार्थ भी चेतन ही होते हैं। भूमि, लता, वृक्ष, सब भावरूपसे अभिव्यक्त सद्ब्रह्म है। पशु-पक्षी गाय-गोपालके रूपमें चिद्ब्रह्म है। आलम्बन-विभाव यशोदा-कृष्ण, श्रीदामादि सखा एवं कृष्ण, गोपी-कृष्ण आनन्दब्रह्म हैं। अग्निपर संतप्त होता हुआ दुग्ध भी भाव-संवृत चेतन है। वह अनेक जन्मोंमें तप करता हुआ भगवद्भोग्य दूधके रूपमें परिणत हुआ है। अब भी तप कर रहा है। उसके मनमें तीव्र अनुतापकी ज्वाला प्रदीप्त हो उठी—हाय! हाय! सामने मेरे स्वामी हैं। उनके नाम-स्मरणसे भी जीवोंका पाप-ताप भस्म हो जाता है परन्तु मैं अभागा उन्हींके सामने संतप्त हो रहा हूँ। मुझे धिक्कार है। अब मैं आगमें कूदकर आत्महत्या कर लूँगा। दूधके इस संकल्पको जानकर भगवान् श्रीकृष्णने ही यशोदाको उसपर दृष्टिपात करनेकी प्रेरणा दी। संस्कृतमें 'यशोदयेक्षितम्' है। इसका अर्थ यह भी है कि अपने यश और दयाको आज्ञा दे दी कि इसको सम्भालो। भक्तरक्षणके बिना मेरा यश अधूरा, दया निकम्मो। अन्यथा यशोदा श्रीकृष्ण-मुखारविन्दका पान छोड़कर दूधके लिए क्यों दौड़ती?[१]

---

१. यन्नामस्मृतिरप्यलं विधुनुते सन्तापमस्य प्रभोरग्रे तापमुपैमि तद्धिगिति मां मत्वाऽग्निपाये पयः ॥
उद्युक्तं भवतीत्यवेक्ष्य हरिणा सर्वेश्वरेणैव तत्। सत्यानन्दयशोदयेक्षितविहाकारोति मन्यामहे ॥

दूधको अपनी भूल ज्ञात हुई। यशोदाका भगवद्-रस छूट गया। भगवान्‌के स्तन्य-पानमें बाधा पड़ी। दूध है तो तपस्वी परन्तु प्रियतमको सुख पहुँचानेके उल्लासातिशयमें इतना तन्मय हो गया कि इससे उन्हींके सुखमें बाधा पहुँच जायगी—इसका ध्यान नहीं रखा। उसे अपने मर्यादातिक्रमणका ज्ञान हुआ। अपनेको धिक्कारा। लज्जा-सङ्कोचका उदय हुआ। मुँह लटक गया अर्थात् पात्रमें वह अपने स्थानपर बैठ गया।[1]

वह अधिक तपस्या करके अपने पूर्ण परिपाककी प्रतीक्षा करने लगा। भगवान्‌के सम्मुख या भागवतका दृष्टिपात होनेपर प्रतीक्षाकी आवश्यकता नहीं होनी चाहिए। भगवान् किसीकी परीक्षा नहीं लेते; क्योंकि वे सर्वज्ञ हैं। जो न जानता हो वह परीक्षा करके जाने। वे जैसे अपनेको अभिव्यक्ति देकर भक्तोंमें प्रकट होते हैं, वैसे ही भक्तोंके भावको अभिव्यक्ति देकर साधकोंके लिए आदर्श व्यञ्जना करते हैं। अब भगवान्‌के मनमें विचार-परम्पराका समुदय हुआ। माँ भक्तको बचानेके लिए दौड़ी, यह ठीक है परन्तु मुझे छोड़कर क्यों गयी? बड़े-बड़े ऋषि मुनि सोऽहम्-भावनाके द्वारा भी मुझे प्राप्त नहीं कर सकते। वही मैं इसका भाव देखकर शिशु बना। यह दूधके लिए मुझे छोड़कर जाती है। अवश्य क्रोध करना चाहिए। अभिप्राय यह है कि यशोदा श्रीकृष्णको छोड़कर चली जायँ और श्रीकृष्ण चुपचाप पड़े रहें तो मातृ-स्नेहकी अभिव्यक्ति नहीं हुई और यदि श्रीकृष्ण कुछ उपद्रव करें तथा माता उसके लिए शिक्षा-दण्डका प्रयोग न करे तो पुत्र-स्नेहकी अभिव्यक्ति नहीं हुई। स्नेह एक भाव है और वह वस्तु, क्रिया अथवा शब्दके वाहनपर आरूढ होकर व्यवहारमें उतरता है। निष्क्रियतामें केवल असंगता ही अभिव्यञ्जित होती है। वह लीलारस नहीं। स्नेहके प्रवाहमें बाधा पड़नेपर कोपका जन्म हुआ।

यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि सबसे प्रथम श्रीकृष्णके मनमें स्तन्यपानकी कामना अवतीर्ण हुई। कामनाके बाद स्तन्यका भोग हुआ। भोगमें अतृप्ति हुई—यह लोभ है। लोभके प्रतिहत होनेपर कोपका उदय हुआ। भाण्ड-भञ्जनकी क्रिया = हिंसा आयी। झूठे आँसू = दम्भका आना रोदनात्मक रुद्रके आगमनकी सूचना है। बासी माखनकी चोरी तृष्णाधिक्य है। भय, पलायन और बन्धन उसके उत्तर भावी परिणाम हैं। कामनासे बन्धन-पर्यन्त ईश्वरकी लीला है। जीवके लिए सावधान रहनेकी प्रेरणा है। भगवान् सर्वात्मक हैं। वे स्तेनों और तस्करोंके भी पति हैं। स्त्री-पुरुष, कुमारी-कुमार, युवा-वृद्ध सब उनका स्वरूप है। जो उनको पहचान लेता है वह सब भावोंमें, सब रूपोंमें उनका दर्शन करता है। अच्छा, तो अब इस लीलामें प्रवेश किया जाय।

एक जिज्ञासाका उदय होता है। श्रीकृष्ण हार्द-स्नेह रसका पान कर रहे हैं और यशोदा दर्शन-रसका। फिर वे उन्हें छोड़कर क्यों चली गयी? इसके समाधानमें श्री विश्वनाथ चक्रवर्तीका कहना है कि

---

१. उन्मार्गवर्तनेन हि पररसभङ्गो मयाऽधुनाऽकारि।
धिङ्मामिति किं त्रपया पयस्तदासीदधोमुखं सद्यः॥ (भक्तिरसायनम्)

आप यह शंका सर्वथा मत कीजिये कि यशोदाकी श्रीकृष्णपर जितनी ममता है उससे अधिक दूधपर है; क्योंकि प्रेमकी परिपाटी ही ऐसी है।

तद्भक्ष्यपेयादिषु काप्यपेक्षता यया पुनः सोऽपि समेत्युपेक्ष्यताम्।
प्रेम्णो विचित्रा परिपाट्युदीरिता बोध्या तथा प्रेमवतीभिरेव या॥

अपने प्रियतमके भक्ष्य, पेय आदि उपयोगकी वस्तुओंमें कोई ऐसी अपेक्षा होती है, जिसके कारण कभी-कभी प्रियतम भी उपेक्षाका पात्र हो जाता है। यह प्रेमकी विचित्र परिपाटी है। इसे कोई-कोई प्रेमवती ही समझ सकती है।

दूसरी बात यह है कि यशोदा माता परम भागवत हैं। उनकी करुणापूर्ण दृष्टिसे ही दूध भगवद्-भोग्य एवं भगवद्-तादात्म्यापन्न हो सकता है। ऐसे अवसरोंपर भगवान्‌को एक ओर रखकर भी भक्तिकी ओर देखना पड़ता है। यशोदा माता यदि एक-दो बार दूधको गर्म-ठण्डा न करतीं तो वह भगवत्प्राप्तिके योग्य नहीं हो सकता था।

किसी-किसीने ऐसी उत्प्रेक्षा की है कि जब यशोदा माताकी दृष्टि अपने उत्सङ्गमें अभङ्ग क्रीडा करते हुए श्यामसुन्दरसे हट गयी और दूधपर चली गयी तो वहाँ आसक्ति होना युक्ति-युक्त ही है। भगवद्-विमुखताके परिणामका यह निदर्शन है। इसमें संसारासक्त स्त्रियोंके स्वभावका भी स्फुटीकार है। श्री हरिसूरिका भक्तिरसायनमें कहना है कि महान् सत्पुरुषका तिरस्कार करके क्षुद्र वस्तुके प्रति आदरभावका होना स्वाभाविक है। कृष्णको छोड़कर दुग्धको सम्भालना यही सूचित करता है।

माताके चले जानेपर श्रीकृष्णके मनमें कोपका सञ्चार हुआ। प्रलयके समय ईश्वरके कोपसे ही संहारक्रिया होती है। अतः ईश्वरके साथ कोपका मेल नहीं है—यह सोचना असङ्गत है। माता छोड़कर चली जाय और बालक असङ्ग-उदासीन रहे, उपेक्षा कर दे तो उसके हृदयमें माताके प्रति प्रेमकी न्यूनता है। शिशु अपना है तो माता भी अपनी है, वह क्यों चली जाय? आचार्य वल्लभका कहना है कि श्रीकृष्णके हृदयमें बहुत-से बालक विद्यमान हैं। उनकी रक्षा एवं सम्वर्धनके लिए वे उन्हें पुष्टि दे रहे थे। भक्ति-मार्गके अनुसार माताके द्वारा उसमें बाधा डाली गयी। अतएव कोपका उदय हुआ। कोपके अनुभाव प्रकट हुए। होठ लाल-लाल होकर फड़कने लगे। लाल-लाल होना रजोगुण है और फड़कना कुछ बोलनेके लिए उद्वेग है। कोप और यशोदाके बीचमें भगवान्‌के अधरमें स्थित लोभ प्रकट हो गया। मानो, कह रहा हो, दोष माताका नहीं, मेरा है। आपमें अतृप्ति=लोभ है और मातामें दूधकी रक्षाका लोभ है। आप मुझे दण्ड दीजिये, माताको नहीं। कृष्णने दोनोंके लिए दण्ड-विधान किया। रक्तवर्ण रजोगुणको श्वेतवर्ण सत्त्वगुण-रूप दाँतोंसे दबा दिया। श्वेतिमा सात्त्विक ब्राह्मण है। रक्तिमा राजस क्षत्रिय है। दाँत द्विज हैं। सत्त्वगुणके द्वारा रजोगुणको अथवा ब्राह्मणके द्वारा क्षत्रियको शिक्षा दी गयी। माताके लिए

भी दण्ड-विधान हुआ । शैशवमें ऐसा होता है । दूधके लोभसे मुझे छोड़कर गयी तो दूध-दहीकी और भी हानि उठानी पड़ी । यज्ञायुध (दृषदश्मा) लोढ़ेसे भागवत-यज्ञमें बाधक माण्डासुरको भग्न कर दिया ।

श्रीकृष्णने मन-ही-मन कहा—'जब मनुष्य यशोदया-विहीन होता है अर्थात् यशोदा एवं यश-दयासे रहित होता है, तब उसके ऐसे ही कृत्य होते हैं ।' मानों, श्रीकृष्णने यहींसे शिक्षा लेकर गीतामें कहा हो—'कामी दीन हो जाता है, लोभी पुत्रके प्रति भी निर्दय होता है, क्रोधीका विवेक नष्ट हो जाता है, अतः इन तीनोंका परित्याग करना चाहिए ।' इस प्रसङ्गमें विस्तारसे समझानेकी आवश्यकता नहीं है ।

परन्तु यह क्रोध और आँसू मिथ्या हैं । इसका प्रमाण क्या है ? तत्काल एक व्यवहित स्थानपर जाकर नवनीतका आस्वादन करने लगते हैं । क्रोध और आँसूके साथ भोजनका मेल नहीं है । सच्चे आँसू आ रहे हों तो उदानवायुकी प्रबलताके कारण निगलनेकी क्रिया नहीं हो सकती । वे अपना विनोद प्रकट कर रहे हैं । बालकोंको भोजन दे रहे हैं और माताको उलाहना दे रहे हैं ।

माताने शान्तिसे दूधको परिपक्व करके भगवद्भोग्य बना दिया । उसे अग्नितापसे मुक्त करके उतार दिया—पार कर दिया । भागवतका काम पूरा हुआ । लौटकर आयी, देखा, मटका फूटा हुआ है, अपने पुत्रका कर्म । हँसी आगयी । जलते हुए दूधको तारा माताने । मटके रहित दधिको तारा भगवान्‌ने । दैवगतिसे हानि देखकर माताको हँसी आगयी । भला, होनीको कौन टाल सकता है । कहा भी है—

पीयूषेण सुराः श्रिया मुररिपुर्मर्यादया मेदिनी
शक्रः कल्परुहा शशाङ्ककलया श्रीशङ्करस्तोषितः ।
मैनाकादिनगा निजोदरगृहे यत्नेन संरक्षिता-
स्तच्चूलीकरणे घटोद्भवमुनिः केनापि नो वारितः ॥

समुद्रने अमृतके द्वारा देवताओंकी, लक्ष्मीके द्वारा भगवान् विष्णुकी, मर्यादा-स्थापनके द्वारा पृथिवीकी, कल्पवृक्षसे इन्द्रकी, चन्द्रकलासे शंकरकी सेवा की, उन्हें सन्तुष्ट किया । अपने उदर-गृहमें बसाकर यत्नपूर्वक मैनाकादि पर्वतोंको संरक्षण दिया । परन्तु जब अगस्त्य मुनि उसको पीने लगे तब किसीने उनको रोका नहीं, रक्षा नहीं की ।

माताको हँसी क्यों आयी ? माण्डासुर मर चुका था । क्रोध आनेका कोई कारण नहीं था । थोड़ेकी रक्षाके लिए गयी और बड़ी हानि हुई, क्या आश्चर्य है ! पुत्र माताकी सम्पत्तिकी रक्षा करता है और हमारे घरमें ऐसा लाल आया जो अपने सम्पदाको बिगाड़ता है । हँसनेका अर्थ यह है कि श्रीकृष्ण डरकर कहीं भाग न जायँ !

ऊखल उलटा करके रखा हुआ था । वह अग्नि-नाभि है । सुपर्णचयनमें यज्ञपुरुषके समान भगवान् उसपर बैठ गये । मर्कटोंको बासी मक्खन देने लगे । अतिरिक्त वस्तु अतिरिक्तको देनेसे अतिरिक्तकी शान्ति

हो जाती है। दानमें भी यथेष्टता थी। इस चोरीके कर्ममें नेत्र विशंकित हैं। यशोदा धीरे-धीरे पीछेसे आ रही है। पीछेसे आनेके कारण श्रीकृष्णके पृष्ठमें स्थित अघमंका दर्शन होता है। श्री सुदर्शनसूरि एवं श्री वीर राघवाचार्यने यहाँ 'मर्क' शब्दका अर्थ मर्कट, मार्जार एवं व्रजमें सखा, ऐसा लिखा है। किसी-किसीने मर्क अर्थात् माखनके लिए आये हुए सखा।

श्री हरिसूरि कहते हैं कि यह उलूखल नहीं, खल है। माताके द्वारा पुत्रकी उपेक्षा होनेपर खल-संगति स्वाभाविक है, खल भी अभिमानीके साथ टकराता है और विनयीके साथ मेलजोल कर लेता है। मानो, इसी दृष्टिसे श्रीकृष्ण ऊखलके निचले भागपर जो कि उलटा होनेके कारण ऊपर हो गया था, बैठ गये। खलवशीकारके लिए उसका चरण-स्पर्श विहित है और भी, खल-संग प्राप्त होनेपर भी उदार पुरुषके सौजन्य, शील; स्वभावमें अन्तर नहीं पड़ता। ऊखलपर बैठे हुए श्रीकृष्ण भी उदारतापूर्वक दान कर रहे हैं। श्रीकृष्णने स्पन्दमान रोषका स्पर्श किया था। उसके दोषका मोष (नाश) करनेके लिए दान कर रहे हैं। दान ही दोष-शोषक है।'[1] श्रीकृष्णके मनमें है कि मैं वानरको भी नवनीतामृत सुलभ करनेके लिए पृथिवीपर आया हूँ। भजन करो और अमृत लो। ये वानर हमारे रामावतारके सखा, सहायक एवं सेवक हैं। अमृतका वितरण हो रहा है।

हाथमें गाय हाँकनेको छड़ी लेकर मैया दौड़ी। श्रीकृष्णने भलीभाँति उसका भाव भाँपकर भीतके समान भागना प्रारम्भ किया। योगियोंका तपःपूत अतएव प्रवेशक्षम मन भी जिनको प्राप्त नहीं कर सकता, पकड़नेके लिए माँ उन्हें खदेड़ रही है।

श्रीकृष्णनिष्ठ स्नेह और मातृनिष्ठ स्नेहमें स्पर्धा हो गयी। माँने मनमें विचार किया कि मैं अपने शिशुकी सब बुराइयाँ सह सकती हूँ परन्तु खलसङ्गति नहीं, इसलिए गाय हाँकनेवाली छड़ी लेकर दौड़ी। श्रीकृष्णने कहा—जिसके मनमें क्रोध है उसकी बुद्धि चाहे कितनी अच्छी हो, मैं उसको मिल नहीं सकता। तमोगुणी, रजोगुणीसे दूर रहना चाहिए। इसलिए मैं भागता हूँ।[2]

श्रीकृष्णके पीछे-पीछे दौड़नेमें भी माताकी विशेष शोभा है। विजयध्वजतीर्थने 'अन्वञ्चमाना' पदका विवरण करते हुए कहा है कि यशोदाके दौड़नेमें एक पूजनीय गति है। हंसीके समान चल रही है। 'अञ्चु' धातुका अर्थ गति और पूजा है। भगवान्‌के पीछे दौड़ने मात्रसे ही केशके बन्धन टूट गये; प्रसूना =

---

१. न हीयते वदान्यस्य सच्छीलं खलसंगतः। उलूखलकृतावासोऽप्यौदार्यान्नच्युतोऽच्युतः॥
दानमेव जने यावद्दोषदोषाघमोषकम्। भवतीत्यच्युतो युक्तं तद्दानं तत्कृतेऽकरोत्॥

२. अकृत्यमपि मे सर्वं सह्यमस्य परन्तु न। उलूखलाङ्घ्रिभजनमित्यागात् सा सयष्टिका॥
श्लिष्यद्रोषं मनो यावत् तावदीशः पराङ्मुखः। सूक्ष्मवेत्राश्रितस्यापि भवेदित्यभवत् स्फुटम्॥
(भ० रसा०)

हिंसाके भाव च्युत हो गये। अन्तःकरणकी शुद्धि हो गयी। सन्तकी अनुगतिसे कल्याण होता है, भगवन्तकी अनुगतिसे तो कहना ही क्या! अनुगतिका फल है श्रीकृष्णका स्पर्श।

माँने पकड़ लिया। जगत्‌का स्वामी—जिसे कभी कोई अपराध छू नहीं सकता, आज अपराधीके कटघरेमें खड़ा है। फफक-फफककर रो रहा है। एक हाथसे बार-बार नेत्रोंके कज्जलमिश्र अश्रु पोंछ रहा है। भय-विह्वल नेत्र ऊर्ध्वमुख हो गये हैं। हाथ पकड़कर माँने धमकाया। यह सब भगवान्‌के रूप हैं—अपराधी, रोनेवाला, भय-विह्वल। जो उन्हें पहचानते हैं वे सब रूपोंमें पहचानते हैं। भगवत्स्पर्शी अपराध, रोदन और भय भी धन्य हैं। माँने पीटा नहीं, धमकाया—'मनचले! क्रोधी! लोभी! चञ्चल! चोर!' नये नाम रख दिये। 'ऐसा बाँधके रख दूँगी कि बाहर जा न सकोगे, माखन खा न सकोगे, सखाओंसे मिल न सकोगे।' कृष्णने कहा—मैं तुम्हारा लगाया हुआ काजल भी पोंछ दूँगा। मैं तुम्हारे हाथसे आँसू नहीं पोंछवाऊँगा, स्वयं पोंछ लूँगा। वे अपने नेत्र स्वयं स्वच्छ करते हैं और उनकी क्रियासे यशोदाके नेत्र तथा उनमें भगवत्प्रतिबिम्ब स्वच्छ होता है। यही भक्तिकी विशेषता है। रजोगुण-तमोगुण नष्ट हो गये।

माताने छड़ी फेंक दी। बालकको भयभीत करना उचित नहीं। उसके प्रति भीषणता उचित नहीं है, वात्सल्य ही योग्य है। बाँधके रखनेका निश्चय किया। कृष्णने कहा—'मुझे ताड़ना मत दो।' माँने कहा—यदि ताड़नसे डरते हो तो आज दादी-सासके समयका दधि-भाण्ड क्यों फोड़ दिया?' कृष्ण—'अच्छा, अब ऐसा कभी नहीं करूँगा।' माँ—ले, छड़ी फेंक दी। देखिये, श्री विश्वनाथ चक्रवर्तीका श्लोक—

ताडने यदि तवातिशया भीस्तत् किमद्य दधिभाण्डमभाङ्क्षीः।
मातरेवमथ नैव करिष्ये पातया स्वकरतो बत यष्टिम्॥

श्री हरिसूरिने भक्तिरसायनम्‌में, माता अपने बलका प्रयोग कर रही है स्नेहकी अधिकतासे, तो मैं भी अपना बल, स्नेहकी अधिकता दिखाऊँ। स्नेहपर स्नेह ही सफल होता है। रोदन ही शिशुका बल है, ऐसी उत्प्रेक्षा की है। मेरे नेत्रमें स्थित हैं सूर्य और चन्द्रमा। वे हमारे वंशके आदि भी हैं। उनके साथ कज्जल-कलङ्क कालिमाका सम्बन्ध उचित नहीं है अतएव स्वच्छ करते हैं। उन्हें उकसाते हैं—'तुम साक्षी हो। किसी कर्मके कर्ता नहीं हो। तुम लोग मेरी माँको यह बात समझा दो।'

श्रीभक्तिरसायनम्‌में श्री हरिसूरिने इस प्रसङ्गमें एक बड़ा ही सुन्दर भाव प्रकट किया है—मनुष्य चाहे जितना साधन-सम्पन्न हो, ओजस्वी हो परन्तु अपनी मलिनता मिटानेके लिए उसे दूसरेकी आवश्यकता होती है। प्रकाशमान सूर्य और चन्द्रमा सहस्रकर हैं। साथ ही, भगवान्‌के नेत्रके रूपमें अथवा नेताके रूपमें स्थित हैं तथापि भगवद्-हस्तावलम्बके बिना उनके कलङ्क-कज्जलका मार्जन नहीं हुआ।[1]

---

१. नानासाधनशालिनोऽपि पुरुषस्योजस्विनः स्वात्मनो मालिन्यापहृताववश्यमपरापेक्षेति युक्तं यतः।
भास्वच्चन्द्रमसोः सहस्रकरयोरप्यत्र नेत्रात्मनोरासीदञ्जनमार्जनं न भगवद्धस्तावलम्बं बिना॥

श्रीकृष्णने विचार किया कि सन्तोंने मेरी नाम-महिमाका संगीत गाया है कि 'श्रीकृष्ण' नाम षड्‌रिपुओंका नाशक है। क्रोधका अवरोधक मैं सम्मुख खड़ा हूँ और माँके हृदयमें रोषका सञ्चार हो रहा है। यह मेरो नाम-कीर्तिके विपरीत है।' इसीसे श्रीकृष्णके नेत्र भय-विह्वल हो गये![1]

माँके हृदयमें वात्सल्यका उदय हुआ श्रीकृष्णको भयभीत देखकर। जैसे गैया-मैया जब अपने सद्योजात शिशुको मूत्रादिसे लथपथ एवं जरायुपरिवेष्टित देखती है तो वह उसे चाटने लगती है, वत्सला हो जाती है, उसका हृदय वात्सल्य-स्नेहसे भरपूर होकर छलकने लगता है, वैसे ही यशोदा माताका हृदय वात्सल्यसे उल्लसित हो गया। उसने अपने हाथसे बछड़ेको डरानेवाली छड़ी फेंक दी। 'ठीक ही है, तभीतक हृदयमें जड़ता और हाथमें छड़ी रहती है जबतक चेतनकी प्राप्ति न हो—पवित्र चेतनाका जागरण न हो। श्रीकृष्णका हाथ पकड़ना और अपने हाथमें जड़ छड़ीको रखना एक साथ शक्य नहीं है।'[2]

देखिये, श्रीकृष्णका हृदय। 'मुझे अपने हृदयकी गोदमें लेकर स्नेह-मोद देकर यदि कोई पुनः क्षुद्र कर्ममें लग जाय तो अवश्य ही उसकी अर्थ-क्षति और मेरी दूर-स्थिति हो जायगी। परन्तु यदि वह फिर मेरे पास लौट आवे तो मैं उसे सुलभ हो जाता हूँ।'[3]

'यद्यपि मैं बुद्धिके पेटमें अँटनेवाला नहीं हूँ तथापि जो दूसरे काम छोड़कर मेरा अनुगत होता है, मेरे पीछे-पीछे दौड़ता है उसे मैं सुलभ हो जाता हूँ।'[4] यशोदा माताने विचार किया—'गर्गाचार्यने अनामीको नामके घेरेमें ले लिया। श्रुतिके अनुसार नाम और दाम (रस्सी) एक ही हैं। अतः अब इसको बाँध लेना—दामोदर बना देना सुगम है।'[5]

माताके मनमें भगवान् श्रीकृष्णको बाँधनेकी इच्छा उदित हुई। ऐसा क्यों हुआ? भगवान्‌के स्वरूपमें बन्धन नहीं है। क्या यशोदा भगवान्‌के इस सामर्थ्यसे अपरिचित है? शुकदेवजी कहते हैं कि 'हाँ अपरिचित है।' तब क्या पूतना, तृणावर्त आदिके वधका ऐश्वर्य, वीर्य देखकर भी न पहचान सकी? यही प्रेमका सामर्थ्य है।' वह प्रियतमके माधुर्यको पहचानता है, ऐश्वर्यको नहीं। मूलमें कहा है कि भगवान्‌में भीतर-

---

१. तवाभिधानं षडरिप्रभञ्जकं भुवीति सद्भिर्यदहं प्रकीर्तितः।
मयि स्थिते द्वेषिणि रोषसंभवः कथं जनन्यामिति तादृशेक्षणः॥

२. तावज्जडाश्रयो युक्तो न यावच्चेतनागमः। युक्तं श्रीशंकरं धृत्वा सा जहौ यष्टिकां जडाम्॥

३. मदीयं सन्तोषं सुफलदमसम्पाद्य मनुजो यदि क्षुद्रे किञ्चित्फलिनि दिनकर्मण्यभिरतः।
भवित्री तस्यार्थक्षतिरपि च दूरस्थितिरहं पुनर्मद्गामी चेत् प्रतिपदमहं तस्य सुलभः॥

४. बुद्ध्यग्राह्योऽप्यहमिह सुलभस्तस्यास्मि यस्तु मदनुगतः।
उज्झितकर्मेत्याशयमबोधयन् मातृहस्तगो हि हरिः॥

५. गर्गोक्तनामबद्धेऽस्मिन् सुकरं दामबन्धनम्। इत्यैषीत् सा नामदामपर्यायैकार्थदर्शिनी॥

बाहर, पूर्वापरका भेद नहीं है। वही बाह्याभ्यन्तर, पूर्वापर एवं जगत् भी हैं। वे अजन्मा और अव्यक्त हैं। इन्द्रियातीत हैं। फिर भी मनुष्य रूपमें प्रकट श्रीकृष्णको गोपीने रस्सीसे ऊखलमें बाँध दिया, मानो कोई प्राकृत शिशु हो।

श्रीधर स्वामीने कहा है—बन्धन तो तब हो जिसको बाहरसे चारों ओरसे लपेटा जा सके और वह रस्सीके घेरेमें आजाय। एक ओरमें रस्सी पकड़ और दूसरी ओरसे मिला दें। यहाँ भगवान् सर्वथा उसके विपरीत हैं। व्याप्य व्यापकको बाँध नहीं सकता और फिर दूसरा कोई हो तो बाँधे। जब भगवान्के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं तो कौन किसको बाँधे? फिर भी यशोदाने मनुष्य-रूपमें प्रकाशमान इन्द्रियातीतको अपना पुत्र मानकर बाँध लिया।

श्रीजीव गोस्वामीका अभिप्राय है कि श्रीकृष्ण व्यापक हैं इसलिए उनके बाहर कुछ नहीं है। बाहरके प्रतियोगीके रूपमें प्रतीयमान अन्तर भी नहीं है। पूर्वापरकी भी यही दशा है। वही जगत् है अर्थात् कारणसे अतिरिक्त कार्य नहीं होता। देश-काल-वस्तु वही हैं। उनकी शक्तिसे ही जगत्की शक्ति है। ऐसी अवस्थामें उनकी शक्तिका एक क्षुद्र अंश रस्सी उन्हें कैसे बाँध सकती है? क्या स्फुलिंग (चिनगारी) अग्निको जला सकते हैं? परन्तु यशोदा माताने कृष्णको बाँध लिया। वे अधोक्षज (इन्द्रियातीत) होनेके साथ-ही-साथ मनुष्य-वेषधारी भी हैं। 'नारायणाध्यात्मम्'में कहा गया है कि 'अव्यक्त भगवान् अपनी शक्तिसे ही दर्शनके विषय होते हैं। उन्हें दूसरा कोई अपनी शक्तिसे नहीं देख सकता।' श्रुतिमें कहा है—'देवता और इन्द्रिय उसके बनाये हुए उत्पन्न हैं। वे अपने पूर्ववर्ती अनुत्पन्न कारणको नहीं जान सकते।' मध्वाचार्यने भगवान्को अस्थूल-स्थूल, अनणु-अणु एवं अवर्ण-श्यामवर्ण कहा है। अर्थात् उनमें परस्पर विरोधी धर्म हैं। श्रीनृसिंहतापनी श्रुति कण्ठतः घोषणा करती है—'तुरीयमतुरीयमात्मानमनात्मानमुग्रमनुग्रं वीरमवीरं महान्तममहान्तं विष्णुमविष्णुं ज्वलन्तमज्वलन्तं सर्वतोमुखमसर्वतोमुखम्'। तुरीय-अतुरीय, आत्मा-अनात्मा, उग्र-अनुग्र, वीर-अवीर, महान्-अल्प, विष्णु-अविष्णु, प्रदीप्त-शान्त, व्यापक-अव्यापक सब भगवान् ही हैं। गीतामें 'मत्स्थानि' एवं 'न च मत्स्थानि' एक साथ ही हैं। वे विरुद्ध-अविरुद्ध अनन्त शक्तियोंके निधान हैं और उनकी प्रत्येक शक्ति अचिन्त्य है। अतः बन्धनकी असम्भावना और सम्भावना दोनों ही उनमें युक्ति-युक्त हैं। दोनों एक साथ ही संगत हैं।

श्री विश्वनाथ चक्रवर्तीने यह आशय प्रकट किया है कि यद्यपि भगवान् वैसे ही हैं फिर भी उन्हें अनन्त प्रेमका, असाधारण वात्सल्यका विषय बनाकर माताने उन्हें बाँध दिया। बात यह है कि ईश्वरके अधीन सब है परन्तु ईश्वर प्रेमके अधीन है। भक्तिमें जो बाँधनेकी शक्ति है वह भी प्रभुकी ही शक्ति है। वे किसी औरसे नहीं, अपनी शक्तिसे ही बँधते हैं। प्रेम उनके ऐश्वर्यको आच्छादित कर देता है। वे प्राकृत नहीं हैं, चित्पुञ्ज हैं। फिर भी प्राकृतके समान बाँध दिये गये। यही प्रेमकी शक्ति है।

आचार्य वल्लभ बन्धन-प्रसंगपर प्रसन्न-गम्भीर विवेचन करते हैं। उनका कहना है—भगवान्में दोनों

प्रकारसे बन्धनका अभाव सिद्ध होता है। पहला भगवत्स्वरूपका विचार और दूसरा बन्धनके साधनस्वरूपका विचार। देखिये, बन्धन दो काम करता है—बाहरसे निरोध और भीतरसे ताप। ये दोनों उसीको हो सकते हैं जिसमें अन्तर-बाह्यका भाव हो। भगवान् पूर्ण हैं। सबमें व्याप्त हैं। वे किसीके भीतर नहीं हैं। वे निरवयव हैं। अतः उनका कोई परिच्छेदक नहीं है। 'अन्तः' शब्दका अर्थ है—शब्द-सहित आकाश। उसकी प्रवृत्ति भगवान्‌में नहीं है। अर्थात् न भगवान् आकाशके अन्तर्गत हैं, न तो शब्दके विषय हैं। अन्तर्यामी ब्राह्मणके अनुसार वे ही सर्वान्तर हैं। फिर वे किसके अन्तर्गत होंगे जिससे वे उसमें बाँधे जायँ ? आधार होनेपर तो किसीमें अन्तर्भाव हो ही नहीं सकता। दूसरी बात यह है कि बन्धन वेष्टनात्मक होता है। वह देश-परिच्छिन्नमें ही सम्भव है। निरवयव, अनिरुक्त, स्वयंप्रकाश, ज्ञातृ-ज्ञेय भावके द्वैतसे रहित परमात्मामें पूर्वापर या उत्तर-दक्षिण सम्भव ही नहीं है। अतः स्वरूपकृत, देशकृत, कालकृत या अन्यकृत बन्धन भगवत्स्वरूपमें सम्भव नहीं है।

अब बन्धन-साधनस्वरूपपर विचार कीजिये। रज्जु आदिके पूर्वापर भागमें यही विद्यमान हैं। स्वयं यशोदा इस सम्बन्धमें प्रमाण हैं कि उन्होंने भगवान्‌के मुखमें सम्पूर्ण विश्व देख लिया था। वे सबके बाहर और भीतर हैं। न केवल वे जगत् हैं, जगच्चय (जगतां चयः) हैं। जहाँतक जगत्‌की गति है भगवान् उतने ही नहीं हैं। क्या जगत् जगदात्माको बाँध सकता है। स्वयं स्वको नहीं बाँधता। किसी भी प्रकारसे भगवान्‌में बन्धन नहीं है, यह सोचकर भक्त निश्चिन्त रहते हैं। परन्तु इस रूपमें लोग भगवान्‌को नहीं जानते। यदि वह अपनेको सर्वथा गुप्त ही रखे तो उसका स्वरूप किसीको ज्ञात नहीं होगा। अतः भगवान् स्वयं अपने परस्पर-विरुद्ध धर्मोंका बोधन कराते हैं; क्योंकि दूसरोंके समझानेपर भी सन्देहकी पूर्ण निवृत्ति नहीं होती। मर्मज्ञ पुरुष अन्याभिनय-परायण नटके वास्तविक स्वरूपको पहचान लेते हैं परन्तु यह अधोक्षज (अधः अक्षजं ज्ञानं यस्मात्) प्रत्यक्षादि-जन्य ज्ञान जिसका स्पर्श नहीं कर सकते हैं जबतक यह स्वयं अपनी पहचान स्वयं न करावें, क्या हो सकता है ? अतः बद्ध-मुक्त सब यही हैं—यह प्रकट करनेके लिए बन्धन-लीला है।

यशोदा माताने ऊखलमें क्यों बाँधा ? इसपर हरिसूरिकी उत्प्रेक्षा सुनिये—नामैकदेशग्रहण-न्यायसे उलूखल खल है। खल-संग छुड़ानेके लिए उसका अति संग ही कारण बन जाता है अत्यन्त सान्निध्यसे अवज्ञाका उदय होता है। इस नीतिके अनुसार ही यशोदाने उलूखलमें बाँधा।[1] यशोदा मैयाने सोचा कि उलूखल भी चोर है; क्योंकि माखनचोरी करते समय इसने कृष्णकी सहायता की थी। चोरका साथी चोर। इसलिए दोनों बन्धनके योग्य हैं।[2]

---

१. परिहातुं खलसङ्गमभवितरखलसङ्ग एव हेतुरिति।
अतिसन्निकर्षशास्त्राज्जानत्येषा बबन्ध किमु तस्मिन्॥

२. अयं चोरश्चौर्यकर्मण्येतत्साहाय्यभागभूत्। इति वीक्ष्य द्वयोर्बन्धार्हतां तत्र बबन्ध तम्॥

कविकी अन्तर्भेदिनी दृष्टि क्या देख रही है ? ध्यान दीजिये । यशोदा माताने श्रीकृष्णको बाँध लिया, यह बात अलग रही । मुझे तो ऐसा दीखता है कि श्रीकृष्णने ही यशोदामाता और ऊखल दोनोंको ही बाँध लिया । यशोदा भगवत्स्नेहमें बँध गयी और ऊखल कृष्णके साथ बँधकर दूसरोंके उद्धारमें समर्थ हो गया ।[1] भगवत्स्वरूपके बोधमें शब्दनिष्ठ शक्ति, योग, लक्षणा और गौणी वृत्ति कारण होती है । ऐसा लगता है कि योगीन्द्र गर्ग और वेदोंने पहली वृत्तियोंसे बोध कराया और यशोदामाता गौणी वृत्ति (रस्सी)से जानना चाहती हैं ।[2]

उपक्रममें ही यह अभिप्राय प्रकट कर दिया गया है कि महापुरुषकी कृपा ही भगवत्प्राप्तिका हेतु है । यशोदा माता इस रज्जु-बन्धन द्वारा ऊखल (खल)का भी श्रीकृष्णके साथ बन्धन-सम्बन्ध करनेमें समर्थ हैं । माता—महापुरुषके द्वारा भगवान्के साथ बाँधा गया ऊखल भी जड़ नल-कूबरका उद्धार करनेमें समर्थ हो जाता है । बन्धन कुछ नहीं है । वह किसके द्वारा किसके साथ किया गया है—इसीका महत्त्व है ।

अपना बालक है—इसलिए माताको बाँधनेका अधिकार है । पराया बालक होता तो उपेक्षा की जा सकती थी । कृष्णने अपराध किया है इसलिए वे बन्धनके योग्य हैं । श्री जीव गोस्वामी कहते हैं कि रस्सी जब पहली बार दो अंगुल कम पड़ी तो यशोदाने सोचा कि यह दैववश हुआ । परन्तु जब बार-बार दो अंगुल न्यून होने लगी, तब विभुता-शक्तिका चमत्कार देखनेमें आया । प्रेम बहुत अधिक है । परन्तु परिश्रमकी पूर्णता और कृपा-विशेषकी उपेक्षा है । अतएव सभी रस्सियाँ दो-दो अंगुल न्यून होती गयीं । विभुता-शक्ति भी इसीलिए प्रकट हुई कि श्रीकृष्णके बाल्योचित हठकी लीला पूर्ण हो ।

आचार्य वल्लभका कथन है कि भगवान्ने अपनेमें दो दोष दिखाये, पहला उसका पुत्र होना और दूसरा अपराधी होना । दो अंगुल न्यून होकर रस्सी कहती है कि ये दोनों दोष श्रीकृष्णमें नहीं हैं । माताको आश्चर्य भी होता है परन्तु श्रीकृष्णकी इच्छा अपनी व्यापकताके प्रदर्शनकी भी है । पेट बढ़ता नहीं है, कमर मोटी होती नहीं है, रस्सीपर रस्सी जोड़नेपर भी दो ही अंगुल कम होती है । देवता तीन बार अपना सत्य प्रकट करता है । अतएव तीन बार न्यूनता हुई । गोपियाँ हँसती थीं । उन्हें लीला-दर्शनका आनन्द आता था । गोपियोंने यशोदा मातासे कहा—'अरी, यशोदा ! पतली-सी कमरमें रुनझुन-रुनझुन करके छोटी-सी करधनी बँधी हुई है और घरकी सारी रस्सियोंसे यह नटखट बँधता नहीं है । यह बड़े मंगलकी सूचना है कि विधाताने इसके ललाटमें बन्धनका योग नहीं लिखा है । अब तू छोड़ दे यह उद्योग ।'

---

१. सा बबन्ध तमित्यास्तां मन्मतं तु बबन्ध सः ।
गोपिकोलूखले एव तमस्तन्तुगुणात् प्रभुः ॥

२. शक्तिर्योगो लक्षणा गौण्यपीति बोधे हेतौ श्रीपतौ तत्र चोक्तम् ।
तद्बोध्यत्वं गर्गयोगीन्द्र-वेदैर्मन्ये गौण्या गोपिका ज्ञातुमैच्छत् ॥

परन्तु यशोदा माताने कहा—'भले ही बाँधते-बाँधते सन्ध्या हो जाय, गाँवकी सारी रस्सियाँ लग जायें, मैं आज बाँधे बिना नहीं मानूँगी।' कृष्णका हठ है—मैं नहीं बँधूगा। माताका हठ है—मैं बाँधूगी। यह निश्चय है कि भक्तका हठ विजयी होगा। भगवान्ने अपना आग्रह छोड़ दिया। बात यह है कि भगवान्में असंगता, विभुता आदि अनेक शक्तियाँ हैं परन्तु परम भास्वती भगवती कृपाशक्ति ही सर्वशक्ति चक्रवर्तिनी हैं। वे भगवान्के मनको नवनीतके समान पिघला देती हैं और असंगता, सत्य-संकल्पता, विभुताको छिपा देती हैं। दो अंगुलकी न्यूनताका अभिप्राय यह है कि जबतक भक्तमें भजनजन्य श्रान्तिका उदय नहीं होता और भगवान्में भक्तका परिश्रम देखकर कृपाका उदय नहीं होता तबतक वे भक्तके वशमें नहीं होते। जब दोनों एकत्र हो गये तब भगवान् बँध गये। यह श्री विश्वनाथ चक्रवर्तीका भाव है।

श्री वल्लभाचार्य कहते हैं कि माताका शरीर स्वेदसे भींग गया। उसकी केशोंमें लगी मालाएँ बिखर गयीं। वह थक गयी। पुत्रका कर्तव्य है कि माताका परितोष करे। श्रुति है—'मातृदेवो भव।' स्मृति है—'माता सबसे बड़ी है।' अतः उसको थकाना उचित नहीं है। श्रीकृष्णने सोचा कि 'इसके कोई दूसरा पुत्र भी नहीं है जो इसका दुःख दूर करे। मैंने ही इसे अपनी माता बनाया है। मैं गोकुलका दुःख दूर करनेके लिए प्रकट हुआ और माताका दुःख दूर न करूँ, तो क्या ठीक होगा? सौभाग्य-दानके लिए आया और इसके अलङ्कारोंका तिरस्कार कर दूँ?' जो भक्तोंके दूरस्थ दुःखको भी नहीं देख सकते, वे अपने सम्मुख माताके दुःखको कैसे देख सकते हैं? अतएव कृपानुग्रहसे श्रीकृष्णने बन्धन स्वीकार कर लिया। कृपा सब धर्म और धर्मियोंसे बलवती है। भगवान् अपनी कृपासे ही सबसे बँधते हैं।

श्री जीव गोस्वामीने यह प्रश्न उठाया है कि पहले तो श्रीकृष्णको पूर्ण और परमेश्वर सिद्ध करते हो, फिर उनमें भूख, प्यास, अतृप्ति, चोरी, भय, पलायन, पकड़ा जाना, रोदन एवं बन्धनका वर्णन करते हो। इसका कोई रहस्य अवश्य होना चाहिए और रसिकोंके लिए आस्वादका हेतु भी, अतः वह क्या है? इसका समाधान करते हैं—यह सर्वथा सत्य है कि श्रीकृष्ण परिपूर्णतम परमेश्वर हैं तथापि उनमें भक्तोंके प्रति अनुग्रह भी अवश्य स्वीकार करना चाहिए। यदि अनुग्रह न होगा तो भगवान्के गुण किसीके प्रति सुखकारी नहीं होंगे। कठोर हृदय पुरुषको कुछ भी रुचिकर नहीं होता। फिर वे गुण भी नहीं रहेंगे। जन-सुखकारी धर्म निर्दयता-रूप दोषमें परिणत हो जायँगे। अपहतपाप्मा परमेश्वरके साथ उनकी कोई संगति नहीं लगेगी। अतएव सभी गुणोंको गुण बनानेवाला दोषान्तर विरोधी भक्तिके अनुरूप कृपा गुण ही भगवान्में स्वीकार करना चाहिए। भक्ति भगवान्को वशमें करती है। यह ठीक है तो भगवान् भी भक्तिके वशमें होते हैं। इससे उनके ऐश्वर्यमें कोई त्रुटि नहीं आती; क्योंकि वे बद्ध दशामें भी नल-कूबर, मणिग्रीवका उद्धार ही करते हैं। इससे सर्वाकर्षण और ऐश्वर्यकी वृद्धि होती है वे स्वयं ही बार-बार कहते हैं—मैं भक्त-पराधीन हूँ। भक्त निष्कपट हैं, मैं भी निष्कपट हूँ। अतः भक्तोंके आनन्दके लिए उन-उन भावोंका प्रकट होना तात्त्विक ही है। यह देखकर कुन्ती देवी मुग्ध हो गयी थीं। यह भक्तोंका भग-

हरण करनेकी लीला है। जो अपने भक्तसे इतनी ममता कर सकता है कि उसके हाथों बँध जाय तो उसकी भक्ति कोई क्यों नहीं करेगा ?

श्री वीर राघवाचार्य कहते हैं कि इस भक्तकृत बन्धनसे भगवान्‌की स्वतन्त्रतामें कोई बाधा नहीं पड़ती है। ब्रह्मा, शङ्कर आदि श्रीकृष्णके वशमें हैं। सम्पूर्ण जगत् उनके वशमें है। उन्होंने स्वयं ही यह प्रकट किया कि मैं भक्तोंके वशमें हूँ। सर्वत्र स्वतन्त्र, भक्तोंके परतन्त्र। श्रीवत्सांक मिश्रने कहा है—'अनन्याधीनत्वं तव किल जगुर्वैदिकगिरः, पराधीनं त्वां तु प्रणतपरतन्त्रं मनुमहे'। वेदवाणी आपको अनन्याधीन = किसीके अधीन नहीं कहती है परन्तु हम तो प्रणत-परतन्त्र आपको पराधीन ही मानते हैं। अनन्य भक्तोंके अधीन देववाणीका ऐसा अभिप्राय है।

सारार्थदर्शिनीकार चक्रवर्ती विश्वनाथ यह भाव विशद करते हैं—परमेश्वरका प्रेम-परवश होकर बँध जाना दूषण नहीं, भूषण है। आत्मारामकी भूख-प्यास, पूर्णकामकी अतृप्तितृष्णा, शुद्धसत्त्वका कोप, स्वाराज्यलक्ष्मीके अधिपतिका चौर्य-कर्म, महाकालके कालका भय-पलायन, मनके अग्रगामीका पकड़ा जाना, आनन्दमयका दुःखरोदन और सर्वव्यापीका बन्धन—यह सब स्वाभाविक भक्तपराधीनताका प्रदर्शन है। अज्ञानियोंके प्रति इसका उपयोग न होनेपर भी ब्रह्मा, शङ्कर, सनत्कुमारादि विज्ञानियोंको भी चमत्कृत करके इसका प्रदर्शन किया गया। इसको केवल अनुकरण-मात्र समझना भूल है; क्योंकि आगे 'तद्‌विदाम्' कहा गया है।

सिद्धान्त-प्रदीपकार श्रीशुकदेवका अभिप्राय है कि यह ठीक है, भगवान्‌में अन्तर्बाह्य, पूर्वापर आदिका व्यवहार न होनेपर भी उन व्यवहारोंका औचित्य भी है। वे अणु-से-अणु और महान्-से-महान् हैं। वे स्वयं अपने संकल्पसे बद्ध भी हो सकते हैं।

अब श्रीहरिसूरिकृत भक्तिरसायनम्‌के कुछ भावोंका सप्रेम समास्वादन कीजिये। यशोदाने अपने गुणों = रस्सी एवं सद्‌गुणोंसे जितना-जितना उद्योग किया विभुके उदरकी पूर्तिके लिए, श्रीकृष्णने भी उतने ही उतने अपने गुण असंगता, नित्यमुक्ति आदिको प्रकट किया। अतएव कन्हैयाकी मैयाके साथ यह परमानन्दजनक क्रीडा सम्पन्न हो गयी।

रज आदि प्राकृत गुण जिनका स्पर्श भी नहीं कर सकते, उन्हें यह छोटा-सा गुण (रस्सी) कैसे बाँध सकेगा ? अतएव गुणोंका पूरा न पड़ना उचित ही है।

इन्द्रियोंका बन्धन होता है, उनके अधिष्ठाताओंका नहीं। श्रीकृष्ण गोपति—इन्द्रियाधिपति हैं। गोबन्धक रज्जु उन्हें नहीं बाँध सकती।

यह प्रसिद्ध है कि अध्यस्त ही बद्ध होता है, अधिष्ठान नहीं। इस श्रुत्यर्थको स्पष्ट करनेके लिए विश्वावभासक परमात्मामें बन्धन न लग सका।[1]

जिसपर प्रभुका कृपा-प्रसाद उतरता है, जिसपर उनकी अनुग्रह दृष्टि पड़ जाती है उसे भी बन्धनका अनुभव नहीं होता। श्रीकृष्णने जब रस्सीकी ओर देखा तो वह भी मुक्त हो गयी, उसमें बन्धनकी योग्यता नहीं रही।[2]

रज्जुगुणकी न्यूनता निरन्तर यह सूचना दे रही है कि संसारके सारे गुण भी उसकी पूर्तिमें समर्थ नहीं हैं।

एक अन्धा जिसको नहीं देख सकता, उसको सौ अन्धे भी मिलकर नहीं देख सकते। सभी दाम (रज्जु) समान हैं। व्यर्थ परिश्रमसे कोई लाभ नहीं। इसी अभिप्रायको रज्जुकी न्यूनता प्रकट करती है।

बन्धन-रज्जु दो ही अंगुल कम क्यों हुई ? इसपर श्रीहरिसूरिकी उत्प्रेक्षाएँ सुनिये—

जब मैं शुद्धान्तःकरण योगियोंको प्राप्त होता हूँ तब केवल एकमात्र सत्त्वगुणसे ही मुझमें सम्बन्धकी स्फूर्ति होती है। रजोगुण और तमोगुणका सम्बन्ध नहीं होता। रस्सीमें दो अंगुलकी न्यूनताका प्रकट होना इसी सत्यको प्रकट करता है।[3]

जहाँ नाम-रूप होते हैं वहीं बन्धनका औचित्य है। मुझ ब्रह्ममें ये दोनों नहीं हैं। दो अंगुलकी न्यूनतासे यही बोधन किया गया है।[4]

रज्जुने दो अङ्गुल न्यून होकर यह सूचना दी कि इन दोनों वृक्षों (नलकूबर-मणिग्रीव)का उद्धार करके इन्हें मुक्त कीजिये।

भगवत्कृपासे द्वैतानुरागी गोकुल भी मुक्त हो जाता है और प्रेमसे भगवान् भी बद्ध हो जाते हैं। इन दो रहस्योंको दो अङ्गुलकी न्यूनता सूचित करती है।

———

१. अध्यस्तस्याश्रावि बन्धो जगत्यां नाधिष्ठानस्यांशतोऽपीति लोके।
श्रुत्यर्थस्य ख्यातये नोदरेऽभूद् बन्धस्तस्मिन् विश्वविश्वप्रकाशे॥

२. यस्मिन् कृपानुग्रहवीक्षणं विभोर्भवत्यसौ वेत्ति न बन्धसम्भवम्।
युक्तं तदा तद्धरिणा तयेक्षितं मुक्तं स्वयं दाम न बन्धभागभूत्॥

३. यदाहं प्राप्यः स्यामिह सुमनसां युक्तमनसां तदानीं सम्बन्धः स्फुरति मयि सत्त्वैकगुणतः।
द्वयोर्नेति प्रायः प्रकटितमिहेशेन स तदा यतो द्वाभ्यामूनात्तदुचितगुणाद् बन्धयुगभूत्॥

४. यत्र स्यातां नामरूपे सरूपे बन्धस्तस्यैवोचितो नोचितोऽत्र।
द्वाभ्यामूने ब्रह्मणीति व्यबोधि दाम्ना तेन द्व्यङ्गुलोनेन मन्ये॥

श्री हरिसूरि यह विकल्प उठाते हैं कि यशोदा माताने घरकी छोटी-बड़ी सभी रस्सियोंको अलग-अलग कृष्णके कटि-भागमें लगाया अथवा सबको एक साथ ? इनमें-से यदि पहली बात मानी जाय तो यह भाव ध्वनित होता है कि समदर्शी दयानिधान भगवान्‌में छोटे-बड़ेका कोई भेद नहीं है। दूसरी बात यह कि रज्जुने यह सूचना दी—प्रभुके समान अनन्तता और अनादिता हम क्षुद्रोंमें कहाँ-से आसकती है! अतः हम इन्हें बाँध नहीं सकते।

यदि ऐसा माना जाय कि सभी गुणों (रस्सियों)का प्रयोग एक साथ ही किया गया तो वे सब अनन्तगुण परमात्मामें लीन हो गये। समुद्रमें सभी नदियाँ लीन हो जाती हैं। न नाम रहा, न रूप। समुद्रमें एक मेरी श्यामता है और दूसरी यमुनाकी। दो अङ्गुलकी न्यूनताके द्वारा प्रभुने यह भाव प्रकट किया।

आश्चर्य तो यह है कि वामनकी भाँति अपने रूपको छोटा नहीं किया। त्रिविक्रमके समान बढ़ाया नहीं। रस्सी छोटी नहीं की। उनके पृथक् या युगपत् प्रयोगमें कोई बाधा नहीं डाली। फिर भी किसी रूपमें श्रीकृष्णको गुणस्पर्श नहीं हुआ।

माताकी थकान और भूषण-भ्रंश देखकर कृष्णके हृदयमें कृपाका उद्रेक हुआ। वे सोचने लगे—माताके हृदयसे द्वैत-भावना दूर नहीं होती तो फिर इसके सम्मुख अपनी असङ्गता प्रकट करना व्यर्थ है। इस भावसे उन्होंने बन्धनको स्वीकार कर लिया।[1]

भक्तके छोटे-से गुणको भी भगवान् पूर्ण कर देते हैं यही सोचकर छोटी-सी रस्सीको भी अपने बन्धनके योग्य पूर्ण बना दिया।[2]

श्रीकृष्णने विचार किया—मैं परमैश्वर्यशाली सहस्रगुण सद्वृत्ति हूँ, तथापि भक्तोंके गुणके बिना मेरे गुण पूर्ण नहीं होते। अतएव उन्होंने यशोदाके गुणोंसे अपने उदरको भर लिया।[3]

---

१. न द्वैतमस्या हृदयादपैति तत् किं वृथा स्वां प्रकटीकरोषि।
निःसंगतामित्यवधार्य ताहग् दामस्थितेरास विभुः सम्बन्धः॥

२. लघुमपि मद्भक्तगुणं हार्दस्थितितो नयामि पूर्णपदम्।
ध्वनयन्नेवमनन्तो निन्ये पूर्णत्वमेतदल्पमपि॥

३. षाड्गुण्यं भजतः सहस्रगुणसद्वृत्तेरनन्तात्मनो नित्यानन्तगुणोल्लसत्–सुचरितस्यापीह मेऽवस्थितिः।
पूर्णत्वं गुणतः प्रयाति न विना मद्भावभाजां गुणालम्बं जातुचिदित्यबोधयदसौ पूर्णोदरस्तद्गुणात्॥

अपने भक्तके प्रेमपोषक परिश्रमको भी मैं नहीं सह सकता, अन्यकी तो बात ही क्या ? मैं माताका खेद दूर करनेके लिए अश्लाघ्य बन्धनको भी सह लूँगा।[1]

तत्त्वदृष्टिसे मुझमें कोई गुण संलग्न नहीं है। यदि गण क्वचिद् भासमान भी हैं तो मध्यमें ही (जो आदि-अन्तमें नहीं होता वह मध्यमें भी नहीं होता, मिथ्या ही भासता है)। श्रीकृष्णने मानो इसी श्रौत तात्पर्यको प्रकट करनेके लिए मध्य भागमें ही रस्सीका सम्बन्ध स्वीकार किया।[2]

गोकुलगत रज्जुओंसे बन्धन अंगीकार करनेका अभिप्राय है कि गोकुलवासी ऐन्द्रियक व्यवहारमें संलग्न व्यक्ति भी प्रेमसे मुझे बाँध लेते हैं, वशमें कर लेते हैं।

महापुरुषोंका यह गौरवपूर्ण सद्गुण है कि भले ही कोई उसे न समझे, अभीष्ट कार्यकी पूर्ति कर देता है। यह दामोदर-लीलासे स्पष्ट है।

यदि दैववश खलगुणका अपने आपसे सम्बन्ध हो जाय तो बन्धनकी प्राप्ति अवश्य होती है, भले ही वह महापुरुष ही क्यों न हो। ऊखल एवं रज्जुके सम्बन्धसे श्रीकृष्णको भी बँधना पड़ा।

भगवान् श्रीकृष्णने माताके मनका निर्बन्ध (आग्रह) देखकर आत्म-बन्धन स्वीकार कर लिया। भक्तके प्रेमके सामने अपना कार्य गौण हो जाता है।

भगवान् श्रीकृष्ण अपने मनमें परामर्श करने लगे। देवर्षि नारदने नलकूबर, मणिग्रीवको शाप देकर वृक्ष बना दिया है और यह वचन दे दिया है कि शीघ्र ही व्रजराजकुमार तुम्हें मुक्त कर दें। यह ठीक है कि मैं मुक्त हूँ स्वयं और मुक्त करता हूँ दूसरोंको तथापि देवर्षिकी वाणीने तबतकके लिए मुझे बन्धनमें डाल दिया है जबतक इन दोनोंपर कृपा करके मुक्त नहीं कर देता। यही विचार करके भगवान्ने देवर्षि नारदके वचनोंके बन्धनसे ही अपनेको बद्ध बना लिया। यही तो भक्तवश्यता है।[3]

करोड़ कल्पमें भी भगवत्स्वरूप बन्धनकी सम्भावनासे युक्त नहीं हो सकता परन्तु भक्तके संकल्प और अल्पप्रयत्नसे ही बँध गये। यह लीला वस्तुतः भक्तोंका हृदय अपनी ओर आकृष्ट करनेके लिए ही है और क्या कहूँ, भगवान् भक्तके वशमें!

---

१. मत्प्रेमपोषकमपि श्रममात्मभक्त देहे सेहे न भुवि जातु कुतस्तदन्यम्।
किं चास्य खेदमपनेतुमहं सहेयेत्यश्लाघ्यमप्यकृत-बन्धनतः स्फुटं सः॥

२. न मां तत्त्वदृष्ट्या गुणः कोऽपि लग्नः क्वचिद्भासमानोऽपि चेन्मध्य एव।
इति श्रौतमर्थं तदानीमधीशः स दाम्ना स्वमध्येन मन्ये व्यतनीत्॥

३. मच्छापादचिरेण वां यदुपतिर्मोक्तेति वाचाऽऽर्षया तावद् बद्ध इवाहमस्मि सततं मुक्तोऽपि मोक्ताऽपि च।
यावद्वार्क्षपदादिमौ न कृपया सम्मोचितावित्यसौ तद्बन्धात् किमबोधयद् भुवि विभुर्भक्तैकवाग्वश्यताम्॥

श्रीधर स्वामीने अवतरणिकामें कहा है कि भगवत्प्रसाद तो दूसरे भक्तोंको भी प्राप्त होता है परन्तु यशोदा माताको जो कुछ मिला वह अत्यन्त विचित्र है। पुलकित शरीरसे शुकदेवजीने कहा कि—ब्रह्मा पुत्र हैं, शंकर आत्मा हैं और लक्ष्मी पत्नी हैं फिर भी उन्हें यह प्रसाद नहीं मिला। देहाभिमानी तपस्वी और अभिमान-रहित ज्ञानियोंके लिए भी यह गोपिकानन्दन भगवान् सुलभ नहीं हैं। उन्हें मिलते तो हैं परन्तु भक्तोंके लिए जितने सुगम हैं उतने उनके लिए नहीं।

श्री जीव गोस्वामी विस्तारसे अपना अभिप्राय प्रकट करते हैं। उनका कहना है कि जब राजा परीक्षितने यशोदानन्दके उस पुण्याचरणके सम्बन्धमें प्रश्न किया जिससे भगवान्‌की बाललीलाका आनन्द उन्हें मिला, तब शुकदेवजीने सामान्यरूपसे उन्हें महापुरुष ब्रह्माके कृपा-प्रसादका उल्लेख कर दिया। तब क्या धरा-द्रोण वसु दम्पतीको नैमित्तिक रूपसे ही यह शुभ अवसर प्राप्त हुआ? नहीं, अब तात्त्विक समाधान किया जाता है। भक्तोंके आदि गुरु हैं ब्रह्मा। वैष्णवोंके आदर्श हैं शंकर। नित्य-प्रेयसी हैं लक्ष्मी। वह तो वक्षः-स्थलपर निवास करती हैं। उन्हें भक्तिरूप प्रसादकी प्राप्ति हुई। भगवान् मुक्ति देना = जेलखानेसे छोड़ देना तो पसन्द करते हैं परन्तु भक्ति देना अर्थात् अपनी सेवामें लगा लेना सबके लिए सुलभ नहीं करते। परन्तु जो प्रसाद—अनिर्वचनीय महाप्रसाद जिसका ठीक-ठीक निरूपण प्रसाद शब्दके द्वारा भी नहीं हो सकता, वह प्रेम-परिपाक यशोदाको प्राप्त हुआ। वह ब्रह्मा, शंकर और लक्ष्मीको भी न मिला, न मिला, न मिला! तीनों नकारका अन्वय 'लेभिरे'के साथ है। लक्ष्मीको ऐश्वर्य-ज्ञान है। अवश्य ही पतिके रूपमें उनकी ममता विशेष है परन्तु यशोदाको ऐश्वर्य-ज्ञान न होनेके कारण केवल ममता ही ममता है। इसलिए यशोदाकी प्रीति ब्रह्माका प्रसाद नहीं है। वह नित्यसिद्ध श्रीकृष्ण-माता हैं। ब्रह्मा तो स्वयं व्रजरसकी प्राप्तिके लिए लालायित रहते हैं।

मूलमें स्पष्ट है कि भले ही तपस्या और ज्ञानसे महानारायण या परब्रह्म परमात्माकी प्राप्ति होती हो परन्तु गोपिकानन्दनकी प्राप्ति उनके लिए भी कठिन है। बिना किसी विशेषणके गोपिका-सुत कहनेका अभिप्राय यह है कि गोपिका ही सबके लिए उपादेय है। 'इह' शब्दके प्रयोगका यह भाव है कि गोपिका और गोपिका-सुतकी स्थिति नित्य है और सभी देशमें, सभी कालमें सच्चे प्रेमियोंके लिए वे सुलभ हैं। यशोदाके समान ही नन्दबाबा आदि परिकर भी नित्य ही हैं। धरा-द्रोणके रूपमें जो निरूपण किया गया था वह तो जबतक पूर्णतया लीला-रहस्यका प्रबोध न हो जाय, तभीतकके लिए कहा गया था।

श्री वीर राघवाचार्यका भाव है कि भगवत्प्रसाद भक्तिसे ही प्राप्त होता है! उसके लिए ब्रह्मा-शंकर या लक्ष्मी होनेकी आवश्यकता नहीं है, प्रेम-पूर्वक अनुध्यानादि-रूप भक्तिकी आवश्यकता है। जब वह गोपीके हृदयमें विद्यमान है तब उसे भगवत्प्रसाद अवश्य ही प्राप्त होना चाहिए। उसीके लिए वे सुख-साध्य हैं।

श्री विजयध्वजतीर्थ कहते हैं कि निरन्तर निरतिशय भक्ति ही वह परम सुन्दरी नायिका है जो भगवान्‌को भी अपनी ओर आकृष्ट करनेमें परम विदग्ध है।

आचार्य वल्लभने कहा— भगवान् श्रीकृष्णने यहाँ नयी बात क्या दिखलायी? ऐसा भाव तो पुरातन कालसे ही शास्त्रोंमें प्रसिद्ध है। इसकी मीमांसा कीजिये। जो प्रसाद यशोदाको मिला वह इससे पहले किसीको नहीं मिला। यह महान् भक्तोंको ही प्राप्त होता है। भक्तोंमें भक्तिसे और स्वरूपसे तीन महान् हैं—ब्रह्मा पुत्र हैं, भक्त हैं, प्रवृत्तिमार्गके सब धर्मोंके प्रवर्तक हैं और सबके पिता हैं। महादेव पौत्र हैं, निवृत्ति-धर्मोंके प्रवर्तक हैं, प्रलयके हेतु एवं गुणावतार हैं। भगवान्‌के लिए ही सब कुछ छोड़कर तपस्या करते हैं। इन दोनोंसे अन्तरंग हैं लक्ष्मी। वह पत्नी हैं। ब्रह्मानन्द-स्वरूप हैं, जगज्जननी हैं। वक्षःस्थलपर निवास प्राप्त होनेपर भी चरण-सेवामें संलग्न हैं। जब इन्हींको यह प्रसाद नहीं मिला तो दूसरेको कहाँ-से मिलेगा? इनमें-से किसी एकको नहीं मिला तथा पूरे समुदायको नहीं मिला—यह सूचित करनेके लिए तीन बार नकार और बहुवचनमें 'लेभिरे' क्रियाका प्रयोग है। इनमें कोई त्रुटि भी नहीं है; क्योंकि तीनों भगवान्‌के अंगाश्रित हैं। वक्षःस्थलपर लक्ष्मी, नाभिमें ब्रह्मा और चरणोंमें शंकर। यशोदामें ये तीनों विशेषताएँ नहीं हैं। जो प्रसाद मिला वह अनिर्वचनीय है। सबको मुक्ति देनेवाला अपनेको बन्धनमें डाल दे, यह क्या कम आश्चर्य है? यदि यशोदाका दुःख ही दूर करना था तो ज्ञान या कैवल्य देकर उसे दूर कर सकते थे। सचमुच भक्तको भक्तिके बन्धनमें डाल देना सबसे बड़ा प्रसाद है।

ब्रह्मा आदि महान् हैं और यशोदा तो श्रीकृष्णको ईश्वरके रूपमें पहचानती भी नहीं। ऐसी स्थितिमें यशोदाके प्रति प्रसादानुग्रह उनके प्रति किये गये प्रसादानुग्रहसे बड़ा कैसे हो सकता है? ध्यान दीजिये—यहाँ बन्धनमात्र विवक्षित नहीं है किन्तु वश्यता, भक्तवश्यता विवक्षित है। वह किसी औरको नहीं मिलती। देहाभिमानी कर्मी और निरभिमान मुक्त ज्ञानी दोनोंके लिए यह भगवान् सुखलभ्य नहीं हैं। एकमें देहाभिमान दोष है तो दूसरेमें भगवान्‌के प्रति भी निरपेक्षता। क्या पार जाने मात्रसे ही महाराजकी प्राप्ति हो जाती है। विशेषता यह है कि भक्तोंको इसी लोकमें मिल जाते हैं, क्योंकि वे गोपीके पुत्र हो गये हैं। इसका अभिप्राय ही यह है कि लोग इसी लोकमें, इसी अवतारमें भक्ति करें।

श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती कहते हैं—भक्तोंके वशमें भगवान् हैं। भक्तोंमें भी श्रीव्रजेश्वरीके तो सर्वथा ही अधीन हैं। अपार परवशता धारण किये हुए हैं। मूलमें 'विमुक्ति' शब्दका अर्थ है—विशिष्ट मुक्ति = प्रेम। उसे देनेवाले हैं श्रीकृष्ण। कृष्णसे यशोदाको जो प्रसाद प्राप्त हुआ वह ब्रह्मा, शिव, लक्ष्मीको भी नहीं मिला। नकार और क्रियापदकी तीन बार आवृत्ति कीजिये अतिशय अप्राप्त है—यह अर्थ है। दूसरा अर्थ इस प्रकार है—ब्रह्मा, शङ्कर और लक्ष्मीको प्रसाद नहीं मिला, ऐसा नहीं, मिला तो सही परंन्तु जो प्रसाद गोपीको मिला, वह उन्हें नहीं मिला। ब्रह्मा और शिव दास हैं उनसे श्रेष्ठ लक्ष्मी हैं, वक्ष स्थलपर स्थित प्रेमवती पत्नी। जो प्रसाद उन्हें नहीं मिला वह प्रसाद यशोदाको कैसे मिला? क्योंकि वे तो पहले

वसुपत्नी धरा थीं। ब्रह्माको प्रसाद न मिले और वे जिसको वर दें उसे मिल जाय—ऐसा कैसे हो सकता है? ब्रह्मा व्रजरसके प्रेमी हैं। इस उक्ति-युक्तिसे सिद्ध होता है कि नन्द-यशोदा नित्य सिद्ध हैं।

भागवत-सिद्धान्त है कि भगवत्प्रेम ही सब पुरुषार्थोंका शिरोमणि है। भक्त नित्यसिद्ध होंगे तो उनमें प्रेम भी नित्यप्रतिष्ठित होगा, अन्यथा अनित्य हो जायगा। भक्तोंमें गोकुलवासी श्रेष्ठ हैं, क्योंकि वे वात्सल्य, सख्य आदि भावसे प्रेम करते हैं। उनके रागानुगामी भक्तोंको ही कृष्ण सुलभ हैं। देहाभिमानी कर्मी, देहाध्यास रहित ज्ञानी और भगवान्के ही अवतार ब्रह्मा-शंकर तथा स्वरूप-शक्तिरूपा लक्ष्मी—ये भगवान्के आत्मभूत ही हैं, तथापि उनके लिए ये सुलभ नहीं हैं। ब्रह्मा, शंकर आदिको अपने-अपने लोकमें रहना पड़ता है, लक्ष्मीको भी। वे व्रजरसका आस्वादन कैसे कर सकते हैं? व्रजवासियोंकी अनुगति भी उनके लिए अप्राप्य है।

सिद्धान्तप्रदीपकारका अभिमत है कि भक्ति मुक्तिसे भी दुर्लभ है—यह इस प्रसंगमें कहा गया है। भक्ति-सम्बन्ध-वर्जित धर्म, योग, ज्ञान भगवत्प्राप्तिके साधन नहीं हैं। भक्ति ही एकमात्र भगवत्प्राप्तिका साधन है।

भक्तिरसायनकार श्रीहरिसूरि कहते हैं कि भगवान् जिन्हें बाललीलाका सुख देते हैं, उन्हें ऐश्वर्यका सुख नहीं और जिन्हें ऐश्वर्यका सुख देते हैं उन्हें बाललीलाका सुख नहीं। परन्तु अपने श्रेष्ठ भक्तोंको वे दोनोंका ही सुख देते हैं। बन्धन न होनेसे ऐश्वर्यसुख है और होनेसे बाललीला-सुख। यशोदाको दोनों प्राप्त हुए।[1]

उलूखलबन्धन-लीला भृत्यवश्यता, प्रेम-परवशता, वात्सल्य-स्नेहका अनुपम उदाहरण है। भगवान्में कितना अनुग्रह है और मातामें कितना प्रेम है—इन दोनोंका स्पष्ट दर्शन होता है इस लीलामें।

इसमें सन्देह नहीं कि यह लीला भावुक भक्तोंको लीन—तन्मय कर लेती है अपनेमें। प्रेम-भक्तिके लिए उन्मुख करती है। यमलार्जुन-उद्धारकी लीलापर फिर कभी अनुसन्धान करेंगे। इस प्रसंगमें यह उल्लेख करके, कि भगवान्का बन्धन भी दूसरोंकी मुक्तिका साधन है जैसे नलकुबर-मणिग्रीवका उद्धार, हरिसूरिके भक्तिरसायन-स्थित एक श्लोकका रसास्वादन करें—

अन्य एव मम बन्धकी भवत्यन्य एव मम मोचकोऽपि च।
न स्वतोऽस्ति मम बन्धनं न वा मुक्तिरित्यकृत स स्फुटार्थकम्॥[2]

---

१. येषां बालतया सुखोदयकरस्तेषां न षाड्गुण्यतो येषां तादृग्रूपतश्च सुखदस्तेषां न बालत्वतः।
सच्चिद्रूपतया च बालकतया निःसीमसौख्यप्रद—स्तेषामेव सुभक्तिमन्त इह येऽग्रोदाहृतिर्गोपिका॥

२. यह श्रीहरिसूरिकृत 'श्रीभक्तिरसायनम्' ग्रन्थ 'प्रथा'-टीका सहित संस्कृतमें सत्साहित्य-प्रकाशन ट्रस्ट, २८.१६, बी० जी० खेर मार्ग, बम्बई-६ से प्रकाशित है।

भगवान् श्रीकृष्ण अपने मनमें विचार कर रहे हैं कि दूसरा ही कोई (जैसे माता) मुझे बन्धनमें डाल देता है, बद्ध समझ लेता है और दूसरा ही कोई (जैसे पिता नन्द) मुझे मुक्त कर देता है अर्थात् मुक्तके रूपमें साक्षात्कार कर लेता है। मेरे वास्तविक स्वरूपमें न बन्धन है और न मुक्ति।

भगवान् बद्ध या मुक्त ?

ऊखल-बन्धनमें बन्धन-लीला ही मुख्य है। भगवान् जीवोंके कल्याणके लिए बन्धन भी स्वीकार करते हैं। इसके पाँच दृष्टिकोण हैं। (i) महापुरुषके आशीर्वादसे बँधते हैं। (ii) भक्तके प्रेमसे बँधते हैं। (iii) जब कोई, चाहे किसी भी कारणसे काम, लोभ, क्रोध, झूठ, दम्भ एवं चोरी स्वीकार करेगा, तब वह भले ईश्वर ही क्यों न हो, उसे भय, पलायन एवं बन्धनमें पड़ना पड़ता है। (iv) भगवान्में स्वतः बन्धन नहीं है, प्रेमियोंके प्रेमका ही बन्धन है। वे स्वतः सर्वदा मुक्त हैं। (v) भगवान् नित्य मुक्त हैं, उनमें स्वतः मुक्ति भी नहीं है। उन्हें भक्त ही मुक्त भी करते हैं। भगवान्में स्वयं न बन्धन है, न मुक्ति।

महापुरुषके वरदानसे यशोदा-नन्दको ऐसा परमानन्द मिला कि वे भगवान्को रस्सीसे ऊखल तकमें भी बाँध सके परन्तु आश्चर्य तो यह है कि कुबेर जैसे धनीके पुत्र जो मृत्युके देवता रुद्रके अनुचर थे, जवानीके मदके साथ-साथ मदिरा भी पीकर उन्मत्त थे और नग्न होकर अनाचारमें संलग्न थे, उनपर भी देवर्षि नारदके शापरूप वरदानसे भगवान्की अपार कृपा हुई और वे अयोग्य भी योग्यतम हो गये। श्रीकृष्णने देवर्षि नारदके शापको अपने बन्धनके रूपमें स्वीकार किया और जबतक नलकूबर-मणिग्रीव जड़ताके बन्धनसे मुक्त नहीं हो गये, तबतक वे भी बन्धनमें रहे। यह बन्धन श्रीकृष्णके नित्य-मुक्त होनेसे भी श्रेष्ठ है; क्योंकि इन्हींके द्वारा भगवान् भक्तोंका सत्कार करते हैं। श्रीवत्सांकाचार्यने सहस्रनामके भाष्यमें लिखा है कि भगवान्को सत्कृति नामसे इसलिए नहीं जाना जाता कि वे सृष्टि-स्थिति करते हैं या उत्तम-उत्तम लीलाएँ रचते हैं। उन्हें सत्कृति इसलिए कहा जाता है कि वे चोरके रूपमें देखना चाहनेवाली गोपियोंके घरमें चोर बनकर जाते हैं, भक्तोंके हाथसे रस्सीके द्वारा ऊखलमें बँध जाते हैं और भक्तोंकी इच्छा पूरी करते हैं, उनसे छेड़-छाड़ करते हैं। भक्तोंको इस कृतिसे जो रसास्वादन होता है वह अन्य किसी दूसरी लीलासे नहीं होता है। भगवान् प्रेमपरवश हैं, भक्तोंके पराधीन हैं। भगवान्की यह भृत्यवश्यता देखकर शिव, सनकादि भी मुग्ध-मुग्ध होकर परमानन्दमें मग्न हो जाते हैं।

प्रेमका उदाहरण :

भगवान्की भगवत्ता देखकर उनकी भृत्यवश्यता देखकर ज्ञानी पुरुष तो आनन्दमें मग्न हो जाते हैं, परन्तु प्रेमियोंके चित्तकी दशा दूसरी हो जाती है। इसका यह अर्थ नहीं है कि प्रेमी अज्ञानी होते हैं। अभिप्राय यह है कि प्रेमका उत्कर्ष ज्ञानको अभिभूत कर देता है। साधारण जीवनमें भी कभी-कभी आनन्दकी अनुभूति अपने व्यावहारिक ज्ञानको शिथिल कर देती है। जहाँ स्वयं भगवान् प्रकट हों और

अपने स्वरूपकी महिमासे ही रसदान कर रहे हों, वहाँ ज्ञान अभिभूत हो जाये इसमें क्या सन्देह है ? ज्ञानवृद्ध, वयोवृद्ध गोपोंको बृहद्वन गोकुलमें उत्पातोंका अनुभव हुआ। उन्होंने निश्चय किया कि कहीं और उत्पात हों इससे पहले ही यह स्थान छोड़कर दूसरे स्थानमें चलना चाहिए। कृष्णके लिए उपयुक्त स्थान वृन्दावन ही रहेगा। प्रेमियोंका हृदय अनिष्टकी आशङ्कासे ग्रस्त एवं त्रस्त हो जाता है। एक बालकके लिए सबके हृदयका दुलारा था, नयनोंका तारा था, प्राणिमात्रका प्यारा था, उसके लिए गाँवके बड़े बूढ़ोंने अपनी पीढ़ी-दर-पीढ़ीसे निवास-भूमि बृहद्वनका परित्याग कर दिया, वृन्दावनका आश्रय लिया। यह अत्यन्त उत्कृष्ट प्रेमका उदाहरण है।

वृन्दावन-दर्शन :

वृन्दावन वन है। श्रुतियोंमें प्रश्न आता है—वह वन क्या है ? उत्तर है—वह वन ब्रह्म ही है। उपनिषदोंमें भी वनके रूपमें ब्रह्मकी उपासना है। जिस वनमें भगवान् विहार करते हैं वह ब्रह्म नहीं तो और क्या है ? इसका कारण यह है कि जैसे भगवान् चिन्मय ध्येय हैं वैसे ही भूमि, वन, वृक्ष, लता, नदो, सरोवर, पशु, पक्षी सभी ध्येय हैं। ध्येय वस्तु चिन्मय ही होती है। वह जड़-प्रचुर नहीं, चित्-प्रचुर होती है। निश्चय ही वृन्दावनकी सभी वस्तुएँ आनन्द चिन्मय रससे प्रतिभावित हैं। वहाँके कंकड़-पत्थर—चिन्तामणि, वृक्ष—कल्पवक्ष एवं गौयें—कामधेनु हैं। एक ही भगवान् रसिक, रस्य एवं रसके रूपमें लहराते रहते हैं। ठीक है वृन्दावनके दर्शनसे राम-कृष्णके मनमें उत्तम प्रीतिका उदय हुआ :

वत्सासुर :

भूदेवीके संरक्षण एवं संवर्द्धनके लिए भगवान्का प्रादुर्भाव हुआ है। यदि गिरिवनमें विहार नहीं करेंगे तो भूदेवीको चरण-स्पर्श कहाँसे मिलेगा ? इसीसे भगवान् पृथिवीमें लोट-पोट होते हैं, मिट्टी खाते हैं। पृथिवीको विविध प्रकारका सुख देते हैं। ग्वालबालोंके साथ वत्सचारण करनेके लिए बनमें जाते हैं। वे भी गोरूप धारिणी पृथिवीकी सन्तान हैं। अपने पुत्र हैं अतएव ममता-भाजन हैं। संसारके दो ही तो दोष हैं—(i) अहंकार (ii) ममता। ममतामें आसुर भाव आना सम्भव है। वह गोवत्सोंमें वत्सासुर बनकर आगया। कृष्णने उसको पहचाना और बलरामको साक्षी बनाकर उस असुरका संहार कर दिया। पक्षपातरहित पालन ही पालन होता है।

बकासुर :

किसीकी अच्छी आकृति देखकर सम्मोहित नहीं हो जाना चाहिए। वृन्दावन वृन्दावन है, जलाशय है। अपने जलरससे ग्वालबालों, बछड़ोंको तृप्ति देता है। इसमें आगया बकासुर, श्वेतवर्ण, मौनी, एक पाँवपर खड़ा, मूर्तिमान् दम्भ। श्रीकृष्णको निगल जाना चाहा। कृष्णने कहा—भले अपने मुखमें रख लो, मेरा रूप मुखमें रखनेका नहीं है। अपने मुखको कृष्णवर्त्मा (अग्नि) मत बनाओ, जल जाओगे। उसने

उगल दिया। कृष्णने उसको चीरकर दो टुकड़े करके उसकी पोल-पट्टी खोल दी। दम्भ बकका रहस्य-भेदन हो गया, वह मर गया।

अघ-नाश लीला :

अघासुरका उद्धार, सखाओंके साथ वनभोजन, ब्रह्माको मोह आदि कुछ ऐसी लीलाएँ हैं, जिनको देखनेपर एक अद्भुत आश्चर्य होता है। शृङ्गध्वनिसे सोते हुए ग्वालबालोंको जगाना, ग्वालबालोंका जाग्रत् होना, वनमें जाना, तरह-तरहके विहार करना, अघासुरसे ग्रस्त होना, भगवान्‌के द्वारा उनकी रक्षा, फिर उनके साथ जीवन्मुक्तके समान विहार करना, यह सब ऐसी लीला है जिससे पूर्व सृष्टिके सुषुप्त जीवोंके जाग्रत् होनेसे लेकर जीवन्मुक्तिके विलक्षण सुख तककी एक झाँकी प्रस्तुत कर दी गयी है।

मूलमें देखिये, भगवान्‌ने मनको स्वीकार करके वन-विहारका संकल्प किया। अनाहत-ध्वनिसे प्रलयनिद्रामें सोते हुए जीवोंको जगाया। स्वयं उनके साथ वनमें प्रवेश करते हैं। श्रुतियोंमें यही तो सृष्टि-क्रम है। उन्हीं प्रभुके साथ अगणित जीव अपने-अपने प्रारब्धकर्मके अनुसार विविध प्रकारके भोग्य पदार्थ लेकर प्रपञ्च-विपिनमें प्रवेश करते हैं। उनके आगे-आगे इन्द्रिय—गोवत्स चल रहे हैं। ग्वाल-बालोंके भोगकी पृथक्ता जीवोंके भोगके समान ही है। कोई सत्त्व-रज-तम—इन तीन गुणोंके अनुसार व्यवहार करते हैं और कोई-कोई गुणातीत जीवन्मुक्तके समान कौतुकवश एक दूसरेकी वस्तु लेकर देख लेते हैं, भोक्ता नहीं बनते हैं और परमानन्दमें मग्न रहते हैं। कोई भगवान्‌के दर्शनके लिए होड़ लगाते हैं कोई भगवान्‌को भूलकर भोग्यवस्तुमें फँस जाते हैं, कोई पशु-पक्षीके समान होकर आनन्द लेते हैं और कोई भगवान्‌को देते हैं, कोई नाना प्रकारको जीव-योनियोंका अनुकरण करते हैं, कोई बिम्बसे पृथक् प्रतिबिम्बको देखकर उसका उपहास करते हैं। इस प्रकार लीला-वर्णनको कोई हलकी-फुल्की बात समझकर उपेक्षा करना उचित नहीं लगता।

यह एक अद्भुत लीला है, जीव जब भगवान्‌की समानता करने लगता है और स्वच्छन्द चेष्टामें लग जाता है तब अघासुर आजाता है। अघ माने पाप। भोगके बिना अघका नाश नहीं होता। उसका मुँह बहुत बड़ा है। जीवोंके लिए उसको पहचानना कठिन है। वे अनजानमें ही उसके मुँहमें घुस जाते हैं। जीवोंके शरीरमें अनुप्रविष्ट भगवान् भी वहाँ जाते हैं। क्या अघासुरके मुँहमें भगवान् न जायें? जायें न जायेंका प्रश्न क्या है? वे वहाँ पहलेसे ही विद्यमान हैं। अघासुरके अन्दर भगवान् आये, उसने अपना मुँह बन्द किया, उसके प्राणोंसे एक होकर भगवान् बाहर निकल आये, अघासुरकी आत्मज्योति श्रीकृष्णसे मिल गयी। अघासुरकी आत्मा श्रीकृष्णकी आत्मासे एक है—यह एक आश्चर्य है। कर्ता जीवोंको उनके कर्मानुसार जाति, आयु एवं भोग देनेवाले ब्रह्माके लिए भी यह समझना कठिन है कि अघासुरको एकता कैसी, मुक्ति कैसी!

सृष्टिका रहस्य :

अनन्तसुन्दर आनन्दमय वृन्दावनमें विधि-विधानकी मूर्ति ब्रह्माजी आये, उन्होंने आनन्दकन्द श्यामसुन्दर नन्द-नन्दनको ग्वाल-बालोंके साथ भोजन करते देखा। न कोई शास्त्रीय विधि, न श्रौत-स्मार्त पद्धति, उच्छिष्ट-अनुच्छिष्टका विचार नहीं, भोजन हो रहा है। सबको लगे—कृष्ण हमारे साथ भोजन कर रहे हैं, हमें देख रहे हैं, हमें प्यार कर रहे हैं, जैसे हम वैसे ये, बछड़े हरी-हरी घासके लोभमें दूर चले गये थे। सामने विराजमान कृष्णको छोड़कर बछड़ोंकी चिन्ता करने लगे। जब बछड़े और ग्वालबाल श्रीकृष्णसे विमुख हुए तब ब्रह्माने उनका अपहरण करके मायाकी शय्यापर सुला दिया। भगवान्‌से विमुख होनेपर ही विधि-निषेध लागू होते हैं। ब्रह्माजीके मनमें यह संकल्प उदय हुआ कि श्रीकृष्णको और कोई मधुर, मञ्जुल लीला देखें। श्रीकृष्णने सचमुच उन्हें ऐसी ही ललित लीलाका दर्शन कराया।

वह क्या लीला थी? जो जिस कर्ममें निपुण हो उसको उसी कर्ममें अधिक-से-अधिक निपुणता दिखानी चाहिए। ब्रह्मा सृष्टि-कर्ममें विदग्ध हैं, उन्हें इसी विषयकी निपुणता दिखानी चाहिए। यहाँ क्या निपुणता है? ब्रह्मा सृष्टि बनाते हैं, परन्तु कैसे? पहलेसे जीव है, अन्तःकरण है, वासना है, कर्म है, उसके अनुसार जीवको शरीर दे दिया। बनाया क्या? जैसे विभिन्न अवयवोंको जोड़कर एक यन्त्र बना दिया गया हो। भगवान्‌की सृष्टिमें नवीनता क्या है? पहलेसे न जीव है, न प्रकृति, न अन्तःकरण, न वासना, न कर्म, परन्तु सृष्टि वैसी-की-वैसी ही बन गयी। न पृथक् उपादान है मिट्टीकी तरह, न पृथक् निमित्त है कर्मकी तरह, समवायी, असमवायी कोई कारण नहीं है। इस सृष्टिके भगवान् ही अभिन्न निमित्तोपादान कारण हैं और वह भी बिना किसी परिणामके, बिना परिवर्तनके, ज्यों-के-त्यों। सृष्टिके रहस्यका इससे अधिक तात्त्विक विवेचन क्या हो सकता है? ब्रह्माजीकी स्तुतिमें यह अभिप्राय स्पष्ट हो गया है। न बन्धन है, न मोक्ष, तत्त्वके अज्ञानसे ही सब कुछ प्रतीत हो रहा है। जैसे विचार करनेपर सूर्यमें रात्रि-दिनका भेद नहीं है वैसे ही प्रत्यग्ब्रह्ममें किसी प्रकारका भेद नहीं है। जो परमात्माको आत्माके रूपमें नहीं जानते, उनके लिए अज्ञानसे ही यह हुई है और ज्ञानसे ही मिट जाती है। अज्ञानसे जो हुई सो हुई ही नहीं, ज्ञानसे जो मिटी वह पहलेसे थी ही नहीं। ब्रह्मस्तुति सचमुच भागवतका एक उत्तम रत्न है।

वृन्दावन और वहाँके निवासियोंकी महिमाका वर्णन ब्रह्मा तो करते ही हैं स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण भी अनेक प्रसङ्गोंमें पुनः-पुनः करते हैं। वृन्दावनके वृक्ष भगवान्‌के चरणोंकी पूजा करनेके लिए पुष्प-फलकी सामग्री लेकर चरणोंमें सिर झुकाते हैं, और हमें यहाँसे बाहर न जाना पड़े—इस दोषकी निवृत्तिके लिए जानबूझकर उन्होंने वृक्ष-जन्म धारण किया है। भौंरोंके रूपमें ऋषि-मुनि हैं। मयूर और हरिणी प्रेमसे परिप्लुत हैं। धन्य है वृन्दावन, बलदेवके मिससे श्रीकृष्ण स्वयं जिसकी स्तुति करते हैं।

अध्यास मिटाइये :

भगवद्-रस, ब्रह्म-रस या वृन्दावन-रसके आस्वादनमें सबसे बड़ी बाधा है देहाध्यासकी, उसीको यहाँ धेनुकासुर कहा गया है। देहाध्यास नैसर्गिक एवं चिरकालसे अनुवृत्त है। उसकी निवृत्तिके लिए अभ्यासकी भी आवश्यकता होती है। अभ्यास-योगके आचार्य हैं शेष। अतः बलरामके द्वारा उसका वध होता है, फिर सभीके लिए तार अर्थात् प्रणवका फल—मोक्ष सुलभ हो जाता है। तालफलके आस्वादनमें भी कोई बाधा नहीं रहती।

कालियनाग-दमन :

यमुनाजीकी महिमा सुप्रसिद्ध है। वेदमन्त्रोंमें भी इस नदीका नाम मिलता है। यह व्रज एवं द्वारका—दोनों स्थानोंकी लीलामें भगवान्की प्रेयसी हैं। यह भौतिक रूपमें जल हैं किन्तु आधिदैविक रूपमें सूर्यपुत्री कालिन्दी हैं। इनके अन्दर कालिय नागका निवास उचित नहीं है। कालिय नाग इन्द्रियाँ हैं, उनके सहस्र-सहस्र फन हैं, उनका विषय-सम्पर्क ही विष है। जबतक भगवान् अन्तःकरण-वृत्तिरूप यमुनामें प्रवेश नहीं करेंगे, तबतक यह विषय-सम्पर्करूप काम निवृत्त नहीं हो सकता। श्रीकृष्णने यमुनाजीके उदरमें निवास करनेके कारण इसका वध नहीं किया, इसको इसके स्थान रमणक द्वीपमें भेज दिया। इस प्रसङ्गमें यह ध्यान देने योग्य है कि व्रजवासियोंको विशेषकर गोपियोंको वनसे आते-जाते समय श्रीकृष्णका दर्शन करके जो आनन्द आता था, नेत्र-से-नेत्र मिलते थे, रूप-रसका पान होता था, उस रस-सम्भोगके लिए वियोगकी आवश्यकता थी। थोड़ी देरतक कालिय-दहमें रहनेके कारण व्रज-वासियोंको एवं विशेष करके माता-पिता, गोपियोंको जो दुःख हुआ, वह हृदयमें गुप्त एवं सुप्त प्रेमको जगाने और बढ़ानेमें बहुत ही उपयोगी सिद्ध हुआ। कौन कह सकता है कि भगवान् लोगोंको अपने प्रेमकी शिक्षा देनेके लिए इस लीलाके द्वारा उनके प्रेमकी अभिवृद्धि करना न चाहते हों?

क्रोधाग्नि-शमन :

दावानल दो प्रकारका है, एक देवता, दूसरा दैत्य। कालिय नागके प्रसङ्गमें भूखे-प्यासे व्रजवासी गौएँ, गोप, गोपी—सब रात्रिके समय वहीं कालिय-दहपर सो गये। अग्नि देवताने विचार किया कि प्रातःकाल ये उठकर आस-पासके फल-फूल, घास-पातका उपयोग करने लगेंगे। यहाँ तो सब-का-सब कालिय नागके विषसे दूषित है, फिर क्या होगा? ओह! इन्हें पहले ही जला देना चाहिए। भक्तोंकी सेवा करनेके लिए अग्निदेवने रात्रिमें ही उन्हें भस्म कर दिया। श्रीकृष्णने प्रसन्न होकर उन्हें मुखारविन्दमें स्थान दिया। विराट् पुरुषके मुखसे ही अग्निकी उत्पत्ति हुई है—कार्य कारणमें लीन हो गया। दैत्य-अग्नि आया है मुञ्जाटवीमें। वह गाय एवं गोपोंको कष्ट देनेके लिए आया था परन्तु भगवान्ने उसको भी अपने मुखारविन्दमें ही स्थान दिया। इतना अवश्य हुआ कि उस समय ग्वालबालोंकी आँख बन्द करवा दी थी।

वह लीला भक्तोंके दर्शन योग्य नहीं थी। भक्तोंके लोभाग्नि धेनुक-वध लीलामें, कामाग्नि कालिय-दमन लीलामें और क्रोधाग्नि दावानल-पान लीलामें शान्त किये गये। इनके रहते प्रेमकी अभिव्यक्ति प्रतिबद्ध रहती।

प्रेम-रस :

यह बात पहले भी कही जा चुकी है कि वृन्दावन ध्येय भूमिके कारण चिन्मय है। सत्‌की प्रधानतासे आकृतियाँ, चित्‌की प्रधानतासे वृत्तियाँ और आनन्दकी प्रधानतासे सुखका उल्लास होता है। वृत्तियोंमें सुखकी झलक ही 'प्रेम' संज्ञा धारण करती है। अतएव वृन्दावनका वर्णन करते समय वन-पंक्तियोंका विविध रंगके पुष्पोंसे युक्त होना, मानो भाव-पुष्पोंकी कलियाँ खिल गयी हों! मतवाले भ्रमरोंकी गुञ्जार मानो प्रेमी तन्मय होकर रस-संगीत गा रहे हों! द्विज अर्थात् पक्षी एवं ब्राह्मणोंके द्वारा कलरव जैसे ऋचाओंका सस्वर पाठ हो रहा हो! सरोवर जैसे महात्माओंका हृदय हो! नदियाँ जैसे चित्तवृत्तिका कृष्णोन्मुख प्रवाह हो और पर्वत मानो प्रेमनिष्ठाकी दृढ़ता हो! इस प्रकारकी झाँकी प्रस्तुत की गयी है। इसीमें मधुपति भगवान् बाँसुरी बजाते हुए, गायोंको चराते हुए ग्वालबालोंके साथ प्रवेश करते हैं। वे मधुपति अर्थात् वसन्त होकर वनमें आते हैं। क्यों आते हैं? भव-वनमें रहने, आने-जानेवाले जीवोंको मधु पिलानेके लिए। इस मधुका ऋचाओं और उपनिषदोंमें अनेकशः संकेत है। जीव जब निस्साधन एवं कुसाधन हो जाता है तब स्वयं भगवान् अपनी ओरसे ही लीला प्रकट करके जीवोंको आलिंगन देते हैं और अपनेमें मिला लेते हैं। जब जीव कर्ता है तब ईश्वर भी कर्ता है और जीवके कर्तृत्वसे ईश्वरका कतृत्व अत्यन्त समर्थ है। ईश्वरकी ईश्वरता बहुमूल्य शृङ्गारमें नहीं है, मयूर-पिच्छ, कर्णिकार-पुष्प, गुञ्जा, माल्य आदि धारण करनेमें ही है। अल्पशक्ति जीवको अपना बल दिखाना होता है, परन्तु सर्वशक्ति असाधारण ईश्वरको साधारण शृङ्गारसे ही अपनेको आभूषित करना होता है। जीव ईश्वरसे नहीं मिलता है, ईश्वर ही जीवसे मिलता है।

एक ओर है भगवान्‌का अनुग्रह, दूसरी ओर है गोपियोंका प्रेम। वे गाय चरानेके बहानेसे आते-जाते हैं और गोपियाँ उनके अनुराग-भरे नेत्रोंसे नेत्र मिलाकर मुक्तिका अनुभव करती हैं। ज्ञान चरितार्थ होता है एकतामें, ध्यान तन्मयतामें, प्रेम रसानुभूतिमें और शारीरिक सेवा मिलनमें। नेत्र-नेत्रसे मिलते हैं यह जीवनका फल है। कितना साधारण शृङ्गार है परन्तु असाधारण भाव देता है। यह व्रजके वृक्ष और लताएँ भगवद्-रसको प्रकट करती हैं कि गोपियोंको दृष्टिसे इनमें रसका दर्शन होता है! वृन्दावनके पशुपक्षी प्रपञ्च-दर्शनसे विमुक्त होकर श्रीकृष्णके प्रेममें मग्न हैं, हरिणियाँ प्रेमभरी दृष्टिसे देखती हैं और श्रीकृष्ण उनके नेत्र-से-नेत्र मिलाते हैं। देवियाँ मुग्ध हैं, गाय-बछड़ोंके शरीरमें रोमाञ्च है, नेत्रोंमें आँसु हैं, भोगका विस्मरण है, पक्षी खुली आँखोंसे देखते हैं, मौन रहकर वंशी-ध्वनि सुनते हैं। नदियाँ मिलनकी लालसासे स्थिर हो जाती हैं और चरणोंपर कमल चढ़ाती हैं। मेघ छाया करते हैं और कृष्णपर प्रेम-रसकी

वर्षा करते हैं ! गाँवकी भीलनें भी तो इससे वञ्चित नहीं हैं, पर्वत भी सेवा करता है, वृक्षोंसे मधुधाराका क्षरण होता है । चर अचर और अचर चर हो जाते हैं ।

यह सब क्या है ? चिन्मय वृन्दावन है, भगवद्-रसकी अभिव्यक्ति है, अनुग्रह है । चेतन चेतन नहीं होता, जड़ जड़ नहीं होता । यह भगवत्प्रेमका रसमय अभिव्यञ्जन है, जो कण-कणमें प्रकट हो रहा है । यह है वृन्दावन । इसमें जड़-चेतनका विभाग नहीं है, केवल सच्चिदानन्दघन है । स्थिर भी चञ्चल है, कोई पीकर जड़ हो गया है कोई प्यासा होकर पी रहा है । अच्छा, यह है गोपियोंकी प्रेममयी दृष्टि । उन्हें जो कुछ जड़-चेतन दीखता है सब प्रेमसे भरा हुआ है । सृष्टिमें जड़-चेतन कुछ नहीं है, स्थिर-चञ्चल कुछ नहीं है, सब अपने भावका उल्लास है, प्रेमका विलास है । वह कितनी दृढ़ एवं गाढ़ प्रेम दृष्टि-होगी जिससे सबमें प्रेम ही प्रेमका दर्शन होता है । वृन्दावन अर्थात् भगवान्के अनुग्रह एवं भक्तके प्रेमका मिलन-स्थान है ।

तब क्या प्रेममें पौरुषका कोई स्थान नहीं है ? है क्यों नहीं, जिससे प्रेम है, उससे मिलनेके लिए प्रयास होता है । वह प्रयास चाहे लौकिक हो, चाहे अलौकिक । गोपियोंने दुर्गाकी तपःपूत आराधना की । कोई कहते हैं यह राधारानीका प्रसाद प्राप्त करनेके लिए है । कोई कहते हैं श्रीकृष्णकी बहन योगमायाकी श्रीकृष्णसे मिलनेके लिए उपासना है । इसमें शास्त्रीय पद्धति यह है कि श्रीकृष्णके सभी मन्त्रोंकी अधिष्ठातृ देवी—दुर्गा हैं । प्रेम जबतक शक्तिशाली नहीं होगा, तबतक प्रियतम प्रभुको आकृष्ट कैसे करेगा ?

चीर-हरण लीलाका मर्म :

चीर-हरण लीला तात्त्विक एवं मार्मिक है । जीव एवं ईश्वरके बीचमें एक आवरण, एक पर्दा आगया है । वह चाहे शास्त्रीय धर्म-कर्मका हो अथवा जन्म-जन्मके संचित संस्कारोंका हो अथवा केवल अज्ञानका हो, इसमें सन्देह नहीं कि हमारे हृदयमें ईश्वर-मिलनके विपरीत कुछ बाधक भाव उपस्थित हो गये हैं । घृणा, शंका, भय, लज्जा, कुलाभिमान, शील आदिके प्रति गौरवकी भावना कुछ-न-कुछ है ऐसा अवश्य, जिनसे अपनेको आवृत करके हम भगवान्से मिलना चाहते हैं । यह आवरण-भङ्ग ही चीर-हरण लीला है । यही हमारी वृत्तिरूप गोपियोंका आवरण-भङ्ग है ।

सच्चे सेवक एवं स्वामीके बीचमें भी कुछ दुराव नहीं होता । मित्र-मित्रमें तो उसके लिए स्थान ही नहीं है । निष्कपटताके बिना सख्य एवं मैत्री कहाँ टिक सकती है ? माता वात्सल्य-भावमें यदि पुत्रसे अपने शरीरको छिपावे तो बालक दूध कैसे पीयेगा ? शृङ्गार-रसमें भी निरावरण होना ही पड़ता है । सच पूछा जाये तो वेदान्तकी यह वही प्रक्रिया है कि अज्ञानकृत आवरणका भङ्ग होनेपर ही आत्मा-ब्रह्मकी अद्वितीयताका साक्षात्कार होता है । वेदान्तमें जीवको स्वयं ज्ञान प्राप्त करके आवरण-भङ्ग करना पड़ता

है, परन्तु भक्ति-सिद्धान्तमें यह विशेषता है कि भगवान् स्वयं आकर आवरण-भङ्ग करते हैं। ज्ञानी प्रौढ़ है, भक्त मुग्ध है। भक्तको प्रेम करना भी भगवान् ही सिखाते हैं।

गोपियाँ सबसे परे हैं :

हेमन्त ऋतुमें चीर-हरण हुआ। ग्रीष्म ऋतुमें वृक्षोंको स्तुति। यह ग्वालबालोंके लिए उपदेश है। वृक्ष अपने पत्र, पुष्प, फल, छाया, मूल, वल्कल, लकड़ी, गन्ध, गोंद, भस्म, हीर, अङ्कुर अर्थात् अपने सर्वस्वके द्वारा प्राणियोंकी सेवा करते हैं। उनका जीवन परार्थ ही है, मनुष्यको भी ऐसा ही होना चाहिए। यह तो ठीक है, परन्तु यहाँ यह प्रसंग आया क्यों? अच्छा, इन वृक्षोंकी उदारता एवं परोपकारके साथ उन ब्राह्मणोंकी तुलना तो कीजिये जो भूखे ग्वालबालोंके—स्वयं भगवान्के भेजे हुए ग्वालबालोंके माँगनेपर भी जान-बूझकर अन्न नहीं देते। न वे 'ओम्' अर्थात् 'हाँ' करते हैं और न 'नेति' अर्थात् 'ना' बोलते हैं। सर्वको भगवद्रूप हाँ कर लेना या सबका निषेध कर देना, दोनों ही साधनमार्ग हैं—भक्ति या ज्ञान। परन्तु इन कर्मठोंके पास तो कुछ नहीं है। ये तो वृक्षोंसे भी गये बीते हैं। ये न अपने स्वार्थको समझें, न परमार्थको, कृपण हैं—संसारासक्त। उनकी पत्नियाँ संस्काररहित होनेपर भी धन्य हैं; क्योंकि उनमें उदारता और परोपकारकी भावना तो है। यज्ञशाला नहीं, कर्मठ ब्राह्मण नहीं, वेदके मन्त्र नहीं, संस्कार नहीं, कर्मकाण्ड नहीं, फिर भी ये ब्राह्मणपत्नियाँ धन्य हैं; क्योंकि ये वृक्षोंसे भी गये बीते कर्म जड़ ब्राह्मणोंकी अपेक्षा श्रेष्ठ हैं। इन ब्राह्मण-पत्नियोंसे भी श्रेष्ठ वे गोपियाँ हैं जो सर्वस्व निछावर करके श्रीकृष्णसे प्रेम करती हैं। कर्मकाण्डियोंसे वृक्ष उत्तम हैं, वृक्षोंसे भी ब्राह्मण-पत्नियाँ उत्तम हैं और ब्राह्मण-पत्नियोंसे भी गोपियाँ उत्तम हैं। ब्राह्मण अभक्त हैं, ब्राह्मण-पत्नियोंका भक्तिमिश्र धर्मानुष्ठान है और गोपियोंकी शुद्ध भक्ति है। मर्यादाका भी एक स्तर होता है, गोपियाँ उससे परे हैं।

पूजा किसकी :

पूजा किसकी? इन्द्र देवताकी या भगवद्भक्तकी? श्रीगिरिराज गोवर्धन भगवान्के भक्तोंमें श्रेष्ठ हैं। इन्हें साक्षात् भगवच्चरणका स्पर्श मिलता है। जल, हरी घास, कन्दरा, कन्दमूल आदि षोडशोपचारके द्वारा ये भगवान्की सेवा करते हैं। भगवान्की लीलामें जड़-चेतनका भेद नहीं होता। भगवान्के सम्बन्धसे जड़ भी चेतन हो जाता है, सम्बन्ध न होनेपर चेतन भी जड़। वस्तुतः जड़-चेतनका भेद ही वास्तविक नहीं है। अतः भक्त गिरिराजकी पूजा इन्द्र देवताकी पूजासे श्रेष्ठ है।

पूर्व प्रसंगमें ब्राह्मण, यज्ञको गौण करके बताया, अब भगवद्भक्तकी पूजाकी अपेक्षासे भी यज्ञ-यागादि गौण हैं एवं देवताकी पूजा भी अकिंचित्कर है—यह प्रसंग उपस्थित होता है। यज्ञ-यागादिके द्वारा देवता-पूजाका विचार पूर्वमीमांसा शास्त्रमें किया गया है। जरन्मीमांसकोंने तो देवताका विग्रह, सामर्थ्य, हविष्य-भोजन, प्रसन्नता और उसको वरदान देना—इन पाँच बातोंको अंगीकार ही नहीं किया है। नवीन मीमांसकोंने बलपूर्वक इनकी स्थापना की है। जम्बूद्वीपके अतिरिक्त अन्य द्वीपोंमें प्राकृत

पदार्थोंके रूपमें ही उपासना होती है—जैसे सूर्य, अग्नि, समुद्र आदि। ब्रह्ममें परम्परागत इन्द्रपूजा शास्त्रीय है या नहीं? धर्मशास्त्रका कहना है कि जो अध्यात्मवित् नहीं है वह अपनी क्रियाका यथावत् फल प्राप्त नहीं कर पाता। अतः अपने धर्मका रहस्य जानना भी आवश्यक है।

नन्दबाबाने कर्मकाण्डकी रीतिसे इन्द्रयागका समर्थन किया। वह सकाम होता है और भक्तिके सामने उसका कुछ अधिक महत्त्व भी नहीं है। भक्तिमें दो ही पूजा चल सकती है—भगवान्‌की या भक्त-की। श्रीकृष्णने प्रकृतिके गुणों अथवा उनके अन्तर्यामी ईश्वरके द्वारा फलकी व्यवस्था बैठाकर सांख्योक्त रीतिसे कर्मकाण्ड एवं देवता-पूजाका निषेध कर दिया। सांख्य अनुमान-प्रधान होता ही है, भक्तिभावमें देवताकी पूजा अत्यन्त अपेक्षित नहीं है। इन्द्र देवतामें जो आसुरभाव आगया था, उसका निराकरण भी आवश्यक था। क्रोध आनेपर वह प्रकट हो जायेगा और गोवर्द्धन-धारणके द्वारा व्रजकी रक्षा कर देनेपर इन्द्रका मद भी टूट जायेगा, तब भक्तोंकी अनन्य भक्तिकी सिद्धि होगी और यह भी प्रकट होगा कि भक्तोंके लिए व्रजकी मृत्तिका, पर्वत, लता, वृक्षका जितना महत्त्व है, उतना देवता, दानीका नहीं। देवता रुष्ट हो तो आसुर-भावसे आक्रान्त हो जाता है, वह मनुष्यों एवं निरपराध व्रज-पशुओंका भी नाश करनेपर तुल जाता है, परन्तु भगवान् और भगवद्भक्त कभी रुष्ट नहीं होता, उनमें कभी आसुर-भावका समावेश नहीं होता, वे सर्वदा भक्तोंकी रक्षा एवं सम्वर्द्धन ही करते हैं। इन्द्र पशुओंका नाश करना चाहते हैं, भगवान् गोवर्द्धन होते हैं।

यह बात भी स्मरण रखने योग्य है कि यश, श्री, वैराग्य एवं ऐश्वर्यके नित्य-स्वामी श्रीकृष्ण अपनेको वनवासी, गिरिवासी बताकर साधारण जनोंमें अपनेको मिला देते हैं। अनुमित अथवा परोक्ष देवताके स्थानपर प्रत्यक्ष देवताकी पूजा कराते हैं और स्वयं भी प्रत्यक्ष होकर पूजाको ग्रहण करते हैं, स्वयं पूज्य हैं और स्वयं पुजारी। आकृति चाहे मनुष्यकी हो, चाहे पर्वतकी, छोटी हो या बड़ी, भगवान् तो एक ही हैं। भोक्ता, भोज्य एवं प्रेरकके रूपमें एक ही ब्रह्म है, विभाग सारे-के-सारे अज्ञानमूलक हैं। इन्द्रने अपनी स्तुतिमें स्पष्ट कह दिया कि यह मायामय गुण-संप्रवाह है ही नहीं, तुम्हारे स्वरूपका ठीक-ठीक ग्रहण अर्थात् ज्ञान न होनेके कारण ही यह विद्यमान-सा प्रतीत होता है। भगवान्‌ने इन्द्रपर अनुग्रह किया और उन्हें सावधान रहकर अपने आदेशानुसार व्यवहार करनेका निर्देश किया। इस प्रसंगमें नन्दबाबाने गर्ग-वचन सुनाकर गोपोंको भगवद्-ज्ञान दिया। भगवान्‌ने यह प्रकट किया कि दुःखी प्राणियोंकी रक्षा सर्वोत्तम धर्म है। इस प्रकार गोवर्द्धन-लीलामें भगवान्‌के छहों भगोंकी अभिव्यक्ति हुई है।

रास-विहारकी भूमिका :

गोपियोंको विहारका वरदान देनेके अनन्तर वृक्षोंके बहाने गोपोंको सर्वहितकर उपदेश, यज्ञ-पत्नियोंकी प्रीति—भक्ति प्रकट करके ब्राह्मणोंका गर्व-भञ्जन, इन्द्रका यज्ञ भङ्ग करके व्रजकी सहिमाका प्रदर्शन, वरुणके द्वारा की हुई पूजाकी स्वीकृति, व्रजवासियोंको वैकुण्ठ-दर्शन—यह सभी बातें रासलीलामें

सबकी अनुकूलता प्राप्त करनेके लिए हैं। कोई ब्राह्मण, धर्म, देवता, वरुण, व्रजवासी भगवान्‌की इस प्रेममयी, रसमयी, मधुमयी, लास्यमयी रासलीलामें प्रतिबन्धक न बने, इसके लिए स्वयं भगवान् ही गोपियोंकी मनोरथपूर्तिके लिए अनुकूल परिस्थिति बनाते हैं।

आक्षेप-निवारण : लोकदृष्टि :

रासलीलाके प्रसङ्गमें भगवत्सम्बन्ध लेकर कुछ कहा जाये, इसके पहले लौकिक दृष्टि भी डालना उचित रहेगा। रासलीलाके समय श्रीकृष्णकी अवस्था केवल नौ वर्ष की थी। सातवें वर्षके हेमन्तऋतुमें गोपियोंने अपना व्रत सम्पन्न किया था। आठवें वर्षके कार्तिककृष्ण अमावास्याको इन्द्रयाग बन्द कर दिया गया था। शुक्ल पक्षकी प्रतिपदाको गोवर्द्धन-पूजाका उत्सव सम्पन्न हुआ। द्वितीयाको भ्रातृ-भोजन था। तृतीयासे लेकर नवमीपर्यन्त गोवर्द्धन-धारण हुआ। दशमीको गोपोंने आश्चर्य प्रकट किया और अपनी घर-गृहस्थी सम्हाली। एकादशीके दिन कामधेनु और इन्द्रने श्रीकृष्णका गोविन्द-पदपर अभिषेक किया। द्वादशीको वरुणलोक गमन। पौर्णमासीको नन्दादि व्रजवासियोंको ब्रह्महृदमें मग्न करके ब्रह्मदर्शन एवं ऐश्वर्य-दर्शन कराया गया। इस प्रकार आठवें वर्षकी शरद् ऋतु बीत गयी। नवें वर्षकी शरद् ऋतुमें रासलीला हुई। इस प्रकार लौकिक दृष्टिसे विचार करें तो नौ वर्षका बालक कृष्ण यदि गोपियोंके साथ रास-विलास करता है, जैसा कि आजकल गोप-जातिमें पूर्णतः प्रचलित है, तो लोक-व्यवहारकी दृष्टिसे भी इस लीलापर आक्षेप करनेका या कटाक्षक्षेप करनेका कोई भी कारण नहीं है। बालक-बालिकाओंके इस प्रकारके संगीत, वाद्य, नृत्य या अभिनय किसी भी दृष्टिसे वर्जित नहीं हैं, प्रत्युत सामवेदके उपवेद गान्धर्व-वेदकी दृष्टिसे वंशीवादन सर्वोत्कृष्ट सुषिर वाद्य एवं प्राणवाद्य है, जिसमें तन्मय होकर मनुष्य प्रपञ्चको सर्वथा भूल जाता है। उससे भी आन्तर है वह संगीत, जिसमें हृदयके अमूर्त भाव रसरूप होकर परम तृप्ति प्रदान करते हैं। उन्हीं भावोंको विशद करता है नृत्य। उसमें अङ्ग-अङ्गका सञ्चालन, पाद-विन्यास, हस्तक, होंठोंकी मुस्कान, भौंहोंकी वक्रिमा, कटिभागकी लचक, वस्त्र-आभूषणोंका चालन, नूपुर, करधनी, कंकण आदिकी रुनझुन, स्वयंको तो आनन्द देती ही है, दर्शकोंको भी तन्मय करके अनुकरणके लिए बाध्य कर देती है। अभिनय चेष्टाके द्वारा अपने हृद्‌गत भावोंको दूसरेमें भर देता है एवं उसके हृदयको भी तर कर देता है। उपवेद पारलौकिक आनन्दके लिए नहीं, लौकिक आनन्दके लिए भी होते हैं। श्रीकृष्णने अपनेको वन-शैल-निवासी कहा है। अब भी वन्य जातियोंमें और गिरिजनोंमें नृत्य-संगीतकी कला विशेष रूपसे विकसित देखी जाती है। सभ्य समाजमें भी प्रचलित है, विदेशोंमें विशेष रूपसे। देवताओंमें है। साधु-समाजमें भी संकीर्त्तन आदिके समय नृत्य-संगीतकी पद्धति है। ऐसा कौन-सा समाज है जिसमें सङ्गीत, नृत्य, वाद्य एवं अभिनय सम्बन्धी कला-कलापका विकास न हुआ? केवल श्रीकृष्णपर ही आक्षेप क्यों?

रास : शास्त्रीय दृष्टि :

शास्त्रीय दृष्टिसे देखें तो श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं अथवा भगवान्‌के अवतार हैं। उनमें सत्-चित्-

आनन्दके प्रकाशके साथ-साथ अद्वितीयता भी स्पष्ट है। सद्भावका प्रकाश उनके धर्माचरणमें, चिद्भावका प्रकाश उनकी निर्विकार अनुभूति एवं उपदेशोंमें तथा आनन्द-भावका परिपूर्ण विकास रासलीलामें हुआ है। उनके मुखारविन्दपर एक ऐसी मुस्कान खेलती रहती है, उनकी चितवनमें एक ऐसा रसवर्षी मेघ रहता है, जिससे निरन्तर अमृत-विन्दु बरसते रहते हैं। कारागारमें जन्मसे लेकर अनेक संकटोंमें मथुरा छोड़कर पलायनमें, पत्नियोंके विवादमें, भाइयोंके अविश्वासमें, पुत्र-पौत्रोंके आज्ञोल्लंघनमें, लोकापवादमें और पदतलमें बाण लगनेपर भी उनके आनन्दोल्लासका कभी ह्रास नहीं हुआ है। इस जीवनकी एकरसताके रूपमें उनकी आनन्दस्वरूप अद्वितीयता ही प्रकट हुई है। रासलीला एक आनन्द-प्रधान लीला है। वेदोंमें मधु, आनन्द, रस एवं सुखके नामसे उन्हींका वर्णन है। रासलीलाके अतिरिक्त और किस प्रकारसे उस आनन्दको अभिव्यक्ति दी जा सकती थी ?

प्रेम-पराकाष्ठा :

उपनिषदोंका कहना है कि जिसे भगवान् वरण करते हैं, वही उन्हें प्राप्त कर सकता है। उसीके परम-प्रेमास्पद आत्माके रूपमें प्रकट होते हैं और प्रेमी तथा प्रियतमके बीचमें किसी प्रकारका आवरण नहीं रखते हैं। भगवान्‌के श्रीविग्रहमें किसी प्रकारका देह-देही विभाग नहीं है। जैसे लौकिक शरीरमें जड़-चेतनका विभाग होता है, वैसा द्वैध उसमें नहीं है। वह सच्चिदानन्दघन है। वह मनुष्य, पशु, पक्षी, योनिज, अयोनिज, कर्म, उपासना, योगसे सिद्ध शरीरोंकी अपेक्षा विशेष है। उसमें न नाद है, न विन्दु, न योनि है, न बीज, न कायव्यूह है, न संकल्प, वह शुद्ध है, अमृतमय है। उनकी प्रतीयमान एक इन्द्रियमें भी सब इन्द्रियाँ हैं। उनकी सभी इन्द्रियाँ सभी विषयोंको ग्रहण करती हैं। उनके शरीरके अंग-प्रत्यंग सर्वविषय-रूप हैं, परन्तु वे प्राकृत नहीं हैं, चिन्मय हैं। अतः उस दिव्य भगवत्शरीरमें विकारोंकी कल्पना करना सर्वथा अज्ञानमूलक है। सम्पूर्ण प्रपञ्चका बाध हो जानेपर तुरीय भूमिमें जो ब्रह्मकी अद्वितीयता है, उसको जाननेवाले अनुभव करनेवाले उपनिषद्-दर्शी महात्माओंमें भी कोई विरला ही ऐसा होता है, जो इस ब्रह्म-प्रकृति, ब्रह्माकृति भगवच्छरीरको पहचान सके। इस दिव्य भूमिमें लौकिक काम या मलिन मैथुनकी बात सोची भी नहीं जा सकती।

आनन्द-चिन्मय-रसानुभूति-स्वरूपा गोपियाँ, कोई सामान्य स्त्री नहीं हैं। वे अर्थ-धर्म-काम एवं मोक्ष-साधनाओंका परित्याग करके सर्वधर्मसंन्यासिनी होकर श्रीकृष्णके पास आयी हैं। श्रीकृष्ण धर्म-मर्यादामें स्थापित करनेका प्रयास करते हैं, परन्तु वे पूर्वमीमांसाका पक्ष, जो कि श्रीकृष्णका है, खण्डित करके, उत्तरमीमांसाके पक्षकी—उपनिषदोंके परमतात्पर्यकी स्थापना करती हैं। शुकदेवजी कहते हैं—'श्रीकृष्णके लिए गोपियोंने सम्पूर्ण कामनाओंका परित्याग कर दिया।' गोपियाँ कहती हैं—हम सभी विषयोंका परित्याग करके आपके पास आयी हैं।' वे स्पष्ट कह देती हैं कि 'शास्त्रोंके सभी उपदेश, सभी धर्माचरण, आपकी प्राप्तिके उद्देश्यसे हैं, उनके परमतात्पर्य आप ही हैं। तत्त्वकी अनुभूतिके लिए धर्माधर्मका परित्याग

करना ही पड़ता है, हम सब कुछ छोड़कर आयी हैं। आप भी सब कुछ छोड़कर हमसे मिलिये। इस प्रेमकी पराकाष्ठामें—तीव्र-विविदिषामें अनुष्ठानकी अपेक्षा ही कहाँ है! योग, उपासना, धर्म सब पीछे छूट गये। यहाँ तो केवल भगवान् हैं, तदाकार वृत्तियाँ हैं, ब्रह्म है, उपनिषद्की ऋचाएँ हैं। जैसे नदियाँ समुद्रकी ओर बह रही हों, मिल गयी हों, जैसे समाधिमें प्रपञ्च विस्मृत हो गया हो और योगी समाधिमें लीन हो गया हो वैसे गोपियाँ श्रीकृष्णमें मग्न हो गयीं, यह-वह, मैं-तू—सब छूट गया!

श्रीवल्लभाचार्यजीका अभिप्राय है कि भगवान्का अनुग्रह अयोग्यसे अयोग्यपर भी होता है। उनका तो यहाँतक कहना है कि योग्य पुरुषोंको अपनी ओर आकृष्ट करनेके लिए भगवान्को अपने स्वरूप, सौन्दर्य, माधुर्य आदिको न्यूनरूपमें ही प्रकट करना पड़ता है और श्रम भी कम ही करना पड़ता है, परन्तु योग्यता रहित जीवोंको अपनी ओर आकृष्ट करनेके लिए अपना सर्वोत्तम स्वरूप, रूप-माधुरी, संगीत माधुरी प्रकट करना पड़ता है। पत्नियाँ मनसे, रुक्मिणी वचनसे मुग्ध हो जाती हैं, परन्तु गोपियोंको आकृष्ट करनेके लिए तो मधुरातिमधुर श्रीविग्रहके द्वारा उन्हें सम्मोहित करना पड़ता है। जो जातिहीन, आचारहीन, ज्ञानहीन हैं; उनपर यदि भगवान् स्वयं अनुग्रह न करें तो वे कभी कल्याण-भाजन हो ही नहीं सकेंगे।

श्रीचैतन्य महाप्रभुका यह अभिप्राय है कि गोपियों-जैसा प्रेम कहीं किसीमें है ही नहीं। उन्होंने श्रीकृष्णके लिए सर्वस्याग किया, इतना ही नहीं; स्वजन एवं आर्य-पथका परित्याग किया। इतना ही नहीं, उन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन ही श्रीकृष्णके प्रति अर्पित कर दिया। उनमें न कोई आशा थी, न कामना, वे अपने अंग-प्रत्यंगका शृङ्गार भी श्रीकृष्णका अङ्ग समझकर ही करती थीं। उनके चरणोंकी रज ब्रह्मा, शङ्कर, उद्धव आदि भी चाहते थे। उनके चित्तमें श्रीकृष्णके सिवाय दूसरेके लिए स्थान नहीं था। ऐसी परिस्थितिमें श्रीकृष्णमें विकार-गन्ध या गोपियोंमें कामना-गन्धकी कल्पना करना अनुचित है, अपराध है।

काम-जय लीला : एक अभिप्राय :

श्रीधर स्वामीने रासपञ्चाध्यायीका व्याख्यान इस अभिप्रायसे किया है कि कामदेव, ब्रह्मा, शिवादिपर विजय करनेके बाद अपनेको अत्यन्त गौरवशाली अनुभव करने लगा था, उसके दर्प-अभिमानको मिटानेके लिए भगवान् श्रीकृष्णने गोपियोंके साथ रास-विलास किया। वे कहते हैं कि यह लीला नितान्त निवृत्ति-परक है। चतुर्वर्ग-सम्बन्धी कर्त्तव्योंका त्याग करके भगवान्के लिए अभिसार करना यह संन्यासकी भी एक प्रक्रिया है। उनके आजानेपर भगवान्ने उन्हें स्वधर्म-निष्ठाका उपदेश किया, सर्वसाधारण स्त्री-पुरुषके लिए अपने धर्ममें निष्ठावान् होना आवश्यक है। अपने धर्मका पालन करते हुए मर जाना भी श्रेयस्कर है, परन्तु गोपियोंका अधिकार इससे बड़ा है। 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः'के स्थानपर वे 'सर्वधर्मान् परित्यज्य'की अधिकारिणी हैं। इसीसे वे शास्त्राज्ञा और भगवदाज्ञासे भी ऊपर उठ गयी हैं। यहाँतक कि इस धर्म और त्यागके शास्त्रार्थमें गोपियोंकी विजय हुई है और भगवान्की हार। भगवान्ने गोपियोंके त्याग-

वैराग्यको स्वीकार कर लिया और आत्माराम होनेपर भी उनके साथ रासक्रीड़ा की। इस प्रसंगमें दो बातें प्रकट होती हैं—गोपियोंकी प्रेम-निष्ठा कितनी प्रबल है, वे भगवान्‌के मना करनेपर भी अपना पथ नहीं छोड़तीं। भगवान्‌की भगवत्ता और अनुग्रह यह है कि वे पराजित होकर भी भक्तोंको अपनाते हैं। भगवान्‌का गोपियोंके प्रेमसे पराजित होना भी उनकी जीत ही है; क्योंकि प्रेमका स्वभाव ही विनयकी ओर झुकनेका है, अभिमानीकी ओर जानेका नहीं। प्रेम-गंगाकी धारा अभिमानके पर्वतपर चढ़ती नहीं, समतल भूमिपर उतरती है। गोपियोंका परीक्षित एवं दृढ़ प्रेम श्रीकृष्ण-समुद्रसे मिल गया!

रास-रस-विलास :

गोपियाँ श्रीकृष्णके साथ नृत्य करती हैं। आमने-सामने श्रीकृष्ण एवं गोपियाँ हैं, दूसरा कोई बीचमें नहीं है, परन्तु यहाँ भी एक बाधा आगयी। दूसरा तो नहीं आया, अहं आगया। हमारे सौन्दर्य-माधुर्यकी विशेषतापर श्रीकृष्ण मुग्ध हैं। प्रेमीको प्रियतमकी विशेषता दीखती है, अपनी नहीं, प्रियतमको प्रेमीकी विशेषता दिखती है। यदि प्रेमी स्वयं अपनेमें विशेषता देखने लगे तो मद-मानकी उत्पत्ति हो जाती है, भगवान्‌का दीखना बन्द हो जाता है। भगवान्‌के अन्तर्धान होनेका यही कारण है।

भगवान्‌के अन्तर्हित होनेपर गोपियाँ निराश नहीं हुईं। उनका अन्वेषण अत्यन्त तीव्र हो गया, जैसे कोई तीव्र जिज्ञासु ब्रह्मानुसन्धानमें तत्परतासे लग गया हो। वे प्रेमोन्मत्त-सी होकर लता-वृक्षोंसे भी श्रीकृष्णका पता पूछने लगीं। प्रेमकी प्यास अथवा तीव्र जिज्ञासा योग्य गुरुकी खोजमें कालक्षेप नहीं करने देती, वह चाहे जिस किसीसे अपने लक्ष्यका ज्ञान प्राप्त करना चाहती हैं। वे तन्मय हो गयीं। श्रीकृष्णसे तादात्म्य हो गया, उनकी लीलाका अनुकरण करने लगीं। उन्हें अपना घर-द्वार, शरीर विस्मृत हो गया। श्रीकृष्णके अनुसन्धानमें वे लग गयीं। अन्ततः उन्हें हार माननी पड़ी और जहाँ श्रीकृष्ण अन्तर्धान हुए थे, वहीं बैठकर वे मिलकर प्रेम-सङ्गीत अर्थात् अपने हृदयका मधुर उद्गार प्रकट करने लगीं। वे ढूँढ़नेसे नहीं मिलेंगे, स्वयं प्रकाश है, अपने आप ही आवेंगे। गोपियाँ अपने सुखको भूलकर उनके लेशमात्र कष्टकी सम्भावनासे व्यथित हो गयीं। प्रेममें स्वसुखकी वासना नहीं होती, अपने प्रियतमको सुख पहुँचाते हुए भी उसके किञ्चित् कष्टकी कल्पनासे ही प्रेमी व्याकुल हो जाता है।

श्रीकृष्ण उन्हींमें प्रकट हुए, न कहीं गये न आये। गोपियोंकी दृष्टि अहंपर गयी तो वे लुप्त हो गये। जब 'मैं' परसे हटकर कृष्णाकार हुई तब वे प्रकट हो गये। स्वागत-सत्कार हुआ, प्रश्नोत्तर हुए। श्रीकृष्णने अपना हृदय खोलकर रख दिया। उन्होंने कहा कि 'मैं तुमलोगोंके त्याग-वैराग्यको, लोक-परलोक एवं स्वजनोंके प्रति निरपेक्षताको समझता हूँ, परन्तु तुम्हारे इतने महान् प्रेममें जो अहं आगया था, उसको दूर करनेकी सेवा मुझे करनी थी। मैंने तुम लोगोंका त्याग नहीं किया, दुःख नहीं दिया, केवल विघ्नबाधा डाली। सच पूछो तो मैं तुम्हारे प्रेमका ऋणी हूँ और अनन्त कालतक तुम्हारी सेवा करता रहूँ तब भी तुम्हारे प्रेम-ऋणसे मुक्त नहीं हो सकता। श्रीकृष्णका प्रेम गोपियोंके अनुभवमें आया। बात ऐसी है कि

दास्य भावमें एकांगी प्रेम होता है, सख्य और वात्सल्य भावमें भी कुछ अंशतक चलता है, परन्तु मधुर भावमें परस्पर एकरस प्रेमकी आवश्यकता होती है। उसमें चन्द्रमा, चकोर नियत नहीं होते हैं, दोनों चन्दा हैं, दोनों चकोर हैं। वहाँ संयोग-वियोग दोनों ही पीछे छूट जाते हैं। न संयोगी सारस है, न वियोगी चक्रवाक। एक दिव्य प्रेमसुधा-रसका समुद्र है, उसकी दो धाराएँ हैं। दो ओरसे आती हैं, टकराती हैं, एक हो जाती हैं। पहली लहर दूसरी हो जाती है, दूसरी लहरी पहली हो जाती है। इस प्रकार प्रेमी-प्रियतम, प्रियतम-प्रेमी, यह अनन्त धारा चलती रहती है। नया मिलन, नया रूप, नया रस, नयी प्यास, नयी तृप्ति, यही प्रेमरसका अद्वैत स्वरूप है। इसीका नाम रास है।

अनेक विद्वानोंने गोपियोंकी व्याख्या नाड़ियोंके रूपमें की है, जो अपने लक्ष्य स्थानमें या मूल स्थानमें एक हो जाती हैं, मानो सुषुम्नामें लक्ष्यका अनुभव हो गया हो! अनेक रसिक विद्वानोंका मत है कि गोपियाँ रसविशिष्ट प्रेमवृत्ति हैं। राधारानी मूर्तिमती ब्रह्मविद्या हैं, आराधना हैं, आराधिका हैं। एक कृष्ण, एक वृत्ति, एक कृष्ण एक वृत्ति, हृदयके रंगमंचपर सन्धिस्थानीय श्यामब्रह्म और तदाकार वृत्तियोंकी धाराके रूपमें गोपियोंका नृत्य—यही रासलीला है। अनेक विद्वानोंका कहना है कि यह रासलीला ज्ञान-ध्यानका विषय, निराकार-साकारकी लीला नहीं है। यह तो इन्द्रियोंसे भगवद्रस पान करनेकी लीला है। 'गो' माने इन्द्रियाँ 'प' माने पीनेवालीं। जब यह आत्मा अन्यकी अभिलाषा, शुष्क ज्ञान और बहिरंग कर्मकाण्डको छोड़कर अपनी इन्द्रियोंसे भगवद्रसका पान करने लगता है, तब इसीका नाम गोप हो जाता है। भगवान्‌को निर्गुणसे सगुण, निराकारसे साकार, भोक्तासे भोग्य बनाकर व्यवहार-भूमिमें भगवान्‌को लानेवाली गोपियाँ ही हैं। अनेक विद्वानोंने इस प्रकारकी भी व्याख्या की है कि जैसे ऋचाएं भिन्न-भिन्न देवताओंका नाम लेती हैं, उनके लिए हविष्य अर्पण करती हैं, परन्तु उनका तात्पर्य उन-उन देवताओंमें नहीं, साक्षात् परमात्मामें ही होता है। इसी प्रकार गोपियोंका विवाह अन्यान्य पुरुषोंसे होनेपर भी उनका परम तात्पर्य श्रीकृष्णमें ही है। गोपियाँ हैं वेदकी ऋचाएँ, उसके विभिन्न पति हैं देवता, सर्वान्तर्यामी हैं श्रीकृष्ण, नाम अलग-अलग होनेपर भी एक ही वस्तुका प्रतिपादन है। इस प्रकारकी विशेष व्याख्या धनपति सुरिने की है।

आत्मरतिका यह हास:

यदि रास-प्रसंगके उपक्रमको देखें तो वह भगवान्‌का वीक्षण है। वृन्दावन, मल्लिकादि पुरुष, शरद रात्रि, मन—ये सब। यहाँ कुछ प्राकृत है ही नहीं। श्रीकृष्ण योगेश्वरेश्वर हैं, आत्माराम हैं, अवरुद्धसौरत हैं, स्वरति हैं। जैसे कोई बालक अपने प्रतिबिम्बसे क्रीड़ा कर रहा हो, वैसे ही स्वयंमें, स्वयंसे, स्वयं क्रीड़ा कर रहे हैं। चाहे जलविहार हो चाहे, स्थलविहार सब श्रीकृष्णका अपना स्वरूप ही है। यहाँ कोई अन्य नहीं। अतएव इस लीलाका उपसंहार श्रवण-वर्णनके द्वारा काम-निवृत्तिमें है। भक्ति कामका सर्वथा नाश कर देती है। श्रीकृष्णका अवतार ही ऐसी लीला करनेके लिए है जिससे कामकी निवृत्ति हो जाये।

गोपियोंको पुनः गाँवमें लौटा देनेका अभिप्राय भी यही है। गोपियोंके प्रेम-भोगमें भी त्याग है, शृङ्गारमें भी वैराग्य है, दूरीमें भी निकटता है दूरीमें भी पिपासा एवं तृप्तिकी वृद्धि है। उनके रोदनमें भी मोदन है। रास पञ्चाध्यायी एक अलौकिक लीला है। नन्दबाबाके ब्रह्म-दर्शनसे प्रारम्भ होकर अजगर द्वारा गृहीत नन्दबाबाकी मुक्ति, इसका आद्यन्त है। श्रीकृष्णको भगवत्तामें ही यह रस-समुद्र तरंगायित है।

अवधान देने योग्य है कि गोपियोंने श्रीकृष्णकी वररूपमें प्राप्तिके लिए कात्यायनी देवीकी आराधना की थी। शिवरात्रिके अवसरपर नन्दबाबा, उनकी जातिके लोग, ग्वालबाल एवं गोपियोंने अवन्ती देवीके दर्शन एवं पशुपतिकी पूजाके लिए यात्रा निकाली थी। उद्धवजीने देखा कि प्रत्येक गोपके घरमें गाय, ब्राह्मण, देवता, अग्नि एवं सूर्यकी पूजा होती है। मणि-अनुसन्धानके प्रसंगमें जब श्रीकृष्ण जाम्बवानकी गुफामें प्रविष्ट होकर कई दिनोंतक नहीं निकले तब द्वारकावासियोंने दुर्गा देवीकी आराधना की थी। वसुदेव आदि तो श्रौत, स्मार्त यज्ञका अनुष्ठान भी करते थे। ऐसी स्थितिमें व्रज, मथुरा एवं द्वारकाके वैष्णव अन्य देवी-देवताओंकी पूजा नहीं करते थे, यह मत सर्वथा अशास्त्रीय है। सब श्रीकृष्णके परम भक्त होते हुए भी श्रौत-स्मार्त धर्मका पालन करते थे तथा अनन्यताके नामपर किसी देवी-देवता एवं परम्परागत धर्मका तिरस्कार नहीं करते थे।

गोपाङ्गनाओंकी दृष्टिमें :

इस प्रसंगमें यह भी ध्यान देने योग्य है कि श्रीकृष्ण गोचारणके लिए वनमें जाते थे। गोपियाँ गाँवमें रहती थीं, परन्तु उनके मानस नेत्रोंके सामने दिनभर श्रीकृष्णकी मधुर लीला प्रकट होती रहती थी। न उन्हें देहादि प्रपञ्चका स्मरण होता था और न तो घर-गृहस्थीमें मन लगता था। श्रीकृष्णकी छविच्छटा उनके सम्मुख छलकती एवं झलकती रहती थी। उन्हें ऐसा लगता था—श्रीकृष्णकी वंशीध्वनि सुनकर गाय-बैल, पशु-पक्षी, देवता-दानी, लता-वृक्ष सब मुग्ध हो रहे हैं एवं उनकी रूपमाधुरी, वेणुमाधुरी एवं लीलामाधुरीका आस्वादन कर रहे हैं। कपोल बायीं बाँहकी ओर झुका है, कपोलपर कुछ पीतिमा आगयी है, नेत्रोंमें रक्तिमा है, बालोंपर धूल पड़ी है, चितवनमें प्रेम है, अधरोंमें मुस्कान है, यह देखो मतवाले हाथीके समान मन्द-मन्थर गतिसे हमारा दुःख दूर करनेके लिए आ रहा है। यह थी गोपियोंकी गति, मति! श्रीकृष्णकी विभिन्न झाँकियोंके दर्शनमें ही वे लगी रहती थीं। सच है, श्रीकृष्णकी आसक्ति लौकिक देश, काल, वस्तुकी स्फुरणको ही मिटा देती थी।

हितानुसन्धान :

नारदजी भगवान्‌के परम भक्त हैं, उनका हृद्गत भाव यह रहता है कि जिन्हें भगवान् नहीं मिले हैं उन्हे मिलें। जो अभक्त हैं वे भक्त होवें, जिनके बाहर श्रीकृष्ण हैं उनके भीतर प्रवेश करें, जो बद्ध हैं वे मुक्त हो जायें। वे लोगोंके हृदयमें स्वधर्म, भगवत्स्मरणका आविर्भाव और श्रीकृष्णकी प्राप्तिरूप अनुग्रहका वितरण करते चलते हैं। उनके हृदयमें कंसके प्रति एवं मथुरावासियोंके प्रति भी अनुग्रहका उदय हुआ।

कंसके मनमें भय है तो क्या ? कृष्णसे भय है ना ! अतः इसे कृष्ण मिलने चाहिए । मथुरावासी दुःखी हैं तो क्या ? कृष्णके लिए दुःखी हैं ना, उनका दुःख शीघ्र मिट जाना चाहिए । उन्होंने श्रीकृष्णसे पूछे बिना ही कंसके पास जाकर कह दिया—'देवकी-वसुदेवके पुत्र श्याम-बलराम नन्दव्रजमें रह रहे हैं ।' इसके बाद श्रीकृष्णसे जाकर निवेदन कर दिया—'मैं कहकर आया हूँ, अब आपको ऐसी-ऐसी लीला करनी है ।' इससे दोनों काम होंगे, मथुरावासियोंका मंगल और व्रजवासियोंके सूक्ष्मतम हृदय-प्रदेशमें श्रीकृष्णका प्रवेश । श्रीकृष्णको लानेके लिए अक्रूर भेजे गये । श्रीकृष्णको पास लानेके लिए क्रूर भाव काम नहीं देता है, जो अन्तरमें भगवान्‌का भक्त है वही उन्हें ला सकता है ।

असुराभासोंका बाध :

यह स्पष्ट है कि श्रीकृष्णके मथुरा-आगमनपर व्रजवासियोंको वियोग-दुःख सहना पड़ेगा । इस दुःखके निवारणके लिए वे कहीं कोई भक्ति-विरोधी साधन स्वीकार न कर लें, उनका मन श्रीकृष्णसे विमुख न हो जाये, साथ ही वियोगके द्वारा संयोग-रसकी पुष्टि हो, इसके लिए श्रीकृष्णने तीन असुरोंको नष्ट कर दिया । एक था केशी । यह हयग्रीव दैत्यका दूसरा रूप था । इसने पहले वेदकी चोरी की थी । हिनहिनाहटमें वेदोंको छिपा चुका था । इससे वेदका वास्तविक अभिप्राय भगवान्‌की भक्ति लुप्त हो गयी थी । व्रजमें आकर यह वेदके नामपर भक्ति-विरोधी आसुर भावका विस्तार न कर सके, इसके लिए केशीको मारना आवश्यक था । यही बात वृषभासुरकी भी थी, भगवत्-विरोधी, भक्ति-विरोधी धर्माभासमें असुरका निवास होता है । वही वृषभासुरके रूपमें आया और भगवान्‌ने उसीके एक अङ्गसे उसका नाश किया । केशीके लिए तो अपने हाथका प्रयोग किया था । तीसरा असुर था व्योमासुर । यह योगाभासका रूप धारण करके आता था और लोगोंको हृदयाकाश रूप समाधि गुहामें प्रतिष्ठित कर देता था, यदि वह भगवत्-विरोधी या भक्ति-विरोधी है तो निश्चय ही उसमें असुरका प्रवेश है । भगवान् उसका गला घोंटकर मार डालते हैं । ये तीनों ही असुर जिनमें पहले दो बहिर्मुखताके द्वारा एवं अन्तिम अन्तर्मुखताके द्वारा भगवान्‌से विमुख करते हैं, उनको श्रीकृष्णने अपने मथुरागमनसे पूर्व ही नष्ट कर दिया, जिससे भगवान्‌के परम प्रेमी भक्तजनोंको बहकानेके लिए ये व्रजमें कोई पाखण्ड न रचें ।

अक्रूरकी अन्तर्व्यथा :

अक्रूर सद्गुण-सम्पन्न भगवद्भक्त एवं श्रीकृष्णकें विश्वासपात्र हैं । हिंसक कंसरूप अहंकारकी संगति एवं सेवासे उनमें कुछ दोष आगये हैं और श्रीकृष्णसे दूर रह रहे हैं । भगवान्‌की प्रेरणासे ही कंसने उनपर विश्वास करके नन्दव्रजमें भेजा । व्रजकी ओर मुँह करते ही उनके हृदयमें स्थित भक्तिका समुद्र उमड़ पड़ा । वे मग्न हो गये । थोड़ी देरका मार्ग दिनभरमें पूरा हुआ; क्योंकि वायुवेग रथको हाँकनेकी याद ही नहीं रही । मार्गमें अक्रूरकी जो स्थिति हुई, शुकदेवजीने उसको जीव-जीवनकी सफलता कहा है । उन्हें बलराम मिले, श्रीकृष्ण मिले, नन्दबाबा मिले, भगवान्‌की प्रसन्नता मिली, भक्त नन्दका संग मिला ।

उन्होंने व्रजका प्रेम देखा, गोपियोंकी प्रेमविह्वलता देखी, वे सोचने लगे कि इस सुकुमार किशोरको मैं कसाई कंसके पास कैसे ले जाऊँ ? अक्रूरकी यही अन्तर्व्यथा दूर करनेके लिए भगवान्ने उन्हें ब्रह्मह्रदमें अपना वैकुण्ठनाथ रूप दिखाया। यदि अक्रूरको भगवान्के माहात्म्यका बोध न होता, तो स्नेह भक्तिकी अधिकतासे साथ हा रहते, उन्हें छोड़कर पहले मथुरामें प्रवेश नहीं करते। 'ऐश्वर्य-दर्शनसे उनकी व्यथा एवं भय दूर हो गये।

उदार कृष्ण :

मथुरा नगरी ब्रह्मरूप ही है। जिस ब्रह्मज्ञानसे जगत्का मन्थन होता है, उसका सार अर्थात् ब्रह्म जहाँ निवास करे, उसका नाम मथुरा होता है। जैसे आधेय आधारमें रहता है, अध्यस्त अधिष्ठानमें रहता है, उसी प्रकार मथुरामें सब तरहके लोग रहते हैं। राजा एवं राज्यके नवीन-नवीन वस्त्रादिके धोनेका ठेकेदार रजक (धोबी) पहले मिला। वस्त्र न देनेपर एक चाँटेसे ही उसका काम तमाम हो गया, उसके साथी भाग गये। जिनके अन्दर दुर्गुण दृढ़मूल हों और भगवान्से विमुखता हो उनके उद्धारकी यही प्रक्रिया है। उनके दुर्गुणरूप शरीरके छूटनेपर ही उनका कल्याण होता है। कपड़े ले लिये, सीनेवाला स्वयं आगया। भगवान् नटरूप हैं। नटको और क्या चाहिए ? उसने किसके शरीरपर कौन-सा रङ्ग, किस ढंगका वस्त्र अच्छा लगेगा, बैठा दिया। प्रसन्न हो गये। मालीके घरमें स्वयं घुस गये, पूजा हुई, फूलोंका श्रृङ्गार हुआ। सेवाने अपने चमत्कार दिखाये, भक्ति मिली, साथ ही भौतिक सम्पत्ति भी। मथुरामें कोलाहल मच गया—ये सुकुमार ही नहीं बड़े बलवान भी हैं। ये किसानवर्गमें माली एवं श्रमिक-वर्गमें दर्जीपर भी प्रसन्न होते हैं। हीनवर्गके पक्षपाती हैं। इतनेमें राजमार्गपर मिल गयी कुब्जा। जातिसे हीन, शरीरसे कुबड़ो, भावसे दासी, कंसकी सेवाके लिए अङ्गराग—चन्दन लिये जा रही थी, हीन उद्देश्य, भगवान्से विमुख, परन्तु भगवान्की दृष्टि पड़ गयी। पड़ गयी सो पड़ गयी। स्वयं छेड़छाड़ करके उसको अपने सम्मुख किया। उसको सर्वाङ्गसुन्दर, मोहक युवती बना दिया, कूबड़ी सीधी हो गयी, असुन्दर सुन्दर हो गयी, कंसकी दासी श्रीकृष्णकी महारानी हो गयी, त्रिवक्रा सुवक्रा हो गयी। त्रिवक्रा कुण्डलिनी जागकर सीधी हो गयी और अपने लक्ष्यसे जा मिली। गाँवमें कोलाहल मच गया। रजक भयसे कृष्णके हो गये, दर्जी एवं माली श्रीकृष्णके अपने बन गये। स्त्रियाँ मुग्ध हो गयीं, असुन्दरको सुन्दर बनानेवाले कृष्ण, पिछड़े हुएको आगे बढ़ानेवाले कृष्ण, गिरेको उठानेवाले कृष्ण, पहले ही दिन मथुरापर विजय हो गयी। शिव-धनुष तोड़ दिया, कंसकी सेनाका उत्साह भङ्ग हो गया। सबका मन खींच लिया—सबके हृदयमें अपनी आसक्ति डाल दी। कंस और उनके साथी तो भयसे ही मर गये थे। उनके मारनेका तो एक उपचार ही करना पड़ा।

मथुरा-लीलाका अभिप्राय :

लौकिक राज्यक्रान्तिकी दृष्टिसे भी कम-से-कम हिंसा करके एवं नागरिकोंको अपने पक्षमें आकृष्ट

करके, युक्तिकी प्रधानतासे ही राज्य-परिवर्तन हो गया। दुराचारीकी जगह सदाचारी उग्रसेनका राज्य हो गया। भगवद्भावकी दृष्टिसे भी यही शास्त्रसम्मत है कि जो भयसे या द्वेषसे भगवान्‌का स्मरण करते हैं, वे मृत्युके अनन्तर मुक्ति प्राप्त करते हैं। जो प्रेम करते हैं वे जीवनकालमें ही सुख, शान्तिके भाजन बन जाते हैं। कुवलयापीड मल्ल एवं कंसके वधका अभिप्राय ही यह है कि उन्हें शीघ्र-से-शीघ्र कल्याणकी प्राप्ति हो। मथुराके नागरिकोंको सुख-शान्तिकी प्राप्तिमें द्वेष करनेवालोंका उद्धार है। मथुरावासियोंके सुख-सौभाग्यका वर्णन इसी अभिप्रायसे है।

लोक-शिक्षा :

विद्याका अध्ययन एवं गुरुदक्षिणामें मृत गुरुपुत्रको लाकर दे देना यह लोकसंग्रहके लिए है। सबको गुरुमुखसे ही विद्याध्ययन करना चाहिए, एवं अपनी शक्तिके अनुसार गुरुदक्षिणा देनी चाहिए। जो मृत गुरुपुत्रको भी ला सकता है, उसके यश एवं प्रभावकी वृद्धि होना निश्चित ही है।

जिनको यह आश्वासन दिया गया हो कि हम तुम्हारे घर आवेंगे, उनको निराश नहीं करना चाहिए। श्रीकृष्णने मथुरा जाते समय व्रजवासियोंको कहा था कि मैं आऊँगा, मथुरामें कुब्जा एवं अक्रूरको भी यही आश्वासन दिया था कि मैं तुम लोगोंके घर आऊँगा; उसको पूर्ण करना आवश्यक था। अतः अगले अध्यायोंमें अपने पूर्व-आश्वासनोंकी पूर्ति की गयी है।

विरह क्यों ?

गोपियोंके अनेक भेद हैं—नित्य-सिद्ध, साधन-सिद्ध, अनुग्रह-सिद्ध, श्रुतिरूपा, ऋषिरूपा एवं साधारण। सबको ही भगवान्‌की प्राप्ति होती है, किसीको शरीरसे, किसीको मनसे। भगवान्‌के संयोगसे उन्हें परम रसका अनुभव होता है तथा प्रपञ्चका विस्मरण हो जाता है। भगवान्‌का संग हो और वह बहिरङ्ग, शारीरिक ही रह जाये—यह उचित नहीं है। वह अन्तरङ्ग होना चाहिए तथा मनोवृत्तियोंके द्वारा आत्मरूपमें भी अनुभव होना चाहिए। इस अन्तःप्रवेशके लिए वियोगका होना आवश्यक है। वियोग सूर्यके समान है, वह तापक भी है प्रकाशक भी है। भगवान्‌के वियोगमें हृदयमें तापका उदय होता है। जैसे अधिक ताप देनेपर लोहा, ताँबा, चाँदी सोना पिघल जाते हैं, वैसे ही विरह-तापसे हृदय भी पिघल जाता है। तब हृदयमें जो पहलेसे कठोरता, आकृति एवं राग-रंग भरा रहता है, वह टूट जाता है, गल जाता है। तदनन्तर भगवान्‌का जो स्वरूप, आकार हृदयमें आता है, उससे शीतलता भी आती है, जम जानेके कारण स्थिरता भी आजाती है। स्थायी भावकी अभिव्यक्ति होती है और अविचल रसकी अनुभूति होने लगती है। विरहका दूसरा कार्य है प्रकाश। अपने प्रियतमकी जिस महिमाका बोध संयोग-कालमें नहीं होता, वह वियोग-कालमें हो जाता है। वियोग-दशामें गोपियोंको आत्मीयताकी स्फूर्ति तो होती ही है, श्रीकृष्णके राम, वामन आदि अवतार-रूपोंकी स्फूर्ति भी होने लगती है। उन्हें दीखने लगता है कि इस समय भी लक्ष्मी उनके चरणोंकी सेवा कर रही है। अन्ततोगत्वा वे श्रीकृष्णसे

एक हो जाती हैं, अपने आत्माको श्रीकृष्णके रूपमें जान लेती हैं—यह बात मूल भागवतमें ही स्पष्ट की गयी है। उद्धवका व्रजमें आगमन, भगवान्‌की दूरी, मिलनमें देरी और दूसरापन मिटानेके लिए है। इससे भगवान्‌का वह आश्वासन जो व्रजमें पुनरागमनके लिए है, पूरा हो जाता है। बहिर्मुख-दशामें ही व्रजवासियोंको श्रीकृष्णका विरह दुःख देता है, अन्तर्मुख-दशामें नहीं। कोई भी अन्तर्मुख रहकर सर्वदा श्रीकृष्णका अनुभव कर सकता है, भगवान्‌के उत्सव-स्वरूप उद्धव भी ऐसी स्थितिपर मुग्ध हो जाते हैं। कुब्जाके घर जानेका वचन व्यतिरेक-दृष्टिसे गोपियोंके प्रति प्रेम प्रकट करनेके लिए ही है। जब भगवान् कुब्जाके प्रति दिये हुए आश्वासन और काममूलक प्रेमको भी अस्वीकार नहीं करते, तो गोपियोंके शुद्ध प्रेमको अस्वीकार तो कर ही कैसे सकते हैं? भगवान् निकटस्थ प्रेमी अक्रूर और दूरस्थ प्रेमी कुन्ती एवं पाण्डवोंका भी ध्यान रखते हैं तथा उनके मनोरथको पूर्ण करते हैं। ऐसे कृतज्ञ प्रभु ही एकमात्र भजनीय तत्त्व हैं।

उत्तरार्द्ध

मथुरासे द्वारकातक]:

मथुराके नागरिक पहले कंसके उपद्रवोंसे पीड़ित थे। उससे बचनेके लिए उन्होंने भिन्न-भिन्न देश, राज्य, राजा एवं सम्बन्धियोंका आश्रय स्वीकार किया था। श्रीकृष्णावतार हुआ, उसको उन्होंने देखा नहीं, सुना, तो किसीको विश्वास हुआ, किसीको नहीं हुआ। कंसवधके अनन्तर श्रीकृष्णने सबको मथुरामें बुलाया, बसाया, सुख-सुविधा दी, सम्पन्न हुए, बूढ़े भी जवान हो गये। भोग तो मिला परन्तु श्रीकृष्णका योग नहीं मिला। आपत्ति-विपत्ति आनेपर अपने हितैषी रक्षकपर दृष्टि जाती है, त्राण-कल्याण प्राप्त होनेपर उससे आसक्ति हो जाती है। इसीसे मथुरापर जरासन्धका आक्रमण हुआ। सत्रह आक्रमण जरासन्धने अपने बलसे किये, बीचमें एक आक्रमण कालयवनका हुआ और अट्ठारहवाँ आक्रमण शिवबल, यज्ञबल, धर्मबलसे परिपुष्ट होकर जरासन्धने किया। जरासन्धको भागवतमें कर्मपाशकी संज्ञा दो गयी है। वह कर्मोंका दो विभाग होनेपर भी जरा-राक्षसीके द्वारा जोड़ दिया गया है अर्थात् वह पहले था तो छिन्न-विच्छिन्न, परन्तु प्रजापतिकी इच्छासे जुड़ गया है। उसकी पुत्री अस्ति और प्राप्ति—इतना हमारे पास है और इतना और मिलेगा—कंसरूप अभिमानके साथ ब्याही गयी थीं, पतिके मर जानेपर वे विधवा होकर पिताके घरमें आगयीं। ब्रह्मविद्या प्राप्त होनेके पश्चात् भी प्रारब्ध-कर्म उपद्रव करते रहते हैं, अतः मथुरामें उपद्रवोंकी सृष्टि हुई। ज्ञानसे अज्ञानकी निवृत्ति होती है, परन्तु प्रारब्ध-दुःखकी निवृत्तिके लिए ज्ञानबल चाहिए। अतः कृष्ण और बलराम दोनोंने मिलकर उसका निवारण किया। संकट बहुत आये, परन्तु वह थी कृष्णके मुखारविन्दपर मुस्कानकी झलक जो दुःखकी परिस्थितियोंके आनेपर और भी चमक उठती थी। एक ब्रह्मविद्या थी मथुरा, दूसरी ब्रह्मनिष्ठारूप नगरी बसायी गयी द्वारका। वह मथुराके समान ही थी और श्रीकृष्णके निवासपर्यन्त ही उसका जीवन था। श्रीकृष्णका सान्निध्य ही मथुरा-द्वारका-का प्राण है।

विवाह-प्रसंग :

द्वारकावासियोंके मनमें एक चिन्ता थी, वह थी श्रीकृष्णसे सम्बन्धित; क्योंकि रक्षा एवं संवर्द्धन प्राप्त करनेके बाद उनके मनमें श्रीकृष्ण-विषयक चिन्ताधारा चलने लगी, उनके प्रति आसक्ति हो गयी थी, वे सोचते थे इनका विवाह कैसे हो ? शीघ्र-से-शीघ्र हो। बात यह है कि सभी राजाओं एवं राजघरानोंसे वैर हो गया है, कौन अपनी बेटी ब्याहेगा ? इसी बीच हिरण्यवर्णा लक्ष्मी रुक्मिणीका सन्देश लेकर ब्राह्मण देवता पधारे। लक्ष्मीका विवाह श्रीकृष्णसे ही हो सकता है, अन्य किसीसे नहीं। वह युग-युगतक जन्म लेकर मरनेको तत्पर है, जबतक श्रीकृष्णसे विवाह न हो।

समुद्र भीष्मक है। उसकी पुत्री है लक्ष्मी—स्वर्णलक्ष्मी रुक्मिणी। उसका भाई विष है— रुक्मी। वह रुक्मिणी एवं रुक्मिणीवल्लभ श्रीकृष्णके सम्बन्धमें बाधक है। अतः रुक्मिणी-श्रीकृष्णका विवाह तीन प्रकारसे हुआ। पहले प्रेम-सन्देशके द्वारा गान्धर्व। दूसरा अपहरणके द्वारा राक्षस। तीसरा विधि-विधान-पूर्वक शास्त्रीय। सारे प्रतिबन्ध मिटाकर श्रीकृष्णने रुक्मिणीको स्वीकार किया। विवाहमें एकाङ्गी प्रेम नहीं चलता, परस्पर प्रेम होना चाहिए। रुक्मिणी यदि श्रीकृष्णके लिए व्याकुल है, तो श्रीकृष्ण रुक्मिणीके ध्यानमें इतने मग्न रहते हैं कि उन्हें रात-राततक निद्रा नहीं आती है। ऐसे प्रेमी प्रभुको छोड़कर प्रेम करने योग्य और कौन है ?

वैष्णवी शक्ति लक्ष्मी रुक्मिणी है, सौरी शक्ति सावित्री सत्यभामा है और ब्राह्मी शक्ति जाम्बवती है। इस प्रकार तीनों शक्तियोंके वास्तविक अन्तर्यामी स्वामी श्रीकृष्ण ही हैं। कालिन्दी आत्मबोधस्वरूपा हैं, मित्रविन्दा तपस्यारूपा हैं, नाग्नजिती सत्या योगरूपा हैं, लक्ष्मणा भक्तिरूपा हैं। ये पाँचों विद्याकी पाँच वृत्तियाँ हैं। अविद्याकी निवृत्तिके लिए इनकी आवश्यकता होती है, इनके स्वामी भी श्रीकृष्ण ही हैं। आध्यात्मिक मन और आधिदैविक चन्द्रमा, इन दोनोंकी भी सोलह-सोलह कलाएँ हैं। षोडश सहस्र पत्नियाँ आधिभौतिक हैं। श्रीकृष्णके बिना इनकी कोई अन्य गति नहीं है। एक-एक कलाके सहस्र-सहस्र अंश हैं। अतः इनकी संख्या सोलह हजार कही गयी है। यहाँ सोलह हजार संख्या केवल उपलक्षण मात्र है, क्योंकि संसारमें जितनी वस्तुएँ हैं (भौतिक) और जितनी वृत्तियाँ हैं (आध्यात्मिक) और उनके जितने देवता हैं (आधिदैविक) सबके परमपति भगवान् श्रीकृष्ण ही हैं। अतः जो सर्वेश्वर है, मायापति है उसके लिए सोलह सहस्र पत्नियोंका पति कहना कोई बहुत बड़ी बात नहीं है।

रुक्मिणीके साथ :

षोडश सहस्र पत्नियोंका प्रेम स्वयंमें ही संयोग-वियोगका अनुभव कर लेता है, उन्हें कुछ नहीं चाहिए, चाहिए केवल श्रीकृष्ण-चरणारविन्दकी रज। सबको भगवान्‌का संयोग प्राप्त है, उन्हें भगवान् वियोग कभी नहीं देते, परन्तु वियोगके बिना रसकी संपुष्टि भी तो नहीं होती, अतः श्रीकृष्णके संयोगकालमें

ही प्रेम वैचित्य-अवस्थाका उदय हो जाता है और वे वियोगके भ्रमसे दुःखी हो जाती हैं। उनका यह प्रेम देख-देखकर श्रीकृष्ण आनन्द लेते हैं और उन्हें सावधान करके रस प्रदान करते हैं। परन्तु रुक्मिणीको कभी मानसवियोग भी नहीं होता। निरन्तर श्रीकृष्णका सान्निध्य, अनवरत सेवा, श्रीकृष्णके प्रति निरतिशय प्रीति तो थी ही, किन्तु रुक्मिणीको कभी-कभी ऐसा लगने लगता कि मैं इतनी सुन्दर, मधुर एवं श्रीकृष्णकी प्राणवल्लभा हूँ कि वे मेरे बिना रह ही नहीं सकते। प्रेमकी गम्भीरतामें अपने प्रियतमके अतिरिक्त कोई 'यह, वह या मैं' आजाये तो वह चन्द्रमामें कलंकके समान ही होता है। रुक्मिणीका यह 'मैं' दूर करनेके लिए श्रीकृष्णने उसे वाचनिक वियोग दिया। वचनके द्वारा रुक्मिणीके मर्मस्थलपर चोट पहुँचायी। त्यागके भयसे रुक्मिणीका रोम-रोम सिहर उठा। इस प्रकार वाचा वियोग देकर श्रीकृष्णने रुक्मिणीका दर्प-दलन किया और संयोगका रसास्वादन कराया। प्रेमरसमें अभिमानका नन्हा-सा कण भी विरसता ला देता है। उसको दूर करना भगवान्का अनुग्रह है। यह बात दूसरी है कि गोपियोंका प्रेम इतना गाढ़ा है कि वे श्रीकृष्णके नृशंस वचन सुनकर भी त्यागसे भयभीत नहीं होतीं। उनके संयोगरसके संवर्द्धनके लिए कायिक वियोगकी सृष्टि करनी पड़ती है।

सम्पत्तिका दोष :

संसारकी सम्पत्ति अनेक अनर्थोंका कारण है। सूर्यने अपने भक्त एवं सखा सत्राजित्को स्यमन्तक-मणि दी। श्रीकृष्ण उसको सुरक्षित करना चाहते थे, सदुपयोगी बनाना चाहते थे। उसने श्रीकृष्णकी आज्ञा नहीं मानी, अविश्वास किया। मणि उसके हाथसे प्रसेनके हाथमें गयी, उसे मायादेवीके वाहन सिंहने मारा, अन्ततः जाम्बवान्के पास जाकर बालकके हाथोंमें मणि टिकी। बाह्यदृष्टिसे श्रीकृष्ण मणिके लिए गये थे, परन्तु अन्तर्दृष्टिसे जाम्बवतीको स्वीकार करनेके लिए ही गये थे; क्योंकि उन्होंने मणि अपने पास रखी नहीं। सत्यभामाके विवाहके समय भी उसको अपने पास रखना स्वीकार नहीं किया। उस मणिके कारण सत्राजित एवं शतधन्वा दोनों ही मारे गये। और तो और, बलरामजीके मनमें भी श्रीकृष्णके प्रति अविश्वासका उदय हुआ। संशयकी कहाँतक पहुँच है इसका यह एक उदाहरण है। धनके लिए शेषको भी भगवान्पर संशय हो सकता है। यही कारण था कि भगवान्ने अक्रूरके हृदयमें प्रेरणा देकर उनके पास मणि रखवा दी। भक्तने अपने सिरपर बदनामी ले ली, किन्तु भगवान्को अनेक समस्याओंसे बचा लिया। रुक्मिणी बड़ी होनेसे अपनेको मणिकी अधिकारिणी समझती थी, सत्यभामा अपने पितासे प्राप्त होनेके कारण और जाम्बवतीको तो दहेजमें मिली ही थी। बलरामजी शंखचूड़के प्रसंगके समान उसको चाहते थे। ऐसी स्थितिमें दानके लिए, सदावर्त चालू रखनेके लिए मणिको अपने पास रखकर अक्रूरजीने सेवा ही की थी।

सामाजिक क्रान्ति :

चन्द्रमा अथवा मनकी सोलह कलारूप और उनकी सहस्र-सहस्र वृत्तिरूप महिषियोंका

विवाह श्रीकृष्णके साथ लौकिक, वैदिक दृष्टियोंसे उचित ही था। असुरके हाथसे उन्हें मुक्त करना, उनके ऊपर जो बलात् अन्याय किया गया था उससे बचाना और उनको समाजमें समान स्थान दिलाना—यह श्रीकृष्णका ही काम था। यदि श्रीकृष्ण उन्हें स्वीकार न करते तो लोक एवं वेदमें उनके लिए कोई स्थान शेष न रहता। भगवान् जिसको स्वीकार करते हैं उसको सब स्वीकार करते हैं।

सब भगवत्संकल्प मात्र है :

विदेह नगरोमें एक था अपरिग्रह ब्राह्मण और दूसरा था वहाँका निरभिमान राजा। भगवान्ने दोनोंपर समान अनुग्रह किया। बड़े-बड़े ऋषि-मुनियोंको साथ लेकर द्वारकासे मिथिला तककी यात्रा की। दोनोंकी युगपत् प्रार्थना, अतएव दोनोंके घर साथ-साथ आतिथ्यकी स्वीकृति। राजाके पास बहुत-सी सामग्री, ब्राह्मणके पास कुछ नहीं। आश्चर्य यह हुआ कि श्रीकृष्ण दो, सब मुनि भी दो, रथ-सारथि, घोड़े भी दो-दो; ब्राह्मण और राजा दोनोंको अनुभव हो कि भगवान् हमारा ही आतिथ्य स्वीकार कर रहे हैं। इससे भी बड़ा आश्चर्य यह हुआ कि केवल व्यक्ति और स्थान ही दो-दो नहीं हुए, काल भी दो हो गये। राजाके घरमें एक मासतक आतिथ्य होता रहा, ब्राह्मणके घरमें केवल एक दिन। एकके घरमें काल बड़ा हो गया, दूसरेके घरमें काल छोटा हो गया। राजाको बहुत सेवा करनी पड़ी, ब्राह्मणका थोड़ेमें ही काम बन गया, परन्तु समय बराबर ही रहा। देश, काल, वस्तु सब भगवत्संकल्पमात्र हैं। जीवका अज्ञान है, भगवान्की माया है। वहीं भगवान्ने दोनोंको तत्त्वज्ञानका उपदेश किया। क्यों न हो भगवान् भक्त-भक्तिमान् जो हैं।

अधिष्ठान-निरूपणकी शैली क्या :

तत्त्व-निरूपणकी प्रक्रिया क्या होनी चाहिए? जाति, गुण, क्रिया, सम्बन्ध आदिके आधारपर शब्दोंकी प्रवृत्ति होती है, परन्तु परब्रह्म परमात्मामें इन शब्दोंकी प्रवृत्तिके कोई निमित्त नहीं हैं। ऐसी स्थितिमें क्या उपाय किया जाये? एक ही उपाय है कि प्रत्यक्ष, अनुमान, शास्त्र आदिसे सिद्ध वस्तुओंका परमात्मामें अध्यारोप करते हुए आगे बढ़ा जाये और अन्ततः उसका अपवाद कर दिया जाये। माया-मूलक कार्य-कारणका सम्बन्ध आरोपित है, उसका निषेध अपवाद है। निषेध्यनिषेधकावाच्छिन्न चैतन्य निरवच्छिन्न ब्रह्मतत्त्व है। यह बात वेदस्तुतिके प्रथम श्लोकमें ही मायाविचरण एवं आत्मविचरणके रूपमें कही गयी है। गुणका आरोप और गुणका अपवाद—यही स्वप्रकाश अधिष्ठानके निरूपणकी प्रणाली है।

मन एवं वचनसे नामका उच्चारण होता है। इन्द्र है, मित्र है, वरुण है इत्यादि—इसे सभी नामोंके लिए मान लो। परन्तु इन नामोंका उद्भव-विभव-पराभव एक ही तत्त्वमें है। वह क्या है? सत्। तब उसके सिवाय और है क्या? नाम, रूप, आकार तथा आभासका भेद होनेपर भी वह 'एकमेवाद्वितीयम्' ही है। अतः महात्मा जो कुछ सोचते हैं, जो कुछ बोलते हैं और जो कुछ करते हैं सब परमात्मामें। पाँव कहीं भी रखो, वह धरतीपर ही पड़ेगा। जो लोग असत्का जन्म मानते हैं, सत्की मृत्यु मानते हैं, आत्मामें

भेद मानते हैं और कर्म-फलको सत्य मानते हैं; वे केवल अध्यारोपोंके द्वारा ही ऐसा उपदेश करते हैं। इन अध्यारोपोंके अधिष्ठानको न जाननेके कारण ही 'मैं तमोगुणी, रजोगुणी या सत्त्वगुणी हूँ'—यह भ्रम होता है। आत्मा-परमात्माके त्रिगुणातीत स्वरूपमें यह भेद सर्वथा नहीं है। जो मतिका विषय है वह दोषयुक्त है। मतिगत वासनाएँ उसमें आरोपित हो जाती हैं। जो अमत है, वही सत्य है।

सत्से उत्पन्न होनेपर भी नाम-रूपात्मक प्रपञ्च सत्य नहीं हो सकता, क्योंकि उत्पन्न सत् पहले नहीं था, और बादमें नहीं रहेगा। वह दृश्य होनेसे जड़ भी होगा, अनेक होनेसे अतत्त्व होगा और रज्जु, सर्पादिसे विलक्षण उसकी स्थिति नहीं होगी। यह प्रपञ्च नाम, रूपकी उत्पत्तिके पूर्व नहीं था, नाम, रूपके प्रलयके बाद भी नहीं रहेगा। मध्यमें इसकी प्रतीति मिथ्या है। यह एक मनोविलास है, अज्ञानी ही इसे सत्य समझते हैं। अतः श्रुतियाँ परमार्थ-तत्त्वका प्रतिपादन इस प्रकार करती हैं कि जो भी परमात्माके अतिरिक्त प्रतीत हो रहा है, वह सत्य नहीं है। फिर वेदोंकी क्या स्थिति है? वेद भी सम्पूर्ण भेदोंका निषेध करनेके अनन्तर अपनी सत्ता-महत्ता नहीं रखते, अपने प्रकाशक अधिष्ठान ब्रह्ममें ही निधनको प्राप्त हो जाते हैं अर्थात् बाधित हो जाते हैं।

यही है श्रीमद्भागवतकी वह शैली या प्रणाली, जिसके द्वारा तत्त्वका निरूपण किया जाता है।

भगवान् ही शरण्य हैं :

इस प्रसंगमें भगवद्भक्तिका उत्तम निरूपण है। भगवान् ही सृष्टि, स्थिति, प्रलयके एकमात्र कारण हैं। उनके कथामृत-समुद्रमें अवगाहन करनेसे सम्पूर्ण जीवोंका अन्तःकरण परिमार्जित हो जाता है, अनुभव होनेपर तो कहना ही क्या है! सबके न रहनेपर भगवान् ही रहते हैं। वे सबमें रहकर सबसे निराले हैं। सब मिथ्या है, वही सत्य है। इसी विश्वासको हृदयमें धारण करके महात्मागण उनके चरणारविन्दकी उपासना करते हैं। जो लोग उनके चरित्रामृतके समुद्रमें डुबकी लगाते हैं, उन्हें मोक्षतककी अभिलाषा नहीं होती। भगवान् सर्वदा सबके अनुकूल ही रहते हैं। सच पूछो तो उनके लिए ऋषि-मुनि, शत्रु, स्त्री एवं श्रुतिका कोई भेद नहीं है। वे समदर्शी हैं। कोई किसी भावसे स्मरण करे वे प्राप्त होते हैं। उनकी उपासनासे बुद्धिमान् पुरुष संसार-चक्रको पार कर लेते हैं। जो उनकी शरण लेते हैं, कालचक्र उनका कुछ बिगाड़ नहीं सकता। भगवान्‌की ओर चलनेके लिए गुरुचरणारविन्दके आश्रयकी आवश्यकता है। उसके बिना साधककी वही अवस्था हो जाती है जो समुद्रमें कर्णधारके बिना नावकी हो जाती है। हृदयमें कामकी बहुत-सी ग्रन्थियाँ बद्धमूल हो गयी हैं, यदि उन्हें उखाड़ न फेंका जाये तो हृदयविहारी होनेपर भी भगवान्‌की उपलब्धि नहीं होती; मानो अपने कण्ठमें पहनी हुई मणिका ही विस्मरण हो गया हो। एक बार, यदि एक बार भगवान्‌का अधिगम हो जाये, तो शुभ-अशुभ कर्मके फल सुख-दुःख स्पर्श नहीं करते हैं। लोग आक्षेप करते हैं या प्रशंसा इस बातपर भी ध्यान नहीं जाता है। सगुण-गीत-परम्परा भगवान्‌को कानोंमें भरती रहती है। सम्पूर्ण वेद-शास्त्रका तात्पर्य यही है कि परमात्माके अतिरिक्त

जो कुछ प्रतीत होता है, जो कुछ सत्य मालूम पड़ता है, उसका निराकरण कर दिया जाये फिर उपदेश और साधनकी भी आवश्यकता नहीं रहती।

भगवान्‌का यश-गान गाइये :

श्रीवल्लभाचार्यजी महाराज 'तत्त्वार्थदीप' निबन्धमें कहते हैं कि यह श्रुति, गीता, वेदस्तुति भगवान्‌के यशका वर्णन करती है। भगवान्‌के रूपमें जैसे अट्ठाइस तत्त्व हैं, वैसे ही नाम और यशके भी हैं। इसमें यह निर्णय किया गया है कि सम्पूर्ण वेद ब्रह्मपरक ही हैं। सुबोधिनीमें आचार्यने यह निर्णय किया है कि पहलेके चार श्लोकोंमें प्रकृति, पुरुष, अहंकार एवं महत्तत्त्वके द्वारा श्रुतियाँ परमात्माका निरूपण करती हैं। आगेकी श्रुतियोंमें क्रमशः आकाश, तेज, वायु, जल आदिके द्वारा परमात्माके स्वरूपका निर्णय है। निबन्धके कठिनांशके विवेचनमें सबका अलग-अलग निरूपण है। सबका अभिप्राय परमात्मामें ही है।

श्रीधर स्वामीने वेदान्त-दर्शनकी रीतिसे वेदस्तुतिकी व्याख्या की है। उसमें सर्वत्र सिद्धान्ततः औपनिषद अद्वैत स्वीकार किया हुआ है। इसके साथ ही उन्होंने प्रत्येक श्रुतिपर अपनी ओरसे एक भक्तिभाव-पूर्ण श्लोक लिखा है। वस्तुतः श्रीमद्भागवतकी यही शैली है—सिद्धान्तमें अद्वैत और साधनमें भक्ति। भक्तिमें श्रवण-मनन-निदिध्यासनका स्वतः समावेश हो जाता है; क्योंकि वह भगवद्वासनाओंके अतिरिक्त अन्य वासनाओंको निवृत्त कर देती है और भगवद्विषयक श्रवण, मनन एवं स्मरणमें प्रवृत्त करके भजनीय स्वरूपको स्पष्ट करती चलती है। इस प्रकार भक्तिके द्वारा त्वं-पदार्थ और तत्-पदार्थ—दोनोंका शोधन हो जाता है और अन्ततोगत्वा महावाक्यार्थका साक्षात्कार हो जाता है। भेद-भ्रमकी निवृत्ति हो जाती है। सभी साधन व्यावर्तक या निवर्तक होनेके कारण ही अपना प्रयोजन सिद्ध करते हैं एवं स्वयं निवृत्त हो जाते हैं।

एकादश स्कन्ध : मुक्ति

मुक्तिका अर्थ :

ग्यारहवें स्कन्धमें मुक्तिका निरूपण है। मुक्ति अर्थात् अज्ञानकृत-अध्यासकृत अन्यथारूपका परित्याग करके अपने यथार्थ स्वरूपमें स्थित होना। अन्यथारूप अज्ञानमूलक है, अतएव अज्ञानकी निवृत्तिसे आध्यासिक रूपकी निवृत्ति हो जाती है, अपनी परिच्छिन्नताका भ्रम टूट जाता है। इस अविद्यानिवृत्तिसे उपलक्षित स्वप्रकाश अधिष्ठान ही 'मुक्ति' शब्दका अभिप्रेत अर्थ है। मुक्ति देशान्तरमें, कालान्तरमें या द्रव्यान्तरमें निवास नहीं करती, वह अपना स्वरूप ही है, नित्य प्राप्त ही है। अज्ञानके कारण अप्राप्त-सी भासती है। अतः उस अज्ञानकी निवृत्ति हो जानेपर मुक्तिस्वरूप आत्मा ही रह जाता है।

वैराग्य-विचार :

आपने दशम स्कन्धमें देखा है द्वारकाका वैभव, देखा है श्रीकृष्णके जीवनमें राग-वैराग्य, परन्तु

अन्तमें श्रीकृष्णको वैराग्यकी प्राप्ति हुई। इतना ऐश्वर्य, वैभव, सम्पत्ति, शक्ति, बल, सेना, परिवार होनेपर भी, कुछ भी न रहा। इस संसारमें कुछ भी अटकने या भटकने योग्य नहीं है।

प्रथम अध्यायकी कथा बहुत ही बोधप्रद है, जैसे एक योगी सद्वृत्तियोंको साधन बनाकर दुर्वृत्तियोंका दमन करता है और सद्वृत्तियोंमें भी शान्त एवं विक्षिप्त वृत्तियोंका विभाग करके शान्तिके द्वारा विक्षेपात्मक सद्वृत्तियोंको भी शान्त कर लेता है और फिर सबका निरोध हो जानेपर अपने स्वरूपमें स्थित हो जाता है। ठीक इसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण यादवों एवं पाण्डवोंको साधन बनाकर पहले आसुर-भावापन्न कौरवों एवं दैत्योंका नाश करते हैं और पश्चात् सद्वृत्तियोंमें भी शान्तवृत्तिरूप उद्धव आदिको रखकर सद्वृत्तियोंको भी निवृत्त कर देते हैं। स्वरूप-स्थितिमें साधन-साध्य भाव नहीं है, उसमें साधनका भी परित्याग करना पड़ता है। यदि कोई आसनादि अङ्गोंके अनुष्ठानमें ही लगा रहे तो अङ्गी-निरोधकी प्राप्ति कैसे होगी? परन्तु इन साधक यादवोंका निरोध कैसे हो? उन्हें परस्पर एक-दूसरेके शरीर-त्यागका निमित्त बनना चाहिए। उनके अतिरिक्त कोई दूसरा दैत्य आदि उनकी निवृत्तिका साधन नहीं हो सकता। सच तो यह है कि उन सबके आत्मा स्वयं भगवान् हैं और उनकी इच्छाके बिना कुछ भी होना शक्य नहीं है। आत्मदेवका तादात्म्य ही सबमें ज्ञानशक्ति एवं क्रियाशक्तिका उद्बोधन करता है और उनको बलवत्तर बनाता है। यदि प्रभुका तादात्म्य ही छूट जाये तो रहेगा ही कौन?

इन यादवोंका शरीर छूटे कैसे? इसके लिए ब्रह्मदण्डके अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है। वेद एवं ब्राह्मण एक ही हैं। ब्राह्मणका शाप अर्थात् वेदवचन। वेदवचनके द्वारा ही आत्मकल्पित भेदभावोंकी निवृत्ति होती है। अतः अहंता-ममतारूप संसार छूटनेके लिए ब्राह्मण-वचन अथवा वेद-वचनकी आवश्यकता होती है। उस वचनमें संशय होनेसे परीक्षा लेनेकी बात मनमें आती है, इस प्रकार संशयात्माका नाश अवश्यम्भावी हो जाता है। स्वयं शरीरका त्याग करे तो पुनः शरीर बनानेका सामर्थ्य बना रहता है, परन्तु जब ब्रह्म-वचनसे शरीरत्याग होता है, तो पुनः शरीर बनानेकी सम्भावना नहीं रहती है। यही कारण है कि ब्राह्मणोंके शापसे यदुवंशरूप शरीर-साधनकी निवृत्ति हो गयी और एक श्रीकृष्ण-ब्रह्म शेष रह गये। उपक्रम अर्थात् प्रथम अध्यायमें वैराग्यकी प्रधानता है और अन्तिम दो अध्यायोंमें शरीर-त्यागकी। इनमें, पहलेमें अहंभाव एवं ममभावका त्याग है और दूसरेमें श्रीकृष्णके नर-नाटचका परित्याग है। उपक्रम और उपसंहारकी यह एकता संकेत देती है कि मुक्तिके लिए वैराग्यका होना आवश्यक है। कालकन्या जरा व्याधके रूपमें श्रीकृष्णपर भी आक्रमण करना चाहती है, परन्तु उसको पहले शरीर त्यागकर स्वर्गमें जाना पड़ता है, बादमें भगवान् अपने अजर-अमर स्वरूपमें प्रतिष्ठित हो जाते हैं। भगवान् चाहते तो ब्रह्मशापको भी मिटा सकते—यह प्रकट करनेके लिए उन्होंने उद्धवके शरीरको रख लिया। अपने शरीरको इसलिए नहीं रखा कि दूसरे लोग मेरा अनुकरण करके शरीरको भी अजर-अमर बनाना चाहेंगे।

आकृति महत्त्वपूर्ण नहीं हुआ करती, तत्त्व महत्त्वपूर्ण होता है। तृतीय स्कन्ध और ग्यारहवाँ स्कन्ध मिलानेपर यह स्पष्ट हो जाता है कि भगवान्‌के स्वरूपमें वैराग्य और असंगता प्रकटरूपसे विराज रही है।

योगेश्वरोंका सत्संग :

वसुदेवका श्रीकृष्णमें पुत्रभाव है। श्रीकृष्णका देवकी-वसुदेवमें मातृ-पितृभाव है। यही कारण है कि श्रीकृष्णके द्वारा आत्मा-ब्रह्मकी एकताका उपदेश प्राप्त होनेपर भी, वसुदेवकी निष्ठा नहीं बनी। अतः श्रीकृष्णने उपदेशके लिए नारदको भेजा। नारद भगवान्‌के अनुग्रह एवं उनके द्वारा प्राप्त पुष्टिपर इतने आस्थावान् हैं कि उनके उपदेशसे भी साधनमें पौरुषका आविर्भाव नहीं हो पाता। अतएव नारदने साधन-सिद्ध नौ योगेश्वरोंकी कथा और संवाद सुनाकर देवकी-वसुदेवके मोहको मिटाया। नहीं तो, नारद अपनी ही ओरसे उपदेश करते, बीचमें नव योगेश्वरोंका उपाख्यान लानेकी क्या आवश्यकता थी ?

साधनोंका सौकर्य :

योगेश्वर त्रिगुणित त्रिगुणभाव अर्थात् त्रिगुणकी नवधा विभक्तिके निवारणके लिए नौ रूपोंमें आते हैं। उसके पश्चात् नारद त्रिगुणातीत रूपसे उपदेश करते हैं। योगेश्वर निवृत्ति-धर्मकी पराकाष्ठा हैं एवं विदेह निमि प्रवृत्ति-धर्मकी पराकाष्ठा हैं। दोनोंका संवाद सर्वथा गुणातीत करनेवाला है। सत्सङ्ग, भक्ति, भक्त—ये तीनों मुख्य साधन हैं। मायाका स्वरूप और उससे पार जानेके लिए साधनोंका अनुष्ठान, सद्गुरुकी सेवा, ब्रह्मविचार तथा कर्मयोग—इनमें भी असमर्थता हो तो भगवान्‌के अवतार-चरित्रका श्रवण करना चाहिए। भगवान्‌के भजनके बिना दुःखकी निवृत्ति नहीं हो सकती। भगवान् ही सबके माता-पिता हैं। वही अन्तर्यामी नियामक स्वामी हैं, वही ज्ञानदाता गुरु हैं। उनकी सेवाके बिना किसीका कल्याण नहीं हो सकता। जो उनसे विमुख होते हैं, वे देह और देह-सम्बन्धियोंको ही सब कुछ मान बैठते हैं, जीवन भर अशान्त रहते हैं, अज्ञानको ही ज्ञान मानकर अभिमान करते हैं, जीवनमें कभी उन्हें तृप्तिका अनुभव नहीं होता, सारे मनोरथ टूट जाते हैं और अन्तमें अपना किया-कराया सब कुछ यहीं छोड़कर उन्हें वहाँ जाना पड़ता है, जिसके बारेमें उन्हें कुछ मालूम नहीं है, घोर अज्ञानान्धकारमें भटक जाते हैं और भटकते रहते हैं।

भले ही ज्ञान-ध्यान न हो सके, उत्तम कोटिकी भक्ति अथवा भगवान्‌के प्रति अनुराग न आवे तब भी युगके अनुरूप भगवान्‌की पूजा करनी चाहिए। कलियुगमें संकीर्त्तन सब साधनोंकी अपेक्षा अनायास सम्पन्न होनेवाला है। तीर्थयात्रा, भक्तोंका सत्सङ्ग सबको मिल सकता है। भगवान्‌का भजन करनेसे सारे ऋण, सारे बन्धन कट जाते हैं और भगवान् अपना बना लेते हैं।

भागवतोंका पुराण :

देवकी-वसुदेवके मनमें जन्म-जन्मसे पुत्र-वासना थी। भगवान्‌का दर्शन होनेपर भी उनके जैसे

पुत्रका वरदान ही उन्होंने माँगा था। यह वरदान स्वयं भगवान् भी नहीं दे सकते थे। उनके जैसा कोई दूसरा होता ही नहीं। अतः भक्तका मनोरथ पूर्ण न कर सकनेके कारण जैसा पुत्र उन्होंने माँगा था उसके सदृश अपने आपको पुत्रके रूपमें दिया। फिर भी भगवान्को संकोच ही रहा। वे एक बार पुत्र होनेकी जगह तीन बार पुत्र हुए। उसी रूपमें हुए कि तीन जन्मोंकी कड़ी जुड़ जाये, माता-पिताके मनमें भक्ति आवे, परन्तु पुत्र-स्नेहके कारण उनका ऐश्वर्य-ज्ञान शिथिल हो गया था। ऋषियोंका उपदेश भी मनमें नहीं बैठा। श्रीकृष्णका उपदेश भी हार गया। जहाँ भगवान् हारते हैं वहाँ भक्त ही जीत सकता है। अतएव नारदने पहले योगेश्वरोंका उपाख्यान सुनाया। दोनोंका मोह दूर हो गया। जो काम भगवान् नहीं कर पाते, वह भक्त कर देता है। यह भगवान्का पुराण नहीं, भागवतोंका पुराण है। जीवोंकी मुक्तिके लिए जो साधन अपेक्षित है, उसका इन पाँच अध्यायोंमें वर्णन किया गया है।

भगवान्का उपसंहार-संकल्प :

अब चौबीस अध्यायोंमें प्रकृतिके चौबीस गुणोंसे मुक्ति प्राप्त करनेके लिए प्रसंग प्रारम्भ होता है। ब्रह्मादि देवतागण द्वारकामें श्रीकृष्णके पास आते हैं और श्रीकृष्णकी स्तुति करते हैं। उन्होंने प्रार्थना की कि जीवोंका अशुद्ध अन्तःकरण, विद्या-श्रवण, अध्ययन, दान, तपस्या और कर्मकाण्डसे उतना शुद्ध नहीं होता, जितना कि श्रवणसे सम्पुष्ट सत् श्रद्धासे होता है। संसारमें ऐसा कोई स्त्री-पुरुष या क्षोभक हेतु नहीं है जो आपमें विकार उत्पन्न कर सके। आपकी कथा और आपके चरणोंका जल—गंगा मनुष्यके हृदयको पवित्र करनेमें समर्थ है। प्रार्थनाके अनन्तर देवतागण सभासे उठकर आकाशमें गये और वहाँसे प्रार्थना की कि हमने पहले अवतारके लिए आपसे प्रार्थना की थी, अब हमारा प्रयोजन पूरा हो गया है, यदि आप ठीक समझते हों तो अपने परमधाममें पधारिये। भगवान्ने स्वीकार किया। भगवान्ने देखा कि ब्राह्मणोंका शाप द्वारकामें निवास करते समय यदुवंशियोंको प्रभावित नहीं कर सकेगा, अतः उन्हें प्रभास क्षेत्रमें जानेकी आज्ञा दे दी। भगवद्-इच्छाका क्या महत्त्व है कि भगवान् स्वयं द्वारकामें विद्यमान हैं, यदुवंशियोंने उनसे ब्राह्मणोंका अपराध निवेदन नहीं किया, शापसे बचनेका उपाय उनसे नहीं पूछा, धामके महत्त्वपर उनकी श्रद्धा नहीं हुई, वे प्रभासके दान-व्रतादिरूप अपने पौरुषपर विश्वास करके भगवान्के धामसे बाहर जानेको तत्पर हो गये। सच तो यह है कि भगवान् ही कर्ता-धर्ता हैं। सबको अन्तःप्रेरणा उन्हींसे प्राप्त होती है।

उद्धव-गीता :

एकान्तमें आये उद्धवजी। भगवान्की इच्छा थी कि उद्धव मर्त्यलोकमें रहें। सचमुच उद्धवजीने ऐसी ही इच्छा प्रकट की कि हम आपके नामका कीर्तन करेंगे, चरित्रका वर्णन करेंगे, उपदेशोंका स्मरण करेंगे, आपकी चारु मुसकान, चितवन और विनोदोंका स्मरण करके भवसागरसे पार हो जायेंगे। यह भगवान्की ही इच्छा थी, अन्यथा भगवान्के एकान्ती भक्तके मनमें ऐसे संकल्पका उदय क्यों होता? भगवान्ने उद्धवको बन्धु-बान्धवोंके स्नेहसे मुक्त होकर समदर्शीके रूपमें पृथिवी-तलपर विचरण करनेका आदेश दिया।

उद्धवजीको बताया कि जो तुम मन और इन्द्रियोंसे नाम-रूपात्मक प्रपञ्चको देख रहे हो वह नाशवान् है, दृश्य है, मनोमय है। अतः इसको मायाका खेल समझो। मनकी चञ्चल दशामें ही संसारका दर्शन होता है, स्थिर मनमें यह नहीं दिखाई पड़ता। दीखनेपर ही गुण-दोषका विभाग मालूम पड़ता है, फिर कर्मबन्धन प्राप्त होता है। तुम आत्मामें सब, सबमें आत्मा और आत्माको मुझसे एक देखो। तुम दोष-गुणमयी बुद्धिसे ऊपर उठ जाओ। निषिद्ध कर्म मत करो, परन्तु उनमें दोष-बुद्धि भी मत करो। विहित कर्म करो, परन्तु उनमें गुणबुद्धि भी मत करो। बालकके समान जीवन व्यतीत करो, जब सम्पूर्ण विश्वको मेरा स्वरूप समझोगे, तब तुम्हारे लिए विपत्ति एवं मृत्युका अस्तित्व ही नहीं रहेगा।

सीखनेकी मनोवृत्ति चाहिए :

उद्धवजीके प्रश्न करनेपर श्रीकृष्णने मनुष्य-शरीरकी महिमा और पुरुषार्थकी आवश्यकता बतायी। इसी प्रसंगमें दत्तात्रेय एवं यदुका सम्वाद है। दत्तात्रेयने यदुको जीवन्मुक्त जीवनका साक्षात्कार कराया। ये प्रकृतिके तत्त्व ही चौबीस गुरु हैं। ये कोई मन्त्र देनेवाले गुरु नहीं हैं और न तो इनको गुरु बनाकर जीवन भर इनमें निष्ठा रखी जाती है। यहाँ अनेक गुरु बनानेकी प्रेरणा भी, केवल यह बात बतानेके लिए है कि मनुष्य सावधान रहकर, छोटे-से-छोटे पदार्थसे भी शिक्षा ग्रहण करता जाये। सबसे बड़ा गुरु तो है अपना शरीर, जो 'है और नहीं'के बीचमें रहकर दुःख दे-देकर भी अपना चमत्कार दिखाता रहता है। इसी संसारको, जिसको हम रोज देखते हैं, जिसमें रहते हैं, व्यवहार करते हैं, उसे एक विवेकी पुरुष किस दृष्टिसे देखता है और क्या-क्या शिक्षा ग्रहण करता है, यह सीखने योग्य बात है और मनुष्यके लिए परम-कल्याणकारी है।

धर्मानुष्ठानमें कोई कामना नहीं रहनी चाहिए, न लोककी, न परलोककी। जिज्ञासाका उदय हो जानेपर तो कर्मानुष्ठानकी भी आवश्यकता नहीं रहती, केवल निवृत्ति-परायण गुरुकी सेवा ही करनी चाहिए। संसारमें बन्धन-मुक्ति, गुण-दोष सब मायामूलक हैं, अज्ञानसे बन्धन है, ज्ञानसे मोक्ष है। महात्माका जीवन होना चाहिए आकाश-जैसा उदार, सूर्य-जैसा प्रकाशक और अग्नि-जैसा पाप-ध्वंसी। स्वप्न टूट गया, जाग गये, संसारमें पूजा या अपमान तो मिलता ही रहता है, अपनेमें विकार नहीं होना चाहिए।

निन्दा-स्तुति क्यों ?

श्रीकृष्णने उद्धवको उपदेश किया—संसारमें कोई अच्छा काम करता है, कोई बुरा। उनकी स्तुति-निन्दा नहीं करनी चाहिए। उनके गुण या दोषको अपने अन्दर धारण करना उचित नहीं है। समदर्शी एवं मौन रहे। न अच्छा, न बुरा करे, न कहे, न सोचे। अपने आनन्दमें मग्न रहे और अपनेको ज्ञानीके रूपमें प्रकट न करे।

विवेक जगाइये :

भगवान्‌की पूजा कहीं भी की जा सकती है। यहाँतक कि अपने शरीरमें स्थित अपने आत्माकी भी पूजा की जा सकती है। उसको स्वस्थ प्रसन्न रखना भी भगवान्‌की पूजा है। इस जीवनका ठीक-ठीक सञ्चालन करनेके लिए सन्तोंका संग ही सबसे श्रेष्ठ है। भगवान्‌ने उद्धवजीको अपने हंसावतारकी कथा सुनायी। इसका प्रसंग यह है कि निवृत्तिपरायण बालकवत् जीवन व्यतीत करनेवाले सनकादिकोंके मनमें एक प्रश्न उठा—मन और विषयोंको कैसे अलग करें? मन विषयोंका चिन्तन करते-करते विषयरूप हो गया है और विषयोंका दर्शन मनसे ही होता है, इनको अलग-अलग कैसे किया जाये? उन्होंने अपने पिता ब्रह्माजीके पास जाकर अपनी जिज्ञासा प्रकट की। ब्रह्माजी इस प्रश्नका उत्तर नहीं दे सके क्योंकि उनकी बुद्धि कर्मपरायण थी। वे तो यही देख रहे थे कि जीवोंके अनादि सञ्चित कर्मोंमें-से किस कर्मके अनुसार इसको शरीर प्रदान करें। कर्ममूलक संसारपर ही उनकी दृष्टि थी। जबतक मनुष्य नाम-रूप-कर्मके दर्शनमें संलग्न रहता है तबतक न शुद्ध विवेकका उदय होता है और न तत्त्वज्ञान होता है, चाहे वह ब्रह्मा ही क्यों न हो! भगवान् सर्वनिर्णयके लिए नीर-क्षीर-विवेकी हंसका रूप धारणकर प्रकट हुए।

हंसोपदेश :

ब्रह्मा एवं सनकादि आगे आये, पूछा—आप कौन हैं? हंसने कहा—आपका प्रश्न आत्माके सम्बन्धमें है या शरीरके? आत्मा सबमें एक है, शरीर पञ्चभूतोंका बना हुआ है। आत्मदृष्टिसे और शरीरदृष्टिसे जो तुम लोग हो, वही मैं हूँ, फिर 'आप कौन हैं' इस प्रश्नका क्या अर्थ है? मन, वचन, दर्शन एवं दूसरी इन्द्रियोंसे मेरा ही अनुभव होता है, मेरे अतिरिक्त और कुछ नहीं है। अपने प्रश्नकी निर्बलता देखो। विषयोंमें मन और मनमें विषय, ये दोनों जीवके शरीर हैं। न ये जीवके हैं, न जीव इनका है। जीव तो मेरा स्वरूप है, उसको मन एवं विषयकी एकता या पृथक्करणकी चिन्ता ही क्यों करनी चाहिए? वह मुझसे एक होकर मन और विषय दोनोंको छोड़ दे। मिट्टी और घड़ा दोनोंको छोड़कर अपने चेतनस्वरूपमें स्थित हो जाये। सारा दुःख देहमें अहंभाव करनेके कारण ही है। अपने स्वरूपको जानो, न कहीं दुःख है, न बन्धन।

सनकादिकोंके 'भोग एवं योगका सन्देह' मिट गया, वे स्वच्छ, स्वच्छन्द आत्मरूपमें प्रतिष्ठित हो गये।

ध्यानयोग :

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—वेदोक्त ज्ञान एक होनेपर भी उसको ग्रहण करनेवाले अलग-अलग हैं—मनुष्य, गन्धर्व, देवता, किन्नर आदि। सबकी प्रकृति अलग-अलग थी, कोई राजस, कोई सात्त्विक, कोई तामस। इसी कारण प्राणियोंमें भेद होता है और मत भी अलग-अलग हो जाते हैं। सब अपने-अपने स्वभावके अनुसार बोलते हैं। मतियोंकी पृथक्ताके कारण मत भी पृथक्-पृथक् हो जाते हैं। अलग-अलग मार्ग एवं अलग-अलग सिद्धान्त होनेका कारण यही है। अतः मतभेदके चक्रव्यूहमें नहीं फँसना चाहिए।

भगवान्‌की भक्ति सबके लिए कल्याणकारिणी है। भगवान्‌की भक्तिसे, उनकी पुण्यकथाके श्रवणसे, नाम-संकीर्त्तनसे, जैसे-जैसे अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है, वैसे ही वैसे सूक्ष्म वस्तुके दर्शनकी योग्यता आती जाती है। ज्ञाननेत्रके लिए भक्ति वह अञ्जन है, जिसके सेवनसे परमात्माके साक्षात्कारकी योग्यता आजाती है। भगवान्‌के ध्यानका अभ्यास भी धीरे-धीरे चित्तको निर्मल बना देता है। ध्यानके समय सूर्यमें चन्द्रमा एवं चन्द्रमामें अग्निका विन्यास करना चाहिए। सूर्यका अर्थ है दृष्टि, चन्द्रमाका अर्थ है मन और अग्निका अर्थ है वाक् अर्थात् ध्यानके समय दृष्टि, संकल्प और भगवान्‌का नाम तीनोंको एक कर देना चाहिए। भगवान्‌को देखो, प्यार करो और नामका उच्चारण करो, ध्यान लग जायेगा। जब किसी ध्यानमें तीव्रता आती है, तब दृश्य, ज्ञान एवं क्रियाका भेद-भ्रम अपने आप ही शान्त हो जाता है। वस्तुतः एक तत्त्वमें ज्ञान, क्रिया एवं द्रव्यका भेद भ्रममात्र ही है। मनुष्यके जीवनमें जितनी सिद्धियाँ आती हैं, वे सब भगवान्‌के ध्यानसे ही आती हैं। परन्तु यह नहीं भूलना चाहिए कि उत्तम योगमें सिद्धियाँ विघ्न हैं। सब सिद्धियोंके स्वामी स्वयं प्रभु हैं, स्वयं मैं हूँ। सिद्धियाँ कृत्रिम हैं, आती-जाती हैं, अतः भगवद्भजन ही सर्वोत्तम है।

विभूतियोग :

विभूतियाँ क्या हैं? जैसे मिट्टी एक वस्तु है और उससे बने हुए पदार्थ, घड़ा-कपड़ा, चाँदी, ताँबा, हीरा, मोती, सब उसकी विभूतियाँ हैं। जैसे जल वस्तु है और बर्फ, फेन, बुलबुले एवं द्रवके नाना रूप उसकी विभूतियाँ हैं। जैसे अग्नि वस्तु है, परन्तु उससे बने हुए पदार्थ; शरीरकी ऊष्मा, सूर्य, स्वर्ण आदि उसकी विभूतियाँ हैं। इसी प्रकार परमार्थ-तत्त्ववस्तु हैं भगवान् और यह समग्र प्रपञ्च, इसकी विशेषताएँ, देवता, दैत्य, मनुष्य, ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र—सब भगवान्‌की विभूतियाँ हैं। इस संसारमें ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो भगवान्‌की विभूति न हो। जो इस विभूतिको पहचान लेते हैं उनको व्यवहारमें पग-पगपर भगवान्‌के वैभवका दर्शन होता है। पृथिवीमें गन्ध, जलमें रस, तेजमें रूप, वायुमें स्पर्श, आकाशमें शब्द, मनमें प्यार, बुद्धिमें विचार—ये सब-की-सब भगवान्‌की विभूतियाँ हैं। ये ग्रह, नक्षत्र, तारे, यह नदी, पर्वत, वन अचिन्त्य रचनाके विचित्र कौशल हैं। भगवान्‌के विभूति-चमत्कारको ही प्रकट कर रहे हैं। इनको देखकर महात्मा लोग भगवान्‌के रूप एवं जादूगरीपर मुग्ध होते रहते हैं। यह सुगन्ध, स्वाद, सुन्दरता, सुकुमारता, सुरीली ध्वनि कहाँसे आती है? बस, इसका चिन्तन करो और भगवान्‌में मग्न हो जाओ। हाँ, इतना अवश्य है—इन विभूतियोंमें ही नहीं फँसना चाहिए। जिसकी विभूति है उसका अनुसन्धान करना चाहिए। यह अनेकता दिखानेवाला मन ही है। इसीसे नाम-रूपका अनुभव होता है। जब यह जीव अन्तर्मुख होकर भगवत्परायण हो जाता है, तब केवल भगवान् ही रहते हैं, कुछ कर्तव्य शेष नहीं रहता।

गुणातीत हो जाइये :

भगवान्‌ने उद्धवके प्रति विस्तारसे वर्णाश्रम-धर्म एवं उनके द्वारा अपनी आराधनाका वर्णन किया।

संक्षेपमें धर्मकी व्याख्या करते हुए उन्होंने कहा कि गुण-दोषका वर्णन बहुत विस्तृत है, उसका कहीं अन्त नहीं है और उससे कोई लाभ भी नहीं है। वस्तुतः गुण-दोषकी दृष्टि बनाकर राग-द्वेष बढ़ाना दोष है और गुणदोष न देखकर रागद्वेष-निर्मुक्त अन्तर्मुखता ही गुण है। जबतक मनुष्य गुण-दोष देखता रहेगा तबतक गुणातीत नहीं हो सकता।

अपना अधिकार देखिये :

उद्धवके प्रश्नका उत्तर देते हुए श्रीकृष्णने कहा कि विरक्तोंके लिए ज्ञानयोग, संसारासक्त लोगोंके लिए क्रियायोग और जिनमें थोड़ा वैराग्य है और थोड़ा राग है; उन लोगोंके लिए भक्तियोग। वैराग्य होनेतक अथवा भगवत्कथामें श्रद्धा होनेतक कर्मयोगका अधिकार रहता है, कर्मयोगमें अधिकारानुसार गुण-दोषका विभाग किया जाता है। अपने-अपने अधिकारके अनुसार साधन गुण होता है और अधिकारके विपरीत दोष हो जाता है। ज्ञान, भाव, क्रिया—ये स्वतः गुण-दोष नहीं हैं, किसीके लिए कुछ दोष है, किसीके लिए कुछ गुण है। अधिकारके विपरीत कोई भी काम करनेसे मनुष्य अपने स्थानसे च्युत हो जाता है।

गुण-दोषकी कसौटी :

बात यह है कि एक परमात्मा है, प्रकृति है या पञ्चभूत है, वस्तु तो सबमें समान ही है, फिर गुण क्या, दोष क्या ? ये वस्तुनिष्ठ नहीं होते, व्यवस्थाके अनुसार होते हैं। संसारके पदार्थ अधिकारी पुरुषोंके अभीष्टकी सिद्धिमें सहायक बनें, इस प्रयोजनसे वेदने सम धातुओंमें भी विषम नाम-रूपका आरोप कर दिया है। समान वस्तु ही किसीके लिए शुभ, किसीके लिए अशुभ होती है। इससे वस्तु-स्वरूपकी खोज होती है, धर्म सिद्ध होता है। इनके द्वारा व्यवहारकी सिद्धि होती है, जीवनयात्रा चलती है। प्रयोजनवश ही वस्तुमें भेदकी कल्पना की गयी है। भेद वास्तविक नहीं है, काल्पनिक है। इस विषयका जैसा विवरण श्रीमद्भागवतमें मिलता है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है।

अहमेव वेद्यः :

श्रीकृष्णने उद्धवसे कहा—लोक-परलोकमें लोभके कारण जो कर्मानुष्ठान होता है उससे विक्षेप भले बढ़े, शान्ति कभी नहीं मिल सकती। यहाँतक होता है कि जो लोग कामनावश कर्मोंमें लग जाते हैं उन्हें भगवत्सम्बन्धी वार्ता भी अच्छी नहीं लगती। सही बात तो यह है कि वेदोंका तात्पर्य इन स्वाप्निक स्वर्गादि लोकों या लौकिक भोगोंकी प्राप्तिमें नहीं है। वे शुद्धरूपसे ब्रह्म एवं आत्माकी एकताका प्रतिपादन करते हैं। मन्त्र एवं ऋषियोंको परोक्षरूपसे प्रतिपादन अभीष्ट है और वही मुझ परमात्माको भी प्रिय लगता है। वेदोंका परम तात्पर्य समझ लेना किसी साधारण मनुष्यका काम नहीं है, वह अनन्त, अपार तथा परम गम्भीर है। वेद किसका विधान करता है, किसका नाम लेता है, किसका अनुवाद करके विकल्प करता है—श्रीकृष्ण कहते हैं—उद्धव ! इसको मेरे सिवाय दूसरा कोई नहीं जानता। सच तो यह है कि

मेरा ही अनेकरूपसे विधान है, मेरे ही अनेक नाम हैं, मुझमें ही विकल्प और मुझमें ही अपवाद हैं। सुनो, सब वेदोंका केवल इतना ही अर्थ है कि शब्द मेरा आश्रय लेकर दृश्यमान भेदोंका अनुवाद करता है और अन्तमें इस मायामात्र भेदका निषेध करके निर्मल हो जाता है, मुझसे अभिन्न हो जाता है।

वेदोंका इतना सुस्पष्ट एवं विशद अभिप्राय अन्यत्र मिलना कठिन ही है।

उदार दृष्टि :

कितनी उदार दृष्टि है वह जो सभी प्रकारके मतों, मत-भेदों और उनके प्रतिपादनोंको युक्तियुक्त बताती है। मायाका खेल है। एक ही वस्तु अनेक देखनेवालोंको अनेक दिखायी पड़ती है। एक दूसरेसे लड़ते हैं। मैं सही तुम गलत! दोनोंके हृदयमें विराजमान एक ही भगवान् हैं, फिर उनमें मतभेद क्यों? भगवान्‌की शक्तियाँ ही सबको युक्ति देती हैं जैसे एक ही विद्युत्-शक्ति अनेक यन्त्रोंमें प्रवेश करके अनेक गुण प्रकट करती है। ऐसे एक ही भगवान् विद्वानोंके अनेक अन्तःकरणोंमें प्रकट होकर उनके परस्पर भिन्न संस्कारोंके अनुसार विचार एवं निश्चय प्रकट करते हैं। यह मत देखो कि उनमें क्या मतभेद हैं, यह देखो कि सबका प्रेरक एक है। मायाका जल दस हाथ गहरा है कि पचास हाथ, यह मतभेद तो मायावीकी महिमाको ही प्रकट करता है। इसमें शंका करनेका कोई कारण नहीं है।

जन्म-मृत्यु का विचार :

जन्म-मृत्यु क्या है? मन कर्मोंके संस्कारसे आक्रान्त है। वह इन्द्रियोंसे युक्त होकर एक दृश्यसे दूसरे दृश्यको पकड़ता-छोड़ता रहता है, भावसे भावान्तर होता रहता है। आत्मा मनसे एक होकर उसीके रूपमें अपनेको देखने लगता है। मन देखे-सुने विषयोंका चिन्तन करता है। अत्यन्त अभिनिवेश होनेपर पूर्वानुभूतकी विस्मृति हो जाती है। किसी भी कारणसे विषयमें इतना अभिनिवेश, कि अपने आपका भी स्मरण न रहे, इस अत्यन्त विस्मृतिका नाम ही 'मृत्यु' है। स्वप्नमें स्फुरित शरीरके समान मनमें स्फुरित किसी भी शरीरको पूर्णतः 'मैं'के रूपमें स्वीकार कर लेना 'जन्म' है। पूर्वका विस्मरण एवं अपनेको अपूर्व-रूपमें स्वीकृति देना, इसीका नाम 'मृत्यु' एवं 'जन्म' है। सच पूछो तो क्षण-क्षणमें जन्म-मरण हो रहा है। क्या दीयेकी लौ या झरनेका पानी या वृक्षमें लगे फल वही रहते हैं जो कल थे? पल-पलमें परिवर्तन हो रहा है, परन्तु भ्रम तो होता ही है कि यह वही है। इसी प्रकार 'मैं वही शरीर हूँ और वही शरीरवाला हूँ'—यह कहना और सोचना भ्रान्ति ही है। इस भ्रममें जो फँस गये हैं वही अपनी आयुको व्यर्थ गँवा रहे हैं। अतः शरीरकी सम्पत्ति-विपत्ति, मान-अपमान, जन्म-मरण एवं सुख-दुःखमें न फँसकर जो यथार्थ सत्य है उसका अनुभव करना चाहिए। सुख-दुःख देनेवाला कोई दूसरा नहीं है, अपना भ्रम ही सुख-दुःख देता है। मनने ही शत्रु-मित्र बनाये हैं। विचार करके इस मनकी गतिको पकड़ लेना चाहिए और परमात्मामें मनको लगाना ही सब साधनोंका सार-संग्रह है। यदि मन न मानता हो तो सांख्य-विवेकके द्वारा, कारण-प्रकृतिके द्वारा सब कार्योंका जन्म-अनुलोम दृष्टि और सब कार्योंका प्रकृतिमें लय-प्रतिलोम दृष्टि, इन दोनों

विचारोंके द्वारा नाम-रूप-क्रियात्मक प्रपञ्चको एकसे एकमें देखना चाहिए, फिर भेद-भ्रमकी सर्वथा निवृत्ति हो जाती है। जब यह जीव अन्तःकरणमें आने-जानेवाले गुणोंसे अपनेको मुक्त जान लेता है तब जीवत्वका भंग हो जाता है और उसे अनुभव हो जाता है कि मैं जीव नहीं, साक्षात् ब्रह्म हूँ।

अद्वैत-दृष्टिसे परमकल्याण :

इस नाम-रूप-क्रियात्मक प्रपञ्चमें सबके स्वभाव, मति, रति, गति पृथक्-पृथक् हैं, परन्तु सबका मूल-तत्त्व वह चाहे चेतन हो या जड़, एक ही है। अतः किसीकी प्रशंसा अथवा निन्दा नहीं करनी चाहिए। जो निन्दा-स्तुतिमें फँस जाता है, वह स्वार्थ-परमार्थ अर्थात् सत्यसे प्रच्युत हो जाता है, क्योंकि एक असत् पदार्थमें उसका आग्रह हो गया है। द्वैत अवस्तु है। उसमें क्या कितना अच्छा है, क्या कितना बुरा है। जो वाणी या मनका विषय है वह तत्त्व नहीं है। आत्मासे अतिरिक्त जो कुछ है वह मिथ्या है। अतएव आत्मा ही सब कुछ है। ब्रह्मसे पृथक जीव नामकी भी कोई वस्तु नहीं है। जीव एक प्रकारका अभिमान है। जीवका जीवन प्राण परब्रह्म ही है। उपासनाके द्वारा शान धरायी हुई ज्ञानकी तलवारसे इस अनेकताके भ्रमको काट देना चाहिए। जो पहले नहीं, पीछे नहीं, वह मध्यमें भी नहीं। वह वाचारम्भण नाममात्र ही है। जिससे जिसको सत्ता-स्फूर्ति मिलती है वह वही होता है, उससे अन्य नहीं अर्थात् ब्रह्मसे अतिरिक्त न आत्मा है, न जगत्। मुख्य सामानाधिकरण्यसे आत्मा एवं बाध-सामानाधिकरण्यसे जगत् ब्रह्म ही है।

व्यक्त-अव्यक्तसे पार :

व्यक्तिका मूल है अव्यक्त। व्यक्ति प्रत्यक्ष होता है और अव्यक्त अनुमित अथवा कल्पित। अव्यक्त माने अदृश्य। वह कल्पित हो, चाहे अनुमित, अपने प्रकाशक स्वप्रकाश अधिष्ठानसे भिन्न नहीं हो सकता। अतः व्यक्तिके गुण-दोषोंका विवेक एक अलग वस्तु है। उसकी विक्षिप्त या शान्त अवस्थाएँ व्यवहारकी वस्तु हैं। उनसे मूल तत्त्वपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, वह ज्यों-का-त्यों रहता है। जैसे बादलोंका आना-जाना सूर्यका कुछ बनाता-बिगाड़ता नहीं, दूषण भूषण उत्पन्न नहीं करता, उसी प्रकार प्रत्यक्ष या कल्पित कार्य-कारणका जो कि अध्यस्त हैं, अध्यारोपित हैं, परमार्थस्वरूप प्रत्यक् चैतन्याभिन्न ब्रह्म-तत्त्वपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। तत्त्वका अनुभव प्राप्त करनेके लिए व्यक्त एवं अव्यक्त दोनोंका अपवाद आवश्यक है। व्यक्ति-जीवन भी निर्दोष रहे, असंग रहे, यह एक दूसरी बात है और भगवद्भक्तिसे व्यक्तिकी निर्दोषता अभिव्यक्ति-लाभ करती है। तत्त्व-चिन्तनके समय व्यक्तित्वपर ध्यान देनेकी आवश्यकता नहीं। व्यक्तित्वकी प्रतीति होती है तो होती रहे, वह स्वप्नवत् है और उससे तत्त्वज्ञानमें कोई बाधा नहीं है। तत्त्वज्ञान किसी अभूत पदार्थका निर्माण नहीं करता, विद्यमान सद्वस्तुका ही अनुभव करता है। ठीक वैसे ही जैसे सूर्योदयसे किसी वस्तुकी उत्पत्ति नहीं होती, केवल अन्धकारकी ही निवृत्ति होती है। यह स्वयंप्रकाश अप्रमेय अद्वितीय सत्य आत्मा ही ब्रह्म है, इसमें भेदभाव सम्मोहमात्र ही है।

भक्तिका वैलक्षण्य :

सम्पूर्ण श्रीमद्भागवतमें और एकादश स्कन्धमें भी तत्त्वज्ञानके साथ-साथ भक्तिकी एकरस धारा प्रवाहित है, यही भागवतकी अपूर्वता है। जहाँ प्रकरण-ग्रन्थ एक-एक विषयके प्रतिपादनमें ही संलग्न रहते हैं, वहाँ यह सम्पूर्ण शास्त्र धर्म, योग एवं भक्तिका भी समग्र प्रतिपादन करता है। भक्तिकी एक विशेषता है, वह एक ओर तो अन्तःकरणको संसार-वासनासे मुक्त करती है, दूसरी ओर तत्-पदार्थपर पड़े हुए आवरणको धीरे-धीरे क्षीण करती चलती है, भजनीयका स्वरूप स्पष्ट होता है और भजनीयके अंश-जीवात्माको भी सँवारती-सुधारती है। जैसे एक भद्र महिला अपने पतिकी सेवा करती है, सलाह देती है, सुख पहुँचाती है, साथ ही अपने पुत्रको भी पुष्ट करती है, शिक्षा देती है एवं सुख देती है, इसी प्रकार भक्तिमाता पति एवं पुत्रके बीचमें रहकर दोनोंका उपकार करती है। जीवके अन्तःकरणसे वासनाओंका मल-प्रक्षालन करके उसको शुद्ध करती है और ईश्वरके परोक्षरूपको अपरोक्ष कराती जाती है। माताके अनुग्रहके बिना कोई भी पुत्र अपने पिताको नहीं पहचान सकता। पिता-पुत्रके बीचमें माता ही माध्यम है। अतः भक्तिका उपयोग बहिरङ्ग अन्तःकरणके शोधनमें, अन्तरङ्ग अज्ञानके निवारणमें एवं पिता-पुत्रकी, ब्रह्म-आत्माकी सिद्ध एकताके बोधनमें भी है। ग्यारहवें स्कन्धमें यहाँतक कहा गया है कि सांख्यविचार, योगाभ्यास, त्याग, तपस्या किसीमें भी इतना सामर्थ्य नहीं है—मुझे प्राप्त करनेमें, जितना सामर्थ्य भक्तिका है। भक्तिकी यह निरतिशय महिमा प्रायः सर्वत्र देखी जा सकती है। भक्तिमें ध्यान है, पूजा है, नामजप है, व्रत है, मन्दिर-निर्माण है, सभी अङ्गोंका भागवतमें वर्णन है। प्रीतिरससे सराबोर भगवदाकार वृत्तिका ही नाम 'भक्ति' है।

भागवतकी भक्तिमें एक विलक्षणता है, वह केवल व्रत, जप या पूजारूप ही नहीं है, वह है सबमें भगवद्भाव। सभी स्कन्धोंमें थोड़ी-बहुत इसकी चर्चा है, कपिलके उपदेशमें, प्रह्लादके उपदेशमें स्पष्ट कहा गया है कि सबमें भगवद्दर्शन ही भक्तिका मुख्यरूप है। इसीसे भागवत-धर्मके रूपमें भगवान्के लिए किये जानेवाले सभी कर्मोंको 'भक्ति' कहा गया है। सबमें भगवान्, सब कर्म भक्ति और इसको सब कर सकते हैं। अधिकारी सब, साधन सब और भगवान् सब। अतः इसमें किसी प्रकारका प्रत्यवाय, प्रमाद या बाधा नहीं है। ज्ञान-अज्ञानकी कोई शर्त नहीं है। प्राणिमात्र मन्दिर, सबके आत्माके रूपमें भगवान्, सबमें भगवद्भाव। भक्तिकी यह अपूर्व परिपाटी भागवतमें स्वीकार की गयी है। वैराग्य एवं ज्ञानकी जननी भी यही है, इसीसे शान्ति मिलती है। प्रेमलक्षणा भक्तिका भी वर्णन है। इस प्रसङ्गमें बड़े आदरके साथ गोपियोंके प्रेमकी निरतिशय महिमा एवं उनकी भगवत्प्राप्तिका भी निरूपण है।

उपदेशका उपसंहार :

अन्ततः उद्धवके द्वारा और भी सुगम मार्ग पूछे जानेपर भगवान्ने मङ्गलमय भागवत-धर्मकी ओर इङ्गित किया है। उसमें मुख्य है—सर्वभूतोंमें बाहर-भीतर निरावरण परमात्माका दर्शन, वही है आत्मा।

आकाश छोटा-बड़ा नहीं होता। ब्राह्मण, कसाई, चोर, ब्राह्मणभक्त, सूर्य, चिनगारी, हिंसक-अहिंसक—सबमें परमात्माका दर्शन ही सबसे बड़ा ज्ञान है। सबमें भगवद्भाव करनेसे स्पर्धा, असूया, तिरस्कार, अहङ्कार सबकी निवृत्ति हो जाती है। लोग हँसें तो हँसने दो, देहदृष्टि और लज्जा छोड़कर भगवद्भावसे सबको प्रणाम करना चाहिए। यह नहीं देखना चाहिए कि वह गाय है कि गधा, सबमें भगवान् ही हैं। भगवान्के उद्देश्यसे जो कुछ भी किया जाता है वह भगवत्-प्राप्तिका हेतु हो जाता है। उपदेशका उपसंहार हुआ, उद्धवको सर्वात्म-भावकी प्राप्ति हुई। भगवान् श्रीकृष्णको ऐन्द्रियक अनुपस्थिति होनेपर भी वे सर्वत्र पृथिवीपर विचरण करनेके योग्य होते हैं।

यादव ब्रह्म :

यादवरूपमें स्वयं श्रीकृष्ण एवं अन्य यदुवंशी पृथिवीका भार दूर करनेके लिए ही इस रूपमें अवतीर्ण हुए थे। प्रयोजन-पूर्ति हो जानेपर जैसे शोधक-बोधक दोनों ही निवृत्तियोंका बोध हो जाता है, इसी प्रकार पारस्परिक निमित्तसे यदुवंशियोंका देह-त्याग एवं श्रीकृष्णका नाट्य-परित्याग है। श्रीकृष्ण स्वयं ब्रह्म हैं, उनमें बन्धन एवं मुक्तिका विभाग नहीं है। आकृतिके परिवर्तन या परित्यागसे तत्त्वपर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। ग्यारहवाँ स्कन्ध मुक्तिका स्कन्ध है। पाँच अध्यायोंमें जीवोंकी मुक्तिके साधन, चौबीस अध्यायोंमें प्राकृत पदार्थोंकी मुक्ति एवं दो अध्यायोंमें यदुवंश एवं यादव-ब्रह्मकी मुक्तिका वर्णन है।

द्वादश स्कन्ध : निरोध या आश्रय

प्रलय-चिन्तन :

बारहवें स्कन्धमें प्रलयका जितना स्पष्ट निरूपण प्राप्त होता है, उतना किसी दूसरे स्कन्धमें उपलब्ध नहीं होता। चतुर्थ अध्यायमें चार प्रकारके प्रलयका निरूपण है। पहलेका नाम है नैमित्तिक प्रलय। जब ब्रह्माका एक दिन पूरा हो जाता है, रात्रि आती है, तब तीनों लोक प्रलीन हो जाते हैं। ब्रह्मा अपनी सृष्टिको आत्मसात् करके भगवान्में सो जाते हैं। जैसे कोई पुरुष निद्राकालमें अपनी बनायी हुई सृष्टिको सपनेमें लीन करके सो जाता है, ठीक वैसे ही ब्रह्मा भी अपने संसारको लेकर सो जाता है।

प्राकृत प्रलय तब होता है जब ब्रह्माकी दो परार्धकी पूरी आयु समाप्त हो जाती है। उस समय सातों प्रकृतियाँ प्रलयको प्राप्त हो जाती हैं। पुरुष और अव्यक्तकी शक्तियोंका सम्यक् प्रलय हो जाता है। कालके भेदसे विवश होकर इन्हें प्रलीन होना पड़ता है।

तीसरा है—आत्यन्तिक प्रलय। और प्रलयोंमें बीज शेष रह जाता है, परन्तु आत्यन्तिक प्रलयमें बीज भी शेष नहीं रहता, सबका बाध हो जाता है। यह प्रलय कालशक्ति या क्रियाशक्तिसे नहीं होता, केवल ज्ञानसे ही सम्पन्न होता है। विचारकर देखें तो जान पड़ता है, बुद्धि-इन्द्रिय और अर्थके रूपमें एक ही ज्ञान प्रतीत हो रहा है। यह भी उन तीनोंका आश्रय ही है। ये ज्ञानके ही दृश्य हैं और ज्ञानके

बिना कभी रह नहीं सकते। ज्ञानका इनमें अन्वय है और इनसे व्यतिरेक है। अतएव आदि-अन्तवाले होनेके कारण बुद्धि, इन्द्रिय तथा अर्थ अवस्तु हैं। जैसे तेजस् तत्त्वसे दीप, नेत्र और रूप तीनों पृथक् नहीं होते, वैसे ही बुद्धि, इन्द्रिय और अर्थसे विलक्षण सत्स्वरूप चेतनसे ये तीनों अलग नहीं होते और वह इनसे अलग होता है। जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति—ये तीनों अवस्थाएँ बुद्धिकी होती हैं। प्रत्यगात्मामें यह नानात्व मायामात्र है। आकाशमें बादल कभी होते हैं, कभी नहीं होते। इसी प्रकार यह दृश्य प्रपञ्च परमात्मामें कभी होता है कभी नहीं होता। यह नानात्व एक अर्थहीन प्रतीति है। घट-व्यक्ति एवं घट-जाति जैसे दोनों मृत्तिकामें भ्रम हैं; क्योंकि व्यक्तिके बिना जाति और जातिके बिना व्यक्ति नहीं हो सकते; इसी प्रकार अनादिमें आदि, अनन्तमें सान्त और अद्वितीयमें द्वितीयकी प्रतीति अपने अत्यन्ताभावके अधिष्ठानमें होनेके कारण अवस्तु ही है। इसका अन्यरूपसे निरू.ग सम्भव नहीं है, अनिर्वचनीय है। यदि कोई निरूपण करनेका प्रयास भी करे तो चेतनसे भिन्न इनकी सिद्धि नहीं हो सकती। यदि अज्ञानी पुरुष सत्यके नानात्वका निरूपण भी करता है, तो आकाश, ज्योति या वायुके नानात्वके समान मिथ्या ही होगा। इस विवेक और अनुभवके द्वारा अविद्याकृत बन्धनका जब उच्छेद हो जाता है तब उसको आत्यन्तिक प्रलय कहते हैं।

चौथा है—नित्य प्रलय। सभी वस्तुएँ क्षण-क्षणमें उत्पन्न एवं प्रलीन होती हैं। ब्रह्मादिके शरीरकी भी यही दशा है। इनका परिवर्तन वैसे ही दिखाई नहीं पड़ता जैसे आकाशमें ग्रह, तारे, नक्षत्रोंकी गति आँखोंसे दिखाई नहीं पड़ती। पहले क्षणमें देखा हुआ पदार्थ दूसरे क्षणमें नहीं रहता है। अपना शरीर, मन एवं प्राण भी बदलते रहते हैं। यह परिवर्तन चाहे परिणामसे हो, चाहे विवर्तरूपसे, उसमें कोई भेद नहीं है।

इनमें-से नित्य, नैमित्तिक प्रलयपर विचार करनेसे वैराग्य होता है, प्राकृत प्रलयपर विचार करनेसे सभी वस्तुओं और अवस्थाओंकी एकताका ज्ञान होता है और आत्यन्तिक प्रलयके स्वरूपपर विचार करनेसे आत्मा एवं ब्रह्मकी सिद्ध एकताका बोध होता है। यदि इन प्रलयोंकी दृष्टिसे देखें तो सचमुच सारे श्रीमद्भागवतमें ऐसे विलक्षण निरोधका कहीं वर्णन नहीं है। अतः इस स्कन्धको निरोध कहनेमें कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। पहले अध्यायमें भी बहुत बड़े राजवंशका वर्णन करके उनके क्षयका ही वर्णन है। अतः वह भी निरोधके अन्तर्गत आजाता है। दूसरे अध्यायमें कलियुगके दोष और दोषयुक्त प्रजाका वर्णन करके उनके निरोधके लिए कल्कि-अवतारका वर्णन है। राजाओंने इस धरतीको और इसकी वस्तुओंको अपना माना और अन्तमें इसको छोड़कर चले गये। परस्पर लड़ते रहे, दूसरोंको दुःख पहुँचाया, देहको 'मैं' माना, अन्तमें कहाँ गये—कोई नहीं जानता। पृथु, पुरुरवा, नहुष, भरत, मान्धाता, हिरण्यकशिपु, रावण आज कहाँ हैं? कालने सबको खा लिया, उनके मनोरथ पूरे नहीं हुए। निश्चय ही कलिकाल दोषोंका खजाना है। परन्तु भगवान्‌के चिन्तन, स्मरणसे इनका निरोध हो जाता है। कहानीपर

नहीं जाना चाहिए, उनसे जो ज्ञान और वैराग्यकी शिक्षा मिलती है उसे ही ग्रहण करना चाहिए। मनुष्यके मनके निरोधके लिए इससे उत्तम और क्या हो सकता है? श्रीधर स्वामीने बारहवें स्कन्धमें इसी निरोधका वर्णन किया है।

आश्रय तत्त्व :

श्रीवल्लभाचार्यजीने इस प्रसंगमें आभास और निरोध सबके आश्रय परमात्माका ग्रहण किया है। क्रमसे प्राप्त भी आश्रय ही है और अध्यात्म, अधिदैव, अधिभूतकी प्रतीति भी उस आश्रय तत्त्वसे ही होती है। नौ लक्षणोंसे लक्षित आश्रयतत्त्व ही लक्ष्य है। अतः राजाश्रय, कालाश्रय, प्रलयाश्रय, अक्षरतत्त्व एवं पुरुषोत्तम तत्त्वका ही इस प्रसंगमें निरूपण है। उन्होंने आश्रय तत्त्वके पाँचों लक्षणोंका समन्वय किया है।

निरोध क्या ?

परीक्षितकी मुक्तिका प्रसंग भी विलक्षण ही है। मृत्यु तो कुछ है ही नहीं। कभी-कभी स्वप्नमें अपना सिर कटा हुआ दिखता है, अपनी मृत्यु भी दीख जाती है, परन्तु देखनेवाला तो मरा नहीं है। घटका नाश होनेसे घटाकाशका नाश नहीं होता। अपने आत्माके स्वरूपका विचार करो। तुम मृत्युओंके भी मृत्यु हो, सहस्र-सहस्र मृत्यु आजायें परन्तु वह तुम्हारे पास फटक नहीं सकती। मैं ब्रह्म हूँ, सर्वाधिष्ठान ब्रह्म मैं है परमपद—ऐसा अनुसन्धान करनेपर आत्मासे पृथक् न शरीर रहता है और न विश्व। यह अनुभव आत्यन्तिक प्रलयरूप निरोध भी कहा जा सकता है और इसके द्वारा आश्रयरूप भगवान् लक्षित भी होते हैं। इसमें वेद, ऋषि, देवता, पुराण सभी प्रमाण हैं, इसके लिए प्रसंगवश उनका निरूपण किया गया है।

माया-वर्णन :

इस प्रसंगमें ध्यान देने योग्य है मार्कण्डेयकी कथा। न कोई प्रलय हुआ, न कोई सृष्टि, न उतना बड़ा काल व्यतीत हुआ, न उतने स्थान बने, न कोई दृश्य बना, न कहीं आना-जाना हुआ, किन्तु जाग्रदवस्थाके क्षणमात्रमें स्वप्नके समान युग-पर-युग बीत गये, सृष्टि-प्रलय हो गये, अपार विस्तारका दर्शन हुआ, कितनी विपत्ति-सम्पत्ति आयी, गयी! हाँ, यही मायामयी सृष्टि है। इसी मनःकल्पित अवस्थामें जीव भटक रहा है। यह सब अविद्याकृत है, विद्यासे ही इसका निरोध होता है। मार्कण्डेयकी कथा सृष्टिके मायामय स्वरूपको समझानेके लिए एक उत्कृष्ट प्रसंग है। इससे श्रीमद्भागवतमें वर्णित सृष्टि-स्थिति-प्रलय सबकी व्याख्या हो जाती है।

अनेक स्थानों में 'माया' शब्दका प्रयोग होता है। जो नहीं है उसको दिखा दे, जो है उसको छिपा दे, सृष्टि-स्थित्यन्तकारिणी माया है। आत्माके साथ अर्थ-सम्बन्धको संगत दिखानेवाली माया है। जो विचारसे सिद्ध नहीं होती वह माया है। नामरूपात्मक प्रपञ्चको माया सिद्ध करनेके लिए मार्कण्डेयका दृष्टान्त है।

पुरञ्जनोपाख्यान भी माया समझानेके लिए ही है। अविद्या अपने आश्रयको अर्थात् जिसमें रहती है उसको व्यामोहमें डाल देती है, परन्तु माया अपने आश्रयको व्यामोहमें नहीं डालती। वह अपने कार्यमें राग-द्वेष करनेवालेको व्यामुग्ध करती है। एक है खेल दिखानेवाला, दूसरा है उस जादूके खेलको देखनेवाला। जब जादूसे बने दृश्योंको सच समझ लिया जाता है, तब दुःखकी उत्पत्ति होती है। बिना राग-द्वेषके साक्षी मायाके खेलको देखता रहे, उसमें कोई दुःख नहीं है। मानमें दुःख नहीं है, भ्रममें दुःख है। मार्कण्डेयका भ्रमण ही भ्रम है। इस भ्रमका रूप चाहे जो हो, ब्रह्मप्रमासे मिट जाता है। मार्कण्डेयके प्रसंगमें सन्तका लक्षण ही यह बतलाया गया है कि वह ब्रह्मा, विष्णु, महेश, आत्मा, जीव और जगत्में किसी प्रकारका भेद नहीं देखता। अभेद-दर्शन ही सन्तका मुख्य लक्षण है। माया भेद दिखा सकती है, परन्तु बना नहीं सकती। इसीसे महात्मा लोग भेद देखते हुए भी उसको महत्त्व नहीं देते। तब राग-द्वेषका प्रसंग ही क्या है?

मूर्ति-पूजाका अभिप्राय :

पूजाके लिए भगवान्की छोटी-सी मूर्ति बनायी जाती है। मूर्ति देखनेमें छोटी है, परन्तु उसमें पृथिवीसे लेकर प्रकृतिपर्यन्त भौतिक एवं दिव्य तत्त्वोंका समावेश है। उसका अभिप्राय ही यह है कि सम्पूर्ण चराचर, कार्य-कारण, दृश्य-अदृश्य, सृष्टि भगवान्का शरीर ही है। मूर्तिका रहस्य जान लेनेसे भगवान्के विशाल शरीर एवं अनन्त-स्वरूपको हृदयंगम करनेमें सहायता मिलती है। सौर गणका वर्णन भी उपासना करनेके लिए ही है।

और अन्तमें अनन्त :

एक ऐसी वस्तु है जो सम्पूर्ण उपनिषदोंका सार है, वह अद्वितीय है। उसका लक्षण है—ब्रह्म एवं आत्माकी एकता। उसीमें भागवत पुराणका परम तात्पर्य है। उसके प्रतिपादनका प्रयोजन है एकमात्र कैवल्य। उसका इतने रसीले ढंगसे प्रतिपादन किया गया है कि उस रसामृतसे तृप्त हो जानेपर मन कहीं अन्यत्र रमता ही नहीं है। इसके आदि, मध्य और अन्तमें वैराग्यकी सुन्दर-सुन्दर कथाएँ हैं। यह भगवल्लीलाओंका अमृतमय समुद्र है। इसमें सत्पुरुष विहार करते हैं। भगवान् एवं सन्तोंकी करुणासे इसमें शुद्ध, निर्दोष, विशोक एवं अमृतस्वरूप परम सत्यका चिन्तन भरपूर है। यह केवल भगवान् एवं सन्तोंकी करुणाकी ही एक अजस्र धारा है। इसके सब स्कन्ध, अध्याय, प्रकरण, वाक्य, पद, अक्षर, भगवन्मय हैं। भागवतकी स्पष्ट उद्घोषणा है कि गिरते, फिसलते, दुःखकी दशामें, छींकने, जंभाई लेनेमें, विवशताकी दशामें भी यदि कोई उच्च स्वरसे 'हरये नमः'का उच्चारण करता है, तो सभी पातकोंसे मुक्त हो जाता है।

— श्रीहरये नमः —



ॐ नमो भगवते वासुदेवाय

श्रीसच्चिदानन्दघनस्वरूपिणे
कृष्णाय चानन्तसुखाभिवर्षिणे ।
विश्वोद्भवस्थाननिरोधहेतवे
नुमो वयं भक्तिरसाप्तयेऽनिशम् ॥

ॐ

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम् ।
देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत् ॥

ॐ

कान्तिः सिताऽमृशति निन्दितशारदेन्दु-
र्यत्रैकतो विलसितामसिताङ्गशोभाम् ।
वृन्दावनेऽपि कृतयामुनगाङ्गसङ्गं
राधामुकुन्दयुगलं तदहं नमामि ॥

ॐ



ॐ नमो भगवते वासुदेवाय

भागवत-दर्शन :२:

नवम स्कन्ध

यह नवम स्कन्ध भी अष्टम स्कन्धको तरह ही चौबीस अध्यायोंका है। इन चौबीस अध्यायोंके कोई-कोई बारह-बारह करके दो विभाग करते हैं और कोई-कोई तेरह-ग्यारह करते हैं। तेरह अध्यायोंमें सूर्यवंशका वर्णन है और ग्यारह अध्यायोंमें चन्द्रवंशका।

आठवें स्कन्धके चौबीस अध्याय सद्धर्म-प्रधान हैं। उनमें बताया गया है कि धर्मका कर्ता कौन होता है पालक कौन होता है, वक्ता कौन होता है, इत्यादि। उनमें भगवत्स्मरण, तपस्या, दान, प्रतिज्ञापूर्ति, वेद-संरक्षण आदिसे सम्बन्धित चौबीस प्रकारोंकी क्रियाओं द्वारा प्रकृतिके चौबीस तत्त्वोंपर विजय प्राप्त करनेका वर्णन है।

नवम स्कन्धके उपाख्यानोंका वर्णन क्रियागत दोषकी निवृत्तिके लिए नहीं, वासनागत दोषकी निवृत्तिके लिए है। इसमें जितने भी राजाओंका वर्णन है, वे सब भगवान्‌के भक्त हुए हैं। किसीने सत्यके द्वारा, किसीने भक्तिके द्वारा, किसीने गुरुसेवाके द्वारा, किसीने न्यायके द्वारा अपने जीवनमें ऐसी निष्ठा धारण की, जिससे भगवान् उनपर प्रसन्न हुए और उन्होंने उनकी रक्षा की। आश्चर्य तो यह है कि नवम स्कन्धमें वर्णित इतने सारे राजाओंमें-से दुर्गति किसीकी नहीं हुई। उनमें कोई-न-कोई गुण ऐसा था, जिसके प्रभावसे भगवान्‌ने उनको अपना लिया।

असलमें नवम स्कन्धमें वर्णित वंशावलीमें नाम बहुत थोड़े हैं। पूरी वंशावली बहुत बड़ी है। नाम उन्हींके दिये हैं, जो मुख्य-मुख्य हैं। जब हिसाब लगाकर इनको समयके साथ बैठाते हैं, तब लगता है कि इनके बीचमें और भी बहुत-से राजा होने चाहिए। दूसरे पुराणोंसे मिलानेपर उनके नाम निकल आते हैं।

नवम स्कन्धमें वैराग्य भरा पड़ा है। इसमें उन राजाओंका वर्णन है, जो भगवद्भक्त होनेके साथ-साथ बड़े-बड़े चक्रवर्ती समाट् हुए। वे इतने प्रतापी और शक्तिशाली थे कि उनको कोई जीत न सके—'सर्वे सर्वजितोऽजिताः'। उनमें-से अनेक सशरीर स्वर्ग गये, वहाँ उन्होंने स्वर्गको जीत लिया और देवताओंकी ऐसी सहायता की कि इन्द्र कृतज्ञ होकर उनके सेवक बन गये। एक राजाने उर्वशीको धरतीपर बुलाकर धरतीको ही स्वर्ग बना दिया।

परन्तु इतना सब होते हुए भी कोई राजा कालके ग्राससे नहीं बच सका। इन राजाओंके उपाख्यानोंका अध्ययन-श्रवण करनेसे वैराग्यका उदय हुए बिना नहीं रहता। इनका वर्णन करके वक्ता श्रीशुकदेवजी महाराज राजा परीक्षितको तथा उनके माध्यमसे सारे मानव समाजको यही हृदयङ्गम कराना चाहते हैं कि जब ऐसे-ऐसे शक्तिशाली सम्राट् भी नहीं रहे तब तुम भी रहनेवाले नहीं हो। इसलिए तुम अपना मन भगवान्‌में लगाओ।



: १ :

अब राजा परीक्षितके प्रश्न करनेपर श्रीशुकदेवजी महाराज मनुवंशका वर्णन करते हुए कहते हैं कि अगर कोई विस्तारसे इस वंशका वर्णन करना चाहे तो नहीं कर सकता। क्योंकि वह बहुत विस्तृत है।

कल्पान्तमें एक नारायण थे। उनकी नाभिसे निकला सुवर्णमय कमल, उसमें हुए ब्रह्मा, ब्रह्माके मनसे मरीचि, मरीचिसे कश्यप और कश्यपसे विवस्वान् हुए। विवस्वान्की पत्नी संज्ञासे श्राद्धदेव मनु हुए। श्राद्धदेवकी पत्नी श्रद्धासे दस पुत्र उत्पन्न हुए—इक्ष्वाकु, नृग, शर्याति, दिष्ट, धृष्ट, करूषक, नरिष्यन्त, पृषध्र, नभग और कवि। इन दसोंमें एक-एक गुण ऐसा है कि यदि आप उसको पहचान लें, पकड़ लें तो उनमें भक्तिका कोई-न-कोई विशेष अङ्ग मिलेगा। इसीसे भगवान् उनके ऊपर प्रसन्न होते हैं और उनको सद्गति मिलती है।

इनकी उत्पत्तिके पहले श्राद्धदेव मनुको कोई सन्तान नहीं थी। वसिष्ठने उनसे मित्रावरुणकी इष्टि करवायी। पिता श्राद्धदेव मनुका मन था कि बेटा हो और माता श्रद्धाका मन था कि बेटी हो। श्रद्धाने जाकर होतासे कह दिया कि कुछ ऐसा कर दो कि हमारे कन्या हो जाये। राजाकी अपेक्षा रानीकी ज्यादा सुनी गयी। अध्वर्युसे प्रेरित होकर होताने लड़कीका ध्यान कर लिया, जिससे इला नामकी लड़की की उत्पत्ति हो गयी। होना था पुत्र, हो गयी पुत्री। राजा श्राद्धदेवको बड़ा दुःख हुआ। वे अपने गुरुजीके पास गये और बोले कि यज्ञ किया पुत्रके लिए और हो गयी पुत्री। आपके संकल्प और मन्त्रमें इस प्रकार उलटा काम होना ठीक नहीं। गुरु वसिष्ठने कहा कि अच्छा, हम बेटीको बेटा बना देते हैं। उन्होंने तुरन्त आदिपुरुष विष्णु भगवान्का ध्यान किया। उनकी कृपासे वह बेटी इला बेटा हो गयी। उसका नाम सुद्युम्न रखा गया।

जब सुद्युम्न बड़े हो गये तब अपने कुछ मन्त्रियोंके साथ शिकार खेलनेके लिए वनमें गये। चलते-चलते उस वनमें पहुँच गये, जहाँ शंकर भगवान् पार्वतीजीके साथ विहार करते रहते हैं। वहाँ जो कोई घुसे, वह पुरुषसे स्त्री बन जाये। इसलिए सुद्युम्न अपने साथियोंके साथ स्त्री हो गये। बात यह थी कि एक बार ऋषि लोग बिना किसी पूर्व सूचनाके ही शंकरजीके घर पहुँच गये थे। पार्वतीजीको शर्म आगयी और तबसे यह मर्यादा बना दी गयी कि जो कोई पुरुष वहाँ आयेगा, वह स्त्री हो जायेगा। महात्मा लोग तो वहाँसे नर-नारायण आश्रम चले गये।

जब सुद्युम्न फिरसे स्त्री हो गये तो इधर-उधर विचरण करने लगे। बुधसे उनकी मित्रता हो गयी। उसके फलस्वरूप स्त्री बने सुद्युम्नके गर्भसे पुरुरवा: नामक पुत्रकी उत्पत्ति हुई। एक दिन सुद्युम्नको, जो पुत्र पुरुरवाके साथ रह रहे थे, गुरु वसिष्ठजीकी याद आयी। वसिष्ठजीने शंकरजीको प्रसन्न करके यह व्यवस्था करा ली कि सुद्युम्न एक महीना स्त्री रहें और एक महीना पुरुष रहें।

यहाँ देखो, आराधनाका फल। विष्णु भगवान्ने लड़कीको लड़का बना दिया और शंकरजीने आधा लड़का तथा आधी लड़की बनाकर अपनी समदर्शिता प्रकट कर दी। इस प्रसंगका तात्पर्य यही है कि भगवदाराधनसे कुछ भी अशक्य नहीं है। ऐसा देखनेमें आता है कि मनुष्य अपने जीवनमें जब बिल्कुल निराश हो जाता है तब भगवान्की आराधना कर लेनेसे उसका काम बन जाता है।

परीक्षित, सुद्युम्न कभी पुरुष तो कभी स्त्री बनकर राज्य करने लगे और उनके उत्कल, गय, विमल नामक तीन पुत्र भी हुए। परन्तु प्रजा उनका सम्मान नहीं करती। अन्तमें वृद्धावस्था आनेपर वे अपने पूर्व पुत्र पुरुरवाको राज्य देकर तपस्या करने वनमें चले गये।



श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि सुद्युम्नके चले जानेके बाद मनुजीने जब फिर तपस्या-पूर्वक भगवान्‌की आराधना की, तब उनके दस पुत्र हुए, जिनका वर्णन पहले अध्यायमें आ चुका है। उनमें जो आठवाँ पुत्र पृषध्र था, उसको गुरुके यहाँ चरवाहा बना दिया गया। वह गायोंका पालन करने लगा। एक दिन जब वर्षा हो रही थी गोशालामें बाघ आगया। बाघने एक गायको पकड़ लिया। वह भयसे डकराने लगी। पृषध्र अन्धेरेमें ही गोशालाके भीतर गया और बाघपर प्रहार किया। किन्तु वह प्रहार बाघको तो लगा नहीं, गायको लग गया। गाय मर गयी। बाघका भी कान कट गया और वह भाग गया। पृषध्र समझता था कि बाघ मर गया। परन्तु जब उसने गायको मरा हुआ देखा तब उसके दुःखकी सीमा नहीं रही। बात गुरुजी तक पहुँची। गुरुने कहा कि बेटा, तुमने जो गो-रक्षामें असावधानी की, इसलिए तुम शूद्र हो जाओ। मनुपुत्र पृषध्र बहुत ही विलक्षण था। उसने गुरुके शापका बुरा नहीं माना और 'प्रत्यगृह्णात् कृताञ्जलिः' हाथ जोड़कर शापको ग्रहण कर लिया। इतना ही नहीं, उसने कहा कि यह तो बहुत ही अच्छा हुआ और फिर विवाह न करने तथा ब्रह्मचर्य-पालनका व्रत धारण कर लिया।

यहाँ मनुवंशका वर्णन इसलिए भी है कि पृषध्र शापग्रस्त होनेपर भी परमात्मामें अपना मन लगाकर एकान्ती भक्त बन गया—

वासुदेवे भगवति सर्वात्मनि परेऽमले। एकान्तित्वं गतो भक्त्या सर्वभूतसुहृत् समः॥
विमुक्तसङ्गः शान्तात्मा संयताक्षोऽपरिग्रहः। यदृच्छयोपपन्नेन कल्पयन् वृत्तिमात्मनः॥ ११-१२

पृषध्र सर्वभूत-सुहृद् और सबमें सम हो गया। उसको कहीं भी आसक्ति नहीं रही। उसका मन शान्त हो गया। इन्द्रियाँ वशमें हो गयीं। कोई परिग्रह नहीं रहा, जो मिल जाये उसीमें अपनी वृत्ति चला ले। अपने आपमें परमात्माका दर्शन करे। जड़, अन्ध, बधिरके समान पृथिवीमें विचरण करे। वह अवधूत हो गया, भगवान्‌का एकान्ती भक्त हो गया। एक दिन वह वनमें दावाग्निमें जल गया। उसको ब्रह्मकी प्राप्ति हुई।

मनुका दसवाँ बेटा कवि स्वभावसे ही निःस्पृह था। वह राज्य, बन्धु-बान्धव, सब कुछ छोड़कर परमात्माको प्राप्त हो गया।

छठे मनुपुत्र करुषक उत्तर देशके पालक क्षत्रिय हुए। पाँचवें पुत्र धृष्टसे धार्ष्ट वंश चला। जो ब्राह्मणत्वको प्राप्त हो गया। दूसरे पुत्र नृगका पुत्र हुआ सुमति। सुमतिके वंशमें ओघवान् हुए। सप्तम मनुपुत्र नरिष्यन्त थे, जिनसे चित्रसेन हुए। वे भी बड़े प्रतापी और भगवान्‌के भक्त हुए और आगे चलकर फिर ब्राह्मण हो गये। चतुर्थ पुत्र थे दिष्ट। इनसे नाभाग हुए, जो कर्मसे वैश्य हो गये। इनका भी वंश आगे चला, जिसमें बड़े-बड़े वीर पैदा हुए। इन्हींके वंशमें मरुत् जैसा चक्रवर्ती हुआ, जिससे संवर्त योगीने बड़े-बड़े यज्ञ कराये। इन सबका सूक्ष्म चरित्र भिन्न-भिन्न पुराणोंमें मिलता है।

❦

श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि परीक्षित, मनुके तृतीय पुत्र थे शर्याति। वे बड़े भारी ब्रह्मनिष्ठ थे। उन्होंने अंगिराओंके यज्ञमें दूसरे दिन क्रियमाण कर्मका उपदेश किया। उनकी एक पुत्री थी सुकन्या। उसके साथ एक दिन शर्याति च्यवनके आश्रममें गये। राजकुमारी सुकन्या बड़े चञ्चल स्वभावकी थी, आश्रममें इधर-उधर घूमने लगी। उसने एक जगह देखा कि बाँबीमें-से ज्योति निकल रही है। वह पास गयी और उसको काँटेसे वेध दिया। उसमें-से जब खून निकला तब डर गयी। अब सबका विष्ठा-मूत्र होना बन्द हो गया। राजाने कहा कि कोई-न-कोई अपराध हुआ है। अन्तमें सुकन्याने अपना अपराध स्वीकार किया। राजा च्यवन मुनिके पास क्षमापनके लिए गये। वार्तालापके बाद राजाने च्यवन मुनिका अभिप्राय जानकर सुकन्याका विवाह उन्हींके साथ कर दिया और दुःखसे मुक्त होकर अपनी नगरीमें लौट गये।

इधर सुकन्या च्यवन मुनिको पतिरूपमें प्राप्त करके उनकी सेवा करने लगी। मुनि बड़े क्रोधी थे, परन्तु सुकन्या उनके मनकी बातको पहले ही समझ जाती थी। पत्नीको ऐसा ही होना चाहिए कि यदि क्रोधी पति भी मिल जाये तो उसके साथ निर्वाह कर ले। यह संसार कोई बहुत सुख भोगनेके लिए नहीं है। इसमें दुःखके बाद सुख और सुखके बाद दुःख आता ही रहता है। इसलिए जो अपने सामने आया है, उसको ठीक-ठीक निभा ले चलना ही मनुष्यकी बुद्धिमत्ता है। सुकन्या कभी प्रमाद नहीं करती, खूब सेवा करती।

थोड़े दिनोंके बाद वहाँ अश्विनीकुमार आये। वे देवताओंके वैद्य हैं। च्यवनने उनका सत्कार किया और कहा कि आप मुझे युवावस्था दें, जिससे युवती स्त्रियाँ प्यार करती हैं। इसके बदलेमें मैं आपको सोमपान कराऊँगा। अश्विनीकुमारोंने स्वीकार कर लिया और एक ऐसा ह्रद बनाया जिसमें बूढ़े च्यवन और उनकी पत्नी राजकुमारी सुकन्याने प्रवेश किया। जब वे स्नान

आदि करके उसमें-से बाहर निकले तो तीन पुरुष सूर्यके समान कान्तिमान् दिखायी पड़े। सुकन्याने सोचा कि इनमें-से एक तो मेरा पति है और दूसरे दो कौन हैं, पहचानमें नहीं आते। इसलिए निर्णय करना कठिन है कि कौन अश्विनीकुमार हैं और कौन मेरे पति हैं। देखो, यदि सुकन्यामें पातिव्रत्यकी भावना थोड़ी भी कम होती तो वह सोचती कि दो तो हैं देवता और एक हैं मेरे पति। यदि मैं तीनोंमें-से किसीका भी हाथ पकड़ लूँगी तो घाटेमें नहीं रहूँगी। लेकिन उसने निर्णय किया कि नहीं, मुझे देवता नहीं, मेरा पति चाहिए। लेकिन पहचाने बिना पति मिले कैसे? अन्तमें उसने अश्विनीकुमारोंकी प्रार्थना की। वे उसके पातिव्रत्यसे बहुत प्रसन्न हुए और ऋषिकी पहचान कराकर चले गये।

एक दिनकी बात है, सुकन्याके पिता शर्याति च्यवनके आश्रममें आगये। उन्होंने देखा कि उनकी कन्याके पास एक सूर्यके समान तेजस्वी और भुवन-सुन्दर पुरुष बैठा है। यह देखकर राजा बहुत ही नाराज हुए और बोले कि तुमने तो हमारे वंशमें कलंक लगा दिया। अपने वृद्ध पतिको छोड़कर तुमने यह जार क्यों पाल रखा है? तुम्हारी बुद्धि विपरीत कैसे हो गयी? तुम दोनों वंशोंको नरकमें ले जाओगी।

सुकन्या बोली कि पिताजी, आप यह क्या कह रहे हैं? यह तो आपके जामाता च्यवन ऋषि ही हैं। उसके बाद उसने अपने पिताको वह सारी बात बता दी, जिससे च्यवन ऋषिको यौवन-लाभ हुआ। अब च्यवन ऋषिने शर्यातिसे कहा कि तुम एक यज्ञ करो, उसमें अश्विनी-कुमारोंको आमन्त्रित करके भाग दो और सोमपान कराओ। जब शर्यातिने ऐसा किया तो इन्द्र उनपर बड़े क्रुद्ध हुए और उनको मारनेके लिए उद्यत हो गये। किन्तु च्यवन ऋषिने इन्द्रके हाथको वज्रसहित स्तब्ध कर दिया। तभीसे अश्विनीकुमारोंको यज्ञमें भाग मिलने लगा। नहीं तो वैद्य होनेके कारण वे सोमाहुतिसे बहिष्कृत थे।

शर्यातिके पुत्र उत्तानबर्हि, आनर्त और भूरिषेण हुए। आनर्तसे रैवत हुए। उन्होंने ही समुद्रमें कुशस्थलीका निर्माण कराया। रैवतके सौ पुत्र हुए, जिनमें सबसे बड़ेका नाम ककुद्मी था। ककुद्मीकी पुत्रीका नाम था रेवती, जिसका विवाह बलरामजीके साथ हुआ। ककुद्मी ब्रह्माजीके पास यह पूछनेके लिए गये कि अपनी पुत्री रेवतीका ब्याह किससे करें? ब्रह्मा बोले कि तुमको यहाँ आये एक क्षण हो गया। लेकिन हमारे एक क्षणमें ही तुम्हारी सत्ताईस चतुर्युगी बीत चुकी है। अब तुम्हारे समकालीन लोगोंका कहना ही क्या, उनके बेटे-पोते आदि भी नहीं रहे। इसलिए जाओ बलरामजीसे अपनी कन्या रेवतीका ब्याह कर दो। आज-कल तुम्हारी नगरीमें वे ही रहते हैं। इसके बाद ककुद्मीने अपनी पुरीमें आकर बलरामसे अपनी कन्याका ब्याह कर दिया।



: ४ :

अब श्रीशुकदेवजी महाराज वर्णन करते हैं कि परीक्षित, मनुके नवें पुत्र नभग थे। उनके पुत्र नाभाग हुए। नाभाग चिरकालतक गुरुकुलमें, ब्रह्मचारी रहे। उनके भाइयोंने आपसमें धन बाँट लिया, लेकिन उनके लिए कोई हिस्सा नहीं रखा। देखो, लोग पहले भी ऐसा कर लेते थे। जब नाभाग घर लौटे और उन्होंने भाइयोंसे पूछा कि हमारा भाग कहाँ है, तब भाइयोंने कहा—बूढ़ा बाप ही तुम्हारे भागमें है। जाओ, उसका पालन-पोषण करो। इसके बाद नाभाग अपने पिता नभगके पास गये। नभग बोले कि तुम भाइयोंकी बात मत मानो। लेकिन मैं तुम्हें जीविकाका उपाय बताता हूँ। अङ्गिरा-वंशके ब्राह्मण यज्ञ कर रहे हैं। वे छठे दिन अपने कर्ममें मोहित हो जाते हैं। तुम जाकर जो दो वैश्वदेव-सूक्त हैं, उनका अर्थ उन्हें बताओ। वे तुम्हें यज्ञका बचा हुआ सब धन दे देंगे। नाभागने वैसा ही किया। अङ्गिरा-ब्राह्मणोंने भी सब धन उसे दे दिया। परन्तु जिस समय नाभाग वह धन उठा रहा था, उसी समय रुद्र आगये और उन्होंने कहा कि यह धन तो हमारा है, क्योंकि यज्ञशेष हमारा ही होता है। नाभागने कहा कि यह धन तो जिनका यज्ञ था, उन्होंने ही हमको दिया है। फिर यह तुम्हारा कैसे? रुद्रने कहा कि जाओ, तुम अपने पितासे पूछकर आओ। नाभाग अपने पिताके पास गये और वहाँ उनको सब हाल सुनाया। नभगने कहा कि रुद्र ठीक कहते हैं। यज्ञका अवशिष्ट भाग उन्हींका होता है, इसलिए उनको दे देना चाहिए।

श्रीशुकदेवजी महाराज आगे वर्णन करते हैं कि इन्हीं न्यायशील मनुपुत्र नाभागसे अम्बरीष हुए। भक्ति देवी भी कुलीनको ही ज्यादा पसन्द करती हैं। यदि कोई पीढ़ी-दर-पीढ़ीसे भक्त हो तो उसके हृदयमें भक्ति जल्दी प्रकट होती है। अम्बरीष ऐसे ही कुलीन भक्त थे। इसलिए दुर्वासा जैसे ब्राह्मणका शाप भी उनको कोई नुकसान नहीं पहुँचा सका। इस संसारमें ब्राह्मणका शाप कभी टूटा नहीं, किन्तु अम्बरीषपर वह टूट गया।

परीक्षितने यह प्रार्थना की कि मैं राजर्षि अम्बरीषका चरित्र सुनना चाहता हूँ। ब्राह्मणने उनको ऐसा दण्ड दिया जो टाला नहीं जा सकता था। परन्तु फिर भी वह उनका कुछ बिगाड़ नहीं सका—

देखो, मनुवंशकी महिमा! रुद्रने उन्हींको पञ्च बना दिया और उन्होंने अपने पुत्रके हितके विरुद्ध निर्णय दिया। नाभागने तुरन्त लौटकर कहा कि हाँ महाराज, यह धन आपका ही है। मेरे पिताने यह निर्णय दिया है। आप क्षमा करें मुझे। रुद्रने नाभागसे कहा कि तुम्हारे पिताने सत्य और न्यायका निर्णय किया है तथा तुमने भी आकर हमसे सत्य और न्यायकी ही बात कही है। इसलिए मैं तुमपर बहुत प्रसन्न हूँ। सत्य और न्यायकी जो प्रीति है, यही गुण है। जो तुम्हें चाहिए वह मुझसे ले लो। इसके बाद रुद्रने सारा धन नाभागको दे दिया और वह धनवान् हो गया। जो यह आख्यान श्रवण करता है, उसको आत्मगतिकी प्राप्ति होती है।

भगवञ्छ्रोतुमिच्छामि राजर्षेस्तस्य धीमतः।
न प्राभूद् यत्र निर्मुक्तो ब्रह्मदण्डो दुरत्ययः॥ १४

श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि परीक्षित, अम्बरीष सप्तद्वीपवती पृथिवीके राजा थे, अव्यय थी उनकी लक्ष्मी और अतुल्य था उनका वैभव। परन्तु वे इन सबको व्यर्थ समझते थे। भगवान्को अम्बरीष इसीलिए प्रिय हैं कि उनके मनमें बड़ा वैराग्य है। उनकी दृष्टिमें सारा वैभव स्वप्न-जैसा था—'सर्वं तत् स्वप्नसंस्तुतम्' (१६)। वे जानते थे कि जीवनमें जितना सुख-दुःख होता है, वह बिल्कुल मानसिक ही होता है। धनमें सुख-दुःख नहीं होता, मनमें ही सुख-दुःख होता है—हृदयमें ही सुख-दुःख होता है। उन्हें मालूम था कि धनका अन्त हो जाता है, नाश हो जाता है। उसीके कारण मनुष्य अभिमान आदिमें फँस जाता है। इसलिए उन्होंने भगवान् और भगवान्के भक्तोंमें अपनी परम भक्ति जोड़ी। उनको यह संसार मिट्टी-सरीखा—पत्थरके टुकड़े जैसा मालूम पड़ता था। उनका मन भगवान्के चरणारविन्दमें लगा रहता था और उनकी वाणी भगवान्के गुणानुवाद-वर्णनमें लीन रहती थी।

अम्बरीष चक्रवर्ती सम्राट् होते हुए भी भगवान्के मन्दिरमें जाकर अपने हाथसे झाड़ू लगाते, कानोंसे भगवान्की कथा सुनते, आँखोंसे मूर्तिका दर्शन करते, शरीरसे भक्तका स्पर्श करते, नासिकासे भगवान्के चरणारविन्दकी सुगन्ध सूँघते, जीभसे तुलसीका स्वाद लेते, पाँवोंसे भगवान्के

क्षेत्रमें जाते और सिरसे भगवान्‌के चरणोंकी वन्दना करते थे। उनके मनमें कामना केवल एक ही थी कि वे भगवान्‌का दास्य करें, भगवान्‌की सेवा करें और भगवान्‌के भक्तोंमें उनकी भक्ति-प्रीति हो। इस प्रकार वे सर्वात्मभावसे भगवान्‌की सेवा करते हुए राज्य कर रहे थे।

अम्बरीषने बड़े-बड़े यज्ञ किये। वसिष्ठ, असित, गौतम आदि उनके यज्ञमें आये। देवता लोग तो उनके यज्ञमें बिल्कुल स्पष्टरूपसे प्रकट होकर रहते थे। उन्होंने ब्राह्मणोंको इतने वस्त्राभूषण दिये कि उनको धारण करके वे देवता-सरीखे मालूम पड़ते थे। उनकी प्रजा भगवान्‌के चरित्रका श्रवण और वर्णन करनेमें इतनी तन्मय रहती कि उनको स्वर्गतक की इच्छा नहीं होती थी। उनको संसारके विषयोंसे कोई आनन्द नहीं होता था।

इस प्रकार राजा अम्बरीष समस्त पदार्थोंकी आसक्ति छोड़कर भगवान्‌को सन्तुष्ट करनेमें लगे रहते थे। उनकी दृष्टिमें घर-स्त्री-पुत्र-बन्धु आदिका कोई महत्त्व नहीं था। वे सब प्रकारसे भगवान्‌के प्रति समर्पित थे। इसलिए भगवान्‌ने उनपर प्रसन्न होकर, उनकी रक्षाके लिए अपना चक्र दे दिया। जब उन्होंने देखा कि उनकी रक्षा भगवान्‌का चक्र कर रहा है तब वे और भी निश्चिन्त होकर भगवान्‌की भक्ति करने लगे। उन्होंने अपनी पत्नीके साथ एक बरसतक एकादशीके व्रतका विधिपूर्वक पालन किया।

देखो, लोग जो एकादशी-व्रत रखते हैं, उनमें-से अधिकांशका व्रत विधिपूर्वक नहीं हो पाता। एकादशी-व्रतका विधान तो यह है कि न तो दशमीकी रात्रिमें भोजन करना चाहिए और न द्वादशीकी रात्रिमें। इस प्रकार जब दशमी और द्वादशी दोनोंका ध्यान रखा जाता है, तब एकादशीका व्रत पूरा होता है। लेकिन यहाँ तो अधिकांश लोग एकादशीके एक-दो दिन पहलेसे ही यह सोचने लगते हैं कि एकादशीको किस चीजका हल्वा बनाना है और किस चीजकी पकौड़ी बनानी है। इसका नाम एकादशी-व्रत नहीं है।

राजा अम्बरीषने अपनी पत्नीके साथ संवत्सरपर्यन्त जिस एकादशी-व्रतका पालन किया, उसमें नियमानुसार जल-ग्रहणका भी स्थान नहीं था—

युक्तः सांवत्सरं वीरो दधार द्वादशीव्रतम्। २९

यहाँ एकादशी-व्रतको द्वादशी-व्रत इसलिए कहा गया है कि वैष्णव लोग ऐसी एकादशी करते हैं जो द्वादशीकी ओर झुकती है और जिसके साथ द्वादशी मिल जाती है। द्वादश संख्या भगवान्‌की है, इसलिए वैष्णव लोग भगवान्‌की ओर झुकती हुई एकादशी करते हैं। किन्तु गृहस्थ लोग दशमीकी ओर झुकती हुई एकादशी इसलिए करते हैं कि उनको दस इन्द्रियोंके विषय चाहिए। जिनको धर्म, अर्थ, काम चाहिए उनके लिए दशमी-प्रधान एकादशी और जिनको भगवान् चाहिए उनके लिए द्वादशी-प्रधान एकादशी है। स्मार्त लोग त्रयोदशीके पारणसे बहुत डरते हैं और वैष्णव लोग दशमी-विद्धा एकादशीसे बहुत डरते हैं। वे आधी रातसे पहले भी वेध मानते

हैं। एक वेध आधी रातको होता है; एक एक पहर रातमें होता है और एक ब्रह्म-बेलामें होता है। एकादशियाँ तरह-तरहकी होती हैं। एक एकादशी ऐसी होती है, जो दो दिनका ही नहीं, द्वादशी-त्रयोदशी-चतुर्दशी-पूर्णिमा इन चार तिथियोंका मान देखकर की जाती है। उनके नाम हैं मञ्जुला, सत्यपूर्णी आदि। ब्रह्मवैवर्त पुराणमें उनका वर्णन है।

जब राजा अम्बरीषका एकादशी-व्रत पूर्ण हो गया, तब उन्होंने कार्तिक मासमें तीन दिनका व्रत किया। कालिन्दीमें स्नान करके महाभिषेक करवाया, भगवान्‌की, ब्राह्मणोंकी विधिपूर्वक पूजा की और खूब दान दिया—

प्राहिणोत् साधुविप्रेभ्यो गृहेषु न्यर्बुदानि षट्। ३४

यह नहीं कि अम्बरीषके यहाँ जो साधु-ब्राह्मण आयें, उन्हीं को दान दें। अच्छे साधु-ब्राह्मण तो कहीं जाते ही नहीं। इसलिए उन्होंने स्वयं उनके घरोंमें दान-सामग्री भेज दी। सबको बढ़िया-बढ़िया भोजन कराया और भाँति-भाँतिकी वस्तुएँ भेज दीं। उसके बाद जब वे ब्राह्मणोंकी अनुज्ञा लेकर पारण करनेको उद्यत हुए, उसी समय दुर्वासाजी महाराज अतिथि होकर आगये।

दुर्वासाजी शंकरके अंश हैं, चक्र भी शंकरका ही अंश है और जो ब्राह्मण हैं उनमें भी शिवजी बैठे हुए हैं। दुर्वासाजी भक्तोंको हानि नहीं पहुँचाते, उनकी महिमा ही बढ़ाते हैं। अगर दुर्वासाजी न होते तो अम्बरीष कितने भक्त हैं और भगवान् अपने भक्तकी कैसे रक्षा करते हैं, यह बात दुनियामें किसीको जाहिर ही नहीं होती। दुर्वासाजीका हृदय बहुत अच्छा है। वे अपनेपर तो बदनामी ले लेते हैं और दूसरेका यश बढ़ाते हैं। उनको दुर्वासा इसलिए बोलते थे कि वे फटा-चीथड़ा पहनते थे—

दुष्टानि वासांसि यस्य असौ दुर्वासाः।

अम्बरीषने दुर्वासाका दर्शन करके प्रत्युत्थान किया, उठकर खड़े हो गये, उनको आसन दिया और पाद्य, अर्घ्य, आचमनीय आदि द्वारा उनकी षोडशोपचार पूजा की। फिर चरणोंमें बैठकर प्रार्थना की कि महाराज, भोजन करें। दुर्वासा बोले—ठीक है, हम भोजन करेंगे। वे कालिन्दी-जलमें स्नान करने चले गये और वहाँ ब्रह्मध्यान करने लगे।

इधर द्वादशी बीत रही थी, लेकिन अम्बरीष पारण कैसे करें? उनके सामने यह बड़ाभारी धर्मसंकट उपस्थित हो गया कि ब्राह्मणको आमन्त्रित करनेके बाद उसके पहले पारण कैसे कर लें और पारण न करें तो उसका मुहूर्त निकल रहा है। ब्राह्मणोंकी रायसे यह निश्चित हुआ कि केवल भगवान्‌के चरणामृतसे पारण कर लें। 'अशितं नाशितं च तत्।' (४०)—श्रुति कहती है कि जलका प्राशन एक प्रकारका भोजन ही है और एक प्रकारका भोजन नहीं भी है। अम्बरीष जलप्राशन करके दुर्वासाजीके आगमनकी प्रतीक्षा करने लगे।

दुर्वासाजी आये और देखते ही पहचान गये कि अम्बरीषने पारण कर लिया है। फिर तो

वे क्रोधसे काँप उठे और उनकी भौहें कुटिल हो गयीं। इधर हाथ जोड़े राजा अम्बरीष उनके सामने झुके खड़े हैं और उधर दुर्वासा गालियाँ दे रहे हैं कि तूने मुझे भोजनके लिए निमन्त्रित करके मुझको भोजन कराये बिना ही खा लिया है और इस प्रकार धर्मका उल्लंघन किया है। अब हम तुम्हें इसका फल चखाते हैं। यह कहकर उन्होंने गुस्सेमें भरकर अपनी जटाओंमें-से एक जटा उखाड़ी और उसको फेंक दिया अम्बरीकी ओर। जैसे कोई मारण-मोहन-उच्चाटन करता है, वैसे ही उस जटामें-से कृत्या नामक एक राक्षसी पैदा हुई और वह अम्बरीषकी ओर उनको मार डालनेके लिए बढ़ी। अम्बरीषकी रक्षा करनेवाले चक्रने तुरन्त कृत्याको जला दिया और वह कृत्या उत्पन्न करनेवाले दुर्वासाकी ओर बढ़ा।

दुर्वासाजी भागने लगे। सबसे पहले ब्रह्माजीके पास पहुँचे। लेकिन ब्रह्माने सोचा कि अम्बरीषने ब्राह्मणोंकी आज्ञासे भगवान्का चरणामृत लिया था; इसमें उसका क्या दोष है? हम चक्रसे दुर्वासाकी रक्षा नहीं करेंगे। इसलिए ब्रह्माने कहा कि चले जाओ उनके पास, जिनके भ्रूभंग मात्रसे प्रलय हो जाता है। दुर्वासा शङ्करजीके पास गये। लेकिन शिवजीने कहा कि यह खदेड़नेवाला चक्र तो मेरा ही है। महिम्न-स्तोत्रमें भी ऐसा वर्णन आया है—'त्रयाणां रक्षायै त्रिपुरहर जागर्ति जगताम् (१९)।' अर्थात् चक्रके रूपमें साक्षात् भगवान् शङ्करजी ही हैं। तो जब मैं ही तुम्हारा पीछा कर रहा हूँ तब मैं ही तुम्हारी रक्षा करूँ, यह कैसे सम्भव होगा? मैं तुम्हारी रक्षा नहीं कर सकता।

अब दुर्वासाजी निराश हो गये और भागने लगे। आगे-आगे दुर्वासा और पीछे-पीछे चक्र। कहीं कोई उनकी रक्षा नहीं करता। चक्र जड़ नहीं चेतन है और भगवान्का साक्षात् पार्षद है। वह दुर्वासाको मारता तो नहीं, किन्तु खदेड़ता चला जाता है। उनको कहीं दम लेनेकी भी जगह नहीं मिली। अन्तमें वे भागकर विष्णु भगवान्के चरणोंमें गिर पड़े और बोले—महाराज, मुझसे बहुत बड़ा अपराध बन गया। आप मेरी रक्षा करें।

देखो, जबतक कोई अपने अपराधको स्वीकार नहीं करता, तबतक देवता उसकी रक्षा नहीं करते। पहले तो लोग अपराध स्वीकार नहीं करते, करते भी हैं तो 'यदि' 'तो' लगाकर करते हैं। लेकिन किसीका यह कहना कि 'यदि मुझसे कोई अपराध हो गया हो तो आप क्षमा कीजिये', यह अपराध क्षमा करानेकी विधि नहीं है। 'यदि, तो' लगाकर क्षमा माँगनेसे देवता क्षमा नहीं करते वहाँ 'यदि, तो' कुछ नहीं चलता। इसलिए साफ-साफ कहो कि मैंने अपराध किया है।

इसलिए यहाँ दुर्वासाने साफ-साफ कहा कि मैंने आपका प्रताप न जानकर आपके भक्तके प्रति अपराध किया है। अब आप मेरी रक्षाका कोई उपाय करें। आपके नामका उच्चारण करनेसे नारकीय भी मुक्त हो जाता है—'मुच्येत-यन्नाम्न्युदिते नारकोऽपि' (६२)। इसलिए मुझे आप मुक्त करें।

देखो, भागवतमें ऐसा वर्णन है कि भगवान् भक्तकी भक्ति करते हैं, भक्तके सेवक हैं, भक्तके लिए रोते हैं, भक्तके लिए उनको नींद नहीं आती, भक्तके लिए बेचैन हो जाते हैं। भक्तके प्रेमके वश होकर भगवान् अन्याय भी कर बैठते हैं। भगवान् भक्त-पराधीन हैं।

इसलिए भगवान् बोले कि 'अहं भक्तपराधीनो ह्यस्वतन्त्र इव द्विज' (६३)—दुर्वासाजी मैं तो स्वतन्त्र नहीं, परतन्त्र हूँ, क्योंकि साधु-महात्माओंने मेरा हृदय ग्रस लिया है। मैं भक्तोंका प्यारा हूँ और भक्त मेरे प्यारे हैं। मैं अपने भक्त साधुओंके बिना स्वयं अपने-आपको भी नहीं रखना चाहता। यहाँतक कि यह जो मेरे पास हमेशा रहनेवाली श्री हैं—'श्रियं चात्यन्तिकीं ब्रह्मन्' (६४)—उनको भी मैं नहीं रखना चाहता। क्योंकि भक्त लोगोंके पास मेरे सिवाय दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं। जो दार, आगार, पुत्र, गुरु, प्रियजन, धन, लोक, परलोक, छोड़कर मेरी शरणमें आये हैं; उनको छोड़ देनेकी बात मैं कैसे सोच सकता हूँ? उन्होंने अपना दिल मेरे साथ बाँध दिया है और सबको समभावसे देखते हैं। 'वशीकुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रियः सत्पति यथा' (६६)—जैसे सती स्त्री अपने सत्पतिको वशमें कर लेती है, वैसे ही भक्त लोगोंने मुझको वशमें कर लिया है। मैं उनको मुक्ति देता हूँ तब वे मुक्तिको भी नहीं लेते। मैं साधुओंका हृदय हूँ और साधु मेरे हृदय हैं। उनको मेरे सिवाय कुछ ज्ञात नहीं है और मैं भी उनके सिवाय कुछ नहीं जानता। लेकिन मैं आपको एक उपाय बताता हूँ—

उपायं कथयिष्यामि तव विप्र शृणुष्व तत्। ६९

वह यह कि जहाँसे आपको यह दुःख मिला है, उसीके पास जाइये और इस बातका ध्यान रखिये कि साधुपर कभी भी अपने तेजका प्रयोग नहीं करना चाहिए—

साधुषु प्रहितं तेजः प्रहर्तुः कुरुतेऽशिवम्। ६९

जो साधुपर प्रहार करता है उसीका अमंगल होता है। यह बात मैं इसलिए कह रहा हूँ कि आप ब्राह्म हैं, तपस्वी हैं, जातिसे भी पवित्र हैं, कर्मसे पवित्र हैं, विद्यासे भी पवित्र हैं। ब्राह्मणमें ये तीनों बातें होनी चाहिए। महाभाष्यकारने भी यही बात कही है—

त्रीणि यस्यावदातानि विद्या योनिश्च कर्म च। ४.१.४८

अर्थात् जिसकी जाति ठीक हो, विद्या ठीक हो, कर्म ठीक हो, वही सच्चा ब्राह्मण होता है। आपका कल्याण होना चाहिए। लेकिन यदि कोई ब्राह्मण दुर्विनीत हो जाता है, पूर्वोक्त गुणोंका दुरुपयोग करने लग जाता है, तो उलटा हो जाता है। इसलिए ब्राह्मण देवता, अब आप अम्बरीषके पास जाइये।

देखो, यहाँ भगवान्ने साफ-साफ यह बात बता दी है कि ब्राह्मण चाहे तपस्वी हो, विद्वान् हो, जातिसे शुद्ध हो, विद्यासे शुद्ध हो, तपसे शुद्ध हो, लेकिन यदि यह तुलना करनी पड़े कि भक्त

बड़ा कि ब्राह्मण बड़ा ? तो, मेरा यही निर्णय है कि जाति, विद्या, तपस्यामूलक श्रेष्ठता, श्रेष्ठता नहीं है, भक्तिमूलक श्रेष्ठता ही श्रेष्ठता है—

ब्रह्मंस्तद्गच्छ भद्रं ते नाभागतनयं नृपम्।
क्षमापय महाभागं ततः शान्तिर्भविष्यति ॥ ७१

ब्राह्मण देवता, यहाँ जाति, पद, विद्यासे काम नहीं चलेगा। इसलिए जाइये, महाभाग अम्बरीषके पास और उनसे क्षमा माँगिये। जब वे क्षमा करेंगे, तभी आपको शान्ति मिलेगी।

यहाँ देखो, भगवान् उपाय और उपेय दोनों ही हैं। भगवान्‌को ही पाना है और भगवान्‌को पानेका उपाय भी भगवान् ही हैं। पर यहाँ प्रसंग ऐसा उलट गया कि तपस्वी, विद्या-सम्पन्न, ब्राह्मण, शंकरावतार, दुर्वासाजी विष्णु भगवान्‌की शरणमें गये। शरणागतका कोई परित्याग नहीं करता और भगवान्‌की तो यह प्रतिज्ञा ही है कि 'अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतत् व्रतं मम'—(रामायण ६.१८.३३)। यदि कोई एक बार भी मेरी शरणमें आजाये तो मैं उसका परित्याग नहीं करता। किन्तु यहाँ आप इस प्रसंगपर ध्यान दें कि दुर्वासाजी भगवान्‌की शरणमें आकर खड़े हैं और भगवान् कह रहे हैं कि मैं कुछ नहीं कर सकता। मैं तो पराधीन हूँ। फिर भी शरणागतका परित्याग नहीं करनेके नाते आपको एक उपाय बताता हूँ कि आप अम्बरीषके पास जाकर शरण ग्रहण कीजिये, वहीं आपको उपेय मिलेगा, यहाँ मेरे पास नहीं मिलेगा। 'अयं ह्यात्माभिचारस्ते यतस्तं यातु वै भवान्' (६९)—यह रोग जहाँ आपको लगा है, वहीं जानेपर दूर होगा। 'तपो विद्या च विप्राणां निःश्रेयसकरं परम्' (मनु १२.१०४)। माना कि आप ब्राह्मण हैं, आपमें तपस्या और विद्या दोनों हैं, कल्याणकी पूरी-की-पूरी सामग्री है; परन्तु आपकी जो दुर्विनीतता है, इसने आपके गुणोंको बिल्कुल उलट दिया है। इसलिए भगवान् कहते हैं—

ब्रह्मंस्तद् गच्छ भद्रं ते नाभागतनयं नृपम्। ७१

'ब्रह्मन् नृपम् गच्छ'—हे ब्राह्मण देवता, अब आप उसी क्षत्रियके पास जाइये और जाकर 'क्षमापय महाभागम्'—क्षमा माँगिये तभी आपको शान्ति मिलेगी।



श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि परीक्षित, भगवान्‌के आदेशसे चक्रतप्त दुर्वासा राजा अम्बरीषके पास आये और अत्यन्त दुःखी होकर उन्होंने अम्बरीषके पैर पकड़ लिये—'तत्पादौ दुःखितोऽग्रहीत्' (१)। अम्बरीषको दुर्वासाका उद्वेग देखकर बड़ी लज्जा आयी और वे चक्रकी स्तुति करने लगे—

त्वमग्निर्भगवान् सूर्यस्त्व सोमो ज्योतिषां पतिः।
त्वमापस्त्वं क्षितिर्व्योम वायुर्मात्रेन्द्रियाणि च॥ ३

हे सर्वास्त्रघातिन्, विराट् विश्वमें जो कुछ भी है, वह सब तुम्हीं हो। ब्राह्मणकी स्वस्ति हो, ब्राह्मणका कल्याण हो। तुम लोकपाल हो, धर्म हो, सर्वात्मा हो, मनके वेगसे चलते हो, तुम्हारी स्तुति कौन कर सकता है? हम तो केवल तुम्हें नमस्कार करते हैं। तुम्हारे ही प्रकाशसे सूर्य आदिका प्रकाश होता है। जब तुम, हे अजित, दैत्यों और दानवोंकी सेनामें प्रविष्ट होते हो तो उनके अङ्गोंको छिन्न-भिन्न कर देते हो। ये ब्राह्मण हमारे वंशके देवता हैं, इनका अमंगल नहीं होना चाहिए, इनकी भलाईके लिए हमारे ऊपर अनुग्रह करें, इनको छोड़ दें, छोड़ दें।

इसके बाद अम्बरीषने अपनी सर्वस्वकी बाजी लगाते हुए कहा कि यदि मैंने अपने जीवनमें कोई दान किया हो, यजन किया हो, धर्म-पालन किया हो, मेरे वंशके पूर्व पुरुषोंने ब्राह्मणको ही अपना इष्टदेव माना हो और भगवान् मुझपर प्रसन्न हों तो यह ब्राह्मण-देवता दुःखरहित हो जायें, विज्वर हो जायें।

इस प्रकार अम्बरीषके स्तुति करनेपर चक्र-देवता शान्त हो गये। दुर्वासाके शरीरमें जो आग लग रही थी, वह भी शान्त हो गयी। दुर्वासाने अम्बरीषको आशीर्वाद दिया और उनकी प्रशंसा करते हुए कहा—राजन्, आप धन्य हैं। मैंने भगवान्‌के भक्तोंकी महिमा आज देखी है—

कृतागसोऽपि यद् राजन् मङ्गलानि समीहसे। १४

भक्तकी महिमा किसी सिद्धि-चमत्कारमें नहीं, इसमें है कि जो उसका अपराधी है उसके लिए भी वह मङ्गलकी अभिलाषा कर रहा है। जिन साधु-महात्माओंने भगवान्‌को अपनी झोलीमें डाल लिया है, उनके लिए कुछ भी दुष्कर नहीं है, कोई भी दुस्त्यज नहीं है।

यैः संगृहीतो भगवान् सात्वतामृषभो हरिः । १५

जिन्होंने भगवान्‌का संग्रह कर लिया, उन्हें सिद्धि, धन, दौलत, ऐश्वर्य और दुनियाका प्रभाव—इन सबका संग्रह करनेकी कोई जरूरत नहीं। जिनके नाम-श्रवण-मात्रसे मनुष्य निर्मल हो जाता है, उनके भक्तोंके लिए दुनियामें क्या बाकी है। महाराज अम्बरीष, आपका हृदय करुणार्द्र है। आपने मेरे अपराधपर ध्यान नहीं दिया और मेरी रक्षा की, यह आपका बड़ा भारी अनुग्रह है।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि परीक्षित, दुर्वासाजीके भागनेसे लेकर लौटनेके समयतक अम्बरीषने भोजन नहीं किया था। वे उनकी बाट देख रहे थे। इसलिए दुर्वासाजीके लौटनेपर जब चक्र शान्त हो गया, तब राजा अम्बरीषने उनके चरणारविन्द पकड़ लिये और उनको प्रसन्न करके भोजन कराया। फिर उनके भोजन करनेके बाद, जब दुर्वासाजीने अम्बरीषको भोजन करनेके लिए कहा तब उन्होंने भोजन किया।

उसके बाद दुर्वासाजीने कहा कि राजन्, मैं आपके दर्शन और सम्भाषणसे बहुत प्रसन्न हूँ। दुनियामें आपके इस कर्मका गान किया जायेगा। स्वयं पृथिवी आपकी इस पुण्य कीर्तिका गायन करेंगी।

देखो, शंकरस्वरूप दुर्वासाजी आये ही इसीलिए थे कि विष्णु-भक्तका महत्त्व बढ़े—लोग समझें कि उसकी कितनी महिमा है! यह कितनी असाधारण बात है कि दुर्वासाके पलायनके पश्चात् एक बरसतक अम्बरीषने उनकी प्रतीक्षा की और तबतक उपवास करते रहे। लेकिन फिर भी उन्होंने इसमें अपना प्रभाव नहीं, भगवान्‌का प्रभाव माना। ऐसे भक्त थे अम्बरीष। संसारके भोग उनको दुःखद नरकके समान मालूम पड़ते थे। अन्तमें उन्होंने अपने पुत्रोंको अपना राज्य दे दिया और स्वयं वनमें चले गये।

इससे उन बूढ़े लोगोंको शिक्षा लेनी चाहिए, जो मोहमें फँसे रहते हैं। वे न तो अपने पुत्रके भाग्यपर विश्वास करते हैं और न उसकी बुद्धिपर विश्वास करते हैं। नतीजा यह होता है कि सौ-सौ धक्के खाते हैं, कुत्तेकी तरह भोजन प्राप्त करते हैं और घरमें पड़े रहते हैं। इसलिए मनुष्यके जीवनमें एक संकल्प चाहिए कि जब बेटा बड़ा हुआ तब अपना काम सम्भाले।

अन्तमें शुकदेवजी कहते हैं कि अम्बरीषने वनमें जाकर अपना मन भगवान्‌में लगाया और संसारसे मुक्त हो गये। उनके इस उपाख्यानके कीर्तन—ध्यानसे मनुष्यके हृदयमें भक्ति आती है।



श्रीशुकदेवजी महाराज आगे वर्णन करते हैं—अम्बरीषके जो पुत्र-पौत्र हुए, उनमें-से कई ब्राह्मण हो गये। वैवस्वत मनुके प्रथम पुत्र इक्ष्वाकुसे विकुक्षि आदि हुए। एक बार इक्ष्वाकुने श्राद्ध करते समय विकुक्षिको आज्ञा दी कि वह उसकी वस्तु लेकर आये। लेकिन उसके लानेमें कोई त्रुटि हो गयी। इसपर इक्ष्वाकुने अपने उस पुत्रको देशसे बाहर निकाल दिया। इक्ष्वाकु भी योगाभ्याससे अपना शरीर छोड़कर ब्रह्मसे एक हो गये।

इक्ष्वाकुके ब्रह्मलीन हो जानेपर उनका वही पुत्र विकुक्षि, जिसको उन्होंने देशसे निकाल दिया था, पृथिवीका रक्षक सम्राट हुआ। उसने यज्ञके द्वारा भगवान्‌की आराधना की। देशसे निकाले जानेपर भी उसका महत्त्व कुछ कम नहीं हुआ। उसके पुत्रके तीन नाम थे—पुरञ्जय, इन्द्रवाह तथा ककुत्स्थ। इन्द्रने अपनी सहायताके लिए उससे प्रार्थना की। उसने कहा कि मैं इन्द्रकी सहायता तभी करूँगा जब वे मेरा वाहन बन जायें। इन्द्रको बैल बनना पड़ा और उनके ककुदपर बैठकर उसने इन्द्रको विजय दिलवायी। तभीसे उसका नाम पुरञ्जय, इन्द्रवाह अथवा ककुत्स्थ पड़ा। वह लोकमें बहुत प्रसिद्ध हुआ।

पुरञ्जयकी वंश-परम्परामें एक हुए युवनाश्व। परन्तु उनको कोई सन्तान नहीं हुई। वे वनमें

चले गये। ऋषियोंने उनसे पुत्र-प्राप्तिके लिए इष्टि करवायी। रातके समय राजाको प्यास लगी। ब्राह्मण लोग सो रहे थे। उन्होंने वह अभिमन्त्रित जल, जो पत्नीके पीनेके लिए रखा हुआ था, पी लिया। प्रातःकाल ब्राह्मणोंने पूछा कि हम आपकी पत्नीके लिए जो अभिमन्त्रित औषध रक्खे हुए थे, वह कहाँ है? वे बोले कि वह तो मैं पी गया। अब तो हाय-हाय मच गयी। ब्राह्मणोंने कहा कि जब भगवान्की ऐसी लीला है तब कोई क्या करे? उनकी दक्षिण कोख फाड़कर उनके सन्तान हुई। उस सन्तानको दूध कौन पिलाये—यह प्रश्न उठनेपर इन्द्रने कहा कि मैं उस यज्ञ-यागादिसे उत्पन्न बालकका पालन-पोषण करूँगा। उन्होंने उसके मुखमें तर्जनी उँगली दे दी। तबसे वह मान्धाताके नामसे प्रसिद्ध हुआ। उसके पिता युवनाश्वकी मृत्यु नहीं हुई और वह तपस्या करके मुक्त हो गया। इन्द्रने बालकका नाम त्रसद्दस्यु रखा। वही त्रसद्दस्यु अथवा मान्धाता सप्तद्वीपवती पृथिवीका राजा हुआ और उसने बड़े-बड़े यज्ञ किये। कहते हैं कि सूर्योदय और सूर्यास्त दोनों ही मान्धाताके क्षेत्रमें ही होते थे। इतना विशाल साम्राज्य था उसका।

मान्धाताकी पत्नी थी बिन्दु। उससे उसके तीन पुत्र हुए—अम्बरीष (ये अम्बरीष दूसरे हैं) पुरुकुत्स और मुचुकुन्द। पचास कन्याएँ भी हुईं। उन सबने सौभरि ऋषिको अपना पति बना लिया। इसकी कथा इस प्रकार है कि एक बार सौभरि ऋषि यमुना-तटपर आनन्दपूर्वक भगवान्का भजन कर रहे थे। उन्होंने देखा कि वहाँ मछलियोंका राजा मछलियोंके साथ बहुत भोग-विलास कर रहा है। इसलिए उनके मनमें भी विवाह करनेकी इच्छा जाग्रत् हो गयी। इस घटनासे यह बताया गया है कि यदि कोई ब्रह्मचर्य व्रतका पालन करता हो तो उसे तिर्यक् योनिके जीवोंका भी विहार नहीं देखना चाहिए, क्योंकि मन बड़ा धोखा देता है। जब सौभरिके मनमें विवाह करनेकी इच्छा हुई तब वे मान्धाता राजाके पास गये और बोले कि आप मेरा विवाह अपनी एक कन्यासे कर दीजिये। राजाने देखा कि सौभरि तो बहुत बूढ़े हो गये हैं। इसलिए बोले कि जो कन्या तुम्हारा वरण कर ले, उसके साथ तुम विवाह कर लो। उसके मनमें यह था कि ये तो बूढ़े हो गये। इनका सिर काँप रहा है, लाठी टेकते हुए चलते हैं, झुर्रियाँ पड़ गयी हैं, दाँत टूट गये हैं और इस हालतमें भी विवाह करना चाहते हैं। हमारी सब लड़कियाँ जवान हैं, इसलिए इनको कौन वरण करेगी? सौभरिने राजाके मनका भाव ताड़ लिया और अपनी तपस्याके बलसे ऐसा रूप धारण किया कि जब वे अन्तःपुरमें पहुँचे तब सभी लड़कियाँ उनपर मुग्ध हो गयीं और कहने लगीं कि ये तो मेरे योग्य हैं, मेरे योग्य हैं। उन सबमें सौभरिको पतिरूपमें प्राप्त करनेकी होड़ मच गयी। यह देखकर पचासों लड़कियोंसे विवाह कर लिया। फिर उन्होंने अपने योगबलसे सब पत्नियोंके लिए अलग-अलग घर, शय्या, आसन, वस्त्रादिका निर्माण करके बहुत समयतक गृहस्थाश्रमके सुखका उपभोग किया। उनकी सुखमय गृहस्थी देखकर मान्धाता विस्मित हो गये!

लेकिन सौभरिको बहुत दिनोंतक भोग-विलास करनेपर भी सन्तोष नहीं हुआ। एक दिन सौभरिके स्वस्थ मनमें आया कि मैं क्या था और क्या हो गया!

अहो इमं पश्यत मे विनाशं
तपस्विनः सच्चरितव्रतस्य।
अन्तर्जले वारिचर-प्रसङ्गात्
प्रच्यावितं ब्रह्म चिरं धृतं यत्॥ ५०

देखो तो सही जलमें मछलीका प्रसंग देखने मात्रसे मेरा कितना बड़ा विनाश हो गया, मेरी कितनी बड़ी तपोहानि हो गयी। कहाँ मेरा ब्रह्मचर्य और कहाँ आजका यह भोग-विलास! इसीलिए मुमुक्षुको चाहिए कि वह विषयी पुरुषोंका संग कभी न करे। यदि कभी उसको संग करना हो तो केवल साधुओंका ही सत्सङ्ग करे—

सङ्गं त्यजेत मिथुनव्रतिनां मुमुक्षुः
सर्वात्मना न विसृजेद् बहिरिन्द्रियाणि।
एकाश्चरन् रहसि चित्तमनन्त ईशे
युञ्जीत तद्व्रतिषु साधुषु चेत् प्रसङ्गः॥ ५१

पहले मैं एक था, उसके बाद पचास कन्याओंसे शादी हुई और फिर इतने बच्चे-कच्चे हो गये, कितना समय बीत गया, इसका कुछ पता ही नहीं चला। इस प्रकारके पश्चात्तापके पश्चात् ऋषिने तपस्या करके अपने आत्माको परमात्माके साथ जोड दिया और उनकी पत्नियोंने भी उनकी गतिको प्राप्त किया।

देखो; इस प्रसंगमें तो नहीं है, किन्तु दूसरे प्रसंगमें आता है कि सौभरिजीने एक भक्तका अपराध किया था। वह अपराध यह था कि गरुड़जी कभी-कभी यमुनाजीमें जाकर अपने योग्य भक्ष्यका भोजन करते थे। यह देखकर सौभरिजीने शाप दे दिया कि अरे राम-राम! गरुड़जी यहाँ आकर अभक्ष्य-भक्षण करते हैं। यदि अब वे यहाँ आयेंगे तो मर जायेंगे। इस प्रकार सौभरिजीसे गरुड़जीके प्रति अपराध हो गया। उसके दो विपरीत फल निकले। एक तो यह कि यमुनाजीमें गरुड़जीकी जगह कालिय नाग आकर रहने लगा और दूसरा यह कि सौभरि ऋषिको गरुड़जीमें दोष-दृष्टि करनेके कारण संसारमें फँस जाना पड़ा।



श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि परीक्षित, युवनाश्वने मान्धाताके ज्येष्ठ पुत्र अम्बरीषको पुत्ररूपमें स्वीकार कर लिया था। उसका पुत्र हुआ यौवनाश्व और यौवनाश्वसे हारीत हुआ। फिर यह वंश आगे चला तो इसी वंशमें पुरुकुत्सका जन्म हुआ। उनको नागोंने यह वर दिया था कि यदि कोई 'पुरुकुत्स-पुरुकुत्स' ऐसा शब्द बोल दे तो हम उसको नहीं काटेंगे। इसी वंशमें आगे चलकर त्रिशंकुका जन्म हुआ। वह पिताके साथ चाण्डाल हो गया था, लेकिन विश्वामित्रके प्रभावसे सशरीर स्वर्ग चला गया। इस वंशमें जितने भी लोग हुए हैं, उनके जीवनमें कोई-न-कोई एक विशेषता रही है। यही कारण है कि त्रिशंकुके पुत्र हरिश्चन्द्र हुए, जिनका चरित्र बहुत ही सत्यनिष्ठ था। उन्हींके प्रसंगको लेकर विश्वामित्र और वसिष्ठमें बहुत कालतक युद्ध हुआ था। विश्वामित्रने राजसूय-यज्ञकी दक्षिणाके बदले हरिश्चन्द्रका सर्वस्व ले लिया और उनको राज्यच्युत कर दिया। इसका कारण यही था कि वसिष्ठजी हरिश्चन्द्रकी बहुत प्रशंसा किया करते थे कि हमारा यजमान ऐसा है, वैसा है। यह विश्वामित्रजीको सह्य नहीं था। इसलिए दोनोंने आपसमें शापा-शापी भी कर ली। कभी-कभी महात्माओंमें भी चेला-चेलियोंके लिए झगड़ा हो जाया करता है। यह कोई नयी बात नहीं है।

इस प्रकार हरिश्चन्द्रका चरित्र पुराणोंमें बड़े विस्तारसे है और वह इतना विलक्षण है, इतना अद्भुत है कि उसको पढ़-सुनकर बहुत आश्चर्य होता है। परन्तु श्रीमद्भागवतमें हरिश्चन्द्रकी जो कथा है वह उन पौराणिक कथाओंसे बिल्कुल प्रतिकूल पड़ती है। श्रीमद्भागवतके अनुसार हरिश्चन्द्रको कोई सन्तान नहीं थी। उन्होंने पुत्र प्राप्तिके लिए वरुणकी शरण ली और वरुणसे यह प्रतिज्ञा की थी कि हमारे यदि पुत्र होगा तो उसीसे तुम्हारा यजन करेंगे। जब पुत्र हो गया, तब वरुण आकर बोले कि तुम अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार अपने बेटेसे हमारा यज्ञ करो। हरिश्चन्द्रने कहा कि बाबा, दस दिन तो बीत जाने दें, जब वह पवित्र होगा तब यज्ञ करेंगे। जब दस दिन बीत गये तब हरिश्चन्द्र बोले कि जब दाँत निकल आयेंगे तब यज्ञ करेंगे। जब

दाँत निकल गये तब बोले कि जब दूधके दाँत गिर जायँगे तब यज्ञ करेंगे। इस प्रकार जब-तब करते हरिश्चन्द्र अपनी बात टालते गये। जब वह बेटा बड़ा हो गया, तब उसको सब बातें मालूम हो गयीं और एक दिन वह घरसे भाग गया। उसके बाद हरिश्चन्द्रको जलोदर रोग हो गया। जो देवताके लिए प्रतिज्ञा करके उसको पूरी नहीं करता वह मर जाता है। परन्तु वरुण उग्रदेवता नहीं हैं। इसलिए वे हरिश्चन्द्रकी बातोंको शान्तिसे सहते गये।

उधर जब-जब रोहिताश्व अपने पिताके पास घर आनेकी कोशिश करता, तब-तब उसको रास्तेमें इन्द्र देवता बृद्ध ब्राह्मणका वेश बनाकर मिलते और उसे रोक देते। इसका कारण यही था कि वरुण और इन्द्रमें बड़ा वैर था। उनके पारस्परिक युद्धका भी वर्णन आता है। सिन्धु नदीके इस पार वरुणकी प्रधानता थी। इन्द्रके प्रभावक्षेत्रका नाम सारस्वत और वरुणके प्रभाव-क्षेत्रका नाम सिन्धु था।

ऐतरेय ब्राह्मणमें 'चरैवेति-चरैवेति' (७.१३.१७) मन्त्र मिलता है, जिसका अर्थ है कि चलें-चलो, चलें-चलो। जो चलता है, उसको मधुकी प्राप्ति होती है—'चरन् वै मधु विन्दति।' इस प्रकारके पाँच मन्त्र इन्द्रने रोहिताश्वके प्रति कहे हैं। यही वैदिक कथा यहाँ पुराणोंमें आयी है।

इन्द्रने पाँच वर्षपर्यन्त रोहिताश्वको रोका। छठे वर्ष जब उसको मालूम हुआ कि मेरे पिताजीको जलोदर रोग हो गया है तब उसने अजीगर्तसे उनके शुनःशेप नामक मध्यम सुतको मोल ले लिया और फिर वहाँ आया। हरिश्चन्द्र जलोदर रोगसे मुक्त हो गये। उन्होंने वरुणादिका यजन किया। इन्द्रने भी यज्ञमें सन्तुष्ट होकर उनको सौवर्ण रथ दिया और अन्तमें शुनःशेप छूट गया। यह कथा आगे आयेगी। विश्वामित्रने हरिश्चन्द्रको तत्त्वज्ञानका उपदेश किया था।

जो लोग तत्त्वज्ञानसे दूर रहते हैं, उनकी समझमें यह बात जल्दी नहीं आती कि मनको पृथिवीमें कैसे डाल दिया जाता है। लेकिन हमारा मन पृथिवीसे ही बना है, यह बिल्कुल पार्थिव है। पृथिवीसे पृथक् अन्तःकरणकी कोई चीज नहीं है। देहके मरनेपर तो अन्तःकरण रहता है, लेकिन पृथिवीसे पृथक् अन्तःकरण नहीं रहता।

इसीलिए हरिश्चन्द्रने अपने अन्तःकरणको डाल दिया पृथिवीमें। उसके बाद पृथिवीको जलमें, जलको तेजमें, तेजको वायुमें, वायुको आकाशमें, आकाशको अहंकारमें, अहंकारको महत्तत्त्वमें और फिर ज्ञानकलाका ध्यान करके वृत्त्यारूढ़ ब्रह्मके द्वारा अज्ञानका नाश कर दिया। फिर उस वृत्तिको भी छोड़कर हरिश्चन्द्र अपने स्वरूपमें स्थित हो गये।

असलमें मनीरामके जितने भी खेल हैं, वे सब भौतिक ही हैं और जब इनको पञ्चभूतमें लीन कर दिया जाता है तब आत्मा अनन्तसे एक हो जाता है।



श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि परीक्षित, रोहितका वंश बहुत लम्बा चला। उनके वंशमें बाहुक आदि राजा हुए। बाहुकका राज्य शत्रुओंने छीन लिया। वे वनमें गये और वहीं मर गये। उनकी पत्नी उनके साथ अग्निमें प्रवेश करनेके लिए तैयार हुई; परन्तु ऋषियोंने देखा कि इसके तो गर्भ है और गर्भवती स्त्रीको सती नहीं होना चाहिए। इसलिए उन्होंने उसको सती होनेसे रोक दिया। लेकिन उसकी सौतोंने उसको विष दे दिया और चूँकि विषके साथ ही पुत्र पैदा हुआ, इसलिए उसका नाम सगर रखा गया (गरका अर्थ है विष)। सगर चक्रवर्ती सम्राट् हुआ, जिसके पुत्रोंने सागरका निर्माण किया। उन्होंने और्व ऋषिकी आज्ञाके अनुसार तालजङ्घ यवन, शक, हैहय, बर्बर आदि जातियोंको पराजित करके उनको नाना विकृतरूप धारण करवा दिये। फिर और्व ऋषिके द्वारा ही उपदिष्ट योगसे उन्होंने अश्वमेध यज्ञ करके भगवान्की आराधना की। इन्द्रने उनके यज्ञ-अश्वको चुरा लिया। उनकी महारानी सुमतिके गर्भसे जो पुत्र थे, वे घोड़ेको ढूँढ़नेके लिए गये। उन्होंने चारों ओर धरती खोद डाली। बादमें वे कपिलाश्रम पहुँचे तो वहाँ उनको घोड़ा दिखायी पड़ा। उनके मनमें यह शंका हुई कि जो चोर घोड़ा चुराकर ले आया है, वह यहाँ ध्यानी बाबा बना बैठा है। मनुष्यको जल्दी किसीपर शंका नहीं करना चाहिए। परन्तु 'पापी सर्वत्र पापमाशङ्कते'—जिसके मनमें पाप होता है, वह सबके प्रति पापकी ही शंका करता है। सगर-पुत्र बिना समझे-बूझे ध्यानमग्न कपिलजीको मारनेके लिए तैयार हो गये और ललकारने लगे कि 'मारो-मारो' यह चोर है। कोलाहल सुनकर मुनिने अपनी आँख खोली। उनकी आँख खुलते ही सब-के-सब सगर-पुत्र भस्म हो गये—

महद्व्यतिक्रमहता भस्मसादभवन् क्षणात्। १२

असलमें सगर-पुत्रोंकी मृत्यु कपिलदेवजीको नेत्र-ज्योतिसे नहीं हुई, बल्कि उन्होंने जो महापुरुषका अपराध किया; उससे उनकी मृत्यु हुई। यह कहना बिल्कुल ठीक नहीं कि कपिलदेवजीने उनपर क्रोध किया। क्योंकि—

कथं तमो रोषमयं विभाव्यते जगत्पवित्रात्मनि खे रजो भुवः। १३

भगवान् कपिलदेव जगत्पवित्रात्मा हैं। उनमें क्रोध कहाँसे आयेगा ? भला धरतीकी धूलका

सम्बन्ध आकाशसे हो सकता है ? उन्होंने सांख्यमयी नौका ऐसी दृढ़ बनायी है, जिससे मुमुक्षु संसार-सागरसे पार चला जाता है। उनमें भेदबुद्धि अथवा वैरभाव कहाँसे आयेगा ?

परात्मभूतस्य कथं पृथङ्मतिः ? १४

सागरकी दूसरी पत्नी केशिनीसे असमञ्जस नामक पुत्र हुआ था। असमञ्जसका पुत्र अंशुमान् था। असमञ्जस कोई योगभ्रष्ट पुरुष था। उसको अपने पूर्वजन्मकी सब बातें मालूम थीं। वह कभी-कभी ऐसा अनुचित आचरण करता कि उसके पिता भी उसको पसन्द नहीं करते थे। अन्तमें पिताने उसको राज्यसे निकाल दिया। पहलेके राजा लोग अपनी न्याय-निष्ठाके कारण भाई-भतीजेका, यहाँतक कि अपने बेटेका भी पक्षपात नहीं करते थे। बेटे द्वारा अन्याय किये जानेपर वे उसको दण्ड देने अथवा राज्यसे बाहर निकाल देनेमें विलम्ब नहीं करते थे। लेकिन असमञ्जस तो योगी था। इसलिए जब पिताने उसको निकाल दिया तब उसने अपने राज्यकालमें मरे हुए अयोध्याके सब बालकोंको जीवित कर पिताको दिखा दिया। फिर वह वनमें चला गया। सब लोग विस्मयमें पड़ गये कि मरे हुए बालक कहाँसे आगये ? असमञ्जसके चले जानेके कारण सबको पश्चात्ताप हुआ।

अब सगरने अपने पौत्र अंशुमान्‌को यज्ञका घोड़ा ढूँढ़नेके लिए आज्ञा दी। उन्होंने कपिला-श्रम पहुँचकर देखा कि कपिलजी महाराज बैठे हुए हैं। उनका दर्शन करते ही अंशुमान्‌के मनमें यह बात बैठ गयी कि ये तो बहुत बड़े महात्मा हैं, वे हाथ जोड़कर उनकी स्तुति करने लगे—प्रभो, आप तो साक्षात् परमात्मा हैं। लोग आपको पहचान नहीं सकते—

न पश्यति त्वां परमात्मनोऽजनो न बुध्यतेऽद्यापि समाधियुक्तिभिः। २२

समाधियुक्तिसे भी आप पहचानमें नहीं आते। भला हम आपको कैसे जान सकते हैं ? जो त्रिगुणमय शरीरमें फँसे हुए हैं, वे आपको नहीं जानते। आप तो ज्ञानघन हैं। आपमें मायाका गुण बिल्कुल नहीं है। आप प्रशान्त पुराणपुरुष हैं। आपकी मायासे रचित इस लोकमें जो घर-गृहस्थीको ही सच्ची चीज समझकर फँस जाते हैं, वे जिन्दगी भर दुःखी रहते हैं। आपके दर्शनसे हमारा जो दृढ़ मोह-पाश था, वह छिन्न हो गया।

इस प्रकार जब अंशुमान्‌ने कपिलदेवके माहात्म्यका गान किया तब भगवान् कपिल बोले कि 'देखो बेटा, यह तुम्हारा घोड़ा है। इसको तुम ले जाओ। ये जो तुम्हारे चाचा लोग थे, वे जलकर यहाँ भस्म हो गये हैं, उनके कल्याणके लिए तुम गंगाजल ले आओ।' इसके बाद अंशुमान्‌ने कपिलदेवकी परिक्रमा की, उनको प्रसन्न किया और वे घोड़ा लेकर लौट आये। सगरने उस घोड़ेके आनेपर अपना यज्ञ पूरा किया। उसके बाद उन्होंने अंशुमान्‌को राज्य दे दिया और स्वयं और्वके उपदिष्ट मार्ग द्वारा अनुत्तम गतिकी प्राप्ति की।



श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि परीक्षित, इसके बाद अंशुमान्ने गंगाजीको लानेके लिए बड़ी भारी तपस्या की। जब उनकी मृत्यु हो गयी, तब उनके पुत्र दिलीपने भी वैसी ही तपस्या की। फिर जब उनकी भी मृत्यु हो गयी तब दिलीपके पुत्र भगीरथ तपस्यामें बैठे। भगीरथकी घोर तपस्यासे प्रसन्न होकर उनके सामने गंगादेवी प्रकट हुईं

देखो, जो लोग कभी देवी-देवताओंका भजन-पूजन नहीं करते, ध्यान नहीं करते, जिनके हृदयमें श्रद्धा नहीं, विश्वास नहीं, जिनको नमक-तेल-लकड़ीकी चिन्तासे ही फुर्सत नहीं मिलती; महात्माओंका संग नहीं मिलता, उन्हें यह बात समझमें नहीं आ सकती कि गंगाजी भी दर्शन देती हैं। सब वस्तुओंकी अधिष्ठातृ-देवी होती है, उनका देवता होता है। जब सद्भावसे, ईश्वरभावसे किसी भी वस्तुकी पूजा की जाती है तो तत्-तदाकार होकर ईश्वर ही तत्-तत् देवताके रूपमें आकर दर्शन देता है। मुझे ऐसे-ऐसे कई महात्मा मिले हैं जिनको नर्मदाजी, गंगाजी दर्शन देती थीं और उनसे बातें भी करती थीं। हमारे मोकलपुरवाले बाबाने एक बार बताया था कि जब सन् सोलहमें बाढ़ आनेवाली थी और मैं गंगाजीकी धाराके बीचमें एक टीलेपर रहता था, तो गंगाजी घड़ियालपर बैठकर आयीं और यह कहकर चली गयीं कि इस टीलेको मैं डुबोनेवाली हूँ, इसलिए तुम इसे खाली कर दो। ऐसा जब इस युगमें हो सकता है तब यदि भगीरथ जैसे तपस्वी महापुरुषको गंगाजीने दर्शन दिया तो इसमें आश्चर्य क्या है?

जब भगीरथके सामने गंगाजी प्रकट हुईं, तब उन्होंने अपना यह अभिप्राय निवेदित किया कि आप मर्त्यलोकमें पधारिये। गंगाजीने कहा कि मुझे तुम्हारी बात मंजूर है, लेकिन जब मैं धरतीपर गिरूँगी तो मेरा वेग कौन धारण करेगा ? यदि किसीने मेरा वेग धारण नहीं किया तो मैं पातालमें चली जाऊँगी। दूसरी बात यह है कि लोग मुझमें नहा-नहाकर अपने-अपने पाप धोयेंगे और चलते बनेंगे। यह बात मुझे सह्य नहीं होगी।

भगीरथजीने कहा कि माता, आपके भीतर केवल पापी ही स्नान नहीं करेंगे, बल्कि बड़े-बड़े ब्रह्मनिष्ठ साधु-संन्यासी और लोकपावन महात्मा भी आपमें स्नान करेंगे और वे सर्व-साधारणके स्नानजन्य पापोंको खींचकर ब्रह्मदृष्टिसे भस्म कर देंगे। रही बात आपके वेगकी, तो उसको सबके आत्मा शङ्करजी धारण करेंगे।

इसके बाद जब गंगाजी मौन हो गयीं तब राजा भगीरथने शंकरजीको सन्तुष्ट करनेके लिए तपस्या प्रारम्भ की। भगवान् शङ्कर थोड़े दिनोंमें ही सन्तुष्ट हो गये और उन्होंने सावधान होकर गंगाजीके वेगको धारण किया। वहाँसे राजा भगीरथ भगवती गंगाको धरतीपर ले आये।

कई लोग कहते हैं कि गंगाजीको गोमुखसे हरिद्वारतक लानेके लिए भगीरथने इञ्जिनीयरका काम किया था। उन्होंने योजनानुसार पहाड़ तोड़े और जलके लिए रास्ता निकाला। उनके रथमें पहाड़ तोड़नेकी शक्ति थी। इसलिए उनका रथ मार्गके पहाड़ोंको तोड़ता हुआ चला और उसके पीछे-पीछे गंगाजी धरतीपर आगयीं और प्राणियोंको पवित्र करने लगीं।

भगवती गंगामें पापाकर्षणकी कितनी अलौकिक शक्ति है, इसका संकेत स्वयं उन्होंने ही भगीरथको दे दिया है। उनकी वह आकर्षणी शक्ति भौतिक रूपसे भी ज्ञात होती है। जब मनुष्य उनमें स्नान करता है, तब उसके शरीरमें जो पाप होते हैं. उनको वे खींच लेती हैं और मनुष्य स्नान करनेके बाद निष्पाप अनुभव करता है।

श्रीमद्भागवतकी वंशीधरी टीकामें किसी श्लोककी व्याख्यामें एक श्लोक है। उसमें कहा गया है कि जो लोग गंगाजलमें स्नान करते हैं, उनको फिर अङ्गकी, शरीरकी प्राप्ति नहीं होती— 'पुनर्न चाङ्गम्'। यदि उनको अङ्ग मिलता है तो उनको 'याने विहङ्गम् शयने भुजङ्गम्, करे रथाङ्गम्'की प्राप्ति होती है अर्थात् उन्हें यात्राके लिए गरुड़, शयनके लिए शेष और हाथमें धारण करनेके लिए चक्र मिल जाता है। तात्पर्य यह है कि उसको भगवत्-स्वरूपकी प्राप्ति हो जाती है।

स्वयं भगवान् शङ्कराचार्यजी महाराज, गंगाकी स्तुति करते हुए कहते हैं—

भगवति तव तीरे नीरमात्राशनोऽहं विगतविषयतृष्णः कृष्णमाराधयामि ।
सकलकलुषभङ्गे स्वर्गसोपानसङ्गे तरलतरतरङ्गे देवि गङ्गे प्रसीद ॥ ७

महर्षि वाल्मीकिने भी गंगाजीकी स्तुतिमें लिखा है कि एक चिड़िया किसीकी हड्डी लेकर आकाशमें उड़ी जा रही थी । उसकी चोंचसे हड्डी गंगाजीमें गिर पड़ी, जिसके फलस्वरूप वह सबसे पहले वैकुण्ठमें पहुँच गयी । ऐसी महिमा है भगवती गंगाकी ।

जब त्रिभुवनपावनी गंगाजी धरतीपर आगयीं तब राजा भगीरथ उनको वहाँ ले गये, जहाँ उनके पितरोंके शरीर जलकर राखकी ढेर बने हुए थे । गंगाजी मार्गमें पड़नेवाले प्रदेशोंको पवित्र करती हुई वहाँ पहुँची, उन्होंने भस्मीभूतांग सगरात्मजोंको अपने जलमें डुबो दिया और वे सब स्वर्गमें चले गये ।

श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि परीक्षित, जब ब्रह्मदण्डदग्ध सगर-पुत्रोंको गंगा-जलके स्पर्शसे स्वर्गकी प्राप्ति हो गयी तब जो लोग श्रद्धापूर्वक गंगादेवीका सेवन करते हैं, उनके उद्धारके सम्बन्धमें तो कहना ही क्या है ?

इसके बाद कहते हैं कि भगीरथके पुत्र हुए श्रुत । श्रुतसे नाभ, नाभसे सिन्धुद्वीप, सिन्धुद्वीपसे अयुतायु और अयुतायुसे ऋतुपर्ण । ऋतुपर्णने ही नलको द्यूतविद्या सिखायी थी और उसके बदले उनसे अश्वविद्या सीखी थी । फिर ऋतुपर्णसे सर्वकाम हुए और सर्वकामके सुदास हुए । सुदाससे मदयन्तीके पति सौदासका जन्म हुआ था । सौदासके ही दूसरे नाम मित्रसह और कल्माषाङ्घ्रि थे । वे वसिष्ठके शापसे राक्षस और अनपत्य हो गये । यहाँ उनका वंश ही बदल गया ।

यहाँ जब परीक्षितने वसिष्ठके शापका कारण पूछा तब श्रीशुकदेवजी महाराजने बताया कि एकबार सौदासने किसी राक्षसको मार दिया । उस राक्षसका भाई छूटकर भाग गया । बादमें वह रसोइयेका रूप धारण करके राजाके यहाँ गया और उसने वहाँ वसिष्ठजीके खाने-पीनेमें गड़बड़ी कर दी । इसलिए उन्होंने राजाको शाप दे दिया कि तुम राक्षस हो जाओ । बादमें जब वसिष्ठको मालूम हुआ कि राजा सौदास निरपराध हैं, तब उन्होंने शापकी अवधि बारह बरस कर दी । जब राजा सौदासने वसिष्ठजीको शापके बदले शाप देनेके लिए जल उठाया तो उनकी पत्नी

मदयन्तीने रोक दिया। राजाने उस शापको अपने पाँवपर डाल लिया, जिससे उनका पाँव काला हो गया और इस कारण वे कल्माषपाद कहलाये। जब वे राक्षसभावको प्राप्त होकर पादसे कल्माष हो गये तब उन्होंने एकबार वनमें किसी तपस्वी ब्राह्मण दम्पतीको देखा और उनपर आक्रमण कर दिया। ब्राह्मण पत्नीने कहा कि अभी मुझे अपने पतिसे तृप्ति नहीं हुई है, मेरी सन्तान प्राप्तिकी इच्छा है। इसलिए तुम इनको मत खाओ। देखो, तुम राक्षस नहीं हो। महारानी मदयन्तीके पति सौदास हो। शापके कारण राक्षस हो गये हो। इसलिए तुमको ऐसा अधर्म नहीं करना चाहिए। इस प्रकार ब्राह्मण-पत्नीने बहुत प्रार्थना की, यह भी कहा कि यदि खाना ही है तो पहले मुझे खा जाओ। लेकिन सौदास राक्षसभावसे आविष्ट थे। इसलिए उन्होंने विलाप करती हुई उस स्त्रीकी प्रार्थनापर कोई ध्यान नहीं दिया और उसके पतिको खा लिया। इसपर ब्राह्मण पत्नीने शाप दे दिया कि 'जाओ जब कभी तुम स्त्री-सङ्ग करोगे तो मर जाओगे।'

सौदासको ऐसा शाप देकर वह ब्राह्मण-पत्नी अपने पतिके साथ सती हो गयी। बारह बरसके बाद राजा सौदास उस शापसे मुक्त हो गये। जब पत्नीके पास आये तो उसको ब्राह्मणीका शाप मालूम था। इसलिए उसने उनको रोक दिया और उन्होंने स्त्री-सुखका परित्याग कर दिया। पहले भी उनको कोई सन्तान नहीं थी। किन्तु फिर वसिष्ठजीकी कृपा हुई और उनके आशीर्वादसे उनका दिव्य वंश चला।

मदयन्ती जब पहली बार गर्भवती हुई तब उसने गर्भको सात बरसोंतक अपने पेटमें रखा। वसिष्ठजीने उसका आप्रेशन करके बचा निकाला। उस गर्भसे जो बच्चा पैदा हुआ वह अश्मक कहलाया। अश्मकके पुत्र मूलक हुए। उनको स्त्रियोंने अपने वेशमें रखकर परशुरामजीसे उनकी रक्षा की थी। क्षत्रिय वंशका नाश हो जानेपर मूलकसे ही वंश चले। फिर मूलकसे दशरथ हुए। दशरथसे ऐडविड हुए, ऐडविडसे विश्वसह और विश्वसहसे खट्वाङ्ग हुए।

यह वंश दिव्यातिदिव्य है। देवता लोग खट्वाङ्गको लेकर ही ब्रह्माके पास पहुँचे थे। एक बार खट्वाङ्ग देवताओंकी सहायता करने गये। देवताओंने प्रसन्न होकर कहा कि वर माँग लो राजन्! राजाने पूछा कि पहले आपलोग यह बताइये कि मेरी आयु कितनी बाकी है? देवताओंने कहा कि दो घड़ी। यह सुनकर राजा अपने नगरमें आगये और वहाँ आकर उन्होंने परमात्माकी आराधना की। उन्होंने देवताओंसे कुछ नहीं लिया और विश्व-सृष्टिमें भगवान् विष्णुके सिवाय दूसरी किसी वस्तुकी ओर देखातक नहीं। अन्तमें वे विषयसङ्ग छोड़कर भगवान्की शरणमें लीन हो गये।

खट्वाङ्गकी बुद्धि बाल्यावस्थामें भी कभी अधर्मको ओर नहीं जाती—'न बाल्येऽपि मतिर्मह्यमधर्मे रमते क्वचित्' (४४)। तीनों लोकोंके स्वामी देवताओंने उन्हें मुँहमाँगा वर देनेको कहा। परन्तु उन भोगोंकी लालसा उन्होंने बिल्कुल नहीं की। क्योंकि समस्त प्राणियोंके जीवन-दाता श्रीहरिकी भावनामें ही वे मग्न हो रहे थे। जिन देवताओंको इन्द्रियाँ और मन विषयोंमें भटक रहे हैं, वे सत्त्वगुणप्रधान होनेपर भी हृदयमें विराजमान, सदा-सर्वदा प्रियतमके रूपमें रहनेवाले अपने आत्मस्वरूप भगवान्‌को नहीं जानते। फिर भला जो रजोगुणी और तमोगुणी हैं, वे तो जान ही कैसे सकते हैं। इसलिए उन्होंने गन्धर्व पुरोपम विश्वसृष्टिकी वस्तुओंकी ओर न देखकर सूक्ष्म परब्रह्ममें अपने मनको लगा दिया और परमात्मासे एक हो गये।

अनात्मा पदार्थोंमें जो अज्ञानमूलक आत्मभाव था, उसका परित्याग कर दिया। अपने वास्तविक आत्मस्वरूपमें स्थित हो गये। वह स्वरूप साक्षात् परब्रह्म है। वह सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म, शून्यके समान ही है। परन्तु शून्य नहीं परम सत्य है। भक्तजन उसी वस्तुको 'भगवान् वासुदेव' इस नामसे वर्णन करते हैं।



श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि परीक्षित, खट्वाङ्गके पुत्र हुए दीर्घबाहु और दीर्घबाहुके पुत्र हुए रघु। रघुसे अज और अजसे दशरथ हुए।

कोई-कोई खट्वाङ्गका ही दूसरा नाम दिलीप मानते हैं। परन्तु आनन्दरामायणमें दीर्घबाहुको दिलीप माना गया है।

महाराज दशरथके यहाँ देवताओंकी प्रार्थनापर स्वयं भगवान् ही राम-लक्ष्मण-भरत-शत्रुघ्न इन चार रूपोंमें प्रकट हुए। रामचन्द्र भगवान्के चरित्रका वर्णन बड़े-बड़े तत्त्वदर्शी ऋषियोंने किया है और वह इतना लोक-प्रसिद्ध है कि उसे तुमने भी अनेक बार सुना है—'श्रुतं हि वर्णितं त्वया सीवापतेर्मुहुः' (३)। इसलिए अब मैं तुमको सीतापति रामचन्द्रकी कथा क्या सुनाऊँ?

गुर्वर्थे त्यक्तराज्यो व्यचरदनुवनं पद्मपद्भ्यां प्रियायाः
पाणिस्पर्शाक्षमाभ्यां मृजितपथरुजो यो हरीन्द्रानुजाभ्याम्।
वैरूप्याच्छूर्पणख्याः प्रियविरहरुषाऽऽरोपितभ्रूविजृम्भ-
त्रस्ताब्धिर्बद्धसेतुः खलदवदहनः कोसलेन्द्रोऽवतान्नः॥ ४

भगवान् रामचन्द्रने पिताकी आज्ञासे राज्यका परित्याग कर दिया। इनके जिन चरण-कमलोंको स्वयं श्रीजानकीजी स्पर्श करनेमें संकोच करती थीं कि कहीं ये मेरे छूनेसे छिल न जायँ, वे ही चरणकमल जब वनमें विचरण करते-करते थक जाते थे तब हनुमान्जी और लक्ष्मणजी उनका लालन-संवाहन करते थे। उन्होंने शूर्पणखाको विरूप कर दिया और उसके कारण उनको अपनी प्रियतमा जानकीजी-का वियोग सहना पड़ा। उससे उनको बहुत रोष हुआ। उन्होंने सेतु बाँधा, समुद्रको पार किया और राक्षसोंका वध किया। ऐसे भगवान् कोसलेन्द्र हमारी रक्षा करें।

भगवान् रामचन्द्रने विश्वामित्रके यज्ञमें जाकर मारीच आदि राक्षसोंको मारा। सीताके स्वयंवरमें जो बड़ा भारी शैव-धनुष था, उसको उन्होंने मध्यमें-से वैसे ही तोड़ दिया, जैसे कोई गन्नेको तोड़ देता है। उसके बाद उनका विवाह श्रीसीताजीसे हो गया। वहाँसे लौटते समय उन्होंने परशुरामजीका दर्प भी चूर कर दिया। फिर जब राज्याभिषेकका समय आया तब कैकेयीके कारण उन्होंने उसी प्रकार राज्य छोड़ दिया, जिस प्रकार योगी अपने प्राणोंका परित्याग

कर देता है और वे सीता-लक्ष्मणके साथ वनमें चले गये। वहाँ दण्डकारण्यमें राक्षसोंको मारा। फिर जब मारीच मृगका वेश धारण करके आया तब उसका भी वध किया। उसके बाद रावण सीताको हरकर ले गया। उससे श्रीरामचन्द्र बड़े दुःखी हुए और उन्होंने यह दिखाया कि जो स्त्रियोंके प्रति आसक्ति करते हैं उनकी यही दशा होती है—'स्त्रीसङ्गिनां गतिमिति प्रथयंश्चचार' (११)। यहींपर 'मर्त्यावतारस्य मर्त्यशिक्षणम्'—यह कथन संगत हो जाता है।

भगवान् रामने जटायुकी अन्त्येष्टि क्रिया वैसे ही की, जैसे कोई अपने बच्चेकी अन्त्येष्टि क्रिया करता है। उन्होंने गीध जैसे मांसभोजी और छोटी जातिके पक्षीको भी अपना पुत्र माना। फिर भगवान्ने कबन्ध नामक राक्षसका दमन किया, सुग्रीव आदिके साथ मित्रता की और बालीको मारा, जो रावणसे मिला रहता था। उसके बाद भगवान् वानरोंसे श्रीजानकीजीका पता लगाकर समुद्रके तटपर गये, वहाँ उपवास किया और फिर भी जब समुद्र नहीं आया तब उसपर क्रोध किया। उससे डरकर समुद्रने उनकी पूजा की और कहा—

न त्वां वयं जडधियो नु विदाम भूमन्। १४

महाराज मैं तो जलधि अर्थात् जडधी हूँ—'डलयोः अभेदः'। मेरी बुद्धि जड़ है। आप कूटस्थ पुरुष हैं। आपकी इच्छा हो तो आप मुझे लाँघकर चले जायें और रावणको मार दें। लेकिन यदि आप मुझपर एक सेतु बना देंगे तो उससे आपका यश बहुत विस्तृत होगा।

इसके बाद भगवान्ने पर्वत-शृङ्गोंसे समुद्रपर सेतु बाँधा और सुग्रीव-नीलादिके साथ विभीषण द्वारा दिखायी हुई लङ्कामें प्रवेश किया। लङ्का तो विचलित हो गयी। रावण बड़े-बड़े असुरोंको लेकर युद्ध करनेके लिए आया। उनको द्वन्द्वयुद्ध करके भगवान् श्रीरामचन्द्रने हरा दिया। फिर इन्द्रकी प्रेरणासे मातलि रथ लेकर आया और उसपर सवार होकर भगवान्ने रावणको ललकारा—

रामस्तमाह पुरुषादपुरीष यन्नः कान्तासमक्षमसतापहृता श्ववत् ते।
त्यक्तत्रपस्य फलमद्य जुगुप्सितस्य यच्छामि काल इव कर्तुरलङ्घ्यवीर्यः॥ २२

अरे ओ राक्षसाधम! पुरुषादपुरीष, तूने मेरी अनुपस्थितिमें मेरी प्रिया सीताका हरण कर लिया। ठीक वैसे ही, जैसे कुत्ता कोई चीज चुराकर ले जाता है। निर्लज्ज है तू! ले आज अपने

कर्मका फल भोग। इसके बाद भगवान्ने ऐसे-ऐसे बाण मारे कि वह दशमुख हाय-हाय करता हुआ जमीनपर गिर पड़ा। रावणके मरनेके बाद उसकी पत्नी मन्दोदरी रोती हुई आयी और विलाप करने लगी—हे नाथ! हम सब तो बेमौत मर गयीं। अब यह लङ्का तुम्हारे बिना किसकी शरणमें जायेगी?

श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि विभीषणने रामाज्ञाके अनुसार रावणादिकी अन्त्येष्टि-क्रिया की। वाल्मीकि रामायणके अनुसार उन्होंने रावणके मरते समय यह कहा था कि मैं इस दुष्टकी अन्त्येष्टि-क्रिया नहीं करूँगा। लेकिन श्रीरामचन्द्रने कहा कि नहीं भाई, तुम्हें रावणकी अन्त्येष्टि-क्रिया करनी चाहिए। क्योंकि 'मरणान्तानि वैराणि निवृत्तं नः प्रयोजनम्' (रामा० युद्ध० १०९.२५)—वैर तो बस मृत्युतक ही होता है। हमारा काम पूरा हो गया। अब इसके लिए सांपरायिक—पारलौकिक कर्म करना चाहिए। श्रीरामचन्द्रका यह स्वभाव है कि वे अपने शत्रुका भी अनभल नहीं करते—'अरिहुक अनभल कीन्ह न रामा'। इसलिए वे कहते हैं कि रावणका भी परलोक बने, उसकी भी सद्गति हो और उसके लिए जो भी धार्मिक कृत्य हों, सब सम्पन्न किये जायँ।

रावणकी मृत्युके बाद अशोक वनमें शिंशपा वृक्षके नीचे बैठी हुई दुर्बल, विरहव्याकुल दीना पत्नीको देखकर श्रीरामचन्द्रके हृदयमें बहुत ही प्रेम उमड़ा। उन्होंने उनको अपने साथ ले लिया और विभीषणको कल्पान्त राज्य प्रदान करके अयोध्याजीके लिए प्रस्थान किया। वहाँ भरतजीकी यह दशा थी कि वे गोमूत्रमें पकाया हुआ अन्न—यवान्न ही खाते थे। उनकी जटाएँ बड़ी-बड़ी हो गयी थीं, वल्कल पहनते और धरतीपर सोते थे। भगवान् रामने जब भरतकी यह दशा देखी तब उनको बड़ा दुःख हुआ—'महाकारुणिकोऽतप्यज्जटिलं स्थण्डिले शयम्' (३५)।

जिन भगवान् रामको अपने वनमें जानेपर दुःख नहीं, उन्होंने जब सुना कि भरत मेरे लिए इतनी बड़ी तपस्या कर रहे हैं तब उनके हृदयमें बड़ा भारी सन्ताप हुआ। उधर जब भरतजीने सुना कि भगवान् श्रीरामचन्द्र अयोध्या पधार रहे हैं तब पादुका अपने सिरपर रख ली और बाजे-गाजे तथा वेद-पाठके साथ नन्दीग्रामसे पैदल चलकर उनके सामने आये। अयोध्यामें रथ, अश्व, पदाति आदिकी जितनी भी सेना थी सब श्रीरामचन्द्र भगवान्की अगवानीके लिए आयी। भरतने पादुका सिरसे उतारकर रामचन्द्रके सामने रख दी, हाथ जोड़कर खड़े हो गये और श्रीरामचन्द्रने भरतको अपने हृदयसे लगाया। उस समय वे इतने विभोर हो गये कि उनकी आँखोंसे आँसुओंकी धारा बहने लगी—

तमाश्लिष्य चिरं दोर्भ्यां स्नापयन् नेत्रजैर्जलैः ।
रामो लक्ष्मणसीताभ्यां विप्रेभ्यो येऽर्हसत्तमाः ॥ ४०-४१

भगवान् रामने अपने आँसुओंसे भरतजीको स्नान करा दिया। फिर उन्होंने सीता लक्ष्मणके साथ बड़े-बूढ़ोंको नमस्कार किया। समस्त कोसलपुरवासी भगवान् श्रीरामचन्द्रका दर्शन करके आनन्दमें भर गये और उनपर पुष्पवृष्टि करने लगे। भरतजीने उनकी खड़ाऊँ उठा ली। विभीषणने चामर, सुग्रीवने व्यजन, हनुमान्‌ने श्वेतछत्र, शत्रुघ्नने धनुर्निषङ्ग, सीताने तीर्थ-कमण्डलु, अङ्गदने खड्ग और जाम्बवान्‌ने कवच ले लिया। भगवान् श्रीरामचन्द्र उन सबके साथ पुष्पक विमानपर बैठे, अयोध्यापुरी पहुँचे, राजभवन गये और वहाँ जाकर माताओंको नमस्कार किया।

कहीं-कहींपर यह वर्णन मिलता है कि श्रीरामचन्द्र अयोध्या लौटनेपर सबसे पहले कैकेयीके भवनमें गये। चित्रकूटमें भी, जब लोग श्रीरामचन्द्रको मनानेके लिए गये थे तब वे एकान्तमें जाकर कैकेयीजीसे मिले और उनसे कहा कि माता तुमने तो बिल्कुल मेरे मनकी बात की है। तुम्हारे सिवाय मेरा इतना उपकार करनेवाला दुनियामें और कोई नहीं था, जो मुझको देवताओं और ऋषियोंके शत्रुओंका नाश करनेके लिए वनमें भेज देता। माता, तुम्हारे समान मुझसे प्रेम करनेवाला दूसरा कोई नहीं है। यह कौसल्या माताका काम नहीं था कि वे वनमें भेजकर मेरे मनोरथकी पूर्ति कर देतीं।

देखो, एक बार भरतजीने जब भगवान् रामके सामने कैकेयीजीपर कटाक्ष किया तो उन्होंने उनको यही उत्तर दिया कि माता कैकेयीको दोष वे ही लोग लगाते हैं, जिन्होंने स्वप्नमें भी साधु-सभाका सेवन नहीं किया है—

दोसु देहिं जननिहि जड़ तेई। जिन्ह गुर साधु सभा नहिं सेई॥

रामचरितमानस तो ऐसा ग्रन्थ है, जिसमें-से किसी भी पात्रको रामका विरोधी बता सकना सम्भव नहीं। यदि विचार करके देखे तो उसका रावण भी रामभक्त है। वह जानकीजीको माता मानता है—'मन महुँ चरन बन्दि सुख माना।' रामचरितमानसका मारीच भी प्रेमी है—'अन्तर प्रेम तासु पहिचाना।' वास्तवमें कोई भगवान् रामसे वैर कैसे कर सकता है? वेदान्ती लोग इस बातको जानते हैं। जो वेदान्ती नहीं हैं, वे ही नहीं जानते। वेदान्ती कहते हैं कि

सबका अपने आत्मासे प्रेम है और श्रीरामचन्द्र भगवान् सबके आत्मा ही हैं। ऐसा सृष्टिमें कौन हो सकता है जो अपने आत्मासे प्रेम नहीं करता? इस दृष्टिसे रामचरितमानसका अध्ययन करनेपर जितने भी पात्र हैं, वे सबके सब श्रीरामचन्द्र भगवान्से प्रेम करते हैं—

देखन कहुँ प्रभु करुना कंदा। प्रगट भए सब जलचर बृंदा॥
तिन्हकी ओट न देखिअ बारी। मगन भए सब रूप निहारी॥
× × ×
जिन्हहिं निरखि मग साँपिनि बीछी। तजहिं बिषम बिष तामस तीछी॥

खर, दूषण, रावण आदि राक्षसों और बन्दर-भालुओंकी तो स्थिति ही न्यारी है। सनत्कुमार और ब्रह्मज्ञानी जनकराजकी बात भी छोड़ दो। यहाँ तो साँप, बिच्छू, जलचर, थलचर, नभचर जितने भी जीव हैं, सबके सब भगवान् श्रीरामचन्द्रसे प्रेम करते हैं। वे तो प्रेमकी मूर्ति हैं।

माता कैकेयीजी भी भगवान् रामसे बहुत प्रेम करती हैं। यह बात श्रीरामचन्द्र भगवान्ने स्वयं कही है।

तो, जब भगवान् श्रीरामचन्द्र रनिवासमें पहुँचे तब उन्होंने सीता-लक्ष्मणके साथ सबसे यथावत् व्यवहार किया—

गुरून् वयस्यावरजान् पूजितः प्रत्यपूजयत्।
वैदेहीलक्ष्मणश्चैव यथावत् समुपेयतुः॥ ४७

उस समय उनको देखकर माताएँ ऐसे उठकर खड़ी हो गयीं, जैसे उनके मरे हुए शरीरमें प्राण आगये हों—

पुत्रान् स्वमातरस्तांस्तु प्राणांस्तन्व इवोत्थिताः।
आरोप्याङ्केऽभिषिञ्चन्त्यो बाष्पौघैर्विजहुः शुचः॥ ४८

माताओंने उनकी इतनी बड़ी उम्र होनेपर भी, गोदमें ले लिया और उनके ऊपर आँसू

गिराने लगीं। देखो, माताओंकी गोदमें बैठे हैं श्रीराम, सीता और लक्ष्मण तथा उनके सिरपर आँसुओंकी धारा गिर रही है, मानो उनका अभिषेक आँसुओंसे ही हो रहा है।

इसके बाद उनकी जटाएँ उतारकर और उनको वस्त्राभूषणसे भूषित करके चारों समुद्रोंके जलसे उनका अभिषेक हुआ। वे राजचिह्नोंसे अलंकृत हुए। उनके राज्यमें सारी प्रजा वर्णाश्रम धर्मसे युक्त थी। जैसे पिता अपने पुत्रकी रक्षा करता है, वैसे ही श्रीरामचन्द्र भगवान् प्रजाकी रक्षा करते थे। प्रजा भी उनको पिता मानती थी। त्रेतामें सत्ययुग जैसा समय हो गया। जब भगवान् श्रीरामचन्द्र राजा हुए तब वन, नदी, पर्वत, समुद्र—ये सब कामधेनु हो गये और आधि, व्याधि, जरा, ग्लानि, दुःख, शोक, भय—सबकी निवृत्ति हो गयी।

मृत्युश्चानिच्छतां नासीद् रामे राजन्यधोक्षजे। ५४

रामराज्यमें ऐसा हो गया कि जो मरना नहीं चाहते थे, उनकी मृत्यु नहीं होती थी।

एकपत्नीव्रतधरो राजर्षिचरितः शुचिः। ५५

देखो. अमुक स्त्री पतिव्रता है—इसका वर्णन तो बहुत मिलेगा। एक पुरुषसे प्रेम करके पत्नी कल्याणको प्राप्त करती है। लेकिन भगवान् रामचन्द्रके राज्यमें सब-की-सब स्त्रियाँ पतिव्रता थीं। श्रीरामचन्द्र भी एक-पत्नीव्रतधर थे, उन्होंने एक-पत्नीव्रतका पालन किया। उनके बाप-दादाओं आदिके सम्बन्धमें तो कोई नहीं कह सकता कि वे सब एक-पत्नीव्रतधारी थे। किन्तु श्रीरामचन्द्रने अपनी भावी पीढ़ीके राजाओंके लिए एक नवीन आदर्श स्थापित किया। वे राजर्षि थे। गृहस्थ-धर्ममें रहकर कैसा आचरण करना चाहिए, उन्होंने यह सिखाया।

सीताजी भी भगवान् रामसे बहुत प्रेम करती थीं। परन्तु वह सूखा प्रेम नहीं था। कुछ लोग जबानी जमाखर्च जैसा प्रेम करते हैं। देखकर मुस्कुरा देते हैं, मीठी बात कर लेते हैं और कहते हैं कि हमारा तुमसे बहुत प्रेम है। किन्तु सीताजी अनुवृत्त्या—सेवाके द्वारा—प्रेम करती थीं। उनका शील-स्वभाव विलक्षण था। उनमें विनय था, सतीत्व था, बुद्धि और लज्जा थी। वे अपने पतिके मनोभावोंको समझती थीं और ऐसे-ऐसे सेवाकार्य करती थीं, जिनके कारण श्रीरामचन्द्रका मन श्रीरामचन्द्रके पास नहीं रह पाता था। उनके मनको श्रीजानकीजी हमेशा अपनी मुट्ठीमें रखती थीं—'भर्तुः सीताऽहरन्मनः (५६)।'



श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि परीक्षित, भगवान् श्रीरामचन्द्रने बड़े-बड़े यज्ञ किये और चारों दिशाएँ पुरोहितोंको दान कर दीं। पुरोहितोंने कहा कि महाराज, हम इन्हें लेकर क्या करेंगे ? आप हमारी ओरसे इनपर राज्य कीजिये, आपने हमको क्या नहीं दे रखा है ? आप तो हमारे हृदयमें प्रवेश करके अज्ञानको दूर करते हैं। आपकी मेवा अकुण्ठ है, आप उत्तम-श्लोकधुर्य हैं, ब्रह्मदेव हैं। हम सब आपको नमस्कार करते हैं। 'न्यस्तदण्डार्पिताङ्घ्रये (७)'— भगवान् श्रीरामने अपना शरीर तो अपने पास रखा, लेकिन अपने चरणकमल संन्यासियोंको दे दिये और बोले कि जहाँ तुम ले जाओगे वहाँ मैं आऊँगा और जहाँ रखोगे वहाँ रहूँगा। इसप्रकार उन्होंने अपनी गति-मति सर्वथा संन्यासियोंके अधीन कर दी।

न्यस्तदण्डका अर्थ है दण्ड-भावनाकी निवृत्ति कर देनेवाला। जो अपने जीवनमें यह सङ्कल्प ले लेता है कि चाहे दुनियामें कोई कुछ करे—बड़े-से-बड़ा अपराध करे लेकिन मैं उसको दण्ड नहीं दूँगा, उसे न्यस्तदण्ड कहते हैं। जब संन्यास-ग्रहण किया जाता है तब उसका खास मन्त्र होता है—'प्रैषोच्चारण'। उसमें यह सङ्कल्प किया जाता है कि अब संसारके सब प्राणी मुझसे निर्भय हो जायें, मैं किसीको भी दण्ड देनेवाला नहीं हूँ। यदि दण्डी स्वामी अपना दण्ड छोड़ दें तो उनका नाम न्यस्तदण्ड नहीं है। अपितु जो संसारमें किसीको भय न पहुँचायें, दण्ड न दें, उनका नाम न्यस्तदण्ड है। ऐसे महापुरुषोंके हृदयमें ही भगवान्के चरणारविन्द रहते हैं।

राजाका काम होता है अपनी प्रजाके मनकी बातका पता लगाते रहना। एक दिन भगवान् राम रातमें अकेले घूम रहे थे तो उन्होंने सुना कि कोई व्यक्ति अपनी पत्नीको डाँट-फटकार रहा है और कह रहा है कि 'तुम रातको दूसरेके घरमें रहकर आयी हो, इसलिए मेरे घरसे निकल जाओ। मैं रामकी तरह स्त्री-लोभी नहीं कि तुमको अपने घरमें रख लूँ।'

यहाँ देखो, इस प्रसङ्गका एक अर्थ यह भी निकलता है कि श्रीजानकीजीके प्रति

श्रीरामचन्द्रजीका अत्यधिक प्रेम देखकर गाँवके लोग उनको स्त्री-लोभी समझते थे। उनको ऐसा लगता था कि ये तो बिल्कुल सीताजीके वशमें हैं और इसीके कारण उनको रावणके यहाँसे लाकर भी अपने घरमें रखते हैं।

लेकिन भगवान् राम तो लोकाराधन-तत्पर हैं। किसीने उनसे पूछा कि प्रभो, आप किसकी आराधना करते हैं? आपका इष्टदेव कौन है? इसपर श्रीरामचन्द्रने कहा—यह लोक ही हमारा इष्टदेव है। भागवतमें भी भगवान्‌को 'उपासितलोकाय' कहा गया है। उसका अर्थ है 'उपासितो लोको येन' अर्थात् जिसके द्वारा लोककी उपासना होती है। भगवान् श्रीकृष्ण तो रोज सबेरे उठकर ध्यान कर लेते थे कि मैं ब्रह्म हूँ और फिर दिनभर जो मौज होती थी, वह करते थे। यह श्रीकृष्ण भगवान्‌का स्वभाव था। परन्तु श्रीरामचन्द्र भगवान् ऐसे नहीं थे। वे तो दिनभर, चौबीसों घण्टे लोकाराधन अर्थात् लोकरूप ईश्वरकी आराधना करते थे—'आराधनाय लोकस्य मुञ्चतो नास्ति मे व्यथा।

इसलिए भगवान् रामचन्द्रने यह विचार किया कि जब हमारे इष्ट लोकदेव ऐसा कहते हैं, तब यही उचित है कि हम सीताको बाहर भेज दें। उन्होंने आज्ञा की कि सीताको वाल्मीकिके आश्रममें भेज दो। वे भेज दी गयीं। परन्तु उन दिनों गर्भवती थीं, इसलिए वहाँ जाकर उन्होंने लव, कुश नामक दो पुत्रोंको जन्म दिया। इधर लक्ष्मणके अङ्गद, चित्रकेतु, भरतके तक्ष, पुष्कल और शत्रुघ्नके सुबाहु, श्रुतसेन नामक दो-दो पुत्र हुए।

कोई यह न समझे कि भरतजी जटा बढ़ाकर केवल सीताराम-सीताराम करते थे। वे बहुत बहादुर भी थे। कभी-कभी उन्हें बाणोंका भी प्रयोग करना पड़ता था। वे गन्धर्वोंको जीतकर उनका धन ले आये थे। शत्रुघ्नने भी मधु तथा मधुके पुत्र लवणको जीत लिया था और मथुरा-पुरी बसायी थी।

श्रीशुकदेवजी महाराज आगे कहते हैं कि श्रीजानकीजी वाल्मीकिके पास अपने दोनों पुत्रोंको छोड़कर श्रीराम-चरणोंका ध्यान करती हुई पातालमें प्रविष्ट हो गयीं। कहीं-कहीं ऐसा वर्णन आता है कि जिस समय श्रीरामचन्द्र यज्ञ कर रहे थे, उस समय श्रीजानकीजी यज्ञभूमिमें आयीं और उन्होंने भरी सभामें कहा कि यदि मैंने अपने मनमें श्रीरामचन्द्रके सिवाय किसी दूसरे पुरुषका कभी चिन्तन न किया हो तो पृथिवी देवी मुझे अपना विवर दान करें—'विवरं दातुमर्हति' (रामा० उत्तर० ९७.१६)। उनके यह कहते ही धरती फट गयी और वे पातालमें प्रविष्ट हो

गयीं। जिस प्रकार राम एक-पत्नीव्रत थे उसी प्रकार श्रीजानकीजीने मनसे भी कभी किसी पर-पुरुषका चिन्तन नहीं किया।

तो जब श्रीजानकीजी पाताल लोक चली गयीं तब श्रीरामचन्द्रको बड़ा भारी शोक हुआ। उनसे वियोग सहन न हो सका। असलमें स्त्री-पुरुषका प्रसङ्ग बड़ा त्रासदायक है। इसीलिए यहाँ श्रीशुकदेवजी महाराज भी तुरन्त एक टिप्पणी कर देते हैं कि परीक्षित स्त्री-पुरुषकी आसक्ति हमेशा दुःखदायिनी होती है।

श्रीजानकीजीके पाताल-प्रवेशके पश्चात् श्रीरामचन्द्र ब्रह्मचर्य-व्रत धारण करके हजारों बरसों तक विद्यमान रहे और अपना स्मरण करनेवाले भक्तोंके हृदयोंमें अपने उन चरणारविन्दोंको स्थापित करके, जिनमें दण्डकारण्यके काँटे गड़े हुए थे, स्वयं प्रकाश ज्योतिर्मय धाममें चले गये।

स्मरतां हृदि विन्यस्य विद्धं दण्डककण्टकैः।
स्वपादपल्लवं राम आत्मज्योतिरगात् ततः॥ १९

भगवान्के पादपल्लवोंमें दण्डकारण्यके काँटे क्यों गड़े? इसलिए गड़े कि वे मुनियोंकी रक्षाके लिए, धर्मकी रक्षाके लिए नंगे पाँव दण्डकारण्यमें घूमते रहे। उनके सुकुमार चरणारविन्दोंमें काँटे गड़े-तो-गड़े, लेकिन उन्होंने उनकी परवाह न करके घूम-घूमकर सबकी रक्षा की। ऐसे जो भक्तवत्सल हैं, कर्मरक्षक हैं, ऋषि-मुनियोंके प्रेमी हैं, उनके समान और कोई नहीं। उनसे बढ़कर तो कोई हो ही कैसे सकता है! उन्होंने देवताओंकी प्रार्थनापर ही यह लीलाविग्रह धारण किया। उनके लिए यह कोई कीर्तिकी बात नहीं कि उन्होंने समुद्रको बाँध लिया और शत्रुओंको मारनेमें कपियोंकी सहायता ली। यह सब तो उनकी लीला ही थी। सम्पूर्ण त्रिलोकोमें उनके यशका गान होता है और उससे सारे पाप दूर हो जाते हैं। उन्हीं रघुपति रामकी हम शरण ग्रहण करते हैं।

अब श्रीशुकदेवजी महाराज एक ऐसा श्लोक बोलते हैं जो बहुत ही अद्भुत है। अन्यत्र ऐसा श्लोक मिलना मुश्किल है—

स यैः स्पृष्टोऽभिदृष्टो वा संविष्टोऽनुगतोऽपि वा।
कोसलास्ते ययुः स्थानं यत्र गच्छन्ति योगिनः॥ २२

इसका अर्थ है कि जिसने श्रीरामचन्द्रको कभी छू दिया था, यहाँतक कि उनके शरीरपर कोई मक्खी-मच्छर बैठ गया था, किसी चिड़ियाने पेड़पर बैठे-बैठे उनको देख लिया था, उनकी शय्यापर कोई खटमल आदि आगया था अथवा कोई कीड़ा-मकोड़ा उनके पीछे-पीछे उड़ा था तो वह भी वहाँ पहुँच गया, जहाँ बड़े-बड़े योगी जाते हैं; उनको भी वही गति प्राप्त हो गयी जो योगियोंको प्राप्त होती है। जो रामचरित्र सुनता है, उसके जीवनमें सद्‌गुण आते हैं और उसका परमकल्याण होता है।

अब परीक्षितके पूछनेपर श्रीशुकदेवजी महाराज वर्णन करते हैं कि भगवान् श्रीरामके आदेशसे उनके तीनों भाइयोंने दिग्विजय किया। भगवान् श्रीरामचन्द्रकी पुरी—अयोध्याजी बड़ी सजी-सजायी रहती थी। वहांके प्रासाद, पुरद्वार और सभामण्डप आदि सब-के-सब साफ-सुथरे, स्वर्णपताका एवं कलश आदिसे सुशोभित रहते थे। भगवान् अपनी पुरीकी देखभाल स्वयं करते थे। जब भगवान् राम महलसे बाहर निकलकर पुरीमें विचरण करते तो लोग उन्हें तरह-तरहकी भेंट लाकर देते और उनके ऊपर पुष्पोंकी वर्षा करते थे। इस प्रकार भगवान् श्रीरामचन्द्र अपने महलमें बहुत आनन्दसे निवास करते थे।

तस्मिन् स भगवान् रामः स्निग्धया प्रिययेष्टया।
रेमे स्वारामधीराणामृषभः सीतया किल॥ ३५

परीक्षित, श्रीजानकीजी भगवान् श्रीरामकी स्निग्ध प्रिया हैं, स्नेह-सन्निधान हैं, स्नेह-सिक्त हैं और इष्टदेवी हैं। वे उनके साथ विहार करते हैं। परन्तु हैं वे आत्माराम और धीरोंमें शिरोमणि। इसलिए उनके द्वारा कभी भी धर्मकी मर्यादाको क्षति नहीं पहुँचती थी।



श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि परीक्षित, भगवान् रामके पुत्र कुश-लवके वंशका भी विस्तार हुआ। उसमें आगे चलकर अग्निवर्ण हुआ और अग्निवर्णसे शीघ्र और शीघ्रसे मरुकी उत्पत्ति हुई। मरु अभी भी कलापग्राममें रहकर तपस्या कर रहा है। कलियुगके अन्तमें वह फिर सूर्यवंशको प्रचारित करेगा। फिर उसकी वंशावली किस प्रकार चलेगी, उसका वर्णन भी श्रीशुकदेवजी महाराजने कर दिया है और कहा है कि यह वंश आगे चलकर कलियुगमें राजा सुमित्रतक चलेगा। उसके बाद इस वंशका अन्त हो जायेगा।

विस्तार-दृष्टिसे कुशके अतिथि उसका निषध, निषधसे नभ, नभके पुण्डरीक और पुण्डरीकके क्षेमधन्वा। क्षेमधन्वासे देवानीक, देवानीकका अनीह, अनीहका पारियात्र, पारियात्रका बलस्थल और बलस्थलका पुत्र हुआ वज्रनाभ। यह सूर्यका अंश था। वज्रनाभसे खगण, खगणसे विधृति और विधृतिसे हिरण्यनाभकी उत्पत्ति हुई। वह जैमिनिका शिष्य और योगाचार्य था। कोसलदेशवासी याज्ञवल्क्य ऋषिने उसकी शिष्यता स्वीकारकर अध्यात्मयोगकी शिक्षा ग्रहण की।

मरुसे प्रसुश्रुत उससे सन्धि और सन्धिसे अमर्षणका जन्म हुआ। अमर्षणका महस्वान् और महस्वान्का विश्वसाह्व। विश्वसाह्वका प्रसेनजित, प्रसेनजितका तक्षक और तक्षकका पुत्र बृहद्बल हुआ ? इस बृहद्बलको अभिमन्युने युद्धमें मार डाला।



: १३ :

श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि परीक्षित, इक्ष्वाकुके पुत्र निमि थे। उन्होंने यज्ञका आयोजन करके महर्षि वसिष्ठको ऋत्विज्के रूपमें वरण किया। किन्तु वसिष्ठने कहा कि मुझे इन्द्रने पहलेसे ही अपने यज्ञके लिए वरण कर लिया है। इसलिए उनका यज्ञ सम्पन्न करके लौटूँगा तब तुम्हारा यज्ञ प्रारम्भ करूँगा। तुम मेरी प्रतीक्षा करो। यह कहकर वे इन्द्रका यज्ञ कराने चले गये। निमि पहले तो चुप रहे, बादमें उन्होंने विचार किया कि यह शरीर तो अनित्य है। गुरुजी आयें तबतक यह रहे या न रहे। इसलिए उन्होंने यज्ञ प्रारम्भ कर दिया।

देखो एक ओर तो गुरु वसिष्ठ हैं और दूसरी ओर शिष्य निमि हैं। दोनों अपने-अपने स्थानपर ठीक थे। वसिष्ठजीने भी कोई अनुचित नहीं किया। पहले जिसका यज्ञ स्वीकार किया था उसके यहाँ जाना जरूरी था। परन्तु शिष्य भी तो बहुत वैराग्यवान् है और कहता है कि इस नाशवान् संसारमें यज्ञ टालना नहीं चाहिए।

वसिष्ठजी जब लौटे तो उन्होंने देखा कि निमिने अपने गुरुको छोड़कर दूसरेसे यज्ञ करवा लिया और ऐसा करके अन्याय किया। इसलिए उन्होंने शाप दे दिया कि निमिका शरीर गिर जाये। निमिने भी कहा कि आप लोभवश बड़े यजमानके घर चले गये और मेरा यज्ञ नहीं कराया, इसलिए आपका शरीर भी गिर जाये।

यहाँ देखो, देखनेमें तो गुरु शिष्यका शाप-प्रतिशाप लगता है। लेकिन आगे दोनोंका शरीर दिव्य होना है, आयोनिज होना है। दोनोंके शरीरोंको अयोनिज बनाकर ही निमिवंशमें श्रीजानकीजीका जन्म होना है। यह वंश योनिज न हो—भौतिक न हो और अयोनिज हो जाये, वहाँतक उसको पहुँचा देना है। इसलिए वसिष्ठ-निमिके शाप-प्रतिशाप उसके निमित्त बन गये।

तो जब निमिका शरीर-पात हो गया तब ऋषि-मुनियोंने उसको गन्ध-द्रव्यमें स्थापित कर दिया। उधर वसिष्ठजीका जन्म मित्रावरुणके स्खलित रेत:से हो गया। इधर देवता लोग निमिके यज्ञमें आये। मुनियोंने उनसे प्रार्थना की कि आप लोग प्रसन्न हैं तो राजाको जीवित कर दें। देवताओंने निमिको जिन्दा कर दिया। लेकिन निमि बोले कि अब मैं शरीरमें रहनेके लिए तैयार नहीं; क्योंकि एक-न-एक दिन यह शरीर छूटता ही है।

देखो कई लोग कहते हैं कि उनका शरीर कभी मरेगा ही नहीं। एक सज्जन तो मेरे सामने ही कहते थे कि मैं तो अजर-अमर हूँ, अनादि हूँ; मैंने वसिष्ठ-विश्वामित्र आदिको अपनी गोदमें खिलाया है और सौ-सौ बार राम-कृष्ण आकर मुझसे वेदान्त पढ़ गये हैं। लेकिन जब समय पूरा हुआ तो वे हमारे सामने ही मर गये। शरीर तो इस सृष्टिमें ब्रह्माका भी रहनेवाला नहीं है। जो पैदा होता है वह मरता है—यह नियम बिलकुल सही है, कभी गलत नहीं होता। 'जो फरा सो झरा, जो बरा सो बुताना'—जो फलता है वह झड़ जाता है और जो जलता है वह बुझ जाता है।

इसलिए निमिने कहा कि अब मुझको यह शरीर नहीं चाहिए। बड़े-बड़े ऋषि-मुनि भी देहका योग नहीं चाहते। जब यह छूट गया तो छूट जाने दो, मैं इसको नहीं पकड़ूँगा। सृष्टिमें सब जगह मृत्यु है। इससे छूटनेके लिए मुनि लोग भगवान्‌के चरण-कमलोंका ध्यान करते हैं। मेरा तो ईश्वर-कृपासे अपने-आप ही छूट गया।

यह सुनकर देवताओंने कहा कि अच्छा मुनियों, आप निमि लोगोंके नेत्रोंमें निवास करें। यह जो निमेष-उन्मेष होगा, पलक गिरेगी-उठेगी, इसीसे इनका पता लगेगा।

इसके बाद महात्माओंने यह सोचकर कि राजाके बिना चोर-डाकू बढ़ जाते हैं, निमिके शरीरका मन्थन किया और उसमें-से एक कुमारकी उत्पत्ति हुई। वह कुमार शरीर-मन्थनसे उत्पन्न होनेके कारण अयोनिज हो गया। जन्मसे ही उसका नाम जनक हुआ। मन्थनसे पैदा होनेके कारण मिथिल हुआ। उसीने मिथिलापुरी बसायी।

जनकसे उदावसु हुए। उसी वंशमें सीरध्वज हुए। सीरध्वजने ही यज्ञके लिए पृथिवीका कर्षण किया था और उनके सीराग्रसे सीताजी पैदा हुई थीं। सीरके कारण ही उनका नाम सीरध्वज हुआ। 'सीते वन्दामहे त्वाम्'—इस प्रकार वेद भगवान् खेतकी हराईकी वन्दना करते हैं।

इस वंशमें महावशीपर्यन्त अध्यात्मविद्या-विशारद मैथिल हुए। उनको सद्गुरुओंका ऐसा संग मिला कि वे घरमें रहकर भी द्वन्द्वोंसे दूर और जीवन्मुक्त रहे।



श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि परीक्षित, तुमने सूर्यवंशका वर्णन सुन लिया, अब पवित्र सोमवंशका वर्णन सुनो। नारायणके नाभि-पद्मसे ब्रह्मा हुए और ब्रह्मासे अत्रि हुए। अत्रि हैं तो ब्रह्माके पुत्र, लेकिन वे त्रिगुणातीत ही रहे। उनकी दृष्टिसे सोम हुए। सोम ब्राह्मणों, ओषधियों एवं नक्षत्रोंके राजा हुए। ब्रह्माजीने ही उनको राजा बनाया। उन्होंने त्रिभुवनको जीत लिया और वे राजसूय यज्ञके द्वारा भगवान्‌की आराधना करने लगे।

अब सोम तो बहुत सुन्दर और बृहस्पति बड़े दार्शनिक, लेकिन स्त्रीको लेकर उनमें बड़ा भारी वाद-विवाद हुआ। अन्तमें बुधकी उत्पत्ति हुई। ताराके कहनेसे बुध चन्द्रमाके वंशमें चले गये, बृहस्पतिके वंशमें नहीं रहे। ब्रह्माने उनका नाम बुध रखा। इस प्रकार चन्द्रमाके पुत्र बुध हुए और बुधके द्वारा इलाके गर्भसे पुरुरवाका जन्म हुआ यह बात मैं तुमको पहले ही बता चुका हूँ। उर्वशी स्वर्गकी अप्सरा थी। उसने नारदजीके द्वारा पुरूरवाके रूप, गुण, औदार्यका वर्णन सुना तो उनपर आसक्त हो गयी।

देखो, उसको स्वर्गमें भोगके लिए इन्द्र आदि देवता प्राप्त हैं। परन्तु मनका ऐसा स्वभाव है कि जो मिल जाता है, उसमें उसकी अरुचि हो जाती है और जो अनमिला होता है, उसको वह चाहता है। 'अभ्येति नवं नवम्'—मनीराम नये-नये शिकार खोजते रहते हैं।

जब मित्रावरुणने देखा कि उर्वशी स्वर्गमें रहकर मृत्युलोकके व्यक्तिसे प्रेम करती है तो उन्होंने उसको शाप दे दिया। वह वहाँसे चलकर पुरूरवाके पास आयी। उसको देखकर पुरूरवा मोहित हो गया, उन्होंने उसका स्वागत-सत्कार किया और उसके सामने प्रस्ताव रखा कि तुम मेरे पास ही रहो। उर्वशीने कहा कि तुम हो बहुत सुन्दर ! तुममें मेरा भी मन लगा हुआ है, लेकिन शर्त यह है कि मेरे ये जो दो भेंड़े हैं, इनकी रक्षा तुम करना। इन्हें खानेके लिए घी देना और सहवासके सिवाय दूसरे समयमें मेरे पास नंगे नहीं आना। राजाने उसकी ये शर्तें मान लीं और वे उसके साथ रहने लगे।

बहुत बरसोंके बाद एक दिन इन्द्रने जब देखा कि स्वर्गमें उर्वशी नहीं है तब उनकी आज्ञासे गन्धर्व आये और उन्होंने उसके दोनों भेंड़ोंको हरण कर लिया। यह देखकर उर्वशी चिल्लाने लगी कि यह राजा तो नपुंसक है, इसीसे हमारे बच्चोंकी चोरी हो गयी। यह सुनकर पुरूरवा हाथमें तलवार लेनेके लिए नंगे ही उठकर खड़े हो गये। इतनेमें बिजली चमकी और उर्वशीने उनको नंगे ही देख लिया। अन्तमें वह उनको छोड़कर चली गयी।

यह कथा वेदमें भी ज्यों-की-त्यों है—असलमें वेदोंका उपबृंहण करनेके लिए ही पुराण हैं। वेदोंमें जो कथाएँ आती हैं, उनको ही ये विस्तारसे सुना देते हैं।

उर्वशीके बिना राजा विह्वल हो गये। बहुत समय बाद वह उनको कुरुक्षेत्रमें मिली। पुरूरवा और उर्वशीके कई सूक्त, मन्त्र ऋग्वेदमें मिलते हैं। उन्होंने कहा कि तुम्हारे बिना मुझको भेंड़िये खा जायेंगे। उर्वशीने उत्तर दिया कि देखो, तुम स्त्रीपर कभी विश्वास नहीं करना। धैर्य धारण करो। मेरे लिए मरो मत। स्त्री किसीसे मैत्री नहीं करती। वह बहुत साहसी होती है। थोड़ी-सी बातके लिए भी पति और भ्रातापर प्रहार कर देती है तथा सौहार्दको छोड़ देती है। नये-नये पुरुषोंको चाहती है। अच्छा एक बरसके बाद तुम मुझको मिल लेना। इसके बाद पुरूरवा उर्वशीको गर्भवती जानकर अपनी पुरीमें चले आये। फिर एक वर्ष बाद कुरुक्षेत्र गये और वहाँ एक रात उर्वशीसे मिले।

उसके पश्चात् उर्वशीकी सलाहसे पुरूरवाने गन्धर्वोंका यजन किया। गन्धर्वोंने उनको एक अग्निस्थाली दी। वे इतने मतवाले हो गये थे कि उन्होंने उसीको उर्वशी मान लिया। जब उन्हें होश आया तब वह स्थाली वनमें रखकर वे अपने घर लौट आये।

त्रेता आनेपर जब उनको कर्मबोधका प्रादुर्भाव हुआ तब वे स्थाली-स्थानमें गये। वहाँ शमीगर्भ अश्वत्थको देखकर उन्होंने अरणियाँ बनायीं। उन्होंने 'अधरा अरणि उर्वशी है और उत्तरा अरणि मैं हूँ'—ऐसा कहकर पुत्रका ध्यान करते हुए मन्थन किया। मन्थनसे अग्निकी उत्पत्ति हुई। उस अग्निको ही उन्होंने पुत्र बना लिया और उर्वशी-लोक प्राप्त करनेकी इच्छासे उसी अग्निके द्वारा अग्निकी आराधना की।

परीक्षित, आदि सत्ययुगमें केवल प्रणवके रूपमें ही वेद था। उसीमें सारी वाणी समायी हुई थी। एक नारायण ही देवता थे। 'एकोऽग्निर्वर्ण एव च'—अग्नि भी एक और हंस नामक वर्ण भी एक ही था।

परीक्षित, त्रेताके प्रारम्भमें पुरूरवासे ही वेदत्रयीकी उत्पत्ति हुई। उन्होंने अग्निको ही पुत्र बनाकर गन्धर्व-लोककी प्राप्ति की।

ग्याहरवें स्कन्धमें यह कथा फिरसे आनेवाली है, जिसमें बताया है कि अन्तमें पुरूरवाको उर्वशीसे वैराग्य हुआ और उन्होंने उसकी गाथा गायी। संसारके भोग चाहे जितने भी हों, उनसे कोई तृप्त नहीं हो सकता। अन्ततोगत्वा उनसे बेचैनी जरूर होगी। आप इस बातको जरा सीधे-सीधे समझें। यह तो साफ है कि हमारा मन हमारे शरीरके भीतर रहता है। सब लोग इस बातको समझते हैं। यदि आप शरीरसे बाहर किसी भी वस्तुसे प्रेम करेंगे तो उसमें अपने मनको जोर-जबरदस्तीसे लगाना पड़ेगा। जब नींद लेनी होगी तब वह उसको छोड़कर फिर अपने भीतर लौट आयेगा। चाहे कोई कितना भी प्यारा हो, वह सुषुप्तिके समय छूट ही जायेगा। उसको छोड़े बिना विश्राम मिलनेवाला नहीं है। आपको निश्चित रूपसे यह समझ लेना चाहिए कि यदि आप ऐसी किसी चीजसे प्रेम करेंगे जो आपके हृदयमें नहीं है, हृदयसे बाहर है तो वह छोड़नी पड़ेगी और फिर छोड़नेमें बेचैनी होगी। बिना उसको छोड़े आप शान्तिसे—सुखसे कभी शयन नहीं कर सकते। किन्तु यदि आप अपने हृदयमें रहनेवाले अन्तरात्मा नारायणसे प्रेम करेंगे—अपने आपमें बैठेंगे तो शान्तिसे रहेंगे। यदि आप अपने आपको और हृदयमें रहनेवाले अन्तर्यामी नारायणको छोड़कर बाहर कहीं प्रेम करने जायेंगे तो वहाँसे पीट-पीटकर भगाये जायेंगे। भले ही बाहरवाली वस्तुका नाम कुछ भी हो, सुषुप्तिमें सबको छोड़ना पड़ता है।

जब पति-पत्नी अथवा पिता-पुत्र दोनों एक पलंगपर सो जाते हैं तब क्या एकको दूसरेकी याद रहती है? संसारमें सोने, चाँदी, मकान, स्त्री, पुत्र, मित्र आदिसे जितना भी प्रेम है, वह तो उसी तरह है, जिस तरह हम प्याऊ या क्लबमें किसीके साथ दोस्ती करके घण्टे-आध घण्टे बातचीत कर लेते हैं और फिर उसको छोड़कर हमें चल देना पड़ता है। बाहरी वस्तुके प्रति जो भी प्रीति है, उसको छोड़ना ही पड़ता है।

इसीलिए पुरूरवाको भी अन्तमें उर्वशीसे वैराग्य धारण करके अपने आत्माका—परमात्माका साक्षात्कार करना पड़ा।



श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि परीक्षित, उर्वशीके गर्भसे पुरूरवाके छह पुत्र हुए—आयु, श्रुतायु, सत्यायु, रय, विजय और जय। इन सबका वंश चला। इस वंशमें आगे चलकर कुशाम्बुकी उत्पत्ति हुई। कुशाम्बुके गाधि हुए।

गाधिकी कन्या सत्यवती हुई। ऋचीकने उसकी याचना की, परन्तु गाधिने सोचा कि वर तो पुत्रीके अनुरूप होना चाहिए। इसलिए उन्होंने ऋचीकसे कहा कि ऐसे हजार घोड़े लाओ जिनका एक-एक कान काला हो, तब हम तुम्हें अपनी लड़की देंगे। ऋचीक वरुणके पास चले गये, वहाँसे घोड़े ले आये और लाकर गाधिको दे दिये। फिर सत्यवतीसे विवाह कर लिया। ऋचीककी पत्नी और सास दोनोंके मनमें सन्तानकी कामना थी। इसलिए उन्होंने चरु पकाया।

देखो, पहलेके लोग रसायन विद्यामें भी निपुण थे। यह प्रक्रिया उनके ध्यानमें रहती थी कि किस चरुसे ब्राह्मण बेटा होगा और किस चरुसे क्षत्रिय बेटा होगा। उपनिषदोंमें भी यह वर्णित है कि यदि कोई वीर-पुत्र चाहता हो तो उसे किस ढंगसे क्या करना चाहिए?

ऋचीक चरु पकाकर स्नान करने चले गये थे और उनके लौटनेमें कुछ देर हो गयी थी। सत्यवतीकी माताने कहा कि बेटी तुम्हारे लिए उन्होंने बढ़िया चरु बनाया होगा, इसलिए वह तुम मुझको दे दो। सत्यवतीने दे दिया। बेटीका चरु माताने खा लिया और माताके लिए जो चरु था वह बचा रह गया। मुनिने लौटकर सुना तो कहा कि यह क्या किया तुम लोगोंने? यह तो उलटा हो गया। जिसमें मैंने ब्राह्मण रखा था, वह क्षत्रियके हाथ चला गया और जिसमें क्षत्रिय रखा था वह ब्राह्मणके लिए रह गया। इसलिए सत्यवती, अब तुम्हारा बेटा तो दण्डधारी होगा और तुम्हारा भाई ब्रह्मज्ञानी होगा। जब सत्यवतीने प्रार्थना की कि ऐसा नहीं होना चाहिए, तब बोले कि अच्छा चलो, एक पीढ़ीके लिए मैं उसको दबा देता हूँ। लेकिन जो बीज रहेगा, वह तो निकलेगा जरूर। तुम्हारा पौत्र बड़ा भयंकर होगा।

परीक्षित, ऋचीक द्वारा सत्यवतीके गर्भसे जमदग्नि ऋषि पैदा हुए और सत्यवती कौशिकी नदी हो गयी। जमदग्निका विवाह रेणुकासे हुआ। रेणुकासे कई पुत्र हुए। उनमें सबसे छोटे

परशुरामजी थे। उनको वासुदेवका अंश बोलते हैं। उन्होंने इक्कीस बार पृथिवीको निःक्षत्रिय किया। जब क्षत्रिय और ब्राह्मण दोनों मिलकर धर्मकी रक्षा करते हैं, तब धर्मकी रक्षा होती है।

नाब्रह्म क्षत्रमृध्नोति नाक्षत्रं ब्रह्म वर्धते।

ब्राह्मणके बिना क्षत्रियकी वृद्धि नहीं होती और क्षत्रियके बिना ब्राह्मणकी वृद्धि नहीं होती। जब एक दूसरेके साथ अन्याय करने लगते हैं तब उनमें संघर्ष हो जाता है। संघर्ष होनेसे धर्मकी हानि होती है।

अब राजाके पूछनेपर श्रीशुकदेवजी महाराजने बताया कि हैहयोंका अधिपति था कार्तवीर्य अर्जुन। उसने दत्तात्रेयजी को प्रसन्न किया था। बड़ा भारी यश था उसका। उसमें अणिमादि शक्तियाँ थीं। एक बार वह रेवा नदीमें क्रीड़ा कर रहा था।

देखो, कोई-कोई नर्मदा और रेवा इन दोनोंको पर्यायवाची शब्द मानते हैं और कहते हैं कि जो नर्मदा है, वही रेवा है। कोई-कोई कहते हैं कि रेवा नामकी नदी रीवाँके पास नर्मदामें आकर मिलती है।

तो कार्तवीर्यने अपनी सहस्र भुजाओंसे नदीके प्रवाहको रोक दिया। वहाँ रावण पूजा-पत्री करनेके लिए आया था। उसने जो सामग्री फैलायी थी, वह सब बह गयी। इसपर रावणको क्रोध आगया और वह कार्तवीर्य अर्जुनके पास गया। कार्तवीर्य अर्जुनने रावणको पकड़ लिया, अपने घर ले जाकर बन्द कर दिया और कुछ समय बाद अवज्ञापूर्वक छोड़ दिया।

एक दिन कार्तवीर्य अर्जुन अपने सैनिकोंके साथ जमदग्नि ऋषिके आश्रमपर पहुँच गये। जमदग्नि ऋषिके पास कामधेनु थी, जिसके प्रतापसे उन्होंने कार्तवीर्यका खूब स्वागत-सत्कार किया और उनको खिलाया-पिलाया।

यहाँ देखो, राजा या मन्त्री लोग आयें, प्रणाम करें, दर्शन करें और चले जायें—यह तो बहुत ठीक है। लेकिन जब उनका बहुत स्वागत-सत्कार किया जाता है, तब वे अपनेको बहुत महत्त्वपूर्ण मानने लगते हैं और समझते हैं कि हम तो साधु-महात्माओंसे भी भी बड़े हैं।

यही मनोदशा कार्तवीर्यकी हुई। उसने सोचा यह साधु होकर मेरी इतनी बड़ी सेनाका आतिथ्य कर रहा है। इसके पास इतना सामर्थ्य कहाँसे आया? यह सब कामधेनुका फल है,

इसलिए क्यों न हम इसको छीन लें ? उसने सेनाको हुकुम दिया कि कामधेनुको छीनकर ले चलो। वे सब कामधेनुको बलात् महिष्मती ले गये।

इधर जब परशुरामजी आश्रममें आये और उनको कार्तवीर्यकी दुष्टताका समाचार ज्ञात हुआ तब उन्होंने अपना फरसा उठाया और अकेले ही महिष्मती पहुँचकर कार्तवीर्यकी सत्रह अक्षौहिणी सेनाको काटकर नदीमें बहा दिया। जब कार्तवीर्य सामने आया तब परशुरामजी उसके हाथ भी काटने लगे और अन्तमें उसका सिर नष्ट कर दिया। अब तो कार्तवीर्यके बेटे भाग गये। परशुरामजी कामधेनुको अपने आश्रमपर ले आये और अपने पिता जमदग्निको सब हाल बताया। परन्तु जमदग्निपर उसका कोई अच्छा प्रभाव नहीं पड़ा।

देखो, कभी-कभी ऋषि लोग भी भगवान्के काममें दोष निकालने लगते हैं। लेकिन दोष निकालनेवाला कोई भी हो, उसका अनिष्ट होता है। क्योंकि भगवान् जो करते हैं, वह बिल्कुल ठीक करते हैं। परशुरामजीने सहस्रबाहु कार्तवीर्य अर्जुनको मारकर बिल्कुल उचित किया था। एक ब्राह्मणके आश्रममें कोई राजा सेना सहित आये, ब्राह्मण अपनी कामधेनु सहित उस राजाका आतिथ्य-सत्कार करे और राजा ब्राह्मणसे बिना माँगे ही कामधेनुको छीनकर चलता बने तो ऐसा राजा क्या कभी अपनी प्रजाकी कोई भलाई कर सकता है ? ऐसा राजा तो बिल्कुल मारने योग्य ही है।

लेकिन जमदग्निजी अपने महात्मा-भावमें कहने लगे—अरे परशुराम तुमने बहुत भारी पाप किया कि राजाको मार दिया। हम ब्राह्मण हैं और क्षमाके कारण हो पूज्य हैं। क्षमाके द्वारा ही ब्रह्माजी पारमेष्ठ्य पदको प्राप्त हैं। ब्राह्मणकी शोभा क्षमामें ही है।

क्षमिणामाशु भगवांस्तुष्यते हरिरीश्वरः। ४०

जो क्षमा करता है, भगवान् उसीपर प्रसन्न होते हैं। तुमने बहुत बुरा काम किया। राजाका वध ब्राह्मण-हत्यासे भी बढ़कर है। इसलिए जाओ, भगवत्स्मरणपूर्वक तीर्थोंका भ्रमण करते हुए अपने पापका प्रायश्चित्त करो।



श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि परीक्षित, पिता जमदग्निकी आज्ञासे परशुरामजी प्रायश्चित्त करने चले गये और संवत्सरपर्यन्त तीर्थाटन करनेके पश्चात् लौट आये।

देखो, जमदग्निने परशुरामको तो क्षमाका उपदेश दिया, लेकिन स्वयं उनके अन्दर कितनी क्षमा है, इसकी परीक्षाका अवसर आगया।

उनकी पत्नी रेणुका गंगाजीमें जल भरनेके लिए गयीं। वहाँ चित्ररथ गन्धर्वको देखकर उनके मनमें उसके प्रति थोड़ी वासनाका उदय हो गया और उसको देरतक देखती रह गयीं।

जब रेणुका घर आयीं तब जमदग्नि बहुत नाराज हुए। बेटोंको बुलाकर बोले कि इसको मार दो। दूसरे पुत्रोंने तो मारना स्वीकार नहीं किया, लेकिन परशुरामने कहा कि आपने एक दुष्ट क्षत्रियके मारनेको तो बहुत बुरा बताया था, लेकिन मैं आपकी आज्ञासे अपनी माँको ही मार डालता हूँ। जमदग्नि बोले कि तुम्हारे भाइयोंने बात नहीं मानी है, इसलिए उनको भी मार दो। परशुरामजीने अपनी माता और भाइयोंको मार दिया।

अब जमदग्निजी बहुत प्रसन्न हुए और बोले कि परशुराम, वर माँग लो। परशुरामने कहा कि ये सब जिन्दा हो जायें और मैंने जो इनको मारा है, इसकी इन्हें याद न रहे। इस प्रकार परशुरामजीने अपनी बुद्धिसे जमदग्निके क्रोधको निष्फल कर दिया। वे सब जीवित हो उठे। परशुरामजीने जानबूझकर ही ऐसा किया था, क्योंकि उनको अपने पिताकी शक्तिका पता था।

एक बार परशुरामजी अपने भाइयोंके साथ कहीं वनमें चले गये और राजा कार्तवीर्यके बचे हुए बेटे आश्रममें आगये। उन्होंने देखा कि जमदग्नि समाधिमें बैठे हुए हैं। उनको मालूम था कि ये वही जमदग्नि हैं, जिन्होंने उनके पिता सहस्रबाहु कार्तवीर्य अर्जुनका वध करनेपर परशुरामको बहुत फटकारा था, फिर भी उन पापियोंने उनको मार दिया और उनका सिर काटकर ले गये। रेणुका हाथ जोड़ती रह गयी। उन्होंने छाती पीट-पीटकर चिल्लाना आरम्भ

किया। उस समय परशुरामजी आश्रमपर लौट रहे थे, इसलिए उन्होंने दूरसे ही माताका करुण क्रन्दन सुन लिया। परशुरामजीने जल्दीसे आश्रम पहुँचकर दृश्य देखा तो उनको बड़ा भारी क्रोध आया। उन्होंने कहा कि मैं सम्पूर्ण क्षत्रियोंका ही संहार कर दूँगा।

यहाँ देखो, ऋचीक द्वारा तैयार चरुके परिवर्तनका परिणाम! ब्राह्मणत्व तो जमदग्निमें आगया और पौत्र परशुराममें क्षत्रियत्व आगया। ये परशुराम ही भगवान्‌के आवेशावतार हैं। आवेशावतारके अतिरिक्त भी और कई तरहके अवतार होते हैं। जैसे अंशावतार, कलावतार, स्फूर्ति-अवतार, वैभव अवतार, प्राभव अवतार और अर्चावतार आदि।

अब परशुरामजी महिष्मतीपुरी पहुँचे और वहाँ उन्होंने सहस्रबाहुके पुत्रोंको मार-मारकर उनके सिरोंके पहाड़ खड़े कर दिये। इतना ही नहीं, उन्होंने अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार सारी पृथिवीको क्षत्रियरहित कर दिया। कहते हैं कि परशुरामजीकी माताने इक्कीस बार छाती पीटी थी। इसीलिए इन्होंने इक्कीस बार हैययवंशी क्षत्रियोंका वध किया। उसके बाद उन्होंने पिताके सिरका सन्धान करके यज्ञ किया और चारों दिशाएँ यज्ञके होता, अध्वर्यु आदिको दान कर दीं। फिर वे सरस्वती नदीमें अवभृथ स्नान करके समस्त पापोंसे मुक्त हो गये। जमदग्निका शरीर सप्तर्षियोंमें एक होकर चला गया। आगामी मन्वन्तरमें परशुरामजी भी एक सप्तर्षि होंगे और वेदका प्रवर्तन करेंगे। वे महेन्द्र पर्वतपर रहते हैं और आज भी उनके चरित्रका गान होता रहता है। इस प्रकार भगवान्‌ने भृगुवंशमें अवतार लेकर पृथिवीका भार दूर किया।

इधर गाधिके पुत्र विश्वामित्र हुए जो अपना क्षत्रियत्व छोड़कर ब्रह्मतेजको प्राप्त हुए। पुराणोंमें इनकी बड़ी विचित्र-विचित्र कथाएँ आती हैं। इनके सौ पुत्र थे। फिर भी इन्होंने शुनःशेपको अपना पुत्र मान लिया और अपने पुत्रोंसे बोले कि तुमलोग इसे अपना सबसे बड़ा भाई मानो। परन्तु सबने उनकी बात नहीं मानी। जिन पुत्रोंने नहीं मानी, उनको उन्होंने अपने वंशसे निकाल दिया और यह शाप दे दिया कि 'म्लेच्छा भवत' (३३)। शेष पचास पुत्रोंने शुनःशेपको अपना ज्येष्ठ भ्राता मान लिया और उनको विश्वामित्रजीने बड़ा भारी आशीर्वाद दिया।



: १७ :

श्रीशुकदेवजी महाराज आगे वर्णन करते हैं कि पुरूरवाके एक पुत्र आयु थे। उनसे पाँच पुत्र हुए—नहुष, क्षत्रवृद्ध, रम्भ, रजि और अनेना। क्षत्रवृद्धके सुहोत्र हुए। सुहोत्रके तीन पुत्र हुए—काश्य, कुश और गृत्समद्। गृत्समदका पुत्र हुआ शुनक। इसी वंशमें ऋग्वेदी मुनिवर शौनकजी हुए। काश्यका पुत्र काशि, काशिका राष्ट्र, राष्ट्रका दीर्घतमा और दीर्घतमाके धन्वन्तरि। यही आयुर्वेद के प्रवर्तक हैं। ये यज्ञभागके भोक्ता और भगवान् वासुदेवके अंश हैं। उनसे आगेकी पीढ़ियोंमें दिवोदास उत्पन्न हुए। इनके अलर्क आदि पुत्र हुए। अलर्कने बहुत बरसोंतक पृथिवीका उपभोग किया। अलर्कसे सन्तति हुए और सन्ततिसे सुनीथ। आगे भी यह वंश बढ़ता गया। ये सब-के-सब क्षत्रवृद्धके वंशमें काशिसे उत्पन्न नरपति हुए।

रम्भके पुत्रका नाम था रभस, उससे गम्भीर और गम्भीरसे अक्रियका जन्म हुआ। अक्रियकी पत्नीसे ब्राह्मण-वंश चला।

अनेनाका पुत्र था शुद्धका शुचि, शुचिका त्रिककुद् और त्रिककुद्का धर्मसारथिके पुत्र थे शान्तरय। आत्मज्ञानी होनेके कारण कृतकृत्य थे।

परीक्षित, आयुपुत्र रजि नामक राजाके पाँच सौ पुत्र हुए जो अत्यन्त तेजस्वी थे। देवताओंने प्रार्थना की कि आप हमारी सहायता कीजिये। इसपर वे स्वर्गमें गये और वहाँ उन्होंने दैत्योंको पराजित करनेमें इन्द्रकी बड़ी मदद की। इन्द्रने राजाको अपने रक्षक-रूपमें वहीं रख लिया, उन्हें राजा बना दिया और स्वयं उनके सेवक हो गये। जब रजिकी मृत्यु हो गयी, तब उनके पुत्रोंने कहा कि हमारे पिता तो राजा इन्द्र थे, अब हम उनके स्थानपर इन्द्र बनेंगे। इसके बाद इन्द्रने उन सबको नष्ट कर दिया।

अब श्रीशुकदेवजी महाराज परीक्षितसे नहुषके वंशका वर्णन प्रारम्भ करते हैं। कहते हैं कि नहुषके यति, ययाति, संयाति, आयति, वियति और कृति—ये छः पुत्र हुए। पिता चाहते थे कि बड़े पुत्र यतिको राज्य दें। परन्तु उन्होंने राज्य नहीं लिया। इसका कारण यह है कि वे 'तत्परिणामवित्' (२) राजा होनेका परिणाम जानते थे—

यत्र प्रविष्टः पुरुष आत्मानं नावबुध्यते। २

उनको यह ज्ञात था कि जब मनुष्य राजाके पदपर बैठ जाता है तब वह अपनेको राजा तो समझता है, परन्तु 'मैं आत्मा हूँ और परमात्माके साथ मेरा कुछ सम्बन्ध है'—इस बातको भूल जाता है।

जब नहुष इन्द्र हुए और उन्होंने कहा कि मैं इन्द्राणीके साथ सहवास करूँगा तब इन्द्राणीने अपने गुरु बृहस्पतिजीकी शरणमें जाकर प्रार्थना की कि महाराज मुझे बचाइये। बृहस्पतिजीने नहुषसे कहा कि पहले तुम ब्राह्मणोंकी शिबिकापर चढ़कर आओ। ब्राह्मण-शिबिकापर चढ़कर नहुष 'सर्प-सर्प' कहने लगे; जिसका अर्थ होता है कि 'चलो-चलो'। इसपर अगस्त्यनें शाप दे दिया कि जा सर्प हो जा। नहुष अजगर हो गये।

इसके बाद ययाति राजा बने। उन्होंने वृषपर्वा और शुक्र दोनोंकी पुत्रियोंके साथ विवाह किया।

यहाँ, जब राजा परीक्षितने यह प्रश्न किया कि शुक्राचार्य तो ब्राह्मण थे और ययाति क्षत्रिय। फिर उनकी कन्यासे क्षत्रिय राजाका प्रतिलोम विवाह कैसे हुआ, तब श्रीशुकदेवजी महाराज वर्णन करते हैं कि राजन् सुनो! एक दिन वृषपर्वाकी पुत्री शर्मिष्ठा अपनी हजारों सखियों और शुक्राचार्यकी पुत्री देवयानीके साथ नगरके उद्यानमें गयी। वहाँ एक बड़ा सुन्दर सरोवर था। उसके किनारे शर्मिष्ठा तथा उसकी सखियोंने अपने-अपने वस्त्र उतारकर रख दिये और वे जलाशयमें प्रविष्ट होकर विहार करने लगीं। उसी समय शंकरजी महाराज देवी पार्वतीके साथ वृषभपर चढ़े हुए वहाँसे निकले। उनको देखकर लड़कियोंको शर्म आयी। वे दौड़-दौड़कर अपने-

अपने कपड़े पहनने लगीं। शीघ्रतामें शर्मिष्ठासे यह भूल हो गयी कि उसने अनजानमें देवयानीके वस्त्र पहन लिये। देवयानीको ब्राह्मण-कन्या होनेका बड़ा भारी अभिमान था।

देखो, जहाँ कोई त्रुटि होती है, वहाँ दिखावा ज्यादा होता है। आदमी जब ज्यादा दिखावा करे तो समझ जाना चाहिए कि उसमें कहीं-न-कहीं कोई खोट जरूर है।

देवयानीमें खोट यह था कि वह बृहस्पति पुत्र कचके प्रति, जो शुक्राचार्यके पास पढ़ता था, आसक्त हो गयी थी। उसने उससे प्रस्ताव कर दिया कि तुम मेरे साथ विवाह कर लो। किन्तु कचने यह कहकर अस्वीकार कर दिया कि शुक्राचार्य मेरे गुरु हैं, पिताके समान हैं, तुम उनकी पुत्री हो, इसलिए हमलोग भाई-बहन हो गये और इस नाते हमारा विवाह नहीं होना चाहिए। देवयानीने बहुत जिद की, लेकिन कचने उसकी एक न सुनी। तब देवयानीने शाप दे दिया कि जाओ तुमने मेरे पितासे जो विद्या पढ़ी है, वह लुप्त हो जाये। कचने भी गुस्सेमें आकर शाप दे दिया कि जाओ, तुमसे कोई भी ब्राह्मणकुमार विवाह नहीं करेगा।

यही खोट था देवयानीके अन्दर। लेकिन वह अपने ब्राह्मणपनेका ऐसा बनाव-शृङ्गार करके रखती थी कि लोग उसे श्रेष्ठ ब्राह्मणी समझें।

जब राजकुमारी शर्मिष्ठाने देवयानीके कपड़े पहन लिये तब देवयानी आग-बबूला हो गयी और बोली कि अरे यह राजकुमारी तो मेरी दासी है। इसने बहुत अयोग्य काम किया। यह तो कुतियाकी तरह यज्ञका हविष्य खा गयी। हम ब्राह्मणोंने सृष्टि बनायी है, श्रेय मार्ग दिखाया है और परमात्माका दर्शन कराया है। बड़े-बड़े लोकनाथ उनके चरणोंकी धूलि अपने सिरपर धारण करते हैं। यहाँतक कि स्वयं भगवान् भी उनकी वन्दना करते हैं।

इस प्रसङ्गमें एक बात मैं आपको बताना चाहता हूँ। ईश्वरने सृष्टिमें जो कुछ भी बनाया है, उसमें कोई-न-कोई गुण जरूर है। ब्राह्मणत्वका अभिमान भी बड़ा हितकारी है। लेकिन उसकी भी एक मर्यादा है। जब कोई किसी ब्राह्मणसे बुरा काम करनेके लिए कहे और ब्राह्मण उसको यह उत्तर दे कि मैं ब्राह्मण होकर ऐसा बुरा काम नहीं कर सकता तो वहाँ बुराईसे बचनेके लिए ब्राह्मणत्वका अभिमान उचित है, हितकारी है। लेकिन यदि कोई ब्राह्मण यह कहे कि मैं ब्राह्मण हूँ, तू शूद्र है, दुष्ट है, पतित है और इस प्रकार अपने ब्राह्मणत्वका प्रदर्शन करके दूसरेका तिरस्कार करे तो उसका ऐसा करना ब्राह्मणत्वका दुरुपयोग होगा।

देवयानीने कहा कि ब्राह्मणोंमें भी हम भृगुवंशी हैं। क्या समझती है तू हमको ? तेरा पिता तो असुर है, फिर हमारा शिष्य है। तूने हमारे कपड़े क्यों पहने ?

इस प्रकार जब देवयानी गाली देने लगी तो शर्मिष्ठाको भी क्रोध आगया। वह बोली कि अरी भिखारिन, तू इतना क्यों बहक रही है ? तेरे बाप तो दिनभर हमारे दरवाजेपर खड़े रहते हैं। जैसे कौए रोटीके टुकड़ोंकी प्रतीक्षा करते रहते हैं, वैसे ही तुमलोग हो।

इस प्रकार राजकुमारी शर्मिष्ठाने भी कड़ी-कड़ी बातोंसे तिरस्कार किया और उसको नङ्गी करके कुएँमें ढकेलती हुई अपने घर चली गयी। इसी बीचमें उधरसे ययाति निकले और उन्होंने जलके लिए कुएँकी ओर देखा तो उसमें देवयानी नङ्गी पड़ी दिखायी दी। फिर तो उसको अपना कपड़ा देकर और हाथसे उसका हाथ पकड़कर उन्होंने उसको बाहर निकाला। उसके बाद देवयानीका सारा ब्राह्मणपना चूर-चूर हो गया। वह बोलीं कि तुमने तो मेरा हाथ पकड़ लिया। 'हस्तग्राहोऽपरो मा भूद्' (२१) अब दूसरा कोई मेरा हाथ पकड़नेवाला न हो। यह सम्बन्ध भगवान्‌का बनाया हुआ है। हम दोनोंका नहीं।

यहाँ देवयानीको तुरन्त ईश्वर दीखने लगा। उसने यह भी बता दिया कि मुझसे ब्राह्मण ब्याह करनेवाला है नहीं, क्योंकि मुझे शाप मिला हुआ है। ययातिके मनमें जरा भी यह बात नहीं थी कि मैं एक ब्राह्मण-पुत्रीसे विवाह करूँ क्योंकि यह अशास्त्रीय विवाह है। प्रतिलोम विवाह इसीको बोलते हैं। इसलिए उन्होंने सोचा कि अब क्या करें ? फिर बोले कि अच्छा ऐसा ही होगा।

इसके बाद ययाति चले गये और देवयानी रोते हुए अपने पिताके पास गयी। वहाँ उसने खूब नमक-मिर्च लगाकर शर्मिष्ठाकी निन्दा की। शुक्राचार्यको भी बहुत क्रोध आया और वे बोले कि हमलोग इनकी पुरोहिती करते हैं, इसीलिए ये हमारा तिरस्कार करते हैं। उन्होंने अपना दण्ड-कमण्डलु उठाया और अपनी बेटीके साथ वहाँसे चल पड़े। जब वृषपर्वाको यह सब मालूम पड़ा तब वे उनके चरणोंमें गिर पड़े। शुक्राचार्यजीने कहा कि मेरी तो कोई बात नहीं। ब्राह्मणका क्रोध तो एक क्षणके लिए ही होता है। उसको उसी क्षण सँभाल लो तो वह उतर जाता है। इसलिए अब तुम मेरी चिन्ता न करके देवयानीकी जो इच्छा हो, वह पूरी करो।

पर देवयानी बहुत बुद्धिमती नहीं थी। इसलिए उसने यह वरदान माँगा कि मेरे पिताजी

जहाँ मेरा ब्याह करें वहाँ शर्मिष्ठा मेरी दासी बनकर चले। इस वरदानसे उसने स्वयं अपने हाथों ही अपने लिए एक सौत गढ़ ली। शर्मिष्ठा-जैसी सुन्दरी राजकुमारी जब दासी बनकर जायेगी तो क्या राजाकी दृष्टि उसपर नहीं पड़ेगी? बहुत बेवकूफीका काम देवयानीने किया। वृषपर्वाने संकट देखकर उसकी बात मान ली। शर्मिष्ठाने भी स्वीकार कर लिया। जब कभी कोई बुद्धिमत्ताका काम करना हो तब उसके लिए अन्य बुद्धिमान् पुरुषोंसे भी सलाह कर लेनी चाहिए।

अब ययाति-देवयानीका विवाह हो जानेपर शर्मिष्ठा उसके साथ गयी तो सही, पर अपने साथ एक हजार दासियाँ लेती गयी, जिनके साथ वह दास्यका काम करने लगी। शुक्राचार्यके ध्यानमें यह बात आयी कि कहीं शर्मिष्ठा गड़बड़ न कर दे और ययाति कहीं वृषपर्वाकी इस राजकुमारीके साथ विवाह न कर ले। इसलिए बोले कि देखो ययाति, विवाह करनेकी बात तो दूर है, तुम शर्मिष्ठाको रखैल बनाकर भी नहीं रख सकते। इसके साथ कभी पलंगपर नहीं सोना।

अब वहाँ जब देवयानीके बच्चे हो गये तब शर्मिष्ठाने एकान्तमें ययातिसे प्रार्थना की कि महाराज, आप क्षत्रिय हैं, मैं क्षत्रियकुमारी हूँ, इसलिए मुझसे भी सन्तान होनी चाहिए। ययातिने उसकी प्रार्थना भी स्वीकार कर ली। देवयानीके दो ही पुत्र हुए—यदु और तुर्वसु। किन्तु शर्मिष्ठाके तीन पुत्र हो गये—द्रुह्य, अनु और पूरु।

एक दिन जब देवयानीने देखा कि शर्मिष्ठाके आँगनमें भी बच्चे खेल रहे हैं, तब वह बोली कि अरे ये बच्चे कहाँसे आये? उसको पता चला कि ये तो उसके पतिदेवके ही प्रसाद हैं। अब वह नाराज होकर अपने मायके चली गयी।

देखो, विवाह होनेके बाद कन्यासे साफ-साफ कह देना चाहिए कि अब तुम्हारा सब कुछ ससुरालमें है। कभी मायकेका भरोसा मत करना, इधर मत देखना। इस तरह बिल्कुल निराश कर देना चाहिए। नहीं तो वह भाग-भागकर आजायेगी या ससुरालवालोंके सामने डींग हाँकेगी कि मेरा मायका ऐसा है-वैसा है; इससे उसका ससुरालसे विरोध हो जायेगा।

तो जब देवयानी नाराज होकर अपने पिताके पास पहुँच गयी, तब ययाति भी उसको मनानेके लिए पीछे-पीछे गये; पर वह मानी नहीं। शुक्राचार्यजीने कहा कि ययाति, तुमने मेरे वचनकी अवहेलना की और अपनी प्रतिज्ञा तोड़ दी। इसलिए अब तुम बूढ़े हो जाओ।

ययातिने कहा कि महाराज, यह आपने क्या किया ? आपने तो मुझे बूढ़ा बनाकर अपनी बेटीका ही अहित कर दिया। मेरे बूढ़ा हो जानेसे आपकी बेटी ही रोयेगी। अभी तो हमारा मन था कि हमलोग यहाँ कुछ दिनोंतक सुख-भोग भोगते। अब क्या होगा ?

अब जब शुक्राचार्यको अपनी बेटीका ध्यान आया तब बोले कि अच्छा अपने किसी बच्चेसे, जो स्वेच्छासे तुमको अपनी जवानी दे दे, उससे अपना बुढ़ापा बदल लो। ययाति राजधानी लौटे और उन्होंने यदु, तुर्वसु, द्रुह्यु और अनुसे कहा। लेकिन उन्होंने बिल्कुल मना कर दिया। अन्तमें उन्होंने अपने सबसे छोटे पुत्र पूरुको बुलाया और कहा कि बेटा, तुम अपने बड़े भाइयोंकी तरह मेरी बात मत टालो, अपनी जवानी मुझे दे दे और मेरा बुढ़ापा स्वयं ले लो।

पूरुने कहा कि पिताकी आज्ञाका पालन करना पुत्रका परम धर्म है। लीजिये, मैं अपनी जवानी आपको देता हूँ और आपका बुढ़ापा स्वीकार करता हूँ। इसप्रकार ययातिने अपने बेटेकी जवानी लेकर बहुत बरसोंतक विषय-भोग किया। बादमें उन्होंने अनुभव किया कि यह सम्पूर्ण विश्व बादलोंकी घटाके समान है। परमात्मा आकाश है और विश्व-प्रपञ्च जाने-आनेवाले बादलोंके समान हैं। उन्हीं परमात्माको अपने हृदयमें रखकर ययातिने बहुत सारे यज्ञों द्वारा यजन किया और बहुत विषय-भोग भोगे, परन्तु भोगोंसे उनकी तृप्ति नहीं हुई।

विदधानोऽपि नातृप्यत् सार्वभौमः कदिन्द्रियैः। ५१

असलमें इन्द्रियाँ इतनी दुष्ट हैं कि इनके द्वारा चाहे कितना भी विषय-भोग किया जाये, लेकिन इनको कभी तृप्ति नहीं होती। दुष्टका स्वभाव यही है कि वह तुष्टीकरणसे कभी मानता नहीं। दुष्टको आप चाहे कितना भी दो, वह कभी आपसे प्रसन्न नहीं होगा और आपको अपनी मुट्ठीमें रखेगा। इन इन्द्रियोंका भी वही स्वभाव है। इनको चाहे जितना भी भोग दो, इनकी लालसा और लिप्सा बढ़ती ही जाती है।



श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं परीक्षित, एक दिन ययातिने अनुभव किया कि हाय-हाय मैं तो स्त्री-लम्पट हो गया और विषयोंका भोग करनेमें ही लगा रहा। उन्होंने देवयानीको एक गाथा सुनायी कि एक था 'बस्त'—माने बकरा। वह बनमें रहता था। उसने देखा कि कुएँमें एक बकरी गिरी हुई है। जैसे-तैसे करके उसने उस बकरीको कुएँमें-से बाहर निकाला। बकरीने कहा कि अब तो मैं तुम्हारे साथ ही रहूँगी। दोनोंका ब्याह हो गया। वहाँ और भी बहुत सी बकरियाँ थीं। एक दिन जब बकरीने देखा कि उस बकरेका दूसरी बकरियोंसे भी बहुत प्रेम है तब वह नाराज होकर अपने पालकके पास चली गयी। पालकने बकरेको 'बधिया' कर दिया। लेकिन बकरे द्वारा चिरौरी-विनती करनेपर उसने फिर उसे पुरुष बना दिया। तबसे वह बकरा उस बकरीके साथ भोग कर रहा है, लेकिन इतने दिन हो गये उसकी तृप्ति नहीं हुई।

ययातिने यह कहानी सुनाकर कहा कि देखो देवी देवयानी, मेरी भी यही दशा है। आप कुएँमें गिरी हुई थीं। आपको मैंने निकाला। आपके साथ विवाह हुआ। माँ बननेपर भी आप नाराज हुईं और मैं वृद्धावस्थाके द्वारा नपुंसक बनाया गया और फिर पुत्र द्वारा पुरुषत्वकी प्राप्ति हुई। आपने ऐसी माया फैलायी कि मैं अपने आपको भूल गया। संसारमें जितना धन-धान्य है, सोना है, स्त्री है, पशु है वह मनको प्रसन्न करनेमें समर्थ नहीं, क्योंकि काम मनको बारम्बार घायल करता रहता है।

न जातु कामः कामनामुपभोगेन शाम्यति। १४

देखो, यह श्लोक बहुत पुराना है, महाभारतमें (आदि० ८५.१२) भी है, मनुस्मृति (२.९४)में भी है और विष्णुपुराण (४.१०.९)में भी है। इसमें ययाति कहते हैं विषय-भोगके द्वारा कामनाकी शान्ति कभी नहीं होती।

हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते। १४

अग्निमें जितनी भी आहुति डालो, आग उतनी ही बढ़ती जाती है। इसीप्रकार इन इन्द्रियोंको जितना भी विषय-भोग दिया जाये, उतना ही ये बढ़ती हैं। जब मनुष्य किसी प्राणीके

प्रति अमङ्गल भाव नहीं करता, समदर्शी हो जाता है तब उसके लिए सब दिशाएँ सुखमयी हो जाती हैं। लेकिन तृष्णा ऐसा रोग है कि दुर्बुद्धि लोग उसको छोड़ नहीं सकते। मनुष्यके बूढ़ा होनेसे उसकी तृष्णा बूढ़ी नहीं होती। इसको छोड़े बिना दुःख कभी छूटेगा नहीं। शान्तिके लिए तृष्णाका परित्याग करना अनिवार्य है। इन्द्रियाँ इतनी अविश्वसनीय हैं कि मनुष्यको अपनी बहन और बेटीके साथ भी कभी एकान्तमें नहीं बैठना चाहिए। मनुष्यका इन्द्रियग्राम बड़ा बलवान् है और वह—'विद्वांसमपि कर्षति' (१७)—बड़े-बड़े विद्वान् पण्डितोंको भी अपनी ओर खींच लेता है।

कहते हैं कि जब व्यासजीने माँ-बहिन-बेटीके साथ एकान्तवासका निषेधात्मक श्लोक लिखा तब इसको पढ़कर जैमिनिजीके मनमें आशंका हो गयी और उन्होंने कहा कि गुरुजी महाराज, आप यह क्या कहते हैं? क्या माता-बहन-बेटीके प्रति भी किसीको कुदृष्टि हो सकती है? यह लिखना ठीक नहीं कि इनके साथ भी नहीं रहना चाहिए।

यह सुनकर व्यासजी चुप हो गये। उन्होंने सोचा कि जवान चेला है, बहुत पढ़ा लिखा है, ऐसे समझानेसे नहीं मानेगा। इसलिए एक दिन रातमें व्यासजीने स्त्रीका वेश धारण कर लिया और आँधी-पानीमें भींगते हुए जैमिनिजीकी कुटियापर पहुँचे। जैमिनिजीने उनको अलग स्थान दे दिया और कह दिया कि तुम भीतरसे कुण्डी बन्द करके इसमें रहो। स्वयं सावधान हो गये। फिर भी जैमिनिजीके मनमें कामका उदय हुआ और वे वहाँ जाकर उस स्त्रीसे किवाड़ खुलवाने लगे। जब उसने किवाड़ नहीं खोला तो कुटियाकी छतपर चढ़ गये और उन्होंने भीतर घुसनेके लिए छत काट दी। तब व्यासजीने उनको अपना असली स्वरूप दिखाया और कहा कि जिसको तुमने बहुत ही सुन्दरी स्त्री समझा है, यह तो मैं तुम्हारा बूढ़ा गुरु हूँ। रातमें तुमने अच्छी तरहसे नहीं देखा था। तब जैमिनिजीने कहा कि आपका कहना बिलकुल ठीक है महाराज!

ययाति कहते हैं कि मुझे विषयोंकी सेवा करते हजारों वर्ष हो गये, लेकिन फिर भी मेरी तृष्णा बढ़ती ही जा रही है। इसलिए अब मैं अपने मनको ब्रह्ममें लगाऊँगा और निर्द्वन्द्व निरहङ्कार होकर विचरण करूँगा। 'चरिष्यामि मृगैः सह' (१९)—मुझको मनुष्यों और स्त्री-पुरुषोंमें रहनेकी रुचि नहीं रही, मैं तो अब पशुओंके साथ रहूँगा। क्योंकि मनुष्योंमें कुछ-न-कुछ ममता, सम्बन्ध और आसक्तिका उदय हो ही जाता है और मनीराम कहीं-न-कहीं रम जाते हैं।

दृष्टं श्रुतमसद् बुद्ध्वा नानुध्यायेन्न संविशेत्।
संसृतिं चात्मनाशं च तत्र विद्वान् स आत्मदृक्॥ २०

इस लोकमें जो कुछ भी देखा और परलोकमें जो कुछ भी सुना गया है, उसको असत् समझकर न तो उसका चिन्तन करना चाहिए और न भोग करना चाहिए; क्योंकि यदि उसके चिन्तन और भोगमें लग जायेंगे तो जन्म-पर-जन्म होते रहेंगे और आत्मज्ञान बिखर जायेगा। जो विरक्त होता है वही आत्मदर्शी होता है।

परीक्षित, ययातिने इस प्रकार देवयानीसे कहकर अपनी जवानी अपने पुत्र पूरुको लौटा दी और पुत्रोंमें अपने राज्यका वितरण करके पूरुको उन सबका स्वामी बना दिया। फिर पत्नी आदिका परित्याग करके वनमें चले गये। उन्होंने वर्षों जो विषय-सेवन किया था, उसको क्षणभरमें छोड़ दिया। वे मुक्तसङ्ग हो गये और उनका त्रिलिङ्ग अर्थात् त्रिगुणमय शरीर नष्ट हो गया और वे परमात्मासे एक हो गये—

परेऽमले ब्रह्मणि वासुदेवे लेभे गतिं भागवतीं प्रतीतः। २५

जब देवयानीने ययातिसे उपर्युक्त गाथा सुनी तो कहा कि ये मेरा उपहास कर रहे हैं। तदनन्तर—इस दुनियामें कहाँ कोई एक साथ रहता है? जैसे प्याऊपर पथिक लोग इकट्ठे हो जाते हैं, वैसे ही संसारके सगे-सम्बन्धी हैं। यह सब मायाकी रचना है। इसको स्वप्नवत् समझकर इसमें आसक्ति नहीं करनी चाहिए—यह कहकर देवयानीने भी अपना मन भगवान्‌में लगा लिया।



अब श्रीशुकदेवजी महाराज पूरुवंशका वर्णन करते हुए कहते हैं कि परीक्षित, तुम इसी पूरुवंशमें पैदा हुए हो। पूरुके पुत्र महाराज जनमेजय हुए और उनका वंश जब आगे चला तो उसीमें रौद्राश्व हुए। रौद्राश्वको घृताची अप्सरासे दस पुत्र हुए—ऋतेयु, कुक्षेयु आदि। इनमें-से ऋतेयुके पुत्र रन्तिभार हुए। रन्तिभारके तीन पुत्र हुए—सुमति, ध्रुव और अप्रतिरथ। अप्रतिरथसे कण्व हुए। कण्वसे मेधातिथि हुए। मेधातिथिसे प्रस्कण्व आदि द्विज हो गये। सुमतिके पुत्र रैभ्य थे और उन्हीं रैभ्यसे दुष्यन्तका जन्म हुआ।

एक बार दुष्यन्त वनमें शिकार खेलनेके लिए गये। चलते-चलते कण्वाश्रममें पहुँच गये। वहाँ उन्होंने शकुन्तलाको देखा। शकुन्तला उसको कहते हैं, जिसका चिड़ियोंसे बहुत प्रेम हो। वह मनुष्योंसे प्रेम न करके चिड़ियोंके साथ खेलती रहती। उसकी कान्तिसे सारा आश्रम प्रकाशित होता रहता था। उसको देखकर दुष्यन्तके मनमें काम-भावका उदय हो गया। उन्होंने मधुर वाणीसे पूछा कि तुम कौन हो देवी! यहाँ वनमें किसलिए रहती हो?

देखो, जैसे गोस्वामी तुलसीदासजीने भगवान् रामसे कहलाया कि 'रघुबंसिन्ह कर सहज सुभाऊ। मनु कुपन्थ पगु धरइ न काऊ'। वैसे ही दुष्यन्तने कहा कि 'न हि चेतः पौरवाणामधर्मे रमते क्वचित् (१२)। अर्थात् हम पूरुवंशी हैं देवी, हमारा मन कभी अधर्ममें नहीं जाता। तुम अवश्य ही कोई राजकुमारी मालूम पड़ती हो। यदि तुम ब्राह्मण-कुमारी होती तो तुम्हारे प्रति मेरे मनमें कामका उदय न होता।

शकुन्तलाने कहा कि आपका कहना ठीक है महाराज! मैं विश्वामित्रकी बेटी हूँ। 'मुझे मेनका यहाँ छोड़ गयी थी। कण्वने हमारा पालन-पोषण किया। आपके नेत्र बड़े सुन्दर हैं। आप बैठिये और हमारी पूजा ग्रहण कीजिये। आश्रममें नीवारके चावल बने हैं। यदि आपकी रुचि हो तो भोजन कीजिये और यहीं रहिये।

दुष्यन्तने कहा कि देवी! तुम जो कह रही हो वह ठीक है। क्योंकि 'स्वयं हि वृणते राज्ञां कन्यकाः सदृशं वरम्' (१५)। राजाओंकी कन्याएँ अपने सदृश वरका वरण स्वयं कर लेती हैं।

देखिये, श्रीमद्भागवतमें आप सर्वत्र यह देखेंगे कि विवाहमें कन्याकी रुचिकी प्रधानता मानी गयी है। इसलिए जब शकुन्तलाने स्वीकार कर लिया तब उसका दुष्यन्तके साथ गान्धर्व विधिसे विवाह हुआ। दुष्यन्तने वीर्याधान किया। शकुन्तलाके गर्भसे जो बालक हुआ उसके सब संस्कार कण्व ने किये। उस बालकमें भगवान्का अंश था। किन्तु जब उसे लेकर शकुन्तला दुष्यन्तके पास गयी, तब उन्होंने कह दिया कि यह बच्चा मेरा नहीं। इसपर आकाशवाणीने कहा कि तुम शकुन्तलाका अपमान मत करो। यह जो बच्चा लेकर आयी है, यह तुम्हारा ही है।

परीक्षित, दुष्यन्तकी मृत्युके बाद वही बालक चक्रवर्ती सम्राट् भरत हुआ। उसके दाहिने हाथमें चक्र और पाँवमें कमलकोश था। वह पाँच वर्षकी उम्रमें ही बड़े-बड़े सिंहोंको पकड़-पकड़कर बाँध लेता था। गंगाजीके तटपर उसने पचपन अश्वमेध-यज्ञ किये थे। उनमें उसने अट्ठारह घोड़े बाँधे थे और अग्नि-चयन किया था। वह प्रतिदिन तेरह हजारसे भी अधिक गोदान करता था। भरतके समान दूसरा राजा पृथिवीमें कौन होगा? उसने बड़ा भारी दिग्विजय किया और बहुत वर्षोंतक राज्य किया

स सम्राड् लोकपालाख्यमैश्वर्यमधिराट् श्रियम्। ३३

भरतके पास साम्राज्य-लक्ष्मी थी, 'चक्रं चास्खलितं'—निष्कण्टक राज्य था, परन्तु 'मृषेत्यु-परराम ह'—अन्तमें उसने यह निश्चय किया ये सब झूठी चीजें हैं।

देखो, प्राचीन कालमें जो बड़े-बड़े चक्रवर्ती राजा थे, उनको अन्तमें जब विचारका उदय होता था तो वे राज्यलक्ष्मीको मिथ्या समझते थे और सब कुछ छोड़कर भगवान्का भजन करने लगते थे। परन्तु अबके राजा इतने विचारवान् नहीं कि उनको स्वयं वैराग्य हो, इसलिए भगवान्ने सरकारको निमित्त बनाकर उनका राज्य छीन लिया और कहा कि चलो भजन करो। फिर भी यदि उनके मनमें भजन करनेकी रुचि नहीं होती तो यह उनका दुर्भाग्य ही है। भगवान् कृपा करके अपनी ओर बुलाते हैं तब भी लोग उनकी ओर नहीं जाना चाहते।

भरतकी तीन पत्नियाँ थीं। उनको जब यह विचार हुआ कि हमको भरतके समान पुत्रकी प्राप्ति नहीं हुई तब देवताओंने उनको वितथ नामका एक पुत्र गोदमें दे दिया और उसीसे भरतका वंश चला।



श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि परीक्षित, भरतके दत्तक पुत्र वितथसे मन्यु हुए और मन्युसे पाँच पुत्रोंकी उत्पत्ति हुई—बृहत्क्षत्र जय, महावीर्य, नर और गर्ग। नरके संकृति हुए। संकृतिके दो बेटे गुरु और रन्तिदेव हुए। रन्तिदेवकी महिमा लोक-परलोक सर्वत्र प्रसिद्ध है क्योंकि रन्तिदेवने बहुत-बड़े साम्राज्यको भी अपना नहीं माना।

वियद्वित्तस्य ददतो लब्धं लब्धं बुभुक्षतः।
निष्किंचनस्य धीरस्य सकुटुम्बस्य सीदतः॥ ३

श्रीउड़िया बाबाजी महाराज कहते थे कि दुनियादार लोग महात्माओंको नहीं देखते, उनके स्थूल शरीरको देखते हैं। जब उनसे पूछा जाता कि महात्माओंका दर्शन संसारी लोगोंको कहाँ होता है, उनका शरीर क्या है और उनके दर्शन कैसे हों, तो कहते थे—'आकाशकोशतनवोऽतनवो महान्तः' महात्माका शरीर आकाश है। उसमें कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड भ्रमण करते हैं। किसी शरीरके अभिमानीका नाम महात्मा नहीं होता—महात्मा अतनु हैं, अशरीर हैं। उनका शरीर आकाश है। उनमें चित्तका लेश नहीं है। महात्मा साक्षात् परमात्माके स्वरूप हैं। महात्मा शरीरमें रहकर भी अपनेको शरीर रूपमें कभी नहीं देखते।

यह हाल सम्राट् रन्तिदेवका भी था। वे वियद्वित्त थे, आकाश ही उनका धन था, आकाशके सिवाय दूसरा कोई धन नहीं था। उनको जो कुछ भी मिले, वह दान कर देते और स्वयं भूखे रह जाते थे। दण्ड अथवा टैक्ससे जो धन वसूल हो, उसको वे अपना मानते ही नहीं थे। कुछ भी उनके पास नहीं था। उनमें बड़ा भारी धैर्य था। वे कुटुम्बके साथ दुःखपूर्वक

अपना जीवन व्यतीत करते थे; क्योंकि वे कोई चीज अपनी नहीं मानते थे। एक बार उनको अड़तालीस दिनोंतक कोई वस्तु खानेको नहीं मिली। उनचासवें दिन जब कुछ घी, खीर और फल मिला तब उसी समय एक ब्राह्मण अतिथि आगया। रन्तिदेवने समयपर आये हुए ब्राह्मण अतिथिको साक्षात् भगवान् समझकर श्रद्धासे सब कुछ दे दिया। ब्राह्मण खाकर चला गया। जो थोड़ा-सा अन्न बचा था, वह कुटुम्बको देकर रन्तिदेव खाने बैठे तो एक शूद्र अतिथि आगया। उसको भी खिलाकर जब खाने बैठे तब एक ऐसा अतिथि आया, जिसके साथ कुत्ते थे। उसने कहा कि महाराज, हम बड़े भूखे हैं, हमारे कुत्ते भी भूखे हैं, हमको अन्न दो। राजाने उसको बचा-खुचा अन्न देते हुए प्रार्थना की कि प्रभो, कुत्तोंके रूपमें भी आप ही हैं और उनके मालिक श्वपचके रूपमें भी आप ही हैं।

देखो, यह होता है, भक्तोंका चरित्र। आपने सुना होगा, एक बार जब नामदेव रोटी बना रहे थे तब एक कुत्ता रोटी लेकर भागा। वे कटोरीमें घी लेकर उसके पीछे यह कहते हुए दौड़े कि प्रभो, अभी मैंने रोटी चुपड़ी नहीं है। रोटीमें घी लगा लेने दो, फिर खाओ।

इसी तरह एक दूसरे महात्मा जब गंगा-स्नान करके आरहे थे तब उनके ऊपर एक दुष्टने थूक दिया। महात्मा फिर स्नान करने चले गये। जब लौटे तब उसने फिर थूक दिया। इस प्रकार उस दुष्टने एक सौ आठ बार थूका और महात्माने इतनी ही बार स्नान किया। जब वह थूकते-थूकते थक गया तब उसने क्षमा माँगी। महात्मा बोले—भलेमानुष, तुम्हारी कृपासे तो मेरा एक सौ आठ डुबकियाँ गंगाजीमें लग गयीं। मैं तो धन्य हो गया। यदि तुम मुझपर नहीं थूकते तो मैं एक ही बार स्नान करके चला जाता।

तो ऐसी दृष्टि होती है महात्माओंकी। दूसरेको पतित कहकर, शूद्र कहकर तिरस्कृत करना, महात्माकी दृष्टि नहीं है। महात्माकी दृष्टि है सबके अन्दर एक परमात्माका दर्शन करके अपनेको आनन्दमें मग्न कर देना। घृणा-दोषसे अपनी दृष्टिको दूषित करना महात्माका स्वभाव नहीं।

तो कुत्तों और उनके मालिक चाण्डालको अन्न दे देनेके बाद रन्तिदेवके पास थोड़ा-सा पानी बचा रहा। जब वह पीने बैठे तो आगया एक कसायी। उसने कहा कि मैं बहुत प्यासा हूँ महाराज! उसकी दीन वाणी सुनकर रन्तिदेवके हृदयमें बड़ी पीड़ा हुई और उन्होंने उसको वह पानी भी दे दिया। फिर कहने लगे—

न कामयेऽहं गतिमीश्वरात् परामष्टर्द्धियुक्तामपुनर्भवं वा।
आर्ति प्रपद्येऽखिलदेहभाजामन्तःस्थितो येन भवन्त्यदुःखाः ॥ १२

देखो रन्तिदेवके इस वचनको श्रीमद्भागवतके मूलमें अमृत कहा हुआ है।

कृपया भृशसंतप्त इदमाहामृतं वचः । ११

इसका अर्थ है कि रन्तिदेवके हृदयमें पीड़ा उत्पन्न हुई और वे जो बोले, वह उनकी वाणी नहीं, अमृत है। रन्तिदेवका यह वचन मानो भगवान्की बातोंका उत्तर है। भगवान्ने पूछा कि तुम क्या चाहते हो रन्तिदेव! जो चाहिए, माँग लो। परमगति चाहिए तो माँग लो, आठों ऋद्धि-सिद्धि चाहिए तो माँग लो अथवा मुक्ति चाहिए तो माँग लो। बोलो तो सही—क्या चाहिए तुमको? रन्तिदेव बोले कि महाराज, मैं यह चाहता हूँ कि सम्पूर्ण प्राणियोंके हृदयमें बैठ जाऊँ। भगवान्ने कहा कि सबके हृदयोंमें तो मैं पहलेसे बैठा हुआ हूँ। अगर तुम बैठ जाओगे तो उसमें क्या विशेषता होगी? रन्तिदेवने कहा—मैं बैठना तो चाहता हूँ पर आप-सरीखे नहीं बैठना चाहता। आप तो लोगोंके हृदयोंमें बैठे रहते हैं और दुनिया दुःखी होती रहती है—

अस प्रभु हृदय अछत अविकारी।
सकल लोग जग दीन दुखारी॥

ऐसी स्थितिमें आपका वहाँ रहना, न रहनेके बराबर ही है। इसपर भगवान्ने पूछा कि तब क्या तुम चाहते हो कि मैं वहाँ न रहूँ? रन्तिदेव बोले कि नहीं महाराज, मैं यह चाहता हूँ कि आप तो अपने स्थानपर खूब आनन्दसे बैठे रहिये और सर्वज्ञ साक्षी बने रहिये। मैं यह भी चाहता हूँ कि जगत्के जीवोंको उनके अपने-अपने पुण्योंका फल मिले और वे खूब सुखी रहें। परन्तु इनके साथ ही मेरा इरादा यह है कि जीवोंके साथ पापका फल जो दुःख है और जिसके कारण ये बेचारे विकल हो जाते हैं, उसको मैं इनके हृदयोंमें बैठकर भोगूँ। संसारके सब जीव तो सुखी हो जायँ, आप अपने आनन्दस्वरूपमें स्थित रहें और मुझे भोगनेके लिए प्राणियोंका दुःख मिल जाये—

आर्ति प्रपद्येऽखिल देहभाजाम्
अन्तःस्थितो येन भवन्त्यदुःखाः ॥ १२

इसका अर्थ है—'अखिलदेहभाजामन्तः स्थितः अखिलदेहभाजाम् आर्ति प्रपद्ये'—अर्थात् सम्पूर्ण देहधारियोंके भीतर बैठकर सम्पूर्ण प्राणियोंके दुःखको स्वयं ले लूँ।

भगवान्‌ने पूछा कि इससे क्या होगा रन्तिदेव ? रन्तिदेवने कहा, यही होगा कि सब सुखी हो जायेंगे। आप भी सुखी रहेंगे, आपके दास जीव भी सुखी रहेंगे और उन सबका दुःख अकेले मैं भोगता रहूँगा।

क्षुत्तृट्श्रमो गात्रपरिभ्रमश्च दैन्यं क्लमः शोकविषादमोहाः।
सर्वे निवृत्ताः कृपणस्य जन्तोर्जिजीविषोर्जीवजलार्पणान्मे ॥ १३

रन्तिदेवने कहा कि इस कसाईको थोड़ा-सा जल पिला देनेसे मेरी भूख मिट गयी, प्यास बुझ गयी, परिश्रमसे जो शरीरमें थकान और कमजोरी आगयी थी, वह दूर हो गयी, मेरा दैन्य चला गया, तथा शोक-मोह-विषादका निवारण हो गया।

देखो हमारे प्राचीन कालके निसर्ग-करुण राजाओंकी महिमा जो उनचास दिनोंतक भूखे-प्यासे रहनेपर भी संसारके सब जीवोंकी तकलीफको अपने ऊपर ले लेना चाहते थे, ऐसे महात्माको भगवद्दर्शन प्राप्त तो होना ही था। इसलिए रन्तिदेवके सामने ब्रह्मा-विष्णु-महेश प्रकट हो गये।

आत्मानं दर्शयांचक्रुर्माया विष्णुविनिर्मिताः। १५

उन्होंने कहा कि देखो राजा ! न तो यहाँ कोइ शूद्र आया था न कोई चाण्डाल आया था और न कोई कसाई आया था। यह सब तो हमारी माया थी जिससे दुनियाके लोग यह देख लें कि दूसरोंके दुःखका निवारण करनेके लिए उनको सुख पहुँचानेके लिए, कैसी उदार वृत्ति होनी चाहिए और निसर्ग करुणाका क्या स्वरूप है ?

रन्तिदेवने सबको नमस्कार किया और कहा कि बस भगवान्‌के चरणोंमें मेरी भक्ति बनी रहे। उसके बाद उन्होंने अपने चित्तको अनन्य बनाकर ईश्वरमें लगा दिया। उनके सामनेसे भगवान्‌की गुणमयी माया ऐसे ही हट गयी, जैसे जागनेपर स्वप्न हट जाता है। रन्तिदेवके संगके प्रभावसे उनकी जितनी भी प्रजा थी, सबकी सब नारायण-परायण हो गयी।

ईश्वरालम्बनं चित्तं कुर्वतोऽनन्यराधसः।
माया गुणमयी राजन् स्वप्नवत् प्रत्यलीयत ॥१७
तत्प्रसङ्गानुभावेन रन्तिदेवानुवर्तिनः।
अभवन् योगिनः सर्वे नारायणपरायणाः ॥१८

अब श्रीशुकदेवजी महाराज मन्युपुत्र गर्गके वंशका वर्णन प्रारम्भ करते हुए कहते हैं कि परीक्षित, गर्गसे सिनि हुए और सिनिसे गार्ग्यकी उत्पत्ति हुई, जो द्विज हो गये। मन्युके दूसरे पुत्र महावीर्यसे दुरितक्षय हुए और दुरितक्षयसे त्र्य्यारुणि, कवि और पुष्करारुणि हुए। ये तीनों द्विजत्वको प्राप्त हो गये। बृहत्क्षत्रके पुत्र हस्ती थे जिन्होंने हस्तिनापुरका निर्माण कराया। हस्तीके तीन पुत्र थे—अजमीढ़, द्विमीढ़ और पुरुमीढ़। अजमीढके पुत्र प्रियमेधादि ब्राह्मण हो गये। अजमीढके द्वितीय पुत्र बृहदिषुसे बृहद्धनु, बृहद्धनुसे बृहत्काय और बृहत्कायसे जयद्रथ हुए। उनके विशद हुए और विशदके सेनजित्। सेनजित्के चार पुत्र हुए—रुचिराश्व, दृढ़हनु, काश्य और वत्स। रुचिराश्वसे पार हुए और पारके दो पुत्र हुए पृथुसेन तथा नीप। नीपके सौ पुत्र हुए। नीपका विवाह शुकदेवजीकी कन्या कृत्वीके साथ हुआ था। उनसे ब्रह्मदत्त नामक पुत्रकी उत्पत्ति हुई।

यहाँ देखो, श्रीमद्भागवतमें तो श्री शुकदेवजीके गृहस्थ-धर्मकी इतनी ही चर्चा है परन्तु महाभारतमें बड़े विस्तारसे वर्णन है।

अब ब्रह्मदत्तसे विष्वक्सेनकी उत्पत्ति हुई। विष्वक्सेनने जैगीषव्यके उपदेशसे योगतन्त्रका निर्माण किया। विष्वक्सेनके पुत्र उदक्स्वन हुए और उदक्स्वनसे भल्लाद हुए। ये सब बृहदिषुके वंशमें हुए। द्विमीढ़के यवीनर हुए। यवीनरके कृतिमान्, कृतिमान्के सत्यधृति, सत्यधृतिके दृढ़नेमि और दृढ़नेमिके सुपार्श्व हुए। आगे चलकर इसी वंशमें रिपुञ्जय हुए और रिपुञ्जयसे बहुरथकी उत्पत्ति हुई। पुरुमीढ निःसन्तान था। अजमीढकी दूसरी पत्नी नलिनीसे नील हुए। नीलके वंशमें मुद्गल हुए।



श्री शुकदेवजी महाराज कहते हैं कि परीक्षित, मुद्‌गल पुत्र दिवोदाससे मित्रेयु और फिर उनके च्यवन, सुदास, सहदेव और सोमक चार पुत्र हुए। इसी वंशमें आगे चलकर द्रुपद हुए। द्रुपदकी पुत्री द्रौपदी हुई और धृष्टद्युम्नादि पुत्र हुए। धृष्टद्युम्नसे धृष्टकेतु हुए। इन सबकी संज्ञा पाञ्चाल हुई।

अजमीढ़का एक अन्य पुत्र था ऋक्ष। ऋक्षसे संवरण हुए। संवरणका विवाह सूर्यकन्या तपतीसे हुआ और उससे कुरु पैदा हुए। कुरुके चार पुत्र हुए—परीक्षित, सुधनु, जह्नु और निषधाश्व। सुधनुसे सुहोत्र, सुहोत्रसे च्यवन और च्यवनसे कृती हुए। कृतीके उपरिचर वसु हुए और उपरिचर वसुके बृहद्रथ, कुशाम्ब, मत्स्य, प्रत्यग्र और चेदिप आदि हुए।

बृहद्रथका पुत्र था कुशाग्र। कुशाग्रका ऋषभ और ऋषभका सत्यहित, सत्यहितका पुष्पवान् और पुष्पवान्‌का जहु नामक पुत्र हुआ।

बृहद्रथकी ही दूसरी पत्नीके गर्भसे एक शरीरके दो टुकड़े पैदा हुए। माताने उन्हें फेंक दिया। लेकिन जरा राक्षसीने उनको जोड़ दिया। उसी जोड़े हुए बालकका नाम जरासन्ध पड़ा। जरासन्धका पुत्र सहदेव हुआ और उसका वंश आगे चला। परीक्षित निःसन्तान था। जह्नुके पुत्र सुरथ हुए। सुरथके वंशमें प्रतीप हुए। प्रतीपके तीन पुत्र हुए—देवापि, शन्तनु और बाह्लीक। देवापि वनमें चले गये। शन्तनु हुए राजा। उनकी यह विशेषता थी कि वे जिस बूढ़ेको हाथसे छू देते थे, वह जवान हो जाता था। उनके राज्यमें बारह बरसतक वर्षा नहीं हुई। उन्होंने ब्राह्मणोंसे कारण पूछा तो मालूम हुआ कि वे अपने बड़े भाई देवापिके स्थानपर राजा बन गये हैं, इसीलिए उनके राज्यमें वृष्टि नहीं होती। शन्तनुके मन्त्री द्वारा भेजे कुछ पुरोहितोंने देवापिको पाखण्डी बना दिया, भ्रष्ट कर दिया और जब वे वेदकी निन्दा करने लगे तब शन्तनु दोषसे मुक्त हो गये। इन्द्रने वर्षा भी की। देवापि अब भी कलापग्राममें रहकर तपस्या करते हैं और कलियुगमें वही फिरसे सोमवंशका स्थापन करेंगे। शन्तनुके छोटे भाई बाह्लीकके सोमदत्त हुए। सोमदत्तके तीन पुत्र हुए—भूरि, भूरिश्रवा और शल।

शन्तनुके द्वारा गंगाजीसे भीष्म उत्पन्न हुए जो बड़े भारी भगवद्भक्त थे। उनके जैसा धर्मका ज्ञाता कोई दूसरा नहीं हुआ। उन्होंने युद्धमें परशुरामको सन्तुष्ट कर दिया था। शन्तनु द्वारा ही

दाश अर्थात् केवटकी कन्या सत्यवतीसे चित्राङ्गद और विचित्र वीर्यका जन्म हुआ। चित्राङ्गदको उसीके नामधारी गन्धर्वने युद्धमें मार दिया। शन्तनुके विवाहके पूर्व ही पराशरसे सत्यवतीके द्वारा व्यासकी उत्पत्ति हो गयी थी। उन्हीं व्यासदेवका पुत्र मैं हूँ। उन्होंने अपने पैलादि शिष्योंको तो वेदादि तथा अन्य बहुत-से विषय पढ़ाये, परन्तु मुझे अपना पुत्र तथा प्यारा अनुव्रत शिष्य जानकर श्रीमद्भागवत पढ़ाया।

शन्तनुके दूसरे पुत्र विचित्रवीर्यने काशिराजकी कन्या अम्बिका और अम्बालिकासे विवाह किया जिनको स्वयंवरसे भीष्मजी बलपूर्वक ले आये थे। उनके प्रति अधिक आसक्ति हो जानेसे उनको यक्ष्मा रोग हो गया और वे मर गये। फिर व्यासजीने अम्बिका द्वारा धृतराष्ट्रको अम्बालिका द्वारा पाण्डुको और दासी द्वारा विदुरको उत्पन्न किया। धृतराष्ट्रके गान्धारी द्वारा दुर्योधन आदि सौ पुत्र हुए और दुःशला नामकी कन्या हुई। पाण्डुको शाप हो गया था, इसलिए उनका वंश देवताओंसे चला। कुन्तीसे धर्म, वायु, इन्द्रके द्वारा युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन हुए और नासत्य एवं दस्र अर्थात् अश्विनीकुमारों द्वारा माद्रीसे नकुल और सहदेव हुए। इन पाँचों पाण्डवोंकी पत्नी द्रौपदीसे पाँच पुत्र हुए। युधिष्ठिरसे प्रतिविन्ध्य, भीमसे श्रुतसेन, अर्जुनसे श्रुतकीर्ति, नकुलसे शतानीक और सहदेवसे श्रुतकर्मा हुए। इनकी दूसरी पत्नियाँ भी थीं, जिनसे पुत्र हुए। भीम द्वारा कालीसे सर्वगत हुए। सुभद्रासे अर्जुन द्वारा अभिमन्युकी उत्पत्ति हुई और परीक्षित, उन्हीं अभिमन्युसे तुम हुए। तुम जब अश्वत्थामाके अस्त्रसे भस्म हो रहे थे तब भगवान् श्रीकृष्णने अपने प्रभावसे तुम्हारी रक्षा कर दी। तुम्हारे चार पुत्र हैं—जनमेजय, श्रुतसेन, भीमसेन और उग्रसेन। जब जनमेजयको मालूम होगा कि तक्षकसे तुम्हारी मृत्यु हुई तो वह सर्पसत्र करेगा। उसके बाद वह अश्वमेध यज्ञ भी करेगा। उसकी वंश-परम्परा भी बहुत बड़ी चलेगी।

जनमेजयका वंशज नेमिचक्र हस्तिनापुरके बाढ़से बह जानेपर कौशाम्बीमें जायेगा। उस वंशमें कविरथ होगा। कविरथके बाद वृष्टिमार और मेधावी आदि होंगे। इस प्रकार मैंने तुम्हें जो सोमवंशका वर्णन सुनाया, वह कलियुगमें क्षेमकपर्यन्त चलेगा। वहाँ जाकर कुरुवंशकी समाप्ति हो जायेगी।

इसी प्रकार मगध देशमें जरासन्ध आदि जो राजा हैं, उनका वंश रिपुञ्जय तक चलेगा और उसके बाद समाप्त हो जायेगा।

ॐ

श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि परीक्षित-ययाति-पुत्र अनुके तीन पुत्र हुए—सभानर, चक्षु और परोक्ष। उनका बहुत बड़ा वंश चला।

आगे बताते हैं कि बलिके क्षेत्रमें दीर्घतमासे अङ्ग, वङ्ग, कलिङ्ग, सुह्म, पुण्ड्र और आन्ध्र संज्ञक पुत्र हुए। इन्होंने भारतके अलग-अलग प्रान्त बसाकर उनमें राज्य किया। इन सबके वंशोंका विस्तारसे वर्णन करनेके बाद ययातिके पुत्र द्रुह्युके वंशका वर्णन है। इस वंशमें बहुत सारे राजा हुए। एक बार दुष्यन्त उस वंशमें जाकर फिर अपने वंशमें लौट आया।

श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं परीक्षित, अब मैं ययातिके ज्येष्ठ पुत्र यदुके पुण्यवंशका वर्णन करता हूँ जिसका श्रवण करनेपर मनुष्य पापमुक्त हो जाता है। इसी वंशमें नराकृति भगवान् श्रीकृष्णका जन्म हुआ।

यदुके चार पुत्र हुए—सहस्रजित्, क्रोष्टा, नल और रिपु। सहस्रजित्के शतजित् हुए और शतजित्के महाहय, वेणुहय तथा हैहय—ये तीन पुत्र हुए। हैहयके धर्म, धर्मके नेत्र, नेत्रके कुन्ती और कुन्तीके सोहञ्जि हुए। सोहञ्जिके महिष्मान् हुए और महिष्मान्के भद्रसेनक। भद्रसेनकके दो पुत्र हुए—दुर्मद और धनक। धनकके चार पुत्र हुए—कृतवीर्य, कृताग्नि, कृतवर्मा और कृतौजा।

कृतवीर्यके सहस्रार्जुन हुए जो सप्तद्वीपवती पृथिवीके स्वामी थे। दत्तात्रेयकी कृपासे उन्हें योगसिद्धिकी प्राप्ति हुई थी। कोई भी राजा उनके समान नहीं हो सकता, न योगमें और न यज्ञमें। उन्होंने बहुत वर्षोंतक राज्य किया। उनके पुत्रोंको परशुरामजीने मार दिया था। केवल पाँच पुत्र बच गये थे—जयध्वज, शूरसेन, वृषभ, मधु और ऊर्जित। जयध्वजके तालजङ्घादिका वंश चला। मधुके बहुत सारे पुत्र थे। मधु, वृष्णि और यदु, इन तीनोंके कारण ही श्रीकृष्णकी मधुवंशी, वृष्णिवंशी, यदुवंशी तीनों संज्ञाएँ होती हैं।

यदुके वंशम शशबिन्दु हुए। शशबिन्दुकी सन्तान-परम्परा बहुत भारी हो गयी। उसकी गणना करना बहुत मुश्किल है। उनमें पृथुश्रवा आदि छह पुत्र मुख्य थे। पृथुश्रवाके धर्म हुए, धर्मके रुचक हुए और रुचकके पाँच पुत्र हुए—पुरुजित्, रुक्म, रुक्मेषु, पृथु, ज्यामघ। ज्यामघकी कोई सन्तान नहीं थी।

एक बार ज्यामघने अपने शत्रुपर विजय प्राप्त की। वहाँसे एक कुमारीका अपहरण करके ले आये। रथपर कुमारीको देखकर उनकी पत्नीने कहा कि अरे ओ कपटी! मेरी जगह तूने किसको बैठा रखा है। राजा डर गये और बोले कि यह तुम्हारी पुत्रवधू है। वह हँसने लगी कि अबतक तो हमारे पुत्र ही नहीं हुआ, पुत्रवधू कहाँसे होगी? मेरी तो कोई सौत भी नहीं है तो पुत्रवधू कहाँसे आगयी? राजा बोले कि जब तुम्हारे पुत्र होगा तब उसके साथ इसका विवाह कर देंगे। उनके प्राण संकटमें आगये। उनकी डरके मारे धड़कन बढ़ गयी और वे काँपने लगे कि मेरी पत्नी मुझसे नाराज हो गयी।

यह देखकर देवताओंने कहा कि भाई, ठीक है यदि मनुष्य भगवान्‌की भक्ति करे तो उसका कल्याण हो जाता है। लेकिन इसने तो अपनी पत्नीकी बहुत बढ़िया भक्ति की है, इसलिए अब तुम्हारे बेटा हो जायेगा। उसके साथ विवाह कर देना।

उसके बाद देवताओंके आशीर्वाद-स्वरूप उनके एक कुमार हुआ, जिसका नाम विदर्भ पड़ा। उससे ज्यामघकी लायी हुई लड़की भोज्याका विवाह हो गया। ज्यामघके सम्बन्धमें यह कहावत प्रचलित है कि आजतक सृष्टिमें जितने भी पत्नीभक्त राजा हुए हैं, उनमें ज्यामघ जैसा पत्नीभक्त राजा दूसरा नहीं हुआ।

भार्यावश्याश्च ये केचिद् भविष्यन्त्यथवा मृताः।
तेषां तु ज्यामघः श्रेष्ठः शैब्यापतिरभून्नृपः॥

—विष्णु पु० ४.१२.१३



श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि परीक्षित, विदर्भकी पत्नी भोज्यासे कुश, क्रथ, रोमपाद ये तीन पुत्र हुए। रोमपादके बभ्रु हुए। बभ्रुसे कृति, कृतिसे उशिक् और उशिक्के चेदि। फिर चेदिसे शिशुपाल आदिका जन्म हुआ। क्रथके हुए कुन्ति, कुन्तिके धृष्टि और धृष्टिके निवृत्ति। यह वंश आगे चला। इसीमें शकुनि, करम्भि, देवरात, देवक्षत्र ये सब क्रम-क्रमसे होते गये। मधु, कुरुवश, अनु, पुरुहोत्र, आयु और सात्वत भी हुए। सात्वतके सात बेटे हुए—भजमान, भजि, दिव्य, वृष्णि, देवावृध, अन्धक और महाभोज। भजमानकी पहली पत्नीसे तीन पुत्र हुए—निम्लोचिः, किङ्किण, धृष्टि। उनकी दूसरी पत्नीसे शताजित्, सहस्राजित् और अयुताजित् हुए। देवावृधसे बभ्रुका जन्म हुआ, जो मनुष्योंमें श्रेष्ठ हुए। क्योंकि उनके उपदेशसे हजारों आदमियोंको मोक्ष मिल गया। सृष्टिमें ये ऐसे राजा हुए जिन्होंने परब्रह्म परमात्माका उपदेश किया—

येऽमृतत्वमनुप्राप्ता बभ्रोर्देवावृधादपि। ११

इन्हींके वंशमें उत्पन्न भोज बड़े प्रसिद्ध हुए। सात्वत-पुत्र वृष्णिके दो पुत्र हुए—सुमित्र और युधाजित्। युधाजित्के भी दो पुत्र हुए—शिनि और अनमित्र। अनमित्रसे निम्नका जन्म हुआ। उनके दो पुत्र हुए—एक सत्राजित् और एक प्रसेन। अनमित्रके एक दूसरे पुत्रका नाम था शिनि। शिनिके सत्यक और सत्यकके हुए सात्यकि। सात्यकिको युयुधान भी कहते हैं। सात्यकिका पुत्र जय हुआ। जयका कुणि हुआ और कुणिका युगन्धर हुआ। अनमित्रके तीसरे पुत्र थे वृष्णि। वृष्णिके पुत्र हुए—श्वफल्क और चित्ररथ। श्वफल्ककी पत्नी गान्दिनीसे तेरह पुत्र हुए, जिनमें मुख्य अक्रूर थे। उनको सुचीरा एक बहन भी थी। अक्रूरके दो पुत्र हुए—एक देववान् और दूसरे उपदेव।

श्वफल्कके भाई चित्ररथसे पृथु, विदूरथ आदि बहुत-से पुत्र हुए, जो वृष्णिवंशियोंमें श्रेष्ठ हैं। सात्वत-पुत्र अन्धकके चार पुत्र हुए—कुकुर, भजमान, शुचि, कम्बलबर्हि। कुकुरके वह्नि हुए। वह्निके विलोमा, विलोमाके कपोतरोमा और कपोतरोमाके अनु हुए। अनुके अन्धक, अन्धकके दुन्दुभि, दुन्दुभिके अरिद्योत और अरिद्योतके पुनर्वसु। उनकी दो सन्तान हुईं—आहुक पुत्र और आहुकी कन्या। आहुकके पुत्र हुए देवक और उग्रसेन। देवकके चार पुत्र हुए—देववान्, उपदेव, सुदेव और देववर्धन। उनकी सात बहनें थीं—धृतदेवा, शान्तिदेवा, उपदेवा, श्रीदेवा, देवरक्षिता, सहदेवा और देवकी। यही देवकी वसुदेवके साथ ब्याही गयीं। उग्रसेनके नौ बेटे थे—कंस, सुनामा, न्यग्रोध आदि। इनकी पाँच बहनें थीं—कंसा, कंसवती आदि, जो वसुदेवके भाइयोंसे ब्याही गयीं।

चित्ररथके पुत्र विदूरथसे शूर, शूरसे भजमान, भजमानसे शिनि, शिनिसे स्वयम्भोज और स्वयम्भोजसे हृदीक हुए। हृदीकके चार पुत्र हुए—देवबाहु, शतधनु, कृतवर्मा और देवमीढ़।

देवमीढ़से शूर हुए। शूरसे जो दस पुत्र हुए उनके नाम इसप्रकार हैं—वसुदेव, देवभाग, देवश्रवस्, आनक, सृञ्जय, श्यामक, कङ्क, शमीक, वत्सक और वृक। इनमें वसुदेव मुख्य हैं। उनके जन्मके समय देवताओंके नगाड़े अपने-आप बजने लगे। इससे यह सिद्ध हुआ कि इनके घरमें भगवान्‌का अवतार होनेवाला है। इसीलिए उनका नाम आनक-दुन्दुभि हुआ।

शूरकी पाँच कन्याएँ थीं—पृथा, श्रुतदेवा, श्रुतकीर्ति, श्रुतश्रवा और राजाधिदेवी। शूरने जब देखा कि उनके मित्र कुन्तिभोजके कोई सन्तान नहीं तो उसने उनको अपनी बड़ी पुत्री पृथा दे दी। पृथाने दुर्वासाजीको प्रसन्न करके उनसे देवताओंके आवाहनकी विद्या प्राप्त कर ली। उनसे कुमारी अवस्थामें ही सूर्यका आवाहन कर लिया। सूर्यने कहा कि मेरा दर्शन व्यर्थ नहीं जाता। उन्हींसे कर्णकी उत्पत्ति हुई। पृथा अर्थात् कुन्तीने कर्णको नदीके जलमें छोड़ दिया। फिर कुन्तीका विवाह पाण्डुसे हुआ।

शूरकी दूसरी कन्या श्रुतदेवाका विवाह कारुषसे हुआ, जिससे दन्तवक्त्रकी उत्पत्ति हुई। इनका वर्णन पहले हो चुका है। राजाधिदेवीका विवाह जयसेनसे हुआ जिससे विन्द और अनुविन्द पैदा हुए। उनकी बहनका विवाह श्रीकृष्णके साथ हो गया। चेदिराज दमघोषसे श्रुतश्रवाका विवाह हुआ जिससे शिशुपालका जन्म हुआ।

अब श्रीशुकदेवजी महाराज वसुदेवकी बहिनोंका वर्णन करनेके बाद उनके भाईके वंशका वर्णन करते हैं। देवभाग वसुदेवजीके भाई थे। देवभागका विवाह हुआ था कंसासे। कंसाके दो पुत्र हुए—चित्रकेतु और बृहद्‌बल। श्रीमद्भागवतमें बृहद्‌बलको ही उद्धव कहा गया है। हरिवंशमें इस प्रसंगका बहुत खुलासा करके वर्णन किया हुआ है। इसप्रकार उस वंशके दूसरे लोगोंका भी वर्णन किया है।

वसुदेवजीकी पौरवी, रोहिणी, भद्रा, मदिरा, रोचना, इला और देवकी—ये सात पत्नियाँ थीं। रोहिणीसे बल, गद, सारण, दुर्मद, विपुल, ध्रुव, कृत आदिका जन्म हुआ। पौरवीसे सुभद्र, भद्रवाह आदिका जन्म हुआ। मदिरासे नन्द, उपनन्द, कृतक, शूर आदिका जन्म हुआ। भद्रासे केशी हुआ, रोचनासे हस्त, हेमाङ्गद आदि और इलासे उरु, वल्क आदि। इसी तरह वसुदेव द्वारा धृतदेवासे विपृष्ठ आदि, शान्तिदेवासे श्रम, प्रतिश्रुत आदि, उपदेवासे कल्पवर्ष आदि, श्रीदेवासे वसु, हंस, सुवंश आदि। देवरक्षितासे गदादि, सहदेवासे पुरुविश्रुत आदि और देवकीसे आठ पुत्र हुए—कीर्तिमान्, सुषेण, भद्रसेन, ऋजु, सम्मर्दन, भद्र, संकर्षण तथा आठवें स्वयं भगवान्। वसुदेवको देवकीसे सुभद्रा नामकी एक कन्या भी हुई।

परीक्षित, वही सुभद्रा तुम्हारी पितामही थी। जब-जब धर्मका क्षय होता है और अधर्मकी वृद्धि होती है, तब-तब भगवान् अपने आपको अवतारके रूपमें प्रकट करते हैं। उनके जन्म और कर्मका दूसरा कोई हेतु नहीं होता। वे सबके परे हैं, द्रष्टा हैं, आत्मा हैं—

आत्ममायां विनेशस्य परस्य द्रष्टुरात्मनः । ५७

उनके लिए आत्ममायाके अतिरिक्त जन्मका और कोई कारण नहीं। जैसे दूसरोंका जन्म उनके कर्मके सम्बन्धसे होता है, वैसे भगवान्‌का जन्म उनके कर्मके सम्बन्धसे नहीं होता। उनकी लीला स्थिति, सृष्टि, प्रलयके लिए होती है। यह मायाचेष्टित है कि वे सृष्टि बना देते हैं और यह अनुग्रह-चेष्टित है कि संसारकी परम्पराकी निवृत्ति होती है, आत्मबोध होता है, आत्म-साक्षात्कार होता है। भगवान्‌की लीला दो प्रकारकी है—एक माया-लीला और दूसरी अनुग्रह-लीला। मायालीला सृष्टिको बनाती है। स्थिति और प्रलय करती है—इस परम्पराको चलाती है। अनुग्रहलीला वह है जिससे संसारकी निवृत्ति हो जाये ओर आत्मसाक्षात्कार हो जाये—

अनुग्रहस्तन्निवृत्तेरात्मलाभाय चेष्यते । ५८

जब असुर लोग राजाका रूप धारण करके, अक्षौहिणी-की-अक्षौहिणी सेना इकट्ठी करके पृथिवीपर आक्रमण करते हैं तब भगवान् संकर्षणके साथ प्रकट होकर ऐसे कर्म करते हैं, जिसे मनुष्य सोच भी नहीं सकता। जो लोग कलियुगमें जन्म लेते हैं उनके दुःख, शोक और तमःको नष्टकरनेके लिए और भक्तोंपर अनुग्रह करनेके लिए भगवान् अपने पुण्य-यशका विस्तार करते हैं।

भगवान्‌की लीला सन्तोंके कानोंके लिए अमृत है। उनका यश साक्षात् तीर्थ है। एकबार अपने कानोंको इसमें नहला दीजिये। इससे कर्मवासना, जो स्वाभाविक, प्राकृत प्रवाहके रूपमें चल रही है। भगवान् यदुवंशियोंमें अवतार लेकर श्लाघनीय चरित्र करते हैं। कौरवों-पाण्डवोंके साथ बड़ी लीला करते हैं। वे अपनी स्नेह और मुस्कानसे युक्त चितवन, अपने उदार वचन, अपनी विक्रमपूर्ण लीला और सर्वांग मूर्तिसे लोकोंको आनन्द देते हैं। मकराकृति कुण्डलोंसे उनके कानोंकी शोभा बढ़ जाती है और जब कपोलपर उनकी छाया पड़ती है तब वे और भी खिल उठते हैं। उनकी विलासपूर्ण हँसीको देखकर नित्य-नित्य परमानन्दका अनुभव होता है। नर-नारी उनके सौन्दर्यको अपने नेत्रोंसे पीते रहते हैं; लेकिन कभी तृप्त नहीं होते और निमिपर नाराज होते हैं कि तुम क्यों हमारी आँखोंपर बैठ गये, जिससे पलकें गिरती और उठती हैं।

भगवान् श्रीकृष्ण प्रकट होकर पिताके घरसे व्रजमें गये। फिर आकर कंसको मारा। उसके बाद उन्होंने द्वारिकामें जाकर बहुत सारे ब्याह किये, यज्ञ किये और अपने साक्षात्कारकी पद्धतिको प्रकट किया। पृथिवीका भार दूर किया। कौरव पाण्डवका युद्ध कराया। अपने भक्तोंके जयकी उद्घोषणा की। अन्तमें उद्धवजीको तत्त्वज्ञानका उपदेश देकर अपने धाममें चले गये।

हरिः ॐ तत्सत्



भागवत-दर्शन


श्रीमद्भागवत महापुराण


२

दशम स्कन्ध
(पूर्वार्द्ध)



प्रवचन
अनन्तश्री विभूषित
स्वामी अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय

दशम स्कन्ध : पूर्वार्द्ध

: १ :

कथितो वंशविस्तारो भवता सोमसूर्ययोः।
राज्ञां चोभयवंश्यानां चरितं परमाद्भुतम् ॥ १

राजा परीक्षितने कहा—भगवन्, आपने सोमवंश और सूर्यवंशके विस्तारका विशद वर्णन किया।

यहाँ देखो, किसी भी वक्तासे यह कहना कि आपने विस्तारसे वर्णन किया, आदर-बोधक नहीं होता। असलमें परीक्षितको श्रीकृष्ण-यशके श्रवणमें इतनी श्रद्धा है कि दूसरोंका चरित्र थोड़ा होनेपर भी उन्हें विस्तृत मालूम पड़ता है। उन्हें तो केवल श्रीकृष्ण-चरित्र चाहिए, और कोई चरित्र नहीं चाहिए। इसीलिए उनकी दृष्टिमें शुकदेवजीका वर्णन विस्तारपूर्वक प्रतीत होता है।

दूसरी बात यह कि सोम और सूर्यके प्रसंगमें उन्होंने पहले सोमका नाम लिया, जब कि पहले सूर्यका नाम लेना चाहिए और 'सूर्यसोमयोः' कहना चाहिए, क्योंकि सूर्य श्रेष्ठ हैं, सोम छोटे हैं। परन्तु यहाँ उनका अभिप्राय यह बताना है कि जिस वंशमें हमारे इष्टदेवता भगवान् श्रीकृष्णका जन्म हुआ, वही बड़ा है।

परीक्षितने आगे कहा कि आपने जो दोनों वंशोंके राजाओंका चरित्र सुनाया, वह परमाद्भुत है, अत्यन्त विस्मयजनक है। परम धर्मकी दृष्टिसे अद्भुत है, परम धर्मानुष्ठानकी दृष्टिसे अद्भुत है, परम भक्तियोगकी दृष्टिसे अद्भुत है, परम अष्टांग-योगकी दृष्टिसे अद्भुत है एवं परम ज्ञान-योगकी दृष्टिसे अद्भुत है। वास्तवमें इन दोनों वंशोंमें बड़े-बड़े धर्मात्मा, भक्त, योगी, ज्ञानी हुए हैं।

आपने नितरां धर्मशील यदुके चरित्रका भी वर्णन किया, जिन्होंने अपनी आयु अपनी माताके भोगके लिए पिताको नहीं दी।

यहाँ श्रीशुकदेवजीके लिए मुनिसत्तम (२) पदका प्रयोग है। एक मुनि होते हैं, दूसरे मुनि-सत्तर होते हैं और तीसरे मुनिसत्तम होते हैं। श्रीशुकदेवजी महाराज मुनिसत्तम हैं। मुनियोंकी सभी कक्षाओंको पार करके बैठे हुए हैं।

तत्रांशेनावतीर्णस्य विष्णोर्वीर्याणि शंस नः। २

यहाँ तत्र शब्दका अर्थ है, उसी यदुवंशमें, इन्हीं यदुके वंशमें। 'अंशेन अवतीर्णस्य'—इसका अर्थ करते हुए श्रीधर स्वामीने कहा कि अंश शब्दका तात्पर्य अंशावतार नहीं है, जैसा कि साढ़े तीन हाथका शरीर दिखता है। प्रतीतिके अभिप्रायसे ही यहाँ 'अंशेन' शब्दका प्रयोग किया हुआ है। परीक्षितके कथनका तात्पर्य यह है कि 'तत्र अंशेन विष्णोः' अर्थात् 'अंशेन यः विष्णुः भवत्ति तस्य'—जो अपने एक अंशसे विष्णुरूप होते हैं, उन परमेश्वरके जन्मकी कथा कहिये।

ग्रन्थोंमें ऐसा वर्णन मिलता है कि एक परमेश्वर ही गुणोंके द्वारा, गुणावतारके रूपमें ब्रह्मा, विष्णु, शिवकी संज्ञा ग्रहण करता है। इसलिए 'अंशेन' कहा। दूसरा अर्थ है कि 'अंशेन' शुकदेवजी महाराजके लिए सम्बोधन है, जिसका मतलब है कि संसारमें भगवदंशरूप जितने भी जीव हैं, उनमें श्रीशुकदेवजी सूर्यके समान श्रेष्ठ हैं। तीसरा अर्थ है 'अंशेन शंस नः सामस्त्येन वक्तुमशक्यत्वात्—क्योंकि भगवान्‌का सम्पूर्ण शंसन नहीं हो सकता, इसलिए 'अंशेन शंस नः' संक्षेपमें हमको सुनाइये।

परीक्षित आगे कहते हैं कि भूत-भावन भगवान्‌ने 'न केवलं यदोर्वंशे किन्तु यद् आ ऊरु अंशे वैश्यवंशे वैश्यांशे—यदुवंश और नन्दवंशमें अवतार लेकर जो कुछ किया, वह आप कृपा करके विस्तरात् अर्थात्—विस्तारपूर्वक बताइये।

निवृत्ततर्षैरुपगीयमानाद् भवौषधाच्छ्रोत्रमनोऽभिरामात्। ४

इस श्लोकसे यह बताते हैं कि श्रोताकी भगवत्कथामें कितनी रुचि है। कहते हैं कि भगवच्चरित्र भवरोगकी औषध है—'ओषति दोषान् धत्ते गुणान्।'

ठीक है, मान लिया कि भगवत्कथा भवरोगकी औषध है, लेकिन यह तो बताओ कि इसका नुस्खा बतानेवाला वैद्य कैसा है?

इसका उत्तर है कि वह वैद्य निवृत्ततर्षैरुपगोयमानाद् अर्थात् 'निवृत्तदैतर्ष' जिसका, जिसके

मनमें कोई तृष्णा नहीं है, वह नुस्खेको छिपाकर भी नहीं रखता, गाकर बता देता है कि 'भवौषधात्'—भवरोगकी दवा है।

अच्छा वह दवा कैसी है ? खानेमें कड़वी तो नहीं है ? बोले नहीं, 'श्रोत्रमनोऽभिरामात्'—वह खानेकी नहीं, सुननेकी दवा है और मनको भी बड़ी प्यारी लगती है। यदि यहाँ 'भवौषधात्' को विशेष्य बनाकर सारे प्रयुक्त विशेषणोंकी संगति जोड़ दें तो ऐसा अर्थ हो जाता है। ऐसा भी अर्थ हो सकता है कि संसारके जीवोंमें कोई अमर होता है, कोई मुक्त होता है, कोई मुमुक्षु होता है और कोई विषयी होता है। इन चारों प्रकारके जीवोंके लिए भगवत्कथा कल्याणकारिणी है। इसलिए निवृत्ततर्ष शुकदेव और व्यास-नारदादि इसका गान करते रहते हैं। तात्पर्य यह कि भगवत्कथा भक्तोंके लिए बहुत प्रिय है और वे 'उपगीयमानाद्'—भगवान्के पास बैठकर उसका गान करते रहते हैं। वह मुमुक्षुओंके लिए 'भवौषधात्'—संसार-रोगकी औषध है और विषयी पुरुषोंके 'श्रोत्रमनोऽभिरामात्'—कान और मनके लिए अभिराम है।

क उत्तमश्लोकगुणानुवादात् पुमान् विरज्येत । ४

ऐसा कौन पुरुष है, जो उत्तमश्लोक भगवान्के गुणानुवादसे विरक्त हो जाय ? उत्तमश्लोक अर्थात्—'उत्तमैः श्लोक्यते इति, उत्तमः श्लोको यस्य इति'। उत्तमश्लोक भगवान् हैं, उनके गुणानुवादसे कौन विरक्त हो सकता है ? बोले कि कोई-कोई हो तो जाते हैं। किन्तु वही होते हैं, जो पामर होते हैं। 'अपशुघ्नात् विना—अपशुचम् आत्मानं हन्ति इति अपशुघ्नाः तस्मात् विना तस्माद् ऋते'—भगवत्कथासे आत्मघातीको छोड़कर और कोई विरक्त नहीं हो सकता।

इसका और भी कई तरहसे अर्थ करते हैं। कई 'पशुघ्नात्' ही रख देते हैं कि कौन अकारका प्रश्लेष करे। मतलब यह कि जो यह कथा नहीं सुनता, वह कसाई है। कहीं-कहीं कर्मकाण्डियोंपर भी आक्षेप करते हुए कहते हैं कि वे यज्ञ-यागादिमें पशुघात करते-करते इतने कठोर हो गये हैं कि भगवत्कथासे प्रेम नहीं करते। कहते हैं कि भगवत्कथा तो कहानी-किस्सा है, इसमें क्या रखा है ? सच्चा काम तो बस होम करना है। तत्काल हृदयको पवित्र कर देनेवाली भगवत्कथामें इनकी रुचि नहीं है।

परीक्षित कहते हैं कि दूसरे चाहे जो समझें मेरे वंशके साथ तो भगवान्का विशेष सम्बन्ध है। मेरे पिता-पितामहके लिए कौरव-सेना महासमुद्र-जैसी थी। उसमें अमरञ्जय देवव्रत आदि बड़े-बड़े मगरमच्छके समान थे। उनके कारण कौरव-सेना दुरत्यय हो गयी थी। परन्तु वे

भगवान्‌का आश्रय ग्रहण करके, उनके चरणारविन्दकी नौकापर चढ़कर कौरव-सेनाके उस महासमुद्रसे पार हो गये। और मैं अपने बारेमें क्या कहूँ? 'द्रौण्यस्त्रविप्लुष्टमिदं मदङ्गम्'— मेरा जो अङ्ग है, यह अश्वत्थामाके अस्त्रसे विप्लुष्ट हो गया था, भस्म हो गया था। इसके विना वो कुरुपाण्डवका सन्तान-बीज ही नष्ट हो जाता। किन्तु जब मेरी माता भगवान्‌की शरणमें गयी, तब वे हाथमें चक्र लेकर पेटमें प्रविष्ट हो गये और उन्होंने हमारी रक्षा की। इसलिए भगवन्, आप मुझे मेरे विशेष रूपसे रक्षक श्रीकृष्णकी लीला सुनाइये।

जुगोप कुक्षिं गत आत्तचक्रः। ६

देखो, प्रथम स्कन्धमें गदाका वर्णन है और यहाँ चक्रका वर्णन है। इसकी संगति यही है कि जब भगवान् गदा घुमाते थे तो वह चक्राकार मालूम पड़ती थी।

परीक्षित शुकदेवजीसे कहते हैं कि भगवान् इतने कृपालु हैं कि मेरी माताके शरणमें जानेपर भी मेरे भाई बन गये, उसी गर्भमें आगये जिसमें मैं था और वहाँ उन्होंने मेरी रक्षा की। उनकी कथा आप जरूर सुनाइये। उनके चरित्र ऐसे हैं, जो अवश्य सुनने योग्य हैं। वे सम्पूर्ण प्राणियोंके बाहर और भीतर बैठे हैं—बाहर कालके रूपमें और भीतर पुरुषके रूपमें। बाहरसे मृत्यु दे रहे हैं और भीतरसे अमृतत्व प्रदान कर रहे हैं।

मायामनुष्यस्य वदस्व विद्वन्। ७

वे मायासे मनुष्याकार हैं, किन्तु हैं साक्षात् भगवान्। विद्वन्, आप उनके वीर्यका वर्णन कीजिये।

कहा गया है कि रोहिणीके पुत्र हैं राम—सङ्कर्षण, परन्तु देवकीके गर्भके साथ उनका सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध देहान्तरके विना कैसे सम्भव हुआ? वे पिताके घरसे व्रजमें कैसे गये और वहाँ अपने जातिवालोंके साथ कैसे रहे? उन्होंने व्रजमें रहकर क्या किया? मधुपुरीमें क्या किया? उन्होंने अपनी माताके भाई कंसको मारा, यह कहाँतक उचित है? कहीं मामाको भी कोई मारता है? मामा तो मारने योग्य नहीं होता, फिर क्यों मारा उन्होंने? यह तो अयोग्य है।

यह भी बताइये कि भगवान्‌ने मनुष्यका शरीर ग्रहण करके कितने वर्षोंतक वृष्णियोंके साथ निवास किया? उनकी कितनी पत्नियाँ हुईं? कृपया आप उनको इन सब लीलाओंका वर्णन कीजिये और जिन लीलाओंके सम्बन्धमें मैंने नहीं पूछा है, उन्हें भी बताइये। क्योंकि

आप सर्वज्ञ हैं ओर मैं श्रद्धालु हूँ। आप यदि नहीं जानते तो न बताते और यदि मैं श्रद्धालु न होता तब भी आप छिपा लेते। इसलिए मुझे आप विस्तारपूर्वक सब कथा सुनाइये।

शुकदेवजी महाराजने कहा कि अच्छा राजन्! थोड़ी देरतक विश्राम कर लो, जलपान कर लो। भूख-प्यास लगी है, इसका निवारण कर लो। फिर उसके बाद सुनना।

परीक्षित बोले—महाराज मुझे भूख-प्यास नहीं लगी है—'नैषातिदुःसहा क्षुन्मां त्यक्तोदमपि बाधते (१३)।' मुझे तो भूख-प्यासका साक्षात् अपरोक्ष हो रहा है। एक दिन अवश्य मुझे भूख-प्यास लगी थी। उससे ऐसा अनर्थ हुआ कि मैंने महात्माके गलेमें मरा हुआ साँप डाल दिया। इसपर उनके बेटेने कहा कि तुमने हमारे पिताके गलेमें तो मरा हुआ साँप पहनाया, किन्तु मैं तुम्हारे गलेमें जिन्दा साँप ही डाल दूँगा और फिर उसने तक्षक द्वारा मुझे काटे जानेका शाप दे दिया। इसलिए अब मुझको भूख-प्यास बिल्कुल नहीं है। मैं तो आपके मुखारविन्दसे झरते हुए भगवान्के लीला-कथामृतका पान करके तृप्त हूँ।

पिबन्तं त्वन्मुखाम्भोजच्युतं हरिकथामृतम्। १३

यहाँ 'मुखाम्भोजच्युतम्' पदका अर्थ करते हैं मुखचन्द्रच्युत। अम्भोजका अर्थ कमल नहीं, चन्द्रमा है। कोई-कोई 'अम्भोज'का अर्थ धन्वन्तरि भी करते हैं और तब पद बनता है—'मुखधन्वन्तरिच्युतम्।' क्योंकि धन्वन्तरि भी समुद्र-मन्थनके समय चन्द्रमाकी तरह जलधिमें-से ही पैदा हुए हैं इसलिए। धन्वन्तरिरूप आपका जो मुखारविन्द है, उससे भगवत्कथामृत प्रकट हो रहा है।

श्रीशुकदेवजी महाराज इसप्रकारके प्रश्न सुनकर बड़े ही प्रसन्न हुए और बोले कि परीक्षित, तुमने बहुत अच्छे प्रश्न किये—'प्रत्यर्च्य कृष्णचरितं कलिकल्मषघ्नं व्याहर्तुमारभत (१४)।' तुम भगवान्का कलिकल्मषघ्न चरित्र अवश्य सुनो। कलियुगमें चारों ओर कर्मकी मलिनता लगी हुई है। कर्मकी काई ही कर्मष है। इसीको कल्मष कहते हैं—'रलयोः अभेदः।' कर्मष एव कल्मषम् इत्युच्यते। इस कल्मषको काटनेवाली भगवान्की लीला है।

देखो, परीक्षितने शुकदेवजीको 'मुनिसत्तम' कहकर सम्बोधित किया था और यहाँ श्रीशुकदेवजीने परीक्षितको 'राजर्षिसत्तम' कहकर सम्बोधित किया है। उनका मतलब यह है कि यदि मैं 'मुनिसत्तम' हूँ तो तुम 'राजर्षिसत्तम' हो। राजा शब्द तुममें विशेष है। वासुदेवकथामें तुम्हारी नैष्ठिकी, स्वाभाविकी प्रीति हो गयी है। कथा सुनना तो दूर, वासुदेव-कथा-

विषयक प्रश्न भी वक्ता, प्रष्टा और श्रोता तीनोंको पवित्र कर देता है—ठीक वैसे ही, जैसे भगवच्चरणाजिन्दका जल सभीको पवित्र कर देता है :

भूमिर्दृप्तनृपव्याज - दैत्यानीकशतायुतैः ।
आक्रान्ताः भूरिभारेण ब्रह्माणं शरणं ययौ ॥ १७

अब शुकदेवजीने विना भूमिकाके ही ग्रन्थका प्रवचन प्रारम्भ कर दिया। वे कहने लगे कि इस पृथिवीपर हजारों-लाखों दैत्य राजाओंके रूपमें प्रकट हुए। उनकी पहचान थी उनकी दृप्ति, उनका दर्प, उनका अभिमान। यही दैत्यका लक्षण है। वे समझते हैं कि हमारे बराबर और कौन है ?

देखो, आपको दर्पण शब्दका ज्ञान तो है ही। दर्पण कहते हैं—आइनेको, शीशेको। दर्पणका अर्थ है—'दृप्यति अनेन इति दर्पणः'—जिसमें अपना मुँह देखकर, मूँछ ऐंठकर और बड़ी-बड़ी आँखें निकालकर आदमी यह समझे कि हमारे समान दूसरा कौन है; मनुष्यको जब अपनी सांसारिक सम्पत्ति देखकर दर्प होता है, तब वह दृप्त हो जाता है।

इसप्रकारके स्वभाववाले दैत्योंने पृथिवीपर भार डाल दिया। पृथिवी व्याकुल होकर भगवान्‌के पास जानेको तत्पर हुई। परन्तु भूदेवीने सोचा कि भगवान् तो वैकुण्ठमें उसकी सौतके पास हैं। इसलिए मैं उनके घर कैसे जाऊँ ? उसने विचार किया कि अपना पति यदि सौतके घरमें हो और उसके पास कभी जाना हो तो बेटेको साथ लेकर जाना चाहिए। अकेले कभी नहीं जाना चाहिए। इसलिए भूदेवी अपने पुत्र ब्रह्माके पास गयीं—'ब्रह्माणं शरणं ययौ।'

वहाँ भूदेवी गाय बन गयी और जैसे पुत्रको देखकर मातामें वात्सल्यका उदय होता है, वही स्थिति उसकी हो गयी। किन्तु 'गौर्भूत्वाश्रुमुखी खिन्ना (१८)'—गायकी आँखोंमें आँसू बहकर मुखपर आ रहे हैं, उसका हृदय खिन्न हो गया है और वह करुण क्रन्दन कर रही है। उसने ब्रह्माजीके पास पहुँचकर उनके सामने अपना दुःख बताया। ब्रह्माने तुरन्त उसके दुःखको समझा और कहा कि अकेले काम नहीं बनेगा। वे भूदेवी, भगवान् शंकर और अन्यान्य प्रमुख देवताओंको साथ लेकर क्षीरसागरके तटपर गये।

यहाँ इसका आध्यात्मिक अर्थ देखो। जैसे बाह्य देहमें रहनेवाली वृत्ति अन्तःकरणमें चली जाय उसी तरह गाय ब्रह्माके पास गयी और वहाँ सम्पूर्ण इन्द्रियोंकी वृत्तिकी तरह प्रमुख देवता इकट्ठे हो गये। त्रिनयन भगवान् शंकर तमःके देवता हैं और ब्रह्मा रजःके देवता हैं। ये सब-के-

सब क्षीर-पयोनिधिरूप सत्त्व-समुद्रमें विराजमान भगवान्के पास गये और वहाँ जाकर उन्होंने पुरुषसूक्तके द्वारा भगवान्की स्तुति की।

देखो, किसीसे कुछ निवेदन करना हो तो वह उसीकी भाषामें बोलनेपर ठीक-ठीक समझता है। तुम्हें किसीसे अपना कोई काम निकालना हो और तुम कहो कि नहीं-नहीं तुम्हारी समझमें आये या न आये, हम तो अपनी ही भाषामें बोलेंगे तो इसका मतलब यह हुआ कि तुम अपना काम नहीं बनाना चाहते। इसलिए देवताओंने पुरुषसूक्तसे परम पुरुष प्रभुकी स्तुति की—'पुरुषं पुरुषसूक्तेन' (२०)। पुरुषसूक्त माने पुरुषकी वाणी। यह वेद है।

जब वेद-वचनसे भगवान्की स्तुति करते-करते ब्रह्माजी एकाग्र हो गये—'उपतस्थे समाहितः' (२०) तब उन्होंने अपने हृदयाकाशमें एक वाणी सुनी—

गिरं समाधौ गगने समीरितां निशम्य वेधास्त्रिदशानुवाच ह। २१

यह वाणी दूसरोंने नहीं सुनी, केवल विधाताने सुनी। विदधाति इति वेधाः—वेधा या विधाता उसको कहते हैं, जो संसारका विधान करता है। उन्होंने तीन अवस्थावाले देवताओंसे कहा कि देवताओं, पहले पुरुषने मुझसे जो कहा है, उसे सुनो और उसके बाद तुरन्त वैसा ही करो—

गां पौरुषीं मे शृणुतामराः पुनर्विधीयतामाशु। २१

इसका अर्थ है कि उस परम पुरुषकी वाणीके पालनमें थोड़ी भी देर नहीं होनी चाहिए। यहाँ 'आशु' और 'मा चिरम्' में पुनरुक्ति न हो, इसके लिए दो शब्द बोल दिया गया। ब्रह्माजीने आगे कहा कि पृथिवीको जो दुःख है, वह परमात्माको पहलेसे ही मालूम है, उसे बतानेकी आवश्यकता नहीं—'पुरैव पुंसावधृतो धराज्वरः' (२२)।

इसको ऐसे समझो कि यदि किसीकी पत्नीको कोई तकलीफ हो, पतिको कुछ मालूम न हो, गाँवके लोग डेप्युटेशन लेकर आवें और पतिको बतावें कि तुम्हारी पत्नीको बुखार है, तुम उसकी दवा करो, तो इसमें पतिकी कितनी बड़ी बदनामी है!

इसलिए ब्रह्माजी कहते हैं—देवताओं, भगवान्ने कहा है कि मेरी पत्नी भूदेवीको बड़ा कष्ट है, यह मुझे मालूम है। यही कारण है कि ईश्वरेश्वर प्रभु अपनी कालशक्तिसे पृथिवीका भार दूर करनेके लिए अवतार ले रहे हैं। कहाँ अवतार ले रहे हैं? 'वसुदेव-गृहे'—वसुदेवके घरमें साक्षात्

परम पुरुष भगवान्‌का अवतार हो रहा है। परन्तु वसुदेवका घर कहाँ है ? वह तो कंसके कारागारमें है । हाँ, हाँ, ठीक है वसुदेव-देवकी उसके कारागारमें हैं।

यहाँ गृहे शब्दका अर्थ घर नहीं, गृहिणी है—'गृहिणी गृहमुच्यते।' इसलिए ब्रह्माजी कहते हैं—वसुदेव-गृहे देवक्यां साक्षाद् भगवान् पुरुषः परः— वसुदेव-देवकीसे साक्षात् पुरुषोत्तम भगवान्‌का जन्म होनेवाला है। उनको प्रसन्न करनेके लिए देवाङ्गनाओंकी भी आवश्यकता है— 'तत्प्रियार्थं सम्भवन्तु सुरस्त्रियः' (२३)।

कोई-कोई 'तत्प्रियार्थम्'का अर्थ करते हैं—'तस्य प्रिया तत्प्रिया राधा तदर्थं सम्भवन्तु सुरस्त्रियः' अर्थात् उनके साथ उनकी जो श्रीमती राधारानीजी आ रही हैं, उनके लिए देवाङ्गनाओंकी जरूरत है।

ब्रह्माजीने कहा—भगवान्‌के पहले ही सहस्रवदन श्रीशेषजी अवतार ग्रहण करेंगे। रामावतारमें जरा पिछड़ गये थे। पहले श्रीरामजी हुए, पीछे लक्ष्मणजी हुए। इसलिए कोई बात सामने आवे तो श्रीरामजी कहें कि लक्ष्मण, तुम चुप रहो, छोटे भाई हो। उन्होंने परशुरामके प्रसङ्गमें लक्ष्मणजीको छोटे भाईके नाते दबा दिया, वनगमनके प्रसङ्गमें भी दबा दिया। लगता है, लक्ष्मणजीके मनमें यह बात चुभ रही थी। इसलिए उन्होंने सोचा कि भगवान्‌की सेवा उनसे छोटा बनकर ही नहीं की जाती। अबकी बार इनकी सेवा बड़ा भाई बनकर ही करेंगे और कहेंगे कि कृष्ण, तुमको हमारी बात माननी पड़ेगी।

अतः ब्रह्माजी कहते हैं—श्रीशेषजी 'अग्रतो भविता देवो हरेः प्रियचिकीर्षया' (२४)— भगवान्‌की सेवाके लिए पहले ही अवतार लेनेवाले हैं। उनके अतिरिक्त भगवान् विष्णुकी आज्ञासे, उनकी माया भी—जिनसे यह जगत् मोहित है—अवतार लेनेवाली है।

इस प्रकार ब्रह्माजीने देवताओंको समझा-बुझाकर आदेश दिया कि तुम लोग भी अपने-अपने अंशसे यदुकुलमें जन्म लेकर भगवान्‌की लीलामें सहयोग दो। इसके बाद ब्रह्माजी देवताओंको आश्वासन देकर अपने परमधाम चले गये।

अव वर्णन आता है शूरसेनका। कार्तवीर्य अर्जुनके जो पाँच पुत्र बचे थे, उनमें-से एक शूरसेन थे, जो यदुवंशियोंके स्वामी थे। वे मथुरामें रहते थे और वहाँसे माथुर-मण्डल तथा शूरसेन-मण्डलका शासन करते थे।

'विषयान् बुभुजे पुरा' (२७)—इस वाक्यके 'विषयान्'का अर्थ देश और 'बुभुजे'का अर्थ पालना है। इसका यह अर्थ नहीं है कि शूरसेन माथुर-मण्डल और शूरसेन-मण्डलके विषयोंका भोग करते थे। यही अर्थ है कि शूरसेन मथुरा और शूरसेन नामक प्रदेशोंका पालन करते थे, उनकी रक्षा करते थे। यह भागवतका व्याकरण है, इस क्रियापदका यही तात्पर्य है। शूरसेनके शासनकालसे ही मथुरा यादवोंकी राजधानी हो गयी। वहाँ भगवान्‌का नित्य निवास है।

शूरसेनके पुत्र हुए वसुदेव और उनका विवाह सूर्या देवकीसे हुआ। सूर्यया कहते हैं नवोढ़याको। एक दिन वसुदेवजी अपनी पत्नी देवकीके साथ घर जानेके लिए बिदा हुए। देवकीका चचेरा भाई कंस, जो उग्रसेनका पुत्र था, अपनी बहन और बहनोईको प्रसन्न करनेके लिए उनके रथका सारथि बन गया और घोड़ोंकी बागडोर पकड़कर रथ हाँकने लगा। सैकड़ों स्वर्णमण्डित रथ उसके पीछे-पीछे चल रहे थे।

देवकीके पिताका नाम था देवक। वे अपनी पुत्रीको बड़ा प्यार करते थे। उन्होंने उसको विदा करते समय सोनेके हार पहनाकर चार सौ हाथी दिये, डेढ़ हजार घोड़े दिये, अट्ठारह सौ रथ दिये और दो सौ सुकुमारी दासियाँ दीं। इसप्रकार बहुत कुछ मिला वसुदेव-देवकीको। उनकी विदाईके समय बाजे बजने लगे।

इधर देवताओंने विचार किया कि जब कंस देवकी-वसुदेवसे इतना प्रेम करेगा तब उनसे प्रकट होकर भगवान् उसको कैसे मारेंगे? इसलिए कुछ ऐसा किया जाय कि कंसका देवकी-वसुदेवसे द्वेष हो जाय और भगवान् भक्तद्वेषी कंसको मारें। इतनेमें यह आकाशवाणी हो गयी—'अस्यास्त्वामष्टमो गर्भो हन्ता यां वहसेऽबुध (३४)'—अरे मूर्ख, जिसको तू रथपर बैठाये ले जा रहा है, उसके आठवें गर्भकी सन्तान तुझे मार डालेगी।

यहाँ देखो, आकाशवाणीकी विशेषता—अष्टम पुत्र नहीं, अष्टम पुत्री नहीं, आठवाँ गर्भ। मिटा दिया आकाशवाणीने पुत्र और पुत्रीके झगड़ेको। इसके बाद तुरन्त ही यह बात प्रकट हो गयी कि कंसके हृदयमें सच्चा प्रेम नहीं है। वह तो खल है, पापी है, कुलकलंक है—कुलका नाश करनेवाला है, क्योंकि आकाशवाणी सुनते ही उसने म्यानसे तलवार निकाल ली और बाँयें हाथसे देवकीको चोटी पकड़कर उसको मारनेके लिए तैयार हो गया। महाभाग्यवान् वसुदेवने देखा कि कंस बड़ा निन्दित कर्म करने जा रहा है। यह तो क्रूर है, निर्लज्ज है। उन्होंने सोचा कि इसको हम न तो मार सकते हैं और न दण्ड ही दे सकते हैं। यह कुछ लेने-देनेसे भी नहीं मानेगा। शायद समझाने-बुझानेसे मान जाय!

कहते हैं कि किसीको प्रसन्न करना हो तो पहले उसके गुणोंका कीर्तन करना चाहिए, फिर उससे सम्बन्धका वर्णन करना चाहिए। बात करनेके छह प्रकार बताये गये हैं। वसुदेवजीने छहों प्रकारसे बात की। वे बोले कि राजकुमार, बड़े-बड़े शूरवीर आपके गुणोंकी श्लाघा करते हैं। आप भोजवंशकी कीर्ति बढ़ानेवाले हैं। देवकी एक तो आपकी बहन है, दूसरे स्त्री है और तीसरे विवाहका अवसर है। आप इसको कैसे मारेंगे ?

रही बात मृत्युकी, वह तो देहके साथ ही पैदा होती है। देहकी मृत्यु जरूर होती है। यह देह पञ्चभूतोंसे बना हुआ है! जब पाँचों भूतोंके अंश पाँचों भूतोंमें मिल जाते हैं, तब उसका नाम पञ्चत्वकी प्राप्ति अर्थात् मृत्यु हो जाता है। उस समय इस शरीरमें जो जीव है, वह इसको छोड़कर दूसरे शरीरमें चला जाता है। जैसे चलता हुआ आदमी अगला पाँव जमानेके बाद पिछला पाँव उठाता है, वैसे ही जीव वासनासे अगला शरीर पकड़कर, पहले शरीरको छोड़ता है। उसे स्वप्नमें दूसरा शरीर मिल जाता है। कभी-कभी जागते-जागते ही ऐसा हो जाता है कि हम जो कुछ देखते-सुनते हैं, उसका मनके द्वारा अनुचिन्तन करते-करते वही हो जाते हैं और उसके पहलेकी बातें भूल जाती हैं। इसीप्रकार मनुष्य अपनी वासनाके अनुसार दृश्यकी कल्पना करके जब उसमें तन्मय हो जाता है, तब इस शरीरको भूल जाता है और यह छूट जाता है। मनुष्यका कर्म-प्रेरित मन पञ्चभूतोंमें जाकर अटकता है। देवता और पशु-पक्षी आदिके शरीर भी जिस-जिसके साथ मिल जाते हैं, वही हो जाते हैं और उसीके साथ प्रकट हो जाते हैं। जैसे सूर्य और चन्द्रमा आदिकी ज्योति पानी और तैल आदिमें प्रतिबिम्बित होती है और जब वायुवेगसे पानी या तेल काँपता है तो वह ज्योति भी काँपती हुई मालूम पड़ती है, वैसे ही चैतन्य अन्तःकरणमें प्रतिबिम्बित होकर, अभिनिविष्ट होकर उसके हिलने-डोलने और चञ्चलता आदिको अपनेमें स्वीकार करता है।

असलमें इस द्रव्यात्मक देहमें, परिच्छिन्न शरीरमें तादात्म्य हुए बिना न तो जन्म-मरण हो सकता है और न गमनागमन हो सकता है। गमनागमन देशमें होता है, जन्म-मरण कालमें होता है और तादात्म्य द्रव्यके साथ होता है। जहाँ द्रव्यके साथ, देहके साथ, परिच्छिन्न शरीरके साथ तादात्म्य हुआ, वहाँ जन्म-मरणरूप काल-गति और गमनागमनरूप देश-गतिकी प्राप्ति हो जाती है। यदि द्रव्यमें मैं-मेरा न हो तो जीव अपने स्वरूपमें स्थित हो जाय, मुक्त हो जाय। रागके कारण ही मनुष्य फँसा हुआ है। अतः किसीसे द्रोह नहीं करना चाहिए। यदि अपना कल्याण चाहते हो तो रागसे जरूर बचो। 'द्रोग्धुर्वै परतो भयम् (४४)'—इसी तरह जो किसीसे द्रोह करेगा, उसको भयकी प्राप्ति जरूर होगी।

वसुदेवजी आगे कहते हैं—'एषा तवानुजा बाला कृपणा पुत्रिकोपमा (४५)'—यह तो तुम्हारी छोटी बहन है। अभी बच्ची है, गरीब है, तुम्हारी बेटीके समान है। इस कल्याणीको, जिसके हाथमें अभी विवाहका चिह्न कङ्कन बँधा हुआ है, मत मारो। तुम तो दीनवत्सल हो।

जब वसुदेवजीने कंसको दीनवत्सल कहा तो मानो सरस्वती तिलमिला गयी। उसको यह दुःख हो गया कि हाय-हाय इस पापी और हिंसक कंसको वसुदेवजी दीनवत्सल (४६) कहते हैं। लेकिन तबतक उसको दीनवत्सलका एक और अर्थ ध्यानमें आगया! वह इसप्रकार है—'दीनानाम् वत्सानपि लाति चोरयति इति दीनवत्सलः।' जो गरीबोंको गायोंके बछड़ोंको नहीं छोड़ता, उनको चुराकर ले जाता है, इसका नाम भी दीनवत्सल होता है।

जब वसुदेवजीके बहुत समझाने-बुझानेके बाद भी कंस नहीं माना, तब उन्होंने सोचा कि यह तो हठमें आगया है, समझका आदर नहीं करता। इसलिए किसी प्रकार प्रस्तुत सङ्कटपूर्ण प्रसङ्गको टाल देना चाहिए—

प्राप्तं कालं प्रतिव्योढुमिदं तत्रान्वपद्यत। ४७

इस समय मौत सामने खड़ी है। यद्यपि इसको एक क्षणके लिए भी टालना मुश्किल है। फिर भी आज टल जाय तो उचित रहेगा। बुद्धिमान् पुरुषका यह काम है कि जहाँतक उसकी बुद्धि और बल चले, वहाँतक मौतको हटाये। यदि प्रयत्न करनेपर भी मृत्यु न हटे तो इसमें मनुष्यका अपराध नहीं।

वसुदेवजीने विचार किया कि आओ अपने होनेवाले बेटोंको ही मृत्युके मुखमें अर्पित कर दें और इस गरीबिनीको छुड़ा लें। पता नहीं हमारे बेटे होंगे भी या नहीं—'सुता मे यदि जायेरन्' (४९)। सम्भव है, जबतक बेटे होंगे तबतक यह कंस ही मर जाय। 'मृत्युर्वा न म्रियेत चेत्'—ऐसा भी तो हो सकता है कि हमारा बेटा पैदा होकर इसको ही मार डाले! क्योंकि ऐसा देखा गया है कि आती हुई बात टल जाती है और गयी हुई बात फिर वापस लौट आती है। जंगलमें लगनेवाली आगसे पासके पेड़ बच जाते हैं और दूरके पेड़ जल जाते हैं।

यह सब सोचकर वसुदेवजीने हृदयमें अनादर-भाव होते हुए भी कंसका बड़ा सम्मान किया। फिर भीतरसे बड़े दुःखी होते हुए भी बाहरसे हँसते हुए बोले कि सौम्य, इस देवकीसे तो तुमको कोई भय नहीं है, जैसा कि आकाशवाणीने कहा है, मैं इसके बच्चोंको तुम्हें समर्पित कर दूँगा, क्योंकि उन्हींसे तुमको भय है।

देखो, वसुदेवजी एक ऐसे पुरुष थे, जिनपर कंस-जैसा दुष्ट भी यह विश्वास करता था कि वे एक बार अपने मुँहसे जो बात कह देगें, उससे टलेंगे नहीं—'तद्वाक्यसारवित्' (५५)। इसके बाद कंसने देवकीको छोड़ दिया और वसुदेवजी उसकी प्रशंसा करते हुए अपने घर चले गये।

समय आनेपर देवकीके गर्भ रहे और बच्चे होने लगे। जब पहला बच्चा हुआ तब वसुदेवजीने उसको कंसके हाथोंमें दे दिया। इससे वसुदेवजीको कष्ट तो हुआ, परन्तु यदि उनकी बात झूठी हो जाती तो उनको और भी कष्ट होता।

देखो, साधु लोग बड़े-से-बड़ा कष्ट सह लेते हैं, विद्वानोंको किसी बातकी अपेक्षा नहीं होती, कदर्य लोग—नीच लोग बुरे-से-बुरा कर्म भी कर सकते हैं और धृतात्मा सब-कुछ छोड़ सकते हैं।

तो, वसुदेवजीकी सत्य-निष्ठा देखकर कंसको बड़ा सन्तोष हुआ। उसने कहा कि इस बच्चेको ले जाओ। जब आठवाँ गर्भ आयेगा तब देखेंगे। वसुदेवजी चले गये।

इसी बीचमें नारदजी वहाँ आगये। उन्होंने यह सोचा कि कंस धर्मात्मा बन जायेगा तो भगवान् इसका जल्दी उद्धार नहीं करेंगे। इसलिए भगवान् जल्दी-से-जल्दी इसका उद्धार करें—यही इसके लिए हितकारी है, क्योंकि यह भक्त तो हो ही नहीं सकता। यह सोचकर नारदजीने कंसको बताया कि व्रजमें जितने नन्दादि गोप हैं, वसुदेवादि वृष्णि-वंशी हैं, देवकी आदि यदुवंशकी स्त्रियाँ हैं, वे सब-के-सब देवता हैं। तुम्हारे पीछे जो लल्लो-चप्पो करते फिरते हैं—'ये च कंसमनुव्रताः'—वे सब भी देवता हैं। दैत्योंके कारण पृथिवीका भार बढ़ गया है, इसलिए इनकी ओरसे उनके वधका उद्योग हो रहा है।

कई लोग तो कहते हैं कि नारदजीने तूल रखकर, रेखा खींचकर समझा दिया कि अरे कंस, जो तू आठको गिनती समझता है, आठवें गर्भकी गणना करता है, उससे लगता है कि अभी तुझे गणित-शास्त्रका ज्ञान नहीं, यह सृष्टि तो ऐसी अनिवर्चनीय है कि यहाँ एक आठ हो जाय और आठ एक हो जाय।

यह कहकर देवर्षि नारद चले गये। उनके जानेपर कंसने यह निश्चय कर लिया कि उनकी बात झूठी नहीं हो सकती। अवश्य ही विष्णु हमारे वधके लिए आ रहे हैं। इसलिए

उसने वसुदेव-देवकीको हथकड़ी-बेड़ी लगाकर जेलखानेमें डाल दिया और उनकी सन्तानोंको 'अजनशङ्कया।' (६६)—विष्णु होनेकी आशंकासे मारने लगा।

यह बात देखनेमें आती है कि जो अपने प्राणोंको पुष्ट करनेवाले, प्राणपोषी और लोभी राजा होते हैं, वे अपने माता-पिता और भाई बन्धुओंको भी मार देते हैं। अपने स्वार्थको ही सब-कुछ समझनेवाले स्त्री-पुरुष कभी किसीके नहीं होते। लोभी पत्नी अपने पतिका धन भी चुरा लेती है और लोभी पति अपनी पत्नीके लिए भी कुछ नहीं छोड़ता। यह लोभ ऐसा दुष्ट है कि इसके वशीभूत लोग अपना-पराया कुछ नहीं समझते।

कंस जानता था कि मैं पूर्वजन्ममें कालनेमि था, विष्णुने मुझे मारा था और वही मैं कंसके रूपमें पैदा हुआ हूँ। इसलिए वह यदुवंशियोंसे विरोध करने लगा। इसके बाद कंसने अपनी पुलिससे कहा कि तुम हमारे पिता राजा उग्रसेनको गिरफ्तार कर लो। लेकिन पुलिसने जवाब दिया कि यह बात हमारे वशकी नहीं। वे राजा हैं, तुम राजकुमार हो। तुम्हारे कहनेसे उनको कैसे पकड़ें? फिर कंसने फौजको कहा तो फौजने भी मना कर दिया। एक भी आदमी ऐसा नहीं मिला, जो कंसके कहनेपर उग्रसेनको पकड़ ले।

स्वयं निगृह्य बुभुजे शूरसेनान् महाबलः। ६९

कंस इतना दुष्ट था कि वह स्वयं अपने हाथमें हथकड़ी-बेड़ी लेकर अपने बापके पास पहुँच गया। उसने ऐसा अनर्थ किया कि यदु, भोज और अन्धक वंशके स्वामी उग्रसेनको स्वयं पकड़कर, अपने-आप उनके हाथोंमें हथकड़ी और पाँवोंमें बेड़ी लगायी। फिर बोला कि 'चलो पिताजी! अब तुम जेलमें रहो, राज्य मैं करूँगा।'



कंस बड़ा बलवान् था। उसके सामने किसीको भी कुछ नहीं चलती थी। उसके साथ प्रलम्ब, बक, चाणूर, तृणावर्त, मुष्टिक, अरिष्ट, द्विविद, पूतना, केशी और धेनुक आदि थे। बाणासुर और भौमासुर आदि असुर-भूपाल भी उसके सहायक थे, जरासन्धका आश्रय भी उसको प्राप्त था। उन सबको साथ लेकर वह यदुवंशियोंका नाश करने लगा। अच्छे लोग मथुरा छोड़कर भाग गये और जो बचे, उसकी जी-हजूरी करके उसीके पास रहने लगे।

जब वसुदेवके छह बेटे मर चुके तब सातवें गर्भमें भगवान्‌के अंशस्वरूप श्रीशेषजी, जिन्हें अनन्त भी कहते हैं, पधारे। उनके आनेसे वसुदेव-देवकीको कुछ सुख भी हुआ, कुछ दुःख भी हुआ। सुख इसलिए हो कि भगवान् आनेवाले हैं और दुःख इसलिए हो कि कंस इनको भी मारनेके लिए आजायेगा।

विश्वात्मा भगवान्‌ने देखा कि मुझे अपना सर्वस्व माननेवाले यदुवंशियोंको कंसके कारण बड़ा भय है। इसलिए उन्होंने योग-मायाको बुलाकर आदेश दिया कि तुम उस व्रजमें जाओ, जो गोपों और गायोंसे अलङ्कृत है—

गच्छ देवि व्रजं भद्रे गोप गोभिरलङ्कृतम्। ७

वहाँ रोहिणीजी भी रहती हैं तथा वसुदेवजीकी और भी पत्नियाँ हैं। देवकीके गर्भमें मेरा शेष धाम है। उसको खींचकर तुम रोहिणीके उदरमें प्रविष्ट कर दो—

अथाहमंशभागेन देवक्याः पुत्रतां शुभे। ९

श्रीधर स्वामीने 'अंशभागेन' पदकी छह व्याख्याएँ की हैं। एक व्याख्याके अनुसार भगवान् कहते हैं कि मैं 'अंशभागेन' अर्थात् 'सर्वथापि परिपूर्णेन'—सर्वथा परिपूर्ण रूपसे देवकीका पुत्र बनूँगा और तुम नन्दपत्नी यशोदासे प्रकट होना। तुम्हारी धूपोपहार आदिके द्वारा बड़ी पूजा होगी। तुम्हारे नाम होंगे—दुर्गा, भद्रकाली, विजया, वैष्णवी, कुमुदा, चण्डिका, नारायणी आदि। तुम्हारे द्वारा गर्भ-संकर्षण होनेके कारण शेषका नाम संकर्षण, लोकरञ्जनके कारण राम और 'बलवदुच्छ्रयात्' बलवानोंमें श्रेष्ठ होने के कारण बलभद्र होगा।

इस प्रकार भगवान्‌की आज्ञा, सुनकर योगमायाने 'तथेत्योमिति'—'जो आज्ञा' कहकर उसे शिरोधार्य किया और धरतीपर जाकर उसका पालन किया। जब देवकीका गर्भ रोहिणीके पेटमें चला गया तब गाँवमें यह खबर फैल गयी कि 'अहो विस्रंसितो गर्भः' (१५)—देवकीका गर्भ नष्ट हो गया। ऐसा किया तो भगवान्‌ने किन्तु अपयश लगा कंसको। यहाँ 'विस्रस्तः गर्भः' नहीं कहा गया—जिसका अर्थ है गर्भ गिरा दिया गया। लोगोंने समझा कि कंसने अबकी बार कोई ऐसी चाल चली है, जिससे देवकीका सातवाँ गर्भ अपने-आप गिर गया।

जब देवकीका गर्भ शेषसे भी शून्य कर दिया गया तब उसमें भक्तोंको अभय देनेवाले भगवान् प्रकट हुए। पहले वे वसुदेवके मनमें आये, जिसके कारण वसुदेवजीका बड़ा भारी प्रकाश हो गया। फिर वसुदेवजीने अपने मनमें आये हुए 'जगन्मङ्गलमच्युतांशम्' (१८) अर्थात् जगत्‌का मंगल करनेवाले भगवान्‌के ज्योतिर्मय अंशको देवकीके गर्भमें रख दिया—ठीक वैसे ही, जैसे दीक्षा दी जाती है। अब तो पूर्व दिशामें जिस प्रकार चन्द्रोदय होता है, वैसे ही देवकीकी शोभा हो गयी। परन्तु वह शोभा बहुत प्रकट नहीं हुई। जिस प्रकार कोई ज्ञानी अपने ज्ञानको छिपाकर रखे, दूसरोंपर प्रकट न करे, उसी प्रकार देवकी भगवान्‌को अपने पेटमें लेकर बैठी।

अब कंसने देखा कि देवकीके चेहरेपर बड़ी भारी प्रभा आगयी है। 'आहैष मे प्राणहरो हरिर्गुहां ध्रुवं श्रितः' (२०)—हो न हो मुझे मारनेवाला सिंह इसके गर्भकी गुहामें आकर रह रहा है, क्योंकि देवकी इस प्रकार पहले कभी चमकती नहीं थी।

इसके बाद कंसने विचार किया कि अब मुझे क्या करना चाहिए ? 'यदर्थंतन्त्रो न विहन्ति विक्रमम्' (२१)—भगवान् देवकार्य-प्रधान बनकर देवकीके गर्भमें आया है। इससे मैं छेड़छाड़ करूँगा तो यह मुझको मारेगा जरूर। लेकिन भले ही कितने भी अर्थतन्त्र हों, देवकीको मारने जैसा गम्भीर अपराध मुझे नहीं करना चाहिए। क्योंकि एक तो यह स्त्री है, दूसरे बहन है और तीसरे गर्भवती है। यदि मैं इसको मारूँगा तो मेरे यश, श्री और आयुका नाश हो जायेगा। जो इस लोकमें अत्यन्त्र भयंकरतापूर्वक जीवन व्यतीत करता है; उसको लोग बहुत गालियाँ देते हैं।

देखो, यहाँ ऐसी महिमाका बोध होता है कि जिसके हृदयमें भगवान् बैठे होते हैं, उसको देखकर कंस-जैसे क्रूर पुरुषकी क्रूरता भी शान्त हो जाती है। यही देवकी-वसुदेव हैं, जिनके साथ पहले कंस बड़ी क्रूरताका व्यवहार करता था, किन्तु जब भगवान् आगये तब वह क्रूरतासे निवृत्त हो गया और उनके जन्मकी प्रतीक्षा करने लगा। कंसकी यह दशा हो गयी कि चाहे वह

बैठा हो, सोया हो, खड़ा हो, चल रहा हो अथवा खा-पी रहा हो, उसको हृषीकेश भगवान्का चिन्तन होने लगा। उसको अपने पाँवोंकी ध्वनि भी श्रीकृष्णके पाँवोंकी ध्वनि मालूम पड़ने लगी और अपनी ही आवाज ऐसी लगने लगी, मानों श्रीकृष्ण बोल रहे हैं।

देखो, एक तो मथुरा, दूसरे मथुरामें कंसका कारागार, तीसरे कारागारमें एक कमरा, चौथे उस कमरेमें देवकी और पाँचवें देवकीके पेटमें भगवान्! ब्रह्मा और शंकरजीने कहा कि हमारे प्रभुने प्रतिज्ञा की थी कि मैं अवतार ग्रहण करूँगा और उस प्रतिज्ञाकी पूर्तिके लिए वे देवकीके गर्भमें आगये हैं।

इसलिए ब्रह्मा और शंकर अन्यान्य देवताओं, उनके अनुचरों तथा नारदादि मुनियोंके साथ वहाँ आगये—'ब्रह्मा भवश्च तत्रैत्य मुनिभिर्नारदादिभिः (२५)।' और 'गीर्भिर्वृषणमैडयन् (२५)' वे सब लोग वाणीके द्वारा गर्भ-स्थित भगवान्की स्तुति करने लगे—

सत्यव्रतं सत्यपरं त्रिसत्यं सत्यस्य योनिं निहितं च सत्ये।
सत्यस्य सत्यमृतसत्यनेत्रं, सत्यात्मकं त्वां शरणं प्रपन्नाः॥ २६

देखो, सारे शास्त्रोंमें गर्भकी निन्दा मिलती है। गर्भवास महादुःख है। इसलिए गर्भस्तुति सृष्टिमें कहीं नहीं मिलेगी। किन्तु जिस गर्भमें भगवान् आजायँ, उसकी स्तुति ब्रह्मा और शंकर भी करते हैं, यह सोचकर कि भगवान् गर्भवासका दुःख देखकर लौट न जायँ, पहले वे उनकी दृढ़ प्रतिज्ञाका ही स्मरण दिलाते हुए स्तुति प्रारम्भ करते हैं।

'सत्यव्रतं सत्यपरं त्रिसत्यम्'—प्रभो, आप सत्यव्रत हैं। आपका व्रत, आपकी प्रतिज्ञा सर्वथा सत्य है, आप सत्यपर हैं, आपकी प्राप्तिका साधन भी सत्य ही है। आप त्रिसत्य हैं अर्थात् भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों कालोंमें सत्य हैं। पञ्चभूत सत् और त्यत् रूप हैं। इनमें पृथिवी, अग्नि, जल सत् हैं और वायु तथा आकाश त्यत् हैं। इन पाँचों भूतोंके कारण आप ही हैं, आप इसी सत्यमें निहित हैं। आप व्याप्त हैं, अभिन्न निमित्तोपादान कारणके रूपमें स्थित हैं। आप सत्यके भी सत्य हैं। मतलब यह कि और सब तो व्यावहारिक सत्य हैं, किन्तु आप पारमार्थिक सत्य हैं। वैदिक और लौकिक दोनों सत्योंके आप नेता हैं, सत्य आपका स्वरूप है।

त्वां शरणं प्रपन्नाः—यहाँ शरणागति और प्रपत्ति दोनोंमें-से किसी एकका ही ग्रहण नहीं करना चाहिए। जहाँ भक्त भगवान्के चरण तलके नीचे अपना हाथ डालकर कहते हैं कि प्रभो, आप इसे दबा लीजिये, जिससे कि हम आपसे दूर न जाने पायें, वहाँ उसका नाम शरणागत

होता है और जहाँ भक्त अपने हाथसे भगवान्‌के प्रपदको, ऊपरवाले पंजेको पकड़ लेते हैं और पकड़े रहते हैं, वहाँ उसका नाम प्रपन्न होता है। शरणागति मार्जार-सरीखी होती है और प्रपत्ति वानर-सरीखी होती हे। 'शरणं प्रपन्नाः'का अर्थ होता है कि हम आपकी शरण भी हैं और प्रपन्न भी हैं।

यह संसार आदिवृक्ष है। माया इसका आश्रय है। सुख, दुःख इसके दो फल हैं। सत्त्व, रजः, तमः तीन गुण इसके मूल हैं। धर्म, अर्थादि चार पुरुषार्थ हैं। सात धातुएँ इसकी त्वचा हैं। पञ्चभूत, मन, बुद्धि और अहंकार ये आठ शाखाएँ हैं। इसमें नौ दरवाजे हैं, दश प्राण हैं तथा जीव और ईश्वर द्विखग—दो पक्षी हैं। यह आदि वृक्ष परमात्मासे प्रकट होता है, परमात्मामें रहता है, परमात्मा ही इसका पालन करता है और परमात्मामें ही लीन होता है। परमात्मामें ही इसका सन्निधान है।

त्वन्मायया संवृतचेतसस्त्वां पश्यन्ति नाना न विपश्चितो ये। २८

जिनका चित्त, जिनका ज्ञान मायासे ढक गया है, वे ही परमात्माको नाना देखते हैं, किन्तु 'ये विपश्चितः ते नाना न पश्यन्ति'—जो विपश्चित् हैं, वे नाना नहीं देखते। हमारे एक भागवती पण्डित भूपनारायणजी थे। जब वे इस श्लोकको पढ़ाते थे तब यह अर्थ करते थे— 'ये विपश्चितः ते नाना न पश्यन्ति। ते किम् पश्यन्ति ? मामा पश्यन्ति'—अर्थात् जो विपश्चित् हैं वे नाना नहीं देखते, मामा देखते हैं। मामा माने मायाका खेल !

प्रभो, आप ज्ञान-स्वरूप आत्मा हैं। चराचर लोकके कल्याणके लिए आप सत्त्वगुणसे युक्त नाना रूप धारण करते हैं, जो सन्तोंके लिए तो सुखमयी, किन्तु खलोंके लिए अभद्र होते हैं। कमलनयन, जो समाधिके द्वारा अपने चित्तको आपके अन्दर प्रविष्ट कर देते हैं, वे महात्माओं द्वारा बनाये हुए आपके चरणारविन्दके जहाजसे भवसागर पार उतर जाते हैं। उनके लिए भवसागर गोवत्स-पद-रूप हो जाता है। तात्पर्य यह है कि वे केवल जहाजके सान्निध्य मात्रसे ही संसारको पार कर जाते हैं। उसपर उन्हें चढ़नेकी जरूरत नहीं पड़ती। वे स्वयं पार चले जाते हैं और आपके चरणारविन्दकी नौका यहीं रह जाती है—

भवत्पदाम्भोरुहनावमत्र ते निधाय याताः। ३१

आप सन्तोंपर अनुग्रह करनेवाले हैं। आपका सौहार्द अदभ्र है, अनन्त है। जो लोग अपनेको मुक्त मानते हैं, 'त्वय्यस्तभावादविशुद्धबुद्धय' (३२)—आपमें भक्ति-भाव न होनेसे जिनकी बुद्धि शुद्ध नहीं हुई, उनकी प्रतिभा तो आपके विषयमें अस्त हो जाती है; परन्तु वे व्यर्थके

वाद-विवाद करनेमें निपुण हो जाते हैं। जो अपनेको मुक्त और दूसरेको बद्ध मानता है, वह मुक्त नहीं, केवल वाचा मुक्त है। ऐसे लोग बड़े कष्टसे परमपदपर आरुढ़ होकर भी पतित हो जाते हैं, क्योंकि उन्होंने 'अनादृतयुष्मदङ्घ्रयः' (३२) आपके चरणारविन्दका अनादर किया है और इसका फल उनको भोगना पड़ता है।

देखो, गोस्वामी तुलसीदासजीने भी इस प्रसंगमें लिखा है—'ते पाइ सुरदुर्लभ पदादपि परत हौं देखत हरी।' इस कथनसे गोस्वामीजीने परमपदकी रक्षा की है। जैसे अभिमानी लोग गिरते रहते हैं, वैसे भगवान्‌के भक्त नहीं गिरते। वे तो विघ्नेश्वरोंके, बड़े-बड़े विघ्नोंके सिरपर चरण रखकर निर्भय विचरते हैं।

प्रभो, यदि आप सत्त्वमय शरीर धारण करके साकार-रूपमें अवतार ग्रहण न करें तो चातुर्वर्ण्य और चतुराश्रमके जो लोग हैं, वे आपकी आराधना कैसे करें? यदि आपका यह रूप न होता, 'विज्ञानमज्ञानभिदापमार्जनम्' (३५)—'अज्ञानभिदा'का अपमार्जन करनेवाला विज्ञान न होता अथवा 'एतद् अज्ञानभिद् विज्ञानम् न भवेत्, विज्ञानं मार्जनं भवेत् चेत् इदं सत्यं न' अर्थात् आपका यह रूप प्रकट न होता तो अज्ञानभिद् विज्ञान, अज्ञानको मिटानेवाला विज्ञान मार्जनको, नाशको, प्राप्त हो जाता है। गुणोंके प्रकाशसे केवल यह अनुमान ही होता कि जो सबका प्रकाशक है, वह परमात्मा है अथवा जिसका यह गुण है, वह परमात्मा है। सम्बन्धीके रूपमें या प्रकाशकके रूपमें आपका केवल अनुमान मात्र होता, साक्षात्कार नहीं होता। केवल गुण-जन्म-कर्मके द्वारा आपके नाम-रूपका निरूपण नहीं किया जा सकता, क्योंकि आप तो साक्षी हैं। मन और वाणीसे केवल आपके मार्गका ही अनुमान किया जा सकता है। फिर भी लोग आपकी आराधना तो करते ही हैं, उसमें प्रवृत्त होते ही हैं।

जो आपके मङ्गलमय नाम-रूपका श्रवण, गुणन, संस्मरण और चिन्तन करके आपकी सेवामें अपने मनको लगा देता है, संलग्न कर देता है—'त्वच्चरणारविन्दयोः क्रियासु आविष्ट-चेताः (३७)'—उसको फिर पुनर्जन्मका मुँह नहीं देखना पड़ता।

प्रभो, आपके जन्मसे ही पृथिवीका भार दूर हो जायेगा और हम आपकी कृपाका दर्शन करेंगे। हम यह तर्क करते हैं कि आपके जन्मका कारण केवल आपका विनोद ही है, क्योंकि आप तो अजन्मा हैं—'नतेऽभवस्येश भवस्य कारणम्' (३९)—आपके स्वरूपमें जो उत्पत्ति, निरोध, स्थिति दिखायी पड़ती हैं; वह 'अविद्या कृता' (३९)—अविद्यासे बनायी हुई है।

'त्वय्यभयाश्रयात्मनि' (३९)—हे अभय, हे आश्रय, अथवा हे अभयाश्रय, अथवा हे अभयाश्रयात्मनि, आप अभयाश्रयात्मा हैं। आप मत्स्य, अश्व, कच्छप आदि अवतार ग्रहण करके जैसे पृथिवीका, त्रिभुवनका, पालन करते रहते हैं, वैसे ही अब भी कीजिये। हम आपको वन्दना करते हैं।

अन्तमें ब्रह्मादि देवता माता देवकीको सम्बोधित करके कहते हैं कि आपके गर्भमें साक्षात् भगवान् आये हुए हैं। अब आप मुमुर्षु कंसका बिल्कुल भय मत कीजिये।

श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि परीक्षित, इस प्रकार ब्रह्मादि देनेताओंने उन भगवान्‌की स्तुति की, जिनका रूप 'यद्रूपमनिदं यथा' (४२)—इदन्ताकार नहीं है। जिसके बारेमें इदम्-इत्थम् अर्थात् यह है; ऐसा है, नहीं कहा जा सकता और जो अनिवर्चनीय है।

ब्रह्मेशानौ पुरोधाय देवाः प्रतिययुर्दिवम्।४२

स्तुति करते समय ब्रह्मा और शङ्कर आगे तथा अन्य देवतागण उनके पीछे खड़े थे। ब्रह्मा और शङ्करने कहा कि देवताओ, पीछेकी जगह खाली करो; जिससे कि हम यहाँसे निकलें। क्योंकि भगवान्‌के जन्मका समय हो रहा है। देवताओंने सोचा कि यदि हम लोग बाहर निकल जायेंगे और ब्रह्मा तथा शङ्कर यहाँ रहकर कुछ और आनन्द देखेंगे तो हमें उससे वञ्चित रह जाना पड़ेगा। इसलिए वे कहनेपर भी बाहर नहीं निकले। अन्तमें यह बात तय हुई कि पहले ब्रह्मा-शङ्कर वहाँसे निकल जायें, उसके बाद दूसरे देवता लोग निकलेंगे। इसलिए ब्रह्मा-शङ्करको आगे-आगे करके देवता लोग बाहर निकले और फिर वे स्वर्गमें गये।



: ३ :

अथ सर्वगुणोपेतः कालः परमशोभनः।
यर्ह्येवाजनजन्मर्क्षं शान्तर्क्षग्रहतारकम्॥ १

अथ—यहाँ 'अथ' शब्दका अर्थ यह है कि इसके पहले जो कुछ कहा गया; वह ग्रन्थकी भूमिका थी; अब ग्रन्थका प्रारम्भ हो रहा है।

'सर्वगुणोपेतः कालः'—काल अच्छा वही है, जिसमें भगवान् अवतरित हों, भगवान्‌का दर्शन हो। इसलिए भगवान्‌के जन्मके समय काल सर्वगुणोपेत होकर अर्थात् शान्ति, दान्ति, मैत्री आदि समस्त अन्तरङ्ग गुणोंको धारण करके आया।

'परमशोभनः'—काल बाहरसे भी बड़ा सुहावना हो गया। मतलब यह कि लोगोंके अन्तःकरणमें जो दुर्वृत्ति थी, वह शान्त हो गयी और काल सज-धज गया। जब वेदान्ती लोग कहते थे कि परमात्मा कालसे परे है, कालातीत है, कालसाक्षी है, तब काल नाराज हो जाता था और अपना विकराल गाल खोलकर लोगोंको निगलने लगता था। इसी बीच जब यह कोलाहल हुआ कि भगवान् कालमें अवतार ले रहे हैं, तब कालने कहा कि हमारे मालिक हमारे घर आ रहे हैं; इसलिए बढ़िया-से-बढ़िया शील-स्वभाव धारण करो और बढ़िया-से-बढ़िया कपड़ा पहनो।

इधर श्रीशुकदेवजी महाराजने देखा कि भगवान्‌के जन्मका मङ्गलमय अवसर उपस्थित है तो वे भी मङ्गलाचरण करने लगे। देवता लोग स्तुति करके चले गये। इस आनन्तर्यका यह अर्थ है कि उनके जानेके बाद भगवान्‌ने अपने लिए नक्षत्र पसन्द किया। कौन-सा नक्षत्र ? अजनजन्मा। 'अजनात् जन्म यस्य'—अर्थात् नारायणसे जिनका जन्म हुआ है, उन ब्रह्माजीका नक्षत्र। वह नक्षत्र क्या है ? रोहिणी नक्षत्र ! भगवान्‌ने कहा कि हमने अपने जीवनमें भक्तोंका पक्षपात बहुत किया है। परन्तु इस बार तो ऐसा पक्षपात करना पड़ा कि देवकीका पेट भरा था बलरामसे और रोहिणीका पेट खाली था। इसलिए हमको रोहिणीके पेटमें जाना चाहिए था। लेकिन हमने

बलरामको देवकीके पेटसे निकलवाकर रोहिणीके पेटमें भेज दिया और मैं देवकीके पेटमें आगया। अब कम-से-कम हमारे जन्मके नक्षत्रका नाम तो रोहिणी हो, जिससे कि रोहिणी माताको यह सन्तोष हो कि मैं उनके नामवाले नक्षत्रमें प्रकट हुआ। दूसरी बात यह है कि मुझे चन्द्रवंशमें जन्म लेना है। इसलिए मुझको चन्द्रमाकी सर्वश्रेष्ठ पत्नी रोहिणी नक्षत्रके गर्भसे जन्म लेना चाहिए।

इसप्रकार श्रीशुकदेवजी महाराजने भगवान्‌के जन्मके अवसरपर कालकी शुद्धि बतायी और कहा कि उस समय सभी ग्रह, नक्षत्र और तारे शान्त हो गये, सौम्य हो गये।

अब वे दिशाओंकी शुद्धि बताते हुए कहते हैं कि 'दिशः प्रसेदुः' (२) अर्थात् दशों दिशाएँ प्रसन्न हो गयीं, निर्मल हो गयीं—इस आशासे कि हमारे जो दिग्पति कंसके कारागारमें बन्दी हैं, वे सब-के-सब छूट जायेंगे।

अब तीसरे द्रव्य गगनकी शुद्धि बताते हुए कहते हैं कि 'गगनं निर्मलोडुगणोदयम्' (२)—आकाश निर्मल हो गया। उसके भीतर हीरे जैसे जो अगणित उडुगण छिपे हुए थे, उन सबको उसने प्रकट कर दिया और वह उन सबकी दीप्तिसे दीप्तिमान् हो गया।

अब चौथे द्रव्य पृथिवीकी शुद्धि बताते हुए कहते हैं—'मही मङ्गलभूयिष्ठ-पुरग्राम-व्रजाकरा' (२)। पृथिवीका पुत्र है मङ्गल। वह उसको गोदमें लेकर वासकसज्जा नायिकाके समान सजधजकर अपने पतिका स्वागत करनेके लिए चली। पुर माने मथुरा आदि, ग्राम माने नन्दग्राम आदि, व्रज माने गोकुल आदि और आकर माने रत्नाकरमें स्थित द्वारका आदि। ये सब-के-सब मङ्गल-भूयिष्ठ हो गये। सर्वत्र मंगल ही मंगल हो गया।

'नद्यः प्रसन्नसलिलाः'—अब पाँचवे द्रव्य जलकी शुद्धि देखिये। नदियोंको जो सौभाग्य किसी भी अवतारमें नहीं मिला, वह कृष्णावतारमें मिला। नदियोंने कहा कि बाबा, ऐसा अवतार तो और कोई नहीं होनेवाला है, जो नदीसे विवाह करे और कालिन्दीको चतुर्थ पटरानीके रूपमें स्वीकार करे। व्रजमें भी आनन्द करे और द्वारकामें भी आनन्द करे। अर्जुनको भेजकर स्वयं ले आवे। इसलिए नदियाँ यह सोचकर प्रसन्न हो गयीं कि उनके सम्बन्धी उनके बहनोई आरहे हैं।

'ह्रदा जलरुहश्रियः' (३)—सरोवरोंके हृदयमें कमल खिल गये मानो उनके हृदयमें कमल

प्रकट हो गये। भगवान्‌ने कालियदहको शुद्धि की और ब्रह्महृद्‌में गोपोंको अपने स्वरूपका दर्शन कराया।

'द्विजालिकुलसंनादस्तबका वनराजयः' (३)—अब वनश्रीका वैभव देखो। वनमें कहीं पक्षी चहक रहे हैं और कहीं भौंरें गुनगुना रहे हैं। ये पक्षी भी भगवान्‌के बड़े प्रेमी हैं और अलिकुलका यह हाल है कि रास-लीलामें जब सबका गाना बन्द हो जाता है, तब वे गान करते हैं।

'पुण्यगन्धवहः शुचिः' (४)—वायु प्रसन्न होकर सुखका दान करने लगा। उसने सोचा कि हमारे पुत्र हनुमान्‌ने भगवान् रामचन्द्रके साथ बड़ा आनन्द लिया, अब हम भी पुण्य करके आनन्द लेंगे। इसलिए शीतल मन्द-सुगन्ध वायु बहने लगा। ब्राह्मणोंके अग्निहोत्रकी अग्नियाँ, जो शान्त हो गयीं थीं, प्रज्ज्वलित हो गयीं। शुकदेवजी महाराज श्रीकृष्णके आनन्दमें इतने मग्न हो गये कि यहाँ 'समैन्धत' न बोलकर 'समिन्धत' बोल गये।

साधुओंके मन प्रसन्न हो गये। यहाँ साधुका एक विशेषण है—'असुरद्रुहाम्।' इसकी व्युत्पत्ति कैसे की जाय? हमारे गुरुजीने बताया कि यहाँ 'असुरेभ्यो द्रुह्यन्ति ये तेषाम्'—ऐसी व्युत्पत्ति नहीं करना, जिसका अर्थ होता है कि साधु लोग असुरोंसे द्रोह करते हैं। भला असुरोंसे द्रोह करनेवाले साधु होते हैं? ऐसा अर्थ नहीं हो सकता। इसलिए 'असुरा द्रुहः येषाम्'—ऐसी व्युत्पत्ति होनी चाहिए, जिसका अर्थ हो कि असुर लोग जिससे द्रोह करते हैं।

'जायमानेऽजवे तस्मिन् नेदुर्दुन्दुभयो दिवि' (५)—जब अजन्मा भगवान्‌के जन्मका समय आया तब देवताओंकी दुन्दुभियाँ अपने-आप बज उठीं। देवताओंको जब कोई सुख होता है, आनन्द होता है तो खूब पिटाई होनेपर दुन्दुभियाँ बजती हैं। आज दुन्दुभियोंने कहा कि राम-राम! हम तो हमेशा पिट-पिटकर बजती हैं, अब भगवान्‌के जन्मके अवसरपर तो स्वयं बजें। यहाँ 'नेदुर्दुन्दुभयो दिवि'में 'नेदुः' क्रियाका कर्त्ता दुन्दुभि-पद है, जिसका अर्थ है कि वे स्वयं बज उठीं। किन्नर और गन्धर्व एक साथ गान करने लगे। कहाँ तो कुरूप किन्नर और कहाँ सुन्दर गन्धर्व! दोनोंको अपने-अपने शरीरका भान छूट गया। कहाँ सिद्ध पुरुष और कहाँ पैसा लेकर तारीफ करनेवाले चारण! दोनों एक साथ मिलकर स्तुति करने लगे। कहाँ विद्याधरी और कहाँ अप्सरा, दोनों एक साथ मिल गयीं। और देखो, देवता तथा मुनि बड़े आनन्दमें भरकर 'सुमनांसि मुमुचुः' अपने सुन्दर मनकी वर्षा कर रहे हैं।

'मन्दं-मन्दं जलधरा जगर्जुरनुसागरम्'—जलधर बादल सागरके पास जाकर मन्द-मन्द गर्जना कर रहे हैं।

यहाँ देखो, श्रीहरि सूरिकृत 'भक्ति-रसायन' नामक ग्रन्थमें दशम स्कन्धके ऐसे एक-एक प्रसङ्गपर दस-दस, बीस-बीस उत्प्रेक्षाएँ की हुई हैं। श्रीमद्भागवतपर ऐसी कोई अन्य टीका वर्तमानमें उपलब्ध नहीं है। आप लोग भी कुछ उत्प्रेक्षाओंका आनन्द लीजिये—

बादल समुद्रके पास आये और बोले कि तुम्हारे भीतर भगवान् शयन करते हैं, उनके दर्शन करा दो। समुद्रने कहा कि तुम्हारा अन्तःकरण अशुद्ध है। यह खारा पानी हमसे लो और इसको मीठा बनाकर दुनियापर बरसो। फिर तुम्हें भगवान्का दर्शन होगा। लेकिन बहुत काल बीत गया और समुद्रने भगवान्का दर्शन नहीं कराया। बादलोंने देखा कि भगवान् स्वयं हमारे सरीखा वर्ण धारण करके आ रहे हैं। इसलिए वे समुद्रके पास मन्द-मन्द स्वरमें गरजने लगे। मन्द-मन्द स्वरमें इसलिए कि कहीं भगवान्के कानमें चोट न लग जाये।

'निशीथे तम उद्‌भूते' (८)—आधी रातका समय, चारों ओर अन्धकार छाया हुआ, भगवान्के प्रकट होनेका यही समय है। 'चत्वारि किल सन्धयो भवन्ति अहो रात्रस्य जायमाने जनार्दने' (८)—आधी रातके समय लोग प्रार्थना कर रहे हैं कि प्रभो, 'आविर्भव, आविर्भव'—प्रकट हो जाओ, प्रकट हो जाओ। 'ऐहि ऐहि'—यही आविर्भावका समय है, आजाओ प्रभो!

अब ठीक आधी रातके समय देवरूपिणी देवकीके गर्भसे सर्वगुहाशय, सबके हृदयोंमें विराजमान भगवान् विष्णुका—भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रका, आविर्भाव हुआ—ठीक वैसे ही, जैसे पूर्व दिशामें पूर्ण चन्द्रमा परिपुष्ट होकर उदित होता है—

आविरासीद् यथा प्राच्यां निशीन्दुरिव पुष्कलः। ८

अब तो जय हो, जय हो, जय हो! यह ध्वनि होने लगी। इस सम्बन्धमें एक पुराने हिन्दी कविने बहुत बढ़िया लिखा है—

सोई परिपूरन अपार पार ब्रह्म राशि,
देवकीके कोरें एक बार ही कुरै परी।

श्लोककी उपमामें केवल पूर्णचन्द्रका ही वर्णन है। किन्तु पुष्कल चन्द्रमा तो पूर्णिमाके दिन उदित होते हैं, जबकि भगवान्के जन्मके दिन अष्टमी थी। बात यह हुई कि अपने वंशमें श्रीकृष्ण भगवान्का जन्म देखकर चन्द्रमाने समुद्रमें स्नान किया और तुरन्त बाहर निकल आये। वे हर्षके कारण फूल गये थे, इसलिए पूर्णचन्द्र प्रतीत हुए।

'भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः' (ऋग्० १.८९.८)। श्रावण-श्रवणके बाद भाद्र-भद्र आता है। उसमें भी शुक्ल पक्षको तो सभी अपनाते हैं, वह सबको प्रिय होता है; किन्तु कृष्ण-पक्षपर भी जिसकी कृपा बरस पड़े, वह तो भगवान् ही हो सकता है। इसलिए उन्होंने अपना नाम ही कृष्ण रख लिया। कृष्ण पक्षकी मध्यवर्तिनी तिथि अष्टमी है, जिसके पहले भी सात तिथियाँ हैं और बादमें भी सात तिथियाँ हैं। भगवान्ने उसको स्वीकार किया। अष्टमी तिथिमें भी जब चन्द्रवंशमें जन्म लेते हैं तब रात्रि चाहिए और सूर्यवंशमें जन्म लेते हैं तब दिन चाहिए। मध्य रात्रि और मध्य दिवस। रोहिणी नक्षत्र है, जिसकी बात पहले सुना चुका हूँ और दिन बुध है। यही भगवान्के आविर्भावका समय है।

'दृश्यते त्वग्रया बुद्धया सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः' (कठ उप० १.३.१२)—मानो एकाग्र और सूक्ष्मबुद्धि देवकी हो गयी और 'सत्त्वं विशुद्धं वसुदेवशब्दितम्'—शुद्ध अन्तःकरण वसुदेव हो गये। वास्तवमें एकाग्र एवं सूक्ष्म बुद्धि और पवित्र मन ही परमात्माको ग्रहण करता है।

अब आविर्भूत बालकपर सबसे पहले वसुदेवजीकी दृष्टि पड़ी। उन्होंने देखा कि बालक तो अद्भुत है। जैसे अन्य साधारण बालक होते हैं, वैसा नहीं है। यह असाधारण बालक है। वसुदेवजीने समझ लिया कि बालक-रूपमें स्वयं परमात्मा प्रकट हुआ है। यह अदृश्य होकर भी दृश्य है। निराकार होकर भी साकार है। निर्गुण होकर भी सगुण है। सबका बाप होकर भी बेटा है। सर्वाधार सर्वव्यापी होकर भी नन्हा-मुन्ना है। यह तो आश्चर्योंका खजाना है।

देखो गीता भी यही कहती है—'आश्चर्यवत् पश्यति कश्चिदेनम्' (२.२९)। श्रुतियोंने भी कहा—'आश्चर्यो वक्ता कुशलानुशिष्टः' (कठ० उप० १.२.७)। जिसको देखकर लोग आह! आह! बोलने लगे, उसका नाम आश्चर्य है।

तमद्भुतं बालकमम्बुजेक्षणं, चतुर्भुजं शङ्खगदायुदायुधम्।
श्रीवत्सलक्ष्मं गलशोभिकौस्तुभं, पीताम्बरं सान्द्रपयोदसौभगम्॥ ९

'तमद्भुतं वालकम्'—वसुदेवजीने विचार किया कि यह देखनेमें तो बालक है। नन्हें-मुन्ने बालकको, छोटे बालकको, बालक कहते हैं, परन्तु यह तो साधारण बालक नहीं, अद्भुत बालक है। 'बालेषु-बालेषु कानि ब्रह्माण्डानि यस्य एवंभूतम्'—जिसके बाल-बालमें, रोम-रोममें ब्रह्माण्ड रहते हैं, वह बालक है। 'बालः को ब्रह्मा यस्य'—ब्रह्मा जिसके बालक हैं, वह बालक है। 'बालोऽपि कं ब्रह्म'—यह बालक होनेपर भी साक्षात् ब्रह्म है।

'अम्बुजेक्षणम्'—कोई भी बालक पैदा होता है तो उसकी आँखें बन्द होती हैं, खुली नहीं होतीं। लेकिन इसके नेत्र खिले हुए कमलके समान हैं। 'अम्बुजायाम् ईक्षणे यस्य'—मानों यह ढूँढ़ रहा है कि लक्ष्मीजी कहाँ हैं?

'चतुर्भुजम्'—इसकी चार भुजाएँ हैं। जैसे चतुर्व्यूह है, चार वेद हैं, विश्व-तैजस-प्राज्ञ-तुरीय अथवा जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति-तुरीय चार अवस्थाएँ हैं, वैसे ही यह चतुर्भुज है। देखो जहाँ निर्गुण तत्त्वका साक्षात्कार करना होता है, वहाँ भगवान् चतुष्पाद होते हैं और जहाँ भक्तोंके ऊपर कृपा करनी होती है, शक्तिका प्रयोग करना होता है, वहाँ चतुर्भुज होते हैं। भगवान्‌के पादसे प्रतिपत्ति होती है और बाहुसे क्रिया होती है। वे चतुर्भुज रूपमें मानों चारों पुरुषार्थ अपने हाथमें लेकर जीवोंको बाँटनेके लिए आते हैं।

'शङ्खगदायुदायुधम्'—ये चारों बालकके हाथोंमें है। आप जानते ही हैं शङ्ख जलतत्त्व है। शं कल्याणं खे यस्य—जिसके आकाशमें, जिसकी पोलमें कल्याणका निवास हो, उसका नाम शङ्ख है। इसमें चन्द्रशेखरवत् समास है। शङ्ख इस बालकके एक हाथमें है, दूसरे हाथमें कौमोदकी गदा है, तीसरे हाथमें अरि है। यहाँ 'अरि' शब्द शत्रुका वाचक नहीं, चक्रका वाचक है। 'अरा सन्ति अस्मिन् इति अरि—चक्रम्।' जिसमें अरा होते हैं, उसको अरी (अरिन्) बोलते हैं। यह मत्वर्थी इन् प्रत्ययसे बना हुआ है। चौथे हाथमें उद् है। उद् माने उद्ज, कमल। कारणसे कार्यमें लक्षणा हो जाती है। शङ्ख, गदा, अरि और उद्—ये चारों आयुध हैं भगवान्‌के, जिनको वे धारण किये रहते हैं।

'श्रीवत्सलक्ष्मं गलशोभिकौस्तुभम्' (९)—बालकके वक्षःस्थलपर श्रीवत्स है और गलेमें कौस्तुभ मणि है। यह कौस्तुभ मणि जीवतत्त्व है। उसके माध्यमसे मानों भगवान् कहते हैं कि प्यारे जीव, आओ मेरे गलेसे लग जाओ।

आप आध्यात्मिक और आधिदैविक व्याख्याको कभी निर्मूल न समझें। ऐसी व्याख्या

श्रीबोपदेवजी महाराजने की है और श्रीवल्लभाचार्यजी महाराजने भी की है। इसलिए इन व्याख्याओंकी परम्परा है। भागवतमें इसका मूल है और इसकी परम्परा भी विद्यमान है। जो लोग श्रीमद्भागवतका अधिक आलोड़न नहीं करते, केवल व्याकरणादि पढ़कर ही उसका आस्वादन करना चाहते हैं, उनको कई बातोंमें शङ्का हो जाती है।

'पीताम्बरं सान्द्रपयोदसौभगम्' (९)—वसुदेवजीने देखा कि यह बालक तो पीताम्बरधारी है और वर्षाकालीन मेघके समान सुन्दर कान्तिवाला है।

देखो, अबतक जितना भी वर्णन आया है, सब आश्चर्यजनक है। नवजात बालकके चार हाथ होना अद्भुत, उसका शङ्ख-चक्र-गदाधारी होना अद्भुत, श्रीवत्सलक्ष्म होना अद्भुत और भला कौस्तुभ मणि पहनकर कोई बालक आता है।

कौस्तुभ मणि पद्मराग है। वह लाल-लाल मणि है। उसमें छेद नहीं है, कोई रस्सी भी नहीं लगी है। भगवान्‌को न तो छिद्र पसन्द है और न बन्धन पसन्द है। कोई भगवान्‌के गलेमें रहे और वह छिद्रवान् भी हो, बद्ध भी हो—यह क्या कभी सम्भव है? नहीं, भगवान्‌के गलेमें न बद्ध रह सकता है और न छिद्रवान् रह सकता है। भगवान्‌के गलेमें तो उनके रागसे अनुरञ्जित कोई नित्य भक्त ही, नित्य चेतन ही कौस्तुभके रूप में रहता है।

वसुदेवजी देखते हैं कि बालक पीताम्बर है, पीले वस्त्रवाला है अथवा 'पीतम् अम्बरं येन'—जिसने आकाश पी लिया है, वह बालक है। यह 'सान्द्रपयोदसौभगम्' है। इसका बादल जैसा सौन्दर्य है। इसने अपना सौन्दर्य तो और सबको दे दिया, अपने लिए केवल कालिमा ही शेष रखी है। सत्त्वादि गुणोंके सब रंग श्वेतमें मिले हुए हैं। सत्‌में रजोगुण है और दूसरे जो रंग हैं, उनमें अन्यान्य गुण हैं। पर यह बालक तो सर्वथा गुणातीत होकर आया है।

'महार्हवैदूर्यकिरीटकुण्डलत्विषा परिष्वक्त-सहस्रकुन्तलम्' (१०)—वसुदेवजीने देखा कि बालकके बाल, पीत कुण्डल और वैदूर्यकी कान्तिसे चमक रहे हैं। कमरमें काञ्ची–करधनी है। परन्तु वह काञ्ची–करधनी भी उद्दाम है, उसमें भी कोई बन्धन नहीं है, वह भी रस्सीसे रहित ही है।

'उद्दामकाञ्च्यङ्गदकङ्कणादिभिर्विरोचमानम्' (१०)—बालककी बाहोंमें बाजूबन्द हैं, कंगन हैं और ये सब-के-सब आभूषण भी निर्बन्ध हैं। बालक इतना अद्भुत है कि यह पैदा हो रहा है और

गतिशील भी है—'अस्ति च भवति च इति अद्भुतम् ।' इसकी भौहें भी चल रही हैं, आँखें भी चल रही हैं। हाथ-पाँव भी चल रहे हैं और इसके इशारे भी चल रहे हैं। इससे बढ़कर अद्भुत बालक और कोई नहीं हो सकता।

ऐसे अद्भुत बालकको वसुदेवजीने देखा—'ऐक्षत' (१०) और विचार किया कि जब सृष्टि होती है तब यह स्वयं उसको देखता है। 'सोऽकामयत—बहु स्याम्' (तै० उप २.६.१), तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय (छान्दोग्य ६.२.३)—जो हमेशा सृष्टिको देखता है, वह स्वयं आज देखा जा रहा है। जिसकी दृक्शक्ति अविलुप्त है, वह आज दृश्य हो रहा है।

वसुदेवजी यह सब देखकर चकित हो गये। आश्चर्यकी उपलब्धि भी आश्चर्य है। विस्मयसे उनके नेत्र उत्फुल्ल हो गये। 'आनक-दुन्दुभि' वसुदेवजीने देखा कि श्री हरि तो उनके पुत्र हो गये हैं। फिर उनको ऐसा आनन्द आया कि उन्होंने 'मुदा आप्लुतः' (११) आनन्द-सिन्धुमें स्नान किया और दस हजार गोदानका संकल्प कर दिया।

देखो, जब मनुष्यको सुख होता है तब उसकी मुट्ठी ढीली पड़ जाती है। जो मुट्ठीको कसकर रखता है, वह तो दुःखी है। वह सोचता रहता है कि यह नहीं रहेगा हमारे हाथमें तो हम क्या खायेंगे ?

अब वसुदेवजीने स्तुति प्रारम्भ की। उन्होंने निश्चय कर लिया कि ये परम पुरुष हैं, उनका सिर झुक गया। उनकी बुद्धि वशमें है और वे हाथ जोड़े हुए हैं। स्वयंप्रकाश परमात्माकी उपस्थितिसे सूतिका-गृह प्रकाशमान हो रहा है। वे निर्भय हो गये हैं, क्योंकि उन्होंने परम पुरुषके प्रभावको जान लिया है।

वसुदेवने कहा—'विदितोऽसि भवान् साक्षात्' (१३)—मैंने आपको पहचान लिया है, अब आप छिप नहीं सकते। आप तो प्रकृतिसे परे साक्षात् परम पुरुष हैं। केवलानुभवानन्द ही आपका स्वरूप है। आप बुद्धिके द्रष्टा हैं। आपने ही अपनी प्रकृतिसे इस त्रिगुणात्मक जगत्की सृष्टि की। आपने प्रवेश नहीं किया, क्योंकि पहलेसे ही मौजूद थे। परन्तु आप प्रविष्टके समान मालूम पड़ते हैं। यदि कोई कहे कि जब घड़ा बन गया तब मिट्टीने उसमें प्रवेश किया तो यह कहना बिल्कुल गलत है। क्योंकि मिट्टीके बिना तो घड़ा होगा ही नहीं, मिट्टी तो पहलेसे ही है। इसलिए अन्यका अदर्शन कैसा ?

यदि कोई बालक कहे कि मैं घड़ेको देख रहा हूँ, मिट्टीको नहीं देख रहा और जेवरको तो देख रहा हूँ, सोनेको नहीं देख रहा तो इसका कारण यही है कि वह मिट्टी और सोनेको पहचानता नहीं। यही बात आपके सम्बन्धमें हैं। आप तो सम्पूर्ण तत्त्वोंके अविकृत उपादान हैं। आपमें ही यह सृष्टि और आकृति-विकृति दिखती है, एक छाया-सी मालूम पड़ती है। आप तो पहलेसे ही विद्यमान हैं। अन्तःकरणोंके द्वारा जितनी भी वस्तुएँ मालूम पड़ती हैं, उन सबमें आप हैं।

यदि कोई कहे कि हैं तो दिखते क्यों नहीं? तो, इसका जबाब यह है कि सभी मौजूद वस्तुएँ दीखें, यह कोई जरूरी नहीं है। उन्हें देखनेको ताकत चाहिए। कोई भी चीज होनेसे ही नहीं दिखती। आँख ठीक होनेपर ही दीखती है। परमात्मा है, परन्तु वह हमारा हृदय परमात्माकार न होनेसे दिखायी नहीं पड़ता। घट सामने हो, परन्तु घटाकार वृत्ति न हो तो घट-ज्ञान कहाँसे होगा? ठीक इसी प्रकार आप तो यहीं विद्यमान हैं, परन्तु तदाकार वृत्ति न होनेसे आपका ग्रहण नहीं होता।

आपमें कोई आवरण न तो बाहर है, न भीतर है। इसके चार कारण बताये गये हैं—एक तो आप सर्वरूप हैं, दूसरे आप सर्वान्तर्यामी हैं, तीसरे आप साक्षात् आत्मा हैं और चौथे आप परमार्थ वस्तु हैं। इसलिए आपको ढकनेवाली कोई अन्य वस्तु नहीं है। जो अपनेसे अतिरिक्त दृश्य वस्तुओंकी सत्ता स्वीकार करता है, वह अबुध है। वह केवल अनुवाद करता है, विचार नहीं करता। क्योंकि जिस वस्तुका अस्तित्व नहीं, उसको वह स्वीकार करता है।

लोग कहते हैं कि परमात्मा निर्गुण, निर्विकार भी है और उसीसे सृष्टि भी होती है। ऐसा कहना भी परमात्माके लिए कोई विरुद्ध बात नहीं है। परस्परका अध्यास ही परस्पर विरोधी होता है। सम्पूर्ण अध्यासोंका जो अधिष्ठान है, वह परमात्मा है। रस्सीको यदि कोई साँप समझ ले, माला समझ ले, डण्डा समझ ले, भूछिद्र समझ ले या कुछ और समझ ले तो यह आपसके अध्यासोंका ही विरोध है। रस्सी तो सभी अध्यासोंमें ज्यों-की-त्यों है। इसी प्रकार जो परस्पर वाद-विवाद होते हैं, उन सबके भीतर एक अविरोधी निर्विवाद वस्तु होती है और उसीकी आश्रित सभी बातें होती हैं। इसलिए उनका उपचार उन्हींमें किया जाता है। इसी तरह एक आप ही समय-समयपर शुक्ल, रक्त आदि अवतार धारण करके जगत्की रक्षा करते हैं।

अन्तमें वसुदेवजीने कहा कि प्रभो, आप इस समय लोक-रक्षाके लिए हमारे घरमें अवतीर्ण हुए हैं। आप पृथिवीका भार बढ़ानेवाले दैत्योंका संहार करेंगे। उनमें यह कंस बड़ा असभ्य है—'अयं त्वसभ्यः' (२२)।

देखो, महात्मा लोग ऐसे प्रसङ्गमें भी किसीको गाली तो दे नहीं सकते, अधिक-से-अधिक यही कहेंगे कि अरे भाई, वह शिष्टाचारका पालन नहीं करता। एक नन्हें-मुन्ने बालकको, जो अभी-अभी पैदा हुआ है, क्या मारना चाहिए ? यह तो बड़ी असभ्यता है।

वसुदेवजी कहते हैं—भगवन्, वह वास्तवमें असभ्य है। कई छोटे-छोटे बच्चोंको मार चुका है। अब आपका जन्म होनेकी बात सुनते ही वह हमारे घरमें हथियार लेकर आयेगा।

इसी बीच देवकीकी आँख खुल गयी और उसने भी देखा कि यह तो भगवल्लक्षण-सम्पन्न बालक है। अब 'देवकी तमुपाधावत् कंसाद्भीता शुचिस्मिता' (२३)। पहले तो देवकी कंसके भयसे भयभीत हुई, परन्तु बादमें बालकको देखकर मुस्कुरा पड़ी। उसकी स्थिति ऐसी हो गयी कि मानों वह ब्रह्मत्वका अर्पण कर रही हो। जैसे कोई अभिषेक करके, अभिमन्त्रित करके कहे कि अरे ओ बालक, तू तो साक्षात् परब्रह्म परमात्मा है, वैसे ही देवकी मन्त्र पढ़ने लग गयी—

रूपं यत् तत् प्राहुरव्यक्तमाद्यं ब्रह्म ज्योतिर्निर्गुणं निर्विकारम्।
सत्तामात्रं निर्विशेषं निरीहं स त्वं साक्षाद् विष्णुरध्यात्मदीपः॥ २४

देवकीने कहा कि अरे तुम जो आँखसे बाहर दीख रहे हो, वह नहीं हो। तुम जो हमारे भीतरके अध्यात्म—अन्तःकरणमें दीपककी तरह प्रज्ज्वलित होते हो; वही आज हमारी आँखोंके सामने साक्षात् ब्रह्मके रूपमें प्रकट हुए हो। तुम तो ब्रह्म हो, बृहत् हो, ज्योतिश्चेतन हो, गुणातीत हो, विकार रहित हो। निर्विशेष, सत्तामात्र और निरीह हो। साक्षात् प्रलयके समय भी तुम शेष रहते हो। काल तो तुम्हारी चेष्टा है।

'मर्त्यो मृत्युव्यालभीतः पलायन्' (२७)—मनुष्य मृत्यु-व्यालके डरसे भागता रहता है। किसी भी लोकमें इसको निर्भय पदकी प्राप्ति नहीं हुई। 'त्वत्पादाब्जं प्राप्य यदृच्छयाद्य' (२७)—किन्तु अब तो वह तुम्हारे चरणोंमें आगया। 'यदृच्छया' माने तुम्हारी किसी अनिर्वचनीय कृपाने उसे तुम्हारे चरणोंमें डाल दिया। तुम्हारे पादाब्ज धन्वन्तरि हैं, उनके पास सब रोगोंकी दवा है। उनकी शरण ग्रहण करके 'स्वस्थः शेते मृत्युरस्मादपैति' (२७)—मनुष्य स्वस्थ होकर सुखकी नींद सो रहा है।

तुलसीदासजीके शब्दोंमें 'सोवत सुख तुलसी भरोसे इक रामके',—भगवान् रामचन्द्रके भरोसे तुलसी सुखसे सोता है। इसी तरह व्यास कवि कहते हैं—

काहू के बल भजन को, काहू के आचार।
व्यास भरोसे कुँवरि के, सोवत पाँव पसार॥

क्यों न हो; जब भगवान्के चरण-धन्वन्तरिकी शरण मिल गयी, जहाँ अमृत-ही-अमृतकी वर्षा हो रही है, वहाँ अब मृत्युका क्या डर है? मृत्यु तो स्वयं डरकर भाग गयी है।

इसलिए तुम 'त्राहि त्रस्तान् भृत्यवित्रासहासि' (२८)—हम डरे हुओंकी रक्षा करो। तुम भृत्यके वित्रास अर्थात् भयको मिटानेवाले हो अथवा 'भृत्यवित् त्रासहासि'—तुम अपने भृत्य माने सेवकको खूब पहचानते हो और उनके त्रासकी निवृत्ति करते हो। तुम्हारा यह चतुर्भुज रूप ध्यानकी वस्तु है। तुम इसे मांसमज्जादर्शियोंके सामने प्रकट मत करो। मधुसूदन, पापी कंसको यह नहीं मालूम होना चाहिए कि तुम मेरे द्वारा प्रकट हुए हो। इसलिए अपने 'शङ्खचक्रगदापद्मश्रिया जुष्टं चतुर्भुजम्' (३०)—शङ्ख, चक्र, गदा, पद्मको लक्ष्मीसे शोभायमान चतुर्भुज रूपको जल्दी समेट लो। जब कोई सुनेगा कि सम्पूर्ण विश्वका आधार प्रभु मेरे गर्भमें आकर रहा तो वह इस बातपर विश्वास नहीं करेगा।

भगवान्ने कहा कि देवि, मैं स्वयं तुमको यह रूप नहीं दिखाना चाहता था। पहले तुम दोनों पृश्नि और सुतपाके नामसे बड़े निष्पाप तपस्वी थे। ब्रह्माने तुमको आदेश दिया कि सृष्टि करो। तुमने बड़ी तपस्या की। केवल सूखे-सूखे पत्ते खाकर और हवा पीकर मेरी आराधना की। मैं प्रसन्न होकर तुम्हारे सामने प्रकट हुआ और कहा—'व्रियतां वरः' (३८)—तुम्हारी जो इच्छा हो, वह वर माँग लो। तुम लोगोंने कभी विषय-भोग तो किया नहीं था। सन्तानका सुख-दुःख तुम्हें मालूम न था। 'न वव्राथेऽपवर्गं मे मोहितौ मम मायया' (३९)—इसलिए मेरे प्रकट होनेपर तुमलोगोंने यही माँगा कि हमें तुम्हारे सरीखा बेटा हो। इसका अर्थ यह हुआ कि हमलोग गृहस्थ हों और हमें दाम्पत्य-सुख मिले। तुमने मेरी मायासे मोहित होकर ही ऐसा वर माँगा। 'मोहितौ मम मायया'का—कोई-कोई ऐसा अर्थ भी करते हैं कि हमारे सौन्दर्यकी मायापर तुम इतने मोहित हो गये कि तुमको मोक्ष तुच्छ मालूम पड़ने लगा और तुमने उसको नहीं माँगा।

'गते मयि युवां लब्ध्वा वरं मत्सदृशं सुतम्' (४०)—तुम्हारे वरदान माँगनेके बाद मैंने यह विचार किया कि शील, उदारता और गुणमें मेरे सरीखा तो दूसरा कोई नहीं, इसलिए मैं ही तुम लोगोंका पुत्र हुआ और मेरा नाम पृश्निगर्भ पड़ा।

फिर दूसरे जन्ममें तुम हुई अदिति और वसुदेव हुए कश्यप। उस समय भी मैं उपेन्द्र नामसे तुम्हारा पुत्र हुआ। मेरा शरीर छोटा था, इसलिए लोग मुझे वामन भी कहते थे। अब

इस तीसरे जन्ममें तुमलोग देवकी-वसुदेव हुए। मैं उसी रूपमें फिर तुम्हारा पुत्र हुआ हूँ। पहली बार मैं अपने सरीखा पुत्र नहीं दे सका तो स्वयं अपनेको दिया। अपनेको देनेपर भी मेरा वायदा पूरा नहीं हुआ क्योंकि मेरे समान तो मैं ही हूँ। दूसरा कहाँसे लाता। इसलिए यह सोचकर कि जब कोई अपनी प्रतिज्ञा पूरी न कर सके तो उसे उसके समान तिगुना करके देना चाहिए, मैंने तीन बार पुत्र बननेकी प्रतिज्ञा की और उसके अनुसार मैं तीन बार पुत्र हुआ। उसीकी स्मृतिके लिए मैंने अपना रूप तुमको दिखा दिया है, अन्यथा मेरे जन्मका ज्ञान किसीको नहीं होता।

अब भगवान्‌ने आदेश दिया कि तुमलोग मुझे अपना पुत्र भी समझना और मेरे प्रति ब्रह्मभाव भी रखना। इसीलिए देवकी-वसुदेवकी मिश्र-भक्ति है। किन्तु यशोदा-नन्दकी जो भक्ति है, उसमें मिश्रण नहीं है। वहाँ यह विशुद्ध वात्सल्य है कि श्रीकृष्ण हमारे पुत्र हैं।

युवां मां पुत्रभावेन ब्रह्मभावेन चासकृत्।
चिन्तयन्तौ कृतस्नेहौ यास्येथे मद्‌गतिं पराम्॥४५

भगवान्‌ने कहा—तुम लोग 'ब्रह्मभावेन चिन्तयन्तौ पुत्रभावेन कृतस्नेहौ अर्थात् ब्रह्मभावसे' तो हमारा चिन्तन करना और पुत्रभावसे हमारे प्रति स्नेह करना। यदि तुम्हें कंससे डर लगता है तो मुझे गोकुल ले चलो—'यदि कंसाद् बिभेषि त्वं तर्हि मां गोकुलं नय।' यह पाठ भी पुस्तकोंमें मिलता है। इसका एक अर्थ यह भी निकलता है कि यदि तुम कंससे नहीं डरते तो मुझे यहीं रहने दो। मेरे मामाजी आयेंगे तो मैं उनसे समझ लूँगा। अभी तो मेरे हाथमें गदा और चक्र मौजूद है।

'गोकुलं नय' का एक तात्पर्य यह भी है कि जो भगवान् भीतर प्रकट होते हैं, वही सब-कुछ करनेमें समर्थ होते हैं। परन्तु यदि उतनेसे सन्तोष न हो तो ले आओ आँखके बाहर। जो भीतर देखा है, उसको आँखके बाहर भी देख लो। जो भीतर है, वही बाहर है।

श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि इतना कहकर भगवान् चुप हो गये और तुरन्त प्राकृत शिशुके समान बन गये। अब वसुदेवने भगवान्‌की प्रेरणासे पुत्रको लेकर सूतिका-गृहसे बाहर निकलनेका विचार किया। उसी समय योग-मायाने अपना चमत्कार दिखाया। भगवान्‌की बहिर्मुख-मोहिनी मायाने मथुराके सब नागरिकों और द्वारपालोंको सुला दिया। सभी बन्द दरवाजे अपने आप खुल गये। जब श्रीकृष्णको लेकर कोई भक्त निकलता है तब उसके लिए कोई द्वार बन्द नहीं मिलता। यही वसुदेवके साथ हुआ। वे भगवान्‌को गोदमें लेकर निकले और सब दरवाजे अपने आप खुलते चले गये—ठीक वैसे ही, जैसे सूर्यका आगमन होनेपर अन्धकार दूर होता जाता है। उधर मेघ वर्षा करने लगे और शेष अपने फणोंसे जल-निवारण करते हुए चले। वर्षा होनेके कारण यमुनाजीमें बड़ी भारी बाढ़ आगयी—'भयानकावर्तशताकुला नदी'। (५०)

यहाँ उत्प्रेक्षा देखो। यमुनाजीने विचार किया कि आगे चलकर भगवान्‌से मेरा ब्याह होना है। यदि ये सब समझ लेंगे कि मैं तो दीन-हीन हूँ, अल्प-शक्ति हूँ, मेरे पास तो कोई सामर्थ्य है हो

नहीं, तो सम्भव है हमसे ब्याह न करें। इसलिए एक बार इनको यह दिखा दो कि मैं साधारण नहीं, सूर्यकी पुत्री हूँ और हमारे पास इतनी शक्ति-सामर्थ्य है। परन्तु फिर यमुनाजीके मनमें आया कि कहीं मेरा अभिमान देखकर भगवान् हमसे विरत न हो जायँ और ब्याह ही न करें। इसलिए उन्होंने—'मार्गं ददौ' (५०)—मार्ग दे दिया। जैसे समुद्रने श्री रामचन्द्र भगवान्के लिए मार्ग दिया वैसे ही यमुनाजीने भी दिया। जिस प्रकार भगवान् कहीं बाहरसे गरुड़पर चढ़े हुए आते हैं तो समुद्र फट जाता है और भगवान्को अपने धाममें जानेके लिए मार्ग दे देता है, उसी प्रकार उनको यमुनाजीने मार्ग दिया—'ददौ सिन्धुरिव।' (५०)

जब वसुदेवजी भगवान्को लेकर गोकुल पहुँचे तो वहाँ भी भगवान्की स्वजन-मोहिनी योगमायाने गोकुलके सब लोगोंको सुला दिया। वसुदेवजीने अपने पुत्र भगवान्को यशोदा मैयाकी शय्यापर सुला दिया और उनकी जो बेटी हुई थी, उसको अपनी गोदमें उठाकर मथुरा लौट आये। मथुरा पहुँचकर वसुदेवजीने लड़कीको देवकीकी गोदमें रख दिया और फिरसे उनको हथकड़ी-बेड़ी लग गयी।

देखो, जब भगवान् गोदमें आये तो जेलकी हथकड़ी-बेड़ी छूट गयी और जेलके दरवाजे खुल गये। फिर जब भगवान् गोकुलमें रह गये और लड़कीके रूपमें माया साथ आयी तो फिर हथकड़ी-बेड़ी लग गयी तथा जेलके सब दरवाजे बन्द हो गये। भगवान्के संयोग और वियोगकी यही महिमा है।

कुछ लोग इसकी व्याख्या ऐसी भी करते हैं कि दो बालक पैदा हुए। एक यशोदा मैयाकी गोदमें और दूसरा देवकीकी गोदमें। देवकीसे नारायण प्रकट हुए और यशोदासे गोलोकाधिपति श्रीकृष्ण पैदा हुए। जब वसुदेवजी नारायणको गोदमें लेकर गोकुल गये तो वहाँ श्रीकृष्णमें लीन हो गये और वहाँसे माया लेकर चले आये। गौड़ेश्वर सम्प्रदायवाले कहते हैं कि नारायणके अवतार श्रीकृष्ण नहीं, बल्कि श्रीकृष्णके ही एक अवतार नारायण हैं।

भक्त लोग मायाको छोड़ते हैं और भगवान्को पकड़ते हैं। भगवान्ने सोचा कि वसुदेव भी कैसे भक्त हैं जो मायाको तो लिये जा रहे हैं और हमको छोड़े जा रहे हैं। इसपर भगवान्को रुलाई आगयी और वे रोने लगे। परन्तु भगवान् भीतर-ही-भीतर वसुदेवजीके इस प्रेमपर खुश भी हो रहे थे कि देखो, हमारी रक्षाके लिए हमें यहाँ छोड़कर स्वयं इतना दुःख मोल ले रहे हैं।

इधर यशोदा मैयाको पता नहीं लगा कि उनके बेटा हुआ है या बेटी हुई है। असलमें भगवान् भी कुछ ऐसी लीला करते हैं, जिससे वे बेटे हैं या बेटी—इसका पता लोगोंको जल्दी नहीं लगता। वे जरूरत पड़नेपर बेटी भी बन जाते हैं और बेटा भी बन जाते हैं। 'त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी'—(श्वेताश्व ४.३) स्वयं वेद कहते हैं कि भगवन्! स्त्री भी तुम्हीं हो और पुरुष भी तुम्हीं हो, तुम्हीं कुमार हो और तुम्हीं कुमारी हो।



श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि जब वसुदेवजी कंसके कारागारमें लौट आये; उनकी हथकड़ी-बेड़ी लग गयी और दरवाजे पहलेकी तरह बन्द हो गये, तब नवजात शिशुके रोनेकी ध्वनि सुनकर द्वारपाल जागे, उन्होंने तत्काल कंसको खबर दी। कंसको नींद कहाँ? वह तो 'यदुद्विग्नः प्रतीक्षते' (२)—जाग-जागकर प्रतीक्षा करना था कि कब कृष्णावतार हो। ऐसी प्रतीक्षा तो भक्त लोग भी नहीं करते। वह जल्दी-से-जल्दी जेलखानेमें पहुँचा। देवकीने उससे कहा कि भाई, यह तो बेचारी लड़की है, इसे मत मारो।

देखो देवकी यदि लड़कीका पक्ष न लेती तो कहा जाता कि उन्होंने दूसरेकी बच्ची समझकर पक्ष नहीं लिया और यदि उससे ममता प्रकट न करती तो कंसको शंका भी हो सकती थी। इसलिए देवकीने कहा कि मुझ मन्दभागिनीकी यह अन्तिम सन्तान है—'मन्दाया अङ्गेमां चरमां प्रजाम्' (६)। तुम इसको छोड़ दो।

देवकी उस बच्चीको गोदमें लेकर अत्यन्त दीन और आर्त्त भावसे रोने लगी। किन्तु कंस तो बड़ा क्रूर था। उसने देवकीके हाथोंसे बच्ची छीन ली और उसको पत्थरपर दे पटका। परन्तु वह साधारण बच्ची तो थी नहीं, देवी थी; आकाशमें उड़ गयी और वहाँ अष्टभुजाधारिणी होकर अपने आयुधोंके साथ आकाशमें दिखाई पड़ी। वह अपने वस्त्राभूषणोंके साथ, सिद्ध-चारणों आदिके द्वारा सेवित होकर बोली कि, 'अरे, मन्द कंस, मुझे मारनेमें क्या रखा है? तेरा जो पहलेवाला शत्रु है, वह तुझे मारनेके लिए पैदा हो चुका है। तू नहीं जानता कि वह पूर्व शत्रु है या अपूर्व शत्रु है। गुञ्जाइश इन दोनोंकी है। 'यत्र क्व वा पूर्वशत्रुः' (१२)। असलमें वह तेरा पूर्व शत्रु भी है और अपूर्व शत्रु भी है।

अब तू अपनी फिक्र कर, निर्दोष बालकोंकी हत्या करना छोड़ दे!

इतना कहकर देवी चली गयी और कंसके दिलमें यह दहशत पैदा कर गयी कि मेरा दुश्मन तो पैदा हो गया है। उसको बड़ा आश्चर्य हुआ। वह देवकी और वसुदेवके पास आकर

बोला कि मेरी प्यारी बहन देवकी और वसुदेवजी, मैंने तुम्हारे साथ राक्षस जैसा क्रूर व्यवहार किया है। मुझे तो अब ब्रह्मघातीकी गति भोगनी पड़ेगी।

देखो, यहाँ कंसको थोड़ी देरके लिए ही सही, ऐसा विचार कैसे आगया ! अवश्य ही इस विचारके पीछे देवीके दर्शनोंका प्रभाव था। देवीके दर्शनोंसे भगवान् और उनके भक्तोंके प्रति कंस जैसे व्यक्तिके हृदयमें भी थोड़ी प्रीति तो उत्पन्न होनी ही चाहिए।

कंसने फिर कहा कि देवकी बहन, मैंने जो कुछ किया, उसमें दोष मेरा नहीं, मेरे दुश्मनोंका ही है।

देखिये, दुष्ट लोगोंका स्वभाव ऐसा होता है कि वे किसी भी हालतमें अपना दोष स्वीकार नहीं करते, वे किसी-न-किसी दूसरेके सिरपर अपने दोषोंका दायित्व डाल देते हैं। अरे भाई, अपना दोष स्वीकार करो तो उसके निवारणका उपाय भी हो सकता है। लेकिन जब तुम्हारा कोई दोष नहीं, तुम बिल्कुल दूधके धुले हो तो उसका परिणाम जैसा होनेवाला होगा, वैसा होगा।

दैवमप्यनृतं वक्ति न मर्त्या एव केवलम्। १७

कंसने कहा कि केवल मनुष्य ही झूठ नहीं बोलते, देवता भी झूठ बोलते हैं। मैं अपने दुश्मनोंकी बातमें आकर पापी हो गया और मैंने अपनी बहनके बच्चोंको मारा। लेकिन तुम लोग शोक मत करो। बच्चोंको तो उनके कर्मका ही फल मिला है 'स्वकृतम्भुजः'। (१८)

देखो, कंसने एक तो देवताओंको झूठा बताया और दूसरी बात यह कही कि तुम्हारे बच्चोंका प्रारब्ध ही ऐसा था। उसने अपने दोषको अपने ऊपर हाथ नहीं लगाने दिया और फिर बोला कि—'जन्तवो न सदैकत्र दैवाधीनास्तदासते (१८)' अर्थात् 'जन्तवः सदा न सहासते' अथवा 'जन्तवः एकत्र न सहासते'—संसारके प्राणी हमेशा नहीं रहते। कभी-कभी रह भी जायँ तो साथ-साथ नहीं रहते। इनकी स्थिति तो ऐसी है कि जैसे हवामें बहुत सारी वस्तुएँ उड़ती रहती हैं, मिट्टीसे बनी हुई चीजें बदलती रहती हैं परन्तु मूल वस्तु मिट्टी नहीं बदलती, इसीप्रकार देहका योग-वियोग, यह सब अज्ञानीके लिए है। यद्यपि मैंने तुम्हारे बच्चोंको मारा, परन्तु तुम लोग उनके लिए शोक न करो। क्योंकि सबको विवश होकर अपने-अपने कर्मोंका फल भोगना पड़ता है। जबतक मनुष्यके मनमें 'मैं मारा गया' और 'मैं मारनेवाला हूँ',

यह अभिमान बना रहता है, तभीतक वह अभिमानी बाध्य-बाधक-भावको प्राप्त होता है। तुम लोग मुझे क्षमा करो—

यह कहकर अश्रुमुख कंसने वसुदेव-देवकीके चरण पकड़ लिये—

इत्युक्त्वाश्रुमुखः पादौ श्यालः स्वस्रोरथाग्रहीत् । २३

यहाँ कंसके लिए प्रयुक्त 'अश्रुमुख' विशेषणपर आप लोग ध्यान दें। इसकी आँखोंसे आँसू गिरें नहीं, क्योंकि वे स्वाभाविक नहीं थे। वह मुँहसे ही आँसू गिराता था। इसीलिए उसे अश्रुमुख कहा गया।

उसने देवी योगमायाके वचनोंपर विश्वास करके वसुदेव-देवकीको कारागारसे मुक्त कर दिया और तरह-तरहसे उनके प्रति प्रेम प्रकट करने लगा। थोड़ी देरके लिए सद्बुद्धि आयी। देवकी और वसुदेवके चित्तमें भी उसका पश्चाताप प्रकट करना देखकर दया आगयी और उन्होंने क्रोध छोड़ दिया। फिर वसुदेव बोले कि आप जैसा कहते हैं, ठीक है।

देखो, यहाँ सन्तकी महिमा—वसुदेवको दुःख है, उनके बेटे मारे गये हैं, उनकी बेटी मारी गयी है, फिर भी वे धैर्य धारण किये हैं। कंस आसुर पक्षका ज्ञानी है। वह दूसरेके दुःखके समय बड़ा ज्ञान बघारता है। यदि इतना ज्ञान है तो मरनेसे स्वयं क्यों डरता है? स्वयं तो मरनेसे डरना और दूसरेको उपदेश देना आसुर ज्ञान है। वसुदेव कष्टमें हैं, फिर भी सन्त होनेके कारण कंसको उसके द्वारा ज्ञान बघारे जानेपर कहते हैं कि तुमने जो कुछ कहा, ठीक ऐसा ही है। अज्ञानसे अहंकार होता है, अहंकारसे अपने-परायेका भेद होता है और फिर उससे शोक-हर्ष-लोभ-मोह आदि होते हैं। संसारका तो यह हाल है कि यहाँकी एक वस्तु दूसरी वस्तुको काटती जा रही है। भेदबुद्धि निमित्तभूत भावोंसे ही एक दूसरेका नाश करती रहती है और ईश्वरको नहीं देखती।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि परीक्षित, कंस वसुदेव-देवकीकी अनुमति लेकर अपने महलमें चला गया। वहाँ मन्त्री बुलाये गये। कंसने उनको सब कथा सुनायी। मन्त्री नीति-निपुण नहीं थे। दैत्य-स्वभावके कारण देवताओंके प्रति शत्रुता रखते थे। इसलिए वे और भी क्रुद्ध हो गये। इधर कंस भी जबतक देवकी-वसुदेवके बीचमें था, उसमें सद्बुद्धि थी, परन्तु जब मन्त्रियोंके कुसंगमें गया तो फिर उसकी बुद्धि बदल गयी।

मन्त्रियोंने कहा—'अनिर्दशान् निर्दशांश्च हनिष्यामोऽद्य वै शिशून्' । (३१)—भोजराज, हम आज ही नगरों, गाँवों, बस्तियोंके सब बच्चोंको मार डालेंगे—चाहे वे दस दिनके हों, अधिकके हों या कमके हों। देवता लोग हमारा क्या करेंगे ? वे तो आपसे डरते रहते हैं। जिस समय आप बलका प्रयोग करते हैं, उस समय देवता या तो भाग जाते हैं या हाथ जोड़ते हैं या हथियार फेंक देते हैं। कोई-कोई तो अपनी चोटी और कच्छ खोल भी देते हैं और कोई कहते हैं कि हम तो डर गये, हमारी रक्षा कीजिये।

चाटुकार मन्त्रियोंने आगे कहा कि भोजराज, आप जैसा धर्मात्मा तो सृष्टिमें है ही नहीं। आप कभी धर्मके विपरीत युद्ध नहीं करते। विष्णु आपके डरके मारे ही एकान्तमें रहा करते हैं। शङ्कर आपके भयसे जंगलमें चले गये हैं। ब्रह्मा तपस्वी हैं और इन्द्रमें तो ताकत ही नहीं है। फिर भी हमें उनकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। उपेक्षा करने पर इन्द्रियाँ, रोग और शत्रु अपनी जड़ जमा लेते हैं और फिर मारे नहीं जाते। देवताओंके मूल हैं विष्णु और विष्णु वहाँ रहते हैं जहाँ सनातन धर्म रहता है। सनातन धर्म वहाँ रहता है, जहाँ ब्राह्मण, वेद, गाय, तपस्या और दक्षिणा सहित यज्ञ रहते हैं।

विप्रा गावश्च वेदाश्च तपः सत्यं दमः शमः।
श्रद्धा दया तितिक्षा च क्रतवश्च हरेस्तनूः ॥४१

असुरोंने कहा कि ब्राह्मण, गाय, वेद, तप, सत्य, दम, शम, श्रद्धा, दया, तितिक्षा और यज्ञ—ये सब विष्णुके शरीर हैं। हम लोग इन सबपर चोट करेंगे और इसका नाश करेंगे। विष्णु ही देवताओंका स्वामी है, उसीके आधारपर सब देवता टिके हुए हैं। उसके वधका उपाय यही है कि सब ऋषियोंको मार दिया जाय। यदि दुनियामें ऋषि-महात्मा नहीं रहेंगे तो विष्णु कहाँ रहेंगे ? क्योंकि ऋषि-महात्माओंने ही विष्णुको बचा रखा है।

अयं वै तद्वधोपायो यदृषीणां विहिंसनम् । ४२

इस तरह असुरोंने आपसमें सलाह की और ब्राह्मण-साधुओंकी हिंसाको श्रेष्ठ माना। कंसने तुरन्त उनकी सलाह मान ली और हस्ताक्षर करके कह दिया कि बिल्कुल ठीक है। दानव सब जगह जायँ और ब्राह्मण-साधुओंको मारना शुरू करें।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि परीक्षित, यह बात समझ लेना कि सन्तसे विद्वेष करना मौतको पास बुलाना है। 'सतां विद्वेषमाचेरुरारादागतमृत्यवः' (४५) जिसकी मृत्यु पास आजाती है, वही सन्तसे द्वेष करता है। 'हन्ति श्रेयांसि सर्वाणि' (४६)यदि कोई महापुरुषका अतिक्रमण करता है तो उसकी आयु, लक्ष्मी, यश, धर्म, लोक, आशीष और सारे श्रेय नष्ट हो जाते हैं।

❀

यहाँतक तो हुई मथुराकी बात। अब नन्दबाबाके यहाँ गोकुलमें चलो। 'नन्दके आनन्द भयो, जय कन्हैया लालकी'—यह स्वरघोष वहाँके वातावरणमें व्याप्त हो रहा है। भागवतमें यह बात देखनेमें आती है कि श्रीशुकदेवजी महाराज नन्दबाबाका थोड़ा पक्षपात करते हैं। जब कहीं कहना होगा तो कहेंगे—'पशुपाङ्गज - यशोदानन्दसूनु'—अर्थात् श्रीकृष्ण तो नन्दबाबाके बेटे हैं। यह बात बार-बार आती है।

हमारे प्राचीन महात्माओंने इस विषयपर बहुत विचार किया। उन्होंने कहा कि असलमें बात यह है कि भगवान् अपनेको न किसीका बाप मानते हैं और न बेटा, वे अपनी महिमामें ही स्थित हैं। परन्तु जो दृढ़तासे उनको अपना बेटा मानता है, उसके वे बेटे हो जाते हैं। वसुदेव-देवकीने तो जन्मके समय भगवान्‌को चर्तुभुज, महापुरुष और ब्रह्मरूपमें देख-समझ लिया था। इसलिए दृढ़तासे उनको अपना बेटा नहीं माना। लेकिन नन्दबाबाने न चतुर्भुज रूप देखा और न ब्रह्म समझा। उन्होंने तो नन्हें-से बच्चेको गोदमें लेकर खिलाया। यही कारण है कि नन्दबाबाका पुत्रभाव जितना प्रौढ़–प्रबल था उतना देवकी-वसुदेवका नहीं था। भगवान्‌को जो अपने अनन्त वात्सल्य, अनन्त स्नेहका विषय मानकर अपना बेटा मान ले, भगवान् उसीका बेटा हो जाते हैं। भावमें दृढ़ता होनी चाहिए। नन्दका भाव दृढ़ है। इसीलिए श्रीशुकदेवजी कहते हैं—

नन्दस्त्वात्मज उत्पन्ने, जाताह्लादो महामनाः। १

परीक्षित, नन्द बाबाको आत्मज उत्पन्न हुआ है। भगवान् जब महात्माओंसे मिलते हैं तब उनके आत्मा तो होते हैं—आत्मज बिल्कुल नहीं होते। यह तो यशोदा-नन्दकी ही महिमा है कि उनके आत्मज होकर आये। आत्मा और आत्मज होनेमें फर्क है।

नन्दबाबाको बेटा क्या हुआ मानों आह्लाद-आनन्द पैदा हुआ है। नन्द महामना हैं। इस महामना शब्दपर भी टीकाकार वंशीधरने बहुत लिखा है। वे इसको अनेक व्युत्पत्तियाँ देते हैं। यहाँ हम सबकी चर्चा नहीं कर सकते। केवल इतना ही समझो कि नन्द बाबाका मन महान् हो

गया। वह मैं—मेरेके चक्करमें नहीं रहा। उन्होंने समागतोंसे कहा कि, आप लोगोंकी जो मौज हो, वह ले जाइये। नन्द बाबा परम उदार हैं। 'उत् ऊर्ध्वं शक्त्याः आ समन्तात् राति इति उदारः'—जो अपनी शक्तिके बाहर सब कुछ दे दे, उसका नाम उदार होता है।

अब पुत्रका जन्म होनेपर नन्द बाबाने वेदज्ञ ब्राह्मणोंको बुलाया, स्नान किया, पवित्र हुए, अलंकार धारण किया। वे वृद्ध हो गये थे, अलंकार आदि नहीं पहनते थे। पर बेटा होनेपर उन्होंने अपना शृङ्गार किया—'अलंकृतः'। फिर वेदज्ञ ब्राह्मण बुलवाये गये और स्वस्ति-वाचन हुआ। स्वस्ति शब्दका अर्थ वेदमें अविनाश होता है। 'स्वस्तीत्यविनाशिनाम' (निरुक्त ३.२१) अविनाशीको स्वस्ति कहते हैं। आत्मजका जातकर्म हुआ। उन्होंने फिर विधिवत् पितृपूजा, देवपूजा करवायी और गौओंको अलंकृतकर उनका दान किया।

श्रीधर स्वामीजी कहते हैं कि दो लाख गायोंका दान करवाया। परन्तु श्रीजीवगोस्वामीने 'धेनुनां नियुते प्रादाद्' (३) का अर्थ करते हुए लिखा है कि बीस लाख गौयें दान दो गयीं। उन्होंने 'अयुतं'का अर्थ बीस लाख किया है।

इतना ही नहीं, नन्दबाबाने तिलके सात पर्वत बनाये और उनको सुनहले वस्त्रोंसे ढककर दान किया। यह दान पवित्रताके लिए आवश्यक माना गया है। कहा गया है कि 'कालेन स्नान-शौचाभ्याम्' (४)-भला, कहीं कालसे भी पवित्रता होती है? अवश्य होती है आप जानते ही हैं कि गाय-भैंस जननेपर उनका दूध तत्काल ग्रहण नहीं करते। धरतीपर नया-नया पानी बरसनेपर क्या होता है? यही न कि दस दिन बाद उसको काममें लिया जाता है, क्योंकि शास्त्रमें कहा गया है—कि ये सब पदार्थ दस दिनमें शुद्ध हो जाते हैं।

तो, कई पदार्थ समयसे शुद्ध हो जाते हैं और कई स्नान आदिसे शुद्ध होते हैं। शरीरमें कुछ लग गया हो तो उसको धो लेनेमें शुद्धि होती है। गार्भिक दोषोंको अर्थात् यदि पिताके वीर्यमें अथवा माताके गर्भमें कोई दोष हो तो संस्कार करनेसे उसकी निवृत्ति होती है। इन्द्रियोंकी शुद्धि तपस्यासे होती है। ब्राह्मणादिकी शुद्धि यज्ञसे होती है। धनकी शुद्धि दानसे होती है। मनकी शुद्धि संतोषसे होती है। किन्तु आत्माकी शुद्धि कैसे होती है? आत्मा तो नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त है। उसको नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त न जानना ही अशुद्धि है। जहाँ उसको नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त जान लिया कि वह तो ज्यों-का-त्यों है ही। यहाँ तात्पर्य यह है कि बालक पैदा हो तो संस्कार करके उसको पवित्र जरूर करना चाहिए।

अब नन्द बाबाके घरपर ब्राह्मण मङ्गल वाणी बोलने लगे। सूत-मागध-बन्दी सब गाने-बजाने लगे। दुन्दुभियाँ बजने लगीं। सारा व्रज सींच दिया गया। आप कभी किसी व्रजवासीके मुँहसे नन्दोत्सव सुनना। वे इसको बहुत बढ़िया सुनाते हैं। यह उनके घरकी चीज है, संस्कारकी चीज है, उनकी अपनी चीज है। पद-पदार्थोंके ज्ञाता अपना ज्ञानाभिमान छोड़कर ध्यानसे श्रद्धापूर्वक सुनें तो पायेंगे कि भोले-भाले अल्हड़ व्रजवासी ऐसी बात बताते हैं, जो प्रकृति-प्रत्ययार्थसे तो दूर होती है—परन्तु होती है बड़े कामकी !

'व्रजः सम्मृष्ट-संसिक्तद्वार' (६)—व्रजके एक-एक द्वारपर झाड़ू लग गया और वे सींच दिये गये। सभी घरोंके आँगन-आन्तर भाग चित्रध्वज, पताका, स्रक्, चैल, पल्लव, तोरण आदिसे सुसज्जित हो गये और गाय, बैल, बछड़े सबको हल्दी-तेल लगा दिया गया। उनको विचित्र-विचित्र प्रकारके धातु, पुष्पमाला और सोनेके हार पहना दिये गये।

महार्हवस्त्राभरणकञ्चुकोष्णीषभूषिताः। ८

नगरके लोग तो सब समय सजधजकर रहते ही हैं। कहीं भी जाना हो तो उठकर चल देते हैं। अयोध्यामें जब यह खबर फैली कि राजमहलमें पुत्र हुआ है तो जो जैसा था, वैसे ही दौड़ पड़ा। पर व्रजमें तो कोई गोबर पाथ रहा है, कोई गोष्ठकी शुद्धि कर रहा है और कोई जंगलमें है। परन्तु उनको भी जब नन्दबाबाके यहाँ पुत्र होनेका समाचार मिला, तब उन्होंने झट स्नानादि करके अपने बहुमूल्य वस्त्र निकाल लिये जो कि मिट्टीके पकाये हुए बर्तनोंमें रखे थे और जिनका उपयोग बरस-दो-बरसमें विवाहादिके अवसरपर होता था। गोपोंने उन वस्त्राभूषणोंको धारण किया और नाना प्रकारकी भेंट लेकर नन्दबाबाके यहाँ उपस्थित हुए। गोपियोंने भी जब सुना कि यशोदाके तो बेटा हो गया तो वे अत्यधिक आनन्दित हुईं। अभीतक वे अपनेको भूषित नहीं करती थीं। किन्तु आज उन्होंने अपनेको वस्त्राभूषणोंसे सजाया। गोप तो पहले ही पहुँच गये, परन्तु आनन्दमग्न गोपियोंको शृङ्गार करनेमें कुछ विलम्ब हुआ।

'वस्त्राकल्पाञ्जनादिभिः' (९)। गोपियोंने सुन्दर-सुन्दर वस्त्र-आभूषण और अञ्जन आदिसे अपना बड़ा शृङ्गार किया। इससे उनके मुखकमल बड़े सुन्दर जान पड़ते थे। 'नवकुङ्कुम-किञ्जल्क' (१०)। उनमें लगे हुए कुंकुम ताजी केसरके समान शोभा बिखेर रहे थे। चलते समय उनके बड़े-बड़े नितम्ब और वक्षस्थल हिल रहे थे।

देखो, यह वर्णन श्रीशुकदेवजी महाराज करते हैं। एक बार एक महात्मासे किसीने

कहा कि शुकदेवजी महाराज स्त्रियोंका ऐसा वर्णन क्यों करते हैं ? महात्मा बोले कि बाबा, जरा चलो तो गोपियोंके पीछे-पीछे, तब पता चलेगा कि वे कैसी हैं ! अगर तुम लोग थोड़ी देर भी उनके पीछे चलोगे तो तुम्हें भगवान् मिलेंगे और संसारकी स्त्रियोंके पीछे चलोगे तो विषयासक्ति मिलेगी।

तो, गोपियाँ चित्र-विचित्र वस्त्राभूषण धारण करके अपने सुन्दर बालोंसे फूलोंकी वर्षा करती हुई तथा हाथके कङ्कन और पाँवकी पायजेब द्वारा रुनझुन-रुनझुनकी सुमधुर ध्वनि बिखेरती हुई नन्द-यशोदाके द्वार पहुँचीं। वहाँ वे बालकको देखें, छूएँ, और कहें कि 'चिरं पाहि' (१२)—तुम चिरकाल तक हमारे राजा रहना, हमारी रक्षा करना। यहाँ कोई-कोई यह अर्थ करते हैं कि गोपियाँ भगवान्से चिरकाल तक बालककी रक्षा करनेकी प्रार्थना करती हैं और आशीष देती हैं। वे इतनी उल्लासमें हैं कि लोगोंको घेर-घेरकर हरिद्राचूर्ण, तैल तथा जलके द्वारा सींच देती हैं—'जनमुज्जगुः' (१२)। फिर विभोर होकर कृष्ण-कृष्ण, राम-राम, इस प्रकार भगवान्के नामका गान करती हैं। 'अजनमुज्जगुः'—बूढ़ा या जवान जो भ. मिलता, उसको चारों ओरसे घेरकर कहतीं—पहले नाचो, तब तुम्हें छोड़ेंगे। गोपगण भी सब एक दूसरेके मुँहपर हल्दी लगाते हैं। अबीर लगाते हैं, मक्खनका लोंदा मलते हैं और पानीसे नहला देते हैं। बड़े-बड़े विचित्र बाजे बज रहे हैं, क्योंकि अनन्त विश्वेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण आज नन्दके व्रजमें प्रकट हुए हैं।

नन्दो महामनास्तेभ्यो वासोऽलङ्कारगोधनम् । १५

यहीं 'महामना' शब्द दूसरी बार नन्दके लिए विशेषणके रूपमें आया है। इसका तात्पर्य यह है कि नन्दबाबाको कुछ भी देनेमें संकोच नहीं है। उन्होंने गोपोंको बहुत सारे वस्त्र, अलंकार और गोधन दिये। सूत-मागध बन्दी तथा अन्य विद्योपजीवी जनोंको भी नन्दजीने मुंहमांगी वस्तुएँ दीं। यदि घरमें सुख हो और विद्याजीवी लोगोंका सत्कार न किया जाय तो वे विद्याकी रक्षा कैसे करेंगे ? 'अदीनात्मा'—नन्दबाबाके मनमें यह विचार नहीं है कि यदि आज हम सब कुछ दे देंगे तो कल क्या खायेंगे और घरमें क्या रहेगा ? वे उदारतापूर्वक सब कुछ दिये जा रहे हैं।

विष्णोराराधनार्थाय स्वपुत्रस्योदयाय च । १६

सम्पूर्ण क्रिया-कलापके मन्त्रमें नन्दबाबाका संकल्प यह है कि 'अनेन विश्वात्मा विष्णुः

प्रीयताम्'—मैं जो कुछ कर रहा हूँ, इससे विश्वात्मा भगवान् प्रसन्न हों। इसमें मेरा अपना कोई सुख-स्वार्थ नहीं है, हमारी इतनी ही कामना है कि हमारे पुत्रका अभ्युदय हो।

एक अन्तर्कथा यह है कि इसी बीच गाँवकी आदरणीया वृद्धा पौर्णमासीजी वहाँ आगयीं। उन्होंने कहा कि नन्दको बुलाओ, नेग-चार होगा। नन्दबाबा आये। पौर्णमासीजीने उनको आँगनमें रखी हुई चौकीपर बैठनेके लिए कहा। नन्दबाबा आँख बन्द करके आनन्द-समाधिमें मग्न होकर बैठ गये। पौर्णमासीजीने पहलेसे इकट्ठे किये हुए अनेक घड़ोंमें जो हल्दी, अबीर, दही आदिका घोल था, उसको ला-लाकर नन्दबाबापर उड़ेला। नन्दबाबाने कहा कि देवी, और कितना उड़ेलोगी? पौर्णमासीजीने कहा कि अच्छा, नन्दबाबा, अब तुम नाचो! नाचोगे तभी छुट्टी मिलेगी। नन्दबाबाने उसी अवस्थामें नृत्य किया। पौर्णमासीजी तथा अन्य गोपी-गोप भी नाचने लगे।

उसके बाद स्नानादि करके नन्दबाबा रोहिणीजीके पास गये और कहा कि इस उत्सवमें तुम क्यों नहीं आयी? बेटा तो तुम्हारा ही है। पराये घरका तो उत्सव है नहीं। इसपर रोहिणीजी भी वस्त्राभरण धारण करके उत्सवमें सम्मिलित हो गयीं। पहले वह क्यों नहीं आयीं? इसका कारण बताते हुए कहते हैं कि यदि पति परदेशमें हो तो पत्नीको किसी दूसरेके उत्सवमें सम्मिलित नहीं होना चाहिए। प्रोषितभर्तृकाके लिए धर्मकी यही मर्यादा है कि वह उत्सव आदिमें सम्मिलित न हो। परन्तु नन्दबाबाकी आज्ञा मानकर रोहिणीजी उत्सवमें सम्मिलित हुईं।

तत आरभ्य नन्दस्य व्रजः सर्वसमृद्धिमान्।
हरेर्निवासात्मगुणै रमाक्रीडमभून्नृप ॥ १८

श्रीकृष्णके जन्मदिनसे नन्दबाबाके व्रजमें सारी समृद्धि आगयी। उनके जो खजाने बरसोंसे बन्द पड़े थे, वे आज खोल दिये गये और घोषणा कर दी गयी कि जो जितना चाहे ले जाय।

याचक बोले कि चलो भाई ले चलें। वे चाँदीवाले खजानेमें पहुँच गये। उन्होंने अपने सिरपर उतनी चाँदी उठा ली, जितनी उठती थी। वे जब गाँवसे निकले तो लोगोंने कहा कि वहाँ सोनेका खजाना खुला था और तुम लोग चाँदी लेकर जा रहे हो। अरे, इतने ही वजनका सोना ले आते! याचकोंने चाँदी वहीं फेंक दी और फिर लौटकर सोना ले लिया। जब सोना लेकर जाने लगे तब किसीने कहा कि—अरे, राम राम! तुमने कितनी गलती की, वहाँ तो हीरों-

मोतियोंका खजाना भी खुला हुआ है और तुम सोना लेकर जा रहे हो ? अब तो याचकोंने सोना भी पटक दिया और हीरा-मोती लेने लौट गये। जब वे हीरा-मोती लेकर आये तब किसीने उनसे भी अधिक कीमती रत्नोंकी बात बता दी। इस प्रकार याचकों द्वारा चाँदी, सोना और जवाहरात फेंकते जानेके कारण गोकुलके आसपासकी जितनी भी भूमि थी, सब पट गयी और सर्वत्र सम्पत्ति हो गयी।

लक्ष्मीजीने सोचा कि जब हमारे स्वामी यहाँ ग्वाल बनकर आये हैं और नंगे पाँव यहाँकी धरतीपर घूमेंगे तो क्यों न हम अपने आपको चारों ओर बिछा दें—

हरेर्निवासात्मगुणै रमाक्रीडमभून्नृप। १८

'हरेर्निवासेन ये आत्मनि गुणः सर्वप्रिया दया'—भगवान् जिसके हृदयमें बसते हैं, वह सबको प्यारा लगने लगता है; जिस भूमिमें बसते हैं, वह भी सबको प्यारी लगने लगती है।

'रमाक्रीडमभून्नृपः'—लक्ष्मीजी गोकुलके वनोंमें इधर-उधर घूमती रहती हैं; और इधरसे श्यामसुन्दर निकलेंगे यह सोचकर रास्ता साफ कर देती हैं। जहाँ फूल चुनेंगे वहाँ काँटे कोमल बना देती हैं।

'पद्माकरसुगन्धिना'—भगवान् श्रीकृष्ण वृन्दावनकी, गोकुलकी जिस वस्तुकी ओर भी देखते हैं वह ऐसी लगती है कि लक्ष्मीजी उसे अपने हाथसे सँवार रही हैं और सुगन्धित बना गयी हैं।

जिस दिन भगवान् प्रकट हुए उसी दिनसे लक्ष्मीजी वैकुण्ठ छोड़कर गोकुलमें चली आयीं क्योंकि वैकुण्ठवाले भगवान् बड़े दुर्लभ हैं और गोकुलवाले भगवान् तो ऐसे हैं कि कभी चूहेके पीछे उसे पकड़ने और उसके साथ खेलनेके लिए दौड़ते हैं तो कभी कुत्तेके पिल्लेके पीछे। अष्ट छापके एक कविने वर्णन किया है—'परमानन्द दासको ठाकुर लायो पिल्ला घेरि।' ऐसा सुगम भगवान् तो और कहीं है ही नहीं।

नन्दबाबा इतने आनन्दमग्न हो गये कि वे अपना जो वार्षिक कर चुकाते थे, उनका उन्हें कोई ख्याल नहीं रहा। जब ख्याल आया तब बोले कि राजाकी कर-सम्पत्ति तो सुरक्षित है ही।

जैसे ब्राह्मणोंको देकर देवताओंका अनुग्रह प्राप्त किया जाता है वैसे ही राजाका कर राजाको देकर उससे भी अनुग्रह प्राप्त किया जाय, जिससे कि हमारे पुत्रका लौकिक तथा पारलौकिक दोनों प्रकारका अभ्युदय और निश्रेयस सिद्ध हो। अतः वार्षिक कर चुकानेके लिए नन्दबाबा मथुरा गये। जब वसुदेवजीको पता लगा कि हमारे भाई नन्दजी यहाँ आये हैं और कर दे चुके हैं— तब वे अनके शिविरपर पहुँचे। दोनों आपसमें ऐसे मिले मानों प्राण-प्राणसे मिल रहे हों। फिर दोनों बैठ गये और आनन्दपूर्वक बातें होने लगीं।

यह बात ध्यान देने योग्य है कि वसुदेवजीको अबतक दुःख-ही-दुःख मिला था। आज वे अनेक वर्षोंका दुःख सहनेके बाद नन्दबाबासे मिल रहे हैं। परन्तु उन्होंने बातचीतमें नन्दबाबाके सामने अपने दुःखकी कोई बात प्रकट नहीं की, यही कहा कि नन्दजी तुम्हारी अवस्था बड़ी हो गयी थी, तुम्हें कोई सन्तान नहीं थी और उसकी आशा भी नहीं थी—

दिष्टचा भ्रातः प्रवयस इदानीम् अप्रजस्य ते। २३

देखो, आशा अप्राप्त वस्तुकी प्राप्तिकी होती है कि वह कब, कहाँ और कैसे प्राप्त होगी? ज्ञात नहीं रहनेपर ही आशा रहती है। किन्तु जब यह ज्ञात हो जाता है कि अमुक वस्तु कहाँ और किस समय प्राप्त होगी; तब उसके लिए प्रतीक्षा होती है। प्रतीक्षा ज्ञात देश, ज्ञात काल, और ज्ञात प्राप्तव्य वस्तुके लिए होती है।

वसुदेवजी कहते हैं कि नन्दजी, तुम्हें आशा न रहनेपर भी प्रजा प्राप्त हो गयी, पुत्र हो गया। बेटेका मिलना तो वैसा ही है, जैसे अपना दूसरा जन्म हो गया। ऐसे प्रिय वस्तुका मिलना दुर्लभ है। सबके कर्म अलग-अलग होते हैं और लगता है कि जैसे सब पानीमें बहे जा रहे हों। एक जगह दो प्रेमियोंका रहना सम्भव नहीं होता। हम लोग आपके साथ रहकर आपके सुखमें सुख नहीं मना सके। गोकुलमें गौओंके खाने-पीनेका प्रबन्ध ठीक है न? आपके पास हमारा बेटा बलराम रहता है, जो आपको ही अपना पिता मानता है, वह आनन्दमें है न? जब सभी सगे-सम्बन्धी सुखी होते हैं, तभी मनुष्य सुखी रहता है। यदि सगे-सम्बन्धियोंको क्लेश मिलता हो तो मनुष्य सुखी नहीं रहता।

देखो, इतनी बात हो जानेके बाद भी वसुदेवने यह नहीं बताया कि हम जेलखानेमें रहे, हमारे इतने बेटे मारे गये और जो आठवीं लड़की हुई थी, उसकी क्या दशा हुई? हालांकि

नन्दजीको सब कुछ मालूम था। अपना दुःख दूसरेको सुनानेका अर्थ ही यह है कि हम तो दुःखी हैं ही, तुम भी दुःखी हो जाओ। बातचीत करनेका यह कोई अच्छा तरीका नहीं है।

इधर नन्दबाबाको भी देखो! वे बात तो करते हैं; परन्तु इस बातकी चर्चा नहीं करते कि हमारे घरमें बहुत सुख है। वे तो अपनी बात न करके यही सहानुभूति प्रकट करते हैं कि वसुदेवजी, बड़े दुःखका विषय है कि कंसने तुम्हारे बच्चोंको मार दिया, एक लड़की बची थी, वह भी स्वर्गमें चली गयी।

नूनं ह्यदृष्टनिष्ठोऽयमदृष्टपरमो जनः।
अदृष्टमात्मनस्तत्त्वं यो वेद न स मुह्यति ॥ ३०

वसुदेवजी, मनुष्यकी निष्ठा अदृष्टमें है। उसकी परिसमाप्ति भी अदृष्टमें ही है। अदृष्टके आश्रयमें ही वह रह रहा है। जीवनका रहस्य अदृष्ट है। जैसे पर्देपर वही दिखायी देता है जो फिल्ममें भरा हुआ होता है वैसे ही काल-फिल्ममें जो भरा हुआ है, वही बारम्बार क्रमशः प्रकाशित होता जा रहा है। फिल्म कहो, या निमित्त कहो—एक ही बात है। जीवनके इस रहस्यको जो समझ लेता है, वह कभी मुग्ध नहीं होता।

वसुदेवजीने कहा कि ठीक है नन्दजी, आपने कर तो दे ही दिया है, राजासे भी आप मिल चुके, इसलिए अब आपको यहाँ बहुत दिन नहीं रहना चाहिए; क्योंकि 'सन्त्युत्पाताश्च गोकुले' (३१)—गोकुलमें बड़े-बड़े उत्पात हो रहे हैं।

देखो, 'सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्' (योग सू० २.३६)। जो सत्यनिष्ठ व्यक्ति होता है, उसके मुखसे अनजानमें भी कोई बात निकल जाय तो वह सच हो जाती है। यहाँ वसुदेवजीके मुखसे यह शब्द निकला है, जो वर्तमान कालका वाची है। इसका तात्पर्य यह है कि यहाँ नन्द और वसुदेव आपसमें बात कर रहे हैं और वहाँ गोकुलमें उत्पात हो रहे हैं। वसुदेव-नन्दमें इतनी आत्मीयता इसलिए है कि दोनों भाई-सरीखे हैं। शूरके पुत्र हैं वसुदेव और पर्जन्यके पुत्र हैं नन्द। शूर और पर्जन्यके पिता एक ही थे। इसलिए वसुदेवजी-की बात सुनकर नन्दबाबाने विलम्ब नहीं किया। तुरन्त छकड़े जोड़े गये और साथके सब ग्वालों सहित नन्दबाबा गोकुलके लिए चल पड़े।



नन्द बाबाने मार्गमें यह विचार किया कि वसुदेवकी वाणी कभी मृषा नहीं हो सकती। अवश्य ही कोई-न-कोई विघ्न उपस्थित होगा। ऐसा सोचते-सोचते वे भगवान्‌का स्मरण करने लगे—'विचिन्तयन् हरिं जगाम शरणम्'। (१) सत्पुरुषका यह स्वभाव होता है कि यदि उसको कोई विपत्ति मालूम पड़ती है तो वह भगवान्‌की शरणमें चला जाता है। नन्द बाबा उत्पातके आगमनकी सम्भावनासे शंकित हैं और भगवान्‌का स्मरण करते हुए गोकुलकी ओर चले जा रहे हैं। उन्हें यह विश्वास है कि भगवान् अवश्य रक्षा करेंगे।

कंसेन प्रहिता घोरा पूतना बालघातिनी।
शिशूंश्चचार निघ्नन्ती पुरग्रामव्रजादिषु॥ २

यहाँ सबसे पहले कंस शब्दके अर्थपर विचार करें। 'कंसति कसि हिंसायां'—हिंसार्थक 'कसि' धातुसे कंस शब्द बना है। इसका अर्थ होता है कसाई। कंस शब्दसे ही हिन्दीका कसाई शब्द बना है। मतलब यह कि कंस स्वभावसे कसाई था। उसने एक भयंकर राक्षसी पूतनाको गोकुलकी ओर भेज दिया था।

'पूतानपि नयति'—जो बड़े-बड़े पूत, पवित्र हृदयोंको उठा ले जाय, उसका नाम है पूतना। संस्कृतमें पुनीत शब्द न तो संज्ञा है और न विशेषण है। पुनीत तो क्रिया होती है—पुनाति, पुनीतः, पुनन्ति। इसीसे पूत शब्द बनता है। पूतमें 'न' प्रत्यक्ष है। वल्लभाचार्यजी महाराजने पूतनाको अविद्या कहा है—'अविद्या पूतना नष्टा गन्धमात्रविशेषिता।' पूतनाका यही काम था कि वह गाँवमें घूम-घूमकर बच्चोंको मारती रहती।

राजा परीक्षितके मनमें यह शंका हुई कि कहीं हमारे प्यारेका कोई अनिष्ट न कर दे, तो शुकदेवजीने कहा कि नहीं, नहीं, जहाँ श्रीकृष्णके नाम नहीं लिये जाते, वहीं ये राक्षस अनिष्ट कर सकते हैं। किन्तु जहाँ भगवान्‌के नाम, रूप और लीलाके कीर्तन, स्मरण, श्रवणादि होते रहते है; वहाँ इनकी कोई गति नहीं होती।

तो, कंसके आज्ञानुसार एक दिन पूतना आकाश-मार्गसे गोकुल पहुँच गयी। 'सा खेचर्येक-दोपेत्य' (४)—इस पदके एकदोपेत्यका अर्थ है कि पूतना नवजात शिशु श्रीकृष्णको छट्ठी होनेसे पहले ही पहुँच गयी। नन्द बाबा तबतक मथुरासे लौटकर नहीं आये थे। पूतनाने गोकुलमें अपनेको स्त्री बना लिया—'योषित्वा' (४)—आत्मानं योषितं विधाय।' वहाँ वह स्वच्छन्द विचरण करनेवाली पूतना नन्द बाबाके घरमें घुस गयी। कहते हैं कि उसने सर्वाङ्ग वाराङ्गनाका रूप धारण किया था। साधक जब भगवान्के मार्गमें चलता है तो उसके सामने सबसे पहले—'हेमाङ्गनैव विमोहनैकहेतुः' अङ्गना और हेम, स्त्री और सोना, कामिनी और काञ्चनके विघ्न आते हैं।

अब कामचारिणी पूतनाका रूप देखो—'तां केशबन्धव्यतिषक्तमल्लिकाम्' (५) उसने बड़ा सुन्दर रूप बना रखा है। चमेलीके फूल उसके जूड़ेमें लगे हुए हैं। वह अपनी मधुर-मधुर मुस्कराहट और तिरछी चितवनसे व्रजवासियोंके मनका हरण कर रही है। मायाके सिवाय व्रजवासियोंके मनको और कौन हर सकता है? वह हाथमें कमल लिये हुए हैं, मानो उसने अपना हृदय हाथमें ले रखा हो। गोपियाँ जब गाँवमें जातीं तो दूध, दही, मक्खन लेकर जाती हैं। किन्तु यह पूतना हाथमें कमल लेकर मानों कह रही है कि 'कोई दिल लेगा दिल ?'

अमंसताम्भोजकरेण रूपिणीं गोप्यःश्रियं द्रष्टुमिवागतां पतिम्। ६

गोपियोंने तो पूतनाको देखकर ऐसा समझा कि कहीं साक्षात् लक्ष्मी अपने पतिको देखनेके लिए न आयी हो। पूतनाने दिखानेके लिए पत्नी और दूध पिलानेवाली माताका-सा वेश बना रखा है। लेकिन उसके मनमें मारनेकी दुर्वृत्ति है। वह नन्द बाबाके घरमें गयी और देखा कि जैसे भस्ममें आग छिपी होती है, वैसे ही पीताम्बरके भीतर साँवरा-साँवरा बालक पलंगपर लेटा हुआ है।

'विबुध्यतां बालकमारिकाग्रहं चराचरात्मा' (८)—भगवान् तो सबके दिलमें बैठे हैं। चराचरात्मा हैं। उन्होंने पहचान लिया कि यह पूतना बालक-मारिकाग्रह है।

अब पूतनाने नाटक किया। उसने यशोदा मैयाको डाँटा कि तुम्हारे कभी पहले भी बेटा हुआ कि अभी यही नया-नया हुआ है? तुमको दिखता नहीं कि तुम्हारे बेटेको प्यास नहीं लगी है, भूख लगी है और तुम लोग चुपचाप बैठी हो। बच्चेके मुखको देखकर नहीं पहचानती हो। हटो, मुझे गोदमें लेने दो। पूतनाका सौन्दर्य, शृङ्गार, बात करनेका ढंग और उसकी शानशोकत

देखकर यशोदा मैयाने समझा कि वह कोई भले घरकी स्त्री है, इसलिए उन्होंने कोई विरोध नहीं किया।

वरस्त्रियं तत्प्रभया च धर्षिते निरीक्षमाणे जननी ह्यतिष्ठताम्। ९

लेकिन पूतना तो ऐसी थी, मानों मखमली म्यानमें कोई तलवार रखी हो। उसने झटपट बालकको उठा लिया और उसके मुँहमें अपना स्तन दे दिया। भगवान्‌ने उसको देखकर अपनी आँख बन्द कर ली। 'निमीलितेक्षणः' (८)।

इस प्रसंगपर श्रीहरिसूरिने लगभग पन्द्रह उत्प्रेक्षाएँ की हैं। इसी तरह चार उत्प्रेक्षाएँ विश्वनाथ चक्रवर्तीने और छह उत्प्रेक्षाएँ श्रीजीव गोस्वामीजीने की हैं।

एक कहते हैं कि भगवान् आँख बन्द करके यह विचार करने लगे कि इस जन्ममें तो पूतनाने कोई साधन किया नहीं है—'नैहिकं तु साधनमस्याः।' यदि पहले जन्मोंमें कभी कुछ साधन किया हो तो उसको देखना पड़ेगा। क्योंकि बिना साधन-भजनके शुद्धान्तःकरण हुए बिना इसको हमारी प्राप्ति कैसे होगी? अतः उसके पूर्व जन्मके साधनोंका अनुसन्धान करनेके लिए भगवान्‌ने अपने नेत्र बन्द कर लिये।

दूसरे कहते हैं कि जैसे किसीने कभी कड़वी दवाई नहीं पी हो और उसको यदि पीनी पड़े तो वह उसे आँख बन्द करके सड़ासड़ पी जाता है, वैसे ही भगवान् श्रीकृष्णने अपनी आँख बन्द कर ली। उनके भीतरके लोग व्याकुल हो गये तो उनको अभयदान देनेके लिए भी भगवान्‌ने अपने नेत्र बन्द कर लिये।

तीसरे कहते हैं—नेत्रोंने कहा कि यह न चन्द्रमार्गसे जाने योग्य है, न सूर्यमार्गसे, न उत्तरायणसे, न दक्षिणायनसे, न पितृयानसे और न देवयानसे। इसलिए भगवान्‌के दोनों नेत्रोंने अपनेको बन्द कर लिया कि हमारा मार्ग इसके लिए नहीं है। लेकिन भगवान् तो स्वतन्त्र हैं, चाहे जिसको जिस मार्गसे भेज दें।

चौथे कहते हैं कि भगवान्‌ने आँख बन्द करके कहा कि अरे शंकरजी, दौड़ो, मैं तो गोकुलमें माखन-मिश्री खाने आया था, लेकिन यह पहले ही जहर लेकर आगयी। 'प्रथमे ग्रासे मक्षिकापातः' हो गया। यही हमारी मौसी है जो जहर पिलाने आयी है। इसलिए शंकरजी, अब

तुम्हारे बिना काम नहीं चलेगा, ओ भूतभावन विश्वनाथ ! दौड़ो-दौड़ो । इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्णने मनमें पुकारा और शंकरजीने आकर विष पी लिया । फिर उन्होंने भगवान्से कहा कि आप दूध पी लीजिये । मौसीवाला हिस्सा आप ले लीजिये और राक्षसीवाला हिस्सा मैं ले लेता हूँ ।

इस प्रकार प्रत्येक उत्प्रेक्षाका अपना-अपना आनन्द हैं । अब भगवान्ने दोनों हाथोंसे पूतनाके स्तनोंको पकड़ा—यह सोचकर कि बहुत सारे जीव इसके स्तनोंमें है । 'तत्प्राणैः समं रोष-समन्वितोऽपि बत्' (१०)—पूतनाके पास भगवान्के पीनेकी दो चीजें हैं—एक तो उसके प्राण और दूसरा उसका दूध । इनमें-से भगवान् किसको पियें ? 'रोषसमन्वितः'—भगवान्ने रोषसमन्वित होकर कहा कि शेषाधिष्ठातृ-देवता रुद्र, तुम आजाओ ! यहाँ शेष शब्दका अर्थ आधिदैविक है । शेषके अधिष्ठातृ-देवताने उपस्थित होकर कहा कि क्या करें महाराज ! भगवान्ने कहा कि तुम इसके प्राण पी जाओ क्योंकि तुम मारनेका काम अच्छा करते हो । मैं इसका दूध पीऊँगा । -अन्य सबको लगती है पूतना और यहाँ तो पूतनाको लग गये श्रीकृष्ण !

मैंने बचपनमें एक पुस्तक देखी थी, जिसका नाम था बाल्यसंहिता । उसमें बालकोंको लगी हुई पूतनाको छुड़ानेके लिए एक मन्त्र था—'बालकं मुञ्च-मुञ्च पूतने ।' इसका अर्थ हुआ कि अरी पूतने, बालकको छोड़ दे, छोड़ दे !

पूतनाने विचार किया कि जब मैं बालकोंको लगती थी और मुझे छुड़ानेके लिए जो मन्त्र पढ़ा जाता था, वही मन्त्र पढ़नेसे यह बालक मुझको छोड़ देगा । इसलिए उसने पढ़ा—'सा मुञ्च मुञ्चालमिति प्रभाषिणी' (११) । पूतना व्याकुल होकर बोली कि अरे छोड़ दे, छोड़ दे । भगवान्ने कहा कि अरी पूतने, हमको पकड़नेका तो शऊर है । परन्तु आजतक हमने पकड़कर किसीको छोड़ा नहीं है । 'न च पुनरावर्तते' (छान्दोग्य उप० ८.१५.१)—एक बार हमारे चक्करमें पड़ जानेके बाद हम फिर किसीको नहीं छोड़ते हैं ।

पूतना एक ओर बच्चेसे कहे कि छोड़ दो, छोड़ दो और फिर कहे कि अलम् इति, अलम् इति—बस, बस ! उसे माताओंको दिखाना था कि मुझे इससे बड़ा प्रेम है । इसलिए वह कहती जाती कि यह यशोदाका दूध नहीं है हमारा दूध है और बड़ा शक्तिशाली है । इसको अधिक पीओगे तो पचेगा नहीं । छोड़ दो, छोड़ दो । लेकिन भगवान् कहाँ छोड़नेवाले हैं—इसलिए बालकने तो उसको नहीं छोड़ा, परन्तु उसकी देहने उसका साथ छोड़ दिया । 'प्रसार्य गोष्ठे निजरूप-

मास्थिता' (१३)—वह धरतीपर गिर पड़ी। उसका असली भयंकर रूप प्रकट हो गया और वह अपनी चिल्लाहटसे पञ्चभूतोंको व्यथित करती हुई निष्प्राण हो गयी। परन्तु प्राणी कैसा भी हो, भगवान्‌से मिलनेपर तो उसको निज रूपकी ही प्राप्ति होती है—

जीव पाव निज सहज सरूपा। तव दर्शन फल परम अनूपा॥

गोष्ठके बाहर पूतनाका भयंकर शरीर तो पृथिवीपर था और श्रीकृष्ण उसकी छातीपर थे। ऐसी स्थितिमें उसको सहज रूप ही मिलना चाहिए। किन्तु उसका सहज रूप तो राक्षसीरूप ही था। इसलिए कहा गया कि 'निजरूपमास्थिता'।

पूतनाका विशाल शरीर जब धरतीपर गिरा तब 'त्रिगव्यूत्यन्तरद्रुमान्' (१४)—छह् कोसके भीतर जितने वृक्ष थे, वे सब उससे दबकर चूर्ण हो गये। यह छह कोस क्या हैं? उपनिषदोंके एक तो उपाधिरूप कोस (कोश) का वर्णन है और फिर अन्न, रसमय पुरुषसे लेकर आनन्दमय पुरुषतकका वर्णन है—जिसको पञ्चकोश कहते हैं। उपाधिरूप कोश ममतामय है, वह षष्ठकोश कहलाता है। कहनेका मतलब यह कि पूतना इन छहों कोसोंको चूर्ण कर रही थी—'चूर्णयामास राजेन्द्र' (१४)।

पूतनाका शरीर बड़ा विलक्षण था। 'ईषामात्रोग्रदंष्ट्रास्यम्' (१५)—हलके हरीशकी तरह उसकी दाढ़ें थीं। पर्वतकी चोटीके समान उसका स्तन था। कन्दराके समान नासिका थी। व्रजवासी पण्डित लोग कहते हैं कि पूतनाके गिरते समय भगवान्‌ने सोचा कि यदि यह व्रजमें गिरेगी तो यहाँके वृक्षों, लता, कुञ्जों और पशु-पक्षियोंका नाश कर देगी। इसलिए भगवान्‌ने पूतनाको ऐसे चूसा कि वह दूर जाकर गिरी, वैसे हो जैसे कोई लसूढ़ेको चूसकर उसका बीज दूर फेंक दे। जहाँ उसका हाथ गिरा, उसका नाम हाथरस हो गया, जहाँ उसकी अलकें गिरी, उसका नाम अलीगढ़ हो गया और जहाँ उसका गरल गिरा, वहाँ आगरा हो गया। लेकिन यह तो व्रजवासी पण्डितोंकी बात है। भागवतमें ऐसा नहीं है।

बालं च तस्या उरसि क्रीडन्तमकुतोभयम्। १८

पूतनाका भयंकर शरीर देखकर गोपी, ग्वाल सब-के-सब डर गये थे। किन्तु जब गोपियोंने बालक श्रीकृष्णको पूतनाकी छातीपर निर्भयतापूर्वक खेलते देखा तब उनकी जान-में-जान आयो और उन्होंने झटपट वहाँ पहुँचकर श्रीकृष्णको उठा लिया।

अब तो गोपियोंके साथ रोहिणीजी गोपुच्छसे श्रीकृष्णकी रक्षा करने लगीं—'रक्षां विदधिरे सम्यग्गोपुच्छभ्रमणादिभिः' (१९)। ऐसा क्यों? भगवान्‌ने सोचा कि जब ये लोग हमारी रक्षा कर रही हैं तो पहले किस चीजसे रक्षा करें। बोले कि हम पृथिवीकी रक्षा करनेके लिए आये हैं और पृथिवी हो पहले गाय-रूप धारण करके हमारे पास गयी थी। इसलिए उन्होंने प्रेरणा की कि गायसे ही हमारी रक्षा होगी।

यहाँ दो बातें ध्यान देने योग्य हैं। जब भगवान्‌को पूतनाके लगनेका सन्देह हुआ, तब दो चीजोंसे उनकी रक्षा की गयी—एक तो गायसे और दूसरे भगवान्‌के नामसे। अर्थात् यदि सृष्टिमें भगवन्नाम और गाय ये दो वस्तु रहें तो आस्तिकताको मिटानेवाली कोई शक्ति नहीं है।

तो, बालक श्रीकृष्णपर गोपियों और माताओं द्वारा गायकी पूँछ फिरायी गयी। गोमूत्रसे स्नान कराया गया, गायके खुरकी धूल लगायी गयी और गोबरका तिलक किया गया। फिर गोपियोंको ध्यान आया कि हमने तो बच्चेको मुर्देपरसे उठाया है। कहीं हमारी अपवित्र अवस्थामें भगवन्नाम लेना ठीक न हुआ हो! इसलिए उन्होंने जलका स्पर्श करके हाथ-पाँव धोकर बालकके शरीरमें भगवान्‌के एक-एक नामका बीजन्यास किया।

गोपियोंने कहा—'अव्यादजोऽङ्घ्रि मणिमांस्तव जान्वथोरू' (२२)। अर्थात् श्रीकृष्णका मणिमान् भगवान् तुम्हारे अङ्घ्रिकी रक्षा करें। अजन्मा परमात्मा तुम्हारे चरणकी रक्षा करें। मणिमान् जानुकी रक्षा करें। यज्ञ उरु की रक्षा करें, अच्युत कटितटकी रक्षा करें और हयशिरा उदरकी रक्षा करें। तुम्हारे चलते समय वैकुण्ठ रक्षा करें, सोते समय माधव रक्षा करें, क्रीड़ा करते समय गोविन्द रक्षा करें। बैठे समय श्रीपति रक्षा करें और खाते समय यज्ञभोक्ता रक्षा करें। डाकिनी, भूत, प्रेत, पिशाच, कोटरा, रेवती, ज्येष्ठा, पूतना आदि सबसे तुम्हारी रक्षा हो।

इसप्रकार गोपियोंने बालक श्रीकृष्णके एक-एक अङ्गमें भगवान्‌के नाम और अर्थका संयोग करके उनकी रक्षा की और यशोदाजीको कहा कि अब तुम अपने बालकको गोदमें लो। यशोदाजीको विश्वास ही न हो कि हमारा बालक इतनी भयंकर राक्षसीकी चपेटमें जाकर भी अभीतक जीवित है। वे यह सोचें कि कहीं यह राक्षसोंकी माया तो नहीं है।

जब गोपियोंने यशोदाका यह हाल देखा तब उन्होंने फिर रक्षा करके बालक श्रीकृष्णको एकान्तमें सुला दिया। उसके बाद यशोदा मैयाको साथ ले जाकर समझाया और कहा कि देखो,

तुम्हारा बालक दूध पीना चाहता है। डरो मत, इसे दूध पिलाओ। भयभीत यशोदा किसी प्रकार हिम्मत बाँधकर अपने प्यारे बालकके पास गयीं और उन्होंने उसको गोदमें ले लिया।

अब तो श्रीकृष्ण चपर-चपर माताका दूध पीने लगे। 'पाययित्वा स्तनं माता' (३०)। माताने भी पहले दूध पिलाया, तब उसको विश्वास हुआ। मानों भगवान्‌ने दूध पीते-पीते कहा कि अरी मैया, राक्षसीका दूध मेरे मुँहमें नहीं गया है। मैं तो तुम्हारे दूधका भूखा हूँ।

यशोदाने गोपियोंसे कहा कि हमारे दुर्भाग्यसे ही अभीतक हमको बेटा नहीं हुआ था। यह बेटा तो बुढ़ापेमें तुम लोगोंके भाग्यसे हुआ है। इसलिए मैं इसको तुम लोगोंके चरणोंमें अर्पित करती हूँ। यह हमारा बेटा नहीं, तुम्हारा बेटा है। यशोदा मैय्या अपने बेटेको लेकर एक-एक गोपीके सामने रखें और कहें कि यह तुम्हारा ही बेटा है। गोपियाँ भी अपनी-अपनी गोदमें लेकर बालकको प्यार करें।

इसी बीच मथुरासे नन्द आदि आगये। उन्होंने पूतनाका मृत शरीर देखा तो उन्हें बड़ा भारी आश्चर्य हुआ। बोले कि वसुदेवजी तो ऋषि हो गये हैं। उन्होंने जो कहा, ठीक निकला।

गोपोंने विचार किया कि यह राक्षसका शरीर है। कहीं फिर जिन्दा हो जाये तो क्या होगा ? इसलिए उन्होंने उसको फरसे-से काट-काटकर टुकड़े-टुकड़े कर दिये। उतनेपर भी उन्हें विश्वास नहीं हुआ तो उन्होंने उसको 'न्यनहन् काष्ठधिष्ठितम्' (३३)—लकड़ीके ढेरके अन्दर रखकर जला दिया। जलाते समय पूतनाके शवसे सुगन्ध निकली, क्योंकि स्वयं श्रीकृष्णने अपना मुंह लगाकर उसके स्तनके दूधका भोग लगाया था। यद्यपि पूतना नामसे लोक-बालघ्नी थी, जातिसे राक्षसी थी, कर्मसे रुधिराशना थी और नीयतसे जिघांसा अर्थात् मारनेकी इच्छावाली थी, फिर भी श्रीकृष्णके मुंहमें विषमिश्रित स्तन देनेके कारण सद्‌गतिको प्राप्त हो गयी। इसपर श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती कैमुतकी परम्पराके अनुसार कहते हैं—

किं पुनः श्रद्धया भक्त्या कृष्णाय परमात्मने। ३६

जब विष पिलाकर मारनेकी नीयतसे आनेवाली पूतनाकी इतनी बड़ी सद्‌गति हुई तो जो श्रद्धा-भक्तिसे अपनी प्रियतम वस्तु श्रीकृष्णको समर्पित करें, उसकी क्या गति मिलेगी ? श्रीकृष्णके पीछे दौड़नेवाली और उनको अपना सर्वस्व माननेवाली व्रजकी गौ और गोपियोंकी क्या

मिलेगा ? इसका उत्तर प्रश्नोंमें ही निहित है। जब पूतना जैसी राक्षसीके शरीरपर पाँव रखकर उसका स्तन पीनेके उपलक्ष्यमें भगवान्ने उसको सद्गति प्रदान की, तब उन्होंने जिन गायोंके स्तनमें मुँह लगाकर स्वयं अथवा उनके बछड़ेके रूपमें दूध पीया तथा जिन गोपियोंके वक्षस्थलपर च. ़ र दूध पीया, उनकी सद्गतिके बारेमें तो कहना ही क्या है ? यहाँ तो पूतनाकी सद्गतिका दृष्टान्त ही इसलिए दिया गया है कि उससे माताओंके सौभाग्य और सद्गतिका बोध प्राप्त हो।

यदि कोई पूछे कि यशोदाजीको क्या सद्गति प्राप्त होगी तो यह प्रश्न ही निरर्थक है; क्योंकि यशोदाजीको वात्सल्यके साम्राज्य-सिंहासनपर अभिषिक्त करके श्रीशुकदेवजी महाराज उनको दूरसे ही दण्डवत् कर रहे हैं और कहते हैं कि देवी, तुम्हारे जैसा कोई नहीं है।

श्रीजीवगोस्वामीजीका भी कहना है कि असलमें पूतनाका प्रसंग यशोदा मैयाके निरतिशय माहात्म्यका बोध करानेके लिए ही है। उनकी गोदमें तो सम्पूर्ण फलों-का-फल नन्हा-सा शिशु बनकर बैठा है। अब और अधिक उनको क्या चाहिए ? इतने बड़े सौभाग्य-सिंहासनपर प्रतिष्ठित होनेके पश्चात् यशोदाजीको संसारकी प्राप्ति किसी भी प्रकारसे सम्भव नहीं है।

अब नन्दबाबा तथा उनके साथी गोपोंने जब यह देखा कि हमारा बालक सुरक्षित है, तब उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ। नन्दबाबाने तुरन्त अपने पुत्रको अपनी गोदमें ले लिया, मानों वह मरकर लौट आया हो। नन्दबाबाने अपने प्राणप्यारे पुत्रका सिर सूँघा और परमानन्दमें मग्न हो गये।

श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि यह जो पूतना-मोक्ष नामक श्रीकृष्णका अद्भुत बाल-चरित्र है, इसका जो श्रद्धापूर्वक श्रवण करता है, उसको गोविन्द भगवान्में रति प्राप्त होती है— 'गोविन्दे लभते रतिम्' (४४)।



येन येनावतारेण भगवान् हरिरीश्वरः।
करोति कर्णरम्याणि मनोज्ञानि च नः प्रभो ॥ १

यच्छृण्वतोऽपैत्यरतिर्वितृष्णा सत्त्वं च शुद्धयत्यचिरेण पुंसः । २

राजा परीक्षित कहते हैं कि सर्वशक्तिमान् भगवान् श्रीहरि मत्स्यादिके रूपमें जो अवतार धारण करते हैं और उन अवतारोंमें जो मनोज्ञ कर्णरम्य चरित्र करते हैं, उनके श्रवणसे मनुष्यकी भगवत्-कथा सम्बन्धी अरुचि दूर हो जाती है, विविध विषयोंकी प्यास बुझ जाती है, उसका अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है, उसकी भगवान्में भक्ति हो जाती है और भक्तोंसे मैत्री जुड़ जाती है। इसलिए आप 'तदेव हारं वदमन्यसे चेत्'। (२) उन्हीं भगवान्का चरित्र हमें सुनाइये।

यहाँ 'हारं'का एक अर्थ है श्रीहरिका चरित्र, दूसरा अर्थ है मनोहर और तीसरा अर्थ है हारके समान धारण करने योग्य। अर्थात् श्रीहरिका चरित्र बड़ा मनोहर और सुन्दर हारके समान हृदयमें धारण करने योग्य है।

श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि परीक्षित, सुनो

कदाचिदौत्थानिक-कौतुकाप्लवे। ४

यहाँ देखो, भगवच्चरित्रके प्रेमी महात्माओंने यह हिसाब निकाल रखा है कि भगवान्की कौन-सी लीला कब और कितने समय होती है। इसलिए अब जिस लीलाका वर्णन होने जा रहा है, वह महात्माओंके गणितके अनुसार भगवान्के जन्मके तीन महीने बाद हुई—'त्रैमासिकस्य च पदाशकटोपवृत्तः'—पहले अविद्या-रूप पूतना नष्ट हो गयी। उसके बाद जड़वादका ध्वंस करनेके लिए यह लीला प्रारम्भ हो रही है।

तो 'कदाचित्' माने एक दिन भगवान्‌ने करवट बदली। करवट बदलना जड़का काम नहीं है। यह तो बिल्कुल चेतनका काम है। जिस दिन भगवान्‌ने करवट बदली, उसी दिन उनका जन्म-नक्षत्र भी था। गाँवकी स्त्रियाँ इकट्ठी हुईं। अभिषेक होने लगा। नन्दरानीने स्वस्त्ययन करवाकर ब्राह्मणोंको खूब खिलाया-पिलाया, बहुत सारे वस्त्र घर ले जानेके लिए दिये और अन्न भी दिया। फिर कहा कि ब्राह्मणो, ये हमारी लाखों गौयें हैं, इनमें-से आप लोग अपनी पसन्दकी छाँट लीजिये और ले जाइये।

अब वहाँ घोरेसे निद्रा आयो। उसने कहा कि कोई उत्सव होता है तो लोग मुझे भगा देते हैं। इसलिए आज इस उत्सवको मैं अपनी आँखोंसे देखूँगी। किसीने कहा कि निद्रादेवी, यहाँ बैठोगी कहाँ? बोली कि ब्रह्म तो मुझे छूने नहीं देता, उसको कभी निद्रा नहीं आती, वह अनिद्र है। इसलिए बालकके रूपमें आया हुआ यह जो ब्रह्म है, इसीके नेत्रोंमें थोड़ी देर मैं बैठूँगी। भगवान्‌ने भी उसे स्वीकार कर लिया। इसलिए यशोदा मैया अपने प्यारे पुत्रको एक शकट—छकड़ेके नीचे सुलाकर समागतोंकी सेवामें लग गयीं—'समागतान् पूजयन्ती व्रजौकसः'। (६)

निःसन्देह अतिथि अभ्यागतोंकी सेवा-पूजा धर्म है, परन्तु जहाँ भगवान् आये हुए हों, वहाँ इस बातका भी ध्यान रखना चाहिए कि कहीं उनका गौरव-लाघव न हो जाय। भगवान्‌की उपस्थितिमें तो केवल भगवान्‌को ही देखना चाहिए, उनको छोड़कर और कहीं नहीं जाना चाहिए। यह भी नहीं सोचना चाहिए कि भगवान् तो हमारे हैं, गोपालजो तो अपने घरके हैं; उनकी पूजा बादमें कर लेंगे, पहले बाजारमें सैर कर आवें।

तो, जब यशोदा मैया छकड़ेके नीचे बिछी हुई शय्यापर अपने शिशुको सुलाकर समागतोंके स्वागत-सत्कारमें व्यस्त हो गयीं तब श्रीकृष्णकी नींद टूट गयी। वे माँका दूध पीनेके लिए रोने लगे। किन्तु यशोदा मैया अपने काममें इतनी तन्मय हो गयीं कि उन्होंने अपने श्रीकृष्णकी ओर ध्यान ही नहीं दिया। श्रीकृष्णने जब रोते-रोते देखा कि यशोदा मैया तो उनकी ओर ध्यान ही नहीं दे रही हैं तब उन्होंने अपने दोनों पाँव ऊपर फेंक दिये—

नैवाश्रृणोद् रुदितं सुतस्य सा रुदन् स्तनार्थी चरणावुदक्षिपत् ॥ ६

यहाँ बात कुछ उल्टी हो गयी थी, मनुष्यको चाहिए कि जड़ताके ऊपर चेतनताको रखे। चेतन बड़ी वस्तु है। हमारे व्यापारी लोग पैसेको बड़ा करके रखते हैं। आदमीको बड़ा करके

नहीं रखते। स्वयं तो खाते नहीं, सोते नहीं और अपने यहाँ काम करनेवाले मजदूरोंको भी भूखे मारते रहते हैं। 'भजकलदारं भजकलदारम्' ही उनका मूल मन्त्र है। उनकी दृष्टिमें पैसोंका इतना आदर है कि वे उसके सामने चैतन्यको कुछ समझते ही नहीं हैं।

यशोदाजी उत्सवमें आये हुए व्रजवासियोंके स्वागत-सत्कारमें इतनी तन्मय हो रही थीं कि उन्हें श्रीकृष्णका रोना सुनाई ही नहीं पड़ा। श्रीकृष्ण रोते-रोते अपने पाँव उछालने-पटकने लग गये। जैसे वामन त्रिविक्रम हो गये, वैसे तो श्रीकृष्णके चरण नहीं बढ़े और न नृसिंहके चरण जैसे कठोर हुए। उन्होंने अपने कोमल चरणोंसे ही शकट-रूप जड़का स्पर्श किया। उनका चरण-स्पर्श होते ही शकटासुर जड़ नहीं रहा। उसमें परात्म-चेतना अभिव्यक्त, जाग्रत हो गयी और उसके ऊपर जो भ्रान्तिका भण्डार पड़ा था, वह सब-का-सब टूट गया—'विध्वस्तनानारस-कुप्यभाजनम्' (७)। छकड़ा उल्टा होकर गिर पड़ा। मानों भगवान्‌ने मैयासे कहा कि मैं आया तुम्हारे घरमें और तुम देखती हो दूसरोंकी ओर तो लो उसका मजा। हमारे आनेपर दूसरोंकी ओर नजर नहीं जानी चाहिए।

अब जब छकड़ा उलट गया तब सबकी दृष्टि उधर गयी। आस-पास खड़े ग्वाल-बालोंने कहा कि इसने अपने पाँवसे छकड़ेको उलट दिया है। पर बड़े लोगोंने उसपर विश्वास नहीं किया। क्योंकि वे तो प्रमाण-शास्त्रके अन्दर बँधे हुए थे, जबकि भगवान् अप्रमेय हैं। प्रमाता-प्रमेयकी जो त्रिपुटी है, उसको लेकर पण्डित लोग आपसमें शास्त्रार्थ करते हैं कि मानके अधीन मेयकी सिद्धि है—'मानाधीनामेयसिद्धिः'। कई कहते हैं कि मेयानुरूप मान होता है। इस प्रकार अपने-अपने पक्षके समर्थनमें सिर-फुटौवल तक हो जाता है। पर हमारा वेदान्त स्पष्ट शब्दोंमें कहता है कि मानाधीन मेय अथवा मेयाधीन मानका विषय अनिर्वचनीय है। इसके झगड़ेमें बिल्कुल नहीं पड़ना चाहिए।

तुम प्रमाता बनकर प्रमाणका आश्रय लेकर प्रमेयका अनुसन्धान कर रहे हो, लेकिन यह सारा अज्ञानमें ही है। जहाँ प्रमेयका विज्ञान हुआ, वहाँ प्रमाता-ही-प्रमाता है। अन्तःकरणा-वच्छिन्न चैतन्य उपाधिसे अवच्छिन्न या अनवच्छिन्न होकर भिन्न-भिन्न नहीं होता। यह तो बिल्कुल ज्यों-की-त्यों अखण्ड वस्तु है। जो प्रमाण-प्रमेयके चक्करमें पड़ जाते हैं, वे भटक जाते हैं।

गोप-बालकोंने फिर कहा कि अरे बाबा, हमने छकड़ा गिराते देखा है। परन्तु बड़े-बूढ़े

गोपोंने कहा कि नहीं ऐसा नहीं हो सकता। वे यह नहीं जानते थे कि यह निरा बच्चा नहीं है। इसका बल अप्रमेय है, अनन्त है—

अप्रमेयं बलं तस्य बालकस्य न ते विदुः। १०

यशोदा मैयाने श्रीकृष्णको झट उठाकर अपनी गोदमें ले लिया। फिरसे छकड़ेकी स्थापना हो गयी। ब्राह्मण लोग उसकी पूजा करने लगे। उन्होंने आशीर्वाद दिया। ब्राह्मणोंका आशीर्वाद कभी व्यर्थ नहीं जाता। भगवान्‌को प्रसन्न होकर आशीर्वाद दे या नाराज होकर शाप दे, दोनों पूरे होते हैं। क्योंकि ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जो भगवान्‌में न हो। शापवश रोना पड़े तो रो लेते हैं और आशीर्वादवश हँसना पड़े तो हँस लेते हैं। उन्हें बालक बनने या छोटे होनेमें भी कोई संकोच नहीं है। श्रीकृष्णका अभिषेक हुआ, दुबारा अन्नदान और गोदान किया गया। अब यशोदा मैया हर समय ध्यान रखें कि कोई गड़बड़ न हो, छकड़े-वकड़े गिरने न पायें।

एकदाऽऽरोहमारूढं लालयन्ती सुतं सती।
गरिमाणं शिशोर्वोढुं न सेहे गिरिकूटवत्॥ १८

अब श्रीकृष्ण एक वर्षके हो गये। इस बीच बड़ी-बड़ी लीलाएँ हुईं। जब बलराम और श्रीकृष्ण दोनोंको एक पलँगपर सुला दिया जाता और उन दोनोंकी आँखें मिल जातीं तो उनको नींद ही नहीं आती। वे जागते ही रह जाते। जबतक एक साथ सुलाये न जायँ तबतक रोवें और जब सुलाये जायँ तो एक दूसरेको निहारें—

मियो लग्ना दृष्टिः समजनि चिरं मूर्तिरचला,
द्रवच्चित्तं नेत्रोदकमिषतयागादभिमुखम्।
इति मात्रोर्बाल्येऽप्यसितसितयोः सः प्रसितता,
नवे व्यत्यालोके कुतुकमिह किं वा न तनुते॥ गोपलचम्पू ६.३३

गोपालचम्पूमें बताया गया है कि राम और श्याम जब चलते-फिरते नहीं थे, तब भी उनमें जो प्रेम था, उसको देखनेपर प्रतीत होता था कि दोनों दो नहीं, एक ही हैं। उनमें इतनी अभिन्नता थी कि दोनोंकी छाती-से-छाती मिल जाय, पीठ-से-पीठ मिल जाय, बाँह-से-बाँह मिल

जाय, आँख-से-आँख मिल जाय, दोनोंकी आँखोंमें आँसू आजाय, दोनोंके शरीरमें रोमाञ्च हो जाय, दोनों एक साथ व्याकुल हो जायँ, लेकिन कोई टस-से-मस न हो।

एक दिनकी बात है। यशोदा मैयाकी जाँघपर उनका लाला अपने-आप ही चढ़ गया। उन्होंने उसे उठाकर गोदमें ले लिया और प्यार-दुलार करने लगीं—'लालयन्ती सुतं सती।' (१८) यशोदाजीके सद्धर्म-पालनका, सती होनेका ही यह लाभ है कि उनकी गोदमें स्वयं भगवान् खेल रहे हैं।

'लालयन्ती'का अर्थ है कि यशोदा मैयाने अपने लालाको दोनों हाथोंमें लेकर ऊपर उचकाया। पहली बार तो थोड़ा डर लगा, फिर दुबारा उचकाया तो थोड़ा उत्साह हुआ। उनका लाला हँस पड़ा। उसे उचकानेमें इतना आनन्द आया कि वह बारबार चाहे कि मैया उचकावे। जब मैया उचकाना बन्द कर दे तो वह रोने लगे।

मैयाकी गोदमें खेलते-खेलते श्रीकृष्णके मनमें आया कि मैं तो आज व्योम-विहार करूँगा। पर यशोदा मैयामें तो व्योम-विहार करानेकी सामर्थ्य है नहीं। इसलिए योगमायाने सोचा कि हमारे स्वामीकी जो इच्छा है, वह पूरी होनी चाहिए। उसने कंसके एक सेवक तृणावर्तका कान पकड़ा और कहा कि चलो, आज हमारे स्वामीको व्योम-विहार कराओ। स्वर्गकी सुन्दरियाँ हमारे स्वामीके दर्शनोंके लिए व्याकुल हैं।

इधर श्रीकृष्णने जब देखा कि उन्हें व्योम-विहारके लिए ऊपर ले जानेवाला तृणावर्त आगया है, तब उन्होंने सोचा कि यदि यह मैयाके पाससे ले जायेगा तो हमारी लीला बिगड़ जायेगी और हमारे अनिष्टकी आशङ्कासे मैया डर जायेगी। इसलिए कोई ऐसी क्रिया करनी चाहिए, जिससे मैया मुझे छोड़कर कहीं दूसरी जगह चली जाय—

गरिमाणं शिशोर्वोढुं न सेहे गिरिकूटवत्।१८

यह सोचकर श्रीकृष्ण मैयाकी गोदमें धीरे-धीरे भारी होने लगे। थोड़ी देरमें इतने भारी हो गये कि मैयासे उनका भार सम्हालना असम्भव हो गया। और उसने उनको गोदसे उतार-कर धरतीपर रख दिया।

देखो, प्रभु लघु तो जरूर हैं, पर 'लघुर्मात्रा गुरुर्भवति' अर्थात् जब लघुके साथ मात्रा लग जाती है तब वह गुरु हो जाता है अथवा लघु माताकी गोदमें आजाता है तो वह गुरु हो जाता है। इसको महात्मा लोग ऐसे भी वर्णन करते हैं कि जैसे कोई युद्धमें आग्नेयास्त्रका प्रयोग करे तो उसको शान्त करनेके लिए उसके ऊपर पानीकी वर्षा करनेवाले मेघास्त्रका प्रयोग होता है। जब कोई मेघास्त्रका प्रयोग करता है तो उसके ऊपर बादलोंको तितर-बितर करनेवाले वायव्यास्त्रका प्रयोग होता है और जब कोई वायव्यास्त्रका प्रयोग करता है तब उसके ऊपर पर्वतास्त्रका प्रयोग किया जाता है। इसी तरह जब कंसने तृणावर्तके रूपमें श्रीकृष्णके ऊपर वायव्यास्त्रका प्रयोग किया, तब भगवान्ने उसके ऊपर अपनी ओरसे अचलास्त्रका प्रयोग किया। वे पर्वतके समान गुरु हो गये, भारी हो गये।

इस लीलाके प्रसंगमें यह बताया गया है कि आठों प्रकारकी सिद्धियोंने प्रकट होकर भगवान्की सेवा की। यशोदा मैया श्रीकृष्णको धरतीपर रखकर चली गयीं और भगवान्का ध्यान करके जगत्के कामकाजमें लग गयीं—'जगतामास कर्मसु' (१९)। उन्होंने यह नहीं समझा कि जिस जगत्के काममें वह लग रही हैं, वह उनके बेटेके उदरमें है। उनका बेटा जगतोदर भगवान् है।

अब तृणावर्त दैत्यने अपना काम किया। तृणावर्त शब्दका अर्थ श्रीवल्लभाचार्यजी महाराजने बताया है कि—'तृणवत् निखिलं विश्वम् आवर्तयति'—जैसे गर्मीके दिनोंमें आनेवाले बवण्डर याने वात्याचक्रमें आसमानकी ओर धूल उड़ती है और उसमें तिनके घूमने लगते हैं; वैसे ही जो सारे विश्वको घुमा सकता हो, उसका नाम तृणावर्त है। उसने श्रीकृष्णका हरण कर लिया और उसके पहले गोकुलपर आवरणका पर्दा डाल दिया तथा लोगोंकी आँखोंमें धूल झोंक दी। मतलब यह कि तृणावर्त आवरण और विक्षेप दोनों शक्तियोंको लेकर गोकुल आया था।

मुहूर्तमभवद् गोष्ठं रजसा तमसाऽऽवृतम्। २२

इस श्लोकका सीधा अर्थ यह मालूम पड़ता है कि रजस् माने 'धूल' और तमस् माने अन्धकार—इन दोनोंसे गोकुल ढक गया। या, फिर ऐसे कहें कि रजसा माने रजोगुण और तमसा माने तमोगुण—इन दोनोंसे बुद्धिके ढक जानेपर जैसे परमात्माका दर्शन नहीं होता, वैसे ही गोकुलवासियोंको आत्मा-परमात्मा दोनोंका दर्शन विलुप्त हो गया—

नापश्यत् कश्चनात्मानं परं चापि विमोहितः। २३

अब यशोदा मैया अपने बेटेको न पाकरे रोने लगीं। उनका रोना सुनकर अन्य गोपियाँ आगयीं और वे भी रोने लगीं। थोड़ी देरमें बवण्डरका वात्यावेग शान्त हुआ। तृणावर्तने श्रीकृष्णको आकाशमें उठा लेनेके बाद सोचा कि इसे मैं अपने मालिक कंसके पास ले चलूँ। लेकिन जब वह मथुराकी ओर चलना चाहे तो बिल्कुल टस-से-मस न हो सके—'गन्तुं नाशक्नोद्-भूरिभारभृत् (२६)।' अपनी यह असमर्थता देखकर तृणावर्तके मनमें शङ्का हुई कि मैंने जिसे उठाया है, वह बालक है या कोई विशाल पत्थर है। मैं नन्दबाबाके आँगनमें पड़ी हुई किसी नीलशिलाको तो नहीं उठा लाया हूँ, क्योंकि यह तो मुझसे भी ज्यादा वजनदार है।

इसी बीच श्रीकृष्णने उसका गला पकड़ लिया था। उसने कहा कि अरे, छोड़-छोड़ मेरे गलेको। भगवान्ने कहा कि यही काम तो मुझे नहीं आता, मैं बालक हूँ, मुझे अच्छे-बुरेकी पहचान नहीं है। जो मुझे अपनी गोदमें लेता है, मैं उसका गला पकड़ लेता हूँ, यदि गला पकड़नेमें ही तुम्हारा दम-निकल रहा है तो बच्चू, लगता है तुम फूलके बने हो। अरे, तुम तो हमारे मामाके भेजे हुए हो। यदि मेरे गला पकड़नेसे ही मर जाते हो, तो इसमें मेरा कोई अपराध नहीं है।

यह कहकर श्रीकृष्णने जरा जोरसे उसका गला पकड़ लिया। अब तो उसकी आँखें उलट गयीं, वह बोल भी नहीं सका और निष्प्राण होकर धरतीपर गिर पड़ा। दृश्य था—तृणावर्त नीचे और श्रीकृष्ण उसकी छातीपर खेलते हुए।

ग्वालोंकी हिम्मत तो पूतनाके समय भी श्रीकृष्णको उठानेकी नहीं हुई, परन्तु गोपियोंने पहलेकी तरह ही दौड़कर उठाया और उठाकर अच्छी तरह देख लिया कि कहीं चोट तो नहीं लगी है! अब तो यशोदा आदि गोपियों और नन्द आदि गोपोंको बड़ा आनन्द हुआ और सब कहने लगे कि हमारा बालक मृत्युके मुँहसे फिर लौट आया। देखो तो भगवान्की लीला कितनी अद्भुत है—

हिंस्रः स्वपापेन विहिंसितः खलः साधुः समत्वेन भयाद् विमुच्यते॥ ३१

हिंसक अपने पापके हाथों मारा जाता है। साधु अपनी समतासे ही सम्पूर्ण भयोंसे मुक्त

हो जाता है। हमने ऐसा क्या पुण्य किया है कि यह बालक बार-बार मृत्युके मुखमें जाकर सकुशल लौट आता है।

अब तो यशोदा मैया बालकको अपनी गोदमें-से उतारें ही नहीं। हर समय गोदमें ही रखें, उन्हें बार-बार इस बातका दुःख होता कि पलंगपर सुला दिया तो पूतना उठा ले गयी, छकड़ेके नीचे सुला दिया तो छकड़ा ही टूटकर गिर गया और अकेले छोड़कर चली गयी तो बवण्डरमें उड़ गया। अब तो मैं इसे अलग छोड़नेवाली नहीं हूँ।

आपलोग श्रीमद्भागवतमें यह बात देखना कि श्रीकृष्णपर जब कभी कोई आपत्ति-विपत्ति आयी है, उस समय यशोदा मैया अथवा गोपियाँ और ग्वालबालोंकी दृष्टि किसी दूसरेकी ओर रही है। किन्तु जबतक उनकी दृष्टि श्रीकृष्णपर रही है, तबतक कोई आपत्ति-विपत्ति नहीं आयी है। वैसे गोपियाँ दूसरोंको तो नहीं देखतीं, परन्तु जब अपनेको देखने लगती हैं तो वहाँ श्रीकृष्ण अन्तर्धान हो जाते हैं।

एक दिनकी बात है यशोदा मैया बालकको अपनी गोदमें लेकर अपना स्तन-पान करा रही थीं—

एकदार्भकमादाय स्वाङ्कमारोप्य भामिनी।
प्रस्नुतं पाययामास स्तनं स्नेहपरिप्लुता॥ ३४

यशोदा मैयाके स्नेहकी अधिकतासे उनका दूध अपने-आप झर-झर निकलने लगा। मानों वह कहने लगा कि मैं तो श्रीकृष्णके मुँहमें जाऊँगा। इसपर श्रीकृष्णने अपने आप ही माताका स्तन अपने मुँहमें डाल दिया और माता ऐसी स्नेह-परिप्लुता है, ऐसी स्नेहकी बनी है कि उनमें स्नेह-ही-स्नेह है।

आपने कभी इस बातपर ध्यान दिया होगा कि तेलका नाम भी स्नेह है। घीका नाम भी स्नेह है। मक्खन, दूध, दहीका नाम भी स्नेह है। जिसमें चिकनाई हो, उसे स्नेह बोलते हैं।

पिताके मनमें भी बच्चेके प्रति स्नेह है। बड़े भाईके मनमें भी छोटे भाईके प्रति स्नेह है।

पत्नीके मनमें भी अपने पतिके प्रति स्नेह है। फिर भी वे सभी ठन-ठनपाल हैं। उनका स्नेह उनके मन-ही-मनमें रह जाता है।

लेकिन माँका स्नेह ऐसा है कि जब वह अपने बालकके प्रति उमड़ता है, तब वह केवल भावात्मक नहीं होता, ठोस द्रव्यके रूपमें परिणत हो जाता है। माताका स्नेह, अपने बालकके प्रति दूध बनकर प्रकट होता है। यह विशेषता पिता, भाई, बहन, पुत्री किसीमें भी नहीं है। भावका ठोस वस्तु बन जाना, यह माताके स्नेहकी विचित्रता है।

तो जब यशोदा मैया अपने बालकको दूध पिलाने लगीं, तब एक विचित्र लीला हुई—

पीतप्रायस्य जननी सा तस्य रुचिरस्मितम्।
मुखं लालयती राजञ्जृम्भतो ददृशे इदम्॥ ३५

जब माता अपने बच्चेको दूध पिलाती है, तब इस बातका भी ध्यान रखती है कि उसे कबतक कितना दूध पिलाना चाहिए। किसीको खिलाना-पिलाना प्रेमका परिचायक है। खिलाने-पिलानेवालेको यह भी सोचना चाहिए कि जो चीज उसने अपनी दृष्टिसे बहुत बढ़िया बनायी है, वह खानेवालेके अनुकूल है या नहीं। उससे उसको कोई हानि तो नहीं होगी, अपच तो नहीं होगा। स्नेह कभी एकमुखी नहीं होता, वह सर्वतोमुखी होता है।

तो यशोदा मैया अपने प्यारेको दूध पिला रही हैं। दूध पिलाते-पिलाते उनके ध्यानमें आया कि कहीं इसको अधिक पीनेसे अपच न हो जाय। इसलिए मैयाने देख लिया कि उनका बालक प्रायः दूध पी चुका है—'पीतप्रायस्य जननी' देखो यहाँ माताओंके ध्यान देनेकी बात है। यह नहीं कि जब उनके बच्चेका पेट बिल्कुल भर जाय तब वे उसे दूध पीनेसे छुड़ायें। अधिक पीनेसे तो बच्चेको अपच हो जायेगा और बहुत कम पिलानेसे बच्चा रोने लगेगा। ये दोनों बातें नहीं होनी चाहिए। इसलिए मैयाने उस समय छुड़ाना चाहा, जब श्रीकृष्ण प्रायः पी चुके थे।

लेकिन मैया छुड़ाये कैसे? जब बच्चा दूध पी रहा हो तो उसको बिना रुलाये दूध पीनेसे अलग करना चतुर माताओंका ही काम है। जो माताएँ आयायोंपर बालकके पालन-पोषणका भार छोड़ देती हैं अथवा जो माताएँ स्नेह रहित हैं, उनको यह बात मालूम नहीं पड़ सकती।

यशोदा मैयाने सोचा यदि इस समय हम बच्चेको हँसा दें तो यह अपने आप दूध पीना छोड़ देगा। इसलिए 'रुचिरस्मितं मुखं लालयती' यशोदा मैया अपने बच्चेकी आँख-से-आँख मिलाकर उसके मुँहको चूमने लगी।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि सारी सृष्टिको रुचिरता प्रदान करनेवाली मुस्कान भगवान्‌के मुखारविन्दपर नित्य-निरन्तर खेलती रहती है। इसलिए भगवान्‌ने जब यह देखा कि मैया मेरे अधिक दूध पीनेसे अपचकी आशङ्का करती है तब वे मुस्करा पड़े और जम्हाई लेने लगे।

अब जो जम्हाई लेते समय मैयाने देखा कि मेरे बच्चेके मुँहमें तो सम्पूर्ण विश्व है, तब वे चकित होकर डर गयीं। लेकिन भगवान्‌ने तो यह विचार किया कि जब मैया अपने हृदयका स्नेह—हृदयरस मुझे पिला रही है तो मेरे हृदयमें जो वस्तु है, वह भी मुझे मैयासे छिपाना नहीं चाहिए। जब मैया मुझे निष्कपट स्नेह दे रही है तो मैं भी अपनी वस्तु कपट रहित होकर दिखा दूँ। अभीतक तो मैं कपटी बना हुआ हूँ, क्योंकि मैया मुझे सचमुचका बेटा समझती है और मैं समझता हूँ कि मैं बिना माँ-बापका ईश्वर हूँ। इसलिए आज मैं मैयाको बता दूँ कि मैं तेरे सामने कपट नहीं कर सकता। यह हमें अपना सात्त्विक दूध देती है तो मैं भी अपना सात्त्विक रूप इसको दिखा दूँ।

दूसरी बात, भगवान्‌ने यह सोचा कि मैया नाहक ही डरती है कि मुझे अपच हो जायेगा। इसलिए उन्होंने कहा—

'अरी मैया, तू मुझ अकेलेकी मैया नहीं है, सारे विश्वकी मैया है। देख, मेरे साथ विश्व तेरा बेटा है और पेटके भीतर बैठकर सब तेरा दूध पी रहे हैं। क्या इतनेसे सबका पेट कभी भरनेवाला है—इनको कभी अपच होनेवाला है! देख मेरे मुँहमें क्या भरा है?'

खं रोदसी ज्योतिरनीकमाशाः सूर्येन्दुवह्निश्वसनाम्बुधींश्च।
द्वीपान् नगांस्तद् दुहितॄर्वनानि भूतानि यानि स्थिरजङ्गमानि॥ ३६

लेकिन यह तो भगवान्‌की बातें है। जब यशोदा मैयाने देखा कि उनके नन्हें बच्चेके मुँहमें पहाड़, द्वीप, नद, नदी, सूर्य, चन्द्रमा, पृथिवी, जल, द्युलोक, भूलोक आदि सभी स्थित हैं तब उसके

होश उड़ गये। उसने कहा कि हाय हाय ! आज हमारे लालाके मुँहमें यह क्या गड़बड़ झाला दिख रहा है। अरे, यह कोई जादू तो नहीं है ! कोई खेल तो नहीं है !

यहाँ देखो भगवान्‌की ऐश्वर्य-शक्तिने मुँहमें विश्व दिखाकर कहा कि मैया, दूध क्यों नहीं पिलाती ? किन्तु मानो मैयाने कहा कि ऐश्वर्य-शक्तिसे मेरा स्नेह बड़ा है। निस्सन्देह ऐश्वर्य-शक्ति परीक्षा लेनेके लिए बारम्बार आती है, लेकिन माताके स्नेहके सामने वह विफल हो जाती है।

सा वीक्ष्य विश्वं सहसा राजन् संजातवेपथुः। ७

श्रीशुकदेवजीने कहा कि परीक्षित, लगता है तुम ध्यानमें चले गये हो, समाधिस्थ हो गये हो और श्रीकृष्णके मुँहमें विश्व देखने लगे हो। अरे उठो, उठो, देखो मैयाने क्या किया ? उसने यह नहीं सोचा कि हमारे बेटेके मुँहमें स्थिर-जङ्गम सृष्टि है। उसने तो यह सोचा कि इसमें वात्सल्यभाजन लालाका कोई दोष नहीं है। यह ईश्वरकी सृष्टि नहीं, मेरी दृष्टि है—'दृष्टिरेव सृष्टिः'। 'मेरी ये निगोड़ी निगाहें ही हमारे लालामें न जाने क्या-क्या गड़बड़झाला दिखाती रहती हैं। इसलिए बन्द करो इन आँखोंको—यह सोचकर यशोदा मैयाने अपनी आखोंको ही बन्द कर लिया—

सम्मील्य मृगशावाक्षी नेत्रे आसीत् सुविस्मिता। ३७

ऐश्वर्य-शक्ति हार गयी और मैयाकी स्नेहशक्तिने अनन्त बनकर परब्रह्म परमात्मांको नन्हा-सा शिशु बना लिया। जब ईश्वर प्रकट होता है तब प्रेम-शक्तिकी परीक्षाके लिए ऐश्वर्य-शक्ति भी बीच-बीचमें आती है, परन्तु स्नेह-शक्ति उसे दासी बना लेती है।



जब भगवान्‌ने अपने मुखमें विश्वका आविर्भाव कर लिया तो रूपका आविर्भाव हो गया। इसलिए अब नामका भी आविर्भाव होना चाहिए। यही कारण है कि इसके बाद नामकरण-संस्कारका वर्णन आता है।

जैसे नामका व्याकरण होता है, वैसे ही रूपका भी व्याकरण होता है। एक रूपसे दूसरा रूप कैसे निकलता है? रूपसे निकलता है कि अरूपसे निकलता है कि सरूप बीजसे निकलता है? पण्डित लोग एक धातुसे हजारों रूप बना लेते हैं। जैसे कृदन्तमें दूसरे रूप बन जाते हैं, तिङन्तमें दूसरे रूप बन जाते हैं और फिर सुबन्तमें आकर उनकी दूसरी दशा हो जाती है, वैसे ही एकरूप तन्मात्र परमात्मासे अनेक रूप प्रकट होते हैं। इसलिए जो केवल रूप और नामका व्याकरण जानते हैं, वे सच्चा व्याकरण नहीं जानते। जबतक रूपके इस व्याकरणका ज्ञान नहीं हुआ कि यह सृष्टि-रूप किस प्रकार विशिष्ट आकृतिको प्राप्त हुआ है, तबतक वह व्याकरण किस कामका? इसलिए सृष्टि-रूपका व्याकरण जानना हो तो भगवान्‌की आराधना करके देखो। श्रीमद्भागवतमें कहा गया है कि ये जो नानाप्रकारके रूप हैं, ये ही उसके व्याकरण हैं—

वयांसि तद् व्याकरणम् विचित्रम्। २.१.३६

तो, मुखमें विश्व दिखानेके बाद अर्थात् रूप प्रकट करनेके बाद भगवान्‌के नाम-प्राकट्यका प्रसंग आया और श्रीशुकदेवजीने कहा कि परीक्षित, यदुवंशियोंके पुरोहित थे गर्गाचार्य—'गर्गः पुरोहितो राजन्' (१) वे बड़े तपस्वी थे। वे नन्द बाबाके यहाँ आये। लेकिन स्वयं अपने मनसे चलकर नहीं आये। क्योंकि महात्मा लोग अपने मनसे भगवान्‌के पास भी नहीं जाते हैं। गर्गाचार्य तो अपने प्रभुको लेकर मस्त बैठे थे। इसलिए जब उनको वसुदेवने प्रेरणा दी, तब वे नन्दबाबाके व्रजमें आये—

तं दृष्ट्वा परमप्रीतः प्रत्युत्थाय कृताञ्जलिः।
आनर्चाधोक्षजधिया प्रणिपातपुरःसरम्॥ २

नन्दबाबाको प्रीति-तृप्ति पहलेसे ही थी। प्रीति वहीं होती है, जहाँ तृप्ति होती है। ज्ञान जब रसीला होकर नाचता है, तब उसको प्रीति बोलते हैं। उल्लसित, उल्लासात्मक ज्ञानका ही नाम प्रीति है। शान्त ज्ञानका नाम प्रीति नहीं, समाधि है।

तदेजति तन्नैजति तद् दूरे तद्वदन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥ ईशोपनिषद् ५

'तन्नैजति' ज्ञान वह है जो बाहर-भीतर एक-जैसा है। मानो समाधिस्थ है और 'तदेजति' ज्ञान वह है जो उल्लसित है। नन्दबाबाका ज्ञान तो पुत्र-जन्मके बाद सदा ही उल्लासमान् रहता है। परन्तु जब गर्गाचार्यजी उनके यहाँ आये, तब तो उसमें ज्वार ही आगया। वे गर्गाचार्यको देखते ही उठकर खड़े हो गये। उनको हाथ जोड़कर प्रणाम किया और कहा कि आज महात्मा नहीं, साक्षात् परमात्मा हमारे घरमें आगया है।

देखो, महात्माको महात्मा समझना उसका आदर नहीं है, महात्माको परमात्मा समझना ही उसका आदर है। यदि वह जो है, वही समझा तो उसका आदर क्या किया? असलमें, वह तो स्वदृष्टिसे ही परमात्मासे भिन्न है, अन्यथा परमात्मा ही है।

अब नन्दबाबाने भगवद्भावसे गर्गाचार्यजीकी अर्चना की। अर्चनाका अर्थ है षोडशोपचार अर्थात् पाद्य, अर्घ्य, आचमन, समर्पण करके चन्दन, पुष्प, दीप आदि देकर अर्चना करना—जैसे कि भगवान्का पूजन किया जाता है।

जब गर्गाचार्यजीका अच्छी तरह आतिथ्य-सत्कार हो गया, उन्होंने खा-पी लिया और वे आरामपूर्वक बैठ गये तब नन्दबाबाने पुनः उनके चरणोंमें साष्टाङ्ग दण्डवत् किया। फिर वे मधुर वाणीसे बोले—'नन्दयित्वाऽब्रवीद' (३)।

इसका अर्थ यह है कि नन्दबाबाने पहले गर्गाचार्यजीको खूब आनन्दित किया, खुशीकी बातें सुनायीं और उसके बाद कहा कि 'ब्रह्मन् पूर्णस्य करवाम किम्' (३)—महाराज, आप तो स्वयं पूर्ण हैं, आपकी हम क्या सेवा करें?

देखो, यह बात वे कह रहे हैं, जिनके बेटे भगवान् हैं। गर्गाचार्यने मन-ही-मनमें कहा कि पूर्ण होते तो तुम्हारे घर क्यों आते?

नन्दबाबाने कहा कि आप लोग मनुष्योंका उद्धार करनेके लिए स्वयं चलकर आते हैं, किन्तु मनुष्य हो जाकर स्वयं अपना उद्धार क्यों नहीं करते? इसीलिए नहीं आते कि वे गृही हैं। लेकिन घरमें भी तो कभी-कभी समय निकालना चाहिए।

महद्विचलनं नृणां गृहिणां दीनचेतसाम्।
निःश्रेयसाय भगवन् कल्पते नान्यथा क्वचित् ॥ ४

लोग घरमें इतना फँसे हैं कि उन्हें कुछ सूझता ही नहीं। वे समझते हैं कि हम घरका काम छोड़कर महात्माओंके सत्संगमें जायेंगे तो हमारा घर बिगड़ जायेगा। लेकिन यह उनकी भूल है। आपने इतनी कृपा की कि हमारे घर पधारे। 'निःश्रेयसाय भगवन् कल्पते नान्यथा क्वचित्'—आप जैसे महात्माओंका हमारे जैसे गृहस्थोंके द्वारपर आना ही परम कल्याणका कारण है। आप तो ज्योतिषके बड़े भारी ज्ञाता हैं, वेद-वेत्ताओंमें श्रेष्ठ हैं, इसलिए हमारे जो दोनों बालक हैं, इनका आप नाम-संस्कार कर दीजिये।

इतनेमें यशोदा मैया बलरामको और रोहिणी मैया श्रीकृष्णको अपनी-अपनी गोदमें लेकर वहाँ आगयीं। नन्दबाबाने उनकी ओर इशारा करते हुए कहा कि—'बालयोरनयोर्नृणाम्' आँखोंसे देख लीजिये। एक तो यह साँवरा-सलोना बालक है और दूसरा यह गौर-सुन्दर है। आप इन दोनोंके नाम रख दीजिये, क्योंकि आप ब्राह्मण होनेके नाते हमारे जन्मना गुरु हैं—'जन्मना ब्राह्मणो गुरुः'। (६)

गर्गजी बोले कि नन्दजी, कोई भी काम चाहे वह कितना भी मनोनुकूल हो, करनेसे पहले मनुष्यको उसके पूर्वापरका विचार अवश्य कर लेना चाहिए। मैं यदुवंशका गुरु हूँ और तुम जानते ही हो कि कंस कैसा है—

कंसः पापमतिः सख्यं तव चानकदुन्दुभेः।
देवक्या अष्टमो गर्भो न स्त्री भवितुमर्हति॥ ८

कंसकी बुद्धिमें पाप है। वह जानता है कि तुम्हारी वसुदेवकी कितनी मित्रता है। जबसे उसने देवकीकी कन्यासे यह बात सुनी है कि उसको मारनेवाला पैदा हो चुका है, तबसे वह आशङ्कित है कि देवकीके आठवें गर्भसे लड़की नहीं होनी चाहिए थी। इसलिए जब वह यह सुनेगा कि तुम्हारे पुत्रका नामकरण मैंने किया है, तब वह समझ लेगा कि यही देवकी-नन्दन है। 'पापी सर्वत्र पापमाशङ्कते'—पापी सर्वत्र पाप ही देखता है।

दुनियामें कुछ लोग ऐसे होते हैं, जो अपनेको भी बुरा समझते हैं और दूसरेको भी बुरा समझते हैं; उनको सब बुरा-ही-बुरा दीखता है। कुछ लोग ऐसे होते हैं कि अपनेको तो बुरा समझते हैं और दूसरेको अच्छा समझते हैं। अन्य कुछ ऐसे होते हैं जो अपनेको और सबको अच्छा-ही-अच्छा समझते हैं। कुछ लोग ऐसे होते हैं, जिन्हें अच्छे-बुरेका भेद ही नहीं दीखता। सब कुछ परमात्मा ही दीखता है। जिसके लिए सब कुछ बुरा है, वह पामर है। जिसके लिए दूसरा बुरा है, वह विषयी है। जिसके लिए अपना-आपा बुरा है, वह साधक है और जिसके लिए सब कुछ अच्छा है, वह सिद्ध है। जिसके लिए सब परमात्मा है, वह स्वयं परमात्मा है।

अब तुम अपनी ओर देखकर समझो कि तुम्हारी क्या स्थिति है ? जहाँ तुम्हारी स्थिति होगी, वहीं तुम रहोगे। इसलिए गर्गजी कहते हैं कि कंस पापी है और उसको सर्वत्र पाप दीखता है।

नन्दबाबाने कहा कि महाराज, मैं आपके कथनका अभिप्राय समझ गया। आप चाहते हैं कि नामकरणका किसीको पता न चले तो ऐसा ही होगा। नाम आत्ममन्त्र है। यह एकान्तमें प्राप्त होना चाहिए। मनुष्यको एकान्तमें यह बता देना कि तुम्हारा नाम अमुक है, उसके स्वरूपको लखा देना है।

गर्गजी नामकरणके साथ नन्दबाबाको उनका स्वरूप समझा देना चाहते हैं। श्रीवल्लभाचार्यजी महाराजके वर्णनानुसार गर्गाचार्यजी आये ही इसलिए नन्दबाबाके घरमें भगवान् तो आगये हैं, परन्तु 'गुरूपदेशं बिना नन्दस्य भगवत्प्राप्तिर्व्यर्थां माभूद् इति'—गुरूपदेशके बिना कहीं उनकी भगवत्प्राप्ति व्यर्थ न हो जाय। जबतक गुरु लखायेगा नहीं तबतक गोदके भगवान् भी पहचानमें नहीं आयेंगे। यही आचार्योंकी महिमा है। गर्गाचार्यजी नन्दबाबाको एकान्तमें यही बता आये हैं कि तुम्हारे घरमें जो बालक आया है, वह साधारण बालक नहीं, साक्षात् परमेश्वर है। इनको तुम और कुछ मत समझना।

अलक्षितोऽस्मिन् रहसि मामकैरपि गोव्रजे। १०

नन्दबाबाने कहा कि आचार्यजी, हमारे गोष्ठमें सर्वथा एकान्त है, वहाँ आप 'द्विजातिसंस्कारं कुरु'—द्विजाति-संस्कार कर दीजिये। वहाँ कलश-स्थापन, नवग्रह-स्थापन और गणेश-पूजनकी आवश्यकता नहीं होगी, क्योंकि वह गोष्ठ है और आपत्तिकाल भी है। इसलिए आप केवल स्वास्तिवाचनपूर्वक नामकरण कर दीजिये।

श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं—गर्गाचार्यजी तो यह चाहते ही थे कि वे नामकरण करें, इसलिए झट गोष्ठमें पहुँचे और उन्होंने यशोदा मैयाकी गोदके बालककी ओर इशारा करते हुए कहा 'अयं हि रोहिणीपुत्रः' (१२)—यह रोहिणीका पुत्र है।

देख लो, महात्माका चमत्कार ! गर्गजी पहचानते हैं कि यशोदा मैयाकी गोदमें जो बालक है, वह रोहिणी-नन्दन है। रोहिणी-पुत्र कहनेका अभिप्राय यह है कि यशोदाकी गोदमें होनेके कारण यह यशोदा-पुत्र नहीं, असलमें यह रोहिणी-पुत्र है।

गर्गाचार्यने कहा—सुहृदोंको रमण करानेके कारण इसका नाम राम है, बलाधिक्यसे इसका नाम बल है और यदुवंशियोंमें मेल-मिलाप करानेके कारण नाम संकर्षण है।

देखो, पहले आपको बताया जा चुका है कि बलरामजीका एक नाम संकर्षण इसलिए पड़ा कि वे एक गर्भसे खींचकर दूसरे गर्भमें लाये गये थे। परन्तु गर्गाचार्यजीने उस प्रसङ्गको

छिपा लिया। शब्दोंकी व्युत्पत्ति भी प्रसङ्गानुसार होती है। यह नहीं कि एक व्युत्पत्ति कहीं पढ़ ली और उसीको रटकर सर्वत्र सुना रहे हैं। इसमें कहीं-कहीं अनर्थ हो जाता है। शब्दमें जो शक्ति होती है, उसको ठीक-ठीक पहचानना चाहिए और उसकी योग्यता देखकर, सन्निधि देखकर, विवक्षा देखकर, श्रोताकी आकाङ्क्षा देखकर प्रसङ्गके अनुसार अर्थ किया जाना चाहिए।

अब गर्गाचार्यकी दृष्टि पड़ी श्रीकृष्णपर। उन्होंने कहा—

आसन् वर्णास्त्रयो ह्यस्य गृह्णतोऽनुयुगं तनूः।
शुक्लो रक्तस्तथा पीत इदानीं कृष्णतां गतः॥ १३

नन्दजी, यह जो तुम्हारा साँवरा-सलोना नन्दन रोहिणीके उत्सङ्गमें विद्यमान है, इसके तीन वर्ण पहले रह चुके हैं—'आसन् वर्णास्त्रय:'।

देखो, जाति दो प्रकारकी होती है—एक तो आकृति-व्यङ्ग्या होती है और दूसरी उपदेश-व्यङ्ग्या। मनुष्य आदिकी जाति आकृति-व्यङ्ग्या है और ब्राह्मण आदिकी जाति वर्ण-व्यङ्ग्या है—उपदेश-व्यङ्ग्या है अर्थात् शास्त्रगम्या है। वर्ण उसको कहते हैं, जिसका वर्णन शास्त्रमें है 'वर्णनात् वर्णः'—इसलिए ब्राह्मण आदिकी जाति शास्त्रैक-गम्या है।

गर्गजीने कहा—इस पुत्रके तीन वर्ण हैं। 'गृह्णतोऽनु'का अर्थ है कि इसके वर्ण तो अनेक हैं, परन्तु यह एक है। यह बात बिलकुल साफ है। वर्ण-भेदसे श्रीकृष्णमें भेद नहीं है।

दूसरी बात यह बताते हैं कि 'अनुयुगं तनूः'—यह युग-युगमें शरीर ग्रहण करता है। इसका अर्थ है कि युग तो अनेक हैं और यह एक है। 'तनूः'का अर्थ है कि इसके तनु भी अनेक हैं, परन्तु यह बिलकुल एक है। तात्पर्य यह कि इसमें तनुभेदसे, युगभेदसे और वर्णभेदसे कोई भेद नहीं है।

एकबार मैं गीता प्रेसकी वाटिका, गोरखपुरमें भागवत सुना रहा था। वहाँ एक विद्वान् सज्जन श्रोताओंमें बैठे थे। उन्होंने जब 'शुक्लो रक्तस्तथा पीत इदानीं कृष्णतां गतः' (१३)—यह प्रसङ्ग सुना तो मुझे एक श्लोक लिखकर दिया, जिसका केवल चौथा पाद याद है और वह है—'रक्तैः पीतमहोजनैश्चसुकृतैः कृष्णस्य शुक्लं यशः।' इसका यह अर्थ है कि रक्तजनों अर्थात् अनुरक्तजनोंके द्वारा श्रीकृष्णका यश श्वेत है। इस प्रकार उन्होंने अपने श्लोकमें रक्त, पीत, कृष्ण, शुक्ल इन चारों रङ्गोंका बड़े चातुर्यसे समावेश किया।

भगवान् कभी शुक्ल होते हैं, कभी रक्त होते हैं, कभी पीत होते हैं। युग-युगमें नये-नये रूप धारण करते हैं। परन्तु इस समय कृष्ण रूप धारण करके आये हैं। अतः वर्णकी प्रधानतासे इनका नाम कृष्ण होगा।

आप इस नामके अर्थपर विचार करोगे तो तरह-तरहके अर्थ मिलेंगे। कोई-कोई उपनिषद्से अर्थ करते हैं। वह इस प्रकार कि कृष् माने सत्ता और ण माने परमानन्द। परमानन्दको जो अबाधित सत्ता है, अखण्ड सत्ता है, उसका नाम कृष्ण है। कुछ लोग इसका ऐसा अर्थ करते हैं कि—'कर्षति इति कृष्णः'—जो लोगोंके चित्तरूपी भूमिका कर्षण करके उसमें प्रेमकी खेती करता है, उसका नाम कृष्ण है। 'कृष्णतीति कृष्णः'—कोई-कोई कहते हैं कि वर्णके कारण ही इसकी संज्ञा कृष्ण है। कोई कहते हैं कि यह केवल नाम है और नाममें ज्यादा व्युत्पत्ति देखनेकी क्या जरूरत है? यह कृष्ण अव्युत्पन्न है।

प्रागयं वसुदेवस्य क्वचिज्जातस्तवात्मजः।
वासुदेव इति श्रीमानभिज्ञाः सम्प्रचक्षते॥ १४

अब गर्गाचार्यजी दूसरा नाम बताते हैं। सच भी बोलते हैं और सचको छिपाते भी हैं। 'परोक्षाप्रियाः इव हि देवाः' (ऐ. उप. १.३.१४) भगवान्‌के सम्बन्धमें यदि परोक्ष रूपसे बात कही जाय तो उनको बहुत मजा आता है। गर्गाचार्यजी कहते हैं कि यह बालक पहले कभी वसुदेवके घरमें पैदा हुआ था। फिर नन्द बाबाको कहीं शङ्का न हो जाय, इसलिए बोले कि 'तवात्मजः'—अरे नन्द, यह तो तुम्हारा ही बेटा है। इसपर कोई भी दावा नहीं करेगा, परन्तु कभी क्वचित् अर्थात् किसी देश, कालमें यह वसुदेवका बेटा हो चुका है, इसलिए इसका नाम वासुदेव है। श्रीकृष्णका वासुदेव नाम नाक्षत्रक नाम है। रोहिणीके द्वितीय चरणमें जन्म होनेके कारण श्रीकृष्णका नक्षत्र-नाम वासुदेव है।

गर्गजीने तो दूसरी बात यह कही कि यह बालक श्रीमान् भी है। परन्तु इस बातको कोई-कोई जानकार ही जानते हैं—'श्रीमानभिज्ञाः सम्प्रचक्षते' (१४)।

इतना ही नहीं इसके और भी बहुत नाम हैं, बहुत रूप हैं। 'सुतस्य ते'—किन्तु जैसा कि मैंने बताया, यह बेटा तुम्हारा ही है। इसके नाम गुण-कर्मके अनुरूप होते हैं। इसमें जो वात्सल्यादि गुण हैं, उनके कारण इनका नाम भक्तवत्सल है। कर्मके अनुरूप इसके नाम गोवर्धन-धारी और मुरलीमनोहर आदि हैं। 'तान्यहं वेद नो जनाः' (१५)—उन नामोंको मैं जानता हूँ। आप लोग नहीं जानते हैं अथवा 'तान्यहं वेद नो, जनाः कुतः'—मैं ही नहीं जानता हूँ तो लोग कहाँसे जानेंगे अथवा 'अहं नो वेद, जनाः अपि नो'—मैं भी नहीं जानता, लोग भी नहीं जानते हैं।

भगवान्‌के नाम और रूप दोनों ऐसे हैं, जैसे घड़ा और मिट्टी। घड़ा मिट्टीमें बनता है और आँखसे दिखायी पड़ता है। इसलिए भगवान्‌का रूप देखनेके लिए आँख है। रूपमें प्रकाश्यत्व है और नाममें प्रकाशकत्व है। नाम प्रमाण है, रूप प्रमेय है। चेतन वस्तुके अधिक निकट नाम

ही है। चेतनके हाथमें जो वस्तु है, वह नाम है। इसीसे गर्गाचार्यके द्वारा 'कृष्ण' यह नामात्मक महामन्त्र जगत्के कल्याणके लिए प्रकट हुआ।

कृष्णेति द्व्यक्षरं नाम यस्य वाचि प्रवर्तते।
नश्यन्ति किल तस्याशु महापातककोटयः॥

नाम और रूप दोनों भगवान् हैं। इनमें कोई बड़ा या छोटा नहीं है। 'को बड़ छोट कहत अपराधू'—रूपके बिना नाम नहीं और नामके बिना रूप नहीं। श्री गर्गाचार्य महाराजने नन्द बाबाके सामने भगवान्का नाम प्रकट करके कह दिया कि नाम-रूपकी कोई मर्यादा नहीं है। यदि कोई कहे कि भगवान्के रूप इतने ही हैं, नाम इतने ही हैं तो वह गलत है। 'मर्यैः मनुष्यैः आदीयते इति मर्यादा'—मनुष्य लोग जिसको परिच्छिन्न बना देते हैं, जिसका परिच्छेद कर देते हैं, उसका नाम मर्यादा होता है। किन्तु कोई भगवान्के नाम-रूपका परिच्छेदक नहीं हो सकता। 'बहूनि सन्ति नामानि रूपाणि च' (१५) अर्थात् भगवान्के बहुत सारे नाम हैं, बहुत सारे रूप हैं।

गर्गजीने कहा कि उन सबको न मैं जानता हूँ, न दुनिया जानती है। क्योंकि यदि उनमें केवल ज्ञानका विषयत्व ही मान लिया जाय तो ज्ञान कौन रहेगा? ज्ञान भी तो वही है। इसलिए केवल विषयरूपसे नाम और रूपका निरूपण कोई नहीं कर सकता, क्योंकि विषयी भी वही है।

देखो, गर्गाचार्यजीने तो गुण-कर्मके अनुसार कृष्ण आदि नाम ही रक्खे, लेकिन व्रज-वासियोंने कन्हैया और कनुआ आदि नाम भी रख दिये। ये सब उल्टे-पुल्टे नाम भी पुकारने-वालोंके प्यारसे भरकर सुधर गये। भगवान्ने भी इनको स्वीकार कर लिया।

अन्तमें गर्गाचार्यजी कहते हैं कि तुम्हारा यह बेटा तुम लोगोंका कल्याण करेगा। पहले भी साधुओंने इसीकी सहायतासे डाकुओंपर विजय प्राप्त की थी। 'य एतस्मिन् महाभागाः प्रीतिं कुर्वन्ति मानवाः' (१८)—जो 'एतस्मिन् नामसु रूपेषु च'—इसके नाम और रूपमें प्रीति करेंगे, उनको काम, क्रोधादि शत्रु अथवा हिरण्याक्ष-रावणादि शत्रु कभी दबा नहीं सकेंगे, क्योंकि भगवान् उनके पक्षमें हैं।

नन्दजी तुम्हारे इस पुत्रमें नारायणके समान गुण हैं—'नारायणसमो गुणैः (१९)।' गौड़ीय सम्प्रदायवालोंने इसकी टीका की है—'गुणैः नारायणः समो यस्य'—अर्थात् कृष्णके गुणोंकी बराबरी कोई कर सकता है तो केवल नारायण ही कर सकते हैं। यह श्रीमें, कीर्तिमें, अनुभावमें और सौशील्यादि तथा भक्तवात्सल्यादि गुणोंमें नारायणके समान हैं।

नन्दजी, तुम एकाग्रतासे गोपन करो, इसको छिपाकर रखो। लोगोंमें जाहिर मत करो कि ये भगवान् हैं—'गोपायस्व समाहितः' (१९)—देखिये, अगर कभी कोई अलौकिक अनुभव हो, देवी-देवताविषयक अनुभूति हो तो उसे छिपानेपर वह बढ़ेगा और लोगोंमें प्रकट कर देनेपर घट जायेगा—'सर्वं सम्पद्यते देवि देवगुह्यं सुसंवृतम्'। इतना कहकर गर्गजी महाराज अपने आश्रमपर चले गये। उनके वचनोंसे नन्द बाबाको अत्यधिक आनन्द हुआ। उन्होंने कहा कि बस, हमारे मनकी सारी आशाएँ, अभिलाषाएँ और लालसाएँ पूरी हो गयीं। अब हमको कुछ नहीं चाहिए।

कालचक्र तो अपनी गतिसे चलता रहता है, लेकिन किसीके सामने धमक-धमककर पाँव रखता है और किसीके सामने धीरेसे पाँव रखता है। 'दुःखितस्य निशा कल्पः'—रात दुःखी मनुष्यके लिए कल्पके बराबर हो जाती है और 'सुखितस्य निशा क्षणम्'—सुखी मनुष्यके लिए क्षणके समान बीत जाती है। 'कालेन व्रजताल्पेन' (२१)—व्रजमें काल धीरे-धीरे सरक रहा है। इतने धीरे-धीरे सरक रहा है कि किसीको पता ही नहीं चलता।

कालक्रमसे भगवान् राम (बलराम) और केशव (कृष्ण) कुछ बड़े हुए। देखो, कलियुगमें लोग केशके सौन्दर्यपर लट्टू हो जाते हैं। भगवान्ने यह निश्चय किया कि हम भी अपने केश बहुत बढ़िया रखेंगे। इसलिए वे केशव कहलाये। 'प्रशस्ताः केशा यस्य'—जिसके केश प्रशस्त हैं, उसको केशव बोलते हैं अथवा 'कश्च अश्च ईशश्च केशाः तान् वयते प्रशास्ति इति केशवः'—जो ब्रह्मा, विष्णु, महेशका प्रशासक है, उसका नाम केशव है। महाभारतमें अर्थ किया गया है कि जो भगवान्के मुखमण्डलसे चिन्मयी रश्मियाँ निकलती हैं, उसका नाम है केश और जो इन केशोंको धारण करता है, उसका नाम है केशव। एक अर्थ यह भी है कि 'केशान् वयते प्रशास्ति राधाया इति केशवः'—जो श्री राधारानीके केश सँवारे उसका नाम केशव है।

रामकेशवौ जानुभ्यां सहपाणिभ्यां रिङ्गमाणौ विजह्रतुः। २१

तावङ्घ्रियुग्ममनुकृष्य सरीसृपन्तौ घोषप्रघोषरुचिरं व्रजकर्दमेषु।
तन्नादहृष्टमनसावनुसृत्य लोकं मुग्धप्रभीतवदुपेयतुरन्ति मात्रोः॥ २२

अब राम, केशव घुटनों और हाथोंके सहारे धरतीपर विहार करने लगे, बकैयाँ चलने लगे, 'जानुभ्यां सहपाणिभ्याम्'—भगवान् धरतीका दुःख दूर करनेके लिए आये हैं। उनके पाँवसे धरतीका जन्म हुआ है। पाँव पृथिवी बीज है और हाथ धरतीकी रक्षाके लिए क्षत्रिय बीज है। भगवान् पाँव और हाथ दोनोंसे चलकर मानों पृथिवीको बता रहे हैं कि देखो हमारे पाँवके रूपमें तुम्हारा बाप भी तुम्हारे पास है और हमारे रूपमें तुम्हारा रक्षक भी तुम्हारे ऊपर है। तुम

बिल्कुल घबराओ मत। भगवान् पृथिवीको आश्वासन देनेके लिए ही 'अङ्घ्रियुग्ममनुकृष्य'—अपने दोनों पाँव खींच-खींचकर ऐसे चल रहे हैं जैसे—'सरीसृपन्तौ'—केचुआ धरतीपर रेंगता है। 'सरीसृपन्'का अर्थ है धरतीपर प्रसर्पण करना—सरकना। भगवान् सर्वाङ्गसे मिट्टीमें लथपथ होकर सरकते हैं और यह प्रकट करते रहे हैं कि जब किसीकी पूजा-सेवा स्वीकार करनी है तो सर्वाङ्गसे ही स्वीकार करना चाहिए। केचुआ मिट्टी खाता है—मिट्टी निगलता है; मिट्टी उगलता है और मिट्टी ही उसका भोग्य है। इसी प्रकार भगवान् बताते हैं कि पृथिवी ही हमारा भोग्य है। 'घोषप्रघोषरुचिरम्'—जब भगवान् चलते हैं तब उनके पाँवमें नूपुर बजता है, कमरमें किङ्कणी बजती है और हाथमें कङ्कन बजता है। मैयाने उनके गलेमें बघनखा भी पहना दिया है, जिसमें मोतियोंकी झालर लगी है। 'व्रजकर्दमेषु'—इसका अर्थ है व्रजके कीचड़में। एक कर्दम पहले हुए तो कपिल रूपमें भगवान् उनके बेटे बन गये। यहाँ तो व्रजका चप्पा-चप्पा कर्दम है—कहीं पीली मिट्टी है—कहीं लाल मिट्टी है—कहीं हरी मिट्टी है और कहीं काली मिट्टी है। यह रङ्ग-बिरङ्गी मिट्टी गायके गोवर और मूत्रसे सनकर एक हो गयी है। उसको भगवान् अपना आभूषण समझकर अङ्गरागकी तरह अपने शरीरपर लगाते हैं। वे पृथिवीके घरमें आये हैं, इसलिए उसकी गन्दी-से गन्दी चीजको भी अपना आभूषण बना रहे हैं। 'तन्नादहृष्ट मनसा-वनुसृत्य'—भगवान् चलते-चलते किसी मनुष्यके पीछे हो जाते और उनके आभूषणोंसे जो मङ्गलध्वनि निकलती उसे यह समझकर कि यह मङ्गलध्वनि तो इसी मनुष्यमें-से आरही है, मुग्ध हो जाते। परन्तु बादमें जब देखते कि यह तो अपरिचित है तब प्रभीतके समान अपनी माताओंके पास लौट आते हैं।

'मातृ-परिवर्तनेनापि'—कभी श्रीकृष्ण रोहिणीके पास आजाते और कभी बलराम यशोदाके पास आजाते। यह सब देखकर माताएँ पुलकित हो जातीं और उनके स्तनोंसे दूधकी धारा बहने लगती।

'पङ्काङ्गरागरुचिरावपुगुह्य दोर्भ्याम्'—आजकल यदि बच्चे मिट्टी कीचड़ लगाकर सामने आवें तो माताएँ कहेंगी कि बेटा, साबुन लगाकर नहा लो अथवा गङ्गा स्नान कर लो; तब गोदमें आओ। परन्तु भगवान्के शरीरमें जो व्रजकी कीचड़ लगी हुई है, वह अङ्गरागसे भी अधिक रुचिर है। इसलिए यदि एक ओरसे यशोदा मैया स्नान करके नयी साड़ी पहनकर आती है और दूसरी ओरसे उनका लाल मिट्टी और कीचड़से सना हुआ आता है तो वे साड़ी खराब हो जानेकी चिन्तासे मना नहीं करतीं, झट गोदमें ले लेती हैं, उसके मुँहमें स्तन दे देती हैं और उसके मुखारविन्द तथा मुस्कानसे युक्त छोटी-छोटी दँतुलियाँ देखकर मुग्ध हो जाती हैं, प्रमुदित हो जाती हैं—'मुग्धस्मितात्पदशनं ययतुः प्रमोदम्'। (२३)

भगवान् नानाप्रकारकी दर्शनीय बाल-लीलाएँ करते हैं। कभी कहते हैं कि हमको तो चन्द्रमा दे दो। कभी खड़ा होनेको कोशिश करते हुए गिर पड़ते हैं, कभी बछड़ेकी पूँछ पकड़ लेते हैं—'प्रगृहीतपुच्छैः' (२४)। चार बछड़े बैठे होते हैं तो धीरे-धीरे रेंगते हुए उनके बीचमें पहुँच जाते हैं और चारों बछड़ोंकी पूँछ पकड़कर उनकी एक जगह गाँठ बाँध देते हैं। फिर बछड़े उठकर खड़े होते हैं तो खुद भी उनकी पूँछ पकड़कर खड़े हो जाते हैं। बछड़े इधर-उधर भागनेकी कोशिश करते हैं लेकिन पूँछ बँधी होनेके कारण भाग नहीं पाते। जब वे इधर-उधर खींचते हैं तो श्रीकृष्ण भी खिंचे चले जाते हैं। यह सब देख-देखकर 'वत्सैरितस्तत उभावनुकृष्यमाणौ प्रेक्षन्त्य उज्झितगृहा जहृषुर्हसन्त्यः' । (२४)—गोपियोंका अपना घर-द्वार छूट गया, उनके कर्माधिकारकी समाप्ति हो गयी और वे वेदान्त-प्रतिपाद्यका दर्शन करने लगीं। 'जहृषुर्हसन्त्यः'—गोपियाँ यह सब देखकर हँसती और परमानन्द प्रकट करती हैं कि उनके घरकी सब वस्तुएँ तो श्रीकृष्णके काम नहीं आतीं, किन्तु यशोदा मैयाके घरकी सब वस्तुएँ श्रीकृष्णके काम आती हैं।

श्रृङ्ग्यग्निदंष्ट्र्यसिजलद्विजकण्टकेभ्यः क्रीडापरावतिचलौ स्वसुतौ निषेद्धुम् । २५

'श्रृङ्गी'—एक दिन घरमें नयी-नयी ब्यायी गाय आयी। श्यामसुन्दरने देखा कि इससे साथ तो हमारे ही सरीखा बहुत बढ़िया बछड़ा है और गाय उसको चाट रही है। वे धीरे-धीरे उसके पास पहुँच गये और गायके गलेमें अपने दोनों हाथ डालकर लिपट गये। तब गोपियोंने कहा कि अरे लाला! क्या करते हो? कहीं नयी-नयी ब्यायी गाय सींग न लगा दे।

'अग्निः'—एक दिन घरमें सुनार आया। यशोदा मैयाने सोचा कि जब बेटे आये हैं तो बहुएँ भी आयेंगी। जेवर बनने लगा तो जाकर सुनारकी आग फूँकनेवाली नली उठा ली और मुंहमें डालकर आग फूँकने लगे। जब चिनगारी उड़ी और शरीरमें लगी तब बलराम और श्रीकृष्ण दोनों चिल्लाये—मैया, मैया!

'दंष्ट्रा'—एक दिन घरमें बानर आया। उसको रोटी खिलानेके लिए उसके पास गये। वानर उनकी गोदमें बैठ गया और वे उसको अपने हाथसे रोटी खिलाने लगे। मैया दौड़ी—कहीं वानर काट न ले।

'असि—घरमें तलवार रखी है। बलराम-श्रीकृष्ण दोनों ही उठाकर उसे खनाखन लड़ाने लगे।

'जल'—एक दिन मैयाने कहा कि दोनों सामने रहो; दूर नहीं जाना। अब वे दोनों पानीके हौजमें कूदकर डूबने लगे और 'मैया बचाओ', 'मैया बचाओ' कहकर चिल्लाने लगे।

'द्विजकण्टक'—एक दिन घरमें मोर आया। बोले कि हम तो इसको अपने हाथसे रोटी खिलायेंगे। मोर भी अपना मुँह नीचे करके रोटी खाने लगा। इतनेमें उसके कन्धेमें हाथ डालकर

उसकी पीठपर बैठ गये। मोर उड़ा। मैया दौड़ी कि हाय! हाय! कहीं काँटोंमें ले जाकर न गिरा दे।

देखो, भगवान्‌की ये सब लीलाएँ ध्यानकी हैं। कुछ लीलाएँ समाधि लगानेके लिए होती हैं, कुछ ज्ञान बढ़ानेके लिए होती हैं और कुछ रसास्वादनके लिए होती हैं। इनका उद्देश्य मनुष्यको प्रपञ्च-विस्मरणपूर्वक भगवदासक्ति-उत्पादन द्वारा भगवन्मय बनाना है। इन लीलाओंको भगवान्‌ने जगत्‌के कल्याणके लिए प्रकट किया और उनका वर्णन करके महापुरुषोंने संसारके विस्मरणके लिए एक विलक्षण आलम्बन प्रदान किया है।

अब मैयाने देखा कि जैसे भक्त लोग पहले ब्रह्म-परायण होते हैं, वैसे ही हमारे लाला क्रीड़ा-परायण हो गये हैं। अचलसे अतिचल हो गये हैं। जब वे जगत्‌के कारणसे हमारे पुत्र हो गये तो—'स्वसुतौ निषेद्धुम्'—हमारा फर्ज है कि हम उन्हें नुकसान पहुँचानेवाले कामोंसे रोकें। 'गृह्याणि कर्त्तुमपि यत्र न तज्जनन्यौ' (२५)। घरका काम करना भी आवश्यक है और इनको रोकना भी जरूरी है। नेति-नेति भी आवश्यक है और घरकी सेवा भी आवश्यक है।

अब यशोदा मैयाका मन कभी इधर तो कभी उधर। गोपियोंने जैसे घरका काम छोड़ दिया, वैसे यशोदा मैया नहीं छोड़ सकती, क्योंकि उन्होंने अपने घरका सारा कामकाज श्रीकृष्णके लिए ही कर रखा है। अपने घरका काम तो वह छोड़े, जिसका काम अपने बेटी-बेटेके लिए हो, जमाई-बहूके लिए हो। कहते हैं—'गृहं सर्वात्मना त्याज्यं तच्चेत् त्यक्तुं न शक्यते। कृष्णार्थं तत् प्रयुञ्जीत'। इसका मतलब है कि घर सब प्रकारसे छोड़ देने योग्य है। यदि वह नहीं छूटता है तो उसे श्रीकृष्णके लिए समर्पित कर दो। कारण यह है कि गृहमें अनर्थका सन्निवेश है। किन्तु हृदयमें उद्देश्य-रूपसे, आराध्य-रूपसे श्रीकृष्णका सन्निवेश हो जानेपर वह दोष दूर हो जाता है।

यशोदा मैयाका मन कभी कृष्णमें लगता है तो कभी घरमें फँसता है, वह चञ्चल और डाँवाडोल हो रहा है। फिर भी वे घरको इसलिए नहीं छोड़ पातीं कि उनके लालाके लिए माखन-मिश्री कौन तैयार करेगा? रोटी कौन बनावेगा? पलङ्ग कौन बिछायेगा? झाड़ू कौन लगायेगा? आदि-आदि। इसीलिए यशोदा मैया श्रीकृष्ण-परायण होती हुई भी कभी-कभी उनकी सेवाके लिए उनसे अलग हो जाती हैं। सेवा ऐसी चीज है कि उसके लिए कभी-कभी सेव्यसे भी अलग होना पड़ता है। यदि सेव्यको—स्वामीको रोटी बनाकर खिलाना है तो रोटी बनानेके लिए उससे थोड़ी देरतक अलग होना पड़ेगा।

यशोदा मैयाके मनकी चञ्चलताके प्रसङ्गमें यह भी बताते हैं कि भगवान्‌को आगे चलकर वृषभासुर-जैसे शृङ्गीको मारना है, अग्निका पान करना है, अजगर, कालियनाग आदिके बड़े-बड़े

दाँतोंको तोड़ना है। तलवार लेकर शत्रुओंसे लड़ना है। पक्षीरूप बकासुर आदिसे निपटना है और कुश-काँटोंमें चलना है। इसलिए श्रीकृष्ण अभीसे अभ्यास कर रहे हैं और उसको देखकर मैयाका मन चञ्चल हो रहा है।

कोई-कोई कहते हैं कि योगी लोग अपने मनकी स्थिरताको, समाधिको, भले ही श्रेष्ठ मानते हों। किन्तु वह मन किस कामका, जो समाधिस्थ तो हो; परन्तु उसमें रसस्वरूप श्रीकृष्ण प्रकट न हों। उस स्थिरतासे तो मैयाके मनकी जो चञ्चलता है, वही श्रेष्ठ है।

श्रीकृष्ण कभी दीवार पकड़कर खड़े हों और गिरने लगें तो अपने हाथकी परछाईं पकड़कर खड़े रहनेकी कोशिश करें। कभी गोपियाँ पूछें कि बेटा, तुम्हारी नाक कौन-सी है तो हाथ रखकर बतावें कि यह है। दाँत कहाँ हैं तो उसे बतानेके लिए मुस्करा दें। आँख कौन-सी है तो आँख टेढ़ी करके देख लें। तुम्हारी छातीपर यह जो सुनहली भौंरी है यह क्या है? 'किं ते वधू'? क्या अपनी श्रीमतोजीको तुम साथ ही लाये हो? इसपर श्रीकृष्ण 'हसति हासयते च सर्वान्'—स्वयं हँसते हैं और सबको हँसा देते हैं।

अब एक दिन श्रीकृष्ण घरके बाहर निकलनेकी चेष्टा करने लगे, किन्तु नन्द बाबाके दरवाजेकी देहरी ऊँची थी। श्रीकृष्ण उसका सहारा लेकर उसपर पेटके बल चढ़ गये और बाहर निकलनेकी कोशिश करने लगे। लेकिन बाहरकी धरती पकड़में नहीं आती और पीछे भी उतर नहीं पाते। इसलिए देहरीपर पेटके बल लटक जाते हैं। नारदजी यह दृश्य देखकर कहते हैं कि धन्य है, वे नन्द बाबा, जिसकी देहरीपर ब्रह्म इस प्रकार लटकता है—'श्रुतिमपरे स्मृतिमपरे भारतमपरे भजन्तु भवभीताः अहमिह नन्दं वन्दे यस्यालिन्दे परं ब्रह्म।'

अब भगवान् बिना घुटनोंका सहारा लिये ही चलने लगे और बालकोंके साथ ऐसी-ऐसी क्रीड़ा करने लगे कि देख-देखकर गोपियाँ आनन्दमें मगन हो जायँ।

एक तथाकथित मर्यादावादी सज्जन कहते थे कि श्रीकृष्णकी लीला कितनी अमर्यादित है कि वे चोरी करते हैं! राम, राम! अरे भाई, उनकी यह चोरी तो तुम्हारे मनकी चोरी है—'चिक्रीडे जनयन् मुदम्' (२७)। तुम्हारे हृदयमें जो आनन्द है, वह सो गया है और उसके स्थानपर दुःख प्रकट हो गया है। उसी सोये हुए आनन्दको तुम्हारे हृदयमें जगानेके लिए भगवान्‌ने नन्द-बाबाके यहाँ अवतार ग्रहण किया है। भगवान्‌की चोरी लीला-ध्यान करनेके लिए है। इसका आलम्बन लेकर अपने मनको अन्तर्मुख कर दो। फिर भगवान् बाहर-भीतर सर्वत्र प्रकट हो जायेंगे।

तो, भगवान्‌ने चोरी-लीलाका अभ्यास किया। एक दिन मैयाने देखा कि लालाका हाथ तो मक्खनके बर्तनमें घुसा हुआ है और उसके मुँहपर भी थोड़ा माखन लगा है—

कृष्ण क्वासि करोषि किं पितरिति श्रुत्वैव मातुर्वचः।
साशङ्कं नवनीतचौर्यविरतो विश्रम्य तामब्रवीत्॥
मातः कङ्कणपद्मरागमहसा पाणिर्ममाऽऽतप्यते।
तेनाऽयं नवनीतभाण्डविवरे विन्यस्य निर्वापितः॥

मैयाने पूछा कि अरे ओ मेरे बाप, क्या कर रहे हो ? श्रीकृष्ण चौंक गये कि अरे मैया कहाँसे आगयी। झट बोले कि तुमने जो मेरे हाथमें लाल पहना दिया है, यह तो आगका गोला है। इससे मेरे हाथ जल रहे थे। इसलिए मैंने मक्खनमें डालकर हाथको जलन बुझायो है। मैयाने कहा कि बेटा तुमने हाथको जलन तो बुझायो; पर तुम्हारे मुँहपर जो सफेद-सफेद लग रहा है, यह क्या है ? बोले मैया, मेरे मुँहपर मक्खी बैठ गयी थी, मैंने उसे उड़ाया और यह लग गया। मैयाको यह खुशी हुई कि देखो मेरा नन्हा लाला कितना होशियार हो गया है, इसके पेटमें कितनी लम्बी दाढ़ी हो गयी है। मैयाको लालामें दोष नहीं दिखायी पड़ा। असलमें गुणका निवास वस्तुमें नहीं, प्रेममें है—'वसन्ति प्रेम्णि गुणाः न वस्तुनि।'

एक दिन मैयाने देखा कि श्रीकृष्ण स्फटिकके खम्भेके सामने खड़े होकर कुछ बोल रहे हैं, मानों अपनी परछाईंसे कह रहे हैं कि भैया, मक्खनका एक लोंदा ले लो, दो ले लो, चार ले लो या फिर आठ ले लो। लेकिन हमारी मैयाको बताना मत। आओ, तुम भी हमारे साथ मिलकर मक्खन ले लो—

मैयाने कहा कि अरे लाला, किससे बात कर रहा है ? कौन है ? श्रीकृष्णने कहा कि मैया, तेरे घरमें एक माखन-चोर आया है—

मद् वारणं न मनुते मयि रोष-भाजि रोष तनोति नहि मे नवनीतलोभः।

मैं इससे कहता हूँ कि तू भाग जा। मैयाके घरमें मक्खन मत चुरा। लेकिन यह तो कुछ बोलता ही नहीं है। उल्टे मैं गुस्सा करता हूँ, दाँत पीसता हूँ तो यह भी गुस्सा करता है, दाँत पीसता है। यहाँ देखो, संस्कृतमें एक कुत्सा शब्द है, वही लौकिक भाषामें गुस्सा बन गया है। पहले कुत्सासे गुत्सा बना और फिर गुस्सा बन गया।

एक दिनकी बात है, गोपियोंके मनमें आया कि यह लाला अपनी मैयाके साथ जैसी-जैसी लीला करता है, वैसी लीला हमारे घरमें भी आकार करता तो हमारा कितना बड़ा सौभाग्य होता।

अब गोपियोंके इस अभिलाषपर उनके घरमें माखन-चोरी हुई कि नहीं हुई, यह तो भगवान् जानें, हम क्या बोलें ? हम तो श्री शुकदेवजीके साथ हैं। श्री शुकदेवजी साफ-साफ कहते

हैं कि मैंने कभी किसी गोपीके घरमें श्रीकृष्णको माखन चुराते नहीं देखा। परन्तु जब गोपियाँ यशोदा-मैयाके घरमें उलाहना देनेके लिए आयीं तो मैंने यशोदा मैयाके मुँहसे यह सुना कि ये धींगरी गोपियाँ हमारे लालाको न जाने क्या-क्या दोष लगाती हैं। इसलिए दोष लगानेकी जिम्मेवारी तो गोपियोंपर है, श्रीकृष्णपर तो है नहीं—

कृष्णस्य गोप्यो रुचिरं वीक्ष्य कौमार-चापलम् ।
शृण्वत्याः किल तन्मातुरिति होचुः समागताः ॥ २८

असलमें झुण्ड-की-झुण्ड गोपियाँ आयें तो श्यामसुन्दरको निहारने, अपनी आँख सेंकने; परन्तु सीधी-सच्ची बात न कहकर तरह-तरहके झूठे बहाने बनायें—

वत्सान् मुञ्चन् क्वचिदसमये क्रोशसंजातहासः । २९

गोपियाँ कहें कि यशोदाजी, तुम्हारा यह लाला कभी-कभी हमारे बछड़ोंको खोल देता है। मैया, उत्तर दें कि क्या हुआ, बालक ही तो है! गोपियाँ कहें कि वैसे तो कोई बात नहीं, लेकिन यह बछड़ोंको असमय छोड़ देता है, बछड़े गायका दूध पी जाते हैं, हानि होती है। यशोदा बोलें कि अरी, नन्हा-सा तो है। इसके लिए जैसे मैं, वैसे तुम! माँकी तरह डाँट दिया करो कि लाला, आगे ऐसो अचगरी मत करना। ऊधम मत मचाना। गोपियाँ कहें कि यशोदाजी, हमने डाँटकर देख लिया। उसके ऊपर हमारे डाँटनेका कोई असर ही नहीं पड़ता, हँस देता है—'क्रोशसंजातहासः।' मैया, हम सच कहती हैं, तुम्हारे लालामें बड़ी बुरी आदत पड़ गयी है। यह चोरीसे हमारे घरका स्वादिष्ट दही खा लेता है। दधि-दूधको पहचान जाता है—

स्तेयं स्वाद्वत्त्यथ दधिपयः कल्पितैः स्तेययोगैः । २९

मैयाने कहा कि अच्छा तुम्हारे घरमें खाता तो है, हमारे घरमें तो बार-बार आग्रह करनेपर भी नहीं खाता। इसलिए हमको बड़ी खुशी है। अब तुम हमसे एकका दो ले जाओ, चार ले जाओ। यह नन्हा-सा तो बच्चा है, इसकी मुट्ठी-भरकी कमर है और जरा-सा पेट है। इसने तुम्हारे घरका माखन थोड़ा-सा खा लिया तो हमको सन्तोष है। चलो, इसको अपने घरका माखन मीठा नहीं लगता तो तुम्हारे घरका ही सही!

गोपियाँ कहती हैं कि मैया, इस संसारमें अबतक योगकी जो बड़ी-बड़ी प्रणालियाँ हैं, उनको हमने पढ़ा-सुना है। लोग कहते हैं कि हम राजयोगी हैं, मन्त्रयोगी हैं, लययोगी हैं, हठयोगी हैं। हमारे योगशास्त्रमें तो पूर्णयोग है, महाराजयोग है, राजाधिराजयोग है, अधिरूढ़-राजाधिराजयोग है। ब्रह्मयोगके अनेक रूप देखने-सुननेमें आते है। परन्तु तुम्हारा यह बेटा तो

एक नये योगका ही आचार्य है। 'कल्पितैः स्तेययोगैः'—इसने स्तेययोगका आविर्भाव किया है। महर्षि पतञ्जलिने तो अष्टाङ्गयोगका आविर्भाव किया और तुम्हारे इस लालाने स्तेययोगका आविर्भाव किया है।

देखो, यहाँ आपलोग गोपियोंकी बातोंका रहस्य समझो। असलमें सारे प्रचलित योग त्वं-पदार्थप्रधान हैं। आसन, प्राणायाम, यम, नियम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि—यह जो अष्टाङ्गयोग है, इसे कौन करता है? मनुष्य करता है। इसलिए वह त्वं-पदार्थप्रधान है। लेकिन श्रीकृष्णका चौर्ययोग त्वं-पदार्थप्रधान नहीं है, तत्-पदार्थप्रधान है। इसमें तो स्वयं भगवान् ही आकर हृदयरूप मक्खनको लूटकर ले जाते हैं। यहाँ तो जीवको कुछ करना ही नहीं पड़ता, सब कुछ वही कर देते हैं।

मर्कान् भोक्ष्यन् विभजति स चेन्नात्ति भाण्डं भिनत्ति। २९

गोपियाँ कहती हैं कि अरी मैया, तुम्हारे लालाकी बातें हम कहाँतक सुनायें! कहता है कि आज हमारे गाँवमें बड़े-बड़े राम-भक्त पधारे हुए हैं। अयोध्यासे आये हैं, दण्डकारण्यसे आये हैं, किष्किन्धासे आये हैं और वे सब लोग बड़े-बड़े महात्मा हैं। इसलिए घर-गाँवमें जितना भी दही-दूध है, सब निकालो और महात्माओंको अर्पण करो। हमलोग उसकी बात मानकर अपने-अपने घरसे दही-दूध-मक्खन लेकर पहुँचती हैं कि आज महात्माओंके दर्शन होंगे। लेकिन वहाँ जाकर देखती क्या हैं कि जो पाँत-की-पाँत बैठी है, वह महात्माओंकी नहीं, बन्दरोंकी है।

'मर्कान् भोक्ष्यन् विभजति'—तुम्हारा लाला उन्हीं बन्दरोंको सारा दही-दूध-मक्खन परस देता है। और सुनो, उन हजारों बन्दरोंमें-से यदि किसी एकने भी नहीं खाया—'स चेन्नात्ति'—तो हमें कहता है कि तुम्हारे घरका बर्तन अशुद्ध है, तुम्हारे दूधमें खराबी है, तुम्हारा दही बिगड़ गया है, तुम्हारा मक्खन खराब है, इसे कोई खायेगा तो घर-गाँवमें रोग फैल जायेगा और यह कहकर 'भाण्डं भिनत्ति'—बर्तन ही फोड़ देता है।

द्रव्यालाभे स गृहकुपितो यात्युपक्रोश्य लोकान्। २९

मैयाने कहा कि अरी, तुमलोग इसकी बातोंमें मत आओ और दही-दूध-मक्खन ऐसी जगह रखा करो, जहाँ यह पहुँच न सके, इसे मिले ही नहीं। गोपियोंने कहा कि तब तो और भी उपद्रव करता है! 'स गृहकुपितः'—गृहपतिपर ही क्रोधित हो जाता है अथवा गृहपर कुपित होकर कहता है कि आज तो दियासलाई लेकर नहीं आया हूँ, कल लेकर आऊँगा और जिस घरमें दही-दूध-मक्खन नहीं मिला, उसमें आग लगा दूँगा।

'स गृहकुपितः'का अर्थ 'गृहाय कुपितः' भी है माने गृहके ऊपर ही क्रोध करता है कि जिस घरमें दही-दूध-मक्खन नहीं, वह कोई घर है, वह तो आग लगाने लायक है।

मैया, यह उपदेश देता है कि घर-घरमें गाय रहनी चाहिए, दही रहना चाहिए, दूध रहना चाहिए, मक्खन रहना चाहिए। ऐसा घर हमको बरदाश्त नहीं है, जहाँ यह सब न हो। चलते-चलते बच्चोंको चिकोटी काट लेता है। दो बच्चे एक साथ सोते हों तो उनकी चोटी बाँध देता है। उनको रुला देता है। जब हम उनको चुप कराने जाती हैं, तब यह भाग खड़ा होता है—'यात्युपक्रोश्य लोकान्' (२९)।

मैया, यह इतना चालाक है कि इसके सामने किसीकी नहीं चलती। एक नयी ग्वालिन आयी। वह बड़ी बुद्धिमती है। उसने कहा कि हम ऐसी युक्ति करेंगे कि श्यामसुन्दरको दही-दूध-मक्खन न मिले। वह अपना सारा दही-दूध-मक्खन ऊपर छींकेपर रखकर नीचे खाट बिछाकर सो गयी। इसपर तुम्हारे लालाने यह चाल चली कि पानीमें-से एक लम्बी कोइन निकालकर ले आये। उसका फूल तोड़कर अलग फेंक दिया, फिर उसके तनेका एक छोर डाल दिया दूधमें और दूसरा छोर मुँहमें डालकर नीचेसे सप्प-सप्प करके दूध पीने लग गये। कुछ आवाज होनेपर ज़ब वह ग्वालिन उठी तो उसके मुँहपर ऐसा फूँक मारा कि दूध उसकी आँखोंमें चला गया। अब जबतक वह अपनी आँख मले, तबतक तुम्हारे लाला नौ दो ग्यारह हो गये—'यात्युपक्रोश्य लोकान्'।

अरी मैया, हम क्या कहें, 'हस्ताग्राह्ये रचयति विधि पीठः' (३०) तुम्हारे लालाका जहाँ हाथ नहीं पहुँचता, वहाँ वह ऊखलपर, पीढ़ापर, किसी ग्वाल-बालको बैठा देता है और उसके कन्धोंपर चढ़कर 'अन्तर्निहितवयुनः शिक्यभाण्डेषु'—किस बर्तनमें क्या रखा है, इसको देख लेता है। उसको मटकोंकी पहचान है और उनमें किस-किस तरहसे कहाँ-कहाँ छेद किया जा सकता है, इसकी जानकारी है। यह ऊपर रखे बर्तनोंमें नुकीले डंडेसे हल्का-सा छेद कर देता है और जब दूध गिरने लगता है, तब साथी ग्वाल-बालोंके साथ नीचे हाथ लगाकर पीने लगता है।

मैय्याने कहा कि बर्तनोंको अँधेरेमें रख दिया करो, उसे अँधेरेमें डर लगता है। गोपियोंने कहा कि क्या कहती हो मैय्या, उसका तो अंग ही प्रदीप है। जिस घरमें घुसता है, वहाँ हीरेकी तरह चमक जाता है—'स्वाङ्गमर्थ-प्रदीपम्' (३०)।

'एवं धाष्टर्यान्युशति कुरुते मेहनादीनि वास्तौ' (३१)—यशोदाजी, तुम अपने लालाको भोला-भाला मत समझो, वह हम लोगोंसे बड़ी धृष्टताके वचन बोलता है।

यहाँ उशति क्रिया-पद है अथवा यशोदाके लिए सम्बोधन है अथवा 'वास्तौ'का विशेषण है। 'मेहनादीनि कुरुते'का अर्थ है कि यह हमारे घरोंमें हग-मूत देता है।

कई लोग कहते हैं कि 'मलमूत्रादिरहिता पुण्यश्लोका:'—यह पुण्यश्लोक तो मल-मूत्रादि रहित हैं, इनमें 'मेहनादि' कहाँसे आया ? भला ये कैसे गोपियोंके घरमें जाकर हगेंगे-मूतेंगे ?

ऐसे लोगोंसे यही कहा जा सकता है कि जरा भगवान्की लीलाका ध्यान तो करो ! कितनी अद्भुत, कितनी विचित्र लीला है यह ! यदि भगवान्के मल-मूत्र न हो तो यशोदा मैया क्या समझेंगी ? वे तो वैद्य बुलाकर कहेंगी कि दवा करो ! भगवान् जब बालक बने हैं तो जैसे बालकत्व दिखाते हैं, वैसे ही मल-मूत्रादि भी दिखाते हैं। यदि अर्थ ही बदलना हो तो ऐसा कर सकते हो कि 'मेहनादीनि वास्तौ, नादीनि धाष्टर्यान्युशति'—अर्थात् तुम्हारे लाला हमारे घरमें आकर 'नादीनि-नादवन्ति' चिल्ला-चिल्लाकर ढिठाईके काम करते हैं, गाली देते हैं। 'स्तेयोपायैर्विरचितकृतिः सुप्रतीको यथाऽऽस्ते' (३१)—यशोदाजी, तुम्हारे लाला चोरी तो करते हो हैं, उसके लिए बड़े-बड़े उपाय भी रचते हैं।

एक दिनकी बात है। गाँवमें नयी बहू आयी। बोली कि मैं पकड़कर छोड़ूँगी। उसने लालाको घरमें घेर भी लिया अब तो लाला हाथ जोड़कर कहें कि अरी भाभी, तू मेरी मैयाको मत कह, वह मुझे मारेगी। बहू बोली कि नहीं-नहीं लाला, आज तो मैं पकड़वाकर छोड़ूँगी।

यह कहकर वह घरमें लालाको बन्द करके और बाहरसे सिकड़ी लगाकर यशोदा मैयाको बुलाने चली गयी। यशोदा मैया आयी, उन्होंने सिकड़ी खोली तो देखती क्या है कि लालाकी जगहपर उस बहूका पति बैठा है। बहू कहे कि देखो यह तुम्हारा लाला है; मैया कहे कि अरी अन्धी है क्या बहू ? तू अपने पतिको भी नहीं पहचानती ? अब तो बहूका सिर शर्मसे झुक गया और सोचने लगी कि कैसे जादूगरसे पाला पड़ा है।

एक बार एक ग्वालिन लालाका हाथ पकड़कर बोली कि चलो मैयाके पास ! लाला बोले कि सखि, चली चल, चली चल। रास्तेमें मिल गयी एक गोपी। लालाने इशारेसे उसको पास बुलाया और इशारेसे ही यह समझकर कि उनका हाथ दुःख रहा है, उस गोपीका हाथ आगे चलनेवाली गोपीके हाथमें थमा दिया। आगे-आगे चलनेवाली गोपीको यह पता नहीं चल सका कि उसने लालाका हाथ छोड़कर दूसरी गोपीका हाथ पकड़ लिया है। वह पहुँची यशोदा मैयाके पास और कहा कि तेरे बेटेको पकड़कर लायी हूँ, यह चोर है !

मैयाने देखा तो लालाकी जगह एक लाली दिखायी पड़ी। मैयाके यह पूछनेपर कि तू कौन है बेटी, उसने बताया कि मैं गोविन्द गोपकी बेटी हूँ। इसके साथ कैसे आयी है ? उसने बताया कि मैं गोबर पाथ रही थी, वहींसे यह मुझे पकड़कर लायो है। अब तो लालाको पकड़कर लानेवाली गोपीके होश गुम हो गये और उसे उल्टे उलाहना सुननेको मिला !

एक दिन कोई गोपी लालाको पकड़कर रस्सीसे बाँधने लगी। लालाने कहा कि तुझे बाँधना तो आता नहीं, कैसे बाँधेगी? वह बोली कि लाला, तुमको आता है तो सिखा दो। लालाने कहा कि अच्छा सीख! उन्होंने रस्सीको खम्भेमें लगाया और फिर उसके हाथ बाँधने लगे। बाँधते जाँय और कहते जाँय कि देख सखि, यह एक गाँठ हुई, यह दो गाँठ हुई, यह तीन गाँठ हुई। गोपी बोली कि छोड़ दो, मैं सीख गयी, अब मैं तुमको बाँधूगी। लालाने कहा कि अरी मेरी नादान सखि, तू इतना भी नहीं जानती कि मैं जिसको बाँधता हूँ, उसको छोड़ता ही नहीं हूँ। मुझको बाँधना तो आता है, पर छोड़ना नहीं आता। अब तो वह गोपी दुःखी होती रह गयी और लाला अगूँठा दिखाकर ली-ली करते हुए वहाँसे चलते बने!

गोपियोंने इस तरहकी बहुत-सी घटनाओंकी चर्चा करते हुए कहा कि यशोदाजी, तुम्हारे ये लाला बाहर तो ऐसी-ऐसी करतूतें करते हैं, किन्तु तुम्हारे पास ऐसे खड़े हैं, मानो मूर्तिमती साधुता हों—

स्तेयोपायैर्विरचितकृतिः सुप्रतीको यथाऽऽस्ते। ३१

गोपियाँ यह सब कहती जातीं और यशोदाजीकी आँख बचाकर लालाके भयभीत मुखारविन्दको देखती भी जातीं। किन्तु नन्दरानी यशोदाजीसे गोपियोंका मनोभाव छिपा नहीं रहता, वे उसे ताड़ लेतीं और लालाको उलाहना देना तो दूर रहा, उनके हृदयमें वात्सल्यकी बाढ़ उमड़ पड़ती।

देखो, ध्यानकी यह कितनी सुन्दर झाँकी है। एक ओर यशोदा मैया बैठी हैं, दूसरी ओर गोपियाँ आकर उलाहना दे रही हैं और तीसरी ओर भगवान् श्रीकृष्ण मैयाको आड़में खड़े होकर कुछ सहमे हुए-से यह सब देख-सुन रहे हैं। गोपियाँ एक बार मैयाकी ओर देखती हैं और दूसरी बार श्रीकृष्णकी ओर देखती हैं।

इत्थं स्त्रीभिः सभयनयनश्रीमुखालोकिनीभिः। ३१

वास्तवमें गोपियाँ तो सभयनयन श्यामसुन्दरके श्रीमुखका दर्शन कर रही हैं। उनका प्रयोजन बस इतना ही है कि उन्हें श्रीकृष्णके श्रीमुखका दर्शन हो। उनका मैयासे उलझना तो उनके स्त्री-स्वभावका परिचायक है। उनके मनमें होता है कुछ, दिखाती हैं कुछ और देखती हैं कुछ। वे श्रीकृष्णको देखनेके लिए ही उनके ऊपर चोरीका इल्जाम लगाती हुई जाती हैं। उनके मनमें यह है कि अपना प्यारा है, उसको किसी-न-किसी बहाने चलकर देख आवें।

मैया भी गोपियोंका अभिप्राय समझ जाती हैं और 'व्याख्यातार्था प्रहसित-मुखी'—हँसकर कहतीं हैं कि अरी गोपियो! तुम लोग मेरी ओर देखकर बात करो। हमारे लालाकी ओर छिप-

छिपकर क्या देख रही हो ? वहाँ क्या छिपा है ? यदि हमारे लालाने तुम्हारे घरका माखन खाया है तो इसमें उलाहनेकी कोई बात नहीं, यह तो बहुत बढ़िया बात है। इसने खाया है तो खाने दो, यह हमारे घरमें तो इस तरह नहीं खाता है। गोपियाँ भी मनसे यही चाहती थीं। इसलिए यशोदा मैयाने इतना सब सुननेके बाद भी अपने लालाको डाँटा-डपटा नहीं।

इस प्रकार यशोदा माता कभी डाँटनेका प्रसंग होनेपर भी नहीं डाँटतीं और कभी बिना प्रसंगके ही डाँटती हैं। प्रेमका स्वभाव ही ऐसा है—'अहेरिव गतिः प्रेम्णः स्वभावकुटिला भवेत्'— प्रेम सर्पके समान गतिवाला है, जो कुटिल गतिसे टेढ़ी-मेढ़ी चालसे चलता है। वास्तवमें प्रेम-धर्म बड़ा निराला है।

एक दिन ग्वालबालोंने यशोदा मैयासे शिकायत की कि आज तुम्हारे लालाने माटी खायी है—'कृष्णो मृदं भक्षितवानिति मात्रे न्यवेदयन्' (३२)—उन भोले-भाले ग्वालबालोंको यह नहीं मालूम कि पृथिवीने जब गायका रूप धारण करके पुकारा, बुलाया, तब श्रीकृष्ण पृथिवीके घर आये हैं। इसीलिए वे माटीमें नहाते हैं, माटीमें दौड़ते हैं। जब मिट्टीके घरमें आये हैं तो जो मिट्टीका रूप है, उसको नहीं खायेंगे तो कैसे बनेगा ? जिसके घरमें आना पड़े, उसके घरकी वस्तु खानी ही चाहिए। इसलिए यदि श्रीकृष्णने मिट्टी खा ली तो क्या हो गया !

इस प्रसंगपर श्री हरिसूरिने अपने भक्तिरसायन नामक ग्रन्थमें कई उत्प्रेक्षाएँ की हैं। वे कहते हैं—भगवान्‌ने मृत्तिका इसलिए खायी कि उनके पेटमें जो बहुत-से लोक हैं, वे चाह रहे थे कि हम लोगोंको व्रजकी मिट्टी मिले। इसलिए भगवान्‌ने व्रजकी मिट्टी खाकर उनतक पहुँचा दी। उन्होंने मिट्टीको इस उद्देश्यसे भी मुँहमें लगा लिया कि हमारा मुख ब्राह्मण है, जरा रजोयुक्त हो जायेगा तो असुरोंका संहार करनेमें सुविधा होगी। भगवान्‌ने पृथिवीसे कहा कि तेरा बहुत अनिष्ट हो रहा है। इसलिए तेरा थोड़ा-सा अंश द्विजोंको—दाँतोंको अथवा अपने मुखारविन्द ब्राह्मणको दान कर देता हूँ—'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्' (ऋग्० १०.९०.१२)—इससे तेरा कल्याण हो जायेगा। भगवान्‌ने यह भी सोचा कि मुझे ग्वालबालोंके साथ खेलना है, किन्तु ये बड़े ढीठ हैं, इसलिए क्षमा धारण करके खेलना चाहिए और उन्होंने क्षमारूप पृथिवीका अंश धारण कर लिया। भगवान् बोले कि मैंने रसोपभुक्ति तो बहुत की, परन्तु पृथिवी तो साक्षात् रसरूपा है, रसा है, इसलिए इसका रस लेना चाहिए।

जब मैयाने मिट्टी खानेकी बात सुनी तो उन्होंने श्रीकृष्णका हाथ पकड़ लिया और फटकारा—'सा गृहीत्वा करे कृष्णमुपालभ्य हितैषिणी' (३२)। जिसके मनमें हित हो, उसको पकड़ने और फटकारनेका भी अधिकार है।

अब तो श्रीकृष्ण डर गये। 'भयसम्भ्रान्तप्रेक्षणाक्षम्' (३३)—'भय-सम्भ्रान्तप्रेक्षणि अक्षणी यस्य'—उनकी आँख भय-सम्भ्रान्त होकर घूमने लगी।

यहाँ देखो, श्रीकृष्ण साक्षी हैं, ब्रह्म हैं, मिट्टी खाकर भी कह सकते हैं कि मैंने नहीं खायी है। श्रुतियाँ भी इनके पक्षमें हैं। कहती हैं—'अनश्नन् अन्यो अभिचाकशीति' (ऋग्० १.१६४.२०) 'न तदश्नाति किञ्चन'। (बृहदा० ३.८.८)—इन वचनोंसे वे गवाही दे देंगी कि हाँ-हाँ, ये तो खाते नहीं हैं।

लेकिन श्रीकृष्णने सोचा कि जब मैया हमारी ओर देखेगी तो मैं कैसे झूठ बोलूँगा ? माटी तो मैंने खायी ही है। उनकी आँखोंने सोचा कि सत्यका पक्ष लें या स्वामीका पक्ष लें, इसलिए वे व्याकुल हो रही हैं। इधर मैयाने हाथ पकड़ लिया है और कहती हैं कि तुमने माटी खायी होगी तो इसी हाथसे खायी होगी। वे डाँट रही हैं श्रीकृष्णको।

कस्मान्मृदमदान्तात्मन् भवान् भक्षितवान् रहः। ३४

देखो, हमारे जो वेद हैं, श्रौतसूत्र हैं, कल्पसूत्र हैं, ब्रह्मसूत्र हैं, गृह्यसूत्र हैं, ब्राह्मण-आरण्यक-उपनिषद् हैं, इतिहास-पुराण हैं, उनमें कहीं भी श्रीकृष्णके लिए 'अदान्तात्मन्' सम्बोधन नहीं है। है किसीकी हिम्मत जो श्रीकृष्णको यह कहे कि अरे ओ चटोरे, तेरी जीभ तेरे वशमें नहीं है ! लेकिन वह सामर्थ्य मैयामें है। इसलिए पहले मैया बनो, मैयाका हृदय प्राप्त करो तब तुम्हें यह नामाधिकार मिलेगा।

तो, मैया कहती हैं कि अरे ओ अदान्तात्मन्, हाथ तेरे वशमें नहीं, जीभ तेरे वशमें नहीं, पाँव तेरे वशमें नहीं, तू कैसा चटोरा हो गया है ! फिर आदर-बोधक शब्दोंमें कहती हैं कि 'भवान् भक्षितवान् रहः'। (३४)—आपने आज एकान्तमें मिट्टी खायी है।

देखो, बड़े लोग जब नाराज होते हैं तो छोटोंको आदर-बोधक शब्दोंमें बोलते हैं। बचपनमें जब हम कभी देरसे घर पहुँचते तो हमारे बाबा नाराज होकर पूछते कि कहो महात्मा, कहाँसे आरहे हो ? हमारे एक बड़े भाई तो यह कहते कि कहो हजरत, इतनी देर कहाँ रहे ? इसी तरह यशोदा मैया 'भवान् भक्षितवान् रहः'—कहकर अपनी अप्रसन्नता प्रकट कर रही हैं।

अब श्रीकृष्ण पूछते हैं कि मैंने मिट्टी कहाँ खायी ? मैया बोली कि अकेलेमें खायी। श्रीकृष्णने कहा कि अकेलेमें खायी तो किसने देखा ? मैयाने कहा—ग्वालोंने देखा। इसपर श्रीकृष्ण तर्क करते हैं कि यदि ग्वालोंने देखा तो मैं अकेला नहीं था और अकेलेमें था तो ग्वाले साथ नहीं थे। इसीको 'वदतोव्याघात' कहते हैं। श्रीकृष्णके तर्कसे ग्वालोंकी गवाही असङ्गत सिद्ध हो गयी, जिरहमें कट गयी।

इसके बाद मैयाने कहा कि 'वदन्ति तावका ह्येते'—तेरे दलके ग्वालबाल कह रहे हैं कि तूने मिट्टी खायी है। श्रीकृष्ण बोले कि मैया, ये सब मेरे दुश्मन हैं। न जाने कहाँ-कहाँसे माखन-मिश्री चुराकर लाते हैं, खाते हैं और मेरे मुँहमें भी डालना चाहते हैं। लेकिन मैंने उनको कह रखा है, मेरे मैया-बाबा बड़े धर्मात्मा हैं। उनको कभी दूसरेके बनाये हुए तालाबमें स्नान करना होता है तो पहले उसमें-से दो मुट्ठी माटी निकालकर किनारेपर रख आते हैं। जब मेरे मैया-बाबा दूसरेके धर्मका हिस्सा लेना अथवा दूसरेके घरकी वस्तु लेना अधर्म समझते हैं तब मैं दूसरेके घरकी माखन-मिश्री कैसे खा सकता हूँ? लेकिन ये ग्वाल-बाल ऐसे हैं कि मेरी बात समझते नहीं और जबंदस्ती मेरे मुँहमें डाल देते हैं। ये सब इस समय तुमसे जो कुछ कह रहे हैं, सब झूठ है।

मैयाने कहा कि अच्छा, तेरे ये सब साथी झूठे-तो-झूठे, लेकिन 'अग्रजोऽप्ययम्'। (३४)—तुम्हारा यह बड़ा भाई बलराम भी तो यही बोल रहा है। अब बताओ दाऊ दादाकी बातका क्या जवाब है तुम्हारे पास?

इतनेमें दाऊ दादा पास आकर खड़े हो गये और उन्होंने पूछा कि क्यों कन्हैया, तुमने मिट्टी नहीं खायी? श्रीकृष्ण बोले कि हाँ दाऊ दादा, खायी। मैया बोली—तब क्यों कहता है कि मैंने मिट्टी नहीं खायी। श्रीकृष्ण बोले—मैया, मैं ठीक कहता हूँ कि मैंने मिट्टी नहीं खायी—

नाहं भक्षितवानम्ब सर्वे मिथ्याभिशंसिनः।
यदि सत्यगिरस्तर्हि समक्षं पश्य मे मुखम्॥ ३५

अब यहाँ श्रीकृष्णके दो मुँह हो गये और मैया चक्करमें पड़ गयी कि वह किस बातको ठीक समझे? पण्डित लोग 'णह् बन्धने' धातुसे भी 'नाहम्' बनाते हैं और यह अर्थ करते हैं कि मैंने तो यह सारा बन्धनरूप प्रपञ्च ही खा लिया है। फिर मैया जरा-सी मिट्टीका क्या उलाहना दे रही है। जब श्रीकृष्ण यह बोले कि 'सर्वे मिथ्याभिशंसिनः'—मैया, सब झूठ बोल रहे हैं—तभी दाऊ दादाने आकर कहा कि अच्छा बच्चू, सबको झूठा बताते हो! तनिक मैयाकी गोदसे उतरो और बाहर चलो तब हम तुम्हारी पिटायी करते हैं। श्रीकृष्ण बोले कि नहीं दाऊ दादा, 'सर्वे अमिथ्याभिशंसिनः'—सबके सब सच बोलते हैं। फिर मैयासे बोले कि 'यदि सत्यगिरस्तर्हि समक्षं पश्य मे मुखम्'। (३५)—यदि तुमको मेरी वाणी असङ्गत अथवा परस्परविरोधी मालूम पड़ती है तो मेरा मुँह तुम्हारे सामने है, देख लो—'यदि ऐते सत्यगिरः तर्हि समक्षं मे मुखम् पश्य। अथवा यदि ऐते सत्यगिरः ततः तर्हि सत्यगिरः मे मम समक्षं मुखम् पश्य अथवा हे सति, यदि अगिरः गीर्षु असमामञ्जस्य'।

यहाँ 'सत्यगिरः' 'मे'का भी विशेषण है, 'मम'का भी विशेषण है और 'ऐते'का भी विशेषण

है। मैं सत्यवादी हूँ, मेरा मुँह देख ले और यदि तू इनको सत्यवादी मानती है तो मैं एक बड़ी अच्छी गवाही देता हूँ, वह यह कि मेरा मुँह तुम्हारे सामने है।

ब्राह्मण-ग्रन्थोंमें यह प्रसङ्ग आता है कि यदि दो विवादी पुरुष या विवदमान पुरुष सामने आवें और उनमें-से एक कहे कि मैंने देखा है तथा दूसरा कहे कि मैंने सुना है तो उनमें-से सुननेवालेकी बात प्रामाणिक नहीं माननी चाहिए, देखनेवालेकी बात प्रामाणिक माननी चाहिए (शतपथ १.३.१.२७)। कानकी अपेक्षा आँख अधिक प्रमाण है। जहाँ प्रत्यक्षसे अनुपलब्ध अर्थ होता है, वहाँ वाक्य प्रमाण होता है और जहाँ अर्थ प्रत्यक्षसे उपलब्ध है, वहाँ वाक्य-प्रमाणकी कोई जरूरत नहीं है। नित्य-परोक्ष स्वर्गादिके लिए वाक्य प्रमाण है और नित्य-अपरोक्ष अपनी जो आत्मा है, उसकी ब्रह्मताका ज्ञापन करनेके लिए भी वाक्य प्रमाण है।

इसीलिए श्रीकृष्ण कहते हैं कि मैया, मैंने मुँहसे माटी खायी या नहीं, यह तो तू अपनी आँखसे प्रत्यक्ष देख ले। इसमें वाक्य-प्रमाणकी क्या जरूरत है? इसमें अर्थापत्ति, अनुपलब्धि या अनुमानकी जरूरत नहीं। शब्दकी भी जरूरत नहीं।

ऐसा कहते समय श्रीकृष्णके मनमें यह बात है कि उस दिन जब मैंने अपना मुँह खोला था, जँभाई ली थी तब मैयाने मेरे मुँहमें प्रपञ्च देख लिया था और देखकर आँख बन्द कर ली थीं—'निमील्य मृगशावाक्षी नेत्रे।' इसलिए आज भी मैं कहूँगा कि मेरा मुँह देख लें तो यह अपनी आँख बन्द कर लेगी। फिर तो इसका देखना होगा ही नहीं और मैं बच जाऊँगा। देखो, यहाँ मैयाका प्रेम कितना बड़ा है और ऐश्वर्य कितना छोटा है!

यद्येवं तर्हि व्यादेहीत्युक्तः स भगवान् हरिः।३६

इतना सब सुननेके बाद यशोदा मैयाने सर्वशक्तिमान् भगवान् श्रीहरिसे कहा कि अच्छा, ऐसी बात है तो तू अपना मुंह खोल दे। श्रीकृष्णने अपना मुंह खोल दिया।

भगवान्‌के साथ ऐश्वर्य-शक्ति सदा-सर्वदा बनी रहती है। कभी अलग नहीं होती। उसने सोचा कि यदि हमारे स्वामीके मुँहमें मिट्टी निकल आयी तो उनको यशोदा मैया मारेगी और यदि मिट्टी नहीं निकली तो दाऊ दादा पीटेंगे। इसलिए कोई ऐसा रसान्तर उपस्थित कर देना चाहिए कि यशोदा मैया तथा दाऊ भैया दोनों ही इधर-उधर हो जायँ और मैं बीचमें-से अपने स्वामीको निकाल ले जाऊँ।

भगवान्—'अव्याहतैश्वर्य' हैं, उनका ऐश्वर्य समग्र है, वे लीलाके लिए हतैश्वर्य तो हो जाते हैं, परन्तु व्याहतैश्वर्य नहीं होते! 'क्रीडामनुजबालकः' (३६)—क्रीडायै मनुजः बालकः—

भगवान् खेल-खेलमें मनुज-बालक बने हुए हैं अथवा 'क्रीडामनुजो नन्दः तस्य बालकः'—क्रीडा-मनुज नन्दके बालक हैं।

अब जब श्रीकृष्णने अपना मुंह खोला तो उसमें यशोदा मैयाको सम्पूर्ण विश्व दिखायी पड़ा—'ददृशे विश्वं जगत् स्थास्नु च खं दिशः' (३७)। उसमें चर, अचर, आकाश, दिशा आदि, द्वीप-अब्धि, भूगोल, वायु, अग्नि, इन्दु, तारका, ज्योतिश्चक्र ये सब कहीं तो तन्मात्रके रूपसे और कहीं स्थूल रूपसे दिखायी पड़े। इन्द्रिय, मन, मात्रा, गुण, यहाँतक कि जीव, काल, स्वभाव और कर्माशय भी जो कभी किसीके प्रत्यक्ष नहीं होते, उन सबको मैयाने श्रीकृष्णके मुँहमें देख लिया।

इस समय श्रीकृष्णका मुखारविन्द मैयाके लिए ऐसा सिद्ध हो रहा है, जिसके विज्ञानसे सर्वका विज्ञान हो जाता है—'कस्मिन् उ भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति (मुण्डक उप० १.१.२)। मैयाने देखा कि श्रीकृष्णके शरीरमें पाञ्चभौतिक सृष्टिके अलावा जम्बूद्वीप है, भारतवर्ष है, व्रज है, व्रजमें नन्दबाबाका घर है, नन्दबाबाके घरमें मैं हूँ और श्रीकृष्णका हाथ पकड़कर साँटो लेकर माटी उगलवा रही हूँ—'साँटी लै उगलावति माँटी।'

यह सब देखकर मैया आश्चर्य-चकित हो गयी। उसके मनमें शंका हुई कि असली मैया और असली श्रीकृष्ण जो मुँहमें दिखायी पड़ रहे हैं, वे हैं या असली मैया मैं हूँ और असली कृष्ण यह है। अरे, हमारा लाला कहीं इन दोनोंके बीचमें गड़बड़ा न जाय! यह जो दूसरी मैया दिखायी पड़ रही है, वह हमारे इस लालाको पकड़कर ले न जाय—'अवाप शङ्काम्' (३९)। यह जो मुँहमें दिखायी पड़ रहा है, वह स्वप्न है, देवमाया है, मेरा बुद्धि-मोह है या मेरे बालकका कोई औत्पत्तिक योग है। अन्तमें मैयाने कहा कि अवश्य ही यह ईश्वरको लीला है। मैं इसे प्रणाम करती हूँ। जिसकी मायासे मेरा-मेरा भासता है, मुझे उसीका आश्रय है।

अब श्रीकृष्णने देखा कि मैयाने तो मेरा असली तत्त्व ही पहचान लिया। यह बड़ी विलक्षण बात हो गयी। अब तो मैया मुझे सिंहासनपर बैठाकर चन्दन लगायेगी, धूपका धुआँ देगी और मेरी आरती उतारेगी। न तो अपनी गोदमें बैठायेगी, न दूध पिलायेगी और न मारेगी। जिस उद्देश्यके लिए मैं बालक बना, वह तो पूरा होगा ही नहीं। इसलिए श्रीकृष्णने वैष्णवी मायाका विस्तार किया—'वैष्णवीं व्यतनोन्मायां पुत्रस्नेहमयीं विभुः'। (४३)

यह वैष्णवी माया क्या है? एक माया होती है बन्धनमें डालनेवाली और दूसरी माया होती है मुक्तिमें ले जानेवाली, ईश्वरके पास पहुँचानेवाली। मायाके ये दो विभाग हैं। माया भगवान्‌की अचिन्त्य शक्ति है।

एष ह्येव एनं साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषत,
एष उ एवैनम् असाधु कर्म कारयति तं यम् अधोनिनीषते। (कौषीतकी उप० ३.८)

वही अचिन्त्य शक्ति माया जिसको ऊपर ले जाना चाहती है, उससे अच्छे काम करवाने लगती है और जिसे नीचे ले जाना चाहती है, उससे बुरे काम करवाने लगती है। भगवान् जब जिसको दुनियाके मोहसे, कामसे, क्रोधसे, लोभसे छुड़ाना चाहते हैं तब उसको अपने प्रति मोह दे देते हैं, लोभ दे देते हैं।

एक महापुरुष कहते थे कि भक्ति ऐसी चीज है, जिसको लोग सीधे-साधे नहीं समझते हैं। अरे बाबा, भगवान् तो तुमको पहलेसे ही भक्ति देकर भेजते हैं। यदि तुमसे पूछा जाय कि तुम्हारे हृदयमें धनके प्रति लोभ है कि नहीं ? यदि है तो तुम लोभको मत मिटाओ, रहने दो, वह बहुत अच्छी चीज है। परन्तु लोभ धनसे मत करो, भगवान्‌से करो। इसी तरह तुम्हारे मनमें स्त्री-पुरुषके प्रति काम है कि नहीं ? यदि है तो कामको मत निकालो, उसे भगवान्‌की ओर उन्मुख कर दो। तुम्हारे मनमें किसीके प्रति स्नेह है कि नहीं ? यदि है तो इसको रहने दो, मत निकालो—उसे कुटुम्बसे निकालकर भगवान्‌के प्रति समर्पित कर दो। मतलब यह है कि तुम्हारे मनमें जो भी लोभ, मोह, काम, स्नेह अथवा ललित वृत्ति-प्रियवृत्ति है, उन सबको भगवान्‌के साथ जोड़ दो। बस, इसीका नाम भक्ति है। इसीको वैष्णवी माया बोलते हैं।

वृन्दावनके विद्वान् लोग वैष्णवी मायाके तीनरूप बताते हैं। एक तो है 'विमुख-जन-मोहिनी माया'—जिससे कंसके द्वारपाल तथा मथुराके लोग मोहित हो जाते हैं। दूसरी है 'स्वजन-मोहिनी माया'—जिसके द्वारा भगवान् कभी-कभी गोपियोंको, गोकुलवासियोंको, यहाँतक कि मैयाको भी मोहित कर देते हैं। विमुख-जन मोहिनी मायामें भगवान् दूर हो जाते हैं और स्वजन-मोहिनी मायामें भगवान् मिल जाते हैं। इन दोनोंके अतिरिक्त तीसरी मायाका नाम है—'स्वमोहिनी माया'। यह ऐसी माया है, जिससे भगवान् स्वयं अपने आप ही मोहित हो जाते हैं।

एक बार भगवान् चतुर्भुज बनकर बैठ गये कि राधारानीसे छिपेंगे, किन्तु जब राधारानीने निकुञ्जमें पदार्पण किया तो उनके सौन्दर्य, माधुर्य, औदार्य, सौस्वर्य, सौकुमार्य, सौरूप्य, सौरस्य और सौरभ्यको देखकर इतने मुग्ध हो गये कि उनका चतुर्भुजत्व भूल गया—उनके दो हाथोंके अतिरिक्त जो दो हाथ थे, वे लुप्त हो गये। उनकी चतुर्भुजताका संकल्प समाप्त हो गया और वे सहज द्विभुज हो गये। भगवान्‌की स्वमोहिनी माया ही श्रीराधारानी हैं, यह वैष्णवी माया हैं।

अब तो मायाका साक्षात्कार होनेपर 'सद्योनष्टस्मृतिर्गोपी' (४४)। गोपी अर्थात् यशोदा मैयाको यह भूल गया कि मैंने मुंहमें क्या देखा है।

जरा यहाँ ध्यान दो। अर्जुनने गीता सुनी तो उसको क्या मिला ? यह मिला कि 'नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा' (गीता १८.७३)। उसका मोह नष्ट हो गया और भगवान्‌की स्मृति मिल गयी।

किन्तु इधर यशोदा मैयाको साक्षात् श्रीकृष्णकी प्राप्तिके बाद क्या मिला ? यह मिला कि 'सद्योनष्टस्मृतिः'—तत्काल स्मृति नष्ट हो गयी ।

असलमें जहाँ साक्षात् अपरोक्ष अनुभव होता है, वहाँ स्मृति नहीं होती। स्मृति तो परोक्षकी होती है, अतीतकी होती है, दूरकी होती है, प्रकृष्टकी होती है। जहाँ स्मृति होती है, वहाँ साक्षात् अपरोक्ष अनुभव नहीं होता। एक हृदयमें एक कालमें युगपत् स्मृति और अनुभव दोनों नहीं होते। जहाँ भगवान्‌का साक्षात् अपरोक्ष अनुभव हो रहा है, वहाँ स्मृति बावरीकी क्या जरूरत है ? इसीलिए साक्षात् अपरोक्ष आत्मत्वेन जिनको परमात्माका साक्षात्कार हो जाता है, वहाँ तो बस अनुभव-ही-अनुभव है। वहाँ तो स्मृतिकी भी जरूरत नहीं है। इसीलिए वर्णन करते हैं कि—

तीर्थे श्वपचगृहे वा नष्टस्मृतिरपि परित्यजन् ।
ज्ञान-समकाल-मुक्तः कैवल्यं याति हतशोकः ॥ परमार्थसार ८१

तात्पर्य यह कि जब गोदमें श्रीकृष्ण हों तब स्मृति रहे या न रहे—इसकी चिन्ता नहीं।

अब यशोदा मैयाने श्रीकृष्णको गोदमें उठा लिया और उनका स्नेह इतना बढ़ा कि वे पहलेकी तरह हो गयीं। उपनिषद्, सांख्य, योग, पाञ्चरात्र आदि जिनकी महिमाका स्पर्श नहीं कर सकते—थोड़ी दूरपर रहकर हाथ जोड़-जोड़कर जिनकी महिमाका गान करते हैं और कहते हैं कि हम पूरा-पूरा नहीं गा सकते, थोड़ा-थोड़ा गाते हैं, क्योंकि नितान्त अविषयता नहीं है, किंचित् विषयता तो है ही, अन्यथा सब व्यर्थ हो जायेंगे—उन्हीं श्रीहरिको यशोदा मैया अपने अनन्य अनन्त स्नेहका विषय बनाकर अपना बेटा बनाकर अपनी गोदमें रखती हैं—'उपगीयमानमाहात्म्यं हरिं सामन्यतात्मजम्'। (४५)

अब राजा परीक्षितके मनमें अभिलाषका उदय हो गया। बोले कि महाराज, यशोदा-नन्दने ऐसा क्या महोदय पुण्य किया था; जिससे उनको श्रीकृष्ण पुत्रके रूपमें मिले, उनका स्तन-पान किया और उनकी गोदमें खेले ?

देखो, यहाँ पुण्यात्मा राजा परीक्षितके मनमें यह है कि जो कुछ मिलता है, वह सब पुण्यसे ही मिलता है। कृपाका, अनुग्रहका मार्ग दूसरा है। भगवान्‌की जो लीला देवकी-वसुदेवको नहीं मिली, 'कृष्णो दाराभकेहितम्' (४७)—जो अर्भकेहित बाल-चरित देवकी-वसुदेवको नहीं मिला; वह यशोदा-नन्दको प्राप्त हो गया। इतनी उदार है वह लीला कि लीलाधिपतिका दान कर देती है, नौकर मालिकका दान कर देता है। भगवद्भक्तिका मार्ग ऐसा है कि उसमें सत्य-भामाजी भगवान् श्रीकृष्णका दान कर देती हैं, भक्त भगवान् शङ्करको दे देते हैं। जब भक्तोंकी

इतनी महिमा है तब भगवान्‌की लीलाकी उदारताका वर्णन कौन कर सकता है? यशोदा और नन्दको जो सौभाग्य मिला, जो यश मिला, उसका गान लोग करते हैं।

अब श्रीशुकदेवजी महाराज संक्षेपमें बताते हैं कि एक वसुप्रवर द्रोण थे। वे अपनी पत्नी धराके साथ ब्रह्माजीका आदेश पालन करनेके लिए उद्यत हुए। ब्रह्माजीने पूछा कि तुम्हें क्या चाहिए तो उन्होंने कहा कि हम जब भी जन्म लें, तब भगवान्‌में हमारी परा भक्ति हो। महापुरुष ब्रह्माने उनको तथास्तु कह दिया। असलमें उन्हीं महापुरुषकी कृपासे यशोदा और नन्द बाबाको यह सौभाग्य मिला।

इस कथनकी संगति महात्मा लोग ऐसे लगाते हैं कि एक तो नित्य-यशोदा और नित्य-नन्द गोलोकमें रहते हैं। जब किसी महापुरुषके आशीर्वादसे, आराधनासे या भगवान्‌की कृपासे कोई अन्य यशोदा-नन्द बन जाते हैं तब वे नित्यसिद्ध नन्द-यशोदाके साथ तादात्म्यापन्न होकर उसी सुखका उपभोग करते हैं। जैसे भगवान्‌से सायुज्य होता है, वैसे ही भक्तोंसे भी सायुज्य होता है। भक्तोंके प्रति जो सायुज्य है, उससे इस सुखका आस्वादन होता है। इसीसे यशोदा-नन्दको पुत्र रूपमें जनार्दनकी प्राप्ति हुई—'पुत्रीभूते जनार्दने'। (५१)

जनार्दन शब्दका यह अर्थ नहीं है कि जो अपने भक्त-जनको मारे, वह जनार्दन। वैसे तो भगवान् अपने भक्तोंको कभी-कभी मारते भी हैं, चपत भी लगाते हैं। यह नहीं समझना कि केवल हाथ ही जोड़ते हैं और कहते हैं कि 'भक्तराज नमस्तुभ्य'। परन्तु भगवान्‌का मारना या चपत लगाना बड़े प्रेमकी बात होती है। जिससे भगवान्‌की बड़ी ममता होती है, बड़ा प्रेम होता है, उसीको उनका चाँटा खाना पड़ता है। अतः इस अर्थमें भी जनार्दन कहनेमें कोई हर्ज नहीं है।

परन्तु जनार्दनका अर्थ दुष्ट पदका अध्याहार करके 'दुष्ट-जनान् अर्दयति यः' अर्थात् दुष्ट जनका अर्दन करनेवाला ही नहीं समझना चाहिए। जनार्दनका अर्थ 'जनयति जगत् इति जना माया, ताम् अर्दयति इति जनार्दनः' भी होता है। तात्पर्य यह है कि जो जन्म-मरणके चक्करमें डालनेवाली जनाका अर्दन करे, उसका नाम भी जनार्दन है।

एक अर्थ यह भी है कि 'जनैः अर्दयते याच्यते इति जनार्दनः'—जन लोग जिसका याचन करें, वह जनार्दन है।



अब एक दूसरा प्रसंग उपस्थित होता है। राजा परीक्षित यशोदा मैया द्वारा श्रीकृष्णसे माटी उगलवानेकी लीलाका श्रवण करके श्रीकृष्णके भक्त-वात्सल्यपर मुग्ध हो गये। उनकी मुग्धतापर प्रसन्न होकर शुकदेवजीने कहा कि अभी तुमने क्या देखा। भगवान् तो इतने भक्त-वत्सल हैं कि मैयाके चाँटे भी खाते हैं और उसके हाथसे रस्सीके द्वारा ऊखलमें बँध भी जाते हैं।

राजा परीक्षितको दूसरा आश्चर्य यह हुआ कि भगवान् ब्रह्माजीके कहनेपर बेटा बन गये। इसपर श्रीशुकदेवजीने कहा कि राजन्, भगवान्के लिए यह भी कोई बड़ी बात नहीं है। उन्होंने ब्रह्माजीके आदेशका तो पालन किया ही, इस कथनको भी सत्य सिद्ध किया कि जन्म लेकर दुष्टोंसे मिलो। उनके पास न तो अपना कोई काम है और न अपनी कोई कामना है। फिर भी वे भक्तोंके लिए व्यस्त रहते हैं।

संस्कृतमें एक विज् धातु है, जिससे विघ्न आदि शब्द बनते हैं। उद्विग्न भी उसीसे बनता है—इसमें उद् उपसर्ग है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि भगवान् अपने काममें व्यस्त नहीं रहते, भक्तोंके काममें व्यस्त रहते हैं। किसीने यह कह दिया कि इनके घरमें नाचो तो नाचने लगे। किसीने कह दिया कि उनके घरमें गाओ तो गाने लगे। इसी प्रकार बन्धनमें बँधने, ब्याह आदि करनेकी जो लीलाएँ हैं, उनके पीछे भी किसी-न-किसीकी प्रेरणा है। भक्तोंकी आज्ञाका पालन करनेमें ही भगवान्को दिन-रात लगे रहना पड़ता है।

एकदा गृहदासीषु यशोदा नन्दगेहिनी।
कर्मान्तरनियुक्तासु निर्ममन्थ स्वयं दधि॥
यानि यानीह गीतानि तद्बालचरितानि च। १

श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि एकदा अर्थात् एक दिनकी बात है। यशोदाने घरकी दासियोंको दूसरे काममें लगा दिया 'कर्मान्तरनियुक्तासु'का अर्थ है कि दासियाँ अपने आप दूसरे काममें नहीं लगीं, यशोदाकी आज्ञासे लगीं।

यहाँ 'एकदा' शब्दको यशोदाका विशेषण बनाकर उसके अर्थकी महिमा देखो। 'एकं परमात्मानं ददाति इति एकदा'—आपको परमात्माकी आवश्यकता हो तो यशोदा मैयासे माँगो। वह अपने बेटेको तुम्हारी गोदमें दे सकती हैं। यशोदाका अर्थ ही है कि वे 'यशांसि ददाति'—भगवान्को यश देती हैं। भगवान् भक्त-पराधीन हैं। यह यश भगवान्का यशोदा मैयाके द्वारा ही प्राप्त होता है। वे नन्दगेहिनी हैं अर्थात् आनन्द-गेहिनी हैं।

तो, वह कार्तिकका महीना था। कार्तिकको दामोदर मास भी कहते हैं। इन्द्रकी पूजा होनेवाली थी। मैयाने दासियोंसे कहा कि तुम लोग इन्द्र-पूजाकी तैयारी करो और मैं लालाके लिए काम करती हूँ। वे 'स्वयं दधि निर्ममन्थ'—दही मथने लग गयीं।

यहाँ 'स्वयं' शब्दका स्वारस्य देखो। मैया स्वयं दही मथनेवाली नहीं हैं। किन्तु उन्हें अपने लालाके लिए अपने हाथसे दही मथे बिना सन्तोष नहीं होता।

यहाँ मैयाकी तीन विशेष बातें दिखायी गयी हैं—एक तो वे श्रीकृष्णके लिए दधि-मन्थन कर रही हैं, दूसरे उनके बाल-चरित्रका स्मरण कर रही हैं और तीसरे उनकी लीलाओंका गान कर रही हैं। इस प्रकार उनके शरीरसे कर्म, हृदयसे स्मरण और वाणीसे गान कर रही हैं। उनको अपने शृङ्गारका किंचित् भी ख्याल नहीं है—'कबरविगलन् मालती' (३)। उन्हें अपने पसीनेका, श्रमका भी विचार नहीं है—'स्विन्नं वक्त्रम्' (३)। मैयाकी छातीका दूध तो कहता है कि मैं श्रीकृष्णके पास जल्दी पहुँचूँगा और उनके द्वारा मथा हुआ माखन कहता है कि मैं श्रीकृष्णके पास जल्दी पहुँचूँगा। यह देखकर श्रीकृष्ण 'तां स्तन्यकाम आसाद्य मनन्तीम्' (४)—स्वयं मैयाके पास आये।

देखो, यही वैष्णवी माया है। आजतक आपने यह नहीं सुना होगा कि इस सृष्टिमें ब्रह्म—निर्गुण ब्रह्म—कभी किसीके पास गया हो। वहाँ तो 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः'—(मुण्डक. ३.२.४)—आत्म-बलसे, ज्ञान-बलसे आवरण-भङ्ग करना पड़ता है। आवरण-भङ्ग ब्रह्म नहीं करता, स्वयं जिज्ञासु महावाक्यार्थके द्वारा, अखण्डार्थके द्वारा आवरणका भङ्ग करता है। परन्तु सगुण ब्रह्मकी यह विशेषता है कि वह स्वयं भक्तके पास जाता है। उसकी कमरमें गुण लग गया है। यह तो आपने सुना ही होगा कि भगवान् जीवोंको ऐसे नचाते हैं, जैसे मदारी बानरको नचाता है—

नट मरकट इव सबहि नचावत राम खगेस वेद अस गावत।

जीवने कहा कि भगवन्, तुम अन्याय करते हो। हम दोनों सखा हैं। हमको तो तुम नचाते हो और तुम कभी नहीं नाचते। भगवान् बोले कि बाबा, तुम भी नचाओ। जीवने पूछा कि कैसे नचावें? कोई रस्सी-वस्सी तो तुम्हारी कमरमें है ही नहीं। भगवान् बोले कि लो हम सगुण हो जाते हैं, बाँध लो रस्सी। जो-जो ईश्वर जीवके साथ कर सकता है, वह सब जीव भी ईश्वरके साथ कर सकता है—'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते' (ऋग्० १.१६४.२०)। इसीलिए भगवान् सगुण होते हैं।

भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं स्तन्य-काम होकर यशोदा मैयाके पास आये। भक्त ऐसे होते हैं, जो भगवान्के हृदयमें काम उत्पन्न कर देते हैं।

उस समय भगवान् सो रहे थे, रातको मैयाने बड़े प्रेमसे सुलाया था। जब वे सोने लगे तब गोपियाँ भी उनके पास बैठी हुई थीं। जब यशोदा मैया चली गयीं तब गोपियाँ आपसमें मीठी-मीठी बात करने लगीं—यह लाला ऐसा है, इसकी आँख ऐसी है, इसके होंठ ऐसे हैं, इसकी भौहें ऐसी हैं। इस प्रकार गोपियोंकी बातें सुनकर श्रीकृष्णके शरीरमें रोमाञ्च हो आया, उनके चेहरेपर मुस्कान आगयी और उनकी नींद टूट गयी।

स्तोक-स्तोकनिरुध्यमाननयनप्रस्यन्दि-मन्दस्मितं
प्रेमोद्भेदनिरर्गलप्रसृमर-प्रव्यक्तरोमोद्‌गमम् ।
श्रोतुं श्रोत्रमनोहरं व्रजवधूलीलामिथोजल्पितं
मिथ्यास्वापमुपास्महे भगवतः क्रीडानिमीलद्दृशः ॥

श्रीकृष्णको मुस्कान रोके नहीं रुकती, रोमाञ्च रोके नहीं रुकता, फिर भी वे आँख बन्द करके लेटे हुए हैं। जब गोपियाँ चली गयीं तब उनको किसी तरह नींद आयी।

प्रातःकाल मैयाने सोचा कि पहले दही मथ लें, माखन निकाल लें तब लालाको जगावें। इतनेमें वे अपने आप जग गये। क्योंकि भक्त उठकर परिश्रम करे—'मथ्नन्ती जननी' और भगवान् आलस्यमें सोता रहे—यह सम्भव नहीं हो सकता। इसलिए श्रीकृष्ण उठे, उठकर अँगड़ाई ली। पलङ्गपर इधर-उधर लोट-पोट किया और उसके बाद आँख मलने लगे। मैयाने रातमें जो काजल लगाया था, वह कपोलपर आगया। उठनेके बाद मैया रोज आकर मुँह धुलाती थी, पर आज नहीं दिख रही है। श्रीकृष्णने मैया-मैया करके दाहिने-बायें देखा और दोनों पाँव लटकाकर पलङ्गपर बैठ गये। फिर पुकारा कि मैया, तू कहाँ है?

अब पलंगसे उतरकर श्रीकृष्ण स्वयं मैयाके पास पहुँच गये। मैया दधि-मन्थनमें तल्लीन थी। 'आसाद्य मथ्नन्तीं जननीं हरिः' (४)—यहाँ दर्शन करो भगवान्‌का। वे हरि हैं। लोगोंके मनका हरण करनेके लिए उन्होंने मैयाके पास जाकर कहा कि ऊँ-ऊँ, मैं तो दूध पीऊँगा। लेकिन मैया तो दही मथनेमें इस तरह लगी है कि सुनती ही नहीं।

श्रीकृष्ण मैयाकी गोदमें चढ़नेके लिए विलाप करने लगे। फिर भी मैयाने ध्यान नहीं दिया और अपना साधन नहीं छोड़ा। तब श्रीकृष्ण उठे और मानो उठकर बोले कि मैया, साधन तभी करना चाहिए, जबतक मैं न मिलूँ। अब तो तू मथना छोड़ दे। उन्होंने 'गृहीत्वा दधिमन्थानम्' (४)—पकड़ ली दहीकी मथानी और 'न्यषेधत्'—मैयाको दही मथनेसे रोक दिया।

वेदान्ती लोग 'नेति-नेति' कहकर निषेध करते हैं। लेकिन यहाँ श्रीकृष्णने कहा कि मैया, तू निषेध मत कर, मैं ही निषेध करता हूँ। मैं मथानीमें नहीं हूँ। तेरी गोदमें बैठनेके लिए आया हूँ।

यह कहकर श्रीकृष्ण 'प्रीतिमावहन्' (४) अपने-आप मैयाकी गोदमें चढ़ गये। 'स्नेहस्नुतं सस्मितमीक्षती मुखम्' (५)—अब स्नेह-वश मैयाकी छातीका दूध अपने-आप गिरने लगा। मैया अपने लालाके सुस्मित मुखारविन्दको देखने लगी—'ईक्षती'। यहाँ 'ईक्षमाणा' न लिखकर 'ईक्षती' लिख दिया। श्यामसुन्दरको सुख मिले, वे उदास न हों, न निराश हों और हमारी क्रियाका फल श्रीकृष्ण-गामी हो—इस अर्थका बोध करानेके लिए 'ईक्षती मुखम्'का प्रयोग हुआ है। मैया अपने सुखके लिए श्रीकृष्णका मुँह नहीं देखती, श्रीकृष्णके सुखके लिए देखती है—'ईक्षते इति ईक्षती'।

अतृप्तमुत्सृज्य जवेन सा ययावुत्सिच्यमाने पयसि त्वधिश्रिते। ५

देखो, श्रीकृष्णको पहले काम आया। कामके बाद गोदमें आगये और गोदमें आनेके बाद दूध पीने लगे, भोक्ता हो गये और भोक्ता होनेके बाद अतृप्त हो गये।

इसी बीचमें आगपर रखा दूध गरम हो गया। वह दूध बड़ा विलक्षण है। हजार गायोंका दूध सौ गायोंको, सौ गायोंका दूध दस गायोंको और दस गायोंका दूध एक पद्मगन्धा गायको पिलाकर उस पद्मगन्धा गायसे निकाला हुआ दूध है वह। इस प्रकार उस दूधका सम्बन्ध लाखोंसे जुड़ा हुआ है। वह दुर्लभ दूध गरम हो रहा है। मैयाने सोचा कि लाला तो अपना है, छातीका दूध पीछे पी लेगा, यह कहीं जाता थोड़े ही है, लेकिन यदि पद्मगन्धा गायका दूध जल जायेगा तो बड़ी भारी हानि होगी। यह सोचकर मैयाने 'अतृप्तमुत्सृज्य जवेन सा ययौ'—श्रीकृष्णको अतृप्त ही टाल दिया।

अब देखो यहाँ श्रीष्कृणमें लोभ आगया। पहले काम आया था, फिर भोग आया और उसके बाद आगया क्रोध। उधर जलते हुए दूधने विचार किया कि न इनकी प्यास बुझेगी, न मैयाका दूध घटेगा, केवल मैं आगपर जल जाऊँगा। जब वह जलने लगा तब उसका वैष्णव स्वभाव आगे आया। उसने कहा कि पहले दूसरेका दुःख दूर करना चाहिए। अपना सुख तो बादमें भी भोग लिया जायेगा। इसलिए मैया जब उसको आगसे उतारनेके लिए दौड़ी तब दूधका हृदय काँप गया। उसने कहा कि हाय-हाय मैंने मैयाके सुखमें बाधा पहुँचा दी। मुझे धिक्कार है कि मैंने उफनकर पर-रसका भङ्ग किया है। यह कहकर उफनता दूध अपना मुँह नीचे करके छिप गया। परन्तु मैयाने उसको उतार दिया।

इधर श्रीकृष्णको क्रोध आगया। जब काम आया, भोग आया और लोभ आया तब भला क्रोध क्यों वञ्चित रहता!

देखो, इस वर्णनके ब्याजसे जीवोंके अन्दर दोषोंकी परम्परा कैसे आती है—यह दिखाया गया है। भगवान्‌से दोषोंका कोई सम्बन्ध नहीं, फिर भी वे कृपा करके अपने भक्तोंके लिए सब-कुछ धारण करके उनका भला करते हैं।

इसलिए श्रीकृष्णने अपने होठोंको डँस लिया, दबा दिया। 'संदश्य दद्भिः' (६)—वे सोचने लगे मैया मुझे छोड़कर क्यों गयी ? मुझको दुःख क्यों हुआ ? लोभके कारण हुआ। लोभ कहाँ रहता है ? होठोंमें रहता है, अधरोंमें रहता है—'अधरे एव लोभः।' इसलिए इसीको पकड़ो।

भागवतमें इसका कई बार वर्णन है। 'स्फुरितारुणाधरं संदश्य दद्भिः'—दाँत श्वेत हैं, सात्त्विक हैं, सत्त्वगुणी हैं और अधर लाल हैं, रजोगुणी हैं। अतः जब कभी जीवनमें रजोगुण बढ़ जाय तो उसको सात्त्विक गुणके द्वारा दबाना चाहिए।

अब श्रीकृष्णने दधिमन्थ-भाजन फोड़ दिया। उसके बाद उनके पास दम्भ आगया—'मृषाश्रु।' फिर इस दोषके बाद कपट भी आगया। 'जघास हैयङ्गवमन्तरं गतः' (६)—वे एकान्तमें जाकर एक दिन पहलेका निकाला बासी माखन खाने लगे।

यहाँ 'हैयङ्गवीन'के लिए 'हैयङ्गव' शब्द आया है। यह भागवत-व्याकरणके अनुसार है। पाणिनीय व्याकरण सब जगह नहीं लगाना चाहिए। 'हैयङ्गवीनं संज्ञायाम्'—जिसका अर्थ है कलका माने एक दिन पहलेका निकाला हुआ माखन (द्र० अष्टाध्यायी ५.२.२३)।

मैयाने जो उस जलते हुए दूधको उतारा, इसका क्या अर्थ है ? उन्होंने मानो यह कहा कि जो भगवान्का नाम ले, वह तर जाता है और उसको भव-ताप नहीं होता ? किन्तु तुम भगवान्के सामने भगवान्के लिए ताप-तप्त हो रहे हो, यह उचित नहीं है। यह कहकर मैयाने उसको उतार दिया अर्थात् तार दिया।

अब मैयाकी दृष्टि उस भाजनकी ओर गयी, जिसमें वे दधि-मन्थन कर रही थी और जिसको श्रीकृष्णने फोड़ दिया था।

संस्कृतमें उसके लिए 'अमत्रक' शब्द है। उसीको लोक-भाषामें मटका बोलते हैं। दहेंड़ी और कमोरी भी बोलते हैं।

मैयाने सोचा कि मैं थोड़ा दूध बचाने गयी और इतनी ही देरमें यहाँ यह सत्यानाश हो गया !

श्रीकृष्ण मटका फोड़नेके बाद—'उलूखलाङ्घ्रेरुपरि व्यवस्थितम्' (८)—उलटे हुए ऊखलपर बैठ गये। उन्होंने सोचा कि यदि बच्चेको मैया अपनी गोदमें नहीं रखेगी तो वह कहाँ जायेगा ? 'खलाङ्घ्रेरुपरि व्यवस्थितम्'—वह खलके पास जाकर उसकी संगति करेगा।

अब तो मैयाने छड़ी उठाकर कहा कि सब-कुछ सह सकती हूँ, परन्तु 'खलसंगतिर्न सह्या'—खल संगति सहन नहीं कर सकती। इतनेमें श्रीकृष्ण ऊखलपर खड़े होकर 'मर्काय कामं ददतं शिचि स्थितम्' (८)—बन्दरोंको माखन बाँट रहे थे। मानो यह बता रहे थे कि कभी गुस्सा आजाय तो दान जरूर करना। क्योंकि क्रोधका दोष मिटानेके लिए दान सबसे बड़ा साधन है। 'दानमेव हि जनानां रोषदोषाघमोषकम्'—अर्थात् रोष-दोषरूप अघका मोषक दान ही है।

लेकिन श्रीकृष्ण इधर तो दान कर रहे हैं और उधर उनकी आँखें सशङ्कित हैं—'चौर्यविशङ्कितेक्षणम्' (८)।

भाई मेरे, जरा एक बार भगवान्‌की आँखकी ओर देख लो। फिर समझ पाओगे कि चोरीकी आँखें कैसी होती हैं? मालूम तो पड़ता था कि श्रीकृष्ण सामने देख रहे हैं, परन्तु तिरछी आँखोंसे पीछेका भी सब देखते जा रहे थे। श्रीकृष्णकी ऐसी आँखोंपर दृष्टि डालते ही उनकी ओर आपका मन लग जायेगा।

हमारे नाट्यशास्त्रमें भाव-प्रकाशनके लिए सैकड़ों प्रकारकी नेत्र-भङ्गिमाकी पद्धति लिखी है। ललित नेत्र, छलित नेत्र, वलित नेत्र, याचित नेत्र, दलित नेत्र, आर्त नेत्र, चकित नेत्र, भीत नेत्र, आदि-आदि। पुराने हिन्दी कवियोंने भी श्रीकृष्णके नेत्रोंका बड़ा विचित्र-विचित्र वर्णन किया है। वे आँखसे ही माँग लेते हैं, आँखसे ही दिलका लेना-देना कर लेते हैं। कहते हैं कि पुरुषका निवास तो अक्षिमें ही है।

तो, भगवान्‌के नेत्र चौर्य-विशङ्कित हैं। मैयाने पीछेसे उनकी हरकत देखी और हाथमें छड़ी लेकर दौड़ी—'तामात्तयष्टिम्' (९)।

देखो कितने उदार भगवान् हैं, हमारे भक्त उनकी ओर छड़ी लेकर भी दौड़ पड़ते हैं। भला दूसरा कोई ऐसी हिम्मत कर सकता है?

श्रीकृष्ण यशोदा मैयाको अपनी ओर छड़ी लेकर आती देख ऊखलपरसे कूद पड़े और भाग खड़े हुए।

'तपसा ईरितं मनः प्रवेष्टुं क्षममपि यं नाप (९)—बड़े-बड़े योगियोंका मन तपस्यासे पवित्र होकर भी भगवान्‌के स्वरूपमें प्रवेश करने योग्य होनेपर भी श्रीकृष्णको प्राप्त नहीं कर सकता। परन्तु गोपी उनके पीछे छड़ी लेकर दौड़ती है।

यशोदा मैयाके स्थूल शरीरका वर्णन करते हुए श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि 'वृहच्चलच्छ्रोणीभराक्रान्तगीतः सुमध्यमा' (१०)। उसके नितम्ब बड़े-बड़े हैं, कमर पतली है और उसकी वेणीमें फूल गुँथे हुए हैं। जब मैयाने भागते हुए श्रीकृष्णका पीछा किया तब उसके नितम्बोंने अपने भारसे उसकी गतिमें अवरोध उपस्थित कर दिया। पतली कमरने कहा कि मैया, अधिक दौड़ोगी तो मैं टूट जाऊँगी और चोटीके फूलोंने भी धरतीपर गिर-गिरकर मैयाका साथ छोड़ दिया। यह उत्प्रेक्षा है मैयाके सौन्दर्यपर!

यहाँ दर्शन करो उस अपराधी भगवान्‌का, जो भयके मारे भाग रहा है और मैया हाथमें छड़ी लेकर उसको पकड़नेके लिए उसका पीछा कर रही है। यह एक ऐसी झाँकी है जो वेदों और उपनिषदोंमें ढूँढ़नेपर भी मिलनेवाली नहीं है। भला वेद-उपनिषद्‌का भगवान् कभी रोता है? नहीं रोता। लेकिन वृन्दावनका भगवान् मैयाके डरसे रो रहा है, रोये जा रहा है।

कृतागसं तं प्ररुदन्तमक्षिणी कषन्तमञ्जन्मषिणी स्वपाणिना।
उद्वीक्षमाणं भयविह्वलेक्षणं हस्ते गृहीत्वा भिषयन्त्यवागुरत् ॥ ११

जब मैया दौड़ते-दौड़ते थक गयी और श्रीकृष्ण पकड़में नहीं आये तो कहा जाता है कि मैयाने सतयुग, त्रेता, द्वापरके भक्तोंकी सौगन्ध दिलाना शुरू किया। अन्तमें कलियुगके भक्तोंकी शपथ दिलानेपर श्रीकृष्ण पकड़में आगये। परन्तु क्या मैयाके वात्सल्यके सामने शपथका महत्त्व अधिक है? यहाँ तो वात्सल्यका ही प्रसङ्ग है। इसलिए श्रीकृष्ण मैयाके वात्सल्यसे ही उसकी पकड़में आगये। जैसे मधुर-भावमें रासलीला है, वैसे ही वात्सल्य-भावमें ऊखल-बन्धन है। माँके हाथसे भगवान्‌का बँध जाना बड़ी भारी बात है।

श्रीकृष्ण माँके सामने अपराधी बनकर खड़े हैं, जोर-जोरसे रो रहे हैं, आँखोंको मल रहे हैं, अञ्जन मुँहपर फैल रहा है, ऊपर-नीचे देख रहे हैं और भयसे नेत्र विह्वल हैं।

मैयाने श्रीकृष्णको अपने हाथसे पकड़ा—'हस्ते गृहीत्वा' और 'भिषयन्ति'—डराती हुई कहा कि अरे चञ्चलप्रकृते, बानरबन्धो क्यों तूने आज यह पुराना दूध-घी पिया हुआ मटका फोड़ डाला? यदि तुमको बहुत डर है तो तूने दधि-भाण्ड क्यों फोड़ा?

अब तो श्रीकृष्णने हाथ जोड़ लिये और वे बोले कि मैया, तेरे हाथमें यह जो छड़ी है, इसे गिरा दे, माफ कर। मैं आगे कभी ऐसा नहीं करूँगा।

अब मैयाका हृदय पिघल गया और उसने यह देखकर कि हमारा लाला डर गया है, हाथकी छड़ीको दूर फेंक दिया। क्योंकि 'यावत् जडयुक्तो न तावत् चेतनागमः'—जबतक जीव हाथमें जड़को पकड़े रहेगा, तबतक चेतन कैसे आयेगा? अतः मैयाने जब जड़को फेंक दिया, नेति-नेतिके द्वारा उसका निषेध कर दिया तो श्रीकृष्ण-रूप परब्रह्म परमात्मा उसके हृदयाशयमें वृत्तिरूप हाथमें आगया।

इयेष किल तं बद्धुं दाम्ना तद्वीर्यकोविदा। १२

अब मैया श्रीकृष्णको बाँधना चाहती है, क्योंकि वह उनके ऐश्वर्यसे अपरिचित है—'तद्वीर्यकोविदा'। यह समझती है कि अरे, यह तो वही है, जिससे अभी खाट नहीं उठता, बाबाका खड़ाऊँ नहीं उठता। यह कमजोर है, इसलिए इसको बाँधनेमें कठिनाई नहीं है। मैयाके चित्तमें यह वात्सल्य भी उदय हुआ कि कहीं भाग गया तब क्या होगा? भूखा है, सबेरेसे खाया-पिया नहीं है। मैं भी अपना दूध नहीं पिला सकी हूँ। ऐसी हालतमें भूखा-प्यासा कहीं चला जायेगा तो क्या होगा? इसलिए मैयाने सोचा कि इसको थोड़ी देरके लिए रस्सीसे ऊखलमें बाँध देती हूँ और तबतक ताजी रोटी तथा ताजा मक्खन तैयार कर लेती हूँ। फिर जब इसको खिलाऊँगी तब यह सब उपद्रव भूलकर चुप हो जायेगा।

इधर यशोदा मैया यह सोच रही है और उधर शुकदेवजी महाराज राजा परीक्षितसे यह कह रहे हैं—

न चान्तर्न बहिर्यस्य न पूर्वं नापि चापरम् ।
पूर्वापरं बहिश्चान्तर्जगतो यो जगच्च यः ॥ १३

तं मत्वाऽऽत्मजमव्यक्तं मर्त्यलिङ्गमधोक्षजम् ।
गोपिकोलूखले दाम्ना बबन्ध प्राकृतं यथा ॥ १४

श्रीकृष्णका स्वरूप यह है कि उनके भीतर-बाहर देशका भेद नहीं है, वे देशकी कल्पनासे असंस्पृष्ट हैं। उनमें कालकी, पूर्वापर भावकी अथवा क्रमकी संवित् नहीं होती। अमुक समय जन्म हुआ, अमुक समय जवान हुए और अमुक समय वृद्धावस्था आयी, इस क्रमके द्वारा कालकी संवित् होती है और दैर्घ्य तथा आयामके द्वारा देशकी संवित् होती है। ये दोनों श्रीकृष्णमें नहीं हैं। वे जगत्के पहले थे, जगत्के अन्तमें रहेंगे और जगत्के भीतर-बाहर हैं अर्थात् श्रीकृष्णसे अतिरिक्त यह जगत् नहीं है। उनमें वस्तु-भेद भी नहीं है। वे 'जगच्च यः'—जगत्-स्वरूप हैं अथवा 'जगतां-चयः जगच्चयः यः जगत् यश्च जगच्चयः'—जो जगच्चय हैं, कोटि-कोटि जगत्के राशिभूत-रूप हैं—'तं मत्वाऽऽत्मजमव्यक्तं'—उन श्रीकृष्णको अपना बेटा मानकर यशोदा मैयाने रस्सीके द्वारा ऊखलमें बाँध लिया—'गोपिकोलूखले दाम्ना बबन्ध प्राकृतं यथा'। (१४)

यहाँ जो गोपी शब्दका प्रयोग है, इसपर ध्यान दो। गोपी क्या है? गोपिका है। मथुरामें कंसके पास खबर पहुँच चुकी थी कि गोकुलमें उसको मारनेवाला विष्णु पैदा हो गया है। उसके बाद यह समाचार पहुँचा कि कल यशोदा मैयाने उसको ऊखलमें बाँध दिया था। कंसने कहा कि यदि विष्णु होता तो ऊखलमें कैसे बाँधा जाता?

इसलिए जैसे श्रीकृष्ण छिपकर गोकुलमें रह रहे हैं, वैसे ही यशोदा मैया उनको बाँधकर उनका संकल्प पूरा कर रही हैं। भगवान्के सच्चे प्रेमी ऐसे होते हैं कि यदि भगवान् एक हाथ छिपना चाहते हैं तो वे उनको दो हाथ छिपा देते हैं। श्रीकृष्ण कहते हैं कि मैं मनुष्य हूँ तो मैया कहती है कि यह बछड़ेको तरह साधारण है। विश्वास न हो तो देख लो, मैं इसको रस्सीसे बाँध देती हूँ। मैया श्रीकृष्णके ऐश्वर्यका गोपन करती है, प्रकट नहीं होने देती है, इसीलिए इसका नाम गोपिका है—'गोपनात् गोपिका।'

'गोपिकोलूखले दाम्ना' (१४)—मैयाने श्रीकृष्णको अपने हृदयमें नहीं बाँधा, आत्माके साथ नहीं बाँधा, ऊखलमें बाँधा। इसीलिए कहा गया कि—

यशोदया समा नास्ति देवता चापि भूतले।
उलूखले यया बद्धो मुक्तिदो मुक्तिमिच्छति॥

धरतीमें यशोदाके समान देवता कोई नहीं है, जिसने मुक्ति-दाताको ऊखलमें बाँध दिया है और जिससे मुक्ति कह रही है कि अरी मैया, मुझे मुक्त कर दे, मुक्त कर दे।

कोई-कोई कहते हैं कि मैयाने श्रीकृष्णको बाँध लिया। लेकिन यह कहना गलत है। सही बात यह है कि श्रीकृष्णने स्वयं यशोदा मैया और ऊखल दोनोंको बाँध दिया, वे स्वयं नहीं बँधे। इसलिए मूल श्लोकका अन्वय इस प्रकार होना चाहिए—'गोपिकोलूखले उभे अपि दाम्ना बबन्ध स कृष्णः।' इसका अर्थ है कि यशोदा मैया और ऊखल दोनों जन्म-जन्मके लिए श्रीकृष्णके साथ बँध गये—'तद्दाम बध्यमानस्य'। (१५)

लगता है, यहाँ परीक्षित कुछ नाराज हो गये हैं और सोचने लगे हैं कि यह भी कैसी मैया है, जो हमारे श्रीकृष्णको रस्सीसे ऊखलमें बाँधती है। इसपर मानो शुकदेवजीने कहा कि श्रीकृष्ण मैयाके बेटा हैं या तुम्हारे बेटा हैं। यदि कोई माता 'स्वार्भकस्य'—अपने बेटेको बाँधे तो इसमें तुम्हारा क्या लगता है! उस बेटेने अपराध भी तो किया है।

यशोदा मैया जब श्रीकृष्णको बाँधने लगी तब रस्सी कम हो गयी। यह लीला ऐश्वर्य-शक्तिने दिखायी। एक ओर ऐश्वर्य-शक्ति है तो दूसरी ओर वात्सल्य-शक्ति है। मैया ज्यों-ज्यों रस्सी बढ़ाती जाय, त्यों-त्यों वह दो अंगुल कम होती जाय—'द्व्यङ्गुलोनमभूत्'। (१५) जहाँ नाम और रूप होता है, रजस्तम अर्थात् रजोगुण-तमोगुण होता है, वहीं तो बन्धन होता है। यहाँ तो न नाम-रूप है और न कोई गुण है। फिर बन्धन कहाँसे होगा—'एवं स्वगेह-दामानि यशोदा संदधत्यपि'। (१७)

असलमें कभी यशोदाके मनमें अहं था। वे समझती थीं कि मैं बाँध लूँगी। इसलिए एक अंगुलकी दूरी बढ़ जाती थी। जब यशोदा श्रीकृष्णसे एक अंगुल दूर रहती थी तो श्रीकृष्ण भी उनसे एक अंगुल दूर रह जाते थे। रस्सियाँ अलग-अलग होती थीं, कमरमें लगाते समय अलग-अलग भी कम पड़ती थीं और जोड़ देनेपर भी कम पड़ती थी। श्रीकृष्णकी कमर बढ़ी नहीं, रस्सी घटी नहीं और रस्सियाँ एक-दो-तीन-चार करके जोड़ देनेपर भी श्रीकृष्णको बाँधनेमें समर्थ नहीं हुईं।

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्। गीता ४.११

एक अंगुल यशोदाका अहं और एक अंगुल श्रीकृष्णकी दूरी, दोनोंसे दो अंगुलकी कमी पड़ती गयी। अब यशोदा मैया चक्करमें पड़ गयी। इतनेमें आगयीं गोपियाँ और बोलीं कि अरी मैया, तू इस बातके लिए खुश क्यों नहीं होती कि तुझसे तेरा बेटा बाँधा नहीं जा सका। देखती नहीं कि—'अस्य ललाटे विधात्रा बन्धनं न लिखितम्'—इसके ललाटमें विधाताने बन्धन नहीं लिखा है। कितना भाग्यशाली है तेरा बेटा। गुस्सा छोड़ और खुश हो जा। मैया बोली कि गोपियों,

आज अगर मैं बाँधनेमें विफल हो गयी तो कलसे वह हमारी बात नहीं मानेगा। मैया ऐसा कह तो रही है, लेकिन 'स्मयन्ती विस्मिता भवत्'—(१७) आश्चर्य-चकित है।

श्रीकृष्णने देखा कि मैयाका शरीर ढीला पड़ गया है, श्रृङ्गार बिगड़ गया है और उसे बड़ा परिश्रम करना पड़ रहा है।

अबतक दो बातें थीं—एक तो मैयाको थकावट नहीं हुई थो और दूसरे श्रीकृष्णके हृदयमें कृपाका उदय नहीं हुआ था। 'किं चैष शक्त्यतिशयेन न तेऽनुकम्प्या.'—जबतक अतिशय शक्ति होती है, भगवान् कृपा नहीं करते। जहाँ स्तुति करनेवाला थक जाता है कि अब वाणो काम नहीं देती, मन काम नहीं देता, बुद्धि काम नहीं देती, वहाँ भगवान्की कृपा प्रकट हो जाती है।

अब जब मैया थक गयी, शान्त हो गयी, तब श्रीकृष्णके हृदयमें कृपा आयो। उन्होंने सोचा कि किसी परायेके बन्धनमें बँधनेपर तो कुछ बदनामी भी है, लेकिन अपनोंके बन्धनमें बँधनेपर कोई हर्ज नहीं है। ब्याहमें पत्नीके साथ गाँठ बँधती है तो उसको कोई बुरा नहीं मानता ! मैया कमरमें करधनी पहनाती है तो बुरा नहीं लगता, चोटी बाँध देती है तो बुरा नहीं लगता और पण्डित लोग यज्ञोपवीतकी गाँठ लगा देते हैं तो बुरा नहीं लगता। जब ये सब बन्धन बुरे नहीं होते तब आज जो हमारी प्यारी-प्यारी मैया मुझे बाँधनेके लिए व्याकुल हो रही है—यह कैसे बुरा हो सकता है ! मैयाकी लगायी गाँठ और कहाँ मिलेगी ? ऐसी गाँठपर तो हजारों ग्रन्थि-भेदोंको न्यौछावर किया जा सकता है। ग्रन्थि-भेदमें क्या रखा है। वह ग्रन्थि तो झूठी है।

यह सोचकर श्रीकृष्ण बँधनेके लिए तैयार हो गये—'कृपयाऽऽसीत् स्वबन्धने' (१८) भगवान्को अपने भक्तके हाथसे बँधना बहुत प्यारा लगता है।

श्री वल्लभाचार्यजी महाराज कहते हैं कि भगवान्के अनुग्रहकी हो प्रधानता है, जो वे भक्तोंके हाथ बँध जाते हैं। भक्तोंमें कोई-कोई सात्त्विक होते हैं, कोई-कोई राजस होते हैं और कोई-कोई तामस होते हैं। परन्तु भगवान् इतने अनुग्रह-विग्रह हैं, कृपा-परायण हैं कि वे बिना कोई विचार किये बँध जाते हैं।

श्री चैतन्य महाप्रभु कहते हैं कि भगवान् चाहे कैसे भी हों, भक्त इतने प्रेमी होते हैं कि उनके प्रेमकी अधिकताके सामने भगवान्को झुकना ही पड़ता है।

भगवान्-पक्षपाती श्री वल्लभाचार्यजी महाराज हैं और भक्त-पक्षपाती श्री चैतन्य महाप्रभु हैं। दोनोंने श्रीमद्भागवतपर अपने-अपने दृष्टिकोण प्रस्तुत किये हैं। एकके अनुसार भगवान्का इतना अनुग्रह है कि गाँवकी ग्वालिनोंके साथ नाचते हैं और दूसरेके अनुसार गोपियोंका इतना प्रेम है कि भगवान्को नचाती हैं। विद्वान् लोग अपने-अपने पक्षको लेकर पृथक्-पृथक् दृष्टिकोणसे भगवान्की इस लीलाका वर्णन करते हैं।

जब भगवान् बँध गये तब शुकदेवजी महाराज अपनी टिप्पणी जड़ते हुए कहते हैं कि

परीक्षित, इससे भगवान्‌ने यह दिखाया कि वे अपने भक्तके कितने वशमें हैं। यदि दुनियामें कोई चाहता हो कि भगवान् हमारे वशमें हो जायँ तो उसे भक्ति करनी चाहिए। भक्ति ही भगवद्-वशीकरणका मन्त्र है।

नेमं विरिञ्चो न भवो न श्रीरप्यङ्गसंश्रया।
प्रसादं लेभिरे गोपी यत्तत् प्राप विमुक्तिदात्॥ २०

गोपी अर्थात् यशोदा मैयाने विमुक्ति प्रदान करनेवाले भगवान्‌से 'लेभिरे' माने धान कूटनेवाले ऊखलमें जो अनिर्वचनीय प्रसाद प्राप्त किया, वह किसीको नहीं मिला। उस प्रसादकी प्राप्ति न तो ब्रह्माको हुई—जो पुत्र हैं, न शंकरको हुई—जो आत्मा हैं और न लक्ष्मीको हुई—जो अंग-संश्रया हैं। गोपिकानन्दन भगवान् अपने भक्तोंके लिए ही सुलभ हैं, देहाभिमानियोंके लिए नहीं। यहाँतक कि जो आत्मभूत ज्ञानी हैं, उनको भी गोपिकानन्दन भगवान् मिलनेवाले नहीं हैं। वे तो केवल भक्तोंको ही मिलनेवाले हैं।

जब मैया श्रीकृष्णको बाँधकर किञ्चित् निश्चिन्त हुई तब बोली—अब लालाके लिए रोटी बना लूँ, माखन निकाल लूँ। मैं तो आज सबेरेसे ही गड़बड़में पड़ गयी। इसके बाद जब वह घरके कृत्यमें व्यस्त हो गयी तब क्या हुआ? वही हुआ, जो प्रमाता द्वारा प्रमाण-वृत्तिको लेकर प्रमेयकी ओर अभिमुख होनेपर होता है। तब अपने स्वरूपभूत परमात्माकी दृष्टि भी दूसरी ओर चली गयी। अन्वेषण करनेपर तो परमात्मा अपने-आपमें ही मिलते हैं। यहाँ जो माता है, वह प्रमाता ही है।

भगवान्‌ने सोचा कि जब मैया दूसरी तरफ देखती है, तब हम भी क्यों न दूसरी तरफ देखें। 'अद्राक्षीदर्जुनौ' (२२)—भगवान्‌की दृष्टि वहाँ गयी, जहाँ नन्द बाबाके पूर्व दरवाजेके बाहर अर्जुनके दो वृक्ष लगे हुए हैं। ये कौन हैं? 'पूर्वं गुह्यकौ' (२२)—पहले ये बड़े यक्ष थे और कुबेरजीके पुत्र थे। इनके नाम थे नलकूबर और मणिग्रीव। दोनों बड़े सुन्दर थे। भगवान्‌ने सोचा कि एक अर्जुन तो कुरुक्षेत्रमें मिलनेवाला है और दूसरा अर्जुन मेरा सखा ग्वाला है। ये दोनों भी अर्जुन हैं। फिर मेरे सखाके नामवाले भी जड़-योनिमें रहें, यह मुझे सह्य नहीं है। ये दोनों नारदके शापसे वृक्षत्वको प्राप्त हैं।

यहाँ देखो, वृक्षका अर्थ! जिसको काटा जा सके, उसका नाम वृक्ष होता है। 'ओव्रश्चु छेदने'से यह शब्द बना है। 'ओषध: फलपाकान्ता:—ओषधि तो केवल एक बार फलती है, उसके दाने झड़ जाते हैं और वह खत्म हो जाती है। लेकिन वृक्ष काटनेपर ही कटते हैं।



राजा परीक्षितने श्रीशुकदेवजीसे पूछा कि महाराज, नारदजीने उनको क्यों शाप दिया ? क्या इन्होंने कोई ऐसा निन्दित कर्म किया था, जिससे देवर्षि नारदजीको क्रोध आगया ?

शुकदेवजी महाराज कहते हैं कि राजन्, एक तो ये कुबेर जैसे धनी बापके बेटे थे। 'धन-दात्मजौ' (२)। दूसरे संहारके देवता रुद्रके सेवक थे, अनुचर थे। इसीलिए उनको बड़ा घमण्ड हो गया। वे कैलासमें गये। वहाँ वारुणी मदिरा पीकर मन्दोन्मत्त हो गये और स्त्रियोंके साथ गङ्गाजीमें, जहाँ भगवान्का भजन करना चाहिए, अनेक प्रकारके उपद्रव करने लगे। इसी बीचमें उनके लिए भगवान्की कृपा जगी—'यदृच्छया च'। (५)

यहाँ यदृच्छया शब्दका अर्थ—'केनापि सौभाग्येन'—ऐसा नहीं करते। श्री विश्वनाथ चक्रवर्ती आदि यह अर्थ करते हैं कि भगवान्की अनिर्वचनीय कृपासे। जब भगवान्ने संकल्प किया कि इन जीवोंका उद्धार हो जाय तब देवर्षि नारद वहाँ पहुँच गये और उन्होंने समझ लिया कि ये पागल हैं। देवर्षिको देखकर स्त्रियाँ तो भाग गयीं और उन्होंने वस्त्र धारण कर लिये। पर मदिरामत्त श्री-मदान्ध नलकूबर-मणिग्रीव नंगे ही रहे। इसलिए नारदजीने उनको ऐसा शाप देनेका विचार किया, जिससे उनके अन्दर स्वधर्मका आविर्भाव हो जाय।

'तयोरनुग्रहार्थाय' (७)—'अनुग्रहाय अर्थाय च'—अनुग्रह और अर्थ क्या है ? जिस देवताकी भक्ति हमारे हृदयमें है, उसकी भक्ति तुम्हारे हृदयमें भी हो जाये तथा जो मन्त्र हम जपते हैं, वह तुम भी जपो—इसका नाम तो अनुग्रह है। अर्थायका अर्थ है कि इसको फलकी प्राप्ति अर्थात् श्रीकृष्णकी प्राप्ति हो जाये। ये दोनों संकल्प करके ही देवर्षि नारदजीने शाप देनेका विचार किया और यह भी ध्यानमें रखा कि शाप देते समय कहीं क्रोध न उत्पन्न हो जाय।

इसलिए उन्होंने सोचा कि आओ पहले वीणापर थोड़ा गा लें। क्रोधमें आदमीका मुँह सूखने लगता है। गाया नहीं जाता। गुस्सेवाले आदमीको गवाओ तो बड़ा मजा आयेगा। नारदजीने विचार किया कि हम जरा गाकर देखें कि हृदयमें क्रोध है या अनुग्रह है ? संसारमें बुद्धि भ्रष्ट करनेवाली जितनी रजोगुणी चीजें हैं—जैसे अच्छे वंशमें पैदा होना, ऊँची कुर्सीका मिलना आदि—उनमें सबसे बुरी चीज श्री-मद अर्थात् धनका मद है। जब धनका अभिमान आजाता है तब—'स्त्रीद्यूतमासवः' (८)—धनी लोग अपने घरमें परस्त्री बुला लेते हैं, जुआ भी खेलने लगते हैं और शराब भी पीने लगते हैं। शराब माने सड़ा पानी, एकदम गन्दे पानीका नाम शराब है।

धनाभिमानी लोग पशुओंकी हत्या करते हैं और अपनेको अजर-अमर समझते हैं। यह शरीर चाहे कितना भी श्रेष्ठ हो, अन्तमें तो इसे कीड़ा होना है, विष्ठा होना है, भस्म होना है।

इस विनश्वर शरीरके लिए जो दूसरेको दुःख पहुँचाता है, क्या उसे अपने स्वार्थका पता है—'भूतध्रुक् तत्कृते स्वार्थं किं वेद' ? (१०)

अरे बाबा, यदि तुम भूत-द्रोह करोगे, किसीको सताओगे तो तुम्हें नरककी प्राप्ति होगी। जरा यह तो सोचो कि यह देह किसका है ? जिसने खिलाया है, उसका है ? जिसने गर्भाधान किया है, उसका है ? जिसने जन्म दिया है, उसका है ? जिसने माताको भी पैदा किया है, उस नानाका है ? बलपूर्वक शासन करनेवालेका है ? पैसे देनेवालोंका है ? अपनी लपटोंमें भस्म करनेवाली आगका है ? इसको खानेके लिए जीभ लपलपानेवाले कुत्तोंका है ? यह शरीर तो साधारण वस्तु है, न जाने कहाँसे आया और कहाँ जायेगा ! 'अव्यक्तप्रभवाप्ययम्' (१२)—ऐसा कौन विद्वान् है, जो इस देहको मैं मानकर दूसरेको दुःख पहुँचाये ? यह काम तो दुष्टका है।

इसलिए श्रीमदान्ध असत् पुरुषोंको दरिद्र बना देना उनकी आँखोंमें अञ्जन लगाना है। क्योंकि जब वे दरिद्र हो जायेंगे तब मालूम पड़ेगा कि दरिद्रतामें क्या दुःख है। काँटा गड़नेपर ही मालूम पड़ता है कि उससे क्या तकलीफ होती है। जिसको काँटे नहीं गड़ते, वह काँटेकी व्यथा नहीं जानता। दरिद्रता सब रोगोंकी एक दवा है। दरिद्र व्यक्तिमें अहंकार नहीं होगा, मद नहीं होगा और उसे जो कष्ट मिलेगा, वह उसकी तपस्या हो जायेगी। भूखे-प्यासेकी इन्द्रियाँ शान्त हो जाती हैं और वह दूसरेको सताता भी नहीं है।

दरिद्रस्यैव युज्यन्ते साधवः समदर्शिनः।
सद्भिः क्षिणोति तं तर्षं तत आराद् विशुद्धयति ॥ १७

दरिद्रके लिए एक बहुत बढ़िया बात यह है कि उसके घरमें समदर्शी साधु अपने-आप चले आते हैं। दरिद्रमें न तो धनरूप दोष है और न अभिमान-रूप दोष है, केवल उसके मनमें यह तृष्णा है कि हमको धन मिले। किन्तु तृष्णा—'सद्भिः क्षिणोति तं तर्षं'—सत्संग मिलनेपर शान्त हो जाती है और वह व्यक्ति जल्दी शुद्ध हो जाता है। गरीबको तो केवल तृष्णा-रूप दोषसे मुक्त करना पड़ता है। परन्तु धनीको धन, अभिमान और तृष्णा—इन तीनोंसे अलग करना पड़ता है।

देखो, मैंने श्रीउड़िया बाबाजी महाराजके जीवनमें यह देखा है कि जब उनको किसी गाँवमें-से होकर जाना पड़ता, जिसमें उनके भक्त धनी भी होते और गरीब भी होते तो वे चुपकेसे गरीबके घरमें चले जाते। उसकी रोटी खाते और कहते कि किसीको बताना मत, चुप रहना और वे वहाँसे निकल जाते। लोग कहते कि महाराज, उस धनाढ्य भक्तके घरमें क्यों नहीं चलते ? बाबा बोलते कि वह जब बुलायेगा, ले जायेगा तब चलेंगे। यह बेचारा तो अपने अभावके कारण मुझे बुलानेकी हिम्मत ही नहीं कर पाता है।

इसी तरह महात्मा लोग गरीबके घरमें बिना बुलाये चले जाते हैं। क्योंकि साधुओंके लिए तो भगवान्‌का चरणारविन्द ही सब-कुछ है। उनको धनीसे क्या लेना-देना है ?

साधूनां समचित्तानां मुकुन्दचरणैषिणाम्।
उपेक्ष्यैः किं धनस्तम्भैरसद्भिरसदाश्रयैः॥ १८

धनकी हेकड़ी दिखानेवाले, धनका घमण्ड करनेवाले लोग असत् हैं, दुष्ट हैं। उनके यहाँ आश्रय भी मिलेगा तो लम्पटोंको मिलेगा। इसीपर एक कविने किसी श्रीमन्तसे कहा कि 'न नटा न विटा न गायकाः (वैराग्यशतक २६)'—हम न नट हैं, न विट हैं और न गायक हैं। फिर तुम्हारे घरमें हमें जगह कैसे मिलेगी ? हमारे सरीखे लोग जो अपनी किसो कलासे तुम्हें खुश नहीं कर सकते, तुम्हारे घरमें कैसे आश्रय पा सकेंगे ?

नारदजीने सोचा कि मैं नलकूबर और मणिग्रीवका मद दूर करूँगा। ये देवता-वंशमें उत्पन्न होकर भी 'न विवाससमात्मानं विजानीतः सुदुर्मदौ (२०)'—निरावरण आत्माको नहीं जानते। अरे, इनका देवत्व व्यर्थ है। इनको यह भी पता नहीं कि हमारे ऊपर वेदत्रयीका जो आच्छादन चाहिए; वह नहीं है। इन्होंने वेदत्रयीको छोड़ दिया है, ये नग्न हो गये हैं, दिगम्बर हो गये हैं और नशेमें निश्चिन्त घूम रहे हैं।

नारदजीने मदान्ध नलकूबर और मणिग्रीवको शाप देते हुए कहा कि जाओ पेड़ हो जाओ। 'स्मृतिः स्यान्मत्प्रसादेन (२१)'—वहाँ मेरे प्रसादसे तुम्हें भगवान्‌की स्मृति होगी। 'मदनुग्रहात् वासुदेवस्य सान्निध्यं लब्ध्वा (२१-२२)'—मेरे अनुग्रहसे तुमको भगवान् मिलेंगे, फिर तुमलोग देवता हो जाओगे और तुमको भक्तिकी प्राप्ति होगी।

इसके बाद देवर्षि नारदने विचार किया कि मुझे तो अब अपने गुरुजीके आश्रमकी ओर चलना चाहिए—'नारायणाश्रमम्'। (२३)

एक ही नारायण नारदजीके इष्टदेव और गुरुदेव दोनों हैं। बीचमें बाप ब्रह्मा आये थे, परन्तु उन्होंने कह दिया कि जाओ नारायणके पास।

नारदजीने सोचा कि मैंने नलकूबर-मणिग्रीवको शाप देते समय कह तो दिया कि तुमको भगवान् मिलेंगे। किन्तु यदि कहीं भगवान् न मिले तो क्या होगा ? इसलिए चलो उनको मनायें। यदि मनमें क्रोध आगया होगा तो अपने गुरुदेवके आश्रममें जानेपर शान्ति मिलेगी।

अब नारदजी नारायणाश्रम पहुँचे और इधर नलकूबर-मणिग्रीव यमलार्जुन हो गये। भगवान् अपनी बात भले ही झूठी कर दें, लेकिन अपने भक्तकी बात कभी झूठी नहीं करते। भगवान् जैसा भक्त-वत्सल, भक्त-परतन्त्र, भक्त-भक्तिमान् तो और कोई है ही नहीं। वे स्वयं कहते है कि—'अहं भक्तपराधीनः'। (भाग० ९.४.६३)

अतः नारदजीका वचन सत्य सिद्धि करनेके लिए, भगवान् वहाँ धीरे-धीरे चलकर आये, जहाँ अर्जुन-युगल थे—'जगाम शनकैस्तत्र यत्रास्तां यमलार्जुनौ' (२४)—भगवान् विचार करते हैं कि देवर्षि नारद हमारे बड़े प्यारे हैं और ये दोनों मेरे भक्त धनद कुबेरके पुत्र हैं। इसलिए नारदजीने जैसा कहा है, वैसा ही मैं करूँगा।

'इत्यन्तरेणार्जुनयोः कृष्णस्तु यमयोर्ययौ'। (२६) लोग भगवान्से कहते हैं कि आप हमारे अन्तरमें आओ, हम तुमको अपने अन्तरमें बसाते हैं। लेकिन ये वृक्ष तो भगवान्को अपने अन्तरमें ला नहीं सकते। इसलिए भगवान्ने विचार किया कि चलो मैं ही इनके अन्तरमें चलता हूँ। जब भगवान्ने दोनोंके अन्तरमें, मध्यमें प्रवेश किया तब ऊखल टेढ़ा हो गया। वह तो खल था ही, खलका स्वभाव ही है टेढ़ा होना। परन्तु उसके लिए लाभकी बात यह थी कि वह एक गुणके द्वारा भगवान्के साथ बँध गया था।

यहाँ देखो, केवल भगवान् ही लोगोंका उद्धार नहीं करते, उनकी कमरमें जो रस्सी बँधी है, वह भी उद्धार कर सकती है। अरे रस्सीकी बात छोड़ो, उस रस्सीमें बँधा हुआ यदि खल भी हो, ऊखल भी हो और यदि वह भगवान्के पीछे जा रहा हो तो उसमें भी वृक्ष-सरीखे जड़ और यमलार्जुन-सरीखे दुष्टोंका उद्धार करनेका सामर्थ्य आजाता है।

यहाँ कैमुतिक न्यायसे यह बताते हैं कि जब भगवान्से बँधी रस्सी और उनका अनुगमन करनेवाले ऊखलमें जीवोंका उद्धार करनेका इतना सामर्थ्य है, तब देवर्षि नारद आदिकी उद्धार-सामर्थ्यका वर्णन कौन कर सकता है? जब भगवान्से सम्बन्धित रस्सी और ऊखल जैसी चीजोंसे शराबी, जुआरी, परस्त्री-गामी, अभिमानी और महात्माओंका तिरस्कार करनेवालोंका भी कल्याण हो सकता है तब संसारके मनुष्यो, कान खोलकर सुन लो कि तुम्हें अपने उद्धारके बारेमें कोई शङ्का नहीं करनी चाहिए। तुम्हारे उद्धारका द्वार हर हालतमें खुला हुआ है।

अब जब 'तरसोत्कलिताङ्घ्रिबन्धौ (२७)'—भगवान्की कमरकी रस्सीसे बँधा ऊखल यमलार्जुनके बीचमें आया तब उनका बन्धन हमेशाके लिए कट गया और वे प्रचण्ड शब्द करके धरतीपर गिर पड़े। उनमें-से दो देवता निकले—'कुजयोरिव जातवेदाः (२८)।' उन्होंने श्रीकृष्णको प्रणाम किया और वे निर्मल चित्तसे बद्धाञ्जलि होकर प्रार्थना करने लगे—'कृष्ण-कृष्ण महा-योगिन्'! हे महायोगी कृष्ण-कृष्ण। (२९)

देखो, कृष्ण नाममें इतनी मिठास है कि उसे एकबार बोलो तो वह दो बार निकलता है। यह कृष्णनाम मधुरिमाका वमन करता है। रूपगोस्वामीजी महाराजका भी कथन है कि 'नो जाने जनिता कियद्भिरमृतैः कृष्णेति वर्णद्वयी (विदग्धमाधव १.१२)।' तो उन देवताओंने कहा कि हे कृष्ण, हे कृष्ण, हे महायोगिन्, आप तो नित्य प्राप्त हैं और सम्पूर्ण व्यक्ताव्यक्त आपका ही स्वरूप है। ब्राह्मण लोग इस बातको जानते हैं। सबके देह, आत्मा और इन्द्रियोंके स्वामी आप

हो। आप ही काल हो, विष्णु हो और प्रकृति आदिके स्वरूपमें भी आप ही हो। प्रकृति नाम परमात्माके सिवाय दूसरे किसीका नहीं है।

ब्रह्म-दर्शन, वेदान्त-दर्शनका यह सूत्र है कि प्रकृति भी ब्रह्म ही है, ब्रह्मातिरिक्त नहीं है। 'प्रतिज्ञा-दृष्टान्तानुपुरोधात्'। (ब्र. सू. १.४.२३)—एकके विज्ञानसे सर्वके विज्ञानकी प्रतिज्ञा है। लोहा, सोना, मिट्टीका तो दृष्टान्त है। प्रकृति परमेश्वरसे बिल्कुल अलग नहीं है। 'तदनन्यत्वम् आरम्भण शब्दादिभ्यः' (२.१.१४)—यह प्रपञ्च, यह प्रकृति भी परमात्मासे अनन्य है। इसलिए प्रकृति-प्राकृत सब कुछ परमात्माका स्वरूप है।

हम उस वासुदेव भगवान्‌को नमस्कार करते हैं, जो स्वयं दीया बनकर हृदयमें बैठ गया है और जिसने अन्तःकरण तथा विषयोंको प्रकाशित करके उन्हींसे अपने आपको ढक लिया है। परमात्माने अपने आपसे प्रकाशित विषयोंके द्वारा ही अपनी महिमा ढक ली है। अवतारोंका ज्ञान इसलिए हो जाता है कि उनके समान दूसरे कोई नहीं होते। हम जानते हैं कि आप इस समय अवतीर्ण हो गये हैं। हे परम कल्याण, हे परम मङ्गल, आपको हम नमस्कार करते हैं।

देखो, कल्याण फलात्मक है और मङ्गल साधनात्मक है। भगवान् ही साधन हैं और भगवान् ही फल हैं।

देवता कहते हैं कि प्रभो, अब आप हमें अनुज्ञा कीजिये। किन्तु भगवान् तो कुछ बोलते ही नहीं। वे तो उलटे हुए ऊखलपर पाँव लटकाकर ऐसे बैठ गये हैं, जैसे कोई कुर्सीपर बैठा हो। पीछेकी ओर उनकी कमरमें बँधी रस्सी लटक रही है।

देवताओंने कहा कि प्रभो, इसी रस्सीके अनुग्रहसे हमें आपका दर्शन प्राप्त हुआ, अन्यथा हममें कोई साधन-बल नहीं है। हम यह चाहते हैं कि हमारी वाणी आपके गुणका अनुकथन करे।

'वाणी गुणानुकथने' (३८)—यदि कहो कि पहले गुणानुकथनका ही नाम क्यों लिया ? यह क्यों नहीं कहा कि हमारी आँख आपका दर्शन करे तो इसका उत्तर यह है कि जैसे सगुण भगवान् होते हैं, वैसे ही उनकी कमर और ऊखलमें जो रस्सी है, वह भी उनका गुण ही है। इसलिए देवता कहते हैं कि आपकी इस रस्सीका गुणानुवाद हमारी वाणी गाती रहे। अगर यह एक ओर आपकी कमरमें और दूसरी ओर ऊखलमें न बँधी होती तो हमारा उद्धार कैसे होता ? हमारी परमोद्धारक तो यह रस्सी ही है। इसलिए हम आपका गुण नहीं गाते, आपकी इस रस्सीका गुण गाते हैं।

'श्रवणौ कथायाम्' (३८)—इसका अथ है कि हमारे श्रवण कथामें जायें। 'कथा' शब्द प्रकार-वाची है, वैदिक है। ऋग्वेदमें कथा-रूप प्रयोगको भरमार है। 'केन प्रकारेण इति कथा'—'कथम्'के अर्थमें है। कथा भगवान्‌के स्वभावको बताती है। इसलिए यदि भगवान्‌के स्वभावको, गुणको, तत्त्वको, रहस्यको समझना हो तो उनकी कथा सुनो।

'हस्तौ च कर्मसु' (३८) हाथ कर्ममें लगें। 'मनस्तव पादयोर्नः'—मन आपके चरणोंकी

स्मृतिमें लगे और 'शिरस्तव निवासजगत्प्रणामे' (३८)—सिर सम्पूर्ण जंगत्को, जो आपका निवास-स्थान है, प्रणाम करे।

देखो, अगर सिर झुका नहीं तो यह अन्तमें बाँससे फोड़ा जायेगा, यही इसकी गति है। अतः इसको झुका लो सबके सामने।

अन्तमें नलकूबर-मणिग्रीव कहते हैं कि 'भवत्तनूनां दर्शने' (३८)—हमारी दृष्टि आपके शरीरका दर्शन करे। हम जानते हैं कि आपका शरीर क्या है?-'सतां दर्शनेऽस्तु भवत्तनूनाम्'—इस संसारमें जो सन्त हैं, यही आपके शरीर हैं, इन्हींके रूपमें आप विचरण करते रहते हैं।

इस प्रकार जब नलकूबर-मणिग्रीवने संकीर्तन किया तब ऊखलमें बँधे भगवान् पहले तो हँसने लगे, फिर बोले—भाई यह तो बताओ कि मुझे ऊखलपर रस्सीसे बँधे हुए देखकर तुमको कैसा लगता है? मुझको मालूम था कि देवर्षि नारदने तुम्हारे ऊपर अनुग्रह किया है—

यच्छ्रीमदान्धयोर्वाग्भिर्विभ्रंशोऽनुग्रहः कृतः। ४०

उन्होंने केवल वाणी द्वारा तुम्हें देवयोनिसे गिराया है, वस्तुतः तुम्हारे ऊपर करुणापूर्वक कृपा की है। साधुके दर्शनसे बन्धन नहीं होता, अब तुमलोग अपने घर जाओ। तुम्हारे हृदयमें मेरे प्रति भक्ति हो और अन्तमें तुम्हें मुक्ति मिले। अब मैं भी जाता हूँ।

नलकूबर-मणिग्रीवने कहा कि नहीं भगवन्, ठहरो-ठहरो—हमारा आशीर्वाद सुन लो! 'त्वं सदा गुणशाली एव भूयः'—तुम सदा गुणशाली रहना। निर्गुण कभी मत हो जाना। क्योंकि गुण तुमसे बँधा रहेगा, रस्सी तुमसे बँधी रहेगी तो हमारे-सरीखोंका उद्धार होता रहेगा।

इतना कहकर नलकूबर-मणिग्रीव 'बद्धोलूखलमामन्त्र्य' (४३)—बँधे हुए भगवान्से अनुज्ञा लेकर उत्तर दिशामें चले गये।

महात्माओंके कथनानुसार भगवान्की योगमायाने सोचा कि जबतक नलकूबर-मणिग्रीवका उद्धार नहीं हो जायेगा, उनकी बातचीत पूरी नहीं हो जायेगी और वे अपने लोक चले नहीं जायेंगे तबतक वृक्ष टूटनेकी ध्वनिको अवरुद्ध कर देना चाहिए। अन्यथा यदि यह ध्वनि गोकुलमें पहुँच गयी ओर लोग आगये तो नारदजीका अनुग्रह अधूरा रह जायेगा। इसलिए योगमायाने वृक्ष-भङ्गकी ध्वनिको तबतकके लिए प्रतिबद्ध कर दिया और गोकुल नहीं पहुँचने दिया जबतक नलकूबर-मणिग्रीवका उद्धार नहीं हो गया!



अब जब वृक्षों के टूटनेकी भयंकर ध्वनि सुनायी पड़ी तब सब लोग भयभीत हो गये। नन्दबाबाने कहा कि क्या हुआ, कहीं वज्रपात तो नहीं हो गया। सब-के-सब वहाँ पहुँचे और देखा कि दोनों अर्जुनके पेड़ गिरे हुए हैं।

यद्यपि 'लक्ष्यं पतनकारणम्' (२)—वृक्ष गिरनेका कारण स्पष्ट था, परन्तु लोग समझ नहीं सके। वहाँ अभिधेय वस्तु सामने मौजूद थी और उन पेड़ोंके गिरनेकी लक्षणाका लक्ष्य भी था। परन्तु लोग उसे बिना पहचाने रह गये। लोगोंने देखा कि एक बालक है। अरे, किसका बालक है? बच्चोंने कहा कि कन्हैया है, उसीने पेड़ उखाड़ दिया है। किन्तु यह कैसे सम्भव हो सकता है? किसी-किसीके मनमें पहलेकी घटनाओंका स्मरण करके सन्देह हुआ। यह सन्देह भी स्नेहका सन्देह है।

सन्देह अथवा संशय दो प्रकारका होता है—एक अज्ञानकृत संशय और दूसरा प्रेमकृत संशय। 'अनिष्टशङ्कानि बन्धु-हृदयानि भवन्ति'—अनिष्टाशङ्का प्रेमजन्य है, अज्ञानजन्य नहीं है।

अब नन्दबाबाने झट दौड़कर अपने प्राणप्यारे बालकको हँसते-हँसते गोदमें उठा लिया। हँसते-हँसते इसलिए कि कहीं बेटा डर न जाय। यह न समझ ले कि मैयाने तो नाराज होकर मुझे बाँध दिया था, क्योंकि मैंने गलत काम किया और इस गलतीके लिए कहीं बाबा भी चाँटा न मार दें। इसलिए नन्दबाबा हँसते हुए गये कि बेटा, मैं तुम्हारे ऊपर नाराज नहीं हूँ। उन्होंने श्रीकृष्णकी कमरमें बँधी रस्सी खोल दी और उनको मुक्त कर दिया।

देखो, श्रीकृष्णमें न तो बन्धन है और न मोक्ष है। मैयाने उनके ऊपर बन्धन डाल दिया और बाबाने उनके ऊपर मुक्ति डाल दी। मैया क्या है? बुद्धि है। उसने बन्धनका आरोप कर दिया। बाबा क्या हैं? गुरु हैं। उन्होंने बन्धनका अपवाद कर दिया—'न स्वतोऽस्ति मम बन्धनं क्वचित्' और 'न स्वतोऽस्ति मम मोचनं क्वचित्'—अपने स्वरूपमें न तो बन्धन है और न मुक्ति है।

नन्दबाबाने अपने लालाको कन्धेपर उठा लिया और पेड़से बचनेकी खुशीमें नाचने लगे। श्रीकृष्ण कभी बाबाकी चोटी पकड़ें, कभी दाड़ी पकड़ें, कभी मूछ पकड़ें और कभी नाकमें उँगली डालें। यशोदा मैया यह सब दूरसे देख रही थीं और डरके मारे सामने नहीं आती थीं कि नन्दबाबा क्या कहेंगे।

नन्दबाबा यह समझ गये और बोले कि बेटा, तुमको किसने बाँध दिया था? श्रीकृष्णने सोचा कि सबके सामने मैयाका नाम बतायेंगे तो अपने घरकी बात बाहर चली जायेगी। इसलिए झट बाबाके कानके पास मुँह ले गये और धीरेसे बोले कि 'मैयाने'। बाबाने कहा कि अच्छा, तो

अब तुम मैयाके पास मत जाना, हमारे पास ही रहना। श्रीकृष्णने कहा कि हाँ बाबा, तुम्हारे पास ही रहेंगे।

इसपर जब एक गोपीने पूछ लिया कि लाला, बाबाके पास रहोगे तो सोओगे कहाँ? श्रीकृष्णने उत्तर दिया कि बाबाके पास सोयेंगे। गोपीने पूछा कि दूध किसका पीओगे? श्रीकृष्णने कहा कि गैया-मैयाका दूध पीयेंगे। इसपर गोपी निरुत्तर हो गयी।

अब नन्दबाबाने कहा कि बेटा, तुम्हारी मैयाने तुमको बाँध दिया है, इसलिए आज हम उसको मारेंगे। यह सुनकर श्रीकृष्णने बाबाके मुँहपर हाथ रख दिया और बोले—बाबा, ऐसा मत कहो। बाबाने कहा कि नहीं बेटा, हम तो आज तुम्हारी मैयाको जरूर मारेंगे। इसपर श्रीकृष्ण नन्दबाबाके कन्धे परसे उतर गये और बहुत-सी गोपियोंके बीचमें छिपी हुई अपनी मैयाके पास जाकर चिपक गये। मैयाने पुलकित होकर गोदमें उठा लिया और दूध पिलाना शुरू कर दिया।

गोपीभिः स्तोभितोऽनृत्यद् भगवान् बालवत् क्वचित्। ७

अब आगेकी लीलाओंका वर्णन प्रारम्भ करते हुए श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि गोपियाँ ताली बजाती हैं और श्रीकृष्ण नाचते हैं। कभी उनके कहनेपर गाते भी हैं।

देखो भगवान् दुनियाको कठपुतली बनाकर नचाते हैं। उन्होंने हरिको नचाया—'विधि हरि शम्भु नचावन हारे।' माया तो उनके इशारों पर नाचती है। कभी-कभी अपने मनसे स्वयं भी नाच लेते हैं—'नाचहिं निज प्रतिबिम्ब निहारी।' लेकिन आज जब भक्तोंने कहा कि हम तुम्हें नचावेंगे तो वे 'दारुयन्त्रवत्' (७)—कठपुतलीकी तरह नाचने लगे।

मैया कहती है कि वह पीढ़ा ले आओ, तो ले आते हैं। वह बाट ले आओ, तो ले आते हैं। कभी-कभी बाट नहीं उठता तो दोनों हाथ लगाते हैं, लेट जाते हैं और छातीसे लगाकर उठानेकी कोशिश करते हैं। जब नहीं उठता तो मैयाकी ओर देखते हैं। मुँह लाल-लाल हो जाता है। 'स्वानां च प्रीतिमावहन्' (८)—लोगोंको अपनी लीला दिखा-दिखाकर आनन्द देते हैं और उधर आकाशमें, गोलोकमें सनक-सनन्दन, नारद, शिव आदि खड़े-खड़े उनकी लीलाएँ देखते रहते हैं।

दर्शयंस्तद्विदां लोक आत्मनो भृत्यवश्यताम्।
व्रजस्योवाह वै हर्षं भगवान् बालचेष्टितैः॥ ९

जो पहचानते नहीं, उनको लगता है कि श्रीकृष्ण कोई साधारण बालक हैं। परन्तु शिव, सनक-सनन्दन और नारदादि जब उन्हें देखते हैं तो उनकी आँखोंसे आँसुओंकी धारा बहने लगती है। उनका हृदय द्रवित और कण्ठ गद्गद हो जाता है। वे यह सोचकर चकित होते हैं कि अरे ये त्रिलोकीनाथ, अखिल ब्रह्माण्डनायक अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड-आधार प्रभु भक्तोंके इतने हाथमें हो गये कि उनके नचाये नाच रहे हैं।

असलमें भगवान् 'व्रजस्योवाह वै हर्षम्' (९)—व्रजके सुखकी टोकरी सिरपर लेकर ढोते हैं और कहते-फिरते हैं कि अरे ओ व्रजवासियो, आनन्द लो आनन्द !

एक दिन एक ग्वालिन आयी और बोली कि यशोदा मैया, आज हमारे घरमें कोई नहीं है, गोबर सब खेतमें चला गया है, पर्वका दिन है और घरको लीपकर पूजा करनी है, जरा-सा गोबर दे दो, नहीं तो आज हमारी सास बहुत नाराज होगी।

यशोदा बोलीं कि अरी, गोबरमें क्या रखा है, जितनी मौज हो उतना ले जा।

गोपीने गोबरसे टोकरी भर ली, लेकिन उसको उठवाये कौन ? ग्वालबाल तो है नहीं, इधर-उधर देखने लगी। इतनेमें छोटेसे कृष्ण, पाँवमें नूपुर पहने, पीली धोती धारण किये, उसके ऊपर लाल-हरा कछोटा बाँधे, कन्धेतक केश लटकाये और मस्तकमें विभूति लगाये वहाँ आगये। उन्होंने पूछा कि ग्वालिन, क्या चाहिए ?

गोपी उनकी वेशभूषा, मन्द-मन्द मुस्कान, प्रेम भरी चितवन, भौहोंकी मटकन आदिपर मन-ही-मन न्यौछावर हो गयी। फिर बोली कि अरे लाला, जरा हमारी गोबरकी टोकरी तो उठवा दो !

श्रीकृष्णने कहा कि मैं क्या तेरे बापका नौकर हूँ ? नहीं उठवाऊँगा। गोपी बोली कि लाला, तुम तो बहुत अच्छे हो, जितनी टोकरी उठवाओगे, उतने ही माखनके लोंदे तुमको दूँगी।

बस क्या था, श्रीकृष्ण गोबरसे भारी टोकरियाँ उठवाने लगे। चार-पाँच टोकरियाँ उठवानेके बाद बोले कि ग्वालिन, तेरा भरोसा नहीं। तू बादमें धोखा दे सकती है, इसलिए गिनती करती जा।

गोपीने कहा कि लाला, मुझे गिनती करनी तो आती नहीं। यह लो, एक-एक टोकरीके बदले गोबरका एक-एक टीका तुम्हारे ललाटपर लगाती जाती हूँ। अब तो गोपी सुध-बुध भूल गयी और श्रीकृष्णके सारे मुख-मण्डलपर गोबरके टीके लग गये—'गोमय-मण्डित-भाल-कपोलम्'।

जब गोपीको होश आया तब वह बोली कि इतना गोबर तो मुझे चाहिए नहीं, मैं क्यों इतनी टोकरियाँ भर-भर कर ले गयी ? श्रीकृष्णने कहा कि बहाना मत बना, गिनतीके अनुसार गिन-गिनकर माखनके लोंदे ला।

गोपी बोली—लाला, ऐसे मक्खन नहीं मिलता। श्रीकृष्णने पूछा कि फिर कैसे मिलेगा ? गोपीने कहा कि नाचो तब मिलेगा।

अब श्रीकृष्ण एक हाथ अपनी कमरपर और दूसरा हाथ अपने सिरपर रखकर 'ता-ता-थेई, ता-ता-थेई' नाच रहे हैं। आप लोग करो ध्यान इस लीलाका—

चेतश्चिन्तय चिन्मय-भासम् नूतन-जलधर-रुचिरविकासम्।
पीतवसनधर-सुन्दर-नटवर-मधुर - विकस्वर - सुन्दरहासम् ॥

एक दिन एक फल बेचनेवाली गोपी आयी। श्रीकृष्ण उसकी ओर दौड़े। उन्होंने अपने छोटे-छोटे हाथोंमें फलोंके लिए जो अन्न भरा भाण्ड लिया था, वह गिर गया। परन्तु गोपीने उनके हाथ फलोंसे भर दिये। इसपर श्रीकृष्णने उसका बर्तन रत्नोंसे भर दिया।

एक दिन दोनों भैया राम और कृष्ण यमुना-तटपर क्रीड़ा करने गये थे। कुछ देर हुई तो यशोदा मैयाने रोहिणीजीको भेजा कि जाकर बुला लाओ। रोहिणीजी बुलाने गयीं तो बोलीं कि अरे ओ भग्नार्जुन—अर्जुनके पेड़को तोड़नेवाले, आओ। अरे ओ राम, तुम भी आओ। घर चलो।

परन्तु श्रीकृष्णको यह पसन्द नहीं कि कोई उनको 'भग्नार्जुन' कहकर पुकारे। इसलिए वे नहीं आये और उनकी देखा-देखी बलराम भी नहीं आये। दोनों खेलमें लगे रहे। रोहिणीजी कुछ देरतक तो उनकी प्रतीक्षा करती रहीं, बादमें घर लौटकर यशोदाजीसे बोलीं कि वे दोनों हमारी बात नहीं सुनते। तुम ही जाकर बुला लाओ।

इसके बाद यशोदाजी बुलाने गयीं। उन्होंने देखा कि उनके स्तनोंसे दूध छलक रहा है। बोलीं कि ओ कमलनयन कृष्ण, आओ बेटा 'स्तनं पिब'—(१५) मेरा दूध पी लो। बहुत देर हो गयी, अब मत खेलो। देखो, तुम्हारे पेटमें भूख लग आयी है। खेलते-खेलते तुम थक गये हो। आओ मेरे नन्हें-मुन्ने आओ। अरे बलराम बेटा, तुम भी आओ। तुम तो अपने वंशको बड़ा आनन्द देनेवाले हो। घरमें सबसे बड़े हो। तुमने सबेरे ही कलेवा किया था। अब तो काफी समय बीत गया, आओ कुछ खाओ। तुम्हारे नन्दबाबा चौकेमें बैठकर तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहे हैं। बेटा, देखो तुम्हारे शरीरमें धूल लगी हुई है। आओ स्नान करा दें। आज 'जन्मर्क्ष' है। चलो गोदान करो और पवित्र हो जाओ। देखो तुम्हारे साथी कितने अलंकृत हो रहे हैं।

बस, इतना सुनते ही बलरामजीने झट श्रीकृष्णका हाथ पकड़ा और कहा कि चल कन्हैया। श्रीकृष्णने कहा कि अच्छा दाऊ भैया चलो। दोनों पास आगये मैयाके। यशोदाजीने दाहिने हाथसे दाऊको, बायें हाथसे कृष्ण-कन्हैयाको पकड़ा और दोनोंको ले आयीं घरमें। फिर उनसे नित्यकर्म और दान करवाकर उनको भोजन करवाया।

> **इत्थं यशोदा तमशेषशेखरं मत्वा सुतं स्नेहनिबद्धधीर्नृप।**
> **हस्ते गृहीत्वा सहराममच्युतं नीत्वा स्ववाटं कृतवत्यथोदयम्॥ २०**

यह ठीक है कि केवल ज्ञानसे ही परब्रह्मकी प्राप्ति होती है। निस्सन्देह निर्गुण-निराकार-निर्विशेष-प्रत्यक्-चैतन्याभिन्न परमात्मा महावाक्यजन्य-वृत्तिके बिना, आवरण-भङ्ग हुए बिना, अविद्याकी निवृत्तिके बिना नहीं मिलता, किन्तु हमारा जो सगुण-साकार भगवान् है, नन्द-नन्दन है, यशोदातनय है, पीताम्बरधारी है, वह अपनी भाँति-भाँतिकी बाल-लीलाओं द्वारा न केवल गोकुल-वासियोंको बल्कि सम्पूर्ण देवताओंको भी आनन्दित कर रहा है।

अब श्रीशुकदेवजी महाराज एक छोटी-सी कथा सुनाते हैं, जिससे प्रकट होता है कि श्रीकृष्णमें सम्पूर्ण गोकुल–वासियोंका कितना सहज स्वाभाविक प्रेम है। एक बार गोकुलके बड़े-बूढ़ोंके मनमें यह विचार हुआ कि बृहद्वनमें, गोकुलमें बड़े भारी अनर्थकारी उत्पात हो रहे हैं। वे सब इकट्ठे हुए। उनमें उपनन्दजी वय और ज्ञानमें सब गोपोंसे श्रेष्ठ थे, देश-काल एवं प्रयोजनको ठीक-ठीक समझते थे। उन्होंने भरी सभामें खड़े होकर कहा कि अब गोकुलमें हमारे बालकोंका रहना निरापद नहीं है, इसीलिए हमें यह स्थान छोड़कर कहीं और चलना चाहिए। हमारा लाला पूतनासे बच गया, बवण्डरसे बच गया, तृणावर्तसे बच गया और पेड़ोंके गिरनेसे उनके बीचमें पड़कर भी बच गया। भगवान्‌की बड़ी भारी कृपा है। परन्तु दूसरा उत्पात आये, इसके पहले ही हमें गोकुल छोड़ देना चाहिए।

यह एक प्रस्ताव था, उपनन्दजीका। दूसरा प्रस्ताव उन्होंने यह किया कि हमलोगोंको वृन्दावनमें चलना चाहिए। वृन्दावन एक वन है, वही हमलोगोंके रहने योग्य है।

अब आप देखो कि वृन्दावन क्या है? ऋग्वेदमें एक प्रसंग आता है—

'किं स्विद् वनं क उ स वृक्षः' (१०.८१.४)। वह वन कौन-सा है, उसमें वह वृक्ष कौन-सा है; जिसमें विश्वकर्माने इस विश्वका निर्माण किया है। केनोपनिषद्‌में आता है कि 'तद्धि तद् वनं नाम' (४.६)—ब्रह्म ही वन है। तात्पर्य यह है कि वृन्दावन ब्रह्मात्मक है।

इसलिए उपनन्द कहते हैं कि 'वनं वृन्दावनं नाम पशव्यम्' (२८)। वृन्दावन हमारे पशुओंके लिए हितकारी है और 'नवकाननम्'—वहाँ जो वन हैं, उपवन हैं, वे सब नव-नव हैं। नवधा भक्तिके आनन हैं अथवा नवका अर्थात् यमुनाजीका आनन है। वह हम सबके लिए कमनीय है। इसलिए विलम्ब मत करो और चल पड़ो।

देखो, सभी गोकुलवासियोंकी बुद्धि एक श्रीकृष्णमें लगी हुई थी। इसलिए सबने 'साधु-साधु' कहकर उपनन्दजीके दोनों प्रस्तावोंका समर्थन किया।

इसके बाद छकड़े जुड़ गये। उनपर सामग्री लद गयी। ग्वाल-बाल तैयार हो गये। उनको लेकर सब चल पड़े। आगे-आगे गौयें चलीं, बाजे बजने लगे, पुरोहित वेद-पाठ करने लगे। गोपियोंने खूब शृङ्गार किया। यशोदा-रोहिणी अपने-अपने बलराम-कृष्णके साथ एक शकटपर बैठीं। मार्गमें जब बलराम और कृष्ण अपनी तोतली बोलीमें बात करें तो उसे सुनकर माताएँ आनन्दित हों। सब लोग यथा-समय वृन्दावन पहुँच गये और उन्होंने वहाँ बस्ती बसायी। वृन्दावनसे गोवर्धन, गोवर्धनसे बरसाने और बरसानेसे नन्दगाँव-तक अर्द्ध-चन्द्राकार बस्ती बस गयी। वृन्दावन, गोवर्धन और यमुना-पुलिनको देखकर श्रीकृष्णके हृदयमें उत्तम आनन्द, उत्तम प्रीतिका उदय हुआ।

यह एक ऐसा प्रसंग है, जो विशेष ध्यान देने योग्य है। एक घरके एक बालकके लिए

सारे गाँवके लोगोंने अपने-अपने पुराने घर-द्वार छोड़ दिये, बाग-बगीचे छोड़ दिये; खेत-खलिहान छोड़ दिये, रिस्तेदार-नातेदार छोड़ दिये और सब-के-सब उनके साथ अन्यत्र आ बसे। इससे सिद्ध होता है कि उन व्रजवासियोंका श्रीकृष्णके प्रति कितना अनन्य प्रेम था!

थोड़े ही दिनों बाद राम और कृष्ण इस योग्य हो गये कि वे दूसरे ग्वाल-बालोंके साथ गायों और बछड़ोंको चरानेके लिए आसपासके जंगलोंमें जाने लगे। वे कहीं बाँसुरी बजायें, कहीं ढोलक पीटें, कहीं पाँवके नूपुरोंसे ध्वनि करें और कहीं गाय-बैल बनकर क्रीड़ा करें। इस प्रकार उनका समय बड़े आनन्दसे व्यतीत होने लगा।

एक दिन जब वे यमुना-तटपर बछड़ोंको चरा रहे थे तब एक असुर आक्रमण करनेके लिए बछड़ेका रूप बनाकर आया। जिसके प्रति स्नेह होता है, उसमें दोष-दृष्टि नहीं होती। श्रीकृष्ण-बलराम गाय बछड़ोंसे बड़ा प्रेम करते हैं। इसलिए बछड़ेके रूपमें उनको कोई मारने आ सकता है, यह ख्याल उनके मनमें नहीं आ सकता था।

किन्तु वह असुर नूतनाभ्यासी था और नूतनाभ्यासियोंकी दृष्टि परिपक्व नहीं होती। उसने सोचा कि यदि मैं उनका स्नेह-पात्र बछड़ा बनकर चलूँगा तो भगवान् नहीं पहचानेंगे। किन्तु श्रीकृष्ण तो अपने एक-एक बछड़ेको पहचानते थे। उन्होंने नया बछड़ा देखा तो अपने दाऊ दादाको बुलाया और कहा कि यह कोई नया बछड़ा हमारे बछड़ोंमें आगया है। आ-हा-हा, यह कितना सुन्दर है!

देखो, जब वह असुर कपट करके आया तो भगवान्‌ने भी उसके साथ कपट किया। क्योंकि उनकी यह प्रतिज्ञा है कि 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' (गीता.४.११)। इसलिए भगवान्‌को पाना हो तो उनसे माया कभी नहीं करनी चाहिए, क्योंकि वे मायाको समझते हैं, मायाके अधिपति हैं। भगवान्‌ने उस बनावटी बछड़ेको उसकी पूँछसे पकड़ा और चारों ओर घुमाकर कपित्थके पेड़पर पटक दिया। आघातसे कपित्थके फल भी गिरे और वह भी गिरकर मर गया।

सब बालक इकट्ठे हुए और उन्होंने देखा कि अरे, यह तो असुर है। फिर तो सब-के-सब साधु-साधु, वाह-वाह, शाबाश-शाबास बोलने लगे और देवताओंने भी पुष्प-वर्षा की!

एक दिन बछड़ोंको लेकर श्रीकृष्ण-बलराम किसी जलाशयके पास गये। जलाशय क्या है? जडाशय ही तो है। वहाँ उन लोगोंने देखा एक महासत्त्व बैठा हुआ है।

सत्त्व तो ठीक है, लेकिन उसके साथ 'महा'का विशेषण ठीक नहीं। आप ही बताओ राष्ट्र बड़ा है या महाराष्ट्र? अवश्य ही राष्ट्र बड़ा है। महाराष्ट्र तो एक प्रान्त है। ऐसे ही ब्राह्मण बड़ा होता है न कि महाब्राह्मण, शङ्ख बड़ा होता है, न कि महाशङ्ख और सत्त्व बड़ा होता है न कि महासत्त्व? यह तो दृष्टान्तके लिए मैंने तीन-चार शब्द ढूँढ़ लिये। आप लोग मूल पुस्तकमें मत ढूँढ़ना।

'महासत्त्वमवस्थितम्' (४७)—जब छोटा सत्त्व हो तब तो सामान्य होता है, लेकिन जब महासत्त्व आजाय तब वह भयंकर हो जाता है।

एक बार दम्भासुर ब्रह्माजीके पास गया और कुशसे जलका छींटा मारकर 'अपवित्रः पवित्रो वा' कहता हुआ उनकी गोदमें बैठ गया। फिर बोला कि तुम साँस मत लो, तुम्हारी साँसमें-से गन्दगी आती है। जब ब्रह्माजीका दम घुटने लगा तब उन्होंने पूछा कि बेटा, तू कौन है और यह पूछकर जो उसकी ओर देखा, तो वह दम्भासुर था। तात्पर्य यह कि जहाँ बनावट होती है, वहाँ बहुत अधिक महासत्त्व आकर निवास करता है।

तो वह महासत्त्व क्या था? बकासुर था। वह ऐसा प्रतीत होता था, मानो किसी वर्फके पहाड़का बहुत बड़ा खण्ड हो। उस बकरूपने श्रीकृष्णको ग्रस लिया। इससे सब-के-सब ग्वाल-बाल बहुत दुःखी हुए। श्रीकृष्णने बकासुरके मुँहके भीतर कहा कि मुखमें तो मेरा नाम होना चाहिए, न कि मेरी प्रतिमा—'कृष्णनाम मुखे स्थाप्यं न कृष्ण-प्रतिमा क्वचिद्'।

अतः बकासुरके मुँहमें, जहाँ श्रीकृष्ण थे, कृष्ण-वर्त्म बढ़ गया। कृष्ण-वर्त्म माने आगका काला-काला धुँआ! अग्निकी उत्पत्ति हो गयी। इससे घबराकर, बकासुरने श्रीकृष्णको उगल दिया। जब श्रीकृष्ण उसके मुँहसे बाहर आये तब उन्होंने अपने दाँतों, हाथोंसे उसके दोनों चोंच पकड़कर उसको फाड़ डाला और फेंक दिया।

अब तो सब देवता लोग हर्ष-विभोर होकर उनके ऊपर नन्दन-पुष्प मल्लिकाकी वर्षा करने लगे। ग्वाल-बालोंको बड़ा विस्मय हुआ। किसीकी हिम्मत न पड़े कि वह श्रीकृष्णके पास जाय। जब स्वयं श्रीकृष्ण ग्वाल-बालोंके मध्य आये तब उन्होंने उनको हृदयसे लगाया और बछड़ोंको हाँककर व्रजमें चले आये।

यह बात सारे व्रजमें फैल गयी और इससे व्रजवासियोंकी श्रीकृष्णके प्रति पहलेसे भी अधिक प्रीति बढ़ गयी। जब अपने प्रियतमपर कोई संकट आता दीखता है तब उसके प्रति लोगोंकी प्रीति बहुत ज्यादा बढ़ जाती है—

प्रेत्यागतमिवौत्सुक्यादैक्षन्त तृषितेक्षणाः। ५४

अब सभी गोपी-गोप बड़े प्यारसे श्रीकृष्णको देखते और परस्पर कहते कि हाय-हाय इसके ऊपर तो बार-बार मृत्यु आती है और हर बार उससे इसकी रक्षा हो जाती है। उल्टे इसका जो अनिष्ट करने आते हैं, उन्हींका अनिष्ट हो जाता है। यह सब ब्राह्मणोंके आशीर्वादका ही फल है!

इस प्रकार व्रज-भूमिमें भगवान् श्रीकृष्ण अपने बड़े भैया बलराम और ग्वाल-बालोंके साथ कभी आँख-मिचौनी खेलते, कभी पुल बनाते और वानरोंकी तरह उछल-कूद करते। इन्हीं सब बाल-लीलाओंसे उनकी बाल्यावस्था व्यतीत होने लगी।



श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि परीक्षित, एक दिन श्रीकृष्णके मनमें आया कि सबलोग वनमें ही भोजन करेंगे। उसके अनुसार कार्यक्रम निश्चित हो गया।

श्रीकृष्णभावनामृतमें वर्णन आता है कि गाँवभरके बालक प्रातःकाल होते ही नन्दभवनके द्वारपर आकर खड़े हो जाते थे, यह प्रतीक्षा करते थे कि कब हमारा कन्हैया निकले, जिससे कि हम उसे आँखसे देखें। मैया अपने लाला श्यामसुन्दरको पहले नहलाती हैं, वस्त्र पहनाती हैं, बाल सँवारती हैं, चन्दन लगाती हैं, दूध पिलाती हैं और तब उसे घरके बाहर निकलने देती हैं।

लेकिन आजका दिन ऐसा निकला कि जैसे महाप्रलयके अन्तमें प्रणव-ध्वनिसे, ॐकार-ध्वनिसे सृष्टि होती है, वैसे ही श्रीकृष्णने सबसे पहले तैयार होकर अपने शृङ्ग-रवसे सोते हुए ग्वाल-बालोंको जगाया। सब ग्वाल-बाल इकट्ठे होकर वनकी ओर चलनेके लिए उद्यत हुए।

आगे-आगे चले बछड़े और पीछे-पीछे चले ग्वाल-बाल! जैसे प्रारब्धानुसार जीवमें भोग होता है, वैसे ही सब-के-सब ग्वाल-बाल सुन्दर-सुन्दर छींके, भोज्य-सामग्री, बेंत, सींग और वेणु लेकर श्रीकृष्णके साथ चल पड़े। उस दिन उनकी माताओंने उनको आभूषणोंसे खूब सजाया था। परन्तु वनमें जाकर जब श्रीकृष्णने यह कहा कि मुझे तो घरके आभूषण अच्छे नहीं लगते, इसलिए हमलोग वनके ही आभूषण धारण करें तब समस्त ग्वाल-बालोंने उसका समर्थन किया और अपनेको वनके फलों, फूलोंके गुच्छों, कोपलों तथा मोर-पंखों आदिसे सजा लिया।

इसके बाद सब ग्वाल-बाल नाना प्रकारके खेल खेलने लगे। वे एक-दूसरेके छींके, बेंत, बाँसुरी आदि चुरा लेते और पता लगनेपर उनको पहला दूसरेके पास, दूसरा तीसरेके पास और तीसरा चौथेके पास पहुँचा देता, फिर हँसते हुए जो चीज जिसकी होती, उसे लौटा दी जाती।

कभी-कभी श्रीकृष्ण अकेले वनकी शोभा देखते हुए दूर चले जाते तो उनके पास पहुँचने और उनका साथ पकड़नेके लिए ग्वाल-बालोंमें 'पहले मैं, पहले मैं'की होड़ लग जाती तथा उनकी ओर सब दौड़ पड़ते—'अहंपूर्वमहं पूर्वम्'। (६)

देखो, इस संसारमें और किसी भी वस्तुके लिए 'अहम्-अहम्' नहीं करना चाहिए, परन्तु भगवान्‌को पहले मैं प्राप्त करूँगा— इसके लिए अहम् करना चाहिए।

तो, कोई ग्वाल-बाल वेणु बजाये, कोई सींग बजाये, कोई भौरोंके साथ गाये, कोई कोयलके साथ कूजे, कोई पक्षीकी छायाके साथ दौड़े, कोई हंसके साथ चले, कोई बगुलेके साथ बैठे और कोई मयूरके साथ नृत्य करे कोई ग्वालबाल पेड़की डालीपर बैठे बानरकी पूँछ पकड़ ले और जब बानर उछले तब उसके साथ वह भी उछलकर पेड़पर चढ़ जाय। जब बानर मुँह बनाये तो उसके साथ ग्वाल-बाल भी मुँह बनाये। कई ग्वाल-बाल नदीके कछारमें छपका खेलें और कई फुदकते हुए मेढकोंके साथ फुदकें। कोई ग्वाल-बाल अपनी प्रतिच्छायाका उपहास करे और कोई प्रतिध्वनिको गाली दें।

इस प्रकार बड़े-बड़े ब्रह्मज्ञानी लोग जिन परमात्माका अनुभव करते हैं दास्यभावयुक्त भक्त लोग जिनको अपने परमाराध्यके रूपमें देखते हैं और जो मायाश्रितोंके लिए नर-बालक हैं; उन भगवान् श्रीकृष्णके साथ पुण्यपुञ्ज ग्वालबाल वनमें विहार करने लगे। जिन भगवान्‌के चरणोंकी धूलि बहुत जन्मोंके कष्टसे घृतात्मा बने योगियोंके लिए भी अगम्य है, वे ही प्रभु व्रजवासी ग्वाल-बालोंकी आँखोंके सामने स्वयं उपस्थित हैं और उनके साथ क्रीडा कर रहे हैं। इससे बढ़कर उन ग्वाल-बालोंका सौभाग्य और क्या हो सकता है?

व्रजवासी ग्वाल-बालोंके इसी सुख-सौभाग्य और हास-उल्लासमय वातावरणमें एक महा-असुर आगया। उस असुरका नाम था अघ। असुरका नाम अघ और भगवान्‌का नाम अघविद्ध! ऐसी लीला दूसरे पुराणोंमें कम ही मिलती है। क्योंकि दूसरे असुर भगवान्‌के सामने भले ही आजायँ. किन्तु अघासुर तो भगवान्‌के सामने नहीं आता, छिपकर ही रहता है।

'न हन्यते भोगं बिना इति अघः'—जो भोगके बिना मारा न जाय, उस पाप-मूर्ति असुरको अघ बोलते हैं। उसका स्वरूप यह है कि वह दूसरोंका सुख नहीं देख सकता—'सुखक्रीडावीक्षणाक्षमः'। (१३)

देखिये, आपके हृदयमें अघासुर आये तो आप उसको कैसे पहचान सकते हैं? भगवान् ऐसी कृपा करें कि वह कभी न आये। लेकिन जब वह आता है तब उसकी पहचान यही है कि दूसरेका सुख देखकर हृदयमें चिढ़ होने लगती है। जब आपकी ऐसी स्थिति हो तब आप समझिये कि आपके हृदयमें अघासुर आगया।

तो वह अघासुर इतना भयंकर था कि बड़े-बड़े देवता लोग भी उसका अन्त देखनेके लिए आतुर थे, उसकी मृत्युकी प्रतीक्षा करते-रहते थे। वह पूतना और वकासुर दोनोंका भाई था। कंसने उसको भेज रक्खा था।

इसका मतलब यह है कि अविद्या और दम्भ दोनों ही अघासुरके भाई-बहिन हैं, अभिमान उनका प्रेरक है।

अघासुरने भगवान्‌पर कर्तापनका झूठा आरोप लगाते हुए कहा कि इसने हमारी बहिन और भाईको मारा है इसलिए मैं इसको इसकी सेनाके साथ मार डालूँगा–'सबलं·हनिष्ये' (१४)।

यहाँ बल शब्दका अर्थ बलराम नहीं, सेना ही समझना चाहिए। क्योंकि जब-जब किसी सर्पसे भिड़न्त होती है, तब-तब भगवान्‌के साथ बलरामजी नहीं होते। क्योंकि वे सर्पोंके राजा हैं, स्वयं शेष हैं। उनके सामने किसी सर्पको हिम्मत नहीं हो सकतो कि वह भगवान्‌का मुकाबिला करनेके लिए आये। यदि गलतीसे कोई सर्प आ भी जाय तो बलरामजी उसे डाँटकर भगा दें या भगवान्‌से कह दें कि यह अपना कोई स्वजन है, इसको मत मारो। इसलिए जब भगवान्‌को किसी अजगर, कालिया नाग या अघासुरसे लीला करनी होती है तब वे बलरामजीको छोड़कर आते हैं। कोई-कोई कहते हैं कि उस दिन बलरामजीकी वर्षगाँठ थी, इसलिए मैयाने उनको रोक लिया और श्रीकृष्ण ग्वाल-बालोंके साथ जल्दी वनमें चले आये।

अब अघासुरने श्रीकृष्ण और उनके साथियोंको मारनेके उद्देश्यसे अजगरका रूप धारण किया। अजगरको अजगर इसीलिए कहते हैं कि यह अज अर्थात् बकरेको समूचा-का-समूचा निगल जाता है। 'अजो गले मे भवतीति'—अज माने बकरा जिसके गलेमें हो, उसका नाम अजगल अथवा अजगर होता है।

अघासुरने सोचा कि बकरे तो दूसरे अजगर भी खा जाते हैं, लेकिन आज जो मेरे गलेके भीतर जायेगा, वह ऐसा अज है, जो साक्षात् अजन्मा है, नारायण है। इसीलिए वह अजगर बनकर आया। उसने बड़ा भारी शरीर धारण किया। उसके ऊपरका होंठ आकाशमें, नीचेका होंठ धरतीपर! उसका जीभ सड़क-सरीखो मालूम पड़ती थी। उसके मुँहसे बड़ी भारी दुर्गन्ध-युक्त वायु निकल रही थी।

ग्वाल-बालोंने उस अजगरको देखा तो विचार किया कि यह वृन्दावनकी कोई खास जगह है, जो अजगरकी तरह मालूम पड़ती है! इस प्रकार ग्वाल-बाल अजगरके साथ उसकी उत्प्रेक्षा करने लगे और कहने लगे कि यदि हम इसमें घुस जायँ तो क्या यह हमको खा जायेगा! ग्वाल-बालोंकी दृष्टि तो थी श्रीकृष्णकी ओर और वे हँसते हुए, ताली पीटते हुए अजगरके मुँहमें घुसने लगे।

श्रीकृष्णने कहा कि हाय, हाय, हमारे ये सखा ग्वाल-बाल समझते तो हैं नहीं, झूठ-मूठ अजगरकी उत्प्रेक्षा करते हैं, लेकिन यह तो सचमुच अजगर है—'इत्थं मिथोऽतथ्यमतज्ज्ञ-भाषितम्।' (२५)

अब तो जबतक भगवान् ग्वाल-बालोंको रोकें तबतक वे सब-के-सब अजगरके मुहमें घुस

गये। लेकिन अभी उसने अपना मुँह बन्द नहीं किया—यह सोचकर कि जब श्रीकृष्ण घुस आयेंगे तब मैं अपना मुँह बन्द कर लूँगा।

भगवान्‌ने सोचा कि बेचारे दीन ग्वाल-बाल तो मेरे हाथसे निकलकर मौतके ग्रास बन गये, अब मुझे क्या करना चाहिए ? उन्होंने यह निश्चय किया कि जहाँ मेरे भक्त होंगे, वहाँ मैं जरूर जाऊँगा। मेरे भक्त चाहे अजगरके मुँहमें हों, चाहे पापके मुँह हों चाहे, नरकमें हो; लेकिन वे जहाँ पहुँच जायेंगे, वहाँ मैं उनकी रक्षा करनेके लिए जरूर जाऊँगा।

'तज्ज्ञात्वाविशत्तुण्डमशेषदृग्घरिः' (२८)—उस समय अशेषदृग् भगवान्‌ने शेषकी ओर नहीं देखा। वे बोले कि इस समय तो शेषके वंशसे हमारी लड़ाई हो रही है। अतः उनकी ओर देखनेकी जरूरत नहीं है यह निर्णय करके श्रीकृष्ण उस अजगर रूप अघासुरके मुँहमें घुस गये !

जब देवताओंने यह दृश्य देखा तो वे भयके मारे हा-हाकार करने लगे। कोई-कोई देवता 'हा-हा हू-हू' करके गन्धर्वोंको बुलाने लगे और कहने लगे कि संगीतका ऐसा तान छेड़ो, जिससे अजगर मोहित हो जाय और श्रीकृष्णका कोई अनिष्ट न हो ! किन्तु जब कंसने सुना कि कृष्ण अजगरके पेटमें चला गया है तब उसके यहाँ खुशी मनायी जाने लगी।

इधर भगवान्‌ने देखा कि यह अजगर तो सबको चूर-चूर कर देगा। इसलिए वे उसके गले तक पहुँच गये और वहाँ उन्होने इतना बड़ा रूप धारण किया कि अजगरकी प्राणवायु रुक गयी। जब अजगरकी प्राणवायुने देखा कि मेरा द्वार तो श्रीकृष्णने रोक रक्खा है तब वह श्रीकृष्णके प्रवेशद्वार ब्रह्म-रन्ध्रको फाड़कर निकल गयी—'मूर्धन् विनिष्पाट्य'। (३१)

अब भगवान्‌ने अपनी दृष्टिसे सभी ग्वालबालोंको जीवित कर दिया और फिर उनके साथ स्वयं भी बाहर निकल आये। अजगरके शरीरसे एक ज्योति निकली और वह सारी दिशाओंको प्रकाशित करती हुई आकाशमें स्थित हो गयी। जब भगवान् प्रकट हुए तब वह ज्योति उनके भीतर लीन हो गयी। देवता लोग देखते ही रह गये। वह बड़ी विलक्षण घटना घटित हुई। लेकिन इसमें विलक्षणताकी कोई बात नहीं, क्योंकि पापकी जो अन्तर्ज्योति है, वह तत्त्वतः भगवान्‌से पृथक् नहीं है।

यह लीला किसी भी अवतारमें दिखायी नहीं पड़ती। पापीको तो बहुतोंने तारा है, लेकिन स्वयं पापको ही तारनेकी लीला कहीं देखनेमें नहीं आती। यह तो भगवान् श्रीकृष्ण ही हैं, जिन्होंने साक्षात् पाप अघासुरके भीतर अपने भक्तोंके साथ प्रवेश किया और जब वहाँ भक्तोंने

श्रीकृष्ण-श्रीकृष्णको ध्वनि मचायी तथा श्रीकृष्णको चरण-धूलि पड़ी तब वह स्वयं पाप होनेपर भी पाप नहीं रहा, शुद्ध हो गया और शुद्ध होकर परमेश्वरसे एक हो गया।

इस समय सृष्टिमें ऐसा महोत्सव मनाया गया कि उसकी ध्वनि ब्रह्मलोकमें भी पहुँच गयी। ब्रह्माजीको यह उत्सुकता हुई कि हमारे नगरके बाहर ब्रह्मलोकमें कैसा उत्सव हो रहा है। वे ब्रह्मलोकमें पहुँचे, तब मालूम हुआ कि स्वर्गमें कुछ हो रहा है। स्वर्गमें गये तो मालूम हुआ कि मर्त्यलोकमें कुछ हो रहा है, मर्त्यलोकमें आये तो मालूम हुआ कि व्रजमें—वृन्दावनमें कुछ हो रहा है। फिर जब वे वृन्दावन आये तो वहाँ श्रीकृष्णकी महिमा देखकर दङ्ग रह गये। उन्होंने कहा कि पापकी मुक्ति तो हमारे संविधानमें नहीं है। इसलिए श्रीकृष्णने पापकी मुक्ति करके असंवैधानिक कृत्य कर डाला है। बड़ा आश्चर्य हुआ उन्हें।

व्रजवासी बहुत दिनोंतक उस मरे हुए अजगरके चामसे खेलते रहे। उसके वधकी कथा एक वर्ष बाद व्रजमें पहुँची—

अघोऽपि यत्स्पर्शनधौतपातकः प्रापात्मसाम्यं त्वसतां सुदुर्लभम्। ३८

अघासुरके उद्धारसे यह तात्पर्य निकलता है कि कोई बड़ा-से-बड़ा पापी क्यों न हो; मूर्तिमान् पापी ही क्यों न हो, यदि उसके घरमें भक्त आजाय तो भक्तके पीछे-पीछे भगवान् भी आजाते हैं। भगवान्की मनोमयी प्रतिमा भी हृदयमें आजाय तो भागवती गतिकी प्राप्ति होती है। फिर भगवान् स्वयं आजायँ तब तो कहना ही क्या है? यह भगवान्के स्पर्शकी महिमा है। इसमें आश्चर्यकी कोई बात नहीं।

यह सब चरित्र सुनकर राजा परीक्षितके मनमें बड़ी उत्सुकता हुई। उन्होंने पूछा कि महाराज, अघासुरके वधका वृत्तान्त एक वर्षतक व्रजमें क्यों नहीं पहुँचा? आप कृपा करके मेरी रक्षा करनेवाले प्रभुका विचित्र चरित्र मुझे और सुनाइये—'श्रुत्वा स्वरातुश्चरितं विचित्रम्'। (४०) मुझको बड़ा कौतूहल है कि आप जैसे महापुरुष मुझे पुण्यामृत कथाका पान करा रहे हैं।

राजा परीक्षितका प्रश्न सुनकर श्रीशुकदेवजी महाराजको कथाकी याद आगयी और वे समाधिस्थ हो गये, भाव-समाधिमें लीन हो गये। जब उनके ऊपर पानी छिड़का गया तब बड़े कष्टसे—'कृच्छ्रात्' (४४)—उनको बहिर्मुखता प्राप्त हुई और बोलनेकी शक्ति मिली। इसके बाद उन्होंने कहा कि भागवतोत्तमोत्त परीक्षित, तुमने बड़ा बढ़िया प्रश्न किया। अब तुम आगेका चरित्र सुनो।

यहाँ देखो, श्रीवल्लभाचार्यजी महाराज तथा श्रीरामानुजाचार्यजी महाराज इन दोनोंके सम्प्रदायोंमें जो बड़े-बड़े महापुरुष हुए हैं, वे इन तीन अध्यायोंको, जिनमें ब्राह्मजीके मोहका प्रसङ्ग है, भागवतके अन्तर्गत नहीं मानते।

किन्तु श्रीशाङ्कर सम्प्रदायके श्रीधर स्वामी, श्रीमन्मध्व गौड़ेश्वर सम्प्रदायके आचार्य श्रीजीव गोस्वामी, श्रीरूप गोस्वामी, श्रीसनातन गोस्वामी और श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती तथा निम्बार्क सम्प्रदायके बड़े-बड़े महापुरुष, इन तीनों अध्यायोंको भागवतके अन्तर्गत मानते हैं।

तात्पर्य यह कि भागवतरूप कल्पवृक्षमें तीन सौ बत्तीस शाखाएँ हैं या तीन सौ पैंतीस शाखएँ हैं—इस बातको लेकर आचार्योंमें मतभेद है परन्तु उसपर टीकाएँ सभी सम्प्रदायोंको प्राप्त होती हैं।

श्रीवल्लभाचार्यजी महाराजने भी इन तीन अध्यायोंको प्रक्षिप्त तो कहा है, परन्तु यह मानकर कि ये अध्याय पुराने समयसे चले आरहे हैं, इनपर टीका की है।

पुराणोंमें श्रीमद्भागवत-जैसा सर्वमान्य ग्रन्थ कोई नहीं है। विष्णुपुराण बहुत ही उत्तम कोटिका है। निस्सन्देह उसकी टक्करका ग्रन्थ देखनेमें नहीं आता। परन्तु श्रीमद्भागवतकी बात तो विलक्षण है। इसीलिए इसको कल्पवृक्ष कहा गया है।

हमारा कहना यह है कि श्रीमद्भागवत-रूपी कल्पवृक्षमें तीन सौ बत्तीस शाखाएँ मानो या तीन सौ पैंतीस शाखाएँ मानो, सभी फलप्रद हैं। हमारे लिए सभी आचार्य प्रणम्य हैं। किसीके भी मतका खण्डन करनेकी आवश्यकता नहीं है। अपने-अपने सम्प्रदायके अनुसार सभीकी मान्यताएँ कल्याणकारिणी हैं।



श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि परीक्षित, तुम भगवान्‌की कथाको सुन-सुनकर भी नूतन बना देते हो। यही सारग्राही सन्तोंका स्वभाव है कि वे अपने कान, अपनी वाणी और अपने चित्तको भगवान्‌में लगा देते हैं तथा प्रतिक्षण नूतन-नूतनके समान उनकी कथा सुनते हैं। 'स्त्रिया विटानामिव साधुवार्ता' (२)—जैसे लम्पट पुरुष इकट्ठे होकर स्त्रियोंकी चर्चा करते हैं, वैसे ही साधुलोग भगवान्‌की चर्चा करते हैं।

सुनो परीक्षित, मैं तुमको एक बड़ी गुप्त बात बताता हूँ। भगवान् श्रीकृष्ण ग्वाल-बालोंको अघके मुँहसे बचानेके बाद यमुना नदीके पुलिनपर ले आये और कहा कि देखो मित्रो, यह कितना सुन्दर कितना रमणीक स्थल है—

अहोऽतिरम्यं पुलिनं वयस्याः स्वकेलिसम्पन्मृदुलाच्छबालुकम्।
स्फुटत्सरोगन्धहृतालिपत्रिक - ध्वनिप्रतिध्वानलसद्द्रुमाकुलम्॥ ५

इसमें जो 'सरः' पद है, उसका अर्थ सरोज है। क्या विलक्षण है! सर शब्दसे तत्सम्बन्धी सरोजकी लक्षणा कर लो।

श्रीकृष्ण कहते हैं कि यहाँ पूरे सरोवर ही खिल रहे हैं और उनके गन्धसे भँवरे खिंचे चले आ रहे हैं। चारों ओर पक्षियोंकी मधुर ध्वनि-प्रतिध्वनिसे सुशोभित वृक्ष यहाँकी शोभा बढ़ा रहे हैं। यमुना-पुलिनका बालू कितना कोमल और स्वच्छ है। यहाँ हमारे खेलनेकी सभी वस्तुएँ हैं। आओ, अब हमलोग यहाँ भोजन कर लें, क्योंकि भूखने हम सबको बहुत सता रखा है—'क्षुधार्दिताः' (६)। बछड़े भी पानी पीयें, हरे-हरे तृण चरें और हमलोग अपनी क्षुधाका निवारण करें।

इसपर सब ग्वाल-बालोंने एक स्वरसे 'ठीक है-ठीक है' कहा और वे अपने-अपने छींके खोलने लगे।

यहाँ किसीने शङ्का की कि जब सब ग्वाल-बाल अघासुरके मुँहमें चले गये थे तो उनके ये छींके कहाँ रहे? यदि वे ग्वालबालोंके साथ अघासुरके मुँहमें चले गये तो विषैले क्यों नहीं हो गये? इसका समाधान यह है कि ग्वाल-बाल जब वनमें आते हैं, तब सबसे पहले अपने-अपने छींकोंको पेड़ोंमें टाँग देते हैं और उसके बाद खेलते हैं। इसलिए वे छींकोंके बिना ही अघासुरके मुँहमें गये थे। यदि कहो कि नहीं, ग्वालबाल छींकों सहित ही अघासुरके मुँहमें चले गये थे तो

जिस प्रकार भगवान्‌की अमृतदृष्टिसे वे सब जीवित हो गये, उसी प्रकार उनके छींके भी पवित्र हो गये और उनमें रक्खी हुई भोजन-सामग्रीमें-से विषका प्रभाव समाप्त हो गया।

जब सब ग्वाल-बालोंने अपने-अपने छींके खोल दिये तब वे भगवान् श्रीकृष्णको मध्यमें करके उनके चारों ओर मण्डलाकार बैठ गये। उस समय ऐसा मालूम पड़ा कि भगवान् श्रीकृष्ण आठ मुँह धारण करके ग्वालबालोंके मध्य बैठे हुए हैं। चारों दिशाओं और चारों विदिशाओंकी ओर उनके मुँह हैं। केवल ऊपर और नीचेकी ओर मुँह नहीं हैं। कहते हैं कि परमाणुका संयोग छह ओरसे होता है। फिर भगवान् तो निरवयव हैं, इसलिए उन्होंने अपने सखा ग्वालबालोंकी सुविधाके लिए चारों ओर अपना मुँह बना लिया। पहला मण्डल आठ ग्वालोंका बैठा, दूसरा मण्डल सोलह ग्वालोंका बैठा और तीसरा मण्डल बत्तीस ग्वालोंका बैठा। इसप्रकार हज़ारों ग्वाल-बाल अनेक मण्डल बनाकर बैठ गये। जैसे कमलके पुष्पमें पंखुड़ियोंके बाद पंखुड़ियाँ होती हैं, वैसे ही ग्वालबाल श्रीकृष्णके चारों ओर भोजनके लिए बैठ गये।

यहाँ जरा आप अपने मनको उस दिशामें ले चलिये। श्रीशुकदेवजीके वर्णनका उद्देश्य यही है कि राजा परीक्षितके साथ आप भी उस लीलाका ध्यान करें और अपने प्रपञ्च-चिन्तनको छोड़ दें। जबतक आप संसारकी छोटी-छोटी बातोंका चिन्तन करते रहेंगे तबतक बड़ी वस्तु = भगवान् आपके हृदयमें नहीं आयेंगे।

तो, कोई ग्वाल-बाल फूल लेकर, कोई डाल लेकर, कोई पल्लव लेकर, कोई अङ्कुर लेकर, कोई फल लेकर कोई केले आदिकी छाल लेकर, कोई छींका ही लेकर—मतलब यह कि जिसको जो मिला, वह पात्र लेकर और उसमें सामग्री रखकर भोजन करने बैठ गया—'बुभुजुः कृतभाजनाः'। (९)

देखो ग्वाल-बाल कोई कर्मकाण्डी ब्राह्मण तो थे नहीं कि बड़ी पवित्रतासे भोजन करने बैठते। फिर ग्वाल-बाल तो गाँवके ग्वाले थे, चरवाहे थे, व्रजभूमि तो स्वयं बड़ी पवित्र है, यज्ञ-भूमिसे श्रेष्ठ है। गोवर्द्धन-धारणके समय भगवान्‌ने उसकी पूजा करनेके लिए कहा है। गोपाल थे, इसलिए अपनी-अपनी सुविधाके अनुसार भोजन करने बैठ गये। सभी ग्वालबाल आपसमें बात करें कि हमको यह प्यारा है, वह प्यारा है और हँसें-हँसावें। उनका सौभाग्य कितना महान् है कि वे साक्षात् ईश्वरके साथ बैठकर भोजन कर रहे हैं।

श्रीशुकदेवजी ग्वालबालोंके मध्य भोजनके लिए बैठे भगवान् श्रीकृष्णकी वेशभूषा और शोभा आदिका वर्णन करते हुए कहते हैं—

बिभ्रद् वेणुं जठरपटयोः शृङ्गवेत्रे च कक्षे
वामे पाणौ मसृणकवलं तत्फलान्यङ्गुलीषु।

तिष्ठन् मध्ये स्वपरिसुहृदो हासयन् नर्मभिः स्वैः
स्वर्गे लोके मिषति बुभुजे यज्ञभुग् बालकेलिः ॥ ११

श्रीकृष्णने वेणुको अपने फेंटेमें खोंस दिया है, सींग तथा बेंतको काँखके नीचे दबा लिया है और 'मसृणकवलम्'—दही-भातका मीठा-मीठा ग्रास अपने हाथमें हथेलीपर ले रखा है। 'तत्फलान्यङ्गुलीषु'—भोजनके लिए जो अँचार चाहिए—जैसे टेंटीका, आँवलेका, नींबूका—उन सबको उन्होंने अंगुलियोंमें फँसा लिया है। 'तिष्ठन् मध्ये स्वपरिसुहृदः'—भगवान् अपने सुहृद् ग्वाल-बालोंके बीचमें बैठे हुए हैं और 'हासयन् नर्मभिः स्वैः'—अपनी विनोद भरी बातोंसे सबको हँसाते जा रहे हैं।

मधुमङ्गल नामक सखा श्रीकृष्णके बिल्कुल सामने बैठा है। वह बड़ा हँसोड़ है। उसने देखा कि खीर तो पीनेकी चीज है, इसलिए झट मुँहसे लगा लिया। कुछ खीर तो उसके पेटके भीतर गयी और कुछ पेटके ऊपर गिरकर नाभि तक चली गयी। श्रीकृष्णने कहा कि अरे ओ पेटू, तूने सोचा कि मुँहसे खीर पीयेगा तो देरसे पेटमें पहुँचेगी, इसलिए सीधे पेट ही से पीने लगा ?

भागवत्की इस विनोद-लीलाका वर्णन कृष्णदासजी महाराजने अपने 'गोविन्दलीलामृतम्' नामक ग्रन्थमें बड़े अच्छे ढङ्गसे किया है। भगवान्की यह विनोद-लीला बिना पानीके ही चल रही है। होलीमें जब लोग एक-दूसरेपर पानी डालते हैं, तब हँसी आती है। किन्तु भगवान्की लीला ऐसी है कि बिना पानीके ही, बिना उदकके ही दिलको तर कर देती है। इसीलिए इसको विनोद बोलते हैं। विनोदम् = उदकं बिना। श्रीमद्भागवतमें ही विनोदका इस अर्थमें प्रयोग है।

अब स्वर्गके देवता लोग इस दृश्यको देखकर आश्चर्य-चकित हैं और कहते हैं कि हम लोगोंके लिए जो यज्ञ होता है, उसमें तो ये जल्दी पधारते नहीं, किन्तु ग्वालोंके साथ बैठकर इस पत्तलकी चीज उस पत्तलमें और उस पत्तलकी चीज इस पत्तलमें कर रहे हैं। 'यज्ञभुग् बाल-केलिः'—यज्ञ-भोक्ता भगवान् बाल-केलि करते हुए ग्वाल-बालोंके साथ खा रहे हैं।

अब जब अच्युतात्मा भगवान् श्रीकृष्ण सौभाग्यशाली ग्वाल-बालोंके साथ खाने लगे तब उनके बछड़े तृणके लोभसे बड़ी दूरतक वनमें घुस गये।

इस प्रसङ्गके वर्णनसे यह बताया गया है कि भगवान्से विमुख होनेका कारण क्या है ? 'तृणलोभिताः' (१२)—मनुष्य तृण-जैसे तुच्छ पदार्थके लोभमें आकर भगवान्की ओर पीठ कर देता है और फिर संसारके जंगलमें भटक जाता है।

ग्वाल-बाल बछड़ोंको न देखकर भय-संत्रस्त हो गये और उन्होंने भोजन करना छोड़ दिया 'तानदृष्ट्वाभयसंत्रस्तानूचे कृष्णोऽस्य भीभयम्' (१३)—श्रीकृष्णने कहा कि अरे ग्वाल-बालों

तुम भयको दूर कर दो। 'मित्राण्याशान्मा विरमत'—मेरे मित्रो, तुम भोजन मत छोड़ो, मैं अभी बछड़ोंको लेकर आता हूँ। यह कहकर श्रीकृष्ण चले गये—'सपाणिकवलो ययौ'। (१४)

देखो, जब बछड़े तृणके लोभमें पड़े तब उनको भगवान्‌का वियोग हुआ और जब ग्वाल-बाल बछड़ोंकी चिन्तामें पड़े तब उनको श्रीकृष्णका वियोग हुआ। जबतक मन श्रीकृष्णमें रहता है, तबतक उनका वियोग नहीं होता। श्रीकृष्णका वियोग तो तब होता है, जब मन उनसे अलग चला जाता है।

भगवान् श्रीकृष्णने ग्वाल-बालोंसे तो भोजन न छोड़नेके लिए कहा और स्वयं हाथमें दही-भातका ग्रास लिये चल पड़े। इसी बीच वहाँ ब्रह्माजी आगये। ब्रह्माजी 'अम्भोजन्मजनिः' (१५)—कमलसे पैदा हुए हैं। यह भी कह सकते थे कि वे भगवान्‌के बेटे हैं। किन्तु जब भगवान्‌के बेटेका काम करें तब तो भगवान्‌के बेटे हैं और जब जड़के बेटेका काम कर रहे हैं तो जड़ हैं। कमलके बेटे माने जड़के बेटे हैं। इनकी तीन पीढ़ी जड़ है। अम्भस् अर्थात् जल भी जड़ है, जलके लकारकी डकारसे अभिन्नता होनेके कारण भी जल जड़ है। अम्भोज अर्थात् कमल भी जड़ है और उससे जन्म लेनेके कारण उनमें भी जड़ता आगयी है। खानदानी जड़ता इनके अन्दर है।

ब्रह्माजीने सोचा कि यह तो परमात्मा ही बालक बना हुआ है, इसलिए इसकी कोई और मञ्जु महिमा देखनी चाहिए। इस उद्देश्यसे उन्होंने वनमें घुसे बछड़ोंको पकड़कर दूसरी जगह पहुँचा दिया और जब कृष्ण ग्वाल-बालोंके पाससे चले गये तब उनको भी गुफामें सुला दिया। उनके मनमें पहले यह बात आ चुकी है कि श्रीकृष्णने जो अघको मोक्ष दिया है, वह हमारे वेद-शास्त्रोंके विधि-विधानसे बिलकुल विपरीत है, अवैध है, अविहित है, इसलिए देखना चाहिए कि इनके अन्दर क्या शक्ति है ?

इधर श्रीकृष्णके ढूँढ़नेपर जब न तो कहीं बछड़े मिले और न ग्वाल-बाल मिले तब उन्होंने जान लिया कि यह सब ब्रह्माकी करतूत है—'सर्वं विधिकृतम्।' (१७)

ब्रह्माका एक नाम विधि है—'विधत्ते इति विधिः'। जो विधान करे, वह विधि है—'विधानं विधिः'।

जब भगवान्‌ने जान लिया कि यह सब विधि-विधान है, क्योंकि कभी मुक्त करना और कभी बद्ध करना ब्रह्माका ही दोष है, तब उन्होंने यह दिखानेके लिए कि मेरे सिवाय दूसरी कोई वस्तु नहीं है सोचा—'मुदं कर्तुम्' (१८)। मुझे कुछ ऐसा करना चाहिए, जिससे ग्वाल-बालों और बछड़ोंकी माताएँ भी आनन्दित हों तथा ब्रह्माजीको भी आनन्द मिले।

इसलिए एक ही भगवान् अनेक रूपोंमें प्रकट हो गये। 'उभयायितमात्मानं चक्रे विश्वकृदीश्वरः' (१८)—विश्वकर्ता परमेश्वरने अपनेको दो विभागोंमें विभक्त कर दिया। एक ओर

ग्वाल-वाल बन गये और दूसरी ओर बछड़े बन गये। 'यावद् वत्सपवत्सकाल्पकवपुर्यावत् कराङ्घ्र्यादिकम्' (१९)—बड़ा ही विचित्र दृश्य उपस्थित हुआ। गिनतीमें जितने ग्वाल-बाल थे, जितने बछड़े थे, कुल-के-कुल उतने हो और वैसे ही रूप, रंग आकृति तथा स्वभावके भगवान् बन गये। ग्वाल-बालोंमें कुछ नाटे थे, कुछ लम्बे थे, कुछ दुबले थे, कुछ मोटे थे। भगवान्को हँसानेके लिए कोई लँगड़ा था, कोई काना था, कोई ऐंचाताना था, किसीकी पाँच उँगलियाँ थीं, किसीकी छः उँगलियाँ थीं। किसी-किसीके हाथ-पाँव छोटे, बड़े या विशेष प्रकार के थे। जो जैसा था, वैसा ही प्रतिरूप भगवान्ने बना लिया। जितनी छड़ी, जितने सींग, जितने वेणु, जितने छींके जितने वस्त्र और जितने आभूषण आदि थे, सब-के-सब उतने ही निर्मित हो गये। यहाँ तक कि शील, गुण, आकृति, स्वभाव, व्यवहार आदि भी ज्यों-के-त्यों हो गये। 'सर्वं विष्णुमयं' (१९)—यह वाणी यहाँ सफल और सार्थक हो गयी।

अब आप मनोरञ्जनकी एक बात सुनिये। इस संसारमें कई पण्डित ऐसे होते हैं, जो कहीं जाते हैं तो अपनी धाक जमानेके लिए पहले पता लगा लेते हैं कि वहाँ किस विषयके विद्वान् हैं। यदि किसीने उनको बताया कि 'अत्र वैयाकरणाः'—यहाँ वैयाकरण हैं तो बोलेंगे कि 'वयं वैदिकाः'—हम वैदिक हैं। अब बेचारे वैयाकरण क्या समझें कि ये वैदिक महानुभाव स्वरका उच्चारण ठीक करते हैं या नहीं। यदि पण्डितजीको पता चलता है कि 'अत्र वैदिकाः' तो कहेंगे कि 'वयं वैयाकरणाः'। इस प्रकार जहाँ-जहाँ वैयाकरण होते हैं, वहाँ-वहाँ पण्डितजी वैदिक हो जाते हैं और जहाँ-जहाँ वैदिक होते हैं, वहाँ-वहाँ वैयाकरण हो जाते हैं। ऐसा भी होता है कि जहाँ दोनों होते हैं, वहाँ दोनों नहीं बनते और जहाँ दोनों नहीं होते, वहाँ दोनों बन जाते हैं—'यत्र चोभयं तत्र नोभयम्; यत्र नोभयं तत्र चोभयम्'। लेकिन यह कोई अच्छी रीति नहीं है। यदि अपनी विशेषता दिखानी हो, तो जहाँ जिस विषयके जानकार हों, वहीं दिखानी चाहिए।

श्रीकृष्णने सोचा कि जब ब्रह्माजी मेरी लीला देखना चाहते हैं तब उनको क्या लीला दिखायी जाय! ब्रह्माको सृष्टि-विधानकी चातुरी ज्ञात है। ये सृष्टि बनानेमें बड़े निपुण हैं। किन्तु पहलेसे प्रकृति रहती है, पञ्चभूत रहते हैं, अन्तःकरण रहते हैं, उनको कर्मवासना रहती है, उनका प्रारब्ध रहता है, जीव रहता है। जहाँ जीव है, उपादान है, अन्तःकरण है, कर्म-संस्कार है, प्रारब्ध है और यह निश्चय है कि अगला शरीर क्या मिलना चाहिए, वहाँ ब्रह्माजी जीवको एक शरीर बनाकर दे देते हैं।

श्रीकृष्णने मन-ही-मन कहा कि ब्रह्माजी, तुम मेरे बेटे हो, मैं तुम्हारा बाप हूँ, इसलिए तुमसे कुछ ज्यादा ही जानता हूँ। देखो, मैंने जो सृष्टि बनायी है, उसमें क्या जीव है? नहीं। पञ्चभूतादिका उपादान है? नहीं। कोई कर्म है? नहीं। उनका संस्कार है? नहीं। प्रारब्ध है?

नहीं। किन्तु फिर भी मैं सृष्टि बनाता हूँ। तुम तो सब सामग्री रहनेपर सृष्टि बनाते हो और मैं बिना किसी सामग्रीके सृष्टि बनाता हूँ। तुम्हारी सृष्टि सामग्री-मूलक है और मेरी सृष्टि बिना सामग्रीके है। न तो भीत है, न रङ्ग है और न कूँची हैं, फिर भी मैंने अपने स्वरूपमें जगत्की तस्वीर बना दी है—

शून्य भित्ति पर चित्र रंग नहिं, तनु बिनु लिखा चितेरे।

गोस्वामी तुलसीदासजी महाराजने लिखा है कि सृष्टि तो परमात्मा ही बनाते हैं। श्रीमद्भागवतके 'सर्वस्वरूपो बभौ' (१९)—इस पदका अर्थ भी यही है कि परमात्माके सिवाय दूसरी कोई वस्तु ही नहीं है।

स्वयमात्माऽऽत्मगोवत्सान् प्रतिवार्यात्मवत्सपैः।
क्रीडन्नात्मविहारैश्च सर्वात्मा प्राविशद् व्रजम्॥ २०

तो, श्रीकृष्णकी इस सृष्टिमें स्वयं श्रीकृष्ण तो हैं ही, गाय बछड़े भी श्रीकृष्ण हैं, ग्वाल-बाल भी श्रीकृष्ण, उनके खेल भी श्रीकृष्ण हैं और उनकी सामग्री भी श्रीकृष्ण हैं।

इसके बाद सर्वरूप और सर्वात्मा श्रीकृष्णने सदल-बल व्रजमें प्रवेश किया। सबने अपना-अपना घर और अपनी-अपनी माताओंको पहचान लिया। सबकी माताओंने भी अपने-अपने बच्चे पहचान लिये और उनको गोदमें उठाकर हृदयसे लगाया। 'मत्वा परं ब्रह्म सुतानपाययन्' (२२) गोपियाँ साक्षात् परब्रह्मको ही अपना बेटा समझकर और अपनी गोदमें ले-लेकर दूध पिला रही हैं। कोई उबटन लगा रही है, कोई तेल लगा रही है, कोई अलङ्कार धारण करा रही है और कोई तिलक लगा रही है। सभी अपने-अपने नाम जानते हैं और पुकारनेपर दौड़ते हैं। गैया मैया अपने-अपने बछड़ोंको अपना ही बछड़ा समझकर दूध पिलाती हैं।

देखो, माताएँ गौएँ और गोपियाँ तो सब वही थीं, लेकिन उनके बच्चे और बछड़े आदि श्रीकृष्णकी माया थे। व्रजमें एक वर्षतक उनके पारस्परिक प्रेमकी लता बढ़ती रही। श्रीकृष्ण स्वयं चरवाहे और स्वयं चराये जानेवालेके रूपमें लीला करते रहे—'आपुन खेल आप करि लेखै, खेल संकोचे तब नानक ऐकै।' एक ही परब्रह्म परमात्मा वर्षभरकी अवधितक न केवल ग्वाल-बालों और बछड़ोंके रूपमें बल्कि छीकोंके रूपमें, छड़ियोंके रूपमें, वस्त्राभूषणों आदिके रूपमें प्रतिष्ठित होकर खेल खेलता रहा। स्वरूप अनेक, पर उनमें वस्तु एकके रूपमें भगवान् क्रीड़ा करते रहे।

जब वर्ष पूरा होनेमें पाँच रातें बाकी रह गयी थीं तो एक दिन गोवर्धनकी चोटीपर चरते समय गौओंने देखा कि उनके बछड़े वृन्दावनकी ओर घास चर रहे हैं।

देखो, व्रजमें जो गाँवोंके नाम हैं, वे निराधार नहीं है। यशोदा मैयाने जहाँ छटी देवीकी पूजा की, उसका नाम छटीकरा हुआ। छटीकरासे आगे जाओ तो चौमुहाँ नामक एक स्थान पड़ता है। वहाँ चतुर्भुज ब्रह्माजीको भगवान्‌ने दुरुस्त किया, ठीक-ठाक किया। इसीलिए उसका नाम चौमुहाँ पड़ा। इसी तरह व्रजके अन्य स्थानोंके नाम भी किसी-न-किसी घटनाके आधारपर पड़े हैं।

तो, गोवर्धनकी चोटीपरसे जब गायोंने अपने बछड़ोंको देखा, तब वे अपने-आपको भूल गयीं, पूँछ उठाकर उनकी ओर दौड़ पड़ीं तथा उनके पास आकर उनको दूध पिलाने लगीं। यद्यपि इस बीचमें उनके नये बछड़े भी हो गये थे, फिर भी वे पुराने बछड़ोंको दूध पिलाने लगीं। उनके चरवाहे ग्वालोंने उनको रोकनेकी बहुत कोशिश की, परन्तु वे नहीं रुक सकीं। ग्वालोंको भी उनके पीछे-पीछे दौड़कर आना पड़ा। उनको अपनी गायोंपर बहुत क्रोध हुआ, परन्तु जब उन्हें अपने बच्चे दिखायी पड़े तो उनके हृदयमें भी प्रेम उमड़ पड़ा और उन्होंने उनको हृदयसे लगा लिया।

इस प्रकार बड़े-बूढ़े अपने बच्चोंको हृदयसे लगायें, उनकी आँखोंसे स्नेहके आँसू गिरें और गौयें बछड़ोंको दूध पिलायें। जब बलरामजीने यह दृश्य देखा तब उनको बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने सोचा कि ग्वालोंका अपने बच्चोंसे और गौओंका अपने बछड़ोंसे प्रेम करना तो अपराध नहीं है, परन्तु जब श्रीकृष्ण व्रजभूमिमें साक्षात् विद्यमान हैं, तब उनके रहते हुए लोग उनसे प्रेम न करके अपने बच्चों और बछड़ोंसे प्रेम करें—यह तो बड़ा ही आश्चर्य है। सबसे बड़ी बात यह है कि श्रीकृष्णकी मायाके सिवा दूसरी कोई माया मुझे मोहित नहीं कर सकती। जब बलरामजीने ज्ञान-दृष्टिसे देखा तब उन्हें विदित हुआ कि ये ग्वाल-बाल और बछड़े न तो देवता हैं और न ऋषि हैं। ये तो केवल कृष्ण-ही-कृष्ण हैं। इसलिए बलरामजीने श्रीकृष्णसे कहा कि 'त्वमेव भासीश भिदाश्रयेऽपि' (३९)—भेद दिखायी देनेपर भी उसमें केवल तुम्हीं हो।

फिर बलरामजीके मनमें आया कि यदि श्रीकृष्ण विस्तारसे सुनायेंगे तो उनको बोलनेमें बड़ी तकलीफ होगी। उनको ज्यादा नहीं बुलवाना चाहिए। इसलिए उन्होंने कहा कि कृष्ण, यह पृथक्त्व कैसे हुआ, तुम मुझे संक्षेपमें बता दो—'सर्वं पृथक्त्वं निगमात् कथं वद' (३९)—भगवान् श्रीकृष्णने बलरामजीको इशारेसे सब कुछ बता दिया।

इसी बीच ब्रह्माजी अपने लोकमें गये। भगवान्‌ने सोचा कि ब्रह्माजी अपने लोकमें जाकर थोड़ी देरके लिए भी किसी दूसरे काममें लग जायेंगे तो क्या होगा? तब उनको कालका ख्याल कहाँ रहेगा? फिर तो हमारी लीलाका समय ही बीत जायगा। यह सोचकर श्रीकृष्ण ब्रह्माजीका रूप धारण करके ब्रह्माजीके पहले ही ब्रह्म-लोकमें पहुँच गये और द्वारपालोंसे कह दिया कि आज

एक नकली ब्रह्मा आनेवाला है। वह बड़ा ही बेवकूफ है, उसको तुम लोग पहचान जाओगे। उसको भीतर मत आने देना।

इतना कहकर ब्रह्मा रूपधारी भगवान् अन्तर्धान हो गये। जब ब्रह्माजी आये तो द्वारपालोंने उनकी पिटाई करके उनको लौटा दिया। ब्रह्माजीने भगवान्‌पर माया चलायी, इसलिए उनको उसका फल भोगना पड़ा। जब वे व्रजमें लौटे तो देखते क्या हैं कि वहाँ जितने बालक-बछड़े पहले थे, वे सब-के-सब मौजूद हैं और जिन बालकों-बछड़ोंको उन्होंने गायब किया था, वे सब भी अपने स्थानपर ज्यों-के-त्यों हैं। अब वे सच्चे हैं या ये सच्चे हैं? इनमें माया क्या है, सत्य क्या है, इसका भेद ब्रह्माजीको पहचाननेमें न आये। आये थे मोहित करने विष्णुको, परन्तु अपनी मायासे स्वयं ही मोहित हो गये—

स्वयैव माययाजोऽपि स्वयमेव विमोहितः। ४४

जैसे अन्धकारमयी अमावस्याको रात्रिमें कुहासेका पता नहीं चलता और सूर्यको रोशनीमें जुगनूकी रोशनीका पता नहीं चलता, वैसे ही महान् पुरुषके सामने छोटे मनुष्यकी मायाका पता नहीं चलता।

अब ब्रह्माजी देखते हैं—'तावत् सर्वे वत्सपालाः पश्यतोऽजस्य तत्क्षणात्' (४६)—जितने भी वत्सपाल हैं, वे सब-के-सब विष्णुकी तरह घनश्याम, पीताम्बरधारी, चतुर्भुज, शङ्ख-चक्र-गदा-राजीव-पाणि, किरीटी, कुण्डली, हारी और वनमाली हो गये हैं। सारे-के-सारे बछड़े भी विष्णु हैं। इतना ही नहीं, ग्वालोंकी जो छड़ियाँ थीं, छींके थे, पगड़ियाँ थीं, वे सब भी अलग-अलग विष्णु-रूप हैं। उनका स्वरूप चाँदनीके समान 'विशदस्मेर' है, उनकी आँखें रतनारी हैं, मानो वे रजोगुण और सत्त्वगुण द्वारा अपने भक्तोंकी वस्तुको बनाते हैं तथा अपनी मुस्कानसे उसका पालन करते हैं।

ब्रह्माजीने देखा कि केवल विष्णु ही अनेक नहीं, ब्रह्मा भी बहुत हैं। वे स्वयं तो चार मुँहवाले हैं, किन्तु वहाँ जो ब्रह्मा हैं, वे सोलह और बत्तीस मुँहवाले हैं तथा सब-के-सब आत्मादि-स्तम्बपर्यन्त भगवान्‌की पूजा कर रहे हैं। कभी दृश्य नहीं होनेवाली अणिमादि, महिमादि, अजादि विभूतियाँ तत्त्व तथा काल, स्वभाव, संस्कार, काम, कर्म-गुण ये सब-के-सब मूर्तिमान् होकर भगवान्‌की उपासना कर रहे हैं। विष्णु-स्वरूप दीखनेवाले ग्वाल-बालोंकी 'सत्यज्ञानानन्तानन्द-मात्रैकरसमूर्तयः' (५४)—सत्य, ज्ञान, अनन्तानन्दमय मूर्ति ऐसी थी कि उपनिषद्-दर्शी लोग भी उनकी महिमाका स्पर्श न कर सकें। ब्रह्माने देखा कि यहाँ तो सब-के-सब पर ब्रह्मस्वरूप हैं और उन्हींके प्रकाशसे यह सम्पूर्ण सृष्टि प्रकाशती है।

अब तो ब्रह्माजीकी ग्यारहों इन्द्रियाँ व्याकुल हो गयीं और वे उनके सामने 'पूर्देव्यन्तीव पुत्रिका'—पुरदेवी, ग्रामदेवी जैसे हो गये।

इतीरेशेऽतर्क्ये निजमहिमनि स्वप्रमितिके परत्राजातोऽतन्निरसनमुखब्रह्मकमितौ।
अनीशेऽपि द्रष्टुं किमिदमिति वा मुह्यति सति चच्छादाजो ज्ञात्वा सपदि परमोऽजाजवनिकाम्॥ ५७

ब्रह्माजीकी स्थिति ऐसी छोटी हो गयी कि वे उन विष्णु-स्वरूपोंकी ओर आँख भी न मिला सकें। उन्होंने देखा कि वे सब अपनी असाधारण महिमामें प्रतिष्ठित हैं, स्वप्रमितिक हैं, स्वप्रकाश और सुखस्वरूप हैं। अजातः अर्थात् प्रकृतिसे परे हैं और 'अतन्निरसनब्रह्मकमितौ'—तद्भिन्नके निरसन द्वारा ब्रह्मक-वेदान्त-वेदका शिरोभाग उनका प्रतिपादन करता है। उस परब्रह्म परमात्माके सम्बन्धमें 'इरीश' ब्रह्माकी यह दशा हुई कि वे कुछ समझ ही नहीं सके कि यह क्या है।

जब ब्रह्माकी इतनी बड़ी दुर्दशा हुई तब भगवान्ने 'सपदि परमोऽजाजवनिकाम्'—अपनी मायाके पर्देको दूर कर दिया। अब तो ब्रह्माजीकी आँख खुली और उन्होंने चारों ओर देखा। फिर तो उन्हें दिखायी दिया कि यह वृन्दावन है—'वृन्दावनं जनाजीव्यद्रुमाकीर्णं समाप्रियम्'। (५९) इस वृन्दावनमें एक-एक पेड़ और पौधे ऐसे हैं, जिनसे मनुष्य अपनी जीविका चला सके।

'समाप्रियम्'का एक अर्थ है कि वहांके वृक्ष कल्पवृक्षसे भी अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। ये तो साक्षात् सद्घन, चिद्घन, आनन्दघन हैं, भगवद्रूप हैं। उनमें तो बड़े-बड़े महापुरुष लोग समाये हुए हैं, भगवान् समाये हुए हैं।

'समाप्रियम्'का दूसरा अर्थ है,—सम् सम्यक् आ समन्तात् प्रियाणि यस्य तत् समाप्रियम्'। तात्पर्य यह कि वृन्दावनमें जहाँ देखो वहाँ प्रिय वस्तुएँ फैली हुई है।

'समाप्रियम्'का तीसरा अर्थ है—'मा = राधा तस्याः प्रियः श्रीकृष्ण तेन सह समाप्रियम् वृन्दावनम्'। मतलब यह है कि श्रीराधाजीके स्वामी श्रीकृष्ण हैं और उनके साथ वृन्दावनकी एक-एक वस्तु रहती है।

'समाप्रियम्'का चौथा अर्थ यह है कि वृन्दावन सम लोगोंका, समदर्शियोंका आप्रिय है अर्थात् अत्यन्त प्रिय है।

वृन्दावनमें एक तो पुरुषोत्तमजी महाराज और दूसरे मधुसूदनजी भट्ट—ये दो विलक्षण कथा-वाचक हुए हैं। एक बार पुरुषोत्तमजी काशी आये थे और यहाँ उन्होंने सत्ताइस दिनोंतक 'समाप्रियम्'—इसकी व्याख्या लोगोंको सुनायी।

तो, ब्रह्माजीने देखा कि यह वृन्दावन ऐसा है कि यहाँके प्राणी आपसमें वैर नहीं करते, मित्रकी तरह रहते हैं। यहाँ भगवान्के निवासके कारण भूख-प्यास नहीं लगती।

तत्रोद्वहत् पशुपवंशशिशुत्वनाट्यं ब्रह्माद्वयं परमनन्तमगाधबोधम्।
वत्सान् सखीनिव पुरा परितो विचिन्वत् एकं सपाणिकवलं परमेष्ठ्यचष्ट ॥ ६१

ब्रह्माजीने यह भी देखा—वृन्दावनमें अद्वितीय ब्रह्म किसी दूसरेको ढूँढ रहा है। अगाध-बोधस्वरूप किसी औरकी तलाश कर रहा है। अद्वय अपने सखाको खोज रहा है।

इस प्रकार ब्रह्माजीने 'सपाणिकवलम्'—हाथमें ग्रास लेकर सखाओंको ढूँढते हुए परब्रह्म परमात्माका दर्शन किया। देखते ही वे अपने हंसपरसे उतर पड़े और उन्होंने भूमिपर 'कनकदण्डमिवाभिपात्य' (६२)—स्वर्ण-दण्डकी तरह गिरकर 'चतुर्मुकुटकोटिभिरङ्घ्रियुग्मं स्पृष्ट्वा' (६२)—अपने मुकुटके चारों नोकोंसे श्रीकृष्णके चरणारविन्दका स्पर्श किया।

आप ध्यान दें कि यदि किसी आदमीके चार सिर हों, चारों सिरोंपर चार मुकुट हों, वह किसीको दण्डवत् प्रणाम करे और फिर चारों मुकुटोंकी नोकोंसे पाँव छूये तो कैसे छूयेगा? एक बार छाती नीचे करके छूयेगा, दूसरी बार दाहिनी ओरसे छूयेगा, तीसरी बार बायीं ओरसे छूयेगा और चौथी बार पीठकी ओर छूयेगा।

इसी प्रकार ब्रह्माजीने धरतीपर लोट-पीट होकर भगवान्को नमस्कार किया। उन्होंने 'मुदश्रुसुजलैरकृताभिषेकम्'—अपने आनन्दके आँसुओंसे 'अभिषेकम् अकृत'—भगवान्का अभिषेक किया। वे बारम्बार उठ-उठकर श्रीकृष्णके चरणोंमें गिरे। उनको बारम्बार पहलेकी महिमाका स्मरण हो। उन्होंने मुकुन्द भगवान्को देखा और फिर हाथ जोड़कर, आश्रित होकर, एकाग्र चित्तसे, 'सवेपथुः' (६४)—काँपते हुए, गद्गदया 'इलया ऐलत'—गद्गद वाणीसे भगवान्की स्तुति प्रारम्भ की।



नौमीड्य तेऽभ्रवपुषे तडिदम्बराय गुञ्जावतंसपरिपिच्छलसन्मुखाय।
वन्यस्रजे कवलवेत्रविषाणवेणुलक्ष्मश्रिये मृदुपदे पशुपाङ्गजाय॥ १

ब्रह्माजीको पहले तो कुछ सूझता ही नहीं है, उनकी प्रतिभा जवाब दे गयी है। उनको केवल यही दीखता है कि एक साँवरा-साँवरा शिशु सामने खड़ा है, जो काले बादलके समान रसवर्षी है। उन्होंने कहा कि 'हे अभ्रवपुषे, हे ईड्य, ते त्वां प्रसादयितुं नौमि।' इसमें प्रयुक्त 'ते'का अर्थ होता है 'तुभ्यम्', तुभ्यम्का अर्थ है 'त्वां प्रसादयितुम्'—तुम्हें प्रसन्न करनेके लिए, तुम्हें मनानेके लिए प्रयोजनवश 'त्वदर्थमेव त्वां नौमि'—तुम्हारे ही लिए हम तुमको नमस्कार करते हैं।

जब लोग अपने किसी बड़ेके सामने जाते हैं और एकाएक बोलने लगते हैं तो जीभ थोड़ी लड़खड़ा जाती है। यही हाल यहाँ ब्रह्माका हो रहा है। वे कहते हैं कि हम तुम्हारे लिए ही, तुम्हें मनानेके लिए ही तुमको नमस्कार करते हैं। 'नौमीड्य'में 'ईड्य' शब्दका प्रयोग करके यह भी बता दिया कि आप ही वेद-प्रतिपाद्य हैं।

देखो, 'अग्निमीडे पुरोहितम्' (ऋग्वेद १.१.१)'का जो 'ईडे' है, उसीसे यह 'ईड्य' बना हुआ है।

'तडिदम्बराय'—आप पीताम्बरके धारी हैं। आपका मेघ-सा शरीर है, बिजली-सा वस्त्र है। आपके कानमें गुञ्जाके कुण्डल हैं, सिरपर मयूर-पिच्छ मुकुट है और आप वनमाला धारण किये हैं। 'कवलवेत्र'—आपके दायें हाथमें दही-भातका ग्रास है, काँखके नीचे बेंत है और विषाण, वेणु, आपके चिह्न हैं। 'लक्ष्मश्रिये'—लक्ष्मीने ही ये सब अनेक रूप धारण किये हैं। 'मृदुपदे पशुपाङ्गजाय'—आप पैदल चल रहे हैं, आपके बड़े कोमल चरण हैं। आप नन्दनन्दन हैं।

'पशुपाङ्गज' शब्दका अर्थ होता है नन्दनन्दन। 'पशुप'—माने नन्दबाबा, अङ्गज माने पुत्र। हमारे भागवती पण्डित भूपनारायणजी महाराज भागवत पढ़ानेके बाद भी जब कभी मिलते थे तो 'पशुपाङ्गजाय'का अर्थ जरूर सुनाते थे। उन्होंने विराट् पुरुषका जो वर्णन है, उसको सारा-का-सारा ही इसके अर्थमें आरूढ कर दिया था। 'पशून् मूर्खान् विद्याभिदानेन पान्ति इति पशुपा ब्राह्मणाः। पशुपा ब्राह्मणाः अङ्गजाः मुखजा यस्य, स पशुपाङ्गजः तस्मै।' इसी प्रकार 'पशुपाः क्षत्रियाः पशुपा वैश्याः, पशुपाः शूद्राः।' इस तरह सारे विराट् अवयवोंकी व्याख्या वे 'पशुप' शब्दके साथ जोड़कर सुनाते थे। उनके पास इस शब्दकी एक सौ पन्द्रह प्रकारकी व्याख्याएँ थीं।

ब्रह्माजी कहते हैं कि प्रभो, आपका यह शरीर पाञ्चभौतिक नहीं है, भक्तोंकी इच्छासे बना हुआ है। मैं तो इसीकी महिमा नहीं जानता। फिर आपके ब्रह्म-स्वरूपकी महिमा मैं क्या

जानूँगा ? इसलिए जो सत्पुरुष हैं, वे ज्ञानके लिए प्रयास न करके आपके भक्तोंके द्वारा मुखरित आपकी कथासे ही अपने जीवनकी रक्षा करते हैं। जैसे लोग भोजन करके जिन्दा रहते हैं, वैसे ही वे आपकी कथा सुनकर जीवित रहते हैं और अपने घरमें ही रहकर आपको जीत लेते हैं। जो लोग आपकी कल्याणी भक्तिका परित्याग करके केवल बोधके लिए प्रयास करते हैं, उनके लिए बोध केवल क्लेश देनेवाला ही रह जाता है—वैसे ही जैसे भूसी कूटनेवालेको और कुछ नहीं मिलता, क्योंकि चावल तो पहले ही निकल गया रहता है। बड़े-बड़े योगी भी आपकी कथोपनीत भक्तिके द्वारा आपका स्वरूप जानकर अपको प्राप्त हो गये हैं। भगवान् निर्विकारका ज्ञान तो अविक्रिय रूपसे, स्वानुभव रूपसे, रूपनिषेधसे, अनन्यबोधात्मक रूपसे अपने आपके रूपमें प्रत्यक् चैतन्याभिन्न रूपसे हो भी सकता है, परन्तु सगुणकी महिमाका कोई पार नहीं पा सकता। यदि कोई कदाचित् पृथिवीकणोंको, आकाशके नक्षत्रादिको, कुहासे और हिम-कणोंको गिन भी ले तब भी वह परमात्माकी महिमाका गान नहीं कर सकता।

'तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्षमाणो भुञ्जान एवात्मकृतं विपाकम्' (८)—इस सृष्टिमें जो कुछ भी होता है, उसमें आपकी कृपा है। यहाँ यों भी वाह-वाह है और त्यों भी वाह-वाह है।

मुझे एक महात्माने बताया था कि 'सुसमीक्षमाणः' पदका अर्थ 'प्रतीक्षमाणः' नहीं है। यह नहीं है कि हमारे ऊपर भगवान्की कब कृपा होगी, इसकी हम प्रतीक्षा करें। जैसे सूर्यमें प्रकाश है, वैसे ही भगवान्में कृपा है। जो घटनाएँ घटित होनेवाली हैं, उनमें अगर भगवान्की कृपाकी प्रतीक्षा करते हो तो वर्तमान रूपमें जो भगवान्की कृपा है, उसका तिरस्कार करते हो। इसलिए 'सुसमीक्षमाणः'का अर्थ है भलीभाँति देखना—'सुष्ठु सम्यक् ईक्षमाणः'। जिसको तुम दुःख समझ रहे हो, अनिष्ट समझ रहे हो, असत् समझ रहे हो, मृत्यु समझ रहे हो, उसमें भगवान्की कृपा-ही-कृपा बरस रही है। 'समीक्षमाणः'का अर्थ है कि भगवान्की कृपाको अच्छी तरह पहचान लो।

एक बालकने देखा कि कोई काली-काली चीज उसकी ओर चली आरही है। उसको उसने भालू समझा और डर गया कि यह हमको पकड़नेके लिए आरहा है। जब वह बालक बहुत व्याकुल हो गया तो उसके बापने, जो उसके पीछे ही खड़ा था, पूछा कि बेटा, क्यों व्याकुल हो रहा है ? बालकने कहा कि यह भालू है। बापने उत्तर दिया कि नहीं बेटा, यह भालू नहीं है। तब क्या है पिताजी ? अरे, यह तो तेरा चाचा है, जो कम्बल ओढ़कर आ रहा है जिसे तू भालू समझकर डर जाय। फिर तो बालक निर्भय हो गया।

इसी तरह संसारमें जितनी भयङ्कर घटनाएँ आती हैं, उनमें कम्बल ओढ़कर हमारे चाचा ही आ रहे हैं। उनमें परमेश्वरको पहचानो। जो प्रारब्धसे मिलता है, उसको भोग लो। भगवान्के सामने अभिमान मत करो, सिर मत उठाओ। जो वे करते हैं, उसीमें कल्याण है—ऐसा अनुभव

करते हुए जीवन व्यतीत करनेवाला व्यक्ति 'मुक्तिपदे स दायभाक्' (८)—मुक्ति पदका दायभागी होता है।

ब्रह्माजी कहते हैं कि भगवन्, देखिये मेरी दुष्टता कि मैं आपकी परीक्षा करनेके लिए आया। प्रभो, क्षमा कीजिये! हम आपको नहीं जानते, हम तो अपनेको ही स्वामी मान बैठे, मायाके लेपसे हमारी आँखें अन्धी हो गयीं, इसलिए हमारे ऊपर कृपा कीजिये।

'एषोऽनुकम्प्यो मयि नाथवानिति' (१०)—'अयं मयि नाथवानिति एष जन अनुकम्प्यः'—भगवन्, अब आप हमारे ऊपर कृपा करें, यह समझकर कि हम आपको अपना स्वामी मानते हैं। कहाँ मैं साढ़े तीन हाथका और कहाँ अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड आप। स्वामी एक बात बताइये कि यदि कोई बच्चा अपनी माँके पेटमें हो और वहाँ अपना पाँव पीटे तो क्या माता अपने उस बच्चेका अपराध मानती है! यदि नहीं, तब आप हमें यह बताइये कि 'किमस्तिनास्तिव्यपदेश भूषितम्' (१२)—जब हम ईश्वर हैं, ईश्वर नहीं हैं, ईश्वरका भाव है, ईश्वरका अभाव है अथवा अस्ति-नास्ति करके कुछ भी वर्णन करते हैं तो आपके पेटके बच्चे हैं या नहीं? हम कू-कू, भू-भू आदि जो भी बोलते हैं, वह आपके पेटके भीतर हैं या नहीं? यदि हैं तब आप हमारा अपराध क्यों देखते हैं? क्या दुनियामें कोई ऐसी चीज है, जो आपके पेटके भीतर नहीं है? क्या मैं आपके उदर-नाभि-नालसे प्रकट नहीं हुआ हूँ? क्या मैं आपका बेटा नहीं हूँ? आप सबके आत्मा होनेसे भी नारायण हैं। सबके स्वामी होनेसे भी नारायण हैं। सबके साक्षी होनेसे भी नारायण हैं। यह जल आपका अङ्ग है। इसलिए भी आप नारायण हैं—

आपो नारा इति प्रोक्ताः आपो वै नरसूनवः। मनु० १.१०

जब मैं आपका बेटा हूँ, आपके पेटमें हूँ तो आपको मेरा अपराध क्षमा करना ही पड़ेगा। आप अपनेको जब चाहे दिखा देते हैं और जब चाहे लुप्त कर देते हैं। यह प्रपञ्च जो बाहर है, उसे आपने अपने मुँहमें अपनी मैयाको दिखा दिया। इससे सिद्ध है कि सब-कुछ आपके भीतर ही है। आज ही आपने दिखाया कि पहले आप अकेले थे, फिर सब-कुछ बन गये, फिर उतने ही चतुर्भुज बन गये और फिर अकेले रह गये। जो लोग आपको नहीं जानते, उनके लिए आप ब्रह्मा-विष्णु-महेश तीन बनते हैं और अनेक योनियोंमें अवतार ग्रहण करते हैं। आपकी रुचिको कोई नहीं जान सकता कि आप कब क्या करेंगे?

जगदशेषमसत्स्वरूपं स्वप्नाभमस्तधिषणं पुरुदुःखदुःखम्। २२

इसलिए यह सम्पूर्ण जगत् असत्स्वरूप है, स्वप्नसरीखा है और इसमें कोई युक्ति, प्रयुक्ति नहीं हैं। 'अस्तधिषणम्'—यह निरस्त-प्रतिभास है, दुःखरूप है, आपके स्वरूपमें मायासे उठकर दिखाई पड़ता है और सच्चा न होनेपर भी सच्चा मालूम पड़ता है। एक आप ही उपाधिसे मुक्त, अमृत, परिपूर्ण, निरञ्जन, अद्वय तत्त्व हैं। जिन लोगोंको गुरु-रूप सूर्यके द्वारा उपनिषद्-रूप रोशनी

मिल जाती हैं, वे आपको अपने आत्माके रूपमें ही जानते हैं और 'सकलात्मनामपि स्वात्मान-मात्मात्मतया विचक्षते' (२४)—जो सम्पूर्ण प्राणियोंकी आत्मा है, उसको अपने आत्माके रूपमें देखते हैं।

इस तरह वे 'भवानृताम्बुधि तरन्तीव' (२४)—भवका जो सूखा सागर है, उसको मानो तर जाते हैं। वस्तुतः तरना-वरना तो कहीं है नहीं। यदि कुछ हो तो तरा जाये। जो अपनेको नहीं जानते, उनके लिए ही यह प्रपञ्च सच्चा है। किन्तु ज्ञान होनेपर यह लीन हो जाता हैं। जैसे रस्सीके ज्ञानसे साँपका लय होता है और रस्सीके अज्ञानसे साँपकी उत्पत्ति होती है, इसो प्रकार परमात्माको न जाननेसे संसार, बन्धन और मोक्ष प्रकट होते हैं। परमात्मामें जो 'ऋतज्ञभावात्' (२६)—अर्थात् ऋत माने अबाधित और ज्ञ माने चिदात्मा भाव है, ऋत-स्वरूप और ज्ञ-स्वरूप भाव है, परमार्थभूत सत्ताका भाव है, उससे पृथक् न बन्धन है और न मोक्ष है। आत्मा तो अजस्र अखण्ड चेतन है।

यदि विचार करें तो जैसे सूर्यमें दिन और रातका भेद नहीं है, वैसे ही परमात्मामें बन्ध और मोक्षका भेद नहीं हैं। उपनिषदोंमें आया है—

'न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः। न मुमुक्षुर्न वैमुक्त इत्येषा परमार्थता' (अवधूतोपनिषद् ८; आत्मोपनिषद् ३१, ब्रह्मबिन्दु उप० १०; त्रिपुरातापिनी उप० ५.१०)—उपनिषद्के इस वचनको श्रीगौड पादाचार्यजी महाराजने अपनी सम्प्रदाय-परम्पराके लिए मुख्य वचनके रूपमें निश्चित कर दिया है (माण्डूक्य कारिका २.३२)।

ब्रह्माजी कहते है कि भगवन्, आप हो तो अपनी आत्मा किन्तु आपको मान लिया पराया। जो पराया देह है, उसको मान लिया आत्मा और फिर चले बाहर ढूँढने आपको? 'अहो-ज्ञजनताज्ञता' (२७)—यह कितनी मूर्खताकी बात है कि पढ़ी-लिखी जनता भी पराये देहको मैं मान लेती है और जो अखण्ड, अद्वय, अविनाशी, परिपूर्ण, सच्चिदानन्दघन, प्रत्यक्चैतन्याभिन्न परमात्मा है, उसको पराया, अप्राप्त और परोक्ष मानकर फिर उसको ढूँढने निकलती है। इसलिए 'अतत्त्यजन्तो मृगयन्ति सन्तः' (२८)—सन्तजन अपनी नजरमें जो परमात्माका स्वरूप नहीं लगता, उसको छोड़कर यहीं ढूँढते हैं।

जैसे बिना सर्पके निषेधके रज्जुके स्वरूपकी उपलब्धि नहीं हो सकती, वैसे ही अनात्माके निषेधके बिना परमात्माके स्वरूपकी उपलब्धि नहीं हो सकती। इसीलिए पाँच कोशोंका, तीन अवस्थाओंका और कार्य-कारणका वर्णन है। विशेषण-विशेष्य भावसे अथवा कार्य-कारण भावसे अथवा बाधसामानाधिकरण्य भावसे, किसी भी भावसे परमात्म-तत्त्वका अनुसन्धान करना चाहिए। विशेषण-विशेष्य भावसे विशिष्टाद्वैतके लोग, कार्य-कारण भावसे द्वैताद्वैती लोग और बाधसामानाधिकरण्य भावसे अद्वैतवेदान्ती लोग एक परमात्माके सिवाय दूसरी कोई वस्तु नहीं

है—यह निश्चय करते हैं। मैं देह हूँ—यह अज्ञान-कालमें मालूम पड़ता है। यह तो आध्यासिक सम्बन्ध है। इसको तो किसी-न-किसी प्रकारसे काटना ही पड़ेगा। देहातिरिक्त आत्माका अवबोध हुए बिना न तो धर्म चलेगा, न उपासना चलेगी, न भक्ति चलेगी, न योग चलेगा और न तत्त्वज्ञान होगा ! इस आध्यासिक सम्बन्धकी निवृत्ति तो सर्व मतमें करनी ही पड़ेगी। जबतक देहाभिमानकी निवृत्ति नहीं होगी तबतक कैसे आगे बढ़ेंगे ? इसलिए—

असन्तमप्यन्त्यहिमन्तरेण सन्तं गुण तं किमु यन्ति सन्तः । २८

जिस तरह सर्पका निषेध किये बिना विद्यमान रज्जुकी उपलब्धि नहीं हो सकती, उसी तरह देहादिका निषेध किये बिना किसीको परमात्माकी उपलब्धि नहीं हो सकती। परन्तु यह निषेध भी क्या सबको होता है ?

अथापि ते देव पदाम्बुजद्वयप्रसादलेशानुगृहीत एव हि । २९

यहाँ 'अथापि' पदका प्रयोग करके सबको पूर्व पक्ष बना दिया है। भगवान्के चरणारविन्दका अनुग्रह जिसको प्राप्त होता है, उसीको भगवन्महिमाका ज्ञान होता है। भक्तिके बिना यदि कोई 'एकोऽपि' (२९)—अर्थात् असहाय होकर, बिल्कुल अकेला रहकर चिरकाल तक चिन्तन करे तो क्या उसको परमात्माका बोध होता है ?

ब्रह्माजी आगे कहते हैं कि प्रभो, आप चाहे, इस जन्ममें कृपा कीजिये चाहे अगले जन्ममें कृपा कीजिये, हमारी तो यही आकाङ्क्षा है—हम आपके भक्तोंमें-से कोई हो जायें और हमें आपके चरणारविन्दको सेवा मिल जाये। ये व्रजवासी गायें और गोपियाँ धन्य हैं, जिनका स्तन आपने अपने मुँहसे पीया और आप जिनके बछड़े बन गये, बेटे बन गये। अन्यथा बड़े-बड़े यज्ञ भी आपको तृप्त नहीं कर सके।

अहो भाग्यमहो भाग्यं नन्दगोपव्रजौकसाम् ।
यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम् ॥ ३२॰

अहो, नन्दबाबाके व्रजमें रहनेवाले लोगोंका भाग्य कितना आश्चर्यजनक है। दुनियामें होता यह है कि जीव भगवान्की भक्ति करते हैं, उनके सखा बनते हैं, उनके प्रति मधुर भाव धारण करते हैं, परन्तु इस व्रजमें तो बिल्कुल उल्टा है।

देखिये, इस श्लोकके अर्थमें गौडेश्वर सम्प्रदायके आचार्योंने अपनी कलम तोड़ दी है। उन्होंने क्या खूब लिखा है ! वे कहते हैं कि व्रजवासियोंसे मैत्री करनेके लिए परमानन्द सनातन पूर्ण ब्रह्म स्वयं आया और उसने उनके सामने हाथ फैलाकर कहा कि तुम हमको अपना दोस्त बना लो, अपना बेटा बना लो, अपना प्यारा बना लो। दुनिया तो ब्रह्मको प्यारा बनाती है, किन्तु यहाँ ब्रह्म स्वयंको व्रजका प्यारा बनाता है।

'यन्मित्रं' ञिमिदा-स्नेहने धातुसे 'मित्र' पद बनता है। इसका अर्थ होता है कि परमात्मा

स्वयं अपना स्नेह प्रकट करते हुए कहता है कि तू तो मेरी मैया है, तू तो मेरी प्रेयसी है, तू तो मेरा सखा है। अरे ओ वृक्ष, तू तो मेरा बड़ा प्यारा है, ओ नित्य-निकुञ्ज, तू तो मेरा नित्य निवास-स्थान है। इस प्रकार वह एक-एकसे याचना करता फिरता है कि तू मेरा रिश्तेदार बन जा!

ब्रह्माजी कहते हैं कि ऐसे व्रजवासियोंके सौभाग्यकी महिमा तो अलग है, शङ्कर आदि हम ग्यारह देवता भी बड़े भाग्यवान् हैं; जो इन व्रजवासियोंकी इन्द्रियोंके प्यालोंमें बैठकर आपके चरणारविन्द-रसके मधु, अमृत और आसवका पान करते हैं। मधुसे अभिप्राय है मादक, अमृतसे अभिप्राय है जीवन-दाता और आसवसे अभिप्राय है, सर्वरोग-निवारक। आपका चरणारविन्द-रस मृत्यु-निवारक, परम स्वादु और संसार-विस्मारक है।

देखो, इस प्रसङ्गको लेकर एक आचार्यने तो ब्रह्माजीपर आक्षेप ही कर दिया। वे बोले कि क्यों ब्रह्माजी, ईश्वरने कृपा करके तुमको अन्तःकरणका अधिष्ठाता बना दिया और उसमें तुम देवताके रूपमें अनुग्रह करके बैठे रहते हो। किन्तु अब तो तुम भोक्ता बननेका भी दावा करते हो। क्या सूर्य आँखमें बैठकर रूपका रस लेता है? क्या देवता कानोंमें बैठकर शब्दका रस लेता है? यदि वह भोक्ता बन जायेगा तब तो पाप-पुण्यका भागी भी बनना पड़ेगा। इसलिए देवताओ, सावधान! तुम अनुग्रह तो करना, परन्तु भोक्ता मत बनना। ब्रह्माजी, तुम भूल गये। क्यों बोलते हो कि हम व्रजवासियोंकी इन्द्रियोंमें बैठकर श्रीकृष्ण-पादारविन्द-मकरन्द-रसका आस्वादन करते हैं?

इस प्रकार आचार्यने डाँटा तो ब्रह्माजी सटपटा गये। बोले—अरे भैया, हम लोग कभी-कभी बेइमानी कर लेते हैं, क्योंकि जब बहुत अच्छी चीज इन्द्रियोंसे दीखने लगती हैं तो थोड़ा लोभ हो जाता है। आचार्य बोले कि नहीं-नहीं ऐसा आपको नहीं करना चाहिए। ब्रह्माजी बोले कि ठीक है, हम झूठ बोल गये तो क्या हुआ, क्योंकि हमको तो वह रस मिलता नहीं है।

देखो, भाद्रपद शुक्ला चतुर्थीके चन्द्रमाको कोई नहीं देखता। कहावत मशहूर है—'तजऊ चौथके चन्दाकी नाईं'। किन्तु व्रज-सखी चन्द्रावली थालमें पूजाकी सामग्री लेकर छतपर गयी और चन्द्रमाको अर्घ्य देती हुई बोली कि चन्द्र देवता, हमारे ऊपर कृपा करो! नारदजीने कहा कि अरी बावरी, यह क्या कर रही है, तुम्हें कलङ्क लग जायेगा। चन्द्रावलीने जवाब दिया कि नारदजी, चुप रहो, मैं यही तो चाहती हूँ। व्रजमें सब सखियोंका आदर होता है कि श्रीकृष्ण उनके ऊपर मुग्ध हैं, लट्टू हैं। अमुकके पीछे-पीछे घूमते हैं, अमुकपर कङ्कड़ी फेंकते हैं और अमुकको कदम्बके नीचे आनेके लिए कहते हैं—'कदम्ब तरे आ जइयो कँटोरे काजर वारी'। लेकिन मेरी बदनामी इसलिए हो रही है कि श्रीकृष्ण मेरी ओर तिरछी नजरसे भी नहीं देखते। ऐसी स्थितिमें यदि उनके साथ मिथ्या कलङ्क लग जायेगा तो उससे मुझे उसका अभिमान

हो जायगा और मैं गाँवमें छाती ठोंककर निकलूँगी कि देखो मैं भी कुछ हूँ, तभी श्रीकृष्ण मुझसे भी प्रेम करते हैं—'मिथ्यापवादवचसा ह्यभिमानसिद्धिः'। इसलिए नारदजी यदि मुझे झूठा कलङ्क लगाता है तो लगने दो !

ब्रह्माजी उक्त आचार्यजीको मानो इसी घटनाका स्मरण दिलाते हुए कहते हैं कि हमने भी दुनियामें झूठ-मूठ प्रचार करनेके लिए ही यह कहा है कि हम व्रजवासियोंकी इन्द्रियोंमें बैठकर श्रीकृष्ण चरणारविन्द-रसका आस्वादन करते हैं।

तद् भूरिभाग्यमिह जन्म किमप्यटव्यां यद् गोकुलेऽपि कतमाङ्घ्रिरजोऽभिषेकम्। ३४

ब्रह्माजी कहते हैं कि भगवन्, मेरे लिए सबसे बड़े सौभाग्यकी बात यह है कि इस वृन्दावनमें जहाँ गौएँ चरती हैं, मैं भी कुछ हो जाऊँ, मेरा भी कोई जन्म हो जाय।

भगवान् बोले कि ब्रह्माजी, तुमको फिरसे ब्रह्मा बनायेंगे। ब्रह्माने कहा कि ना, ना, हम ब्रह्मा नहीं बनेंगे। भगवान् बोले—अच्छा, तो तुमको मुक्त कर देते हैं। ब्रह्माने कहा—ना, ना, हम मुक्त भी नहीं होंगे। भगवान्ने कहा कि अच्छा तब आओ मथुरामें। ब्रह्मा बोले कि मथुरामें भी जन्म नहीं लेगें। भगवान्ने पूछा कि तब कहाँ जन्म लोगे ? ब्रह्माने उत्तर दिया, भगवन् ! हम तो वृन्दाटवीमें जन्म लेंगे। भगवान् बोले तो क्या वहाँ कोई ग्वाल या ग्वालिनी बना दें। ब्रह्माने कहा—राम-राम, हमारा इतना भाग्य कहाँ ? हम तो ग्वालिनोंके अपराधी हैं, हमने उनके भाइयोंको हर लिया। भगवान्ने कहा कि अच्छा तो कोई बछड़ा बना दें ? ब्रह्मा बोले—नहीं, हम उनके भी अपराधी हैं, क्योंकि हमने उनको हर लिया। अन्तमें भगवान्ने पूछा—तब क्या बनना चाहते हो ? ब्रह्माजीने कहा—यही कि वहाँ हम कोई घास बन जायें, कोई तृण बन जायें, जिससे कि हमारे ऊपर किसी-न-किसीकी धूल पड़ती रहे। 'कतमाङ्घ्रिरजोऽभिषेकम्' (३४)—चाहे वह धूल गाय-बछड़ेके चरणोंकी हो या किसी उड़ती हुई चिड़ियाके पाँवके पंजेकी हो अथवा हवाके झोंकेसे उड़नेवाली तृणकी हो। ऐसा ही कुछ बना दो व्रजमें भगवन्, क्योंकि यहाँ जो व्रजवासी हैं, उनके जीवन तो मुकुन्द भगवान् ही हैं—'यज्जीवितं तु निखिलं भगवान् मुकुन्दः'। (३४)

पद्मपुराणमें कथा आती है कि किस मन्त्रका अनुसन्धान कौन-सी श्रुति करती है। मन्त्र अनेक हैं, जैसे—अष्टादशाक्षर मन्त्र, त्रयोदशाक्षर मन्त्र, द्वादशाक्षर मन्त्र, दशाक्षर मन्त्र आदि-आदि। गायत्री देवी माला लेकर 'क्लीं कृष्णाय गोविन्दाय गोपीजनवल्लभाय नमः' इस मन्त्रका जप करती हैं। किसीने पूछा कि ऐसा क्यों ? गायत्री देवी बोलीं कि हमको भी वह स्वाद मिले, रस मिले—जो व्रजकी गोपियोंको मिलता है। श्रुतियाँ गोपी होना चाहती हैं। ब्रह्मविद्या भी इसके लिए तपस्या करती-करती जब पीली पड़ गयी तब अगस्त्य ऋषि उसके पास आये।

उन्होंने उसको श्रीकृष्ण-मन्त्रका जप एवं ध्यान बताया और कहा कि तुम इसका अनुष्ठान करो तो व्रजमें तुम्हारा जन्म होगा।

ब्रह्माजी कहते हैं कि 'अद्यापि यत्पदरजः श्रुतिमृग्यमेव'। (३४) श्रुतियाँ तो आज भी इन व्रजवासियोंके चरणोंकी रज ढूँढती हैं।

यदि कहो कि व्रजवासियोंको चरण-रज क्यों ढूँढती हैं, श्रीकृष्णके चरणकी रज क्यों नहीं ढूँढतीं? तो इसका उत्तर है—श्रुतिके अनुसन्धान और गोपियोंकी अवस्थामें फर्क है। क्या फर्क है?

न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति।
न वा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवत्यात्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति॥

(बृहदा २.४.५)

श्रुति कहती है कि—हम दूसरेके लिए दूसरेसे प्रेम नहीं करतीं। अपने लिए सबसे प्रेम करती हैं। किन्तु व्रजकी गोपियोंने सृष्टिमें आगे आकर प्रेम करनेका एक मानक स्थापित कर दिया।

वे अपने लिए श्रीकृष्णसे प्रेम नहीं करतीं अपितु श्रीकृष्णकी सेवाके लिए, उनके सुखके लिए उनसे प्रेम करती हैं। जब उद्धवजीने कहा कि अरी गोपी, तू कहे तो मैं अभी श्रीकृष्णको पकड़कर ले आता हूँ और यहीं तुम्हारे पास हमेशाके लिए रख देता हूँ तो गोपियोंने जवाब दिया कि उद्धवजी, ऐसा मत बोलो। श्रीकृष्ण हमारे बीचमें आजायें तो हमको निस्सन्देह बड़ा सुख मिलेगा, लेकिन यहाँ आनेमें अगर उनकी थोड़ी-सी भी हानि होती हो तो यह हमें अभीष्ट नहीं है—यदि हमारे पास आनेसे उनकी रत्तीभर भी कोई बात बिगड़ती हो तो यहाँ कभी न आवें। हम आजीवन, कल्प-कल्पपर्यन्त उनके विरहमें घुल-घुलकर मरती रहेंगी, परन्तु हमारा जन्म उनको सुख पहुँचानेके लिए है, तकलीफ पहुँचानेके लिए नहीं है।

ब्रह्माजी कहते हैं कि इसी उत्कट प्रेमके कारण व्रजवासियोंका इतना महत्त्व है और उनके चरणोंको धूलकी उपासनाके लिए श्रुतियाँ लालायित रहती हैं।

आप लोगोंने कभी ध्यान दिया होगा कि व्रज शब्दमें रजके सिवाय और है क्या? व्रजमें ब्रह्मका 'ब' है और रज है—ब्रह्मरजको ही संक्षेपमें व्रज बोलते हैं। वहाँ ब्रह्म ही धूलके रूपमें उड़ता-पड़ता रहता है। श्रुतियाँ उसीको ढूँढ़नेके लिए आती हैं।

अब ब्रह्माजी पूछते हैं कि भगवन् इन व्रजवासियोंको आप क्या देंगे—

एषां घोषनिवासिनामुत भवान् किं देव रातेति न-
श्चेतो विश्वफलात् फलं त्वदपरं कुत्राप्ययन् मुह्यति।
सद्वेषादिव पूतनापि सकुला त्वा व देवापिता
यद्धामार्थसुहृत्प्रियात्मतनयप्राणाशयास्त्वत्कृते॥ ३५

ये जो गाँवके रहनेवाले गँवार ग्वाल-बाल हैं और आपसे इतना अनन्य प्रेम करते हैं, इनको आपकी ओरसे क्या मिलेगा ? श्रीकृष्णने कहा कि हम अपनेको ही दे देंगे। ब्रह्माजीने कहा कि ठीक है, माना कि आप सब फलोंके फल हैं, लेकिन स्वयंको देनेसे भी तो आप इनसे उऋण नहीं हो सकते। इनको तो आपसे बड़ा फल मिलना चाहिए।

कुत्रापि विश्वफलात् त्वत् अपरं फलं अयत् अप्राप्नुवत् मुह्यति।

यह सोचकर मेरा चित्त मोहित हो रहा है कि आपसे बड़ा दूसरा कोई फल नहीं है और आप अपने-आपको देकर व्रजवासियोंसे उऋण नहीं हो सकते। क्योंकि 'सतां वेशात्'—सन्तों का-सा वेश बनाकर पूतना आयी और आप न केवल उसको, बल्कि उसके भाई-बन्धुओं और सारे वंशको भी मिले। किन्तु इन व्रजवासियोंका धन, धाम, सुहृद्, प्रिय, गेह, शरीर, प्राण और हृदय सब कुछ तो आपके लिए है। इसलिए जो चीज पूतनाको मिल गयी, वही चीज इनको देकर आप इनसे कैसे उऋण हो सकते हैं ? भगवन्, आप तो इनके ऋणी हो गये और अब इनसे मुक्त होकर कभी बाहर नहीं जा सकते। आप तो हमेशाके लिए इनके प्यारके बन्दी हो गये।

देखो, अब भी सहृदय लोग व्रजमें जाते हैं तो उनको ऐसा ही लगता है—

यहीं कहीं स्याम काहू कुञ्जनमें फिरत होइहैं,
भुज भरि भेंटिबे को हिय उमगत हैं।

इस वृक्षमें, इस लतामें, इस निकुञ्जमें, इस टेंटीमें, इस सरोवरमें कहीं-न-कहीं छिपकर श्यामसुन्दर जरूर क्रीडा कर रहे होंगे। क्योंकि वे व्रजके बाहर तो कभी जाते नहीं। 'वृन्दावनं परित्यज्य पादमेकं न गच्छति'। श्रीकृष्ण वृन्दावनका परित्याग करके एक कदम भी इधर-उधर नहीं जाते।

देखो, जबतक हृदयमें राग आदि रहते हैं तभीतक घर-परिवारका बन्धन रहता है। मनुष्य तबतक मोहमें फँसा रहता है, जबतक वह श्रीकृष्णका नहीं हो जाता।

ब्रह्माजी कहते हैं कि भगवन्, आप निष्प्रपञ्च होकर ही अपने भक्तोंको आनन्दित करनेके लिए प्रपञ्चका विस्तार करते हैं। 'किं बहूक्त्या न मे प्रभो' (३८)—हे प्रभो, अधिक बोलनेसे कोई लाभ नहीं है।

देखो, बहुत बोलना ठीक नहीं है। जितना आवश्यक हो उतना ही बोलना चाहिए। जब आदमी अधिक बोलने लगता है तो उसके बारेमें यह शङ्का होती है कि कहीं यह पागल तो नहीं हो रहा है।

ब्रह्माजीके कथनका आशय यह है कि हम पागल नहीं हुए हैं, होश-हवासमें हैं, इसलिए जो-कुछ कह रहे हैं, सोच-समझकर कह रहे हैं। 'मनसो वपुषो वाचो वैभवं तव गोचरः' (३८)—आपका वैभव हमारे मन, वाणी और शरीरका विषय नहीं है। अब आप हमको अनुमति दीजिये,

क्योंकि आप तो सब जानते हैं। आप जगत्के स्वामी हैं, जगत् आपमें अर्पित है। आप ही सूर्य-रूपसे वृष्णि-कुल-कमलको प्रकाशित करते हैं। आप ही चन्द्रमा-रूपसे देवता, ब्राह्मण आदि-रूप सागरकी वृद्धि करते हैं। आप ही उभय रूपसे अधर्मरूपी अन्धकारका नाश करते हैं। आप राक्षसोंके द्रोही हैं। 'आकल्पमार्कमर्हन् भगवन् नमस्ते' (४०)—हम सूर्यपर्यन्त और कल्पपर्यन्त आपको नमस्कार करते हैं। आप जो आभूषण पहने हुए हैं, उनको भी हम नमस्कार करते हैं। 'आर्कम्'—आपने जो आमका पत्ता अपने शरीरमें धारण कर रखा है, इसको भी हम नमस्कार करते हैं। आपके साथ जिसका भी सम्बन्ध हो गया, वही हमारे लिए नमस्करणीय है।

इस प्रकार स्तुति करके ब्रह्माजीने भगवान् श्रीकृष्णकी परिक्रमा की और उनको नमस्कार करके अपने लोक चले गये। फिर भगवान् ब्रह्माजीसे अनुज्ञा लेकर पहलेवाले बछड़ोंको पुलिनपर ले आये। वहाँ ग्वाल-बाल अभी भोजन ही कर रहे थे। यद्यपि श्रीकृष्णको गये एक वर्ष बीत गया था, लेकिन मायाके कारण ग्वाल-बालोंको एक क्षणका अन्तराय मालूम हुआ। इस दुनियामें भगवान्की लीला ऐसी है कि यहाँ सब कुछ भूल ही तो रहा है। ग्वाल-बाल बोले कि आओ कन्हैया, आओ कन्हैया! अभी तो हमने एक ग्रास भी नहीं खाया है, हमारे साथ भोजन करो। भगवान् उनके साथ बैठ गये।

कहते हैं कि भगवान्का अपराध इन्द्र और ब्रह्मा दोनोंने किया। परन्तु भगवान् केवल ब्रह्मापर नाराज हुए, उनसे बाततक नहीं की और उल्टे इन्द्रके ऊपर प्रसन्न हुए। इसका कारण क्या है? यही कारण है कि इन्द्रने व्रजवासियोंको इकट्ठा करके भगवान्के सामने कर दिया। भगवान् सबको देखकर आनन्दित हो गये। परन्तु ब्रह्माने उनके प्रिय ग्वाल-बालों और बछड़ोंका उनसे अलग कर देनेका प्रयास किया। इसलिए उनको भगवान्की नाराजगीका शिकार होना पड़ा।

अब राजा परीक्षितने यह प्रश्न किया कि महाराज श्रीकृष्ण तो पराये बालक थे, उनसे व्रजवासियोंका इतना प्रेम क्यों हुआ? इसके उत्तरमें जैसे साक्षात् श्रुति बोलती है, वैसे ही श्रीशुकदेवजी महाराज बोलते हैं। वे कहते हैं कि परीक्षित, सब लोग अपने आत्मासे प्रेम करते हैं। अपने आपसे जैसा प्रेम होता है, वैसा प्रेम दूसरेके साथ नहीं होता। इस संसारमें लोग अपने सुखके लिए माँ-बाप, भाई-बहिन और इष्ट-मित्रोंको भी छोड़ देते हैं। लोगोंका अपनी पत्नीसे बहुत प्रेम होता है, वे उसके सामने बड़े-बड़े वायदे करते हैं; परन्तु जब उनका मन दूसरी ओर खिंच जाता है तब वे उसकी ओर दृष्टि भी नहीं डालते। इसलिए मनुष्यका सबसे ज्यादा प्रेम अपनेमें ही होता है। अपने जैसा प्रेम दूसरेमें नहीं होता। देहात्मवादी भी अपने आपसे ही ज्यादा प्रेम करते हैं, दूसरेसे उतना प्रेम नहीं करते। किन्तु जब उनका शरीर बूढ़ा हो जाता है, तब कहते हैं कि हे भगवान्, अब इसको जल्दी उठा लो! उनका भी आत्मासे ही ज्यादा प्रेम होता है। इसलिए

मनुष्य यदि यह जान जाय कि हमारे आत्माके भी आत्मा भगवान् हैं, तब उसका प्रेम स्वाभावतः सबसे ज्यादा भगवान्से हो जायेगा—

तस्मात् प्रियतमः स्वात्मा सर्वेषामपि देहिनाम् । ५४

श्रीकृष्ण तो सब आत्माओंकी आत्मा हैं—'कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम्' (५५) वे जगत्-हितके लिए देहीके समान मालूम पड़ते हैं। जो श्रीकृष्णको पहचान लेते हैं, उनके लिए सब कुछ श्रीकृष्ण-स्वरूप ही है।

यहाँ अद्वैत-वेदान्ती लोगोंको ऐसे सङ्गति लगानी चाहिए कि एक आभास-रूप आत्मा है, दूसरा सर्वार्थरूप आत्मा है। आभास-रूप आत्मा परिच्छिन्न है और सर्वार्थ-रूप आत्मा अपरिच्छिन्न है। आभास-रूप परिच्छिन्न आत्मामें जो प्रीति है, वह संसारकी अन्य सब वस्तुओंसे अधिक है। लेकिन सर्वार्थ अथवा परमार्थ-रूप अपरिच्छिन्न आत्मा श्रीकृष्ण हैं और उनमें जो प्रीति है, वह सर्वोपरि है, स्वरूप-स्थिति है।

वस्तुतो जानतामत्र कृष्णं स्थास्नु चरिष्णु च ।
भगवद्रूपमखिलं नान्यद् वस्त्विह किंचन ॥ ५६

श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि परीक्षित, सभी वस्तुओंका भावार्थ परमार्थ है—

सर्वेषामपि वस्तूनां भावार्थो भवति स्थितः । ५७

'भवति कारणे भवतीति भवत्-कारणं तस्मिन् भवति कारणे।' यहाँ भवनिष्ठाका प्रयोग एकवचनमें हुआ है। भवान्का भी भवति होता है और भू धातुके लट् लकारमें प्रथम पुरुष एक-वचनका क्रियापद भी भवति होता है। परन्तु यहाँ जैसा कि अभी बताया, भवति सप्तम्यन्त पद है। 'भवतीति भवत् तस्मिन्'—कारणमें स्थित है। उस कारणके भी परमार्थ हैं भगवान् श्रीकृष्ण। जो उनके चरणारविन्दका आश्रय लेते हैं, उनके लिए संसार-सागर बछड़ेके खुरके गढ्ढेके समान हो जाता है—'भवाम्बुधिर्वत्सपदं परं पदम्' (५८) परमपद उनके लिए पद हो जाता है और 'पदं यद् विपदां न तेषाम्'—जो विपत्तियोंका पद है, वह उनके लिए नहीं रहता।

परीक्षित, तुमने जो यह पूछा कि भगवान्की यह लीला व्रजमें बड़ी देरसे क्यों पहुँची, इसका रहस्य मैंने तुमको बता दिया। जो लोग इस लीलाको सुनते-कहते हैं, उनको चारों फलोंकी प्राप्ति होती है।

इस लीलामें यह बात बतायी गयी है कि व्यक्त-अव्यक्त जो कुछ सृष्टिमें है, वह सब परमात्माका स्वरूप है। जैसे भगवान् श्रीकृष्णने बिना किसी माया-छायाके, बिना किसी परमाणुके, बिना किसी प्रारब्धके, बिना किसी उपादानके, बिना किसी जीव-भेदके, बिना किसी अन्तःकरणके, अपनेमें एक सृष्टिका चित्र दिखा दिया, ठीक वैसी ही यह विश्व-सृष्टि भगवान्के स्वरूपमें है।



श्रीशुकदेवजी महाराज आगे वर्णन करते हैं—'ततश्च पौगण्डवयः' (१)— अब श्रीकृष्णकी अवस्था छह वर्षकी हो गयी। वे बछड़ा चराना छोड़कर गाय चराने लग गये। जहाँ-जहाँ पशुओंको अच्छी-अच्छी घास मिले, वहाँ-वहाँ ग्वाल-बालोंके साथ जायें और बाँसुरी बजायें।

वृन्दावनकी शोभा निराली है। वहाँ पक्षी चहक रहे हैं, भौंरे गुञ्जार कर रहे हैं, निर्मल जलके सरोवरोंमें कमल खिले हुए हैं। ऐसे वृन्दावनको देखकर भगवान्‌के मनमें विहार करनेकी इच्छा हो जाती है—'निरीक्ष्य रन्तुं भगवान् मनो दधे'। (३)

जादू वह, जो सिरपर चढ़कर बोले। सुन्दर-स्वच्छ जल दिख जाय तो महात्माके मनमें भी पीनेकी इच्छा हो जाती है। एक महात्मासे किसीने पूछा कि महाराज, जल पीओगे? महात्मा बोले कि भाई, प्यास तो बिल्कुल नहीं है। उसने कहा कि महाराज, यह तो मैं हरिद्वारसे गङ्गाजल लेकर आया हूँ। महात्मा बोले कि तब लाओ, पी लें। गङ्गाजल तो मुक्तिका सदाव्रत है। बँटता है गङ्गाजल, पर वास्तवमें गङ्गाजल नहीं बँटता, उसके साथ मुक्ति बँट जाती है।

भगवान्‌ने देखा कि वृन्दावनके वृक्ष फल-फूलसे लदे हुए हैं। उन्होंने सोचा कि उनकी ओर दाऊ-दादाका ध्यान आकर्षित किया जाये तो अच्छा रहेगा। वे हमसे बड़े हैं। बहुत कम बोलते हैं। उनमें गम्भीरता है। कहीं दाऊदादा वृन्दावनकी यह शोभा देखकर उसकी स्तुति करने लग गये और उसके साथ-साथ मेरी प्रशंसा भी करने लग गये कि तुमने मुझे दिखाया तो वह ठीक नहीं होगा।

इसलिए श्रीकृष्णने स्वयं कहा कि दाऊ दादा, यह वृन्दावन आपको फूल और फलोंका उपहार दे रहा है। ये वृक्ष सिर झुका-झुकाकर आपको नमस्कार कर रहे हैं। ये कभी बड़े-बड़े भक्त थे, सन्त थे, अब अपनी इच्छासे वृन्दावनके वृक्ष हो गये हैं। इन्होंने वृन्दावनके हरिण, गाय, बछड़े अथवा पक्षी बननेकी इच्छा नहीं की। क्योंकि गायोंको तो कभी-कभी नन्दबाबा दान कर देते हैं और उनको व्रजके बाहर जाना पड़ जाता है। इसलिए उन्होंने कहा कि हमें तो वृक्ष बनाकर व्रजमें हमारे पाँव गाड़ दिये जायँ, जिससे कि हम अपनी जगहसे टस-से-मस न हों। 'तमोऽपहत्यै तरुजन्म यत्कृतम्' (५)—व्रजसे बाहर जाना तो तम है। उसके नाशके लिए ही इन सन्तोंने व्रजके वृक्ष बनना पसन्द किया।

देखो, उद्धवजी भी यही चाहते हैं कि वे व्रजके लता-पता बन जायें और ब्रह्माजी भी यहो चाहते हैं कि वे व्रजके वृक्ष हो जायें।

श्रीकृष्ण बोले कि दादा, ये भँवरे—जो बड़े-बड़े मुनि हैं, आपके यशका गान कर रहे हैं। आपके स्वागतमें मयूर नाच रहे हैं। हरिणियाँ प्रेमभरी नजरोंसे देख रही हैं और कोकिला कुहू-कुहू गान कर रही है।

यही सन्तका स्वभाव है। जब उसके घरमें अतिथि आता है तो वह मोरकी तरह नाचता है। हरिणीको तरह प्रेमकी दृष्टिसे देखता है और कोयलकी तरह मधुर वचन बोलता है। अतिथिका स्वागत करना सत्पुरुषका स्वभाव है।

धन्य है वृन्दावनकी यह धरती, धन्य है वृन्दावनको यह द्रुमलता। यहाके नदी, पर्वत, खग, मृग सब-के-सब धन्य हैं। इस प्रकार स्वयं श्रीकृष्णने बलरामजीके सामने वृन्दावनकी महिमाका गान किया।

अब तो दाऊदादा प्रसन्न हो गये और भगवान् श्रीकृष्ण उनके तथा ग्वाल-बालोंके साथ चारों ओर विचरण करने लगे। वे कभी ग्वाल-बालोंके साथ भँवरोंके स्वरमें-स्वर मिलाकर गावें, कभी कलहंसोंके साथ कूजन करें, कभो मोरके साथ नाचें और कभो मोरको हँसा दें—'नृत्यन्तं बर्हिणं हासयन् क्वचित्।' (११)

इसका अभिप्राय यह है कि जब मोर नाचें तब भगवान् भा नाचने लगें। दोनों नृत्योंमें होड़ लगनेपर जब मोर हार जाय और श्रीकृष्ण जीत जायें तब ग्वालबाल ताली पीटकर बतायें कि हमारा सखा नृत्यमें मोरसे जीत गया!

श्रीकृष्ण कभी मेघ-गम्भीर ध्वनिसे गायोंको बुलावें, कभी पक्षी और पशुओंकी ध्वनियोंका अनुकरण करें और जब कभी बलरामजी किसी गोपको गोदमें सिर रखकर सो जायें तब स्वयं उनके चरण दबायें—'स्वयं विश्रमयत्यार्यं पादसंवाहनादिभिः (१४)।' भगवान् श्रीकृष्ण दाऊ-दादाके पैर दबाते हुए मानों कहे कि पहले जब तुम लक्ष्मण थे, तब तुम हमारे पाँव दबाया करते थे। पर अब जब बड़े बने हो तो तुम्हें हमसे पाँव दबवाने पड़ेंगे।

'नृत्यतो गायतः क्वापि वल्गतो युध्यते मिथः।' (१५)—यत्तो क्रिया-पद भी है और कर्तृ-पद भी है। 'नृत्यतः गायतः वल्गतः युध्यतः गोपालान् और गृहीतहस्तौ श्यामरामौ क्वचित् नृत्यतः क्वचित् गायतः क्वचित् वल्गतः क्वचित् युध्यतः'—इस प्रकार दोनों तरहसे अर्थ किया जा सकता है। 'हसन्तौ प्रशशंसतुः'का अर्थ है कि दोनों भाई राम और श्याम ग्वाल-बालोंकी क्रीड़ा देखकर हँसें और उनकी प्रशंसा करें। कभी श्रीकृष्ण स्वयं किसी पेड़के नीचे सो जायें और

ग्वाल-बाल उनकी सेवा करें, पाँव दबावें, व्यजन करें तथा उनके अनुरूप गान गायें। इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण अपने-आपको छिपाकर ग्वाल-बालोंके समान चरित्र करें।

रेमे रमालालितपादपल्लवो ग्राम्यैः समं ग्राम्यवदीशचेष्टितः। १९

ऐसे तो भगवान्के पाँव लक्ष्मीजी दबाती हैं, परन्तु आज यहाँ अहीरके बालक पाँव दबाते हैं।

श्रीकृष्णके सखा ग्वाल-बालोंमें श्रीदामा नामका एक प्रधान सखा था। उसके साथ श्रीकृष्ण कभी-कभी खेलमें हार भी जाया करते थे। एकबार हार गये तो उसको कन्धोंपर बैठा लिया। इन व्रजवासियोंने श्रीकृष्णसे ऐसा प्रेम किया, ऐसा प्रेम किया कि वे अपनी ईश्वरता भूल गये और बिल्कुल जीव-सरीखा होकर उनसे हिल-मिल गये।

एक दिन श्रीदामा बड़े प्रेमसे बोला कि बलराम भैया, कृष्ण भैया तुम दोनों सुनो। यहाँसे थोड़ी दूरपर तालका एक बड़ा अच्छा बन है—'तालालिसंकुलम्'। (२१)

देखो, ताल माने ताड़। शुद्ध हिन्दीवाले ताल बोलते हैं, हमारे गाँवोंमें ताड़ बोलते हैं। ताड़का पेड़ साक्षात् तार ही होता है। इसमें ताल भी है, ध्वनि भी है।

श्रीदामा बोला कि बन बहुत बड़ा है। श्रीकृष्णने कहा कि तब तो बढ़िया बात है। श्रीदामा बोला कि भैय्या, उसमें फल भी बहुत हैं, मीठे-मीठे। श्रीकृष्णने कहा कि रहने दो, ताड़का पेड़ बड़ा ऊँचा होता है, उसपर चढ़कर कौन फल तोड़ेगा? श्रीदामा बोला कि 'पतन्ति पतितानि च' (२२)—पेड़पर चढ़नेकी जरूरत नहीं। उसके फल अपने आप धरतीपर गिरे हुए हैं। श्रीकृष्णने कहा कि तब जाकर ले आओ ना! श्रीदामा बोला कि भैया, वहाँ तो धेनुकासुर नामका एक असुर रहता है, उस दुरात्माने रोक लगा रखी है।

अब यहाँ इस प्रसंगका आध्यात्मिक अर्थ देखो। तार माने मन्त्र तो बहुत बढ़िया है, लेकिन इसमें एक दोष आगया। वह दोष यह है कि देहाभिमानी लोग नावको रात भर खेते हैं, लेकिन लंगर उठाते नहीं। इसलिए नाव जहाँ-की-तहाँ रहती है।

एक बार काशीमें कुछ लोगोंने सायंकाल भङ्ग-भवानीका खूब सेवन किया और उसके बाद दशाश्वमेध घाटकी नावपर बैठ गये। उन्होंने आपसमें विचार किया कि आज रातभर नाव खेकर अमुक स्थानपर पहुँच जायेंगे। वे सब नशेमें नाव खेते रहे। जब सबेरा हुआ और लोग स्नान करने आने लगे, तब इनको होश हुआ और इन्होंने देखा कि अरे, यह तो वही दशाश्वमेध घाट है, जहाँ हम लोग शामको थे। फिर बोले कि हमने तो रात भर नाव खेयी, लेकिन यहीं-के-

यहीं कैसे रह गये ? अरे अब समझे, हमने लंगर तो उठाया ही नहीं था, फिर नाव कहाँ जाती ! हम तो भंग-भवानीके नशेमें बिना लंगर उठाये नाव खेते रह गये।

तो, तार आदिसे उपलक्षित मन्त्रका लोग जप तो बहुत करते हैं, लेकिन धेनुकासुरको हटाते ही नहीं हैं। श्री वल्लभाचार्यजी महाराजने अपनी टीकामें कहा है कि 'देहाभ्यासो हि धेनुकाः'। देहमें मैं-बुद्धि, देहाध्यास ही धेनुक है। इस स्थितिमें जितना जप-तप करोगे, उसका फल देहमें ही आयेगा। किन्तु यदि देहाध्यास छोड़दोगे तो तुम्हारी आत्माको उठाकर परमात्मासे मिला देगा।

श्रीदामाने कहा कि धेनुकासुर किसीको फल खाने नहीं देता, हमारी ताल-फलमें बड़ी रुचि है, हमें खिलाओ। इसपर बलराम-कृष्ण तैयार हो गये। श्रीदामाने पहले बलरामजीका सम्बोधित किया था, इसलिए बलरामजी ही वहाँ जाकर फल गिराने लगे। यह देखकर धेनुकासुर आया और उसने बलरामजीपर आक्रमण किया। किन्तु बलरामजीने उसके पिछले पाँव पकड़ लिये—'समेत्य तरसा प्रत्यग् द्वाभ्यां पद्भ्यां बलं बली'। (३०)

देहाभिमानको नष्ट करनेकी रीति यह है कि वह जहाँ है, उससे थोड़ा पीछे हो जाओ। 'प्रत्यक्'—उसके साक्षी होकर बैठ जाओ, उसके द्रष्टा हो जाओ, तब देहाभिमान अपने-आप छूट जायेगा।

बलरामजीने धेनुकासुरके पिछले पाँव पकड़कर उसको चारों ओर घुमाया और फिर ताड़के पेड़पर पटक दिया। वह मर गया। उसके आघातसे बहुत-से ताल-फल धरतीपर गिर गये।

धेनुकासुरका वध भगवान्के लिए कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। फिर भी उनपर आकाशसे फूलोंकी वर्षा होने लगी और मनुष्योंके लिए ताल-फल सुलभ हो गया। उसके बाद भगवान् राम-श्याम अपने साथियों सहित गाते-बजाते सायंकाल व्रजमें पहुँचे—

तं गोरजश्छुरितकुन्तलबद्धबर्ह-वन्यप्रसूनरुचिरेक्षणचारुहासम्।
वेणुं क्वणन्तमनुगैरनुगीतकीर्तिं गोप्यो दिदृक्षितदृशोऽभ्यगमन् समेताः ॥४२

इस श्लोकमें शृङ्गार रसको पुष्ट करनेवाली झाँकी कितनी सुन्दर है ! कहते हैं कि इसमें नवो रसोंका वर्णन हैं। 'गोरजश्छुरितकुन्तल'—देखनेमें तो श्रीकृष्णका अङ्ग बड़ा सुकुमार है, परन्तु दिनभर गायोंके पीछे-पीछे भ्रमण करनेके कारण उनके खुरकी धूल उड़-उड़कर श्रीकृष्णके बालोंपर चढ़ी हुई है। उनमें वृन्दावनके मयूरकी टूटी हुई पांख खुँसी हुई है और वनके ही फूल लगे हुए हैं। 'रुचिरेक्षण'—श्रीकृष्णकी बड़ी सुन्दर चितवन है और 'चारुहासम्'—बड़ी मोहक हँसी है। वे बाँसुरी बजा रहे हैं। ग्वाल-बाल उनकी कीर्तिका गान कर रहे हैं।

यह झाँकी देखनेके लिए गोपियाँ इकट्ठी होकर आयीं। कहते हैं कि सब गोपियोंकी आँखोंमें एकाएक खुजली होने लगी। ऐसा क्यों हुआ ? इसलिए हुआ कि 'दिदृक्षितदृशः' गोपियोंकी आँखें दिदृक्षासे युक्त हैं।

लेकिन दिदृक्षा तो मनमें होती है, आँखमें थोड़े ही होती है। ठीक है, सामान्यतया दिदृक्षा मनमें ही होती है, किन्तु गोपियाँ ऐसी हैं कि उनकी आँखोंमें ही दिदृक्षा है।

दिदृक्षा कहते हैं गाँवोंकी बोलीमें 'दिखवाँस'को। ठीक उसी अर्थमें यहाँ दिदृक्षित पदका प्रयोग है। गोपियोंकी आँखोंमें दिखवाँस उठी। उनकी आँखें श्यामसुन्दरको देखनेके लिए व्याकुल हो गयीं। उन्होंने श्रीकृष्णके मुखारविन्द-मकरन्द-मधुका पान अपने अक्षिरूप भ्रमरोंसे किया। उनकी सत्कृति ग्रहण करके भगवान्‌ने घरमें प्रवेश किया।

इधर यशोदा मैया दिनभर यही सोचती रहीं कि लालाके आनेपर यह करूँगी, यह करूँगी। आज ही नहीं, नित्य प्रति उनका यही चिन्तन चलता था—'यथाकामं यथाकालं व्यधत्तां परमाशिषः'। (४४)

देखो, सेवा रुचि और अवसरके अनुरूप ही होनी चाहिए। यह नहीं कि माघके महीनेमें किसीको ठण्डे पानीसे नहलाया जाय। ऐसी सेवाको गँवारू सेवा बोलते हैं।

किसी गाँवमें एक सज्जनके घर उनके गुरुजी आये थे। जेठका महीना था। उस सज्जनने अपने गुरुजीको खूब नहलाया, खूब पंखा झला। सामने खड़ा-खड़ा एक गँवार देख रहा था। उसके भी गुरुजी थे। उसने सोचा कि जिस प्रकार ये सज्जन अपने गुरुजीकी सेवा कर रहे हैं, वैसी ही सेवा मैं अपने गुरुजीके आनेपर करूँगा। उसके गुरुजी माघ महीनेमें आये। अब उस सज्जनकी देखा-देखी उसने अपने गुरुजीको नहलाया और पंखा झलने लगा। गुरुजी बोले कि बाबा, ठण्डके मारे कँप-कँपी हो रही है, दाँत किट-किटाते हैं। अब तो रहने दो। सेवकने कहा कि नहीं महाराज, हमारे पड़ोसीने अपने गुरुजीकी ऐसी सेवा की थी, इसलिए मैं भी वैसी ही सेवा करूँगा। ऐसी सेवा किस कामकी ! सेवा तो 'यथाकामम्' माने यथारुचि और 'यथाकालम्' माने अवसरके अनुसार ही होनी चाहिए।

यशोदा और रोहिणी मैया सेवा-विधिको अच्छी तरह जानती थीं। उन्होंने अपने लाडले बच्चोंकी थकान दूर की। उनको बढ़िया वस्त्र और आभूषण धारण कराये। फिर सुस्वादु भोजन करवाया। बड़ा लाड़-प्यार किया। तब राम-श्याम दोनों सो गये।

ययौ राममृते राजन् कालिन्दीं सखिभिर्वृतः। ४७

एक दिन ऐसा प्रसंग उपस्थित हुआ कि भगवान् श्रीकृष्ण बलरामजीको छोड़कर अन्य ग्वाल-बालों और गायों-बछड़ोंके साथ यमुनाजी की ओर चले गये ।

यमुनाजी श्रीकृष्णकी श्रीमती हैं । उनको उनका प्रथम दर्शन करना था । यदि कोई लड़का घरके लोगोंसे छिपाकर लड़कीको देखना चाहता हो तो वह अपने बड़े भाईके साथ कैसे जायेगा ? इसीलिए उन्होंने बलरामजीको छोड़ दिया ।

श्रीकृष्णने सोचा कि यमुनाजीको स्वीकार करनेके पहले उनकी शुद्धि करना भी अभीष्ट है । यदि बलरामजी यमुनाजीको शुद्ध करनेके लिए उनके पेटमें प्रविष्ट हो जायेंगे, तब फिर वे मेरे योग्य नहीं रहेंगी । इसलिए भी भगवान् बलरामजीसे बचकर यमुना-तटपर गये ।

श्रीकृष्णने यह भी सोचा कि यमुनाजीमें अभी कालिय-नाग शेष है और उसका उद्धार करना है । बलरामजीसे उसका भाई-चारा है । कहीं उनके हृदयमें यह भाव आगया कि कालिय-नाग हमारा भाई-भतीजा है, इसको छोड़ दो तो क्या होगा ? अथवा कहीं डाँट दिया तो हमारा जो उसके सिरपर नृत्य करनेका मन है, वह भी नहीं पूरा होगा ।

तो, यह सब सोचकर श्रीकृष्ण बलरामजीको साथ लिये बिना ही यमुना-तटपर पहुँचे । गर्मीके दिन थे, गाय-बछड़े तथा ग्वाल-बाल प्यासे थे । उन्होंने यमुनाका विष-मिश्रित जल पी लिया और सब-के-सब मर गये । किन्तु जब भगवान्ने उनको अपनी अमृतवर्षिणी दृष्टिसे देखा तो सब ग्वाल-बाल और बछड़े जी उठे । अब वे सब आपसमें एक दूसरेको देखें और कहें कि यह हमारे प्यारे सखा श्रीकृष्णका अनुग्रह है, अन्यथा हम विष पीकर कैसे जिन्दा रह सकते !



अब भगवान्‌के मनमें आया कि मैं हूँ कृष्ण और यमुनाजी हैं कृष्णा। दोनों बहुत बढ़िया नाम हैं। कृष्णकी पत्नीका नाम कृष्णा होना चाहिए। किन्तु हमारे बीचमें आगया है कृष्ण साँप—'कृष्णाहिना' (१)। यह नकली चीज है, इसको तुरन्त निकाल देना चाहिए और भगवान्‌ने उसको बाहर निकाल दिया।

परीक्षितजीके यह पूछनेपर कि कालिय नाग जैसे विषधर महासर्पको बाहर निकालना कैसे सम्भव हुआ, श्रीशुकदेवजी महाराजने बताया कि कालिन्दीमें कालियका ह्रद था, जो विषकी आगसे खौलता रहता था।

श्रीवल्लभाचार्यजी महाराजने प्रस्तुत प्रसङ्गमें इस प्रकार लिखा है—'कालियम् इन्द्रियाण्याहुः विषयास्तद् विषं स्मृतम्'—अर्थात् कालिय इन्द्रिय है। उसके हजारों फन हैं। उनके द्वारा विषयका सेवन ही विष है। जबतक इनके साथ भगवान्‌को नहीं मिलाओगे, अपनी इन्द्रियोंके सिरपर भगवान्‌का नाच नहीं कराओगे तबतक उनका विष निचुड़कर बहनेवाला नहीं है।

कालिय ह्रद विषाग्निसे इतना जलता रहता था कि यदि उसके ऊपरसे कोई चिड़िया भी निकले तो वह उसमें गिरकर जल जाती थी—'यस्मिन् पतन्त्युपरिगाः खगाः'। (४)

देखो यह चिड़िया आकाशमें उड़ती है, इसलिए खग कहलाती है। खग आकाशमें उड़नेवाले सिद्ध लोगोंको भी कहते हैं—'खे गच्छन्ति इति खगाः'। उन्हें यह अहं होता है कि हम सिद्ध हो गये, हमको योग-सिद्धि मिल गयी। देवता हमें हाथ जोड़ते हैं, हम आसमानमें उड़ते हैं। यह सब-कुछ ठीक है बाबा, लेकिन जब तुम अपने इन्द्रियरूपी कालिय नागके विषके पास-पड़ोसमें आओगे तब तुम्हारी सब सिद्धियाँ चकनाचूर हो जायेंगी और तुम्हारी इन्द्रियाँ तुम्हें खा जायेंगी।

कृष्णः कदम्बमधिरुह्य ततोऽतितुङ्गमास्फोट्य। ६

अब भगवान् श्रीकृष्ण कालिय नागसे निपटने और उसको बाहर निकालनेके उद्देश्यसे एक ऊँचे कदम्बपर चढ़ गये।

कदम्ब क्या है ? 'कुत्सिता अम्बा यस्य तत् कदम्बम्'। पहले पक्षी उसके बीज खा लेते हैं। जब उनके पेटको गर्मीसे उनकी त्वचा या छिलका कुछ गीला पड़ जाता है तब बाहर निकलनेपर उनमें अंकुर निकलता है। हमारे अनुसन्धित्सु, महापुरुषोंने इनका नाम कदम्ब इसीलिए रखा है कि ये पक्षियोंके गुदाद्वारसे निकले बीजसे पैदा होते हैं।

तो कालिय-ह्रदके विषके सामने कोई वृक्ष भी उसके आसपास टिकता नहीं था. सब सूख जाते थे परन्तु यह कदम्ब कैसे बच गया ?

इसकी एक कथा है। पहले गरुड़जी महाराज यमुना-तटपर आया करते थे। वे भगवान्‌के परम कृपा-पात्र हैं। यह नहीं समझना कि पक्षीपर भगवान्‌की कृपा नहीं होती। भगवान्‌की कृपा तो गीधपर भी, कौएपर भी है, फिर गरुड़ तो पक्षिराज हैं, भगवान्‌के परम भक्त है, नित्य पार्षद हैं। लेकिन उनका जैसा वेश है, उसीके अनुसार आहार-व्यवहार होता है। एक बार जब वे अमृतका कलश लेकर आ रहे थे तो उन्होंने कदम्बके वृक्षपर अमृत-कलश रख दिया और अपना भोज्य ढूँढ़नेके लिए उस ह्रदमें चले गये। वहाँ सौभरि ऋषिने गरुड़जीको शाप दिया कि तुम यहाँ मत आना। उसके बाद गरुड़जी वहाँ नहीं गये। लेकिन उन्होंने जो कदम्ब वृक्षपर अमृतका कलश रख दिया था, उसके कारण वह अमर हो गया और कालिय नागके विषसे दग्ध नहीं हुआ। अन्यथा कालिय ह्रदके आस-पासकी वृक्ष-वनस्पतियाँ आदि उसमें गिर-गिरकर जल जाती थीं।

ऐसा भी समझो कि जिसके ऊपर भगवान्‌का अनुग्रह होनेवाला होता है, उसपर विषका प्रभाव नहीं पड़ता। यह एक लक्षण है। जिसकी इन्द्रियोंपर संसारके विषय-विषका प्रभाव न पड़े, समझ लेना कि उसके ऊपर भगवान्‌का अनुग्रह जरूर होगा। भगवदनुग्रह प्राप्त पुरुषपर विषका प्रभाव नहीं होता।

अब भगवान् उस कदम्ब-वृक्षसे कालिय ह्रदमें कूद पड़े। उनको देखकर नागपत्नियोंने बहुत समझाया-बुझाया कि अरे ओ बालक, भाग जा यहाँसे, अभी हमारे नागराज शयन कर रहे हैं। जागनेपर तुमको भस्म कर देंगे। लेकिन भगवान् श्रीकृष्णके ऊपर उनकी बातोंका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। उन्होंने कालिय नागपर एक लात जमा दिया। अब तो 'चक्षुःश्रवाः' (८)—जाग उठा।

देखो, साँपके एक-एक अङ्गका कैसा अनुसन्धान किया है हमारे महापुरुषोंने। साँपके शरीरमें कान नहीं होता। जैसे हम जीभसे बोलते भी हैं और स्वाद भी लेते हैं, वैसे ही साँप आँखसे ही सुनता भी है और देखता भी है। इसीलिए संस्कृत भाषामें सर्पका नाम चक्षुश्रवा है।

अब पाद-प्रहारसे जागनेपर कालिय नागने श्रीकृष्णको किस रूपमें देखा, इसका वर्णन श्रीशुकदेवजी महाराजके शब्दोंमें सुनो! वे कहीं भी कोई भी मौका मिल जाय तो श्रीकृष्णके सौन्दर्यका वर्णन करने लगते हैं—

तं प्रेक्षणीयसुकुमारघनावदातं श्रीवत्सपीतवसनं स्मितसुन्दरास्यम्।
क्रीडन्तमप्रतिभयं कमलोदराङ्घ्रिं सन्दश्य मर्मसु रुषा भुजया चछाद ॥ ९

कालिय नाग श्रीकृष्णको देखकर उनके सौन्दर्यपर मुग्ध हो गया। उसने देखा कि स्मित, सुन्दरास्य, श्रीवत्स, पीतवसन, सुकुमार, घनावदात और अप्रतिभय बालक क्रीड़ा कर रहा है। वह उनसे लिपट गया।

यह देखकर वहाँ सब लोगोंको बड़ा दु ख हुआ। गाय-ग्वाल-गोपी सब रोने लगे। बड़ा अपशकुन हुआ व्रजमें। गाँवके सब लोग अपना-अपना काम छोड़कर दौड़ पड़े और श्रीकृष्णके चरण-चिह्नोंको देखते हुए कालिय-ह्रदके पास पहुँचे। वहाँ श्रीकृष्णकी दशा देखकर सबको बड़ी व्याकुलता हुई। कइयोंने कालिय-ह्रदमें घुसनेकी चेष्टा की किन्तु बलरामजीने सबको रोक दिया। बलरामजी श्रीकृष्णकी शक्तिसे परिचित थे, इसलिए उन्हें कोई चिन्ता नहीं हुई।

जब भगवान्ने देखा कि उनके लिए व्रजके सभी सखा-सँघाती बड़े दुःखी हो रहे हैं तब उन्होंने अपने शरीरको थोड़ा फैला दिया। अब तो कालिय नागका शरीर टूटने लगा और वह उनको छोड़कर कुछ दूर खड़ा हो गया। पहले तो उसके साथ पैंतरेबाजी हुई—'क्रीडन्नमुं परिससार यथा खगेन्द्रः' (२५)। फिर जब वह थक गया तब श्रीकृष्ण उसके सिरपर चढ़ गये। नागके सिरमें बहुत-से लाल-लाल रत्न थे। उनके स्पर्शसे श्रीकृष्णके चरणारविन्द और भी लाल-लाल मालूम पड़ने लगे।

यहाँ वर्णन किया गया है कि 'अखिलकलादिगुरुर्ननर्त' (२६)—संसारमें जितनी भी कलाएँ हैं, सबके आदिगुरु श्रीकृष्ण हैं। नाग-नृत्य अर्थात् नागके सिरपर नृत्य करनेकी कला भी भगवान्ने ही प्रकट की। इसके पहले किसीने ऐसा नृत्य नहीं किया था। इसीलिए भगवान्का एक नृत्यरूप भी है। इसका मन्त्र भी मिलता है—

कालियस्य फणामध्ये दिव्यं नृत्यं करोति तं।
नमामि देवकीपुत्रं नृत्यराजानमच्युतम् ॥

यह मन्त्र भगवान्के बहुत सारे मन्त्रोंमें एक है। श्रीकृष्ण-मन्त्रोंके जानकार लोगोंका यह कहना है कि कालियके सिरपर नाचते हुए भगवान्की एक ध्येय मूर्ति है और इसका एक नृत्य-मन्त्र है।

अब कालिय नागके सिरपर भगवान्‌को नृत्य करनेके लिए उद्यत देखकर देवी-देवता अपने-अपने बाजे लेकर आगये। आकाशमें मृदङ्ग बजने लगा, पणव बजने लगा, आनक बजने लगा तथा और भी नाना प्रकारके बाजे बजने लगे। उन सब बाजोंसे ताल मिलाकर श्रीकृष्ण नागके सिरोंपर नाचने और गाने लगे। उसका जो सिर न झुके, उसको श्यामसुन्दर अपने पदाघातसे रौंद दें।

थोड़ी ही देरमें नागके मुँहसे रक्त निकल-निकलकर बहने लगा और श्रीकृष्णके चरणारविन्दोंपर उसके छींटे पड़ने लगे। ऐसा लगता था, मानों वह अपने खूनके लाल-लाल फूलोंसे भगवान्‌के चरणारविन्दको पूजा कर रहा है। भगवान्‌के अद्भुत ताण्डव नृत्यसे उसका फणात-पत्र भङ्ग हो गया और उसके मुँहसे खूनकी उल्टी होने लगी। अब उसने भगवान्‌का स्मरण किया और मन-ही-मन उनकी शरणमें चला गया।

नागकी यह दशा देखकर उसकी पत्नियोंने अपने बच्चोंको आगे किया और हाथ जोड़कर भगवान्‌की शरण ग्रहण करती हुई प्रार्थना करने लगीं—

प्रभो, आपने हमारे पतिको जो दण्ड दिया है, वह बिल्कुल न्याय-संगत है। आपके सामने चाहे आपका बेटा हो, चाहे अपना शत्रु हो, आप तो सबको समान समझनेवाले समदर्शी हैं। असलमें आपने हमारे पतिको दण्ड नहीं दिया है, इसके ऊपर अनुग्रह किया है। क्योंकि आप इसके सर्पत्वको ही छुड़ा रहे हैं। इसने पहले अभिमान-रहित होकर दूसरोंका सम्मान करते हुए कोई बड़ा भारी तप किया होगा, उसीके फलस्वरूप आपने इसपर कृपा की है। लोग थोड़ा-सा तप करते हैं तो उनको ऐसा अभिमान आजाता है कि अपने बराबर किसीको समझते ही नहीं हैं। ऐसी तपस्या फलप्रद नहीं होती। असलमें सर्वजनानुकम्पासे, सबके ऊपर कृपा कर जो धर्म होता है, उसीसे आप सन्तुष्ट होते हैं, क्योंकि आप ही सर्वजीव हैं और सबके हृदयोंमें निवास करते हैं। पता नहीं इसने क्या तपस्या की कि इसको आपके चरणोंकी धूल मिली। आपके चरण-कमलोंकी धूल इतनी दुर्लभ है कि उसके लिए लक्ष्मीजीको भी वहुत दिनोंतक तपस्या करनी पड़ी और तब वह उनको मिली।

प्रभो, आपके चरण-रेणुके जो प्रेमी हैं, वे स्वर्ग, सार्वभौम साम्राज्य, पारमेष्ठ्य, योगसिद्धि अथवा मोक्षादि नहीं चाहते। उनको तो केवल आपकी चरण-धूलि ही चाहिए। ऐसी दुर्लभ चरण-धूलि इसको मिल गयी, जिसके मिलनेपर जीवका परम कल्याण हो जाता है।

इसप्रकार भगवान्की स्तुति करते हुए नागपत्नियोंने अन्तमें कहा कि प्रभो, 'अविश्वाय च विश्वाय तद्द्रष्ट्रेऽस्य च हेतवे' (४८)—आप विश्वातीत हैं, विश्वस्वरूप हैं, विश्वद्रष्टा हैं और विश्वकारण हैं। इस विश्वसृष्टिमें जितने भी शान्त-अशान्त शरीर हैं आपके ही हैं। लगता है, अब हमारे पतिके प्राण चले जायेंगे। किन्तु हम स्त्रियाँ हैं और साधु लोग स्त्रियोंपर हमेशा दया करते हैं। इसलिए हम आपसे अपने पतिके प्राणोंकी भिक्षा माँगती हैं। हम सब आपकी सन्तान हैं। आप हमारे पतिका अपराध क्षमा कर दीजिये और हमारे योग्य आज्ञा कीजिये।

ऐसी स्तुति सुनकर भगवान्ने नागको अपनी नृत्यपरायण एड़ीसे मारना छोड़ दिया। थोड़ी देर बाद कालिय नागमें शक्ति आयी और उसने भगवान्के सामने एक युक्ति प्रस्तुत की। वह बोला कि महाराज, हम कोई रसायन बनाकर अपने मुखमें नहीं रखते हैं। 'वयं खलाः सहोत्पत्त्या' (५६)—हम तो जन्मसे ही खल हैं, खलरूपमें ही पैदा हुए हैं। तामस हैं, आपने ही हमारे स्वभावको क्रोधी बनाया है। फिर आप ही बताइये, हम अपने स्वभावका परित्याग कैसे करें ? क्योंकि इसके साथ तो 'मैं-मेरा'का सम्बन्ध जुड़ गया है।

प्रभो, हम आपके सामने गुस्ताखी तो नहीं करना चाहते, लेकिन कुछ पूछना जरूर चाहते हैं। कृपया बताइये कि आपने यह विश्व बनाया कि नहीं ? बनाया है। आपने इसमें सत्त्व, रज, तम इन तीनों गुणोंकी सृष्टि की है या नहीं ? की है। इस विश्वसृष्टिमें नाना प्रकारके स्वभाव, वीर्य, ओज, योनि और आकृतियों आदिका निर्माण किसने किया है ? आपने किया है। इस जगत्में विषैले जीव हमारे जैसे क्रोधी प्राणी और हमारी जैसी आकृतिवाले सर्प किसने बनाये हैं ? आपने ही बनाये हैं।

प्रभो, जब सब-कुछ आपने ही बनाया—हमारा क्रोध बना दिया, अन्तःकरण बना दिया, हमारे दाढ़में विष दे दिया और साँपकी शक्ल बना दी। यदि आपके बनाये हुए हम कुछ गड़बड़ कर देते हैं तो आप हमको दण्ड क्यों देते हैं ? 'भवान् हि कारणं तत्र सर्वज्ञो जगदीश्वरः' (५९)—आप चाहें हमें दण्ड दें, मार डालें अथवा हमारे ऊपर अनुग्रह करें, लेकिन हम यह साफ-साफ कह देना चाहते हैं कि हमारे द्वारा की हुई गड़बड़ीके मूल कारण तो आप ही हैं, जगदीश्वर। फिर इसमें हमारा क्या कसूर है।

देखो, ये सब वैष्णव लोगोंकी युक्तियाँ हैं। वे ऐसी ऐसी-ऐसी युक्तियाँ जानते हैं कि उनसे कभी-कभी भगवान्को भी चुप करा देते हैं और अपना काम बना लेते हैं।

श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि परीक्षित भगवान् तो जगत्का मङ्गल करनेके लिए आये। इसलिए बोले कि नागराज, तुम यहाँसे समुद्रमें चले जाओ। अब हम तुम्हारे इस कालिय-दहमें गोपियोंके साथ लीला करनेवाले हैं। जो मेरे इस अनुशासनका स्मरण-कीर्तन करेगा, उसको कभी साँपका भय नहीं होगा और जो इस कालिय-दहमें तर्पण-स्नान आदि करेगा, वह पापोंसे छूट जायेगा। तुमको यदि यह भय हो कि गरुड़ भी तुम्हें मारेंगे तो मैंने तुम्हारे सिरपर अपने चरणोंकी मोहर लगा दी है। जब गरुड़जी इसे देखेंगे तो समझ जायेंगे कि तुम वैष्णव हो और वे तुम्हारी कोई हानि नहीं करेंगे। बल्कि अब तो गरुड़जी तुम्हारी मदद करेंगे, क्योंकि उनके साथ तुम्हारा भाई-चारा स्थापित हो गया। तुम हमारे नित्य पार्षदोंमें सम्मिलित हो गये। तुमसे गरुड़जीकी जो दुश्मनी थी, वह तुम्हारे सिरपर मेरे चरणोंका चिह्न अंकित हो जानेसे खत्म हो गयी—

यद्भयात् स सुपर्णस्त्वां नाद्यान्मत्पादलाञ्छितम्।

श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि इसके बाद नागने अपनी पत्नियों और अपने बाल-बच्चों सहित भगवान्की पूजा की, उनको कमलकी माला पहनायी। फिर उनकी परिक्रमा करके वे सब समुद्रके द्वीपमें चले गये। यमुनाजी न केवल निर्विष हो गयीं, बल्कि उनका जल अमृत हो गया।

कई लोग कहते हैं कि कमलके फूल कंसने मँगवाये थे। परन्तु वह कथा श्रीमद्भागवतमें नहीं है। गर्गसंहितामें उसका वर्णन आता है।



: १७ :

राजा परीक्षितने पूछा कि महाराज, कालिय नागने, जो पहले नागालय रमणक द्वीपका निवासी था, अपने निवास-स्थानका परित्याग क्यों किया ?

श्रीशुकदेवजी महाराजने बताया कि वहाँ हर महीने अमावस्याके दिन गरुड़जीके लिए निर्दिष्ट वृक्षके मूलमें एक बलि रखी जाती थी। वह बलि सब नाग मिलकर अपनी-अपनी ओरसे उनको भेंट देते थे।

गरुड़जी महाराज हैं तो वैष्णव, परन्तु उनका खान-पान उनकी जातिके अनुकूल ही है। जैसे कोई वैष्णव आसाम, उड़ीसा, गढ़वाल, नेपाल अथवा बंगालका हो तो उसका खान-पान और रहन-सहन उसके अपने प्रदेश, जाति, सम्प्रदायके अनुसार होता है, वैसे ही गरुड़जीको बात समझ लो।

जब गरुड़जीके लिए भेंट चढ़ानेकी बारी कालिय नागकी आयी तब उसने नहीं चढ़ायी। इसको लेकर दोनोंमें लड़ाई हुई। कालिय नाग गरुड़जीसे हारकर भाग खड़ा हुआ और वह वृन्दावन जाकर यमुनाजीके उस ह्रदमें रहने लगा। वहाँ पहले गरुड़जी भी आया करते थे। लेकिन सौभरि ऋषिके मनमें मछलियोंके प्रति बड़ा पक्षपात था। उन्होंने गरुड़जीका तिरस्कार करते हुए कह दिया कि गरुड़जी, यहाँ आकर मछली खाओगे तो मर जाओगे। तबसे गरुड़जीने वहाँ आना बन्द कर दिया। यह बात कालिय नागको मालूम थी। इसलिए वह वहाँ जाकर बस गया।

अब जब भगवान् श्रीकृष्ण कालिय ह्रदसे निकले तो सबलोग बड़े ही आनन्दित हुए। उन्होंने उनकी पूजा की। उनका बड़ा आदर-सत्कार किया। यशोदा, रोहिणी, नन्द, गोप, गोपी सबका मनोरथ पूर्ण हो गया। बलरामजीने श्रीकृष्णको ह्रदयसे लगा लिया। वे तो उनके प्रभावको जानते ही थे, इसलिए उनकी लीलापर बहुत हँसे। वहाँके वृक्षों, वनस्पतियों, गायों, वृषभों और वत्सों आदिको बड़ा भारी आनन्द हुआ।

ब्राह्मण लोग आये। उन्होंने नन्द बाबासे कहा कि हम लोग जो भगवान्‌की पूजा-उपासना करते हैं, उसीके पुण्यसे तुम्हारा पुत्र कालिय नागके मुँहसे बचा है। इसलिए ब्राह्मणोंको खूब दान दो।

यह सुनकर नन्दबाबा बहुत खुश हुए। उन्होंने सबको गायों और सोनेका दान दिया। यशोदा मैयाके आनन्दका तो कहना ही क्या?

उस दिन सब लोग दिनभरके भूखे-प्यासे और थके-माँदे थे। विना खाये-पीये कालियदहके पास ही रातको सो गये। रातमें अग्निदेवताने विचार किया कि इस समय तो ये व्रजवासी बेहोशीमें सो गये हैं; लेकिन जब प्रातःकाल उठेंगे तो जो फल-फूल मिलेगा, उसे खाने लगेंगे। गाय-बछड़े भी यहाँकी घास चरने लग जायेंगे। किन्तु उनको मालूम नहीं है कि यहाँके फल-फूल और घास-पात आदिमें कालिय नागका विष भरा हुआ है।

इसलिए अग्नि देवताने सबको जलाना शुरू कर दिया। वह दैत्याग्नि नहीं, देवताग्नि थी। अब सब लोग भयभीत होकर भगवान् श्रीकृष्णकी शरणमें गये और कहा कि हम जले, हमें बचाओ। यह घोरतम वह्नि आपके भक्तोंको ग्रस रहा है। इससे हमारी रक्षा करो।

भगवान्‌ने क्षणभरमें उस अग्निको पी लिया। आप जानते हैं कि 'मुखादग्निरजायत' (यजुः, माध्यन्दिन ३१.१२)—अग्निको उत्पत्ति भगवान्‌के मुखसे ही हुई है। जैसे घड़ा फूटनेपर मिट्टीमें लीन हो जाता है और पानी गिरने पर समुद्रमें चला जाता है, उसी प्रकार अग्निका लय अपने उद्‌गम भगवान्‌के मुखमें ही होता है। इसलिए वहाँ उसका लय हो गया। भगवान्‌के मुख-कमलमें अग्निका लय हो, उससे बढ़कर आश्चर्य और क्या हो सकता है।



श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि कालियदहकी लीलाके वाद भगवान् श्रीकृष्ण अपने स्वजन-सम्बन्धियोंके साथ वृन्दावन लौटे। व्रजमें ग्रीष्म-ऋतु आयी। वहाँकी ऐसी महिमा कि ग्रीष्म-ऋतु भी वसन्तके समान मालूम पड़ती थी। सारे वन खिल गये। भगवान् श्रीकृष्ण बलरामजी और ग्वालबालोंके साथ बाँसुरी बजाते हुए वनमें प्रवेश करते। वहाँ कोई नाचता, कोई युद्ध करता, कोई कुश्ती लड़ता, कोई गाना गाता और कोई हँसता। इतना उल्लास होता कि देवता लोग भी वहाँ आकर भगवान्‌की लीलाका दर्शन करते। श्याम और राम एक दूसरेका हाथ पकड़कर कभी घुमरती-परेता खेलते कभी लम्बी छलाँग लगाते, कभी निशाना साधकर ढेला फेंकते, कभी ताल बजाते, कभी आपसमें खिचा-खिची करते और कभी 'चिक्रीडतुर्नियुद्धेन' (१२)—कुश्ती करते। ऐसे खेल-खेलते समय उनके बाल बिखर जाते और फिर वे उसे कन्घोसे सँवारते। 'काकपक्षधरौ क्वचित्' (१२)—कभी कौएकी पाँखका काकुल बनाते।

देखो, भगवान् केवल मोर-पंख ही नहीं धारण करते, कौएकी पाँख भी धारण करते हैं। काकुलको ही काक-पक्ष बोलते हैं।

तो, राम और श्याम कहीं बिल्वसे, कहीं कुम्भसे, कही आमलकसे खेल खेलते, कहीं आँख-मिचौनो करते, कहीं मेंढकोंकी तरह उछलते, कहीं हँसी-मजाक करते, कहीं झूला डालकर झूलते। इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण बलरामजीके साथ वृन्दावनके नदी, पहाड़, द्रोणी, कुञ्ज, कानन, सरोवर आदि सब जगहोंपर लोक-प्रसिद्ध क्रीड़ा करते रहते थे।

एक दिन प्रलम्ब नामका एक बहुत लम्बा असुर आगया। उसकी लम्बाईकी कोई हद नहीं थी। उसने सोचा कि पहले मैं इनके खेलमें शामिल हो जाऊँ, फिर बादमें इन लोगोंको उठा ले जाऊँगा।

भगवान् उसको देखते ही पहचान गये, परन्तु उन्होंने उसे प्रकट नहीं किया। भगवान् अपनी शक्तिसे परिचित हैं। इसलिए कोई असुर भी उनसे मैत्रीका हाथ बढ़ाता है तो वे उसको मना नहीं करते। उनकी तो प्रतिज्ञा है कि जो जिस भावसे मुझे चाहता है, उसी भावसे मैं उसको चाहता हूँ—'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'। (गीता ४.११)

इसलिए भगवान्‌ने उस प्रलम्बासुरके साथ मैत्री कर ली। उन्होंने अपने ग्वाल-बालोंमें दो दल बना दिये और बोले कि हम लोग दो दलोंमें विभक्त होकर क्रीड़ा करेंगे। एक दलके अगुआ बलरामजी हो गये और दूसरे दलके मुखिया श्रीकृष्ण ही गये। दोनों दलोंमें तरह-तरहकी

क्रीड़ाएँ होने लगीं। जो जीत जाते थे, वे हारनेवालेपर चढ़ते थे। उन्होंने यह नारा बना दिया कि 'जीते सो चढ़े और हारे सो ढोवे।'

यह क्रीडा भाण्डीर-वटके आस-पास हो रही थी। बलरामजीके साथी थे श्रीदामा, वृषभ आदि, जो सब-के-सब खेलनेमें बड़े चतुर थे। एक बार वे जीत गये और श्रीकृष्ण आदिको उन्हें अपने कन्धोंपर ढोना पड़ा।

आपलोग यहाँ खेलमें हारे हुए भगवान्को झाँकीका आनन्द लो। 'उवाह कृष्णो भगवान् श्रीदामानं पराजितः' (२४)—श्रीदामासे पराजित हो गये भगवान् श्रीकृष्ण! किन्तु संस्कृत भाषाको महिमा देखो! श्रीकृष्ण पराजित होनेपर भी 'पर-अजितः' ही रहे। परः+अजितः= पराजितः। जो कभी हारे नहीं, उसका नाम पराजित। साधारणतया पराजित माने हारा हुआ ही होता है, किन्तु यहाँ अर्थ हो गया 'परम अजित'। भगवान् अपने सखाके साथ, भक्तके साथ जब हार जाते हैं तो वस्तुतः हारते नहीं हैं, उसको हमेशाके लिए जीत लेते हैं, हमेशाके लिए अपना बना लेते हैं।

अब प्रलम्बासुरने सोचा कि श्रीकृष्णके साथ तो हमारी दाल नहीं गलेगी, इसलिए बलरामजीके साथ ही कुछ करना चाहिए। यह सोचकर वह खेलमें हार गया और बलरामजीको ढोने लगा। कुछ दूर ढोनेके बाद वह उनको लेकर भाग खड़ा हुआ—

स आस्थितः पुरटपरिच्छदो बभौ, तडिद्द्युमानुडुपतिवाडिवाम्बुदः। २६

प्रलम्बासुरका शरीर मेघके समान काला-काला था। उसके कन्धेपर बलरामजीकी कान्ति चन्द्रमाकी तरह थी और वे जो सोनेके आभूषण पहने हुए थे, वे बिजलीके समान प्रतीत हो रहे थे। इसलिए जब प्रलम्बासुर भाग रहा था तब ऐसा लगता था कि काला-काला बादल चन्द्रमा और बिजलीके साथ भागा जा रहा हो! बलरामजीने सोचा कि इसको कृष्णने अपने मित्रके रूपमें स्वीकार किया है, इसलिए इसे मारें या न मारें। बलरामजीको थोड़ा डर लगा— 'हलधर ईषदत्रसत्' (२७)। इतनेमें भगवान्ने उनको प्रेरणा दी कि दाऊदादा, मैंने तो इसको इसीलिए नहीं मारा कि इसने तुमसे मैत्री की है। तुम भी यदि इसको मारनेमें ढिलाई करोगे तो काम बिगड़ जायेगा।

अब बलरामजीने प्रलम्बासुरको एक घूँसा कसकर मारा, जिससे उसका सिर फट गया और वह गिर पड़ा। सब लोग आशीर्वाद देते हुए बलरामजीके पास पहुँच गये। देवताओंने भी पुष्पोंकी वर्षा की।



श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि परीक्षित, जब भगवान् श्रीकृष्ण बलरामजी और ग्वाल-बालोंके साथ खेलमें लगे थे, तब उनकी जितनी भी गौएँ थीं, वे सब हरी-हरी घास चरनेके लोभमें एक भयंकर खानमें घुस गयीं—

स्वैरं चरन्त्यो विविशुस्तृणलोभेन गह्वरम् । १

यहाँ वर्णन है कि जब श्रीकृष्ण गायोंको चराने लगे तब जो भेंड़-बकरियाँ आदि थीं, उन्होंने सोचा कि हम भी तो विराट् पुरुषके अंगसे ही पैदा हुई हैं—जिससे गाय पैदा हुई, उसीसे हम भेंड़-बकरियाँ पैदा हुईं, उसीसे घोड़े आदि भी पैदा हुए। फिर गायोंसे ही तुम्हारा पक्षपात क्यों ? जरा हमारी ओर भी तो ध्यान दो !

इसपर भगवान्ने कहा कि अच्छा भाई चलो, आज तुम लोगोंको भी चरानेके लिए ले चलेंगे। इसलिए—'अजा गावो महिष्यश्च निर्विशन्त्यो वनाद् वनम्' (२)—भगवान् अजा, गाय, भैंस, सबको लेकर वनमें चरानेके लिए गये। कई लोग यहाँ अजा और महिषीका अर्थ दूसरा कर देते हैं। वे कहते हैं कि जिसके बच्चा नहीं हुआ, उस गायका नाम अजा है और जिस गायके कई बच्चे हों, उसका ही नाम महिषी है।

तो गायें और भैंसें आदि चरती-चरती सरकण्डोंके जंगलमें चली गयीं और वहाँ गर्मीके कारण बड़ी व्याकुल हो गयीं। अपना रास्ता भी भूल गयीं। उनको भगवान् बुलायें तो वे उनकी आवाजका उत्तर तो दें, पर रास्ता भूलनेके कारण आ न सकें। इसी बीच वनमें आग लग गयी और हवा बड़ी तेज चलने लगी। यह अग्नि असुर थी। उससे सब-के-सब गोप डर गये और श्रीकृष्ण तथा बलरामजीकी शरणमें आकर आर्त भावसे प्रार्थना करने लगे कि हे कृष्ण, हे राम, हम

लोगोंकी रक्षा करो। हम तुम्हारी शरणमें होकर भी इस प्रकार दुःखी हों, यह हमारे योग्य नहीं है।

भगवान्ने तुरन्त कहा कि—'निमीलयत मा भैष्ट, लोचनानि' (११)—तुम सब लोग अपनी-अपनी आँखें बन्द कर लो, डरो मत।

देखो, कितना भी अनिष्टका प्रसंग उपस्थित हो, यदि मनुष्य योगाभ्यासके द्वारा नेत्र बन्द करके वृत्तियोंका संकोच करके अपने स्वरूपमें स्थित हो जाय, असंग-द्रष्टा हो जाय तो विपत्ति उसका स्पर्श नहीं कर सकती। इसीलिए भगवान्ने उन लोगोंको आँख बन्द कर लेनेके लिए कहा।

जब सब लोगोंने अपनी-अपनी आँखें बन्द कर लीं तो भगवान् श्रीकृष्णने अपने मुखमें अग्निका पान कर लिया और गोपों तथा गौओंके कष्टका निवारण कर दिया।

इस प्रसङ्गको लेकर भक्तिरसायनमें लगभग पन्द्रह-बीस प्रकारकी उत्प्रेक्षाएँ लिखी हुई हैं कि भगवान्ने अग्निका पान क्यों किया? किन्तु उनका वर्णन करनेसे कथाका विस्तार हो जायेगा।

भगवान् श्रीकृष्ण गायों और गोपोंके साथ सायंकाल घर लौट आये। उनके दर्शनसे गोपियोंको बड़ा भारी आनन्द हुआ। क्योंकि श्रीकृष्ण जब गोपियोंकी आँखोंसे ओझल हो जाते थे तब उनके लिए एक क्षणका समय भी सौ-सौ युगके बराबर हो जाता था।



श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि—जब ग्वाल-बालोंने अपने-अपने घरोंमें जाकर यह खबर दो कि किस प्रकार राम-श्यामने प्रलम्बासुरको मारा तथा दावाग्निसे हमारी रक्षा की तब गाँवके सब लोग आश्चर्यचकित हो गये और मनमें ऐसा मानने लगे कि राम और कृष्णके रूपमें कोई देवता ही व्रजमें आगये हैं।

अब वर्षाऋतु आयी। चारों ओर बिजली चमकने लगी। आकाशमें बादल व्याप्त हो गये।

देखो, यहाँ वर्णन तो किया है वर्षाऋतुका, किन्तु इनमें जो उपमाएँ दी हैं, वे सब आध्यात्मिक हैं। जैसे मेघ आकाशमें ऐसे छा गये, मानों गुणोंसे व्याप्त ब्रह्म हो। सूर्यने अपनी किरणोंसे आठ महीनेमें जो जल पीया था, उसको बरसाना प्रारम्भ कर दिया। मेघ इस प्रकार बरसने लगे, जैसे करुण पुरुष जल बरसाते हैं। पृथिवी ऐसे तुष्ट हो गयी, जैसे काम्य तपस्याका फल प्राप्त करके मनुष्यका शरीर तुष्ट होता है। रात्रिके समय ग्रह न मालूम पड़ें, केवल खद्योत ही मालूम पड़ें—वैसे ही कलियुगमें पापकी वृद्धि होनेपर पाखण्डी-ही-पाखण्डी दिखाई पड़ते हैं। मेघकी ध्वनि सुनकर मण्डूक ऐसे बोलने लगे, जैसे नियम पूरा हो जानेपर ब्राह्मण लोग बात करने लगते हैं।

देखो, गोस्वामी तुलसीदासजी महाराजने उस समय अपने वेद-ज्ञानका बड़ा भारी प्रमाण उपस्थित किया, जब उन्होंने ये पंक्तियाँ लिखीं—

दादुर धुनि चहुँ ओर सुहाई। वेद पढ़ें जिमि बटु समुदाई॥

जिसने ऋग्वेद नहीं पढ़ा होगा, उसको ऐसा लिखनेकी हिम्मत नहीं हो सकती। यह वर्णन ऋग्वेदमें ही है कि वसिष्ठजीने जब वर्षा होनेके लिए यज्ञ किया था तो पहले मेढक बोलने लगे। उनके शब्द सुनकर वसिष्ठजी बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने कहा कि ओहो! ये तो वेद-ध्वनि कर रहे हैं। वेदमें मण्डूक-सूक्त है (ऋग्वेद ७.१०३ सूक्त) जिसमें कहा गया है कि मण्डूक वेद पढ़ते

हैं। अन्यथा क्या दादुर-ध्वनिके साथ वेद-पढ़नेकी उपमा देना अच्छा लगता है (द्र० मन्त्र १ तथा ५) ? कहनेका मतलब यह कि वैदिक विषय है। इसलिए भागवतमें भी इसका वर्णन है।

श्रीशुकदेवजी महाराज आगे कहते हैं कि क्षुद्र नदियाँ उत्पथ-वाहिनी होकर ऐसे बहने लगीं, जैसे इन्द्रियाधीन पुरुषकी द्रव्य-सम्पत्तिमें पैर लग जाते हैं।

उन दिनों जब भगवान् गोचारणके लिए जाते तो भोजन-सामग्री या तो साथ लेकर जाते या वह अपने आप आजाती। वर्षाके कारण पत्तल धुले होते। भगवान् उनमें सरोवरके तटपर भोजन करते। कभी किसी कारणवश भोजन नहीं आता तो कन्द-मूल-फल खाकर ही रह जाते। कभी दही-भात आजाता तो उसको 'शिलायां—सलिलान्तके' (२९) पत्थरपर रखकर ग्वाल-बालोंके साथ भोजन करते थे इस प्रकार भगवान्ने वर्षा-ऋतुका बड़ा सत्कार किया।

अब शरद् ऋतु आयी। इसका वर्णन वैसा ही है, जैसा गोस्वामी तुलसीदासजीने अपने रामचरित-मानसमें किया है। गोस्वामीजीके वर्णनका मूल भागवतमें है। इसीके आधारपर गोस्वामीजोने अपनी रामायणमें वर्णन किया है।

शरद् ऋतुके आनेपर आकाश निर्मेघ हो गया, जल स्वच्छ हो गया और वायु शान्त हो गयी। जलने अपनी प्रकृतिको उसी प्रकार प्राप्त कर लिया, जैसे योगका अभ्यास करनेसे भ्रष्ट पुरुषोंका चित्त ज्यों-का-त्यों हो जाता हैं। शरद् ऋतु आकाशके मेघोंको, भूतोंके साङ्कर्यको, पृथिवीके कीचड़को और जलके मलको उसी प्रकार हरण करके ले गयी, जैसे श्रीकृष्णकी भक्ति चारों आश्रमोंके पापोंको हरकर ले जाती है। शरद् कालमें मेघ श्वेत होकर ऐसे चमकने लगे, जैसे सबकुछ दान कर देनेपर मनुष्यकी शोभा होती है।

इस प्रकार शरद् ऋतुका वर्णन विस्तार पूर्वक करते हुए कहते हैं कि इस ऋतुमें सबलोग अपना-अपना काम करते हैं। व्यापारी व्यापारके लिए, संन्यासी चतुर्मास्य पूरा करके परिव्रजनके लिए और राजा चढ़ाई करनेके लिए निकलते हैं। शरद् ऋतुका समय मानव-समाजके कर्तव्य-पालनके लिए बड़ा उपयोगी है।



श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं परीक्षित, विलक्षण बात यह हुई कि शरद् ऋतुने अपनी समूची शोभा वृन्दावन धाममें प्रकट कर दी। 'शरत्स्वच्छजलम्' (१)—जल स्वच्छ हो गये अथवा 'स्वच्छजडम्'—जड़के रूपमें प्रतीत होनेवाली वस्तुएँ निर्मल हो गयीं। 'पद्माकर-सुगन्धिना' (१)—ऐसा लगने लगा, मानों पद्माकर अर्थात् जलाशयमें खिले हुए कमलोंकी सुगन्ध चारों ओर व्याप्त हो गयी है अथवा पद्मा अर्थात् लक्ष्मीजी अपने हाथकी सुगन्ध सब जगह छोड़ गयी हैं, सब चीजोंको छूकर सजा गयी हैं।

श्रीशुकदेवजी महाराजके शब्दोंमें वनकी शोभाका वर्णन देखो—

कुसुमितवनराजिशुष्मभृङ्गद्विजकुलघुष्टसरःसरिन्महीध्रम् ।
मधुपतिरवगाह्य चारयन् गाः सहपशुपालबलश्चु जवेणुम् ॥ २

वनोंने अपने हृदयके शान्त, दास्य, वात्सल्य आदि पञ्चरङ्गी भावोंको प्रकट कर दिया है। भृङ्ग मतवाले होकर उनके गुणोंका गान कर रहे हैं।

देखो, हृदयके भाव भगवान्को निवेदित करना, भगवान्के गुणानुवादका गान करना हृदयकी शुद्धताका सूचक है। जैसे नदियाँ समुद्रकी ओर बहती हैं, वैसे ही वृत्तियोंकी धारा भगवान्की ओर बहे और जिस तरह पर्वत दृढ़ हैं, इसी तरह जीवनमें भगवान्के लिए दृढ़ता हो।

यहाँ सौन्दर्य-धाम वृन्दावनका अवगाहन करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णके लिए 'मधुपति' विशेषण दिया गया है। वनके प्रसंगमें मधुपति शब्दका अर्थ वसन्त और वसन्तके प्रसंगमें मधुपतिका अर्थ पान करानेवाला हो जाता है।

मधुपति भगवान् श्रीकृष्णने बलरामजी तथा अपनी ग्वाल-बालोंकी सेनाके साथ गायोंको चराते हुए वृन्दावनमें प्रवेश किया और वहाँ बाँसुरी बजायी। सारा वातावरण वंशी-ध्वनिसे, वेणु-नादसे भर गया।

यह बाँसुरी अथवा वेणु क्या है? 'वश्च इश्च ब्रह्मानन्द-विषयानन्दौ तौ अणू यस्मात्'—ब्रह्मानन्द और विषयानन्द दोनों जिसके सामने फीके पड़ जायें, उसका नाम वेणु होता है। यहाँ समाधि नहीं है, परन्तु संसारका आनन्द भी नहीं है और संसार नहीं है, परन्तु समाधिका आनन्द है। ऐसी विचित्र है यह वंशी-ध्वनि। मानों भगवान् अपने परमानन्दको बाँसुरीमें भर-भरकर निकाल रहे हों।

यहाँ पहली बात यह बतायी कि वंशी-ध्वनि सुनकर गोपियोंके मनमें स्मरका उदय हुआ। असलमें आजकल होता यह है कि नये-नये वक्ता लोग, जो शास्त्रीय रीतिसे उपासनाका, ज्ञानका

रहस्य नहीं जानते, श्रोताओंको सुनाते हैं कि कोई इच्छा मत करो। यहाँतक कि भगवत्प्राप्ति अथवा ब्रह्मज्ञानकी भी इच्छा मत करो। जिज्ञासाको मार दो, मुमुक्षाको मार दो और तटस्थ होकर, कूटस्थ होकर, साक्षी होकर, द्रष्टा-भावमें स्थित हो जाओ। लेकिन वे यह नहीं जानते कि जब उठेंगे तब उन्हें क्या मिलेगा ? उन्हें तो वही पहलेवाली दुनिया मिलेगी।

इसलिए पहले मनमें मुमुक्षा, जिज्ञासा और भगवत्प्रेप्सा उत्पन्न होनेपर ही दुनियाकी बातें छूटती हैं तथा ईश्वरकी ओर चलनेकी प्रेरणा मिलती है फिर जब मनुष्य आगे चलकर दुनियाको छोड़ देता है और शान्त, कूटस्थ, तटस्थ एवं साक्षी द्रष्टाके रूपमें बैठ जाता है तब काम बनता है। अन्यथा वही बात होती है, जो चौकके बाजारमें बैठे हुए व्यक्तिकी होती है। उसको किसीने थोड़ी देर आँख बन्द कर लेनेके लिए कहा. उसके अनुसार उसने आँख बन्द कर ली, किन्तु जब आँख खोली तो उसके सामने वही चौकका बाजार दिखायी पड़ा।

जो लोग साधकोंका हित नहीं चाहते, केवल चेला बनाना चाहते हैं, वे इसी तरहकी बातें करते हैं। साधकोंकी भलाई चाहनेवाला व्यक्ति तो संसारकी वासनाके निवारणका ही उपाय करेगा। यह बात सुनिश्चित है कि संसारकी वासना भगवद्-वासनासे ही निवृत्त होती है। इसलिए साधकोंका हितैषी पहले उनमें भगवत्प्राप्तिकी इच्छा उत्पन्न करेगा। फिर जब भगवत्प्राप्तिकी इच्छासे दूसरी इच्छाएँ नष्ट हो जायेंगी, तब वह भले ही साधकोंसे कहेगा कि अब समाधि लगा लो, तटस्थ-द्रष्टा-साक्षी हो जाओ।

यह जो द्रष्टा-साक्षी है, वह साक्षात् परब्रह्म परमात्मा ही है। 'नेति-नेति'के द्वारा निषेधावधिके रूपमें जो अवशिष्ट द्रष्टा है, साक्षी है, असङ्ग है; उसके ब्रह्मत्वका बोधन 'तत्त्वमस्यादि' महावाक्य करते हैं। किन्तु जहाँ न मुमुक्षा है, न जिज्ञासा है, न प्रेप्सा है, कीचड़में फँसे पड़े हैं, वहाँ कितना ही आँख बन्द कर लो; उससे काम नहीं चलनेवाला।

इसीलिए भगवान् 'वेणुगीतं स्मरोदयम्' (३)—पहले वेणु-गीतके द्वारा लोगोंके मनमें काम-वासनाको जाग्रत् करते हैं उसके वाद दुनियाकी काम-वासना छूटकर भगवद्विषयक काम-वासनाका उदय हो जाता है।

जब गोपियाँ एक जगह बैठकर गान करने चलीं, तब उनका मन भगवान्की लीलामें पहुँच गया। भगवान् श्रीकृष्ण उस समय कहाँ हैं ? गोपियोंके मनमें हैं। गोपियाँ घरमें बैठी हैं और देख रही हैं वनमें श्रीकृष्णको। 'विक्षिप्तमनसो नृप' (४)—गोपीका मन विक्षिप्त हो गया है।

देखो झूठी वासनाके रहते हुए जो समाधि लग जाती है, उसकी अपेक्षा गोपियोंका यह विक्षेप श्रेष्ठ है।

**बर्हापीडं नटवरवपुः कर्णयोः कर्णिकारं बिभ्रद्वासः कनककपिशं वैजयन्तीं च मालाम् ।
रन्ध्रान् वेणोरधरसुधया पूरयन् गोपवृन्दैर्वृन्दारण्यं स्वपदरमणं प्राविशद् गीतकीर्तिः ॥ ५**

यशोदानन्दन, मुरलीमनोहर, पीताम्बरधारी, श्यामसुन्दर राधारानीके मोरके साथ नाचते हैं। नाचते-नाचते मोरका पिच्छ गिर पड़ता है। श्रीकृष्ण उसे उठा लेते हैं और यह कहते हुए कि अरे, इसने तो हमको पुरस्कार दिया है, उसको अपने सिरपर धारण कर लेते हैं। इसीलिए उनको बर्हापीड़ कहा जाता है—'राधाप्रियमयूरस्य बर्हं मूर्ध्ना बिभर्त्यजः' यह बर्ह साक्षात् ब्रह्म-रूप है। बृह धातुसे बना है—'बर्हति इति बर्हः।' इसीलिए श्रीकृष्ण इसको मुकुटके रूपमें धारण किये हुए हैं।

'नटवरवपुः'—श्रीकृष्णका शरीर कैसा है ? 'रूपं-रूपं प्रतिरूपो बभूव' (बृहदा-२.५.१९)—उनके शरीरमें ऐसा लगता है, मानो लावण्य दौड़ रहा है। वे तरह-तरहके वेश बदल लेते हैं। कभी खडिया लगा लेते हैं, कभी फेंटा बाँध लेते हैं। 'नटवर-वपुः' माने श्रीकृष्णका वपु नटवद् है अथवा वरवद् है। मानों ब्याह करने जा रहे हों।

वपु शब्दका अर्थ श्रीवल्लभाचार्यजीने किया है—'वम् अमृतं पुष्णाति इति वपुः' अर्थात् 'वं' अमृत-बीज है। उसको जिसने अमृतत्व दिया है, उसका नाम वपु है। कहीं-कहीं 'नटनरवपुः' पाठ है, जिसका अर्थ है 'नटनं राति इति नटनरम् वपुः'।

'कर्णयोः कर्णिकारं बिभ्रद्'—श्रीकृष्ण ऐसे मतवाले हैं कि एक ही कर्णिकारको बारी-बारीसे दोनों कानोंमें पहनते हैं अथवा 'कर्णयोः कर्णिकारं'को एक ही पद मानकर सप्तमीका उपमान करके भी अर्थ कर सकते हैं। कर्णिकार अमलतासके लम्बे-लम्बे लटकते हुए फूलको बोलते हैं। जिसको हम लोग कनेर बोलते हैं, इसके लिए संस्कृत भाषामें करबीर शब्द आता है। अमलतासका फल देखनेमें तो पीला-पीला, लम्बा-लम्बा है, परन्तु उसमें गन्ध बिल्कुल नहीं है। फिर भी भगवान् उस गन्ध रहितको धारण करते हैं।

'कनककपिशम्'—भगवान् पृथिवीकी प्रीतिके लिए आये हैं, इसलिए उसका जो पीला रंग है, उसके समान स्वर्ण-वर्ण वस्त्र धारण करते हैं अथवा राधारानीके अंगका वस्त्र धारण करते हैं।

'वैजयन्तीं च मालाम्'—भगवान्‌के गलेमें नवरत्नोंकी अथवा पाँच वर्णके पुष्पोंकी भावमयी माला है। जिसमें लक्ष्मीजी छिपी रहती हैं, उसका नाम है, माला। 'मा लीयते अस्यामिति'—मा माने लक्ष्मीजी और ला माने लीन। जिसमें शोभा, सौन्दर्य और माधुर्यकी अधिष्ठात्री देवी लक्ष्मीजी लीन रहती हैं, उसका नाम है माला। भगवान् ऐसी दिव्य वैजयन्ती माला धारण किये हुए हैं।

'रन्ध्रान् वेणोरधरसुधया पूरयन्'—वेणु एक तो परुष है, कठोर है और दूसरे उसमें छेद

हैं। परन्तु भगवान् उसके रन्ध्रों माने छिद्रोंको भी अपनी अधर-सुधासे पूर्ण कर रहे हैं। यहाँ रन्ध्राणि न बोलकर रन्ध्रान् बोल दिया है। यह भागवतकी भाषा है।

'गोपवृन्दैः'—गोपवृन्द भगवान्‌की कीर्तिका गान कर रहे हैं।

'वृन्दारण्यं स्वपदरमणम्'—स्वपदैः अङ्कितैः रमणं वृन्दारण्यम्। वृन्दावन-धाम भगवान्‌के चरण-चिह्नोंसे भर गया है, जहाँ देखो वहीं उनके चरण-चिह्न अङ्कित हैं।

देखो, यही भगवद्धामकी महिमा है। गिरिराजमें भगवान्‌के चरण-चिह्न हैं। रमण-रेती भगवान्‌के चरण-चिह्नोंसे अङ्कित होनेके कारण ही रमणीय है। इसका दोनों प्रकारसे अर्थ हो सकता है—'स्वपदैः अङ्कितैः रमणम्' अथवा 'स्वपदादपि रमणम्'। भगवान् तो हमेशा वैकुण्ठमें रहते ही हैं, किन्तु आज तो वहाँसे वृन्दावन आये हुए है, यहाँका आनन्द लेनेके लिए। इसलिए वृन्दावन-धाम वैकुण्ठसे भी रमण है। 'स्वपदं ब्रह्म तस्मादपि रमणम्' क्योंकि ब्रह्ममें विहार ही नहीं है। अथवा 'स्वस्याः श्रीराधायाः अङ्कितैः पदैः रमणम्'—इस वृन्दावन-धाममें जो चरण-चिह्न हैं, वे श्रीराधारानीके हैं।

श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि परीक्षित, भगवान्‌की वेणु-ध्वनि सम्पूर्ण प्राणियोंके मनको हरण कर लेती है। जब उसको व्रजस्त्रियोंने सुना तब वे आपसमें उसका वर्णन करने लगीं।

एकने कहा कि अरी सखी, आँखवालोंको जो आँख मिली है, उसका केवल यही फल है, दूसरा कोई फल नहीं है—'अक्षण्वतां फलमिदं न वरं विदामः'। (७)

यहाँ देखो, किसीने आत्माको ब्रह्मरूपसे जान लिया। ठीक है, उनकी बुद्धि-वृत्ति सफल हो गयी, बुद्धिका फल अखण्डार्थ-धी-का उदय हो गया। परन्तु आँख तो संसारको ही देखती है।

किसीको समाधि लग गयी, यह भी ठीक है। उसको चित्त-वृत्तिका निरोध हो गया, उसका योगाभ्यास सफल हो गया। परन्तु जब उसकी आँख खुलती है तो संसारको ही देखती है।

असलमें जबतक इन आँखोंसे भगवान्‌का दर्शन न हो, तभीतक ऐसा लगता है कि ये आँखें संसार-दर्शनके लिए बनी हैं। किन्तु वे संसार-दर्शनके लिए नहीं, भगवद्दर्शनके लिए बनी हैं। चाहे कोई धर्मात्मा हो, चाहे भक्त हो, चाहे वेदान्ती हो, उसकी आँखें तभी सफल होती हैं, जब भगवान्‌का रूप दिखाई पड़े। उसके कान तभी सफल होते हैं, जब भगवान्‌की वाणी सुनाई पड़े। उसकी त्वचा तभी सफल होती है, जब भगवान्‌का स्पर्श प्राप्त हो। उसकी नासिका तभी सफल होती है, जब भगवान्‌की गन्ध मिले और उसकी जिह्वा तभी सफल होती है, जब भगवान्‌का स्वाद मिले, चरणामृत मिले, अधरामृत मिले। नहीं तो इन इन्द्रियोंका क्या काम ?

इसीलिए भक्त लोग कहते हैं कि 'बावरी वे अँखियाँ जरि जाँय, जो साँवरो छाँड़ि निहारति गोरो'—वे बावरी आँखें जल जाँय, जो साँवरे श्यामसुन्दरको छोड़कर किसी गोरेको देखती हैं।

गोपियाँ कहती हैं—हम तो बस नेत्रोंकी यही सफलता समझती हैं कि श्यामसुन्दरके दर्शन होते रहें। इसके अतिरिक्त 'अक्षण्वतां फलमिदं न परम्'—नेत्रवानोंके लिए दूसरा कोई फल नहीं है।

किसीने पूछा कि गोपी, तुम्हें यह कैसे मालूम पड़ा? गोपीने कहा—'विदामः, विद्मः' हम जानती हैं। कैसे जानती हैं? 'श्रुतिरूपत्वात्'—अरे, हमारे बिना तो परमात्माको कोई जान ही नहीं सकता। सचमुच हम जानती हैं। 'सख्यः पशूननुविवेशयतोर्वयस्यैः' (७)। 'वक्त्रं व्रजेशसुतयोरनुवेणु'—हमने देखा है कि आगे-आगे गौएँ चलती हैं और पीछे-पीछे श्याम-बलराम चलते हैं।

व्रजेशसुतयोः' (७)। के दूसरे अर्थ भी हैं—व्रजेशसुता च, व्रजेशसुतश्च, व्रजेशसुतौ तयोः'।

जिसने श्रीराधाकृष्णके वेणु-मण्डित मुखारविन्द और स्निग्ध कटाक्षका दर्शन किया, उसकी इन्द्रियाँ सफल हैं। जब वे नाना प्रकारके वेश बनाकर, 'चूतप्रवालबर्हस्तबकोत्पलाब्ज'की माला (८)—धारण करके, ग्वालबालोंके बीचमें नटवरके समान विहार-नृत्य करने लगते हैं—'रङ्गे यथा नटवरौ क्वच गायमानौ' (८)—गान करने लगते हैं, तब उनकी शोभा देखते ही बनती है। उनको जिसने इस अवस्थामें देखा है, उसीकी आँखें सफल हैं।

इसका अर्थ इस प्रकार भी करते हैं—'गायमानौ गाये-गाने मानो ययोः'—अर्थात् उनको इस बातका मान है कि हमारे-सरीखा और कौन गान करता है!

अरी गोपियो, बताओ तो सही इस बाँसुरीने कोई पुण्य किया है क्या? यदि नहीं किया है तब इसको यह रस क्यों मिलता है और यदि इसने कोई पुण्य किया है तो क्या किया है?

गोप्यः किमाचरदयं कुशलं स्म वेणुः। ९

'अयं वेणुः गोप्यः गोपनीयः'—अरी ओ गोपियो, आओ-आओ! हम लोग चुपकेसे चलकर इस वेणुका गोपन कर दें, इसको चुरा लें और इसीसे एकान्तमें पूछें कि तुमने क्या किया है?

'दामोदराधरसुधामपि गोपिकानाम्' (९)—दामोदरके अधरोंकी सुधा तो हम गोपियोंके हककी चीज है, क्योंकि दामोदर हमारा कैदी है, हमने उसकी कमरमें रस्सी लगाकर बाँध लिया कि यह हमारा है। उसके प्रति हमारी ममताकी पराकाष्ठा है। किन्तु यह बाँसुरी हमारी उस वस्तुको पीये जा रही है—

भुङ्क्ते स्वयं यदवशिष्टरसं ह्रदिन्यो हृष्यत्त्वचोऽश्रु मुमुचुस्तरवो यथाऽऽर्याः। ९

अरी गोपियो, देखो—यह वंशी थोड़ा नहीं, सारा-का-सारा रस पीये जा रही है, उनके अधरोंका। इसके सौभाग्यको देखकर बावरी ह्रदिनियाँ कमल-दलके मिससे हृष्ट हो रही हैं और

वृक्ष यह सोचकर कि हमारे वंशकी यह बाँसुरो कितनी भाग्यवती है, मधुक्षरण कर रहे हैं, आनन्दाश्रुका विमोचन कर रहे हैं।

'वृन्दावनं सखि भुवो वितनोति कीर्तिम्' (१०)—अरी सखि, यह वृन्दावन पृथिवीकी कीर्तिका विस्तार वैकुण्ठकी अपेक्षा भी अधिक कर रहा है—'यद् देवकीसुतपदाम्बुजलब्ध-लक्ष्मि' (१०)। वैकुण्ठमें तो एक लक्ष्मी रहती हैं, किन्तु इस वृन्दावनमें जहाँ-जहाँ देवकी-नन्दनके पदाम्बुज पड़ते हैं, वहाँ-वहाँ लक्ष्मी मिल जाती हैं। वैकुण्ठमें जब कभी कहीं उनका प्रतिबिम्ब पड़ता है, तब दूसरी मालूम पड़ती हैं। इस व्रजभूमिके चप्पे-चप्पेमें, लता-लतामें, वृक्ष-वृक्षमें, पुष्प-पुष्पमें, जहाँ-जहाँ भगवान्के चरणारविन्द पड़ते हैं, वहाँ-वहाँ लक्ष्मीजी मिलती हैं। मानो लक्ष्मीजीने शपथ खा रखी हो कि वे भगवान्के चरणारविन्दका स्पर्श पृथिवीको नहीं होने देंगी, भगवान् जहाँ भी इस पृथिवीपर पाँव रखेंगे, वहाँ मैं बीचमें आकर लेट जाऊँगी। इसप्रकार लक्ष्मी देवी सत्याग्रह करती फिर रही हैं, वृन्दावनके सौभाग्यपर।

गोविन्दवेणुमनु मत्तमयूरनृत्यं प्रेक्ष्याद्रिसान्वपरतान्यसमस्तसत्त्वम्। १०

यह वृन्दावन कैसा है? यहाँ गोविन्दकी बाँसुरी बज रही है, उसके पीछे मयूर नृत्य कर रहे हैं, बड़े सुन्दर-सुन्दर अद्रि-सानु हैं और इसमें रजोगुण-तमोगुण बिल्कुल नहीं हैं, सब सत्त्व-ही-सत्त्व है। 'अपरतान्यसमस्तसत्त्वम्'—यहाँके समस्त प्राणी शान्त बैठे हैं।

'गोविन्दवेणुमनु'—इसका दूसरा अर्थ है—गोविन्दवेणुरेव मनुः यस्मिन्'। सारी दुनियामें मनुजीका धर्मोपदेश चलता है—परन्तु वृन्दावनमें 'वेणुरेव मनुः' वेणु ही मनु हैं। यह बाँसुरी जिसको जो धर्म बताती है, वह उस धर्मका पालन करता है। इसने यहाँसे मनु-स्मृतिको बाहर निकलवा दिया है। जबसे इस मधुमेचकके पास मतिकी जगह रतिकी स्थापना हो गयी, मतिको बाहर निकाल दिया गया और उसके स्थानपर रति महारानी बन गयीं, तबसे यह हुआ कि यहाँ मनुजी नहीं रहेंगे। फिर कौन रहेगा? बाँसुरी रहेगी। या तो बाँसुरी रहेगी या मनु रहेंगे, दोनों कैसे रहेंगे?

कैसा है यह वृन्दावन? 'मत्तमयूरनृत्यम्'—यहाँ मोर मतवाले होकर नाचते हैं, और कैसा है? 'प्रेक्ष्याद्रिसान्वपरतान्यसमस्तसत्त्वम्' (१०)—यह दृश्य देखकर पर्वतोंके पशु-पक्षी शान्त होकर खड़े रह जाते हैं। 'धन्याः स्म मूढमतयोऽपि हरिण्य एता' (११)—ये हरिणियाँ धन्य हैं। ये पढ़ी-लिखी नहीं हैं तो क्या हुआ? कोई बड़ा भारी पण्डित हो, सौ शास्त्रोंका ज्ञाता हो, लेकिन यदि उसका हृदय द्रवित नहीं हुआ, उसमें भक्ति नहीं आयी तो वह किस कामका? वृन्दावनकी हरिणी साधारण हरिणी नहीं है। यह तो 'हरिं नयति' है। यह कहाँ जा रही है, पूछनेकी जरूरत नहीं। उसके पीछे-पीछे चले जाओ। वह अपनी बड़ी-बड़ी आँखोंसे श्यामसुन्दरको

देखनेके लिए चली जा रही है। उसको वेदान्तज्ञानकी कोई जरूरत नहीं है। वह मूढमति होनेपर भी इसलिए धन्य है कि—'उपात्त विचित्रवेशम् नन्दनन्दनम्' (११) विचित्र-विचित्र वेश धारण करके आते हुए नन्दनन्दनको देखती है और उनकी वंशी-ध्वनि सुनती है।

गोपियाँ कहती हैं कि हमारे पति तो हमारे साथ नहीं जाते। पर इनके पति कृष्ण-सार हैं, जिनके हृदयमें कृष्ण भरे हुए हैं और जो सदा इनके साथ रहते हैं। ये हरिणियाँ प्रेम-पूर्ण चितवनसे देख-देखकर उनकी पूजा करती हैं।

कृष्णं निरीक्ष्य वनितोत्सवरूपशीलम्। १२

अरी गोपियों, इन हरिणियोंकी तो बात ही क्या है? भगवान्‌की रूपमाधुरी, वेणुमाधुरी और उनका विचित्र संगीत सुनकर स्वर्गकी देवियोंका भी धैर्य छूट जाता है, उनको अपने देहकी सुध नहीं रहती। वे नग्न होकर मुग्ध हो जाती हैं। जिस समय श्यामसुन्दर बाँसुरी बजाते हैं, गौयें भी अपने कान खड़े करके घास चरना छोड़ देती हैं और उनके बच्चे दूध पीना बन्द कर देते हैं। वे अपने मुँहका दूध न उगल पाते हैं और न निगल पाते हैं। उनकी आँखोंमें प्रेमके आँसू होते हैं और हृदयमें गोविन्दका स्पर्श होता है।

प्रायो बताम्ब विहगा मुनयो वनेऽस्मिन् कृष्णेक्षितं तदुदितं कलवेणुगीतम्। १४

इस व्रजके पक्षियोंकी बात देखो। वे भगवान् श्रीकृष्णका दर्शन करते हैं, उनकी वाणी सुनते हैं तथा उनके द्वारा बजाया हुआ वेणुगीतका आनन्द लेते हैं। कहाँसे? 'द्रुमभुजान् रुचिर-प्रवालान्' (१४)—वृक्षकी डालियोंपरसे। जैसे वेदकी शाखाएँ होती हैं, वैसे ही ये वृक्षोंकी डालियाँ हैं और जैसे वेदोक्त फलकी प्राप्ति होती है, वैसे ही इन वृक्षोंमें लाल-लाल रुचिरप्रवाल, कोंपलें हैं।

उन वृक्षोंपर जो ये पक्षी बैठे हैं, साधारण पक्षी नहीं, साक्षात् मुनि बैठे हुए हैं। 'श्रृण्वन्त्य-मीलितदृशो विगतान्यवाचः' (१४)—इन पक्षीरूप मुनियोंको वृक्षोंपर बैठनेसे श्रीकृष्णका दर्शन होता है, इसलिए ये 'अमीलितदृशः' आँख नहीं बन्द करते और मौन होकर परमात्माका दर्शन करते हैं।

'नद्यस्तदा' (१५)—सखी, ये नदियाँ भी श्रीकृष्णकी वंशी-ध्वनि सुनकर अपने हृदयके भँवर द्वारा उनसे मिलनेकी तीव्र इच्छाका पता देती हैं। मानों उसी तीव्र इच्छाके वेगसे इनका प्रवाह रुक गया है। अरी गोपियों, देखो-देखो; ये नदियाँ अपनी तरङ्गोंके हाथोंसे उनके चरण पकड़कर कमलके फूलोंका उपहार क्या चढ़ा रही हैं, मानो उनके चरणोंपर अपना हृदय ही निछावर कर रही हैं।

अरी सखी! इन नदियोंकी बात क्या करती हो, ये तो हमारी पृथिवीकी, वृन्दावनकी हैं। तनिक इन बादलोंकी ओर भी तो देखो। जब ये हमारे राम-श्यामकी इस झाँकीको देखते

हैं तब इनके हृदयमें भी प्रेम उमड़ आता है और उनके ऊपर मँडराते हुए अपने शरीरको ही छाता बनाकर तान देते हैं। जब ये बादल हमारे राम-श्यामपर नन्हीं-नन्हीं फुहियाँ बरसाते हैं तब ऐसा जान पड़ता है कि सफेद फूलोंकी वर्षा द्वारा अपना जीवन ही निछावर कर रहे हैं।

गोपियाँ आपसमें चर्चा करती हुई आगे कहती हैं कि वृन्दावनकी तो भीलनियाँ भी धन्य हैं। जब ये हमारे प्यारे श्रीकृष्णको देखती हैं तब इनके हृदयमें भी प्रेमका रोग लग जाता है। जब श्रीकृष्ण चलते हैं तब उनके चरणोंमें जो हमारे वक्षस्थलका केसर-कुंकुम लगा रहता है, वह घासपर लग जाता है, जिसको ये भीलनियाँ अपने मुँहमें, हृदयमें लगाती हैं और उनके मनमें श्रीकृष्ण-मिलनकी जो पीड़ा है, उसे दूर करती हैं।

यहाँ श्रीवल्लभाचार्यजी महाराजने 'दयितास्तनमण्डितेन' (१७)—इस पदका अर्थ करते हुए लिखा है कि किसी बन्ध-विशेषकी अवस्थामें प्रियतमका चरणारविन्द दयिताके स्तन-मण्डलपर पहुँच जाता है और उसमें वहाँका कुङ्कुम लग जाता है।

किन्तु श्रीविश्वनाथ चक्रवर्तीजीने इसपर एक कथा लिखी है। वह यह कि एक ग्वालिन कृषि-कर्ममें लगे अपने पतिके लिए सिरपर छाछ रखे चली जा रही थी। बीचमें मिल गये श्रीकृष्ण। वे बाँसुरी बजाते हुए आये और उसके सामनेसे निकल गये। वह बेचारी व्याकुल होकर पृथिवीपर गिर पड़ी और बेहोश हो गयी, उसका छाछ बिखर गया। जब वह समयपर नहीं पहुँची तो उसके पति कृषिका काम छोड़कर यह देखनेके लिए चल पड़े कि मेरी पत्नी आयी क्यों नहीं? श्रीकृष्णने जब ग्वालिनके पतिको आते देखा तब झटसे उसे जाग्रत् करनेके लिए उसके वक्षस्थलपर अपने पाँव रख दिये और दूसरी ओर जाकर छिप गये। इसलिए उसके वक्षस्थलमें जो कुङ्कुम लगा था, वह श्रीकृष्णके पाँवमें लग गया। उधर ग्वालेने जब यह देखा कि उसकी पत्नी बेहोश पड़ी है, तब समझा कि इसको कोई भूत लग गया है। उसने भूतको बलि देते हुए कहा कि मैं जो बलि दे रहा हूँ, इससे वह खुश हो जाय, जिसकी नजर पड़नेपर मेरी पत्नी बेहोश हो गयी है। वह बार-बार कहे कि मेरी पत्नीको इस पेड़का भूत लग गया और भगवान् श्रीकृष्ण पेड़को आड़में खड़े होकर हँसें कि भूत तो यहाँ मौजूद है, तुम और किसको बलि दे रहे हो?

गोपियाँ आगे कहती हैं कि अरी सखी, श्रीगोवर्द्धनजी महाराज धन्य हैं। ये हरिदासोंमें सबसे श्रेष्ठ हैं—'हन्तायमद्रिरबला हरिदासवर्यः' । (१८)

देखो, अन्य पर्वतोंके 'अद्रि' नाम तो केवल उपचार मात्र हैं, संज्ञा मात्र हैं, परन्तु गिरिराजजीका 'अद्रि' नाम सर्वथा व्युत्पत्तिपरक है। क्योंकि 'अत्ति इति अद्रिः'—गिरिराज महाराज स्वयं भोजन करते हैं।

यह भी ध्यान देने योग्य है कि उद्धवजीको हरिदास कहा गया है, युधिष्ठिरको भी हरिदास कहा गया है, किन्तु गिरिराजको हरिदासवर्य बताया गया है।

गोपियाँ कहती हैं कि गिरिराजजीको भगवान्‌के चरणारविन्दके स्पर्शका आनन्द मिलता है और ये गायों सहित श्रीकृष्णका स्वागत-सत्कार करते हैं। ये सैकड़ों उपचारों द्वारा भगवान् श्रीकृष्णकी पूजा करते हैं। 'पानीयसूयवसकन्दरकन्दमूलैः' (१८)—वे झरनेका जल देते हैं, हरी-हरी घास देते हैं, विश्रामके लिए कन्दरा देते हैं, खानेके लिए कन्द और मूल देते हैं।

देखो, कन्द दूसरी वस्तु है और मूल दूसरी वस्तु है। कन्दमें बड़ा स्वाद होता है। कन्दके 'कम्'का अर्थ है सुख और 'द' माने देनेवाला—'कं सुखं ददाति'। यह संज्ञा होनेके कारण कन्द हो गया, 'कद' नहीं हुआ। मूलसे मतलब है मूली वगैरह। 'कन्दः भर्जनसापेक्षः'—कन्द वह है, जिसको भूनना पड़ता है। मूल वह है, जो बिना भूने भी खा सकते हैं—जैसे मूली आदि।

गोपियाँ फिर कहती हैं कि सखियो, जब श्रीकृष्ण गौओंको साथ लेकर मधुर-मधुर स्वरसे बाँसुरी बजाते हुए चलते हैं तब चलने-फिरनेवाले चल प्राणी अचल हो जाते हैं और अचल चल हो जाते हैं। जब ये परब्रह्म परमेश्वर अखिल ब्रह्माण्डनायक, त्रिलोकीनाथ गायोंके न्योनेकी पगड़ी बाँध लेते हैं और उनको फँसानेके फन्देको गलेमें डाल लेते हैं तब उनको यह विचित्र वेश-भूषा देखकर चरका अचर तथा अचरका चर हो जाना स्वाभाविक है।

इस प्रकार गोपियाँ भगवान्‌की लीलाका गायन करके तन्मय हो गयीं। इसी प्रकार वे प्रतिदिन भगवान्‌की लीलाओंका गायन करतीं और तन्मय हो जातीं।

देखो, मनमें ऐसी लालसाका उदय होनेपर ही प्रयत्न आरम्भ होता है। जिस वस्तुकी लालसा होती है, उसीके लिए प्रयत्न होता है। जहाँ न तो लालसा हो और न प्रयत्न हो, यह भावना हो कि हे भगवान्, तुम हमारे दरवाजेपर आकर दर्शन दे जाना, वहाँ कुछ नहीं हो सकता। क्योंकि भगवान्‌पर किसीका हुक्म नहीं चलता। आजकल लोग यह चाहते हैं कि हम पैसा आगे रखकर गिनते रहें, हमारी श्रीमतीजी सामने बैठी रहें, हमारा बच्चा आकर हमारी नाकमें उँगली डाल दे और इसी स्थितिमें भगवान् भी आकर खड़े हो जायें, कहें कि हम आपको दर्शन देनेके लिए आये हैं। ऐसे लोग न कोई इच्छा करते हैं, न प्रयत्न करते हैं, न जप करते हैं, न तप करते हैं और न ध्यान करते हैं। यह कहते हैं कि जरा पीछे हट जाओ, जरा विश्राम कर लो, जरा आराम कर लो, जरा कूटस्थ-तटस्थ असंग हो जाओ, फिर देखो, वह मिले भगवान्। लेकिन भला ऐसे भी कहीं भगवत्प्राप्ति होती है। भगवान् इतने सस्ते नहीं हैं। उनके लिए कुछ तो इच्छा करो, फिर प्रयत्न अपने आप प्रारम्भ होता है और साधन-भजन होने लगता है।



: २२ :

श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि 'हेमन्ते प्रथमे मासे नन्दव्रजकुमारिका' (१) अर्थात् अब व्रजमें हेमन्त ऋतु आयी। उसका पहला महीना मार्गशीर्ष होता है। उसमें गोपियाँ हविष्यान्नका भोजन करती हुई दुर्गाकी उपासना करने लगीं।

आप लोग भारतीय संस्कृतिसे परिचित हैं। पहले लड़की यदि किसीके ऊपर मोहित भी हो जाय तो स्वयं उसके पास जाकर प्रस्ताव नहीं रखती थी कि आओ, हम लोग ब्याह कर लें। दोनोंके मध्यमें इनके मङ्गलके लिए माता दुर्गाकी जरूरत है। इसीलिए गोपियाँ दुर्गा माताकी अर्चना करती हैं।

भागवतके वैष्णव 'प्रययुस्तेऽम्बिकावनम्'—शंकरजीकी भी पूजा करते हैं और अम्बिकाकी भी पूजा करते हैं। जैसे व्रजकी कन्याएँ देवीकी पूजा करती थीं, वैसे ही द्वारिकावासी भी देवीकी पूजा करते थे। जब भगवान् श्रीकृष्ण जाम्बवान्के पास जाकर खो गये थे तब द्वारिकावासियोंने दुर्गाकी आराधना की थी। हम वाल्मीकि-रामायणमें देखते हैं कि सब अयोध्यावासी पञ्चदेवके उपासक हैं और जनकपुरीके निवासी शिवके उपासक हैं। इससे मालूम पड़ता है कि उस समय लोगोंके चित्तमें कैसी प्रीति थी। यह नहीं समझना कि विष्णुकी आकृतिके अतिरिक्त और किसी आकृतिको परमेश्वर नहीं मानते हैं। आकृतिका नाम परमेश्वर नहीं होता, उसमें जो रसीला उपादान है, सच्चिदानन्दघन है और जिसको देखकर मन जीभ बनकर स्वाद लेनेके लिए चाटना चाहता है, उस परम रसमय तत्त्वका नाम परमेश्वर होता है।

'कात्यायन्यर्चनव्रतम्' (२)—कात्यायनी देवी कृष्ण मन्त्राधिष्ठात्री हैं, दुर्गा हैं, राधारानीका स्वरूप हैं। उनकी अर्थात् राधारानीकी अनुकूलताके बिना श्रीकृष्णकी प्राप्ति नहीं हो सकती। यही उनका विशालतम रूप है।

गोपियाँ प्रातःकाल जाकर कालिन्दीमें स्नान करें, किनारेपर देवीकी मूर्ति बनावें, गन्ध-माल्य-सुरभि-बलि आदिसे उनकी पूजा करें और यह मन्त्र जपें—'कात्यायनि महामाये' इत्यादि। (४) इस प्रकार उन्होंने एक महीनेतक अनुष्ठान किया और भद्रकालीकी पूजा की।

इसके बाद गोपियाँ नित्यप्रति प्रातःकाल उठते ही आपसमें गलबहियाँ डालकर कृष्ण-कृष्णका गान करतीं। फिर यमुना-किनारे जाकर अपने कपड़े वृक्षोंकी डालियोंपर डाल देतीं और जलमें विहार करतीं।

एक दिन योगेश्वरेश्वर भगवान्‌का ध्यान उनकी ओर गया और वे अपने हमजोलियोंको लेकर उनके पास पहुँच गये।

देखो, एक तो योगेश्वर होता है, जो योग अर्थात् साधन करनेवालेको फल देता है। दूसरा योगेश्वरेश्वर होता है, जो साधकके साधन-असाधनका विचार किये बिना योगेश्वरसे कहता है कि इसका रजिस्टर हमारे पास है, तुम उसका कोई ख्याल मत करो और जाओ उसको फल देकर आओ। भगवान् श्रीकृष्ण योगेश्वरेश्वर हैं।

लोकमें रसकी अनुभूति कब होती है ? जब माँ अपने बच्चेको गोदमें लेती है। यदि माँ तथा बच्चेके बीचमें कपड़ा रह जाता है तो न वात्सल्य-रसका आस्वादन हो पाता है और न बालक दूध पी पाता है। पर्दा हटाये बिना शृङ्गार-रसका आस्वादन भी लोकमें नहीं होता। इसी प्रकार आवरण-भङ्गकी प्रक्रियामें गुजरे बिना यदि कोई चाहे कि हम रास-रसका आस्वादन कर लें तो वह नहीं कर सकता। जैसे तत्त्वज्ञानके लिए प्रत्यक्-चैतन्याभिन्न ब्रह्मतत्त्वके बोधके लिए, तत्त्वमस्यादि महावाक्य-जन्य वृत्तिके द्वारा आवरणको दूर करना पड़ता है, वैसे ही रस-स्वरूप भगवान् श्रीकृष्णका तादात्म्य अनुभव करनेके लिए आवरण-भङ्ग करना पड़ता है।

आश्चर्य, विचित्र आश्चर्य तो यह है कि ब्रह्मज्ञानमें जीवात्माको वृत्ति द्वारा आवरण-भङ्ग करना पड़ता है, स्वयं निर्लज्ज होकर उसको ब्रह्मसे एक होना पड़ता है, किन्तु भगवद्भक्तिकी यह मर्यादा है कि वहाँ पुरुषोत्तम भगवान् स्वयं ही आकर आवरण-भङ्ग करते हैं। पुरुष ही आवरण-भङ्ग करता है, घूँघट हटाता है और पर्दा खोलता है।

तो, जिस समय गोपियाँ यमुना-स्नान कर रही थीं, भगवान् श्रीकृष्ण उनका आवरण भङ्ग करनेके लिए ही वहाँ आये। वे उनके उतारे हुए कपड़े लेकर कदम्बपर चढ़ गये और हँसी करते हुए बोले कि आओ गोपियो, एक-एक करके कपड़े ले लो ! इस प्रकार जब श्रीकृष्णने गोपियोंके साथ छेड़-छाड़ की, तब गोपियाँ कहने लगीं कि श्रीकृष्ण, तुम हमारे साथ अन्याय मत करो। यदि वे झटसे तुरन्त निकलकर बाहर आजातीं तो उसमें रसकी उत्पत्ति नहीं होती। इसीलिए गोपियोंने कहा कि हम तुम्हें पहचानती हैं, तुम हमारे प्यारे हो, हम तुम्हारी आज्ञा माननेको तैयार हैं, परन्तु हमें बेपर्द मत करो, हमको हमारा आवरण दे दो। भगवान्‌ने कहा कि

बस इतना ही तो चाहिए, अब यह आवरण तुम्हारा नहीं, हमारा है। हम रखेंगे तो रहेगा और मिटायेंगे तो मिटेगा।

इसपर गोपियोंने डाँटते हुए कहा कि बस-बस, बातें मत बनाओ, नहीं तो हम नन्द बाबाको जाकर कह देंगी। भगवान् बोले कि इसमें नाराज होनेकी क्या बात है? यदि तुमलोग हमारी दासी हो और हमारी आज्ञाका पालन करनेके लिए तैयार हो तो मुस्कुराती हुई आओ और हमारे कन्धोंपर रखे हुए अपने वस्त्र ले जाओ!

अब गोपियाँ क्या करतीं? सब-की-सब बाहर निकलीं, भगवान्‌ने उनको अपनी दृष्टिसे देखा और उनके अन्दर जो कुछ लज्जा, शङ्का, भय, जुगुप्सा, कुल, जाति, शीलका पाश था, वह सब छिन्न-भिन्न कर दिया। फिर बोले कि सूर्य भगवान्‌को हाथ जोड़ो, क्योंकि तुमको अपराध लगा है। गोपियोंने पूर्ण विश्वासके साथ श्रीकृष्णकी बात मानी और सूर्य भगवान्‌को हाथ जोड़कर नमस्कार किया।

अब जब भगवान्‌ने देखा कि गोपियाँ तो आज्ञाकारिणी हैं, अपना अहङ्कार बिल्कुल छोड़ चुकी हैं, कठपुतली हैं, जैसे मैं कहता हूँ वैसा ही करती हैं, तब उन्होंने उनको उनके कपड़े दे दिये और कहा कि अब ये तुम्हारे नहीं, हमारे हैं—यह तुम लोग याद रखना!

दृढं प्रलब्धास्त्रपया च हापिताः प्रस्तोभिताः क्रीडनवच्च कारिताः।
वस्त्राणि चैवापहृतान्यथाप्यमुं ता नाभ्यसूयन् प्रियसङ्गनिर्वृताः॥ २२

भगवान्‌ने गोपियोंका बड़ा भारी उपहास किया, उनकी लज्जा छुड़ा दी, उनको खिलौना बना दिया और उनके कपड़े छीन लिये, फिर भी गोपियोंको श्रीकृष्णमें किञ्चित् भी दोष-बुद्धि नहीं हुई। बल्कि उनको श्रीकृष्णकी सब क्रियाओंमें सुख-ही-सुख मालूम पड़ा। वे वहाँसे जाना नहीं चाहती थीं। भगवान् श्रीकृष्णने कहा कि तुम्हारा संकल्प हमको ज्ञात है कि तुमने किस लिए हमारी पूजा की है। मैंने उसीका अनुमोदन किया है—

संकल्पो विदितः साध्व्यो भवतीनां मदर्चनम्। २५

यहाँ यदि किसीको यह शङ्का हो कि गोपियोंके मनमें तो कामका उदय हुआ—'स्मरोदयम्'—और भगवान् श्रीकृष्णने उसका निवारण न करके, पोषण किया तो यह कहाँतक उचित है? इसका उत्तर स्वयं भगवान् देते हैं—

न मय्यावेशितधियां कामः कामाय कल्पते।
भर्जिता क्वथिता धाना प्रायो बीजाय नेष्यते॥ २६

जब काम संसारके विषयके लिए होता है तब वह अङ्कुरित होता है और उससे पुनर्जन्म, परलोक, नरक, स्वर्ग आदि उत्पन्न होते हैं। परन्तु यदि किसीने अपनी वृत्तिको, अपने चित्तको भगवान्‌में अर्पित कर दिया हो तब वह काम संसारका हेतु नहीं होता—ठीक वैसे ही, जैसे बीजको भून दिया जाय अथवा उबाल दिया जाये तो उससे अङ्कुर उत्पन्न नहीं होता।

श्रीवल्लभाचार्यजी महाराजने कहा कि 'कामेन पूरितः कामः संसारं जनयेत् परम्' अर्थात् यदि कामसे कामकी पूर्ति हो तब तो संसारका उत्पत्ति होती है, किन्तु अकामसे कामकी पूर्ति होनेपर संसारकी उत्पत्ति नहीं होती। भगवान् तो बिल्कुल अकाम, आप्तकाम हैं। उनके प्रति कामना करनेवालोंकी कामनाका मुँह मुड़ जाता है, उनको संसारकी कामना नहीं रह जाती है। कामना भगवान्‌के पास जाते-जाते अकाम हो जाती है और कामी तथा काम्य दोनों भगवान्‌के साथ तादात्म्यापन्न हो जाते हैं, एक हो जाते हैं।

भगवान्‌ने गोपियोंको कह दिया कि जाओ, तुम सिद्ध हो गयीं। जिसके लिए तुमने देवीकी पूजा की थी, वह तुम्हें प्राप्त हो गया।

यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि पूजा तो की गयी देवीकी। देवीको चाहिए था कि प्रसन्न हों, दर्शन दें, वरदान दें। परन्तु भगवान्‌ने देवीको एक ओर हटा दिया और कहा कि लो बाबा, तुमने देवीकी पूजा की है और तुम्हें मिल गया देवा। असलमें देवीके भीतर देवा ही तो छिपा है। अनेक नाम-रूपोंसे जो भी पूजा होती है, वह सब एक परमात्माकी ही पूजा तो है। 'लभते च ततः कामान् मयैव विहितान् हितान्' (गीता ७.२२)। पूजा चाहे किसीकी करो, फल देनेवाले तो एक भगवान् ही हैं।

इसके बाद कुमारियोंकी लालसा पूर्ण हुई। श्रीकृष्णको छोड़कर उनका जानेका मन नहीं था, परन्तु श्रीकृष्णने उनको भेज दिया।

एक दिन भगवान् श्रीकृष्ण बलरामजी और ग्वाल-बालोंको साथ लेकर वृन्दावनसे दूर निकल गये। गर्मीके दिन थे। फिर भी वृक्ष छाया किये हुए थे। भगवान् उन वृक्षोंको देखकर मुग्ध हो गये और उनकी प्रशंसा करने लगे! सारी विश्वसृष्टि, बड़े-बड़े ऋषि-मुनि और वेद-पुराण, भगवान्‌को महिमाका गान करते हैं, किन्तु यहाँ स्वयं भगवान् वृक्षोंकी महिमाका गान कर रहे हैं।

भगवान्‌ने ग्वाल-बालोंको सम्बोधित करके कहा कि मित्रों, देखो इन वृक्षोंको 'परार्थैकान्त-जीवितान्' (३२)—इन महाभाग वृक्षोंका जीवन दूसरोंकी भलाईके लिए ही है। ये स्वयं

तो तकलीफ सहते हैं, तपःकलामें संलग्न हैं, किन्तु हम लोगोंके दुःखको मिटाते हैं। इनका जीवन सबसे श्रेष्ठ है। इनके पास आकर कोई भी खाली हाथ नहीं लौटता।

देखो, मैंने स्वयं ऐसे कुछ सत्पुरुष देखे हैं, जिनके जीवनकी यह प्रतिज्ञा थी कि उनके पास जो कोई भी आयेगा, उसे वे खाली हाथ नहीं जाने देंगे। उन्होंने अपना कोई विज्ञापन नहीं किया। नब्बे-नब्बे, सौ-सौ वर्षतक उनका जीवन रहा, किन्तु उनके यहाँसे कोई खाली हाथ नहीं लौटा। ऐसे ही सज्जनोंको परोपकारी कहते हैं।

भगवान् कहते हैं कि 'पत्रपुष्पफलच्छायामूलवल्कलदारुभिः' (३४)—ये वृक्ष अपने पत्तोंसे, फूलोंसे, फलोंसे, छायासे, मूलसे, छालसे, लकड़ीसे, गन्धसे, गोंदसे, भस्मसे और फिर अंकुरसे लोगोंकी सेवा करते हैं। कभी किसीको अपने पाससे व्यर्थ नहीं जाने देते।

'एतावज्जन्मसाफल्यम्' (३५)—प्राणियोंके जन्मकी, जीवनको सफलता इसीमें है कि वे अपने प्राणोंसे, अर्थसे, बुद्धिसे, वाणीसे, दूसरोंका भला करें।

इस प्रकार भगवान् वृक्षोंकी प्रशंसा करते हुए उनके नीचे-नीचे चलने लगे। चलते-चलते भगवान् यमुनाजीके तटपर गये। वहाँ जाकर उन्होंने ग्वालों और गायोंको यमुनाजीका मधुर, शीतल, स्वच्छ जल पिलाया और स्वयं भी पीया। कई ग्वाल-बाल 'कृष्णरामावुपागम्य' (३८)—श्रीकृष्ण-बलरामके पास आये और बोले कि आज गोपियोंकी कामना पूरी हुई है। इसलिए हमारी कामना भी पूरी होनी चाहिए, क्योंकि हमें भूख लगी है।



देखो, एक ओर गोपियाँ, दूसरी ओर यज्ञपत्नियाँ और उनके बीचमें आगयी ग्वाल-बालोंकी क्षुधा, अपना कल्याण करनेके लिए। उसने सोचा कि दोनों ओर स्त्रियाँ हैं, इसलिए बीचमें हमारी गुजर हो जायेगी। यदि कोई वेदान्ती कहे कि भूख-प्यास कहाँ है तो समझ लो कि वह कच्चा वेदान्ती है। प्राणोंको भोजन भी देना चाहिए। इन्द्रियाँ शब्दादि विषयोंको देखती हैं। परन्तु एक तो भक्तकी भगवद्-बुद्धि होती है और दूसरे बाधितानुवृत्ति होती है। महात्माके स्वरूपमें जो कुछ भोक्ता-भोग्य प्रतीत हो रहा है, वह सब बाधित है और भक्तोंकी दृष्टिमें भोक्ता-भोग्य जो कुछ भी है, वह सब भगवद्रूप है।

तो ग्वाल-बालोंने कहा—

राम राम महावीर्य कृष्ण दुष्टनिबर्हण।
एषा वै बाधते क्षुन्नस्तच्छान्ति कर्तुमर्हथः॥ १

हे महावीर बलराम, हे दुष्ट-दलन कृष्ण, हम लोगोंको बड़े जोरकी भूख सता रही है। इसकी शान्ति करो।

जब ग्वाल-बालोंने ऐसा कहा तब भगवान्‌को मथुराकी भक्त ब्राह्मण-पत्नियोंका स्मरण हो आया। वे उनके ऊपर प्रसन्न हो गये और बोले कि मित्रों, यहाँसे थोड़ी ही दूरपर वेदवादी ब्राह्मण आङ्गिरस नामक यज्ञ कर रहे हैं। तुम लोग वहाँ जाओ और मेरा तथा बड़े भैया बलरामजीका नाम लेकर उनसे भोजन-सामग्री माँग लाओ।

इसके बाद ग्वाल-बाल यज्ञ-शालामें गये और वहाँ उन्होंने ब्राह्मणोंसे कहा कि हम लोग राम और कृष्णके भेजनेपर आपके पास आये हैं। वे लोग वृन्दावनसे बड़ी दूर आगये हैं। उनको भूख लगी है, जिसके निवारणके लिए उन्हें 'ओदन' चाहिए। यदि आप लोगोंकी श्रद्धा हो तो उनके लिए भोजन दीजिये।

यदि आप लोग कहें कि यज्ञमें इस प्रकार भोजन देना उचित नहीं तो यह बात सौत्रामणी और पशुयागपर लागू होती है, वहाँ जरूर बीचमें किसीको माँगना नहीं चाहिए, क्योंकि वहाँकी

तो व्यवस्था ही दूसरी है। पवित्रात्मा पुरुषोंके यज्ञमें शास्त्रीय विधिके अतिरिक्त और किसी चीजकी गुंजायश ही नहीं हैं। परन्तु ब्राह्मणो, आपका यह यज्ञ न तो सौत्रामणी है और न पशुयाग है। इसलिए आप लोग हमें भोजन दे दीजिये।

परन्तु यज्ञ-परायण ब्राह्मणोंपर ग्वालोंके अनुरोधका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। क्योंकि वे तो अपनेको बड़ा भारी कर्मकाण्डी मानते थे! उनको अपने ब्राह्मणत्वका बहुत अहंकार था। 'क्षुद्राशा भूरिकर्माणो बालिशा वृद्धमानिनः' (९)—उनको आशा तो क्षुद्र स्वर्गकी है, किन्तु वे बड़े भारी कर्ममें लगे हुए हैं। हैं तो बालक, परन्तु अपनेको मानते है वृद्ध।

देखो, पण्डित होना बहुत अच्छा है, परन्तु पाण्डित्यका अभिमान भगवान्से विमुख कर देता है। इसलिए पाण्डित्यका अभिमान कभी नहीं करना चाहिए।

इन ब्राह्मणोंको याज्ञिकत्वका अभिमान है, ब्राह्मणत्वका अभिमान है, वैदुष्यका अभिमान हैं। ये अभिमानत्रयसे पीड़ित हैं। वे यह नहीं जानते कि देश-काल-द्रव्य आदि सब-के-सब भगवद्-रूप हैं। वही भगवान् उनके यहाँ भोजन लेने आये हैं। लेकिन ये उनको नहीं मानते। उनके लिए दो मार्ग थे—या तो कह देते कि ठीक है, बहुत बढ़िया बात है—'न ते यदोमिति प्रोचुर्न' (१२)—या साफ-साफ 'नहीं' बोल देते—'नेति'। परन्तु वे न हाँ बोलें न ना बोलें। त्रिशंकुकी तरह बीचमें लटक गये। ऐसे लोगोंको किस गतिकी प्राप्ति होगी?

एक तो यति विविदिषु होते हैं, जिनको प्रतिभाका, प्रज्ञाका बल नहीं होता; किन्तु वे प्रणव आदिके जप द्वारा अन्तःकरण शुद्ध करके परमात्माका साक्षात्कार करते हैं। दूसरे प्रज्ञाशाली, प्रतिभाशाली, शुद्धान्तःकरण और अधिकारी होते हैं, जो नेति-नेतिके द्वारा निषेध करके परमात्माको प्राप्त करते हैं। इस प्रकार दो ही तो मार्ग हैं—एक 'ओमिति', दूसरा 'न-इति'। परन्तु याज्ञिक ब्राह्मणोंको दोनोंमें-से कोई मार्ग नहीं जँचा।

अब ग्वाल-बाल निराश होकर लौट गये और उन्होंने भगवान्को सब-कुछ बता दिया। सुनकर भगवान् हँसने लगे। उन्होंने कहा कि यही लौकिक गति है। पण्डितोंमें श्रद्धाका ह्रास हो जाता है, किन्तु स्त्रियोंमें श्रद्धा दीर्घकाल-व्यापिनी होतीं है। भगवान्ने कहा कि मित्रो, फिर जाओ और अब उन ब्राह्मणोंकी पत्नियोंसे भोजन माँगो, वे तुम्हें खूब देंगी।

ग्वाल-बाल ब्राह्मण-पत्नियोंके पास गये और उनको बताया कि श्रीकृष्ण-बलराम थोड़ी दूरपर बैठे हैं, भूखे हैं, उनके लिए आप लोग भोजन दीजिये।

ब्राह्मण-पत्नियाँ तो श्रीकृष्णका दर्शन चाहती ही थीं, उनके आनेका ससाचार सुनकर और भी उतावली हो गयीं—'तत्कथाक्षिप्तमनसः' (१८)। इस दुनियाँमें मनको भगवान्‌की ओर ले जानेवाली कोई चीज है तो वह केवल भगवान्‌की चर्चा है, भगवत्कथा है। जिनका अन्तः-करण धूम्राच्छादित हो जाता है, उनके मनमें द्रवता नहीं आती।

तो, ग्वाल-बालोंकी बात सुनकर यज्ञपत्नियाँ चतुर्विध भोजन अर्थात् भक्ष्य-भोज्य-पेय-चोष्य इन चारों प्रकारके बहुत-से गुणोंवाले भोजन लेकर श्रीकृष्णकी ओर दौड़ पड़ीं—ठीक वैसे ही, जैसे नदियाँ समुद्रकी ओर दौड़ती हैं। वे अभिसारिणीके समान श्रीकृष्णकी ओर चल पड़ीं। उनके हृदयमें दीर्घकालसे भगवान्‌के दर्शनोंकी लालसा बैठी हुई थी। इसलिए उन्होंने भगवान्‌की ओर जानेमें क्षणभरका भी विलम्ब नहीं किया और वहाँ पहुँचकर देखा तो उनके आराध्य भगवान् श्रीकृष्ण अपने बड़े भैया बलरामजी तथा ग्वाल-बालोंके साथ विराजमान हैं।

देखो, यहाँ भगवान् श्रीकृष्णकी वेषभूषाका वर्णन करनेवाला जो श्लोक है, यह वही श्लोक है,—जिसको सुनते ही श्रीचैतन्य महाप्रभु गम्भीरा-लीलामें, भाव-समाधिमें मग्न हो जाया करते थे—

श्यामं हिरण्यपरिधिं वनमाल्यबर्हधातुप्रवालनटवेषमनुव्रतांसे।
विन्यस्तहस्तमितरेण धुनानमब्जं कर्णोत्पलालककपोलमुखाब्जहासम्॥ २२

भगवान् श्यामसुन्दर हैं, पीताम्बरधारी हैं, मुरलीमनोहर हैं, वनमाला पहने हैं, पल्लवोंसे शृङ्गार किये हुए हैं, नटका-सा वेश है, उनका एक हाथ ग्वालके कन्धेपर है और दूसरे हाथसे कमल हिला रहे हैं। अत्यन्त सुन्दर हँसी उनके मुखारविन्दपर खेल रही है, कानोंमें कमलके कुण्डल हैं और उनकी घुँघराली अलकें कपोलोंपर लटक रही हैं।

यज्ञपत्नियाँ इस सौन्दर्य-माधुर्यका दर्शन करके मुग्ध हो गयीं। वे तो पहलेसे ही भगवान्‌के गुणोंकी चर्चा सुन-सुनकर मोहित हो चुकी थीं। आज उन्होंने भगवान्‌को हृदयमें बैठा लिया।

भगवान् श्रीकृष्ण समझ गये कि ये तो सब-कुछ छोड़कर मेरे पास आयी हैं, लौटनेवाली नहीं हैं और बोले कि स्वागत है देवियो, बोलो तुम्हारी क्या सेवा करें? तुम हमारे दर्शनके लिए आयी हो, यह तुम्हारे योग्य है। स्वार्थ-परमार्थके जितने ज्ञाता हैं, कुशल पुरुष हैं, वे मेरे प्रति अहैतुकी, अव्यवहित भक्ति वैसे ही करते हैं, जैसे कोई अपने स्वजनोंमें करता है। इस आत्मदेवके कारण ही तो संसारमें सब-कुछ प्यारा है किन्तु अब तुमलोग अपनी यज्ञभूमिमें चली जाओ। तुम्हारे पति तुम्हारे साथ यज्ञ पूरा करेंगे।

ब्राह्मण-पत्नियोंने कहा कि स्वामी, प्राणनाथ, अब आप इस प्रकारकी कठोर वाणी मत बोलिये। आप तो उस वेद-वाणीको सत्य कर दीजिये, जिसमें कहा गया है कि जो भगवान्के पास आजाता है, उसकी पुनरावृत्ति नहीं होती—'न सपुनरावर्तते' (छान्दोग्य उप० ८.१५.१)। 'सत्यं कुरुष्व निगमम्'। (२९)

देखो, ये पत्नियाँ भी ब्राह्मणी हैं और वेदमन्त्र उनके जाने-माने हैं। तभी इस प्रकारसे श्रुति उद्धृत करती हैं।

उन्होंने कहा—'तव पादमूलं प्राप्ता वयम्'—अब तो हम आपके चरणोंकी गिरी हुई तुलसीकी मञ्जरीको अपने बालोंमें लगायेंगी और स्वयं साधु होकर साधुओंके सङ्ग रहेंगी।

देखो, ब्राह्मण-पत्नियोंने पहले तो निश्चय किया कि अब हम श्रीकृष्णका सङ्ग छोड़कर कहीं नहीं जायेंगी, परन्तु बादमें उनके मुँहसे जो बात निकली, उसमें कुछ शिथिलता है। भगवान् अपनी ओरसे किसीको छोड़ते नहीं हैं। ब्राह्मणियोंमें शिथिलता यह आगयी कि अब यदि हम घर लौट भी जाँय तो हमारे पति-पुत्रादि हमें स्वीकार नहीं करेंगे। इसलिए हम आपके पंजेको पकड़ कर बैठी हैं—'भवत्प्रपदयोः पतितात्मनां नः' (३०)।

यज्ञपत्नियाँ ब्राह्मणी हैं, सोचती हैं कि ये क्षत्रिय हैं, हम इनके पाँवके नीचे हाथ कैसे लगावें ? इसलिए 'प्रपदयोः' कह दिया। इसका अर्थ है कि हम तुम्हारे पंजेको पकड़कर बैठी हैं, उसपर गिरी हैं, अब हमें दूसरेके पास न जाना पड़े।

देखो, तलवेमें गिरना दूसरी चीज है और प्रपद माने पंजेपर, पाँवके ऊपरी हिस्सेपर गिरना दूसरी चीज है। प्रपन्न लोग भगवान्का पंजा ही पकड़ते हैं, किन्तु शरणागत तलवेमें गिरते हैं।

भगवान्ने कहा कि बस-बस देवियो, बन गयी बात। तुम अपने घर जाओ, देवता लोग भी तुम्हारा आदर करेंगे, फिर पति-पुत्रादिमें रखा ही क्या है ? मेरे पास रहनेमें इतना लाभ नहीं है, घर जाकर अपने मनको हमारे भीतर लगाओ।

भगवान्का तात्पर्य यह है कि अभी तुम्हारा शरीर हमारे पास रहने योग्य नहीं है। इसलिए तुम मनसे ही हमारा चिन्तन करो। स्मरण, दर्शन और अनुकीर्तनसे जैसा भाव होता है वैसा निकट रहनेसे नहीं होता।

यह सुनकर ब्राह्मणियाँ लौट गयीं। पतियोंने उनका बड़ा भारी आदर किया। केवल एक ब्राह्मणीको उसके पतिने रोक लिया था, श्रीकृष्णके पास नहीं जाने दिया। इसलिए वह शरीर छोड़कर श्रीकृष्णके पास पहुँच गयी।

अब भगवान्‌ने ग्वाल-बालोंके साथ भोजन किया और उनके साथ अनेक प्रकारकी लीला करने लगे।

इधर जब ब्राह्मणोंका ध्यान इस बातकी ओर गया कि भोजन माँगनेवाले श्रीकृष्णके यहाँसे आये थे, उनकी याचना हमने स्वीकार नहीं की, हमारी पत्नियाँ श्रीकृष्णके प्रति अलौकिक भक्ति करती हैं, किन्तु हमारे हृदयमें भक्ति नहीं है तब वे अपनेको धिक्कारने लगे—

धिग् जन्म नस्त्रिवृद्‌विद्यां धिग् व्रतं धिग् बहुज्ञताम्।
धिक् कुलं धिक् क्रियादाक्ष्यं विमुखा ये त्वधोक्षजे॥ ३९

देखो, यदि आपका जन्म अच्छे खानदानमें हुआ है, आपको अच्छी विद्या मिल गयी है, आप अच्छे सदाचारका पालन करते हैं तो बहुत बढ़िया बात है। यह तो ईश्वरकी कृपा है आप पर। परन्तु आप इतनेसे ही सन्तुष्ट न हो जाइये और आगे बढ़कर भगवान्‌की भक्ति कीजिये। भगवान्‌से विमुख व्यक्तिको संसारमें कोई नहीं बचा सकता। भगवान्‌की माया उसे मोहित कर लेती है।

ब्राह्मणोंने कहा कि हमारी पत्नियाँ तो भगवान्‌से इतना प्रेम करती हैं। इनको न तो द्विजातिका संस्कार हुआ है और न इन्होंने गुरुकुलमें वास किया है। इनमें न तपस्या है, न आत्ममीमांसा है, न शौच है, न क्रिया है। फिर भी योगेश्वरेश्वर भगवान् श्रीकृष्णमें इनकी इतनी दृढ़ भक्ति है। हमारा संस्कार हुआ तो क्या और गुरुकुल वास हुआ तो क्या, जब कि श्रीकृष्णमें हमारी भक्ति नहीं है। भगवान्‌की कितनी कृपा है कि उन्होंने गोपोंको भेजकर हमको अपना स्मरण दिलाया, नहीं तो उन्हें क्या जरूरत पड़ी थी? वे तो 'कैवल्याद्याशिषां पतेः' (४५)—धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष सब-कुछ दे सकते हैं। उन्हें हमारे पास भोजन माँगनेकी क्या जरूरत थी? भगवान्‌के चरणोंमें तो स्वयं भगवती लक्ष्मी निवास करती हैं और 'हित्वान्यान् भजते यं श्रीः' (४६) अन्य सबको छोड़कर केवल उनका ही भजन करती हैं—इसलिए कि उन्हें भगवान्‌के चरणोंका स्पर्श बारम्बार प्राप्त होता रहे। 'आत्मदोषापवर्गेण तद्याञ्चा जनमोहिनी' (४६)—लक्ष्मीजी अपना चाञ्चल्यादि दोष छोड़कर भगवान्‌के चरणोंमें रहती हैं।

लेकिन ऐसे भगवान् हमसे भोजन माँगते हैं। अरे, देश, काल आदि सब उनके स्वरूप हैं। वे योगेश्वरेश्वर हैं, हमारा दुर्भाग्य कि हम उनको नहीं पहचानते। हम इस अर्थमें अवश्य धन्य हैं कि हमारे घरमें ऐसी स्त्रियाँ हैं। हम उन भगवान्‌को नमस्कार करते हैं, जिनकी मायासे हम कर्म-मार्गमें भटक गये। वे हमारा अपराध क्षमा करें।

श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि परीक्षित, ब्राह्मणोंके मन मनमें श्रीकृष्णके दर्शनोंकी इच्छा हुई, परन्तु उनको कंसका ऐसा डर लगा कि वे चाहकर भी उनका दर्शन करने नहीं गये।

इस प्रसंगपर आप लोग ध्यान दें तो पायेंगे कि जबसे गोपियोंने श्रीकृष्णकी वंशी-ध्वनि सुनी है और श्रीकृष्णके मनमें भी यह आया है कि गोपियाँ हमारी प्रेमिका हैं—हमारे योग्य हैं, तबसे गोपियोंके हृदयमें प्रीतिका उदय हो रहा है। गोपियाँ पहले देवीको आराधना करती थीं। किन्तु भगवान्‌ने देवीको हटा दिया और कहा कि रहने दो देवीकी आराधना, तुमको हम ही फल देंगे। इससे यह बात बतायी गयो है कि श्रेष्ठता न विद्यासे होती है, न यज्ञसे होती है और न जातिसे होती है। श्रेष्ठता तो भगवद्भक्तिसे सम्बन्धित है। ब्राह्मणोंके हृदयमें भक्ति नहीं है, उनको पत्नियोंके हृदयमें भक्ति है, इसलिए परम्परया उनका भक्तिके साथ सम्बन्ध हो गया। भक्तिके साथ सम्बन्ध हो जानेपर श्वपच भी ब्राह्मणादिको अपेक्षा श्रेष्ठ होता है। कुल, जाति आदिकी श्रेष्ठता तो स्थूल शरीरकी शोधक है। परन्तु भक्ति तो सीधे हृदयमें जाकर कामादि दोषोंका निवारण करके भगवान्‌के साथ जोड़ देती है। अतः भक्तिमूलक श्रेष्ठता ही वास्तवमें श्रेष्ठता है। भगवान्‌से प्रीति होनी चाहिए। किसो झूठे अभिमानको अपने साथ नहीं जोड़ना चाहिए। देशका अभिमान होता है। जाति का भी अभिमान होता है। कुलका भी अभिमान होता है। सम्पत्तिका भी अभिमान होता है। भगवान्‌ने तुमको बहुत-कुछ दिया है, बड़ा अच्छा है। लेकिन इन सब अभिमानोंको रहने दो एक जगह। क्योंकि ये असली बड़प्पनमें बाधक हैं। असली बड़प्पन तो तभी आवेगा, जब तुममें भगवान्‌की भक्ति आयेगी। इस बातको गाँठ बाँध लो कि भगवान्‌की भक्तिके बिना सारे बड़प्पन व्यर्थ हैं।



: २४ :

यज्ञ-पत्नियों और उनके पति याज्ञिक ब्राह्मणोंपर भगवान्‌का अनुग्रह होनेके पश्चात् अब इन्द्र-यज्ञका प्रसंग उपस्थित हुआ। इन्द्र यज्ञाराध्य देवता हैं। व्रजमें परम्पराके अनुसार उनके पूजनकी बड़ी भारी तैयारी होने लगी। नन्दबाबा उसमें व्यस्त हो गये।

श्रीकृष्ण तो सब-कुछ जानते ही थे, परन्तु फिर भी अनजान बनकर नन्दबाबाके पास गये और उनके पाँव छूये। रोज तो जाकर उनकी गोदमें बैठ जाते थे, आज पाँव छूकर पूछते हैं—बाबा! कौन-सा यज्ञ होनेवाला है? उसका क्या फल है? क्या उद्देश्य है? वह किसके लिए हो रहा है? व्रजवासी लोग किसकी पूजामें संलग्न हैं? यह सब हमें बताओ। इस आयोजनके बारेमें जाननेकी मुझे उत्सुकता है! यदि कोई शत्रु हो या उदासीन हो तो उसे रहस्यकी बात नहीं बतानी चाहिए। परन्तु मैं तो बाबा, तुम्हारा पुत्र हूँ, इसलिए मुझे बतानेमें कोई हर्ज नहीं है। मनुष्य जान-अनजानमें न जाने कितने कर्म करते हैं, किन्तु 'विदुषः कर्मसिद्धिः स्यात्तथा नाविदुषो भवेत्' (६)—जो समझ-बूझकर काम करते हैं, उनको सिद्धि मिलती है और जो नासमझीसे करते हैं, उनको सिद्धि नहीं मिलती। अब तुम बताओ कि यह जो कुछ कर रहे हो, केवल परम्पराके कारण कर रहे हो या इसके रहस्यको समझकर कर रहे हो? तुमलोगोंने कौन-सा क्रियायोग सोचा है? उससे क्या कोई अदृष्ट उत्पन्न होकर स्वर्गादिकी प्राप्ति होगी, दूसरे जन्ममें उसका फल मिलेगा अथवा इसी जन्ममें, इसी लोकमें पुत्र-श्रीके समान कोई दृष्टफल मिलनेवाला है? बाबा, कुछ बताओ तो सही।

देखो, श्रीकृष्णका मुँह अभी है तो नन्हा-सा, बटुआ-सा; परन्तु उसमें-से बातें कितनी बड़ी-बड़ी निकल रही हैं।

नन्दबाबाने कहा कि बेटा, इन्द्र करता है वर्षा और वर्षासे पैदा होता है अन्न। इसलिए हमलोग इन्द्रकी पूजा करते हैं और पूजा करनेके बाद जो बाकी बचता है, वह खाते हैं। हमारा यह धर्म परम्परासे आया हुआ है और उसको छोड़नेसे बड़ी हानि होती है।

अब श्रीकृष्णको यह बात कैसे सुहाती? क्योंकि वे तो बड़े भारी क्रान्तिकारी हैं। उन्होंने सोचा कि इन्द्रसे भी दो-दो हाथ हो जाय तो ठीक रहेगा। उन्होंने किसीको भी नहीं छोड़ा। ब्रह्माजीको मुँहकी खवायी, शंकरजीको तो बेहोश ही कर दिया। युद्धमें ऐसे प्रस्वापनास्त्रका प्रयोग किया कि उसके प्रभावसे बूढ़े बाबा रथपर बैठकर बाण चलाना भूल गये और बारम्बार जँभाई लेने लगे। फिर बेचारे इन्द्रकी तो उनके सामने बिसात ही क्या है?

श्रीकृष्ण सबसे मिले और उन्होंने नन्दबाबाको माध्यम बनाकर उनसे कहा—प्राणी कर्मसे पैदा होता है, कर्मसे ही मरता है। सुख-दुःख और भय आदि सब-के-सब कर्मसे पैदा होते हैं।

देखो, कई लोग यह बात स्वीकार करते हैं कि जीवोंको कर्मका फल देनेवाला ईश्वर है। बात ठीक है, हम भी ऐसा मानते हैं। परन्तु जब जीव कर्म करेगा तब तो उसको ईश्वर फल देगा ? अन्यथा यदि जीव कहीं अपने आपको अकर्ता जान ले तब क्या होगा ? अकर्ताका चाहे जैसा अर्थ कर लो, वह सब तरहसे चलता है। जो कर्ता सांख्य-योगकी रीतिसे अथवा वेदान्तकी दृष्टिसे अपनेको अकर्ता, अकर्तृब्रह्म, अखण्डब्रह्म जान गया, वह यह कह सकता है कि चाहे ईश्वर ही सब-कुछ करता-कराता है, उसमें हमारा कोई हाथ नहीं है। अकर्त्ताके ऊपर ईश्वरका कोई वश नहीं है।

इसी तरह इन्द्र हमारा क्या करेगा ? यहाँ सब अपने-अपने स्वभावके अनुसार चलते हैं। आप लोग बुलाओ अपने इन्द्रको और उससे पूछो कि क्या वह किसीका स्वभाव बदल सकता है ? क्या वह पृथिवीको रसवत्, जलको गन्धवत्, अग्निको शीतवत् और आकाशको स्पर्शवत् बना सकता है ? नहीं बना सकता। सबको अपना-अपना शरीर कर्मके अनुसार ही प्राप्त होता है। कर्म ही गुरु है, कर्मकी ही पूजा करनी चाहिए और एकका आश्रय लेनेके बाद दूसरेका आश्रय नहीं लेना चाहिए। ऐसा करना व्यभिचार है। ब्राह्मणको वेदके द्वारा, राजाको पृथिवी-पालनके द्वारा, वैश्यको व्यापारके द्वारा और शूद्रको ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्यकी सेवाके द्वारा अपना जीवन व्यतीत करना चाहिए। वैश्यके लिए कृषि, वाणिज्य, गोरक्षा और कुसीद माने व्याज लेना—ये चार प्रकारकी वृत्तियाँ हैं। 'वयं गोवृत्तयोऽनिशम्' (२१)—हम लोग तो केवल गायसे अपनी जीविका चलानेवाले हैं।

देखो, इन्हीं सब प्रसङ्गोंको लेकर एक बार काशीमें श्रीराजेश्वर शास्त्री द्वारा एक पुस्तक प्रकाशित हुई थी, जिसमें यह बताया गया था कि नन्दबाबा तथा दूसरे गोप वैश्य वर्णके हैं।

श्रीकृष्णने आगे कहा कि बादल अपने गुणके अनुसार वर्षा करते हैं और उसीसे प्रजाका काम चलता है। हमारा न कोई जनपद है, न कोई ग्राम है, न कोई घर है, हम वनमें विचरण करते हैं—वन-शैल निवासी हैं। इसलिए यदि पूजा करनी ही है तो आओ इस वन-शैलकी पूजा करें। हमारी पूजाके योग्य तो गाय, ब्राह्मण, पर्वत ही हैं। इसलिए हम लोग इन्हींके यजनकी तैयारी करें।

'गवां ब्राह्मणानामद्रेश्चारभ्यतां मखः' (२५)—ये पर्वत और वनमें रहनेवाले भूखे न मर जायें। चलो, उनके बीचमें ब्राह्मणों द्वारा यज्ञ कराया जाय। तरह-तरहके भोजन पकने दो। 'सूपान्ताः पायसादयः' (२६)—दाल भी पके, खीर भी पके, हल्वा भी बने, मालपूआ भी बने और शष्कुलि अर्थात् पूरी-कचौरी भी बने। 'सर्वदोहश्च गृह्यताम्' (२६)—सबके घरोंमें जितना

भी दूध-दही-घी-माखन है, सब-का-सब ले लो, हवन करो और ब्राह्मणोंको खूब खिलाओ, उनको गो-दान करो ।

एक बात और है, इस यज्ञमें कोई छूटने न पावे—'अन्येभ्यश्चाश्वचाण्डालपतितेभ्यो यथार्हतः' (२८) । यज्ञका प्रसाद कुत्तेको भी दो, चाण्डालको भी दो, पतितोंको भी दो । ईश्वरने जितने भी जीव पैदा किये हैं, उन सबको रोटी भी दी है । हम लोग तो यज्ञका प्रसाद प्राप्त कर लें, किन्तु यदि श्वपच भूखे रह जायँ तो यह बात ठीक नहीं है । सबको यथायोग्य मिलना चाहिए । गायोंको हरी-हरी घास मिलनी चाहिए । गोवर्द्धन पर्वतको भी बलि दो, भेंट दो और इसकी प्रदक्षिणा करो । यही मेरी राय है ।

देखो, श्रीशुकदेवजी महाराजने यहाँ फिरसे कह दिया कि 'कालात्मना भगवता शक्रदर्पं जिघांसता' (३१)—भगवान् कालात्मना हैं । उन्होंने यहाँ परिस्थितिके अनुरूप अपना स्वरूप धारण किया है । इन्द्रका पेट भेंट-पूजा लेते-लेते बड़ा हो गया है, भगवान् उसको तोड़ना चाहते हैं ।

अब श्रीकृष्णकी बात सुनकर नन्द बाबा तथा अन्य सबने उसका समर्थन किया कि ठीक है, ठीक है । स्वस्त्ययनका पाठ हुआ और वह समस्त सामग्री, जो इन्द्रके लिए तैयार हुई थी, गिरिराजके सामने प्रस्तुत कर दी गयी । प्रदक्षिणा प्रारम्भ हुई । गोपी-गोप छकड़ोंपर चढ़कर चलते-चलते श्रीकृष्णके बलवीर्यका गान करने लगे ।

इधर सबको विश्वास दिलानेके लिए स्वयं श्रीकृष्ण पर्वत बन गये और बोले कि 'शैलोऽस्मि' (३५)—मैं गिरिराज हूँ । इसकी पूजा करो, व्रजकी पूजा करो, चट्टानकी पूजा करो, मिट्टीकी पूजा करो—क्या रखा है स्वर्गके इन्द्रमें ? यह गिरिराज तो इन्द्रसे भी बड़ा है ।

अब श्रीकृष्ण 'बृहद्वपुः' (३५) बनकर स्वयंको नमस्कार करें और स्वयंको पुजावें । स्वयं पुजारी, स्वयं यजमान, स्वयं पुरोहित और स्वयं पूज्य बनकर अर्थात् नाना रूपोंमें प्रकट होकर भगवान्ने कहा कि आदर करो इनका । जो इनका तिरस्कार करता है, उसको तो ये हानि पहुँचाते हैं; किन्तु जो इनकी पूजा करता है, उसको बड़ा लाभ प्रदान करते हैं ।

भगवान्की इन बातोंको सबने स्वीकार किया और गोवर्द्धनकी पूजा करके सब लोग श्रीकृष्णके साथ व्रजमें लौट गये ।



अब इन्द्रको पता चल गया कि मेरी पूजा तो कट गयी। जिन लोगोंको भेंट-पूजा लेनेकी आदत पड़ जाती है, वे उसपर अपना हक समझने लगते हैं। देना तो यजमान अपनी इच्छासे है, परन्तु यदि वह कभी किसी कारणवश न दे तो भेंट-पूजाके लोभी लोग उसपर गुस्सा करने लगते हैं। यदि कोई किसी बाबाजीके आश्रममें प्रतिमास दस रुपये भेजता हो और वर्ष-दो वर्षके बाद भेजना बन्द कर दे तो बाबाजी उसपर खुश नहीं होगें, नाराज हो जायेंगे। वे यह नहीं कहेंगे कि उसने दो वर्षोंतक रुपये भेजे—बड़ा अच्छा किया, बल्कि यही कहेंगे कि अरे राम-राम उसने रुपये भेजने बन्द कर दिये। कैसा कृपण है! लेकिन जो अच्छा बाबा होगा, वह तो यह कहकर खुश होगा कि भेजनेवालेने जो भी भेजा बहुत भेजा, उसमें बड़ी श्रद्धा है।

इन्द्र देवताको भी व्रजवासियोंसे भेंट-पूजा लेनेकी आदत पड़ गयी थी। इसलिए जब वह बन्द हो गयी तब उन्होंने नन्दादिपर क्रोध करना शुरू कर दिया और प्रलयके बादलोंको आज्ञा दे दी कि तुमलोग व्रजमें जाकर घमण्डी गोपोंको मेरी अवहेलनाका सबक सिखा दो। इसके बाद उन्होंने श्रीकृष्णको मर्त्य कह दिया।

वाचालं बालिशं स्तब्धमज्ञं पण्डितमानिनम्।
कृष्णं मर्त्यमुपाश्रित्य गोपा मे चक्रुरप्रियम्॥ ५

मनुष्य अभिमानके कारण ईश्वर-परमेश्वर सबको भूल जाता है। जिन श्रीकृष्णसे अवतार-ग्रहणकी प्रार्थना करनेके लिए अन्य देवताओंके साथ इन्द्र भी क्षीर-सागरके तटपर गये थे और गर्भ-स्तुति करने मथुरा भी आये थे, उन्हींको अब वे गाली दे रहे हैं। उनकी पिछली लीलाओंके अवसरोंपर तो इन्द्र फूल बरसाने आये हैं, किन्तु आज अपशब्दोंका प्रयोग कर रहे हैं।

श्रीधर स्वामीने इस श्लोकका अर्थ दूसरे ढंगसे करते हुए इसके प्रत्येक शब्दका अर्थ बदल दिया है। उन्होंने कहा है कि इन्द्रकी बुद्धि बिल्कुल बिगड़ गयी। इतनी बिगड़ गयी कि उसने कहा—'धुनुत श्रीमदस्तम्भं पशून् नयत संक्षयम्' (६)—नन्दादिकी हेकड़ीको धूलमें मिला दो और उनके पशुओंका संहार कर दो।

अब आप यहाँ देखो—यह इन्द्रकी, देवताकी आज्ञा है या असुरकी आज्ञा है? क्या कभी कोई देवता कह सकता है कि जितने भी गाय-बैल, भैंस, भेंड़, बकरी आदि हैं, उनका नाश कर दो। ये व्रजमें रहने न पावें। मैं स्वयं भी आता हूँ, इस कामके लिए?

इस प्रकार अभिमानवश इन्द्रके हृदयमें देवत्वके स्थानपर असुरत्वका उदय हो गया। अब उनकी आज्ञासे व्रजमें बड़ी भारी वर्षा होने लगी, मूसलकी तहर मोटी-मोटी धाराएँ गिरने लगीं। सबलोग व्याकुल हो गये और अपने-अपने बच्चोंको लेकर श्रीकृष्णको शरणमें गये। सबने आर्तभावसे पुकारा कि श्रीकृष्ण, हमको बचाओ!

श्रीकृष्णने कहा कि घबराओ नहीं, यह इन्द्रका काम है, वे क्रोधमें ऐसा कर रहे हैं। लेकिन हम तुम लोगोंको बचाते हैं और उनका अभिमान दूर करते हैं। साधुमें, सद्भावयुक्त पुरुषमें अभिमान नहीं होना चाहिए, किन्तु इन्द्रमें यह अभिमान आगया है। हम इसको तोड़कर छोड़ेंगे।

यह कहकर भगवान् श्रीकृष्णने अपने एक हाथसे गिरिराजको उखाड़कर उठा लिया—ठीक वैसे ही, जैसे बालक छत्रक पुष्पको उखाड़ लेते हैं—'छत्राकमिव बालकः' (१९)। भगवान् बोले कि सब लोग इसके नीचे बैठ जाओ!

अब सब व्रजवासी अपनी-अपनी भूख-प्यास भुलाकर श्रीकृष्णके आश्वासनपर दृढ़ विश्वास करके गिरिराजके नीचे बैठ गये। भगवान्ने सात दिनतक पर्वतको धारण किये रखा, एक कदम भी वहाँसे नहीं हटे।

गोवर्द्धनके विशाल गड्ढेमें छिपे हुए ग्वाल-बालोंमें बड़ी प्रसन्नता थी, बड़ा भारी उत्साह था। वृषभानु बाबा भी वहीं थे, कीर्तिदा भी वहीं थीं, राधारानी भी वहीं थीं, उनकी ललितादि सखियाँ भी वहीं थीं। बरसाने, नन्दगाँव आदि समस्त चौरासी कोसके गाँवोंके लोग उस छोटेसे पहाड़के नीचे छिपे थे। स्थानका इतना विशाल विस्तार भगवत्कृपासे हो गया और सबको छिपनेकी जगह मिल गयी, किसीको कोई कष्ट नहीं हुआ।

भगवान् श्रीकृष्ण अपने बाँयें हाथकी एक उँगलीपर, त्रिभङ्गललित भावसे, जरा कमर टेढ़ी करके, एक ही पाँवपर, अपने मुँहमें बाँसुरी लगाये गोवर्द्धन धारण किये थे।

जरा झाँकी लो उस दृश्यकी! भगवान् एक हाथसे तो बाँसुरी पकड़े हैं, दूसरे हाथकी उँगलीपर पहाड़ धारण किये हैं, उनका एक पाँव धरतीपर है, दूसरा पाँव कुछ उठा हुआ है, ऊँची चट्टानपर खड़े हैं और सारी सृष्टि उनको देख रही है। कैसा अद्भुत सौन्दर्यमय रूप प्रकट किया है भगवान्ने!

एक बार श्रीराधारानी सामने आगयीं। श्रीकृष्णका ध्यान उनकी ओर चला गया तो पहाड़ थोड़ा-सा हिल गया। बलरामजीने आँख उठाकर देखा और फिर सिर नीचा कर लिया। पहाड़ ज्यों-का-त्यों हो गया।

ग्वाल-बालोंने आपसमें कहा कि कन्हैया तो हमसे कुश्ती लड़नेमें हार जाता है और हमको कन्धेपर लेकर दौड़ता है। यह यदि इतनी देरतक पहाड़ उठा रखेगा तो इसका हाथ दुःख जायेगा। अब पाँच-सात-दस ग्वाल-बाल इकट्ठे होकर पास आये और बोले कि कृष्ण, तुमको 'उन्निद्रस्य ययु-

स्तवात्र विरतिं सप्तक्षपास्तिष्ठतो'—सात दिन खड़े-खड़े हो गये, तुमने नींद नहीं ली। 'हन्त श्रान्त इवासि निक्षिप सखे ! श्रीदामपाणौ गिरिम्'—मित्र, तुम थक गये हो, थोड़ी देरके लिए यह पहाड़ श्रीदामाके हाथमें दे दो और थोड़ा विश्राम करो—

आधिर्विध्यति नस्त्वमर्पय करे किं वा क्षणं दक्षिणे,
दोष्णस्ते करवाम काममधुना सव्यस्य संवाहनम् ॥

यदि तुम विश्राम करना ठीक नहीं समझते तो पहाड़को बाँयें हाथकी जगह दाहिने हाथमें ले लो। हम तुम्हारे बाँयें हाथको थोड़ी देर दबा देते हैं।

इस पर श्रीकृष्ण हँसने लगे, बोले कि नहीं-नहीं तुम लोग अपनी लठिया ले आओ और पहाड़के नीचे लगा दो। इस प्रकार सब मिलकर उठाओ पहाड़को !

देखो, इसी घटनाके आधारपर बादमें जब कभी श्रीकृष्ण यह डींग हाँकें कि हमने पहाड़ उठाया तो ग्वाल-बाल कहें कि तुमने अकेले ही थोड़े उठाया था, लठिया तो हमने भी लगायी थी। केवल तुम्हारे उठाये वह नहीं उठा—ऐसा क्यों न कहें ! प्रेम ऐसी वस्तु है कि इसमें ऐश्वर्यपर दृष्टि नहीं जाती। कितना भी ऐश्वर्य आवे, किन्तु प्रेम उसको नहीं देखता।

यह सब देखकर इन्द्र अत्यन्त विस्मित हो गये। स्वयं अपने मेघोंको वर्षा करनेसे रोक दिया। पानी पड़ना बन्द हो गया। सूर्योदय हुआ। उसके बाद श्रीकृष्णके कहनेपर सभी गोपी-गोप अपने-अपने छकड़े, सामान और परिवारको लेकर बाहर निकले। भगवान्‌ने जरा-सा पीछे हटकर गोवर्द्धनको हाथपर-से नीचे उतारा। बड़े आदर, प्रेम तथा शान्तिके साथ धरतीपर यथा-स्थान जमा दिया। अपना हाथ निकाल लिया।

जब श्रीकृष्ण उठकर खड़े हुए तब सब लोगोंमें उनके प्रति बड़ा ही प्रेम उमड़ा और सब लोग दौड़कर उनके पास पहुँच गये। लेकिन यशोदा मैयाके पाँव स्तब्ध हो गये और वह अपनी ही जगह खड़ी रह गयीं। यह देखकर श्रीकृष्ण स्वयं उनके पास गये। किन्तु यशोदा मैयाके तो दोनों हाथ स्तब्ध थे, इसलिए श्रीकृष्ण स्वयं मैयासे चिपक गये। खूब आनन्द हुआ। देवताओंने पुष्प-वर्षा की। रोहिणी, नन्द, राम आदिने उनका आलिंगन किया। दुन्दुभि, शंख आदि बजने लगे।

उसके बाद भगवान् श्रीकृष्ण अपने प्रेमी ग्वाल-बालों और बलरामजी आदिके साथ व्रजमें आये तथा गोपियाँ उनकी लीलाका गान करने लगीं।



: २६ :

श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं परीक्षित जब भगवान् श्रीकृष्णके अलौकिक कर्मोंकी चर्चा गाँवमें फैली तो पञ्चायत जुटी। चौधरी लोग इकट्ठे हो गये। बोले कि नन्द बाबा, तुमने जरूर हम लोगोंसे कुछ-न-कुछ छिपाकर रखा है। भला ऐसा चमत्कारी बालक तुम्हारा बेटा हो सकता है ?

अब तो भोले-भाले नन्द बाबा डर गये कि हमारे ये भाई-बन्धु कहीं हमें जातिसे न निकाल दें। कहीं ऐसा न समझ लें कि यह तो हमारा बेटा ही नहीं है। इसलिए उन्होंने कहा कि भाइयो, सब लोग प्रेमसे बैठो और सुनो! तुमको यही शङ्का है न कि हमारा सात बरसका बालक कैसे पहाड़ उठा सका ? पूतनाको कैसे मार सका ? शकटासुरको कैसे उलट सका ? आकाशमें जाकर तृणावर्तकी गोदमें-से कैसे लौट आया ? पेड़ोंको कैसे गिरा दिया ? बकासुर और वत्सासुरको कैसे मार दिया ?

गोपोंने कहा कि हाँ, तुम्हारे बालकके सम्बन्धमें हम लोगोंको यह शंका अवश्य है कि यह कौन है ? यह तो 'दुस्त्यजश्चानुरागोऽस्मिन्' (१३)—हमारा प्रेम खींचता जा रहा है। 'ततो नो जायते शङ्का व्रजनाथ तवात्मजे' (१४)—इसलिए नन्दबाबा, तुम हमें बताओ कि यह कौन है ? सचमुच तुम्हारा बेटा है या नहीं है ? इसके सम्बन्धमें हमें जो शंका हो गयी है, उसका निवारण करो।

नन्दबाबाने कहा—देखो भाई, इस बारेमें हम क्या सफाई दें कि यह हमारा ही बेटा है। इसके जन्मके बाद जब गर्गाचार्यजी महाराज आये थे तब उन्होंने इसके बारेमें जो कुछ कहा, उसीको तुम लोग प्रमाण मानो। वे इसका नामकरण-संस्कार करते समय कह गये कि यह बड़ा प्रतापी होगा, बड़े-बड़े संकटोंसे तुम्हारी रक्षा करेगा और गुणोंमें नारायणके समान होगा।

इस प्रकार नन्दबाबाने जब गर्गाचार्यजीको बात विस्तारपूर्वक सुनायी। तब लोगोंको बड़ा ही आनन्द हुआ और सबकी शङ्का मिट गयी। सबने आनन्दपूर्वक नन्दबाबाके सौभाग्य और भगवान् श्रीकृष्णकी भूरि-भूरि प्रशंसा की।

ॐ

श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं परीक्षित, भगवान् श्रीकृष्ण द्वारा गोवर्द्धन-पर्वत धारण करने और भीषण वर्षासे व्रजको रक्षा कर लेनेके बाद उनके पास गोलोकसे कामधेनु और स्वर्ग-लोकसे इन्द्र—ये दोनों आये हैं। वे अलग-अलग आये, एक साथ नहीं आये। क्योंकि गोवंश इन्द्रपर नाराज हो गया था।

कामधेनुने सोचा कि भगवान् श्रीकृष्णने हमारे वंशकी रक्षाके लिए दावाग्निका पान कर लिया, पर्वत उठा लिया और ब्रह्माको मुँहकी खवायी। हमारे इतने प्रेमी हैं भगवान् श्रीकृष्ण! किन्तु इन्द्र तो हमारे वंशका नाश करनेपर ही तुल गये थे। इसलिए इन्द्रसे कामधेनु नाराज हो गयी और एकान्तमें भगवान् श्रीकृष्णको धन्यवाद देने आयी।

इन्द्र भी एकान्तमें इसलिए आये कि उनका त्रिलोकेश्वर होनेका अभिमान चूर हो गया था, इसलिए उन्होंने सोचा कि एकान्तमें चलकर भगवान्से क्षमा-प्रार्थना कर आयें। उन्होंने कहा—

'विशुद्धसत्त्वं तव धाम शान्तम्'। (४)—भगवन्, आपका स्वरूप विशुद्ध-सत्त्व शान्त है। 'मायामयोऽयं गुणसम्प्रवाहो न विद्यते तेऽग्रहणानुबन्धः' (४)—मायामय गुण-सम्प्रवाह आपके स्वरूपमें नहीं है। यह तो 'तेऽग्रहणानुबन्धः, ते तव, अग्रहणेन अज्ञानेन अनुबद्धयते इति'—जो परमात्माको नहीं जानता, उसके लिए प्रपञ्च है। किन्तु जो परमात्मा जानते हैं, उनके लिए यह प्रपञ्च नहीं है। लोभादि, अज्ञानके कारण ही अज्ञानीमें रहते हैं। फिर भी आप संसारकी व्यवस्थाके लिए दण्ड और अनुग्रह आदि करते हैं। इसलिए आप समय-समयपर शरीर ग्रहण करते हैं और हमारे सरीखे जो लोग कुमार्गगामी हो जाते हैं, उनका शासन करते हैं। मैंने ऐश्वर्य-मदमत्त होकर आपका बड़ा भारी तिरस्कार किया। आप दण्ड देनेके लिए ही अवतीर्ण हुए हैं। असलमें आप हमारे ही लिए अवतीर्ण हुए हैं। आपको हम बारम्बर नमस्कर करते हैं। हमने अपने लिए यज्ञका नाश होनेपर अभिमान और क्रोधके कारण आपका तिरस्कार किया, परन्तु फिर भी आपने हमारे ऊपर अनुग्रह किया है। अब हमारे अभिमानका स्तम्भ धराशायी हो गया और हमने जो व्रजमण्डलको ध्वस्त कर देनेका उद्योग किया, वह भी नष्ट हो गया। आप मेरे स्वामी हैं, गुरु हैं, आत्मा हैं। मैं आपकी शरणमें हूँ।

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—मघवन्, मैंने तुम्हारे लिए किये जा रहे जिस यज्ञको भङ्ग किया था, वह तो वैदिक है। वैदिक यज्ञ भङ्ग नहीं किया जाना जाहिए। परन्तु कभी-कभी ऐसा करना पड़ता है। दक्षने जो यज्ञ किया, उसको शंकरजीके गणोंने ही भङ्ग कर दिया था। मैंने भी तुम्हारे यज्ञका नाश तुमपर अनुग्रह करने, तुम्हारा मतवालापन दूर करने और तुमको मेरी याद आती रहे, इसके लिए किया था। जो ऐश्वर्य और लक्ष्मीके अभिमानसे अन्धा हो जाता है, वह मुझ दण्डपाणिको नहीं देखता, इसलिए मैं उसको धन-सम्पत्तिसे रहित कर देता हूँ।

इन्द्र, अब तुम जाओ, मेरी आज्ञाका पालन करो और अपने अधिकारकी सीमामें रहो। कभी घमण्ड मत करना। 'युक्तैर्वः स्तम्भवर्जितैः' (१७)—इसमें जो स्तम्भ शब्द है, उसका अर्थ है खम्भा। खम्भा कभी झुकता नहीं, यह अभिमानीका लक्षण है।

इस प्रकार जब इन्द्रका अनुशासन हो गया, तब भगवान्के सामने आयी कामधेनु। उसने देखा कि आज तो भगवान् गोप होकर आये हैं। इसलिए वह स्तुति करती हुई बोली—महाराज, अगर आज आपने हमारी रक्षा न की होती तो इन्द्रने हमारा सत्यानाश ही कर दिया था। अब तो आप ही हमारे स्वामी हैं। अब हम इन्द्रको अपना स्वामी माननेवाली नहीं हैं।

प्रभो, अब आजसे हमारे इन्द्र आप हैं—'त्वं नः जगत्पते' (२०)—आप ही गाय, ब्राह्मण और देवता इन सबके इन्द्र बनकर इनका पालन कीजिये। आज मैं आपका अभिषेक करूँगी।

यह कहकर कामधेनुने अपने दूधसे भगवान्का अभिषेक किया। फिर इन्द्रने भी तुरन्त आकाश-गङ्गाका जल मँगवाया और देवताओं तथा ऋषियोंके साथ भगवान् श्रीकृष्णका अभिषेक किया।

जिस समय श्रीकृष्णका अभिषेक हुआ, नदियोंमें नानाप्रकारके रस बहने लगे, वृक्षोंसे मधुक्षरण होने लगा और पृथिवीमें बिना जोते-बोये ओषधियाँ उगने लगीं। पहाड़ोंमें छिपे हुए मणि प्रकट हो गये और प्राणी निर्भय हो गये।

इस प्रकार गोविन्द-पदपर भगवान् श्रीकृष्णका अभिषेक करनेके बाद देवराज इन्द्र उनसे अनुमति लेकर अपने लोक चले गये।



भगवान् श्रीकृष्ण यदि इन्द्रको सीधा न कर लेते तथा यज्ञ, वेद और ब्राह्मणोंको भी ठीक-ठाक न कर लेते तो वे सब उनसे कहते कि तुमको हमारे अनुसार चलना चाहिए। फिर उनके द्वारा रासलीला और गोपियोंके मिल्नेमें भी बाधा उपस्थित की जाती। इसलिए जब गोपियोंसे प्रेम हुआ, तभीसे श्रीकृष्ण किसी-न-किसी तरह सबको अनुकूल करने लगे।

अब वरुण लोकको प्रभावित करनेका प्रसंग आया। 'एकादश्यां निराहारः' (१)—नन्द-बाबाने एकदशीका व्रत किया, उस दिन निराहार रहे।

एकादशीका व्रत इसलिए होता है कि ग्यारहों इन्द्रियोंको संसारके भोगोंसे विमुख करके भगवान्में लगाया जाय। इसलिए उस दिन निराहार रहनेका विधान है। निराहार माने इन्द्रियोंके आहार=विषयोंका सेवन न करना। सर्व इन्द्रियोंसे एकादशी होती है। इसी प्रकार नन्दबाबाने एकादशी-व्रत निराहार किया। व्रत तो नास्तिक लोग भी करते हैं। कोई शरीरके लिए करते हैं तो कोई सिद्धिके लिए करते हैं। किन्तु व्रतका वास्तविक उद्देश्य तो भगवान्की आराधना करना होता है—'समभ्यर्च्य जनार्दनम्' (१)। नन्दबाबाने यही किया।

आधी रातके बाद नन्दबावा स्नानके लिए यमुनाजीके जलमें प्रविष्ट हुए। उनके प्रविष्ट होते ही असुरोंके अधिपति वरुणके दूतने उनको पकड़ लिया और बोला कि तुम आसुरी वेलामें स्नान करते हो? ऐसा कहकर उसने नन्द बाबापर दोष लगाया।

असलमें शास्त्रकी दृष्टिसे वह आसुरी वेला नहीं थी, क्योंकि जब द्वादशी थोड़ी होती है और पूजन करके उसीमें पारण करना होता है, तब आधी रातके बाद जलमें प्रवेश करने, स्नान करने और भगवान्की पूजा करनेमें शास्त्रीय दृष्टिसे कोई बाधा नहीं है। काशीमें श्रीनित्यानन्दजी पंत धर्म-शास्त्र और कर्मकाण्डके बहुत बड़े विद्वान् हो गये हैं। निर्णयसिन्धु पर संस्कृत-भाषामें उनकी बहुत बड़ी व्याख्या है। उनके समयमें इस विषयपर बहुत विचार-विमर्शके उपरान्त यही निर्णय हुआ था कि दोष नन्दजीका नहीं था। उनको पकड़नेवाले वरुण-दूतका दोष था।

अब वरुण-दूत नन्द बाबाको वरुणके पास ले गया। व्रजवासी रोने लगे। भगवान् उनका दुःख देखकर तुरन्त जलमें कूद गये और वरुण-लोकमें पहुँच गये। वरुणने उनके दर्शन करके कहा कि आज हमारा जन्म धन्य हो गया। महाराज, जिनको आपके चरणोंकी प्राप्ति हो जाय, उनके लिए रास्ता चलना शेष नहीं रह जाता। उन लोगोंने तो 'अवापुः पारमध्वनः' (५)—अपने मार्गका पार पा लिया। उनके कोई पन्थ या सम्प्रदाय नहीं रह जाता। आप तो एकमात्र गन्तव्य हैं और सब-के-सब साधन आपतक पहुँचनेके मार्ग हैं। अपने घरमें पहुँचनेवालेके लिए भी मार्ग नहीं और

अपने प्रियतमके घरमें पहुँचनेवालेके लिए भी मार्ग नहीं। जो दोनोंमें नहीं है, उसीके लिए यह मार्ग होता है। किन्तु जो सब मार्गोंसे परे है, उसके लिए तो कुछ मृग्य ही नहीं है और जिसके लिए कुछ मृग्य ही नहीं है, उसके लिए मार्ग कहाँसे होगा ? आपके स्वरूपमें माया नहीं है।

अजानता मामकेन मूढेनाकार्यवेदिना। ७

हमारा सेवक बड़ा अज्ञानी है। उसको यह ज्ञान नहीं था कि नन्द बाबाका जल-प्रवेश शास्त्रानुकूल था और उनको पकड़ना असंवैधानिक था। उसने आपके पिताजीको यहाँ लानेका जो अपराध किया है, इसके लिए आप क्षमा करें—'तद् भवान् क्षन्तुमर्हति' (८)—आप अपने पिताजीको ले जाइये !

इसके बाद भगवान् श्रीकृष्ण अपने पिताजीको वहाँसे ले आये। अब नन्दबाबा भी ठीक हो गये। उन्होंने विचार किया कि हमारा बेटा इतना प्रबल है कि उसकी पूजा हमारे सामने वरुण करते हैं और वह गोवर्द्धनको उठा लेता है। इसलिए हमको उसके किसी काममें दखल नहीं देना चाहिए। नन्द बाबा अतीन्द्रिय लोकपाल महोदयकों देखकर और यह देखकर कि वे सब हमारे कृष्णके चरणोंमें गिरते हैं, विस्मित—चकित थे। इसलिए उन्होंने गाँवके लोगोंको सब-कुछ बताया। अब तो सभी गोप कहने लगे कि श्रीकृष्णने नन्द बाबाको जो दृश्य दिखाया है, वह हमको भी कभी दिखायेंगे क्या ?

अपि नः स्वगतिं सूक्ष्मामुपाधास्यदधीश्वरः। ११

जब भगवान्‌ने देखा कि सबके मनमें चमत्कार देखनेकी अभिलाषा हो गयी है तब वे कृपासे भरकर विचार करने लगे—'कृपयैतदचिन्तयत्' (१२)।

असलमें मनुष्यके जीवनमें जो-कुछ सिद्धि आती है, वह भगवत्कृपासे आती है। इसलिए कृपाके सम्बन्धमें चिन्तन करना चाहिए। कृपा भी एक तत्त्व है और कृपा-तत्त्वका साक्षात्कार होता है—वैसे ही, जैसे भगवान्‌का साक्षात्कार होता है–'तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्षमाणः'। (१०.१४.३)

भगवान्‌की कृपा क्या है ? यही है कि हम भगवान्‌की कृपासे ही सन्तोंके बीचमें बैठे हैं। यह भगवान्‌की कृपा ही है कि हमको भागवत सुननेको मिल रहा है। भगवान्‌की कृपाके बिना ऐसा नहीं हो सकता। एक तो काशी जैसा तीर्थ-श्रेष्ठ, दूसरे गङ्गाजीका तट और तीसरे माँका आश्रम, माँका सान्निध्य, सन्तोंका सान्निध्य, महात्माओंका सान्निध्य और विद्वान् ब्राह्मणोंका सान्निध्य। स्वयं भागवतमें ही यह बात लिखी है कि—'यथा काशी ह्यनुत्तमा' काशी सब तीर्थोंमें उत्तम है, काशीसे उत्तम और कोई तीर्थ नहीं है। इस भगवत्कृपाका अनुभव करो, समझो कि तुम मर्त्यलोकमें नहीं हो, प्रपञ्चमें नहीं हो, भगवान्‌के कृपा-लोकमें निवास कर रहे हो। श्रीमद्भागवत, इसका एक-एक शब्द, बिना भगवत्कृपाके नहीं मिल सकता !

भगवान्‌ने सोचा कि संसारके जीव अविद्या, कामना और कर्मफल-स्वरूप नीची-ऊँची गतियोंमें जाते रहते हैं। अपनी वास्तविक गतिको, अपने स्वरूपको नहीं जानते। यह सोचकर भगवान्‌को बड़ी करुणा आयी। इसलिए उन्होंने गोपोंको 'दर्शयामास लोकं स्वम्' (१४)—लोकं दर्शयामास स्वं च दर्शयामास' अर्थात् लोक भी दिखाया और अपने आपको भी दिखाया—

सत्यं ज्ञानमनन्तं यद् ब्रह्म ज्योतिः सनातनम्।
यद्धि पश्यन्ति मुनयो गुणापाये समाहिताः॥ १५

भक्ति-सिद्धान्तमें भगवान्‌का लोक सत्य, ज्ञान, अनन्त, ब्रह्म-स्वरूप है और वेदान्तमें भगवान्‌का स्वरूप ऐसा है। महात्मा लोग 'गुणापाये' अर्थात् गुणातीत होनेपर उसका दर्शन करते हैं।

भगवान् गोपोंको ब्रह्महृदमें ले गये। ब्रह्महृद (१६) क्या है? 'ब्रह्मैव ह्रदः' ब्रह्म ही ह्रद है। उसमें भगवान्‌ने सबको डुबा दिया। यदि अभक्त होते अथवा केवल शुद्धान्तःकरण होते तो वहीं डुबाकर छोड़ देते। लेकिन ये तो भक्त लोग हैं और भगवान्‌को अभी इनके साथ लीला-विलास करना है, इसलिए उन्होंने उनको वहाँसे निकाल लिया और ब्रह्मलोकका दर्शन कराया।

अब नन्दादि गोपोंने देखा कि वहाँ भगवान् श्रीकृष्ण सिंहासनपर बैठे हुए हैं और चारों वेद मूर्तिमान् होकर उनकी स्तुति कर रहे हैं। ग्वाल-बालोंने कहा कि अरे, सिंहासनपर तो हमारा लाला ही, हमारा कन्हैया भैया ही बैठा है। यह देखो, उसकी स्तुति कौन-कौन कर रहे हैं? ये तो साक्षात् वेद हैं। परिक्रमा कौन कर रहा है? यह तो अम्बिका हैं। उसको देखकर काँपता कौन है? ये तो शंकरजी हैं। ग्वाल-बालोंने कहा कि अरे, यह सब क्या है? क्या यहाँ हमारा कन्हैया भैया कभी गाय चरानेके लिए निकलता है या सिंहासनपर ही बैठा रहता है? यहाँ तो सिंहासनपर ही रहेगा, गाय चराने नहीं निकलेगा।

फिर बोले कि अच्छा, यहाँ गिरिराज गोवर्द्धनजी हैं? नहीं हैं। यमुनाजी बहती हैं? नहीं बहतीं। कभी यहाँ बाँसुरी बजाता है? नहीं, नहीं बजाता। यहाँ कभी हम लोगोंके साथ नाचेगा? नहीं नाचेगा। तब यहाँ क्या है? अरे यहाँ जो-कुछ है, सब यहीं रहे।

फिर बोले कि अरे ओ भैया कन्हैया, चल, चल! यहाँसे तो हमारा वृन्दावन अच्छा है। यहाँके लोगोंने तुमको कैद कर रखा है।

जब यह कहकर गोप जोरसे चिल्लाये तो देखते क्या हैं कि न वैकुण्ठ है, न वह लोक है, यह तो वृन्दावन है!



अब भगवान्ने रास-लीलाकी सारी व्यवस्था बिल्कुल पक्की कर ली। उसकी पृष्ठभूमि तैयार हो गयी। नन्दबाबा, सारे व्रजवासी और यज्ञ, ब्राह्मण, देवता सब-के-सब अनुकूल हो गये। यहाँतक कि श्रीकृष्णने ब्राह्मणियोंको उकसाकर, उनको उनके घरोंसे निकालकर अपने पास बुला लिया और फिर वापिस कर दिया। व्रजवासी आपसमें कहने लगे कि जब इतनी बड़ी पण्डितानियाँ, ब्राह्मणियाँ हमारे कृष्णपर मोहित हो जाती हैं, तो जो हमारी जाति-पाँतिकी हैं, ग्वालिनी हैं, उनके सम्बन्धमें कुछ कहनेकी तो कोई बात ही नहीं रही।

भगवानपि ता रात्रीः शरदोत्फुल्लमल्लिकाः।
वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः॥ १

इसमें जो 'भगवानपि' पद है, उसका तात्पर्य है कि 'भगवान्—अपि' अर्थात् 'गोपियाँ तो चाहती ही थीं कि हम श्यामसुन्दरके साथ विहार करें, अब भगवान्के मनमें भी गोपियोंके साथ विहार करनेकी बात आगयी।

इधर कामने जब सब देवताओंको वशमें कर लिया तब उसको अभिमान हो गया और उसने भगवान्को भी पराजित करनेका विचार किया। किन्तु भगवान् तो कन्दर्पदर्प-दलन हैं।

श्रीधर स्वामीने इसका प्रयोग इस प्रकार किया है—

ब्रह्मादिजयसंरूढदर्प - कन्दर्प - दर्पहा।
जयति श्रीपतिर्गोपीरासमण्डलमण्डनः॥

कामदेव भगवान्के पास पहुँचा। भगवान्ने पूछा कि क्यों बेटा, तू बड़ा ढीठ हो गया है!

देखो कामदेव बेटा है भगवान्का। भगवान् बोले कि अच्छा बेटा, लड़ना चाहता है तो लड़ ले! हम पुराने हैं तो क्या हुआ? आकर जोर आजमा ले। बोल किलेकी लड़ाई लड़ेगा या मैदानकी? कामने कहा कि मैं किलेकी नहीं, मैदानकी लड़ाई लड़ूँगा।

देखो, इस विहार-लीलासे भगवान्की भगवत्तामें कोई अन्तर नहीं पड़ता—ठीक वैसे ही, जैसे जन्म लेनेसे भी भगवान्की अजतामें कोई अन्तर नहीं पड़ता—'अजोपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोपि सन्'। (गीता ४.६)

गाँवके एक गँवार पण्डित थे, काशीके पण्डित नहीं थे। वे 'भगवानपि ता' नहीं बोलते थे। बोलते थे 'भगवानपिता'। उनका मतलब था कि भगवान् तो अपिता हैं, उनके कोई बाप हो नहीं है। यदि बाप होता तो डाँट-डपटकर कहता कि यह काम करनेका है, यह नहीं करनेका है।

अचिन्त्य शक्ति-सम्पन्न परम सौन्दर्य-माधुर्य और लावण्यसे युक्त भगवान्ने गोपियोंको वरदान देते समय यह कह दिया कि आगे आनेवाली रातोंमें तुम हमारे साथ विहार करना। उन्होंने रातोंका नाम नहीं बताया। उस दिनसे लेकर अबतककी जितनी भी रात्रियाँ हैं, सब चाँदनीकी तरह, चन्द्रमाकी तरह चमकती हुई, आकाशके समान नीली-नीली साड़ी पहनकर और तारोंका हार धारण करके आती हैं। जैसे गोपियाँ श्यामसुन्दरसे मिलनेके लिए व्याकुल हैं, उसी तरह रात्रियाँ भी भगवान्के साथ विहारके लिए व्याकुल हैं।

'ता रात्रीः'—रात्रीका अर्थ आनन्ददायी भी होता है और रक्षक भी होता है। 'शरदोत्फुल्लमल्लिकाः'—शरद् ऋतु होनेके कारण मल्लिकाके पुष्प खिले हुए हैं। उनको देखकर भगवान्ने भी यह सङ्कल्प किया कि मैं विहार करूँ। 'वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे'—इसका अर्थ है कि जैसे भगवान् सृष्टिका वीक्षण करते हैं, वैसे ही उन्होंने वृन्दावनका वीक्षण करके, उसमें अपने सच्चिदानन्दघन-स्वरूपका, रसका आधान करके मनका सन्निवेश किया—'रन्तुं मनश्चक्रे'।

कहते हैं कि भगवान् तो अमना हैं—'अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः (मुण्डक २.१.२) फिर उन्होंने मनका निर्माण कैसे किया ? बोले कि 'योगमायामुपाश्रितः'। योगमायाकी सहायताके बिना यह काम नहीं हो सकता है।

योग-माया क्या है ? भगवान्की अचिन्त्य शक्तिका नाम योगमाया है। भगवान्से बिछुड़े हुए संसारी जीवोंको भगवान्के साथ योग करने, मिलानेके लिए भगवान्के हृदयमें जो कृपा है, वह योगमाया है—'माया बन्धे कृपायां च; योगाय या माया'।

रास-पञ्चाध्यायीपर श्रीरामनारायणकी भाव-भाव-विभाविका नामक एक टीका है, जिसमें 'योगमायामुपाश्रितः'के एक-एक शब्द और उनकी व्युत्पत्तिको लेकर तिरसठ-चौंसठ प्रकारके अर्थोंका निरूपण किया गया है। जैसे—'योगमायामुपाश्रितः' माने 'योगमायाशब्दो यस्यां तां योगमायां वंशीम् उपाश्रितः'—भगवान्ने वंशीका आश्रय लिया। 'योगमायामुपाश्रितः माने 'योग मायां श्रीराधां उप-आश्रितः सर्वाश्रयोऽपि भगवान्' अर्थात् वैसे तो भगवान् सबके आश्रय हैं, परन्तु जब उनको रास करना हुआ तब वे रासेश्वरी श्रीराधारानी-रूप योगमायाके पास गये।

ब्रह्म रस-स्वरूप तो है—'रसो वै सः' (तैत्तरीय उप. २.६.१) परन्तु वह बिना योगमायाके रास नहीं कर सकता। क्योंकि रसको अनेक बनाकर ही रास हो सकता है। 'रसानां समूहो रासः'—रसके समूहको रास कहते हैं। एक रस अनेक तभी होगा, जब अनेक गोपियोंके साथ रास होगा।

रास-नृत्य 'हल्लीषक नृत्य'के नामसे प्रसिद्ध है, जिसमें एक नट और अनेक नटनियाँ होती हैं और बड़ी फुर्तीसे नृत्य करते हैं। आप रास शब्दके साथ-साथ लास्य शब्द भी जानते हैं। लास्य माने भी नृत्य होता है। र और ल में भेद नहीं होता—'रलयोरभेदः'। रास रसन है, लास्य लसन है। जिसमें शोभायुक्त रसास्वादन होता है, वह लास्य है।

किसीने कहा कि जब हमारा रास शब्द अन्तरमें रहा तो रास रहा और बाहर निकला तो लास, लास्य हो गया। फिर जब विदेशमें गया तो 'डलयोरभेदः' होकर डांस हो गया। विदेश-यात्राके प्रसङ्गपर पण्डित लोग विचार करें कि मनुष्यको विदेश जाना चाहिए या नहीं जाना चाहिए, लेकिन शब्द बेधड़क विदेश जाते रहे हैं। उनपर किसीने कोई पाबन्दी नहीं लगायी। हमारे शब्द जब विदेश घूमने जाते हैं तो उनका स्वरूप कुछ बदल जाता है और लोग अर्थका अनर्थ करने लगते हैं। असलमें रास काम-निवृत्तिकी लीला है। जो लोग इसको नहीं जानते, वे ही उसपर कटाक्ष करते हैं।

एक बार एक विद्वान् सज्जन उस विद्यालयमें गये, जहाँ बालक पढ़ रहे थे। उन बालकोंमें रामतीर्थ भी थे। विद्वान् सज्जनने श्यामपट्टपर खड़ियासे एक छोटी-सी लकीर खींच दी और बोले कि इसको छूओ मत, लेकिन छोटी कर दो! सब बालक चुप हो गये और सोचने लगे कि इस लकीरको बिना छूये छोटी कैसे करेंगे! स्वामी रामतीर्थ उठे, उन्होंने खड़िया उठायी और उस लकीरके ऊपर एक बड़ी लकीर खींच दी। पहलेवाली लकीरको उन्होंने छूआ नहीं। लेकिन वह लकीर स्वामी रामतीर्थ द्वारा खींची गयी लकीरके सामने अपने-आप छोटी हो गयी।

कहनेका मतलब यह है कि जो लोग काम-सौन्दर्यको बड़ा भारी उपद्रव समझकर संसारमें भटक रहे हैं, उनके सामने भगवान् श्रीकृष्णने रसकी, आनन्दकी, सौन्दर्यकी लीला उपस्थित कर दी और कहा कि इसमें डूब जाओ—ऐसे डूब जाओ कि तुम्हें बाह्य कामका पता ही न लगे। लीलाका अर्थ ही है 'लयनं लाति'—जो तन्मयताका दान करती है अथवा 'लीनं लाति'—जो भीतर छिपे रसको ऊपर उछाल देती है, उसीका नाम लीला है।

अब भगवान्के मनमें वृन्दावनके सौन्दर्यको देखकर संकल्प उदय हुआ—'वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे'। जादू वह जो सिर चढ़ बोले। वैसे तो भगवान्का मन हमेशा शान्त रहता है, लेकिन जब वे वृन्दावनमें ताजा-ताजा मक्खन देखते हैं, तब उसे खानेके लिए उनकी जीभ तरस जाती है; जब कोई गोपी दीखती है तब उसपर उनकी आँख ठहर जाती है और जब मैया मिलती है तब उनका दूध पोनेके लिए बेचैन हो जाते हैं। असलमें भगवान् ऐसी लीला न करें तो उनका अवतार लेना ही व्यर्थ हो जाय।

कैशोरं सफलीकरोति कलयन् कुञ्जे विहारं हरिः।

भगवान्ने सबमें किशोरावस्थाका सत्कार किया। यदि वे व्रजमें रासलीला न करते तो उनकी किशोरावस्था असम्मानित रह जाती। उसमें जो सौन्दर्य, माधुर्य और लावण्य प्रकट हुआ, वह कहाँ प्रकट होता? श्रीकृष्ण चिदंश हैं, वृन्दावन सदंश है और गोपियाँ रसांश हैं, आनन्दांश हैं। समाधिमें केवल सदंशका अनुभव होता है और ज्ञानमें केवल चिदंश होता है। किन्तु व्रजभूमि तो रस्य, रस और रसिककी त्रिपुटी है। वह त्रिरूप-भङ्गपूर्वक क्रीड़ा करती है।

अब चन्द्रमाने पूर्व-दिशाके मुँहमें रोली लगा दी अर्थात् चन्द्रोदय हुआ और उसने अपने वंशज श्रीकृष्णको अनुमति दे दी कि खेल ले बेटा, रास ! चन्द्रमा श्रीकृष्णकी दृष्टिसे तो उनके पूर्वज हैं, परन्तु नारायणके खास साले लगते हैं। आपको यह बात मालूम ही है कि जिस समुद्रमें-से लक्ष्मीजी प्रकट हुई हैं, उसीमें-से चन्द्रमा भी प्रकट हुए हैं। चन्द्रमा और लक्ष्मीके मुँह एक सरीखे हैं—'रमाननाभं नवकुङ्कुमारुणम्। (३) इसीलिए चन्द्रमाको देखकर उद्दीपन होता है।

अब जब श्यामसुन्दर भगवान्ने देखा कि 'वनं च तत्कोमलगोभिरञ्जितम्' (३)—चन्द्रमाने अपनी किरणोंसे सारे वनको रँग दिया है, तब उन्होंने 'जगौ कलं वामदृशाम्' (३)—बिना किसी गोपीका नाम लिये बाँसुरीकी तान छेड़ी। परन्तु प्रत्येक गोपीको ऐसा मालूम पड़ा कि श्रीकृष्ण उसीका नाम लेकर बुला रहे हैं। भगवान्ने 'कलं तु मधुरास्फुटे'—सुननेमें बहुत मधुर, लेकिन अस्फुट ध्वनि की।

कहते हैं कि 'जगौ कलं' यह कामबीज है—क्लीं है। श्रीकृष्णने ऐसा काम-बीज बजाया कि गोपियाँ न केवल घर-द्वार, बल्कि सब-कुछ छोड़कर दौड़ पड़ीं। उन्होंने अर्थ छोड़ दिया, धर्म छोड़ दिया, काम छोड़ दिया और मोक्ष छोड़ दिया। दोहन भी छोड़ दिया। दूध आगपर चढ़ाया, लेकिन वह जल जायेगा, इसका ख्याल नहीं किया। कड़ाहीका हल्वा फक्कसे जल गया, लेकिन गोपीने उधर घूमकर देखा भी नहीं। पतिके एक और रोटी माँगनेपर उसे लेनेके लिए चौकेके भीतर गयी गोपी लौटकर नहीं आयी। जो बच्चोंको दूध पिला रही थीं—'पाययन्त्यः शिशून् पयः' (६)—उन्होंने दूध पिलाना छोड़ दिया। जो गोपी पतिके पाँव दबा रही थी, भोजन कर रही थी अथवा लेप कर रही थी, वह पाँव दबाना, भोजन करना, लेप करना छोड़कर श्रीकृष्णकी ओर भागी।

यह मत समझना कि लेप आजकलकी स्त्रियाँ ही करती हैं। लेप माने शरीरपर अङ्गराग लगाना। यह सब प्राचीन कालकी स्त्रियाँ भी करती थीं। इसलिए इसमें डरने-वरनेकी कोई बात नहीं है।

'लिम्पन्त्यः प्रमृजन्त्यः' (७)—कोई गोपी शरीरमें-से पसीनेकी मैल छुड़ा रही थी, कोई आँखोंमें आँजन लगा रही थी और कोई वस्त्रादि पहन रही थी। सबने अपने-अपने काम जहाँ-के-तहाँ छोड़ दिये और वे श्रीकृष्णके पास पहुँच गयीं। रोकनेवालोंने उनको रोका, लेकिन जो विघ्नकी परवाह करता है, उसको प्रेम कहाँ? आत्मा तो खींच ली श्रीकृष्णने, अब शरीर कहाँ रहे? कोई-कोई रुकीं तो तभी रुकीं, जब उनको घरसे बाहर निकलनेके लिए मार्ग नहीं मिला। 'अलब्धविनिर्गमाः' (९)में जो 'वि' है, उसका अर्थ है पक्षी। जिनको पक्षीके निर्गम अर्थात् निकलने-योग्य भी जगह नहीं मिली, वे ही घरमें बन्द होकर श्रीकृष्णका ध्यान करने लगीं। लेकिन उनको 'दुःसहप्रेष्ठविरहतीव्रतापधुताशुभाः' (१०)—अपने प्रियतम श्रीकृष्णके विरह-जन्य तीव्र तापसे ऐसा

दुःख हुआ कि उनके समस्त दुःखदायी निमित्त समाप्त हो गये। उनको ध्यानमें श्रीकृष्णकी प्राप्ति हुई और उससे ऐसा सुख मिला कि उनके सारे-के-सारे पुण्यसंस्कार क्षीण हो गये।

कहते हैं कि तीनों लोकोंमें जितने भी भूत-भविष्य और वर्तमानके पाप-ताप हैं, वे सब इकट्ठे रहते हैं। घरमें घिरी गोपीको जब श्रीकृष्ण-विरहका दुःख होने लगा, तब वे सब-के-सब पाप-ताप थर-थर काँपने लगे और बोले कि अरे, यदि हम सब एक साथ मिलकर भी किसीको तकलीफ दें तो इतनी तकलीफ नहीं दे सकते, जितनी तकलीफ इस समय इस गोपीको श्रीकृष्णके विरहमें हो रही है।

ऐसा अर्थ महात्माओंने इसीलिए किया है कि भगवान्‌के विरहमें दुःखी होना पापका फल नहीं है। यह तो कोटि-कोटि जन्मोंके पुण्योंसे भी नहीं मिलता। अत सम्पूर्ण ताप-राशि गोपियोंके भगवद्विरह-जन्य दुःखको देखकर कम्पित हो गयी।

'अक्षीणमङ्गलाः' (१०)—जब श्रीकृष्ण ध्यान-परायणा गोपियोंको ध्यानमें जा मिले तो उनका सौमङ्गल्य, सौभाग्य जाग्रत् हो गया और उन्होंने बड़े प्रेमसे मन-ही-मन उनका आलिङ्गन किया। गोपियाँ भले ही जार-बुद्धिसे श्रीकृष्णके पास गयीं, परन्तु सत्य वस्तु भावकी अपेक्षा नहीं रखती। वेदान्ती लोग यह शंका करते हैं कि बुद्धिके बिना फल कैसे प्राप्त होगा? उनके यहाँ संवादि-भ्रम माना हुआ है। यदि कोई मणिकी प्रभामें मणि-बुद्धि करे तो संवादि-भ्रम है और दीपक प्रभामें मणिबुद्धि करे तो विसंवादि-भ्रम है। परन्तु यदि मणि-प्रभामें, जहाँ संवादि-भ्रम है, कोई जायेगा तो उसको मणिकी प्राप्ति हो जायेगी। इसी तरह जारबुद्धि लेकर भगवान्‌के पास जानेवाली गोपियोंको भगवान्‌की प्राप्ति हो गयी। वे क्षीण-बन्धन हो गयीं।

यहाँ राजा परीक्षितने पूछा कि महाराज, गोपियोंने श्रीकृष्णको तो अभी जाना ही नहीं, फिर उनको गुणातिक्रमण कैसे हो गया? इसपर श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि परीक्षित, मैं तुमको पहले सुना चुका हूँ कि शिशुपाल भगवान्‌को पहचानता नहीं था। उसने भगवान्‌से द्वेष किया, परन्तु फिर भी उसको भगवान्‌की प्राप्ति हो गयी।

असलमें जहाँ परमात्मा निर्गुण है, निराकार है, निर्विकार है, निर्विशेष है, निर्धर्मक है और अपनी ओरसे कुछ नहीं करता, वहाँ जबतक हमारी बुद्धि ब्रह्माकार नहीं होगी, तबतक अज्ञानकी निवृत्ति नहीं होगी। लेकिन प्रभु जहाँ सगुण है, साकार है, परम उदार है, परम-मङ्गलमय है, सौशील्य-औदार्य आदि सद्गुणोंसे युक्त है, वहाँ तो कोई भूलसे भी उसका नाम ले ले तो वह उसका कल्याण कर देता है। इस प्रकार सगुण और निर्गुण दो विभाग करके ऐसे प्रसङ्गोंकी सङ्गति लगानी चाहिए।

भगवान् तो आये ही मनुष्योंका कल्याण करनेके लिए हैं। जो अव्यय, अप्रमेय, निर्गुण, गुणात्मा प्रभु है, वह लोगोंके कल्याणके लिए ही अवतरित हुआ है। इसलिए उसके साथ काम,

क्रोध, लोभ, भय, स्नेह, एकता किसी भी भावसे सम्बन्ध जोड़ लेनेपर मनुष्यका कल्याण हो जाता है। ईश्वरके बारेमें कभी सन्देह नहीं करना चाहिए। जब एक बार भी ईश्वरका अस्तित्व स्वीकार कर लिया, तब समझ लो कि वह 'कर्तुम् अकर्तुम् अन्यथाकर्तुम्' समर्थ है। 'योगेश्वरेश्वरे कृष्णे यत् एतद् विमुच्यते' (१६)—भगवान्‌की कृपासे सारी सृष्टिका कल्याण हो सकता है।

श्रीमधुसूदनजी सरस्वतीने 'आश्चर्यवत् पश्यति कश्चिदेनम्' (गीता २.२९)—इस श्लोककी व्याख्या करते हुए कहते हैं कि भगवान्‌का ऐसा प्रभाव है कि वह श्रवण, मनन, निदिध्यासन तथा तत्त्वमस्यादि महावाक्यजन्य वृत्तिके बिना भी चाहे जिसका हित कर देता है। इसमें विस्मयकी कोई बात नहीं है। यह भगवान्‌की भगवत्ताकी विशेषता है। इन बातोंको हम लोग पहले छिपाकर रखते हैं कि समय-समयपर प्रकट करेंगे। क्योंकि ये बातें स्वयं पढ़नेवाले अनधिकारियोंके हाथमें लग जायें तो वे इनका दुरुपयोग करते हैं। जहाँ भगवान्‌की महिमा है, वहाँ तो 'आश्चर्यवत् पश्यति कश्चिदेनम्' (गीता २.२९)की ही स्थिति है। 'पश्यति आश्चर्यवत्'—आश्चर्यकी बात यही है कि बिना श्रवण, मनन, निदिध्यासनके और बिना तत्त्वमस्यादि महावाक्य-जन्य वृत्तिके प्रत्यक्-चैतन्याभिन्न ब्रह्मतत्त्वका साक्षात्कार हो सकता है।

जब भगवान्‌ने देखा कि गोपियाँ सब-कुछ छोड़कर उनके पास आगयी हैं तब वे बोल पड़े—'अवदद् वदतां श्रेष्ठो वाचः पेशैर्विमोहयन्' (१७)। क्या बोले, यह देखनेकी चीज है। भगवान्‌ने पहले तो सारे शास्त्रोंके द्वारा प्रतिपादित पुरुषार्थको गोपियोंसे छुड़वा दिया और बिना तदाकार वृत्तिके ही उनका कल्याण कर दिया, किन्तु जब वे उनके पास आयीं तो पूर्वपक्षी बन गये। खुद तो बन गये चेलें और उनको बना दिया गुरु। स्वयं तो पूर्वमीमांसाकी रीतिसे धर्मका प्रतिपादन करने लगे और उनको कह दिया कि तुम उत्तरमीमांसाकी रीतिसे बोलो। स्वयं धर्मप्रधान हो गये और गोपियोंको भगवत्प्रधान कर दिया।

देखो, मीमांसा एक ही है, परन्तु उसमें एक ओर धर्म-मोमांसा है और दूसरी ओर ब्रह्म-मीमांसा है। भगवान्‌ने अपनेको पूर्वपक्षी इसलिए वनाया कि गोपियोंके हृदयमें जो छिपी हुई बात है, उसको निकलवाना आवश्यक था। यह भी उनका एक ऐश्वर्य है।

भगवान् बोले कि गोपियो, तुम्हारा स्वागत है, स्वागत है। बोलो क्यों आयी हो? इस समय भयंकर रात है—'नेथ स्थेयम्'।

देखो, इसका अर्थ दो तरहसे करते हैं। किसीसे तो कहते हैं कि 'रजन्येषा घोर-रूपा' (१९)—यह रात्रि घोर है, लौट जाओ! किसीसे कहते हैं कि 'रजन्येषा अघोररूपा'—कितनी सुन्दर रात्रि है। किसीसे कहते हैं कि व्रजमें लौट जाओ—'प्रतियात व्रजम्' (१९) और किसीसे बोलते हैं कि 'प्रतियात व्रजं न इह स्थेयं स्त्रीभिः सुमध्यमाः'—अरे, तुमको यहीं रहना चाहिए, क्यों जाती हो व्रजमें? एक अर्थके अनुसार बोलते हैं कि तुम्हारे माता-पिता-पुत्र

तुम्हें घरमें न देखकर ढूँढ रहे हैं। उनको भयभीत करना उचित नहीं। दूसरे अर्थके अनुसार जब गोपियाँ वनकी ओर देखने लगीं तब बोले कि तुम पूर्णचन्द्रकी किरणोंसे रंजित वन देखने आयी थीं तो देखो, यमुनानिलसे हिलते हुए तरुपल्लवोंसे यह कैसा शोभित हो रहा है। इसलिए 'तद्यात मा चिरं गोष्ठं शुश्रूषध्वं पतीन् सतीः' (२२)—चिरकालतक गोष्ठमें मत जाओ, यहीं रहो। अथवा 'तद्यात मा चिरं गोष्ठम्'—विलम्ब मत करो, जल्दी गोष्ठमें लौट जाओ। इस प्रकारके परस्पर-विरोधी अर्थ भगवान्‌के वाग्वैदग्ध्यके सूचक हैं।

जब गोपियोंने पूछा कि हम क्या करें महाराज, साफ-साफ बोलो! तब श्रीकृष्णने कहा कि 'शुश्रूषध्वम्'—सेवा करो।

भगवान्‌के इस उत्तरमें भी एक व्यङ्ग्य है। उन्होंने कहा कि 'पतीन् सतीः'—देखो गोपियो, यदि तुम्हें बहुत पति पानेकी इच्छा हो तो जो लौकिक पति हैं, उनकी सेवा करो। फिर तुमको जन्म-जन्ममें पति मिलते रहेंगे और यदि हमेशाके लिए एक पति चाहिए तो हमसे प्रेम करो। हम तुमको मिल जायेंगे।

गोपियोंने कहा कि बाबा, हमको पति-सेवामें रुचि नहीं है। इसपर भगवान् बोले कि 'सतीः शुश्रूषध्वम्' (२२)—क्या तुम्हारे गाँवमें कोई सती-सावित्री नहीं है? जाओ उसकी सेवा करो।

यहाँ हे सती! सम्बोधन करके भी अर्थ करते हैं।

भगवान्‌ने कहा कि तुम्हारे बच्चे और बछड़े क्रन्दन कर रहे हैं, जाओ, उनको दूध पिलाओ और उनके लिए दूध दुहो। मुझसे तुम्हारा बहुत प्रेम है तो, ठीक है! मुझसे प्रेम करना कोई आश्चर्य नहीं है। मुझसे तो संसारके कीड़े-मकोड़े भी प्रेम करते हैं—'प्रीयन्ते मयि जन्तव' (२३)। तुम्हें तो पतिकी सेवा ही करनी चाहिए। यही स्त्रीका परम धर्म है। सेवा भी निष्कपट करनी चाहिए। यदि कहो कि उनको तुम्हारे यहाँ आनेका पता नहीं चलेगा तो, यह ठीक नहीं। जरूर पता चल जायेगा। इसलिए अमायया—कपट रहित होकर सेवा करनी चाहिए। पतिके प्रति कभी कपट नहीं करना चाहिए। उसके भाई-बन्धुओंके प्रति भी कपट नहीं करना चाहिए। जाओ, सबका पालन-पोषण करो। पति यदि दुर्भग है, दुःशील है, वृद्ध है, जड़ है, रोगी है, निर्धन है, तब भी उसका परित्याग नहीं करना चाहिए। इसीसे स्वर्गादि लोकको प्राप्ति होती है। यदि पति पातकी हो, ब्रह्मघाती हो तो जबतक वह प्रायश्चित न कर ले, तबतक उसको खिलाना-पिलाना और उसकी सेवा तो करनी चाहिए, परन्तु उसका संग-सहवास नहीं करना चाहिए। अन्यथा पत्नीको भी प्रायश्चित्त करना पड़ता है। पत्नीका दूसरे पुरुषके साथ सम्बन्ध बड़ा दुःखद है। इसलिए तुमलोग लौट जाओ!

ऐसा कहकर भगवान्‌ने गोपियोंको अपराधीके कठघरेमें खड़ा कर दिया। कोई भगवान्‌के पास जाये और वहाँ सिद्ध हो जाये कि वह अपराधी है तो यह अद्भुत बात है न! भगवान्‌ने

पूर्वपक्षको अपना पक्ष बना लिया। लेकिन सिद्धान्त तो यह है कि यदि कोई सब-कुछ छोड़कर भगवान्‌की ओर चले तब भी वह अपराधी नहीं होता—'यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्' (जाबाल उप० ४)। जिस दिन संसारसे वैराग्य हो और भगवत्प्राप्तिकी इच्छा हो, वही सबसे बड़ा शुभ दिन है। सबसे बड़ी तपस्या तो त्याग है।

गोपियोंने श्रीकृष्णके लिए सबका त्याग किया और कोई पाप नहीं किया, परन्तु श्रीकृष्णने उनको बिल्कुल अपराधिनी बना दिया। क्यों बना दिया ? इसलिए कि उनके हृदयमें श्रीकृष्णके प्रति कितना प्रेम है, यह बात लोगोंको मालूम हो जाय। वह भी दूसरोंके मुँहसे नहीं, स्वयं गोपियोंके मुँहसे मालूम हो कि वे श्रीकृष्णसे कितना प्रेम करती हैं! इसलिए भगवान् गोपियोंको उकसा करके उन्हींके मुँहसे अपने प्रेमका वर्णन करवाते हैं। यह भी प्रेमकी एक रीति है कि जब सामनेवालेके भावके विपरीत कोई बात कही जाती है, तब उसके मनमें जो छिपा हुआ होता है, वह प्रकट हो जाता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि गोपियोंके हृदयमें श्रीकृष्णके प्रति कितना प्रेम है—यह बात प्रकट ही न होती, यदि श्रीकृष्णने उन्हें लौटनेके लिए न कहा होता।

इति विप्रियमाकर्ण्य गोप्यो गोविन्दभाषितम्। २८

श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि परीक्षित, गोपियाँ गोविन्दका विप्रिय-भाषण सुनकर विषादग्रस्त हो गयीं। उनके संकल्प टूट गये और वे कहीं अन्त न होनेवाली दुरत्यय चिन्तामें पड़ गयीं। गोपियाँ अब घर लौटनेवाली हैं नहीं, चार पुरुषार्थोंका सेवन करनेवाली हैं नहीं, जीवित रहनेवाली हैं नहीं, फिर लौटें तो कहाँ लौटे ? यदि न लौटें तो कहाँ जायें ? क्योंकि प्रियतमने उनको मना कर दिया। वे मर जायेंगी तो उनके प्यारेको बड़ा दुःख होगा और जीवित रहेंगी तो स्वयं बड़ी दुःखी होंगी—इस प्रकार गोपियाँ चिन्ताके अथाह समुद्रमें मग्न हो गयीं।

कृत्वा मुखान्यव शुचः श्वसनेन शुष्यद्बिम्बाधराणि चरणेन भुवं लिखन्त्यः।
अस्रैरुपात्तमषिभिः कुचकुङ्कुमानि तस्थुर्मृजन्त्य उरुदुःखभराः स्म तूष्णीम्॥ २९

इस श्लोककी टीकामें श्रीवल्लभाचार्यजी महाराज कहते हैं कि पाँचों कोशोंने गोपियोंको छोड़ दिया। वे कहने लगीं कि हे पृथिवी देवी, तुम फट जाओ, हमें विवर दे दो—जिससे कि हम उसमें समा जायें। उनकी आँखोंसे आँसुओंको कज्जल-मिश्रित दो धाराएँ छातीपर ऐसी प्रवाहित हुईं, जैसे बढ़ई लोग लकड़ी चीरनेके लिए सूतकी लकीर लगाते हैं। मानो गोपियोंने कहा कि हमें यहींसे चीर दो, हमारे तीन-तीन टुकड़े कर दो; हम तुम्हारे बिना जीवित रहनेवाली नहीं हैं। इस प्रकार गोपियाँ अपने प्रियतमको ही ऐसा भाषण करते सुनकर अत्यन्त व्याकुल हो गयीं।

इन गोपियोंने श्रीकृष्णके लिए धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—सभी कामनाओंका परित्याग कर दिया है। उनकी ज्ञान-शक्ति लुप्त होने लगी। किसी प्रकार उन्होंने धीरज धारण किया और उनके

मनमें यह भाव उदय हुआ कि आखिर श्रीकृष्ण हमारे हैं या कोई पराये हैं ? हैं तो अपने ही। ये चाहे कुछ भी बोलें, अब पराये तो हो नहीं सकते।

'संरम्भ गद्‌गदगिरः' (३०)—अब गोपियोंको आया क्रोध। उनके हृदयमें तो है अनुराग, किन्तु वाणीमें है क्रोध। वे गद्‌गद होकर बोल पड़ीं।

देखो, 'कृत्वामुखान्यव'—इस श्लोकपर कवियोंकी लगभग बीस-इक्कीस प्रकारकी उत्प्रेक्षाएँ टीकाओंमें मिलती हैं कि गोपियोंका मुँह क्यों लटक गया। गोपियाँ बार-बार बोलें कि रक्षा करो, रक्षा करो। फिर सोचें कि बाबा, ये वही हैं या कोई दूसरे हैं ? वे होते तो ऐसा क्यों बोलते ? लगता है, हमारे मुखचन्द्रके दर्शनसे इनके नेत्र-कमल कुछ कुम्हला गये हैं, इसलिए ऐसा बोलते हैं ?

ये गोपियाँ क्या हैं ? गोपाङ्गनाओंको गोपी कहते हैं, यह तो आबालवृद्ध सभी जानते हैं। किन्तु ये गोपियाँ नहीं, श्रुतियाँ हैं, इडा-पिङ्गला आदि नाड़ियाँ हैं, चित्तवृत्तियाँ हैं। अमुक-अमुक वृत्तियोंका नाम गोपी है। 'गोपायन्ति श्रीकृष्णम्'—ये श्रीकृष्णका गोपन करती हैं, चोर-चोर, जार-जार, कहकर उनको छिपाती हैं, इसलिए गोपी हैं। 'गोभिः पिबन्ति'—ये नेत्रादि इन्द्रियों द्वारा श्रीकृष्ण-रसका पान करती हैं, इसलिए भी इनको गोपी कहते हैं। अन्य लोग तो 'नेति-नेति' द्वारा निषेध करके इस रससे वञ्चित हो जाते हैं, परन्तु गोपियाँ अपनी इन्द्रियोंसे ही श्रीकृष्ण-रसका पान करती हैं, इसलिए भी इनको गोपी कहते हैं।

तो गोपियाँ कहने लगीं—

मैवं विभोऽर्हति भवान् गदितुं नृशंसं सन्त्यज्य सर्वविषयांस्तव पादमूलम्। ३१

हे प्राणनाथ, हे विभो, हे व्यापक, हे सर्वस्व, आपको ऐसी क्रूर वाणी नहीं बोलनी चाहिए। क्योंकि हम आपके लिए सारे विषयोंका त्याग कर चुकी हैं।

देखो, विषय शब्दका अर्थ बन्धन ही होता है। अन्तरात्मा तो है हृदयमें। किसी भी इन्द्रियसे जब विषय देखने जाता है तो वहाँ वह रागादिके द्वारा आबद्ध हो जाता है। 'विसिण्वन्ति इति विषयाः'—जो बाँध ले, उसका नाम विषय है। अमरकोशकी व्याख्या-सुधामें भिन्न-भिन्न स्थलोंपर विषय शब्दकी पाँच प्रकारसे व्युत्पत्तियाँ दी हुई हैं।

गोपियोंने आगे कहा—

भक्ता भजस्व दुरवग्रह मा त्यजास्मान् देवो यथाऽऽदिपुरुषो भजते मुमुक्षून्। ३१

अरे ओ हठीले, हम तेरी भक्त हैं, तू हमारा भजन कर, सेवन कर। हमारे बिना तो तू ही दुःखी रहेगा। तू अपने लोगोंके साथ ही निष्ठुरता करता है ?

'अवे-ग्रहो वर्षे-प्रतिबन्धे' (अष्टाध्यायी ३.३.५१)—जब 'अव' उपसर्ग जोड़कर ग्रह धातुका प्रयोग करते हैं तब वृष्टिमें प्रतिबन्धका अर्थ हो जाता है। जैसे यह ऐसा 'अवग्रह' आगया कि इससे वर्षामें रुकावट पड़ गयी। यहाँ गोपियोंका भाव यह है कि इस समय रसवर्षाका अवसर है, किन्तु बीचमें आगया कोई राहु और उसने मना कर दिया, जिससे कि वर्षा ही न हो सकी। मना करनेकी वृत्ति कहाँसे आयी? यह कोई ग्रहका फेर है।

'भक्ता भज, अस्मान् मा त्यज'—प्यारे, हमें बिल्कुल मत छोड़ो। 'आदिपुरुषो भजते मुमुक्षून्'—जैसे आदि पुरुष मुमुक्षुका भजन करते हैं, जो मोक्ष चाहते हैं, उनको मोक्षके दरवाजेमें भेज देते हैं और जो मना कर देते हैं कि हमको मोक्ष नहीं चाहिए, उनको हमेशाके लिए अपने पास रख लेते हैं, वैसे ही तुम हमें अपने पास रख लो। तुम जो हमको धर्मका यह उपदेश करते हो कि स्त्रियोंको पति, अपत्य, सुहृद्में अनुवृत्ति करनी चाहिए, सो ठीक है। किन्तु हमारा यह धर्म तुम्हारे ही प्रति है।

श्रीधर स्वामीने इस प्रसंगकी चार प्रकारसे व्याख्या की है।

कुर्वन्ति हि त्वयि रतिं कुशलाः स्व आत्मन् नित्यप्रिये पतिसुतादिभिरार्तिदैः किम्।
तन्नः प्रसीद परमेश्वर मा स्म छिन्द्या आशां धृतां त्वयि चिरादरविन्दनेत्र ॥ ३३

गोपियोंने कहा कि 'ये कुशलाः ते त्वयि रतिं कुर्वन्ति ये त्वयि रतिं कुर्वन्ति ते कुशलाः'—जो कुशल होते हैं, वे ही तुमसे प्रेम करते हैं और जो तुमसे प्रेम करते हैं, वे ही कुशल हैं। दुनियाके पदार्थ और सम्बन्ध तो दुःख देनेवाले ही हैं। हम चिरकालसे तुम्हारे प्रति आशा जोड़कर बैठी हैं। तुमने पहले तो हमारे भीतर आशा जगायी और अब उसको काटते हो। 'विषवृक्षोऽपि संवर्द्ध्य स्वयं छेत्तुमसाम्प्रतम्' (कुमारसम्भव २.५५)—अरे, अपने हाथसे लगाये हुए जहरके पेड़को भी काटना उचित नहीं है।

तुमने हमारा मन चुरा लिया है, अब हमारे पाँव तुमको एक क्षणके लिए भी छोड़कर कहीं जानेको तैयार नहीं हैं। तुमने अपनी हँसी, चितवन और वंशीध्वनिसे हमारे हृदयोंमें आग लगा दी है। यदि कोई कहीं गलतीसे भी आग लगा दे और उसको ईश्वर सद्बुद्धि दे दे तो उसीका काम है कि वह आग बुझावे। तुमने भी हमारे हृदयोंमें आग लगायी है, अब उसको तुम्हीं अपने अधरामृतकी धारासे बुझाओ। नहीं तो क्या होगा जानते हो? यही होगा कि 'विरहजाग्न्युपयुक्त-देहाः' (३५)—विरहसे एक आग पैदा होगी और हम तुम्हारा ध्यान करती हुई उसमें जलकर मर जायेंगी। यह भी समझ लो कि जब इतनी गोपियाँ मरेंगी, तब क्या होगा? यही होगा कि तुम्हारा ध्यान करके मरनेवाली सोलह हजार गोपियाँ इतनी ही संख्यामें श्रीकृष्ण बन जायेंगी, तुम्हारी

पदवी प्राप्त कर लेंगी और तुमको विवश होकर गोपी बनना पड़ेगा। फिर हमारी ही तरह तुम भी हमारे पास आओगे और हम तुम्हें ऐसा भटकायेंगी, ऐसा भटकायेंगी कि देख लेना हमारी तरह भटकनेमें क्या मजा होता है—'ध्यानेन याम पदयोः पदवीं सखे ते'। (३५)

प्यारे, छोड़ो इन बातोंको। जबसे हमने तुम्हारे चरणोंका स्पर्श किया है, तबसे हम तो दूसरोंके सामने जानेकी स्थितिमें नहीं हैं और उधर तुम्हारे चरणोंमें रहनेके लिए स्वयं भगवती लक्ष्मी तत्पर हो गयीं।

तुमने लक्ष्मीसे कहा कि तुम हमारे चरणोंमें कैसे रहोगी? वहाँ तो तुम्हारी सौत तुलसी रहती है। तुम तो वक्षस्थलपर ही रहो तो अच्छा है। लक्ष्मी बोलीं कि ना महाराज, मैं सौतके साथ तुम्हारे चरणोंमें ही रहूँगी। तुम बोले कि अरे, वहाँ तो बड़ी भीड़-भाड़ रहती है, बहुत लोग आते रहते हैं। लक्ष्मी बोलीं कि तो क्या हुआ, मैं वहीं रहूँगी। 'भृत्यजुष्टम्' (३७)—बहुत-से लोग तुमसे प्रार्थना करते हैं कि हमारी ओर देखो, हमारी ओर देखो। इसपर तुमने कहा कि तब तो तुम भी बैठ जाओ और पूजा लो लोगोंसे। 'यस्याः स्ववीक्षणकृतेऽन्यसुरप्रयासः' (३७)—ब्रह्मा इन्द्रादि तुमको बहुत चाहते हैं। लेकिन तुम उनको ओर देखती भी नहीं हो।

स्वामी, इस प्रसंगकी चर्चाका तात्पर्य यही है कि जिस प्रकार लक्ष्मीजी तुम्हारे चरणारविन्दको चाहती हैं, उसी प्रकार हम तुम्हारे चरणोंमें आयी हैं। अपने-अपने घर-बार छोड़कर तुम्हारी उपासनाकी आशासे ही तुम्हारे पास आयी हैं—'वसतीः विसृज्य त्वदुपासनाशाः' (३८)—अथवा तुम्हारी उपासनाको नाश करनेवाली बस्तीका परित्याग करके आयी हैं। प्यारे, हम तुमसे अधिक क्या कहें? हम तुम्हारी मनोहर मुस्कान और चितवनके कारण तीव्र कामसे सन्तप्त हैं—'त्वत्सुन्दरस्मितनिरीक्षणतीव्रकामतप्तात्मनां पुरुषभूषण देहि दास्यम्'। (३८)

यहाँ देखो, जबतक ईश्वरके प्रति मनुष्यके हृदयमें इस कामनाका उदय नहीं होता कि हम ईश्वरको प्राप्त करें तबतक सारी साधनाएँ कामनाके विरुद्ध हो जाती हैं और मनुष्यको आगे बढ़ने नहीं देतीं। पहले ईश्वरकी ओर चलनेकी सच्ची इच्छा हो, तड़प हो, लगन हो, लालसा हो, तब साधना करोगे तो वहाँ पहुँचोगे। किन्तु जिसके मनमें इच्छा ही पैदा नहीं हुई, उसको बोल दिया जाय कि जाओ त्रिपुटीका ध्यान करो, नासिकाग्रका निरीक्षण करो तो क्या होगा! जिसको ईश्वरके पास जानेकी इच्छा हो नहीं, वह क्या करेगा? उसने यदि कोई साधना प्रारम्भ भी की तो उसमें रुकावट पड़ेगी। पहले कहाँ पहुँचना है, यह मालूम कर लो और फिर मोटरमें बैठो, नहीं तो

मोटरमें बैठकर सो जाओगे और मोटर कहीं चलेगी नहीं। इच्छा ही ड्राईवर है। संकल्प ही मोटरको चलाकर गन्तव्यकी ओर ले जाता है।

गोपियाँ कहती हैं कि हे पुरुषभूषण, तुम्हारा मुखारविन्द—जिसपर अलकें लटकी हुई हैं और कुण्डल-श्री जो गण्डस्थलका स्पर्श कर रही है, तुम्हारी अधर-सुधा, चितवन और मुस्कान, तुम्हारे अभयदायी भुजदण्ड-युगल—जो अर्थ-धर्म-काम-मोक्ष चारों पुरुषार्थोंको प्रदान करनेवाले हैं और तुम्हारा वक्षस्थल, जिसपर लक्ष्मीजी विलास कर रही हैं—इन सबका दर्शन करके हम तुम्हारी दासी हो रही हैं। त्रिलोकीमें कौन ऐसी स्त्री है, जो तुम्हारे इस रूपको देखकर और तुम्हारी वंशी-ध्वनि सुनकर मोहित न हो जाय ? आर्य-चरित्रसे विचलित न हो जाय ? जब गाय, द्विज, द्रुम ओर मृगतक तुम्हारी वंशी-ध्वनि सुनकर तथा तुम्हारे रूपको देखकर मुग्ध हो जाते हैं तब हमारा अनुरक्त होना कोई बड़ी बात नहीं है। तुम तो सबके कष्टका हरण करनेके लिए प्रकट हुए हो, इसलिए हमारे दुःखका भी निवारण करो और हमें स्वीकार कर लो प्यारे !

देखो, इस प्रसंगका नाम प्रणय-गीत है। आचार्य लोगोंने बताया है कि यह प्रसंग इतने ही श्लोकोंमें क्यों है ? श्लोकोंकी संख्याका अभिप्राय भी सब जगह दिया हुआ है। श्री वल्लभाचार्यजी महाराजका तो यह दावा है कि यदि भागवतमें-से एक अक्षर, एक पद, एक वाक्य, एक श्लोक भी निकाल दो अथवा बढ़ा दो तो पकड़में आजायेगा। क्योंकि उन सबकी गणना है और वे सब हिसाबसे रखे हुए हैं। इसलिए उनका समन्वय अविरोधसे करना चाहिए—

स्कन्धे प्रकरणेऽध्याये श्लोके वाक्ये पदेऽक्षरे। सप्तधा विभजन्नर्थमविरोधेन मुच्यते ॥

अब जब योगेश्वरेश्वर भगवान् श्रीकृष्णने गोपियोंकी विकलता देखी तो हँस गये। 'आत्मारामोऽपि' (४२)—यद्यपि आत्माराम होनेके कारण उनको किसीसे व्यवहार करनेकी स्वयंमें आवश्यकता नहीं है, तथापि उन्होंने 'अरीरमत्'—गोपियोंको विहार कराया, आनन्द दिया। उनके साथ भगवान्‌की उदार चेष्टा प्रारम्भ हो गयी, उन्होंने अपनेको खुला छोड़ दिया और गोपियाँ भी आनन्दमें मग्न होकर गान करने लगीं—'उपगीयमान उद्गायन् (४४)। श्रीकृष्ण कभी वनकी शोभाका, कभी शरद्‌की शोभाका, कभी यमुनाकी शोभाका वर्णन करें और गोपियाँ भी कृष्ण-कृष्ण, कृष्ण-कृष्ण नामका गान करें। सब यमुनाजीके पुलिनमें जाकर आविष्ट हो गये— 'मालां बिभ्रद् वैजयन्तीं व्यचरन्मण्डयन् वनम्' (४४) 'नद्याः पुलिनमाविश्य। (४५)

यहाँ 'आविश्य'का अर्थ ऐसे समझो कि जैसे गङ्गाजीकी बालुका होती है, वैसे ही यमुनाजीकी बालुका भी होती है। परन्तु यमुनाजीकी बालुका गङ्गाजीकी बालुकासे विलक्षण होती है। यमुनाजीकी बालुका गौर-श्याम है—एक बालुका साँवरी है तो दूसरी बालुका श्वेत है।

श्रीकृष्ण गोपियों-सहित यमुनाजीकी बालुका-राशिमें आविष्ट हो गये। तात्पर्य यह कि जितने बालूकण, उतनी गोपियाँ और उतने ही श्रीकृष्ण। सारा यमुना-पुलिन असंख्य गोपियों, असंख्य श्रीकृष्णसे आच्छादित हो गया और उन्होंने आविष्ट होकर वहाँ विहार किया। यमुनीजीने स्वयं उन सबको सम्भाल रखा था।

बाहुप्रसारपरिरम्भकरालकोरुनीवी - स्तनालभननर्मनखाग्रपातैः।
क्ष्वेल्यावलोकहसितैर्व्रजसुन्दरीणामुत्तम्भयन् रतिपतिं रमयाञ्चकार ॥ ४६

देखो, यदि भगवान्के विहारका वर्णन करते अथवा सुनते समय आपके मनमें कोई झेंप, संकोच या लज्जा आती है तो समझना कि आपका भगवद्भाव पक्का नहीं है। जहाँ अप्राकृत भगवान्की दिव्य रसमयी लीला है, वहाँ आप लज्जा-सङ्कोच क्यों करते हो?

श्रीकृष्ण बाहुप्रसारपरिरम्भ, कर-अलक-ऊरु-नीवी-स्तन-आलभन, नर्म, नखाग्रपात तथा छेड़छाड़, अवलोकन ओर हसनके द्वारा व्रजसुन्दरियोंको आह्लादित करने लगे। 'व्रजसुन्दरीणाम् कर्त्रीणाम् बाहुप्रसारपरिरम्भकरालकोरु'—व्रज-सुन्दरियाँ भी बाँह फैलाती हैं, श्रीकृष्णका हाथ पकड़ती हैं और उनके अलकोंपर हाथ फेरती हैं। वे भी उनके जाँघ और वक्षस्थलका आलभन करती हैं, उनके साथ नर्म करती हैं, उनको चिकोटी काट लेती हैं, छेड़छाड़ करती हैं और देख-देखकर हँसती हैं। इस प्रकार श्रीकृष्ण गोपियोंके साथ और गोपियाँ श्रीकृष्णके साथ क्रीड़ा करने लगीं।

व्रजसुन्दरीणामुत्तम्भयन् रतिपतिं रमयाञ्चकार।

इतनेमें आगये कामदेवजी महाराज। वे ऊपरकी ओर दिखायी पड़े। भगवान्ने कहा कि अच्छा बेटा, तुम्हारी इतनी हिम्मत कि तुम हमारे बीचमें आगये। लो, तुम खम्भेकी तरह खड़े हो जाओ, जड़ हो जाओ। 'रतिपतिं उत्तम्भयन्—उद् ऊर्ध्वं स्तम्भयन्। रमयाञ्चकार, स्वकर्तृक-क्ष्वेल्यावलोकहसितैः व्रजसुन्दरीणां रतिपतिं उत्तम्-भयन्। अथवा व्रजसुन्दरीणां कर्त्रीणां क्ष्वेल्याव-लोक-हसितैः रतिपतिं उत्तम्-भयन्'—ये सब नाम मिले भगवान्को।

अब गोपियाँ इतनी आनन्दमग्न हो गयीं कि उनकी दृष्टि स्वयं अपनी ओर चली गयी। जब गोपोंके रसमें बाधा आती है तब उनकी दृष्टि दूसरी ओर चली जाती है। जब यशोदा मैयाके रसमें बाधा पड़ती है तब उसकी दृष्टि भी दूसरी ओर चली जाती है। लेकिन गोपियाँ तो कान्ता-भाववाली हैं। इनकी दृष्टि यदि दूसरी ओर चली जाय तो इनके पातिव्रतमें, पतिस्नेहमें ही बाधा पड़ जायेगी, रस-भङ्ग हो जायेगा। इसलिए गोपीके रसमें जब विघ्न उपस्थित होता है

तब उसकी दृष्टि दूसरेपर नहीं जाती, स्वयं अपने ऊपर चली जाती है। गोपियोंको यह आत्मदृष्टि हो गयी कि मैं शुद्ध हूँ, बुद्ध हूँ, मुक्त हूँ। यद्यपि प्रत्यक्-चैतन्यकी दृष्टिसे सबसे अन्तरङ्ग आत्मा है। परन्तु भगवत्-चैतन्यकी दृष्टिसे सबसे अन्तरङ्ग परमात्म-चैतन्य है। इसलिए जब गोपियाँ अपनेको देखने लगीं तब उनको देखना बन्द हो गया।

आत्मानं मेनिरे स्त्रीणां मानिन्योऽभ्यधिकं भुवि। ४७

जब किसी दूसरेपर दृष्टि जाती है तब आत्मरस और भगवद्रसका लोप हो जाता है, जब अपनेपर दृष्टि जाती है तब विषय-रस और भगवद्-रसका लोप हो जाता है और जब भगवान्पर दृष्टि जाती है तब आत्मरस और विषयरसका लोप हो जाता है। एक ही रस-दृष्टि रह सकती है, तीन जगह रस-दृष्टि नहीं रह सकती। इसलिए जब गोपियोंने रासमें अपनी ओर देखना शुरू किया तो रसका लोप हो गया।

भगवान्ने सोचा कि जबतक गोपियाँ मेरी ओर नहीं देखेंगी तबतक रसका उदय कैसे होगा ? उन्होंने कहा कि गोपियो, यदि तुम्हें अपना आपा बड़ा प्यारा है कि हम बड़ी सुन्दरी हैं—'मानिन्योऽभ्यधिकं भुवि, सौभगमदं मानं च' (४८)—तो अब तुम अपना होंठ अपने आप ही चाटो, अपनी आँखोंकी सुन्दरता अपने आप ही देखो, अपने हृदयोंपर अपने ही हाथ फेरो, अब तो तुम्हें हमारी जरूरत नहीं रही, जाओ तुम लोग मौज करो !

इस प्रकार 'प्रशमाय प्रसादाय'—गोपियोंके मदका प्रशमन करनेके लिए अथवा श्रीराधारानीके मानको मनानेके लिए 'तत्रैवान्तरधीयत'—भगवान्ने उनका अनादर किया और अन्यत्र कहीं न जाकर तत्रैव—वहीं कहीं किसी गोपीके ओढ़नेका शाल इधर-उधरसे खींचकर उससे अपनेको ढक लिया तथा घूँघट काढ़कर एक ओर खड़े हो गये !



: ३० :

अन्तर्हिते भगवति सहसैव व्रजाङ्गनाः ।
अतप्यंस्तमचक्षाणाः करिण्य इव यूथपम् ॥ १

गोपियोंकी दृष्टिमें श्रीकृष्ण अन्तर्हित हो गये। भगवान् दो तरहसे हित करते हैं—एक बर्हिहित होकर अर्थात् बाहर प्रकट होकर हित करते हैं ओर दूसरे अन्तर्हित होकर, छिपकर कल्याण करते हैं। यहाँ अन्तर्हितका अर्थ अन्तर्धान हो जाता है।

जब श्रीकृष्ण अन्तर्धान हो गये तो गोपियोंको बड़ी व्याकुलता हुई। उनका चित्त गति-अनुराग-स्मित-विभ्रम-ईक्षित आदिके द्वारा पहलेसे गया हुआ था, अब वे तदात्मक होकर श्रीकृष्णमय हो गयीं। इधर-उधर गाती हुई डोलने लगीं और आकाशके समान व्याप्त पुरुषके सम्बन्धमें वृक्ष-वनस्पतियोंसे पूछने लगीं—

दृष्टो वः कच्चिदश्वत्थ प्लक्षन्यग्रोध नो मनः। ५

वे एक-एक वृक्षसे क्या-क्या प्रश्न करती हैं, इसका अलग-अलग वर्णन है। उन्होंने कहा—हे अश्वत्थ, तुम तो स्वयं भगवत्स्वरूप हो—'अश्वत्थः सर्ववृक्षाणाम्' (गीता १०.२६)। हे प्लक्ष, तुम तो ब्रह्माजीके वृक्ष हो।

परोक्षको ही प्लक्ष बोलते हैं, जिसका अर्थ है कि जिसकी बड़ी-बड़ी आँखें हों।

हे न्यग्रोध, जो तुम्हारे नीचे आता है, उसको तो तुम थोड़ी देरके लिए रोक ही लेते हो, यह तुम्हारा स्वभाव है।

न्यग्रोध—न्यग्+रोध माने जो उसके नीचे आजाय, थोड़ी देरके लिए रोक ले। रुकनेवाला कहे कि क्या बढ़िया छाया है, क्या सुन्दर पत्ते हैं। अथवा रोध माने जटा, जो न्यग् माने नीचे फैलती है। न्यग्रोध बड़को कहते हैं।

गोपियाँ इन वृक्षोंसे कहतीं कि श्रीकृष्ण हमारा मन चुराकर चले गये हैं, बताओ कहाँ हैं?

इस तरह गोपियाँ व्याकुल हो गयीं और श्रीकृष्णकी लीलाका अनुकरण करने लगीं। कोई पूतना बन गयी, कोई नन्हा-सा बालक बनकर चलने लगीं, कोई राम-कृष्णकी तरह मुद्रा बनाकर बुलाने लग गयी।

देखो, जब कोई निर्विशेषावस्थामें बोलता है तब तो भेदकी गुञ्जायश नहीं रहती। अपनेको चाहे ब्रह्म बोलो चाहे ब्रह्मका दादा बोलो, जहाँ निर्विशेष है वहाँ भेदका अस्तित्व ही नहीं है। किन्तु जहाँ कोई सविशेषमें बोलता है कि मैं वही हूँ, तो वैसा ही सिर, वैसा ही हाथ, वैसी ही आँख, वैसे ही पाँव, वैसा ही मुँह, वैसी हो माँ, वैसा ही बाप कहाँसे होगा? इसलिए जो भावावेशमें, विरहावेशमें अथवा मिलनावेशमें बोला जाता है, वह आवेश ही होता है, वास्तविक अनुभव नहीं होता। कुछ लोग अपनेको कृष्ण बताते हैं, राधा बताते हैं और कहते हैं कि हम ही सब-कुछ हैं। सगुणके साथ जो सम्बन्ध होता है, वह भावनात्मक होता है और निर्गुणके साथ जो ऐक्य होता है, वह बोधात्मक होता है। वहाँ परमार्थ-वस्तु-सत्तासे ऐक्य होता है।

एक गोपी कहने लगी कि मैं कृष्ण हूँ, देखो कैसे मधुर-मधुर चलती हूँ—'कृष्णोऽहम् पश्यत गतिं' (१९)। दूसरी गोपीने कपड़ेका गोवर्द्धन बनाकर उठा लिया और बोली कि आजाओ इसके नीचे। तीसरी गोपीने एक गोपीके सिरपर पाँव रख दिया और बोली कि अरे ओ कालिये, भाग जा यहाँसे। चौथी गोपीने कहा कि तुम सब अपनी-अपनी आँख बन्द करो, हम आगको पी लेते हैं। पाँचवीं गोपीने एक गोपीको ऊखल बना लिया और उसमें कृष्ण बनी गोपीको बाँध दिया। इस प्रकार गोपियाँ श्रीकृष्णकी लीलामें तन्मय हो गयीं।

देखो, यहाँ एक शिक्षा दी हुई है और वह यह है कि यदि मनुष्यको भगवान्का विरहावेश न सतावे तो वह केवल भगवान्को मानने-मात्रसे आस्तिक नहीं हो जाता। जिसके मनमें ईश्वरके संयोगकी भावनासे सुख होता है और वियोगकी भावनासे दुःख होता है, वही ईश्वरको मानता है। अन्यथा उसकी मान्यता उस जबानी जमा-खर्चके समान है, जो चलते-चलते किसीको 'पालागी महाराज' कहकर पूरा कर लिया जाता है। पालागी महराज कहनेवाले आस्तिक तो बहुत होते हैं, परन्तु जिनके दिलमें ईश्वरके लिए पीड़ा होती है, वे बिरले होते हैं।

गोपियाँ जब श्रीकृष्ण-लीलाके अनुकरणमें तन्मय हो रही थीं तब उनको अकस्मात् उनके चरणारविन्दके चिह्नके दर्शन हुए। फिर वे उन चरण-चिह्नोंको देखते हुए बोलने लगीं कि अरे, उनके पास तो किसी औरके भी चरण-चिह्न हैं।

यहाँ कितने सुन्दर भावकी लीला है। गोपियाँ कहने लगीं कि लगता है, वह कृष्णके कन्धेपर हाथ रखकर चल रही है। हाय, हाय, जिसको कृष्ण अपने साथ ले गये हैं, वह कितनी भाग्य-शालिनी है। यह देखो, यहाँ तो उन्होंने उस भाग्यवतीको ऊपर उठा लिया है और यहाँ उसके लिए फूल चुने हैं। यह देखो, यहाँ उन्होंने उसके बाल सँवारे हैं, यहाँ उसके साथ बैठे हैं और यहाँ विहार किया है। इस प्रकार गोपियोंके मनमें जो-जो भाव आये, उनको वे प्रकट करती गयीं।

'कामिनां दर्शयन् दैन्यं स्त्रीणां चैव दुरात्मताम्' (३५)—कहा गया है कि जो कामी होता है, उसको दीन होना पड़ता है। जब स्त्री जान जाती है कि यह आदमी हमारे वशमें हो गया तब वह उसको खूब छकाती है। यह बात दिखाते हुए गोपियाँ आगे चलीं। उन्होंने देखा कि आगे जानेपर उस गोपीने भी वही काम किया है।

यहाँ श्रीराधारानीके भक्त कहते हैं—प्रियाजीके मनमें एक बात आयी कि हम दोनों तो यहाँ खूब आनन्द लूट रहे हैं, लेकिन कोई देखनेवाला नहीं है। इसीलिए कोई ऐसा चाहिए, जो इस आनन्दको देखकर इसका रसास्वादन करे। श्रीकृष्ण इस बातको समझ गये। उन्होंने सोचा कि देखो ये हैं तो हमारे पास, परन्तु ध्यान कर रही हैं दूसरी गोपियोंका।

अब साथकी इस गोपीका कोई-न-कोई नाम तो रखना ही पड़ेगा। चाहे उपनिषद्की दृष्टिसे गान्धर्वी नाम रखो अथवा चाहे राधा बोलो।

'दृप्ता केशवमब्रवीत्' (३८)—उनको इस बातका अभिमान हैं कि कृष्णने हमारे बाल सँवारे हैं, बोलीं कि अब तो हमसे नहीं चला जाता। श्रीकृष्णने कहा कि देवी, हम तो समदर्शी हैं। आपके मनमें जो विषमता हो, उसके अनुसार हमको मन्त्र बता दीजिये। इसपर वे बोलीं कि आपका जहाँ मन हो, वहाँ ले चलिये। श्यामसुन्दर बोले कि 'अच्छा, हमारे कन्धेपर चढ़ो और उसी समय वे अन्तर्धान हो गये! श्रीकृष्ण यदि इस गोपीके साथ इसी अवस्थामें दूसरी गोपियोंसे मिलते तो उनमें ईर्ष्या-द्वेषका उदय होता। इसलिए उन्होंने अपना वियोग करके इनको भी जब सबके समान कर दिया तब ईर्ष्या-द्वेषकी कोई शंका नहीं रही।

अब जब श्रीकृष्णके बिना ये श्रीमतीजी भी बड़ी दुःखी हुईं तब बोल पड़ीं—

हा नाथ रमण प्रेष्ठ क्वासि क्वासि महाभुज।
दास्यास्ते कृपणाया मे सखे दर्शय सन्निधिम्॥ ४०

'हा नाथ!' यह बोलते समय जब उनको मालूम पड़ा कि श्रीकृष्ण आगये तो बोलीं कि 'हा रमण!' तुम किसी दूसरी गोपीके साथ चले गये थे। फिर जब मालूम हुआ कि श्रीकृष्ण जा रहे हैं तो बोलो—नहीं, नहीं, प्रेष्ठ तुम तो हमारे बड़े प्यारे हो। श्रीकृष्ण बोले कि तुम तो हमारे आनेपर आक्षेप करती हो। बोली कि अच्छा मत आओ, तुम्हारे हाथ बड़े लम्बे हैं, जहाँ हो वहींसे हमको पकड़ लो। 'क्वासि-क्वासि'—कहाँ हो? मैं तो तुम्हारो दासो हूँ, कृपणा हूँ। सखे, मुझे अपना सान्निध्य-दर्शन कराओ।

इधर अन्य गोपियाँ भावावेशमें ढूँढती-ढूँढती अपने इन सखीके पास पहुँच गयीं और उसकी अवस्था देखकर उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ। इसके बाद सब मिलकर श्रीकृष्णको ढूँढ़नेके लिए वनमें गयीं। वहाँ जहाँ भी देखें, बड़ा भारी अन्धकार दिखायी दे।

अब जब गोपियोंका मन हो गया कृष्ण, उनकी वाणीमें आगये कृष्ण, चेष्टा हो गयी कृष्ण-की, आत्मा हो गया कृष्ण-सरीखा, तब सब कृष्णका गान करने लगीं। वे अपने-आपको भूल गयीं. यह भी भूल गयीं कि उन्हें घर-द्वार लौटना है और उनका शरीर गोपीका है। गोपियोंने कहा कि अरी सखियो, यदि हम इस अन्धकार-भरे वनमें श्रीकृष्णको ढूँढ़ती फिरेंगी तो जितना-जितना आगे बढ़ेंगी उतना-ही-उतना वे कंटकाकीर्ण वनमें घुसते जायेंगे। फिर उनके पाँवमें कोई काँटा-कुश गड़ जायेगा और वे उससे कष्ट पायेंगे। इसलिए अब वे हमें ढूँढ़नेसे नहीं मिलेंगे। देखो, वस्तु जहाँ खोती है, वहीं मिलती है, चलो लौट चलें।

इसपर एक गोपीने कहा कि लौटकर हम क्या करेंगी? तुम लोग यह बात क्या भूल गयी हो कि जब हम कभी दही-दूध लेकर वनमें जाते समय अथवा पानी भरते समय गाने लगती हैं तब वे हमारे पीछे-पीछे लगे-लगे डोलते हैं। इसलिए आओ, हम लोग यमुनाजीके तटपर चलें और वहाँ बैठकर गावें—'समवेता जगुः कृष्णं तदागमनकाङ्क्षिताः' (४५)। फिर देखना हमारे संगीतकी ध्वनि सुनते हीं वे कहीं-न-कहींसे दौड़कर चले आयेंगे; क्योंकि उनको प्रतिज्ञा है—'मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद'।

देखो, भगवान् भक्तोंका गायन सुननेके लिए बैठते नहीं हैं। वहाँ खड़े होकर सुनते हैं—'तत्र तिष्ठामि'।



: ३१ :

इसके बाद सब गोपियाँ यमुना-पुलिनपर इकट्ठी हुईं और श्रीकृष्णका गान करने लगीं।

देखो, पहले वेणु-गीत हुआ, उसके बाद प्रणय-गीत हुआ। प्रणय-गीतका अर्थ है प्रणयन-गीत, जो हृदयको भगवान्‌के योग्य बना दे। अब उनका गोपी-गीत प्रारम्भ होता है—

जयति तेऽधिकं जन्मना व्रजः श्रयत इन्दिरा शश्वदत्र हि।
दयित दृश्यतां दिक्षु तावकास्त्वयि धृतासवस्त्वां विचिन्वते॥ १

गोपियाँ कभी तो एकत्र होकर और कभी अलग-अलग—सब प्रकारसे गीत गाती हैं। इकट्ठे होकर एक स्वरसे गाये जानेवाले गानको समवेत-गान कहते हैं। 'धर्मक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः' (गीता १.१)—इसमें जो 'समवेताः' शब्द है, इसका अर्थ है कि यहाँ सब एक-भावके सम्बन्धसे सम्बद्ध हैं। यहाँ गोपियोंका सम्बन्ध भी बड़ा विलक्षण है—'समवेता जगुः कृष्णम्'। (३०.४५)

गोपियाँ कहती हैं कि 'जयति तेऽधिकं जन्मना व्रजः'—प्यारे, व्रज तो स्वभावसे ही सर्वोत्कृष्ट है, विजयी है—'व्रजः जयति'। किन्तु 'ते जन्मना अधिकं जयति'—जबसे यहाँ तुम्हारा जन्म हो गया है, तुम प्रकट होकर क्रीड़ा करने लगे हो, तबसे यह और भी विजयी हो गया है।

जब श्रीकृष्ण प्रकट नहीं होते, तब भी व्रजभूमि वैकुण्ठादिसे श्रेष्ठ है, किन्तु जब श्रीकृष्ण प्रकट रहते हैं तबकी तो बात ही क्या है। 'अधिकम्'—पदका प्रयोग करनेसे यह अर्थ हो गया कि तुम्हारे जन्मसे इसका उत्कर्ष अधिक हो गया।

व्रजकी एक और विशेषता देखो। वैकुण्ठमें अष्टमी, नवमी या पूर्णिमाके दिन भगवान्‌का जन्म नहीं होता। वहाँ कभी भगवान्‌के जन्मकी बधाई नहीं बजती। वहाँ तो अमृत-ही-अमृत रहता है। परन्तु व्रजमें भगवान् जन्म लेते हैं और उनके जन्मकी बधाई बजती है।

दूसरी विशेषता यह है कि वैकुण्ठमें इन्दिरा अर्थात् लक्ष्मीजीकी सेवा होती है, परन्तु यहाँ तो 'श्रयत इन्दिरा अत्र शश्वत् श्रयते सेवते'—एक-एक वृक्ष और लताकी, यहाँतक कि धूलिके एक-एक कणकी सेवा स्वयं लक्ष्मीजी करती हैं।

'दयित दृश्यतां'—इसकी व्याख्या श्रीधर स्वामीने तीन तरहसे और विश्वनाथ चक्रवर्तीने एक नवीन प्रकारसे की है—

देखो, तुम्हारी गोपियाँ, जिन्होंने तुम्हारे अन्दर अपने प्राण रख दिये हैं, तुमको ढूँढती हुई डोल रही हैं—'त्वयि धृतासवः'।

विरहमें मरण होना चाहिए, परन्तु गोपियाँ विरहमें मरती नहीं है। क्यों नहीं मरतीं ? इसलिए नहीं मरतीं कि 'त्वयि धृतासवः'। जब मृत्युरूप चोर गोपियोंके प्राण चुराने आता है और इनके शरीररूप घरमें उसकी तलाश करता है तब यह देखकर कि ये अपने प्राणरूप सम्पत्तिको भगवान्के पास रखकर चली आयी हैं, उसे बड़ी निराशा होती है और बारम्बार लौट जाता है।

प्यारे, हम तुम्हारी बे-दामकी गुलाम हैं, फिर भी तुमने अपनी आँखोंसे हमलोगोंका वध कर दिया है। क्या वधका दोष नहीं होता ? यदि वध ही करना था तो तुमने हमलोगोंको बारम्बार 'विषजलाप्ययाद्' विष आदिसे बचाया ही क्यों ?

न खलु गोपिकानन्दनो भवान् अखिल-देहिनामन्तरात्मदृक्।
विखनसार्थितो विश्वगुप्तये सख उदेयिवान् सात्वतां कुले॥ ४

तुम केवल गोपीनन्दन नहीं हो, सबके अन्तर्यामी हो। ब्रह्माजीकी प्रार्थनासे विश्वकी रक्षाके लिए तुम यदुवंशमें प्रकट हुए हो। गोपिकानन्दन होते तो कुछ तो दया-माया होती। हमलोगोंको इस प्रकार वनमें छोड़कर क्यों चले जाते ? हाय-हाय यशोदा मैया कितनी दयामयी, कितनी वात्सल्यमयी है, किन्तु तुम उसके बेटे होकर और उसके नाते हमारी ही जाति-बिरादरीके होकर ऐसी कठोरता करते हो ?

श्रीकृष्णने कहा—हाँ गोपी, यह ठीक है, मैं तो सबका अन्तरात्मदर्शी हूँ।

गोपियाँ कहती हैं कि 'न खलु अखिल देहिनामन्तरात्मदृक्'—तुम अन्तर्यामी भी नहीं हो। अगर होते तो हमारे हृदयकी पीड़ा समझकर जरूर प्रकट हो जाते।

श्रीकृष्ण बोले कि मैं तो ब्रह्माकी प्रार्थनासे आया हूँ।

गोपियोंने कहा कि 'न खलु विखनसार्थितो विश्वगुप्तये'—तुमसे ब्रह्माजीने प्रार्थना नहीं की है। यदि की होती तो कम-से-कम हमारी रक्षा तो करते। हम भी तो विश्वमें ही रहती हैं।

इसपर श्रीकृष्णने कहा है कि मैं तो यदुवंशमें पैदा हुआ हूँ।

गोपियोंने उत्तर दिया कि 'न खलु सख उदेयिवान् सात्वतां कुले'—तुम यदुवंशमें भी प्रकट नहीं हुए हो, क्योंकि वहांके लोग बड़े भक्त हैं, बड़े दयालु हैं। यदि तुम यदुवंशी होते तो हमारी रक्षा अवश्य करते।

इस प्रकार गोपीगीतके इस चतुर्थ श्लोकमें प्रत्येक चरणके पहले 'न खलु' जोड़ देनेपर उसका व्यङ्ग्यार्थ हो जाता है। यह कनक-मञ्जरी छन्द है। कनक माने धतूरा अथवा सोना। जैसे धतूरेकी मञ्जरी खानेपर नशा हो जाता है वैसे ही इस छन्दमें भगवान्की स्तुति करनेपर मनुष्यका मन संसारसे विरक्त होकर भगवान्में लग जाता है। नशा केवल धतूरेमें ही नहीं होता, सोनेमें भी होता है। जिसके पास सोना हो, उसको भी नशा हो जाता है। इसीलिए कनक धतूरा और सोना दोनोंके अर्थमें प्रयुक्त होता है।

यहाँ श्रीदातार शास्त्रीजी बैठे हैं, जो भागवतके बहुत बड़े विद्वान् हैं। मैं तो बचपनसे ही इनको जानता हूँ। मैं जब बारह-तेरह बरसका था, तब साङ्गवेद विद्यालयमें श्रीलक्ष्मण शास्त्रीजी महाराज इनको गणेश-चतुर्थीपर कथाके लिए बुलाते थे। वे और पण्डितोंको भी बुलाते थे। जब हमारे गुरु पण्डित श्रीरामभवनजी उपाध्यायको बुलाते तो मैं भी उनके साथ लगा-लगा चला जाता और कथा सुनता। उन्होंने 'न खलु गोपिकानन्दनो भवानखिलदेहिना-मन्तरात्मदृक्'—इस श्लोकका बारह-तेरह प्रकारसे व्याख्यान किया है। उनके सारे भाव मैंने ले लिये हैं।

तो, गोपियाँ कहती हैं कि 'विरचिताभयं वृष्णिधुर्य ते' (५)—जो तुम्हारे चरणोंमें आते हैं, उनको तुम अभय-दान करते हो। हे कान्त, आपका जो श्रीकरग्रह है, कामद कर-कमल है, उसको हमारे सिरपर धारण करो! तुम सम्पूर्ण व्रजवासियोंकी पीड़ा दूर करनेवाले हो। यदि कहो कि हमें अभिमान हो गया है तो उसे दूर करनेके लिए तुमने एक बार मुस्कुराकर देख क्यों नहीं लिया? हम तो तुम्हारी दासी हैं, सेविका हैं। विलम्ब मत करो, अपने मुखारविन्दका एक बार दर्शन करा दो।

यदि तुम पूछो कि हम चाहती क्या हैं तो सुनो, तुम एक बार अपने चरण-कमलोंको हमारे वक्षस्थलपर रख दो—'प्रणतदेहिनां पापकर्शनम्' (७)। यदि कहो कि तुम अनधिकारिणी हो, हमारा चरणारविन्द रखने योग्य तुम्हारा वक्षस्थल नहीं है, गाँवकी गँवारिन हो, आचार-हीन हो, ज्ञानहीन हो, जातिहीन हो—हटो, हटो, हम नहीं छूते तुमको तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि 'व्रजजनार्तिहन्' (६), प्रणतदेहिनां पापकर्शनम्' (७)—जो तुम्हारे चरणोंमें प्रणाम कर देता है, उसके पाप कृश हो जाते हैं।

श्रीकृष्ण बोले कि नहीं सखियो, तुम लोग पापिनी तो नहीं हो। गोपियाँ बोली कि तब फिर हम क्या हैं? क्या हमारा वक्षस्थल बड़ा कठोर है? अरे, जब तुम गायोंके पीछे-पीछे घूमते हो तो क्या वहाँ तुम्हारे चरण नहीं दुखते? श्रीकृष्णने पूछा कि तब क्या हमारे चरणकमल

कठोर हैं? गोपियाँ बोलीं कि नहीं, नहीं—'श्रीनिकेतनम्' (७)—उनमें तो लक्ष्मीजी रहती हैं। इसीलिए हम उनको ऐसी जगहपर नहीं रखना चाहतीं। यदि कहो कि हमारे मनमें कामनाका विष है तो जिस प्रकार तुमने 'फणिफणार्पितम् (७)—कालिय नागके सिरपर चरण रखकर उसके विषको दूर कर दिया, उसी प्रकार 'कृणु कुचेषु नः कृन्धि हृच्छयम्' (७)—अपने चरणारविन्दोंको हमारे वक्षस्थलपर रखकर हमारे मनके हृच्छयको—कामको काट दो!

देखो, हृच्छय क्या है? 'हृदि शेते इति हृच्छयः कामः' जो हृदयमें शयन करे, उसका नाम हृच्छय है, काम है।

श्रीकृष्णने कहा कि गोपियो, और क्या-क्या चाहती हो? अच्छा, तुम, यही चाहती हो न कि हम तुम्हारे सिरपर हाथ रख दें। तुम अपनी आँखें बन्द कर लो। हम तुम्हारे सिरपर हाथ रख देते हैं। गोपियाँ बोलीं कि नहीं, हमको तो तुम्हारे मुखारविन्दका दर्शन चाहिए। श्रीकृष्ण बोले कि अच्छा, पंक्तिबद्ध होकर खड़ी हो जाओ, मैं तुम्हारे सामनेसे निकल जाता हूँ और तुम लोग मुझे देख लो। गोपियोंने कहा—नहीं, कृष्ण, हमें तो हमारे वक्षस्थलपर तुम्हारे चरणारविन्द चाहिए।

श्रीवल्लभाचार्यजी महाराज ऐसी व्याख्या करते हैं कि गोपियाँ बन्धविधिसे चरणारविन्द चाहती थीं।

श्रीकृष्ण बोले कि अच्छा गोपियो, तुम जाओ सब-की-सब धरतीपर लेट जाओ और हम तुम्हारे ऊपरसे चरण रखते हुए निकल जाते हैं। गोपियाँ बोलीं कि नहीं, ऐसे भी नहीं। श्रीकृष्णने पूछा—तब कैसे? गोपियोंने कहा—ऐसे कि 'वीर मुह्यतीरधरसीधुनाऽऽप्याययस्व नः' (८)—तुम्हारा जो अधरामृत है, 'अधरसीधु' है—'शेरते जना अनेन इति सीधु', उससे हमको तृप्त कर दो।

'मधुरया गिरा वल्गुवाक्यया' (८)—प्यारे, कैसी मधुर तुम्हारी वाणी है! उसमें पद, वाक्य आदिकी ऐसी रचना है और उसके ऐसे मञ्जुल विद्वद्-भोग्य अर्थ हैं कि हम उसका श्रवण करके तुम्हारी आज्ञाकारिणी हो गयी हैं। 'अधरसीधुनाऽऽप्याययस्व नः'का अर्थ यह है कि हमको तुम्हारी वाणीका थोड़ा रस नहीं चाहिए। उसको पूरा-पूरा भरकर दो। श्रीकृष्ण बोले कि गोपियो, जब तुम्हारी यह दशा है तो तुम अबतक जीवित कैसे रही हो? गोपियाँ बोलीं कि यह भी कोई पूछनेकी बात है? 'तव कथामृतं तप्तजीवनम्' (९)—तुम्हारी कथाका जो अमृत अबतक मिलता रहा, उसीसे हम जीवित रही हैं।

लेकिन प्यारे, तुम्हारी कथाका अमृत पिलानेवालोंने हमको ठग लिया, नहीं तो तुम्हारे विरहमें तो हम अबतक मर ही जातीं! तुम्हारी कथाका अमृत स्वर्गके अमृतसे विलक्षण है।

स्वर्गका अमृत तो अमरोंको, अमीर-उमरावोंको मिलता है, परन्तु तुम्हारा कथामृत केवल बड़े लोगोंके लिए नहीं है, यह तो 'तप्तजीवनं'—त्रिविध तापसे संतप्त प्राणियोंका जीवन है। 'तप्तान् जीवयति इति तप्तजीवनम्'—यह तप्त पुरुषोंको जीवन-दान करनेवाला है। लेकिन तुम्हारा कथामृत केवल तप्त पुरुषोंको नहीं मिलेगा, यह तो उनको मिलेगा, जो विरह-ताप तप्त हैं। यह उन्हींके लिए जीवन है।

यहाँ 'तप्तजीवनम्'का अर्थ—विरह-तप्त-जीवनम् अर्थात् विरह-तापसे संतप्त प्राणियोंका जीवन ही है।

गोपियाँ कहती हैं कि 'कविभिरीडितं कल्मषापहम्'—स्वर्गका जो अमृत है, उसकी विद्वान् लोग निन्दा करते हैं। उसको पीकर आदमीके मनमें वासनाका उदय होता है, किन्तु तुम्हारा जो चरितामृत है यह तो समस्त कल्मषोंका नाशक है।

देखो, गोस्वामी तुलसीदासजी भी कहते हैं कि 'जीवन्मुक्त ब्रह्मपर चरित सुनहिं तजि ध्यान'। शुकदेवजी महाराजने भी छाती ठोंककर कह दिया है कि हम किसीसे डरते नहीं, हमारा यह स्पष्ट मत है—

परिनिष्ठितोऽपि नैर्गुण्य उत्तमश्लोकवार्तया। गृहीतचेता राजर्षे आख्यानं यदधीतवान् ॥

परीक्षित, हमारी निष्ठा निर्गुणमें है—'परिनिष्ठितोऽपि नैर्गुण्ये।' निष्ठा भी ऐसी कि अन्तःकरण चाहे जहाँ चला जाये, बुद्धि चाहे जहाँ चली जाये, शरीर चाहे जहाँ चला जाये। हम जानते हैं कि इनकी कोई सत्ता ही नहीं है। किन्तु 'उत्तमश्लोकवार्तया गृहीतचेताः'—हमारा जो छोड़ा हुआ चित्त था, उसको पकड़कर यह भगवान्‌की कथा ले गयी।

प्रायेण मुनयो राजन् निवृत्ता विधिषेधतः। नैर्गुण्यस्था रमन्ते स्म गुणानुकथने हरेः ॥

इसीलिए हम कहते हैं कि हमारे अन्दर कोई गुण नहीं है। तब क्या है महाराज? यही कि हम तो भगवान्‌के गुणमें रमते हैं। जब भगवान्‌के गुण मुफ्तमें मिल गये तो अपने अन्दर गुण-धारणका प्रयास कौन करे? छोड़ दो इसको।

गोपियाँ कहती हैं—'कविभिरीडितम्'—जीवन्मुक्त लोग भगवत्कथाकी प्रशंसा करते हैं। वे कहते हैं—'को निर्वृतो हरिकथासु रतिं न कुर्यात्'—ऐसा कौन साधु पुरुष है, जो भगवत्कथासे रति न करे?

भगवत्कथाकी कुछ और विशेषताएँ सुनो। यदि स्वर्गका अमृत पीओगे तो कभी-न-कभी पुण्यका नाश होगा। जो स्वर्गमें सुख भोगता है, वह अन्ततोगत्वा पुण्य-क्षीण हो जानेपर मृत्यु-

लोकमें आ गिरता है—'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति' (गीता ९.२१)। किन्तु भगवत्कथामृतका पान करनेपर पुण्य-क्षय नहीं होता। क्योंकि वह 'कल्मषापहम्' है, इससे पाप-क्षय होता है। सीधी-सी बात है कि स्वर्गका अमृत पीओगे तो पुण्य-क्षय होगा और कथामृतका सेवन करोगे तो पाप-क्षय होगा। इससे यहाँ रहनेको भी मिलेगा, खानेको भी मिलेगा, पीनेको भी मिलेगा और गरीबी भी दूर हो जायेगी, ऐसा है—कथामृतम्—कल्मषापहम्।

भगवत्कथा परा विद्या है, श्रवणमात्रसे कल्याण करनेवाली है। योग करोगे, अनुष्ठान करोगे, यज्ञ-यागादि करोगे, प्रणीता-प्रोक्षणी इकट्ठी करोगे, कुश लाओगे, वेदी बनाओगे, ब्राह्मण बुलाओगे और इतनेपर भी अगर कोई मन्त्र, स्वर अथवा वर्णसे गलत हो गया तो तुम्हें दण्ड-भागी होना पड़ेगा। यह कितने आश्चर्यकी बात है कि गलती करे पुरोहित और दण्ड भोगे यजमान! पर यहाँ तो भगवत्कथा श्रवण मात्रसे ही मङ्गल करती है। यदि तुमको बोलना होता, तब भी बात दूसरी थी, यहाँ तो केवल सुनो! स्वर्गका अमृत पीकर तो लोग मतवाले होते हैं, किन्तु इस भगवत्कथामृतसे शान्ति मिलती है।

भगवत्कथा सब जगह प्राप्य है, किन्तु स्वर्गका अमृत सबके लिए प्राप्य नहीं है। एक बार विष्णु भगवान्के वाहन परम वैष्णव गरुड़को उसकी जरूरत पड़ी तो उसके लिए उनको बड़ा भारी युद्ध करना पड़ा। किन्तु यह कथामृत तो चाहे जहाँ ले लो। स्वर्गका अमृत मरनेके बाद मिलता है, यह यहीं इसी पृथिवीपर सुलभ है।

'भुवि गृणन्ति ते भूरिदा जनाः'—इस विश्वमें सबसे बड़े दाता कौन हैं? वही हैं, जो भगवत्कथाका गान करते हैं। वही 'भूरिदा जनाः' हैं, भूरि-भूरि दान करनेवाले हैं।

श्रीदातार शास्त्रीजीने इसकी एक दूसरे ढंगसे व्याख्या की है। श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती आदिने भी की है। श्रीउड़ियाबाबाजी महाराज तो 'तव कथामृतम्'का अर्थ करते थे कि यह कथा नहीं है, यह तो मृत्यु है। जो सुनेगा, वह दुनियाकी ओरसे मर जायेगा। इसके चक्करमें फँसनेपर सब छूट-छाट जायेगा। कैसा है यह? मृत्यु कैसी है? बोले कि 'तप्तं जीवनं यस्मात्'—रोंआ-रोंआ भगवान्के लिए तपने लगा, सारा जीवन तप गया। बोले कि कवियोंने इसकी बड़ी प्रशंसा की है—'कविभिरीडितम्'। इसकी बड़ी महिमा है, क्योंकि यह 'कल्मषापहम्'—यह पापका नाश करता है। 'श्रवणमङ्गलम्'—यह सुननेमें बड़ा मङ्गल है और 'श्रीमदाततम्'—धनियोंने पैसा दे-देकर इसका विस्तार कराया है।

'गृणन्ति ते भूरिदा जनाः भूरि घ्नन्ति इति भूरिदाः'। देखो, कई लोग इसको सुनाते समय सब कुछ काट-पीट देते हैं। लेकिन यह भी एक प्रशंसाकी रीति है। निन्दा नहीं, निन्दाके रूपमें बड़ी भारी प्रशंसा है।

गोपियाँ कहती हैं—श्यामसुन्दर, एक दिन वह था जब तुम्हारी हँसी, तुम्हारी प्रेमपूर्ण चितवन, तुम्हारा ध्यान, तुम्हारा मङ्गल विहार—इन सबका ध्यान करके हम ध्यानमग्न हो जाती थीं। उसके बाद तुम मिले और तुमने एकान्तमें मीठी-मीठी, हृदयस्पर्शी बातें कीं। 'कुहक नो मनः' (१०)—अरे ओ कपटी मित्र, आज वे बातें याद आ-आकर हमारे मनको क्षुब्ध करती हैं। जब तुम रास्तेमें चलते हो, तब कहीं तुम्हारे पैरोंमें शिल-तृण-अङ्कुर न गड़ जाँय, इसके लिए 'कलिलतां मनः' (११)—हमारे मनमें बेचैनी होने लगती है।

देखो, 'कान्त गच्छति'—इस पदमें जो कान्त शब्द है, उसका अर्थ कमनीय होता है, प्यारा होता है, लेकिन साथ-ही-साथ अन्तक भी होता है, यमराज भी होता है—जो मारनेके लिए तैयार है। जिनके नामके अन्तमें क हो वे सभी कान्त हो गये।

गोपियाँ कहती हैं—'कान्त गच्छति'—अरे कान्त, जब तुम सायंकाल गायोंको चराकर लौटते हो और तुम्हारे बालोंपर धूल पड़ी होती है तो देखकर हमारे हृदयमें और भी स्मरका जागरण होता है।

देखो, संसारके लिए काम-जागरण दूसरी चीज है और ईश्वरके लिए काम-जागरण दूसरी चीज है। ईश्वरके लिए जो काम-जागरण है, वह तो संसारके काम जागरणको मिटा देता है।

प्रणतकामदं पद्मजार्चितं धरणिमण्डनं ध्येयमापदि। १३

प्यारे तुम्हारे 'शन्त' चरण कमल प्रणतजनोंकी अभिलाषा पूर्ण कर देते हैं। लक्ष्मीजी, ब्रह्माजी उनकी पूजा करते हैं और वे धरणिके मण्डन हैं, आपत्तिकालमें ध्येय हैं। उन्हींको हमारे वक्षस्थलपर रख दो।

'वितर वीर नस्तेऽधरामृतम्' (१४)—हे वीर, तुम्हारा अधरामृत, जो सुरत-सुखको बढ़ानेवाल है, शोकको नष्ट करनेवाला है, स्वरित वेणुसे सुष्ठु चुम्बित है और इतर रागका विस्मरण करानेवाला है, वह हमको दे दो।

देखो, 'अधरामृतं-यद् धरामृतम् न भवति तद् अधरामृतम्'—यह अधरामृत धरतीका अमृत नहीं है, अलौकिक है, अप्राकृत है, भगवन्मय है, इसीलिए इसको अधरामृत बोलते हैं अथवा 'अधरम् अमृतं यस्मात्'—अमृत भी जिससे नीचा है, छोटा है, उसको अधरामृत बोलते हैं।

प्यारे, तुम जब घूमनेके लिए चले जाते हो तब तुम्हारे दर्शनके बिना एक-एक त्रुटि, एक-एक क्षण चतुर्युगके समान हो जाता है। तुम्हारे श्रीमुखपर जो बाँके-बाँके, टेढ़े-टेढ़े घुँघराले

बाल हैं, अलकावली हैं उनको देखते समय जब पलकें गिरने लगती हैं तो बस यही मनमें आता है कि ब्रह्माने न जाने क्यों हमारी पलकोंको गिरनेवाली बना दिया। 'जड उदीक्षतां पक्ष्मकृद् दृशाम् (१५)—उद्वीक्षतां जनानां दृशाम् पक्ष्मकृद् जड इति'—देखनेवाली आँखोंमें गिरनेवाली पलकें बना देना ब्रह्माकी जड़ता ही है। उनको पता नहीं कि जब सामने पलक आजायेगी तो देखनेवालेको कितना दुःख होगा!

हे अच्युत! हम अपने पति, पुत्र, वंश, भाई, बन्धु सबको छोड़कर तुम्हारे पास आयी हैं। तुम हमारी गतिको जानते हो और हम तुम्हारे उद्गानसे मोहित हैं। 'कितव योषितः कस्त्यजेन्निशि' (१६)—फिर अरे ओ कितव! अरे ओ कपटी! तुम्हीं बताओ कि इतनी रात्रिके समय इस तरहसे स्त्रियोंको छोड़ना क्या किसी भलेमानुषका काम है?

देखो, जब हम शब्दोंपर विचार करते हैं, तो कई शब्द ऐसे भी मिलते हैं, जो संज्ञा भी होते हैं, वाचक पद भी होते हैं और वाक्य भी होते हैं—जैसे'किंशुकः'। यह परागवाची शब्द है, किन्तु इसका यह भी अर्थ है कि क्या यह शुक है? जब यह 'क्या यह शुक है' के अर्थमें होता है तब वाक्य है। इसी प्रकार यहाँ जो 'कितव' शब्द है, उसको देखो। ऐसे समझो कि किसीने किसीसे कहा—जरा अपनी छड़ी देना तो! जब छड़ीवालेने छड़ी दे दो तब उसको देख लिया और लेकर चलता बना। इसपर छड़ीवालेने कहा कि अरे भाई, छड़ी तो देते जाओ। वह बोला कि 'किं तव'—क्या यह तुम्हारी है? अरे, यह तो हमारी है! वह जो किंतव' बोला, उसीमें-से 'कितव' शब्द निकल आया। 'कितव' शब्दकी व्युत्पत्ति यही है कि जो छलिया लोग होते हैं, वे ऐसे ही बोलते हैं। यह संज्ञा भी है और वाक्य भी है।

'कितव योषितः कस्त्यजेन्निशि'—गोपियाँ कहती हैं कि अरे, यह कितव है, जो हमको छोड़कर चला गया। यह एकान्तमें बड़ी मीठी-मीठी बातें करता है। इसके मुखारविन्दकी हँसी, प्रेमपूर्ण चितवन और विशाल वक्षस्थल देखकर 'अतिस्पृहा मुह्यते मनः' (१७)—बड़ी स्पृहा होती है और मन मोहित हो जाता है।

कोई-कोई 'अतिस्पृहा'को तृतीयान्त रूप मानते हैं। स्पृह् शब्दका तृतीयान्त रूप है स्पृहा।

गोपियाँ कहती हैं—अत्यन्त स्पृहाके कारण हमारा मन मोहित हो रहा है। तुम सारे व्रजको, व्रजवासियोंको आनन्द देनेके लिए आये हो। विश्व-मङ्गल हो, इसलिए थोड़ा हमारे लिए भी दान कर दो। 'त्यज मनाक् च नः (१८)—मनाक् किमपि त्यज मुञ्च कार्पण्यं अकृत्वा

देहि'—बस थोड़ा-सा, केवल थोड़ा-सा हमको दे दो; क्योंकि तुम्हारी स्पृहा ही, तुम्हारी चाह ही हमारी आत्मा है।

यहाँ मानो श्रीकृष्णने पूछा कि क्या दें गोपियो? इसपर गोपियोंने कहा कि वही दो, जिससे हमारे हृदयका रोग मिट जाय।

यह सब कहती-कहती अन्तमें गोपियाँ रो पड़ीं। प्रेम-रहस्यके जाननेवाले विद्वान् कहते हैं कि गोपियोंके चित्तमें महाभावकी स्थिति प्रकट हो गयी। प्रेममें रति स्थायीभाव हो गया। प्रणय, स्नेह, मान और अन्य अनेक जो अवस्थाएँ होती हैं, जैसे—राग, अनुराग, भाव, महाभाव, अधिरूढ़ महाभाव, मोदन, मादन आदि वे सब गोपियोंमें मूर्तिमान् हो गये।

अन्तमें गोपियाँ कहती हैं कि प्यारे! जब हम तुम्हारे चरणकमलोंको अपने वक्षस्थलपर रखती हैं तो यह सोचती हैं कि इनको रखनेसे तुमको आनन्द आयेगा, हमको भी आनन्द आयेगा, परन्तु फिर हमें ख्याल आता है कि हमारा वक्षस्थल तो कठोर है और तुम्हारे चरणारविन्द बड़े कोमल हैं, इसलिए कहीं तुम्हें चोट न लग जाय। हमें अपने कर्कश वक्षस्थलपर तुम्हारा कोमल चरणारविन्द रखते समय डर लगता है। किन्तु तुम इन्हीं चरणोंसे रात्रिके समय जङ्गलमें भटक रहे हो। कहीं उनमें कोई काँटा न लग जाय, कुश न लग जाय, कङ्कड़ न लग जाय। 'कूर्पादिभिर्भ्रमति धीर्भवदायुषां नः' (१९)—हमारी बुद्धि चकरा रही है। तुम्हारे सिवाय हमारा और कोई है नहीं। तुम्हीं हमारी आयु हो, तुम्हीं हमारे जीवन हो और तुम्हारे लिए ही हमारी बुद्धि इधर-उधर भटक रही है।



इस तरह श्रीकृष्ण-भावापन्न गोपियोंने पहले तो अन्धकारमें ढूँढ़ना छोड़ दिया—इस आशङ्कासे कि वे उनको ज्यों-ज्यों ढूँढ़ेंगी, त्यों-त्यों वे छिपेंगे और उनको कष्ट होगा। उसके बाद कहने लगीं कि आप वनमें घूमते होंगे, यह सोचकर हमारी बुद्धि भ्रान्त हो रही है। अब गोपियाँ गाने लगीं, प्रलाप करने लगीं और उच्च स्वरसे रोने लगीं। व्रजवासीको गाना और नाचना सीखना नहीं पड़ता। वह जन्मसे ही सङ्गीत और नृत्य लेकर पैदा होता है। यह व्रजवासीका स्वभाव है। असलमें नृत्य और गीत कोई कला नहीं है। सांस्कृतिक कार्यक्रमोंमें लोग इतना सिखाते हैं तब भी नाचना नहीं आता। संगीत-नृत्य तो प्रेम है। जिसके हृदयमें प्रेम होता है, उसके पाँव एक-एक तालपर अपने आप थिरक उठते हैं और उसकी वाणी भी सङ्गीतमयी निकलती है। स्वर-ताल सीखनेसे नहीं आते। यह तो एक प्रकारका अभ्यास है।

रुरुदुः सुस्वरं राजन् कृष्णदर्शनलालसाः। १

श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि परीक्षित ! गोपियोंके रोदनमें भी सुस्वर है। वास्तवमें श्रीकृष्ण दर्शनकी लालसा ही मूर्त होकर गोपियोंके रूपमें स्थित है। श्रीकृष्णने सोचा कि गोपियाँ रोने लग गयी हैं, इसलिए अब प्रकट हो जाना चाहिए—'तासामाविरभूच्छौरिः'। (२)

यहाँ श्रीशुकदेवजी महाराजने 'शौरि' शब्दका प्रयोग करके कहा कि श्रीकृष्ण ! तुम बड़े कठोर हो, शूरवंशमें उत्पन्न हुए हो, इसलिए गोपियोंको इतना सताते हो। इस प्रकार जब श्रीशुकदेवजीने एक उलाहना दिया, तब श्रीकृष्णने अपनेको छिपानेके लिए किसी गोपीकी जो ओढ़नी ओढ़ रखी थी, उसको झट उतारकर एक तरफ डाल दिया और प्रकट हो गये।

अरे, इनको तो अन्तर्धान होना भी नहीं आता, वह विद्या ही नहीं आती। ये तो सीधे-सादे गाँवके ग्वाले हैं, हम लोगोंके अपने हैं। जिन लोगोंने इनको ईश्वर बना रखा है, वे ही तरह-तरहकी बात इनके बारेमें करते हैं। हमारे भोले-भाले लालाने हँसी-हँसीमें एक गोपीकी ओढ़नी लेकर अपने ऊपर डाल ली थी। वह न अन्तर्धान होकर कहीं गया था और न किसीको लेकर गया था—'आविरभूत् तासाम्'। यह न जमुना-किनारेसे आया, न तो पेड़परसे उतरा,

न पहाड़परसे नीचे आया और न गुफामें-से निकला। 'आविरभूत् तत्रैव'—वहीं उसका आविर्भाव हो गया। यदि उसने कोई गलती की होती तो उसके चेहरेपर उदासी होती।

यहाँ तो वह विहँसकर बोला कि अरी गोपियो! तुम तो रोज-रोज न जाने कितनी वामता करती हो और मुझको सताती हो। आज मैंने तुम लोगोंको जरा-सा बाँकापन दिखा दिया तो हाय-हाय करके हाथ जोड़ने लगीं। देखो, प्रतिज्ञा करो, आजसे कोई हमारे सामने ना-नू नहीं करोगी, जैसे मैं कहूँ, वैसे ही तुम्हें बोलना होगा। तुमने रो-रोकर बता दिया कि तुम्हारे मनमें क्या है। तुम्हे चाहिए अधरामृत, वक्षस्थलपर चरणारविन्द! वह सब लेकर मैं आया हूँ।

यहाँ देखो, अबतक गोपियोंके मुखमें स्मयमान था, किन्तु अब तो भगवान्‌के मुखाम्बुजमें स्मयमान आगया—'स्मयमानमुखाम्बुजः पीताम्बरधरः स्रग्वी साक्षान्मन्मथमन्मथः'। (२)

यहाँ 'पीताम्बरः स्रग्वी' बहुव्रीहिसे ही निर्वाह हो जाता, लेकिन बीचमें 'धरः' घुस आया। इसका अर्थ महापुरुष लोग इस प्रकार करते हैं कि भगवान् श्रीकृष्णने अपने पीताम्बरको हाथमें धारण किया—'पीताम्बरधरः'। जैसे कोई ऋणी व्यक्ति अपने ऋणदाताके सम्मुख जाता है, कहता कि हमको क्षमा करो, हम तुम्हारा कर्ज नहीं चुका सके, वैसे ही श्रीकृष्ण हाथमें दुपट्टा धारण करके गोपियोंके सामने आये। उन्होंने अपने हाथोंको बाँधकर कहा कि मुझसे गलती हो गयी, मैं तुमको छोड़कर चला गया।

यहाँ ध्यान दो—एक महात्माने कहा कि पीताम्बरः नहीं आये, पीताम्बरधरः आये—'पीताम्बरं धरतीति पीताम्बरधरः'। दूसरे महात्माने कहा कि जिस समय उन्होंने गोपियोंको देखा, उनको अपने वस्त्रकी सुधि नहीं रही। 'पीताम्बरं धरायां यस्य'—उनका पीताम्बर गिर पड़ा धरतीपर। वे गतोत्तरीय हो गये। तीसरे महात्माने कहा कि जब श्रीकृष्ण एकान्तमें श्रीराधारानीको लेकर चले गये थे तब वहाँ उनका वस्त्र बदल गया। 'पीताया पीतवर्णाया राधाया अम्बरं धरति इति'—ये राधारानीका कपड़ा पहनकर आगये हैं अथवा 'पीतायाः पुनः पुनः पीतायाः परिपीतायाः'—जिनके अधरामृतका पान बारम्बार किया गया है, उनका वस्त्र लेकर आये हैं।

'साक्षान्मन्मथमन्मथः'—अबतक मन्मथ यह सोचता था कि वह भगवान्‌से लड़ेगा, लेकिन अब तो उनको देखकर स्वयं उसका ही मन मथ रहा है। 'मन्मथस्यापि मनो मथ्नाति इति'—जो दूसरोंके मनको मथे, उसका नाम मन्मथ होता है। 'मनांसि मथ्नाति इति। मन्मथस्यापि मनो मथ्नाति इति'—मन्मथका भी मन व्याकुल था कि मैं गोपी नहीं हुआ, व्रजकी कोई ग्वालिनी नहीं हुआ, नहीं तो आज मेरी कामनाकी पूर्ति भी हो जाती। बड़ी पीड़ा हुई

मन्मथको कि मैं पुरुष क्यों हो गया ? देवता क्यों हो गया ? मैं भी व्रजकी ग्वालिन होता तो मेरा मनोरथ पूर्ण हो जाता।

अब श्रीकृष्णको देखते ही सब-की-सब गोपियाँ उठकर खड़ी हो गयीं। जैसे उनके शरीरमें प्राण आगया हो।

पद्मपुराणमें प्रसंगवश आठ गोपियोंका वर्णन किया हुआ है। विष्णुपुराणमें भी आठ हैं। किन्तु यहाँ सात हैं। गोपियोंके नाम तो नहीं हैं, परन्तु उनकी क्रियासे महापुरुषोंने यहाँ नाम निकाला है।

काचित् कराम्बुजं शौरेर्जगृहेऽञ्जलिनामुदा। ४

एक गोपीने श्रीकृष्णका हाथ पकड़ लिया, दूसरी गोपीने उनकी बाहोंको अपने कन्धेपर रख लिया, तीसरी गोपीने उनका ताम्बूलचर्वित ले लिया, चौथी गोपीने उनके चरणको अपने वक्षस्थल पर रख लिया। किन्तु पाँचवीं गोपी ऐसी है—'एका भ्रुकुटिमाबध्य' (६)—जो दूर खड़ी है और अपनी भौंहे टेढ़ी करके प्रेमसे देख रही है, वह अपने होंठ दबा रही है और मानों कटाक्षसे प्रहार करना चाहती है। महात्माओंने बताया कि यही राधारानी हैं। छठीं गोपी मन-ही-मन ध्यान कर रही है और सातवीं समाधि लगाकर बैठ गयी है।

इस प्रकार सब गोपियोंको बड़ा भारी आनन्द हुआ, उनके पास भगवान्की शोभा हुई। यमुनाजीने अपने हाथोंसे बालुका बिछायी। उधर आकाशमें चाँदनी छिटकी। सबके सारे मनोरथ पूरे हो गये। गोपियोंने भगवान्के लिए अपनी ओढ़नी बिछायी। 'योगेश्वरान्तर्हृदि कल्पितासनः' (१४)—बड़े-बड़े योगेश्वर भगवान्के आसनकी कल्पना अपने हृदयमें करते हैं, पर वहाँ तो बैठे दिखते नहीं और यहाँ गोपियोंकी पुरानी ओढ़नीपर विराजमान हो गये। ओढ़नी भी ऐसी, जिसमें वक्षस्थलका कुङ्कुम लगा है, आँसू लगा है, कभी मुँहका लार भी लग गया है। सारी पवित्रताका ध्यान एक तरफ हो गया और श्रीकृष्णके लिए एकपर दूसरी ओढ़नियाँ बिछ गयीं।

अब जब श्रीकृष्ण बैठ गये तो किसी गोपीने हाथ पकड़ा, किसीने पांव पकड़ा और फिर थोड़ा गुस्सा भी हुई—'ईषत्कुपिता' (१५)। जो अपना हो, उसके ऊपर थोड़ा क्रोध आदि किया जाये तो उसमें ममता ही प्रकट होती है।

गोपियोंने कहा कि अब तुम हमारे प्रश्नोंका उत्तर दो। यह व्रजभूमि है तो क्या हुआ. परन्तु आज काशीका सा शास्त्रार्थ हमारे-तुम्हारे मध्य होगा।

आप गोपियोंके प्रश्नोंपर ध्यान दें। वे पूछती हैं कि कुछ लोग ऐसे होते हैं, जो प्रेम करनेवालेसे प्रेम करते हैं। कुछ ऐसे होते हैं, जो प्रेम न करनेवालेसे भी प्रेम करते हैं। कोई-कोई ऐसे होते हैं, जो दोनोंसे प्रेम नहीं करते—न तो प्रेम करनेवालेसे और न प्रेम न करनेवालेसे। अब बताओ प्यारे, इनमें-से अच्छा कौन है ?

भगवान् श्रीकृष्ण उत्तर देने लगे। 'मिथो भजन्ति ये सख्यः' (१७)—जो प्रेम करनेपर प्रेम करते हैं, वे तो संसारी हैं। प्रेम करनेवालेसे प्रेम करना स्वार्थ है—'स्वार्थैकान्तोद्यमा हि ते'। (१७) उसमें न सौहार्द है, न धर्म है, वह तो केवल स्वार्थ है।

जो प्रेम न करनेपर भी प्रेम करते हैं, उनके सम्बन्धमें दो ही दृष्टान्त दिये जा सकते हैं। 'करुणाः पितरो यथा' (१८)—'यथा करुणाः सन्तः यथा च पितरः'—जैसे सत्पुरुष और जैसे माता-पिता। इनमें निरपवाद धर्म और सौहार्द है।

जो प्रेम करनेवालेसे भी प्रेम नहीं करते, वे प्रेम न करनेवालेसे तो कहाँसे करेंगे ? ऐसे लोग चार तरहके होते हैं—एक तो वे, जो आत्माराम हैं, अपने आपमें मग्न रहते हैं। दूसरे वे, जिनकी समाधि लग गयी है, जो आप्तकाम हो गये हैं, कृतकृत्य हो गये है और जिनको भगवत्-प्राप्तिके द्वारा परमात्माका साक्षात्कार हो गया है। तीसरे वे, जो अकृतज्ञ होते हैं, यह जानते ही नहीं कि हमारा उपकार किसने किया है, पागल हैं।

चौथे वे, जो गुरुद्रुहः हैं। यहाँ 'गुरुद्रुहः' शब्दका अर्थ गुरुद्रोही नहीं है। 'गुरु यथास्यात् द्रुहयन्ति'—जो भयंकर तथा अपराधी हैं, उनके लिए यह पद आया हुआ है। तो जो गुरुद्रुह् हैं, भयंकर अपराधी हैं, वे लोग भी प्रेम करनेवालेसे प्रेम नहीं करते।

अब गोपियोंने आपसमें कहा कि अरी सखियो ! देखो, क्या ये आत्माराम हैं ? नहीं, ये तो राधाराम भले हों, व्रजाराम भले हों, कुब्जाराम भलें हों, किन्तु आत्माराम कहाँ हैं ? क्या ये आप्तकाम हैं ? नहीं, आप्तकाम भी नहीं, ये तो गोपीकाम हैं। क्या ये अकृतज्ञ हैं ? यह तो मालूम नहीं है ? क्योंकि इनसे तो सब प्रेम करते हैं। तब यह कौन हैं ? बस, चौथे हो सकते हैं। यह जान-कर भी कि हम लोग इनसे इतना प्रेम करती हैं, ये गुरुद्रुह् हैं, हमसे भयंकर द्रोह करते हैं। इसलिए ये तो चौथे कोटिके ही हैं।

श्रीकृष्ण बोले कि नहीं, नहीं, गोपियो ! फैसला करनेके पहले हमारी बात सुनो—

नाहं तु सख्यो भजतोऽपि जन्तून् भजाम्यमीषामनुवृत्तिवृत्तये।
यथाधनो लब्धधने विनष्टे तच्चिन्तयान्यन्निभृतो न वेद ॥ २०

मैं प्रेम करनेवालोंसे भी प्रेम नहीं करता। परन्तु इसलिए प्रेम नहीं करता कि उनका प्रेम हमारी ओर अधिक-से-अधिक खिंचे। जैसे किसी गरीबको धनकी प्राप्ति हो जाय। पहले उसे धनके लिए व्याकुलता नहीं थी। परन्तु जब धन प्राप्त होकर खो जाता है तब उसे ऐसी चिन्ता लगती है कि दूसरेका कुछ पता ही नहीं चलता।

देखो, गोपियो! मैं अकृतज्ञ बिल्कुल नहीं हूँ। 'मदर्थोज्झितलोकवेदस्वानाम्' (२१)—मैं जानता हूँ कि तुमने मेरे लिए, मेरी सेवाके लिए लोक-वेद-स्व सबका परित्याग कर दिया है। इसलिए मैं भी मन-ही-मन छिपकर तुम लोगोंकी सेवा करता हूँ। मैं तुम्हारा प्यारा हूँ और तुम हमारी प्यारी हो। हमारे प्रेममें दोष मत बताओ—'तत् प्रियं प्रियाः' । (२१)

तुम्हारा यह कहना भी ठीक नहीं कि मैं गुरुद्रुह् हूँ—

न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः।
या माभजन् दुर्जरगेहशृङ्खलाः संवृश्च्य तद् वः प्रतियातु साधुना ॥ ३३

अरी गोपियो, तुमने मुझसे ऐसा निश्छल, निष्कपट प्रेम किया है कि यदि मैं ब्रह्माकी आयुसे भी तुमलोगोंका बदला चुकाकर उद्धार पाना चाहूँ तो भी पार नहीं पा सकता, क्योंकि तुमने हमारे लिए घर छोड़ा है तथा जितने बन्धन थे, उन सबको छोड़ दिया है। तुम तो साधु हो और अपने शील-स्वभावसे ही हमें उऋण कर सकती हो।



श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि भगवान्‌की यह सुपेशल वाणी—जिसका एक-एक अवयव, एक-एक शब्द-विन्यास बड़ा मधुर है, सुन्दर है—सुनकर गोपियाँ विरह-ताप-मुक्त हो गयीं और श्रीकृष्णके शरीर-संगसे उनकी सारी आशाएँ पूरी हुईं।

यह सब होनेके पहले अगर भगवान् रास कर देते तब लोग कहते कि देखो कितनी उतावली थी, कितनी कामना थी, न गोपियोंके दिलकी बात प्रकट हुई और न उनके अपने दिलकी बात प्रकट हुई। किन्तु यहाँ गोपियोंका हृदय भी प्रकट हो गया और भगवान्‌का हृदय भी प्रकट हो गया।

तत्रारभत गोविन्दो रासक्रीडामनुव्रतैः।
स्त्रीरत्नैरन्वितः प्रीतैरन्योन्याबद्धबाहुभिः॥ २

अब रास-लीला प्रारम्भ हुई, रासोत्सव सम्पन्न हुआ, स्त्रीरत्न गोपियाँ एक दूसरेकी बाँहमें बाँह डाले हुए हैं।

यहाँ आप तीन प्रणालियोंसे इस रास-क्रीडाका ध्यान करें—एक तो इस प्रणालीसे ध्यान करें कि एक श्रीकृष्ण हैं और सहस्रों गोपियाँ हैं। नटवर श्रीकृष्ण ऐसी स्फूर्तिसे नृत्य करते हैं कि सब गोपियोंको उनके सान्निध्यका अनुभव हो रहा है और उनको ऐसी प्रतीति हो रही है कि श्रीकृष्ण हमारे साथ ही नृत्य कर रहे हैं। दूसरी प्रणाली ध्यानकी यह है कि दो-दो गोपियाँ हैं और उनके मध्य एक-एक श्रीकृष्ण हैं। प्रत्येक गोपीके कन्धेपर उनका हाथ है। एक गोपीके कन्धेपर दो हाथ नहीं हैं, दाहिनें बायें दोनों ओर भी हाथ नहीं हैं और तीसरी प्रणाली ध्यानकी यह है कि गोपियाँ रासमें मग्न हो गयी हैं। जितनी गोपियाँ हैं, उतने ही श्रीकृष्ण हैं। गोपियोंके कन्धोंपर दोनों ओर श्रीकृष्णके हाथ हैं, परन्तु गोपियोंको उनका अनुसन्धान नहीं होता।

श्रीवल्लभाचार्यजी महाराजने दो गोपी एक कृष्ण—इस क्रमको प्रधान माना है। श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती आदिने एक गोपी, एक श्रीकृष्ण—इस क्रमको मानकर व्याख्या की है। हमारे नाट्य-रसके आचार्य कहते हैं कि नटनागरमें इतनी फुर्ती है कि गोपियोंको उनकी दूरीका आभास ही नहीं होता, यही प्रतीत होता है कि हमारे साथ ही क्रीड़ा कर रहे हैं—

द्वयोर्द्वयोर्मध्ये प्रविष्टेन गृहीतानां कण्ठे स्वनिकटं स्त्रियः। २-३

तो, इधर रास-लीला प्रारम्भ हुई और उधर आकाश शत-शत विमानोंसे सङ्कुल हो गया। उनमें बैठे देवताओं और उनकी पत्नियोंके मन अपहृत हो गये। पुष्पवर्षा होने लगी। गन्धर्व

गान करने लगे। वलय, नूपुर, किंकणी आदिके शब्द होने लगे। गोपियोंके पास भगवान्‌की बड़ी भारी शोभा हुई। 'मध्ये मणीनां हैमानां महामरकतो यथा'—वैसी ही शोभा हुई जैसे सुवर्ण मणियोंके बीचमें कोई महामरकत मणि हो।

पादन्यासैर्भुजविधुतिभिः सस्मितैर्भ्रूविलासैर्भज्यन्मध्यैश्चलकुचपटैः कुण्डलैर्गण्डलोलैः।
स्विद्यन्मुख्यः कबररशनाग्रन्थयः कृष्णवध्वो गायन्त्यस्तं तडित इव ता मेघचक्रे विरेजुः॥ ८

श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं परीक्षित, रास-क्रीड़ाके समय ऐसा प्रतीत होता था कि मानो एक ही घटा, एक ही मेघमाला चारों ओर छायी हुई हो और उसमें बारम्बार बिजली चमक रही हो। घटाके समान, मेघमाला के समान तो राशि-राशि श्रीकृष्ण हैं, अनेक श्रीकृष्ण हैं और सब एकमें मिले हुए हैं और उनके मध्य गोपियाँ बिजलीकी तरह नृत्य कर रही हैं। उनका पादविन्यास गतिके अनुसार कभी आगे होता, कभी पीछे होता। वे भुजाएँ उठा-उठाकर विविध भावोंका प्रदर्शन करतीं। कभी कलापूर्ण ढंगसे मुस्करातीं और भौहोंका संचालन करतीं। उनकी कमरका तो पता ही नहीं चलता। वक्षस्थलके वस्त्र हिल रहे हैं, गण्डस्थलपर कुण्डल चञ्चल हो रहे हैं, मुखमण्डलपर श्रमके कारण स्वेद है। उनके जूड़े पक्के बँधे हैं, कमरकी रस्सी भी पक्की है—**'कबररशनाग्रन्थयः'**।

यहाँ कोई-कोई 'कबररशनाग्रन्थयः'का यह अर्थ करते हैं कि ये सब गाँठें छूट गयी हैं।

गोपियाँ गाती हैं और जिस प्रकार बिजली मेघ-चक्रमें भ्रमण करती है, उसी प्रकार भ्रमण करती हैं।

आप लोग उपनिषद् पढ़ते हैं। उनमें-से उद्धृत कुछ पदोंपर ध्यान दीजिये। 'तदेजति' (ईश०उप० ५) इसका तात्पर्य है कि कभी भगवान् नाचते हैं और 'तन्नेजति'—इसका अर्थ है कि कभी गोपियाँ नाचने लगतीं हैं। कभी भगवान् चुपचाप खड़े हो जाते हैं—बिल्कुल स्थिर, नृत्यकी मुद्रामें—ठीक वैसे ही, जैसे वृन्दावनमें झूलनोत्सव आता-जाता रहता है और भगवान् ज्यों-के-त्यों रहते हैं। 'तद्दूरे'—भगवान् नाचते-नाचते कभी दूर चले जाते हैं। 'तद्वन्तिके'—कभी नृत्य करते-करते बीचमें आजाते हैं। 'तदन्तरस्य सर्वस्य गोपीमण्डलस्य'—कभी गोपीमण्डल-मध्यवर्ती होकर नृत्य करते हैं और कभी सबके बाहर निकल जाते हैं।

इस प्रकार ये सब पद तरह-तरहके नृत्योंके द्योतक हैं। हमारे उपनिषद् भी गोपी बनकर भगवान् श्रीकृष्णके साथ नाचते हैं। वह उनका आधिदैविक रूप है।

गोपियाँ मिलकर ऊँचे स्वरसे गान करने लगीं—'यद्गीतेनेदमावृतम्'। (९) कोई-कोई मुकुन्दके साथ अलग होकर गाने लगीं—'स्वरजातोरमिश्रिताः' (१०)—इसलिए कि एक स्वर

दूसरे स्वरसे न मिले। गोपियाँ स्वर-तालसे युक्त ऐसा शुद्ध गान करती हैं कि भगवान् उसे सुनकर साधु-साधु, बड़ा सुन्दर बड़ा सुन्दर कह उठते हैं। कोई-कोई 'अमिश्रिता:'—अर्थात् अनमेल स्वर-तालसे भी गा देती हैं और भगवान् उनकी भी प्रशंसा करते हैं, सत्कार करते हैं। कोई-कोई भगवान्‌के स्कन्धको अपने हाथोंसे पकड़ लेती हैं और कोई-कोई उनकी चन्दन-चर्चित भुजाओंको चूम लेती हैं। कोई-कोई उनका चर्वित ताम्बूल ले लेती हैं।

इस प्रकार गोपियाँ भगवान्‌को अपने प्रियके रूपमें प्राप्त करके श्रीकृष्णके साथ विहार कर रही हैं। नाचते-नाचते, गाते-गाते गोपियोंकी यह दशा हो गयी कि उनके केशके फूल गिर रहे हैं, मुखसे पसीना चू रहा है और आभूषण बज रहे हैं। आगे चलकर ऐसी स्थिति हो जाती है कि नृत्य करते-करते गोपियोंका गान तो बन्द हो गया, गानेवाला केवल भँवरा ही रह गया—'भ्रमरगायकरासगोष्ठ्याम्' (१६)। वही स्वर-में-स्वर मिलाकर, ताल-में-ताल मिलाकर, गान कर रहा है।

रेमे रमेशो व्रजसुन्दरीभिर्यथार्भकः स्वप्रतिबिम्बविभ्रमः। १७

यहाँ किसीके मनमें आया कि जहाँ ऐसी स्थिति हो, वहाँ काम जरूर आया होगा! बोले कि नहीं-नहीं, वहाँ अवश्य ही परिष्वङ्ग है, कराभिमर्श है, स्निग्ध चितवन है और उद्दाम विलास-हास भी है। इन सबके साथ व्रजसुन्दरियोंसे रमण कर रहे हैं। परन्तु वैसे ही रमण कर रहे हैं, 'यथार्भकः स्वप्रतिबिम्बविभ्रम:'—जैसे बालक शीशेमें अपनी परछाईसे खेलता है।

सारी क्रीड़ा 'बिम्ब-प्रतिबिम्ब' न्यायसे हो रही है। यहाँ कामनाकी तो कोई गन्ध ही नहीं है। गोपियाँ अपने शरीरको सम्भालना भूल गयीं। देवता लोग विस्मित हो गये। आकाशमें चन्द्रमा ज्यों-के-त्यों चिपके रह गये।

'कृत्वा तावन्तमात्मानं यावतीर्गोपयोषितः' (२०)—जितनी गोपियाँ हैं, उतने ही श्रीकृष्ण हैं। भगवान्‌ने उनके साथ विहार किया? क्या विहार किया? बोले—'आत्मारामोऽपि लीलया' (२०)—यह तो आत्मारामकी लीला है।

अब जब गोपियाँ थक गयीं तब भगवान्‌ने उन सबको एक-एक करके सान्त्वना दी, उनका पसीना पोंछा और इसी प्रकार गोपियोंने भी श्रीकृष्णका सम्मान किया। भगवान्‌ने सबके साथ यमुनाजीमें प्रवेश करके जलविहार किया। सब एक दूसरेके ऊपर जल उलीच रहे हैं और देवता लोग ऊपरसे पुष्पवर्षा कर रहे हैं।

इसके बाद भगवान् श्रीकृष्ण गोपियोंको लेकर यमुना-तटके उपवनमें गये। वह बड़ा ही रमणीय था। उसमें चारों ओर सुन्दर सुगन्ध-युक्त फूल खिले हुए थे। शरद्‌की उस रात्रिके

रूपमें अनेक रात्रियाँ पुञ्जीभूत हो गयीं और वहाँ भगवान्‌ने गोपियोंके साथ मानो अनन्तकाल तक विहार किया।

कुछ लोग रासलीलाको लेकर भ्रममें रहते हैं। यह नहीं देखते कि सत्यकाम भगवान्‌ने कामको तो पहले ही स्तम्भित कर दिया था—'सिषेव आत्मन्यवरुद्धसौरतः'। (२६)—यह कामकी लीला नहीं है। यह तो सर्वथा काम-निवारणकी लीला है, निवृत्ति-परक लीला है।

अब परीक्षित द्वारा भगवान्‌की लीलाके सम्बन्धमें सन्देह प्रकट करनेपर श्रीशुकदेवजी महाराजने बताया कि देखो राजा, हम तुमको पहले भी बता चुके हैं, किन्तु वह बात तुम्हारी समझमें नहीं आयी। अरे श्रीकृष्ण तो बड़े तेजस्वी हैं। वे तो 'वह्नेः सर्वभुजो यथा' (३०)—अग्निकी तरह सर्वभुक् होते हुए भी निर्दोष हैं। धर्म मनुष्यके लिए होता है। आप जानते हैं, मानवधर्म पशु-पक्षीके लिए नहीं है, देवता-दैत्यके लिए भी नहीं है। पर जब मनुष्यकी दृष्टि संकीर्ण हो जाती है तब वह अपने ही धर्मको ईश्वरपर भी लागू करना चाहता है।

'यथा गतिर्देवमनुष्ययोः पृथक्'—ईश्वरका धर्म दूसरा है, देवताकी गति पृथक् है, मनुष्यकी गति भी पृथक् है। 'नैतत् समाचरेज्जातु मनसापि ह्यनीश्वरः' (३१)—इसलिए जो ईश्वरातिरिक्त है, उसको मनसे भी नहीं करना चाहिए। यदि शंकरजीके सिवाय दूसरा कोई मूर्खतावश विष पीयेगा, तो वह नष्ट हो जायेगा। ईश्वरका उपदेश सच है, उसका आचरण भी सच है। इसलिए भगवान् अपनी वाणीसे जो उपदेश करें, उसीके अनुसार आचरण करना चाहिए। जो महापुरुष हैं, निरहंकार हैं, उनको तो पुण्य करनेमें अपना कोई स्वार्थ नहीं है और पाप करनेमें उनके लिए अनर्थ भी नहीं है।

कहते हैं कि परमात्माकी प्राप्ति हो जानेपर—'तदधिगमे उत्तरपूर्वाघयोः अश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात् (ब्रह्मसूत्र ४.१.१३)। पापं कर्म न श्लिष्यते' (छान्दोग्य ४.१४.३) पापकर्मका श्लेष नहीं होता। फिर जब परमात्मासे तादात्म्य-प्राप्त, ऐक्य-प्राप्त, तदधिगम-प्राप्त जीवात्माकी यह स्थिति हो जाती है कि वह पाप-पुण्यसे परे हो जाय तो जो स्वयं परमेश्वर प्रकट हुआ है, उसको पाप-पुण्य कैसे स्पर्श करेंगे ? यह तो 'कैमुतिक' न्यायसे ही सिद्ध है।

किमुताखिलसत्त्वानां तिर्यङ्मर्त्यदिवौकसाम्।
ईशितुश्चेशितव्यानां कुशलाकुशलान्वयः॥ ३४

देखो, तुम पाप-पुण्यका सम्बन्ध ईश्वरके साथ जोड़ने जा रहे हो, किन्तु साक्षात् ईश्वर तो ईश्वर है, जो उसका ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं, उनके साथ भी पाप-पुण्यका सम्बन्ध नहीं जुड़ता। 'एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य न कर्मणा वर्धते नो कनीयान्'। (बृहदा ४.४.२३)

स्वैरं चरन्ति मुनयोऽपि न नह्यमाना:' (३५) जिनके चरण-पङ्कज-परागकी सेवासे तृप्त होकर ज्ञानी और मुनिजन स्वच्छन्द विचरण करते हैं, वही महापुरुष जब प्रकट हुआ है, तब उसके लिए बन्धन कहाँ ? जो सबके हृदयमें अध्यक्ष है, वह तो उसके हृदयमें विहार कर ही रहा है। ऐसी क्रीड़ा तो भगवान् प्राणियोंपर अनुग्रह करनेके लिए ही करते हैं। 'याः श्रुत्वा तत्परो भवेत्' (३७)—जो मनुष्य उसका स्मरण करता है, वह तत्पर हो जाता है।

श्रीजीव गोस्वामीजी महाराज कहते हैं कि 'अतिविषयिणः शृङ्गाररसाकृष्टानपि स्वाभिमुखीकर्तुं कृतेयं लीला'—अत्यन्त विषयी शृङ्गाररसाकृष्टको भी अपनी ओर खींचनेके लिए ही भगवान्ने महारासको लीला की। यही अभिप्राय श्रीधरस्वामीका भी है जब इस लीलामें अत्यन्त विषयी व्यक्तियोंको भी आकृष्ट करनेका सामर्थ्य है तब वह 'तत्-पर्यन्तत्वं विवक्षितम्'—जीवन्मुक्त महापुरुषके कल्याणके लिए तो है ही।

गोपोंने अपनी गोपियोंका कोई अपमान या तिरस्कार नहीं किया। गोपियोंके जो संसारी शरीर थे वे तो उनके पास थे ही, गोपोंका उनके साथ वही अनुभव था, वही व्यवहार था। ऐसी स्थितिमें यदि दूसरा कोई उनके ऊपर कटाक्ष करे तो उसका ही दुर्भाग्य है। कटाक्ष करनेवाला स्वयं पाप-भाजन होता है।

अब भगवान्के अनुमोदनसे इच्छा न होनेपर भी गोपियाँ ब्रह्मरात्र व्यतीत हो जानेपर और ब्राह्मवेला आजानेपर अथवा रासकी जितनी बड़ी रात्रि हो गयी थी, उसके बीत जानेपर अपने घर चली गयीं। भगवान्की इस लीलको जो श्रद्धाके साथ श्रवण और श्रावण करता है, उसकी भक्ति भगवान्के चरणोंमें होती है और उसके हृदयमें जो कालरूप हृद्रोग है उसको वह शीघ्र-से-शीघ्र नष्ट कर देनेमें समर्थ होता है। उसके अन्दर धैर्य आता है।

यह बात भागवतमें प्रायः सर्वत्र देखनेमें आती है कि यदि तुम भगवान्के कर्मका वर्णन करो तो तुम्हें कर्मसे बन्धन नहीं होगा, मायाका वर्णन करो तो 'मायां वर्णयतोऽमुष्य माययात्मा न मुह्यति'—मायासे मोहित नहीं होंगे और यदि भगवान्के कामका वर्णन करो तो तुम्हारी कामना अत्यन्त तुच्छ हो जायेगी। हमारे सामने कई बार 'हार्ट-अटैक'के रोगी आये और बोले कि महाराज क्या करें ? तो हमने—'हृद्रोगमाश्वपहिनोत्यचिरेण धीरः'। (४०)—इसका उल्लेख करते हुए रासपञ्चाध्यायीका पाठ स्वयं करने अथवा सुबोध ब्राह्मणोंसे करवानेके लिए कहा और उनको लाभ भी हुआ। हमारा विश्वास है कि इससे हृद्रोगकी निवृत्ति हो जाती है। यदि मनमें काम-वासना होगी तो इसकें द्वारा उसका भी निवारण हो जायेगा।

ॐ

अब श्रीशुकदेवजी महाराज आगे वर्णन करते हुए कहते हैं कि परीक्षित, एक बार शिवरात्रिके अवसरपर नन्दबाबा तथा दूसरे ग्वाल अपने छकड़े जोड़-जोड़कर देवयात्राके लिए निकले और अम्बिकावन पहुँच गये—'प्रययुस्तेम्बिकावनम्' । (२)

यहाँ इस बातपर ध्यान दो कि परमवैष्णव गोप लोग शंकरजीसे कितना अधिक प्रेम करते थे । उन लोगोंकी बात छोड़ो, जो कट्टरपन्थी हैं । बम्बईमें भी कुछ परिवार ऐसे हैं, जो अपने मुँहसे कपड़ा 'सीओ' भी नहीं बोलते । इसलिए नहीं बोलते कि इसमें 'सीओ'के द्वारा 'शिव'का नाम आजायेगा और उनकी अनन्यता टूट जायेगी । किन्तु हमारे परम वैष्णव व्रजवासियोंसे बढ़कर अनन्य और कौन होगा !

तो नन्दादि सब गोप लोगोंने अम्बिका-वन पहुँचकर वहाँ 'देवं पशुपतिं विभुम्' (२)—पशुपति देवकी पूजा-आराधना की ।

देखो, पशुपति केवल भगवान् शंकर ही नहीं हैं, हमारे श्रीकृष्ण भी पशुपति हैं । दोनोंमें ऐकात्म्य है ।

गोपोंने खूब प्रेमसे शंकरजीके साथ-साथ देवीकी भी पूजा की—'देवीं च नृपतेऽम्बिकाम्' । (२) इस प्रकार भगवान् नन्दादिने गौरी-शंकरकी पूजा करके ब्राह्मणोंको खूब दान दिया और प्रार्थना की कि देवता लोग हमारे ऊपर प्रसन्न हों ।

इतनेमें रात हो आयी और सब लोग सरस्वती नदीके तटपर रह गये । वहाँ एक बहुत बड़ा अजगर रहता था । उसने सोते हुए नन्द बाबाको पकड़ लिया । जब वे चिल्लाये कि कृष्ण, कृष्ण, बचाओ-बचाओ तब सब ग्वाल उठे और हाथमें जलती हुई आगकी लकड़ी माने लुकाठी लेकर उसे मारने लगे । परन्तु वह अजगर नन्दबाबाको छोड़ता ही नहीं था ।

जब श्रीकृष्णने उसको अपने चरणसे छू दिया, तब वह तुरन्त विद्याधरार्चित रूपको प्राप्त हो गया । श्रीकृष्णने पूछा कि तुम कौन हो ? तो, उसने कहा मैं सुदर्शन नामका विद्याधर हूँ । मैंने

एक बार अङ्गिरा ऋषिको देखा तो उनकी अतिशय कुरूपतापर मुझे हँसी आगयी। इसपर वे कुपित हो गये और उन्होंने मुझको शाप दे दिया। परन्तु महात्मा लोग न तो कुपित होते हैं और न शाप देते हैं। उनका वह शाप नहीं, अनुग्रह था कि उसके फलस्वरूप मुझे आपके चरणोंका स्पर्श मिल गया। अब मैं आपके चरणस्पर्शसे शाप-निर्मुक्त हो गया। इसमें आश्चर्यकी कोई बात नहीं है कि आपके चरणोंमें आया हुआ व्यक्ति ब्रह्मदण्डसे विनिर्मुक्त हो जाता है।

यन्नाम गृह्णन्नखिलान् श्रोतॄनात्मानमेव च।
सद्यः पुनाति किं भूयस्तस्य स्पृष्टः पदा हि ते॥ १७

जब भगवन्नामका उच्चारण करनेपर वक्ता और श्रोता दोनों ही पवित्र हो जाते हैं तब उन्हीं भगवान्के चरणारविन्दका स्पर्श प्राप्त कर लेनेपर तो कहना ही क्या है! इस प्रकार भगवान्की वन्दना और परिक्रमा करके सुदर्शन अपने लोक चला गया और नन्दबाबा उसके पाशसे छूट गये।

अब तो श्रीकृष्णका वैभव देख-सुनकर व्रजवासियोंको बड़ा विस्मय हुआ। उन्होंने वहाँ जो नियम ले रखे थे, उनको पूरा किया और फिर व्रजमें आगये।

एक दिनकी बात है, श्रीबलरामजी और श्रीकृष्ण रात्रिमें विहार कर रहे थे। स्त्रियोंके साथ उनका गाना-बजाना हो रहा था। इसको वसन्त-ऋतुका रास बोलते हैं।

देखो, जो बाबा टाइपके सुनसान व्यक्ति हो जाते हैं और प्राकृतिक चिकित्सा प्रेमियोंकी तरह खाने-पीनेका निषेध करने लगते हैं, वे समझते हैं कि सारी हिन्दू-संस्कृति, सारा हिन्दू-धर्म इसीमें है। असलमें उन्हें हिन्दू-धर्मके विस्तृत स्वरूपका पता नहीं है। यह हिन्दू-धर्म कितना उदार धर्म है, जिसमें कठोपनिषद्के अनुसार कहा गया है कि 'अस्तीत्येके नायमस्तीति'-(१.१.२०)—अर्थात् जो लोग मृत्युके अनन्तर आत्माका अस्तित्व मानते हैं, वह भी एक पक्ष है और जो नहीं मानते, वह भी एक पक्ष है। जब हमारे एक दार्शनिक चार्वाक कहते हैं कि यह देह अन्नमय कोश है, तब यह भी एक पक्ष है। हिन्दू-धर्म इतना उदार-धर्म है कि इसमें जैन, बौद्ध, सिक्ख सबका समावेश—आसामका खान-पान, मिथिलाका खान-पान, बंगालका खान-पान, पहाड़ी प्रान्तोंका खान-पान, मद्रास-आन्ध्र आदि दक्षिण प्रदेशोंका खानपान—सब अलग-अलग हैं। परन्तु इन विविधताओंको न देखकर कोई यह कहे कि नाचना-गाना विषय-भोग है तो यही कहना पड़ेगा कि उसकी दृष्टि बड़ी संकीर्ण है।

हमारे यहाँ तो गान्धर्ववेद है, गान्धर्व शास्त्र है। अथर्ववेद है, धनुर्वेद है, आयुर्वेद है, स्थापत्यवेद है, जिनमें लौकिक विधाओंका वर्णन प्रचुरतासे किया गया है। जब भगवान् श्रीकृष्ण अवतार लेकर आते हैं तो ऊपर-नीचे केवल एक धोती पहनकर रहनेके लिए नहीं आते। उनका काम हाथमें दिनभर कुश-मुष्टि रखना और उससे पानी छिड़क-छिड़ककर पाँव धरना मात्र नहीं है। वे तो जैसे अर्जुन-उद्धव आदिको ज्ञान-दान करते हैं, युद्धभूमिमें बाण छोड़ते हैं, वैसे ही नाचते-गाते-बजाते भी हैं, नाटक भी करते हैं। इन समस्त गुणोंके सन्निधान हैं श्रीकृष्ण।

एक बार अलौकिक-कर्मा श्रीकृष्ण और बलरामजी गोपियोंके साथ विहार करते हुए वसन्त-ऋतुकी रात्रिका सत्कार कर रहे थे। आकाशमें चन्द्रोदय हो गया था। सर्वत्र चाँदनी छिटक आयी थी। चमेलीको गन्ध चारो ओर फैल रही थी और भौंरे गुञ्जार कर रहे थे। उस समय उन्होंने एक साथ मिलकर ऐसा राग आलापा कि उसको सुनकर 'स्वरमण्डलमूर्च्छितम्' (२३)—गोपियोंके मन और श्रवण आनन्दसे भर गये। उन्हें अपने वस्त्र, आभूषण, शरीर, आत्मा सबका विस्मरण हो गया।

इतनेमें वहाँ शङ्खचूड़ नामका एक यक्ष आया, जो कुबेरका अनुचर था। वह बेसुध गोपियोंको लेकर भाग खड़ा हुआ। जब गोपियोंने देखा कि यक्ष उन्हें जबर्दस्ती पकड़कर लिये जा रहा है तब वे श्रीकृष्ण-बलरामका नाम ले-लेकर पुकारने लगीं। यह देखकर दोनों भाई 'मत डरो, मत डरो'—कहते हुए दौड़ पड़े। जब शङ्खचूड़ने श्रीकृष्ण-बलरामको देखा तब वह डरके मारे गोपियोंको छोड़कर भागने लगा। श्रीकृष्णने उसका पीछा करके उसको पकड़ लिया और जोरसे एक ऐसा घूँसा मारा कि चूड़ामणि सहित उसका सिर धड़से अलग होकर नीचे गिर पड़ा। श्रीकृष्णने उसके चूड़ामणिको निकालकर बलरामजीको दे दिया, जो गोपियोंकी रक्षाके लिए उनके साथ खड़े रह गये थे।



यहाँ यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि गोपियाँ रातमें तो श्रीकृष्णके साथ नाचती, गाती, बजाती थीं, उनको रातमें संयोगका सुख मिलता था, लेकिन दिनमें जब भगवान् गोपियोंको छोड़कर वनमें चले जाते, तब वे उनके वियोगमें अपना समय कैसे व्यतीत करती थीं ?

इस प्रश्नका उत्तर श्रीराधासुधानिधि नामक ग्रन्थमें यह दिया गया है कि श्रीराधिकाजी, आदि गोपियाँ दिनमें श्रीकृष्णके वन चले जानेपर वीणावादन करतीं, उनके गुणोंका गान करतीं और नेत्रोंसे अपार अश्रुओंकी वर्षा करती हुई दिन बिताती थी—

वीणां करे मधुमतीं मधुरस्वरां तां, आधाय नागरशिरोमणिभावलीलाम् ।
गायन्त्यहो दिनमपारमिवाश्रुवर्षैर्दुःखान्नयन्त्यहह सा हृदि मेऽस्तु राधा ॥

श्रीशुकदेवजी महाराजने भी इस अध्यायमें यही बताया है कि श्रीकृष्णके वनमें चले जानेपर गोपियोंका मन 'तमनुद्रुतचेतसः' उसके साथ चला जाता और वे उनको लीला गा-गाकर बड़े दुःखसे अपना समय व्यतीत करतीं। गोपियाँ आपसमें कहतीं—

वामबाहुकृतवामकपोलो वल्गितभ्रुरधरार्पितवेणुम् ।
कोमलाङ्गुलिभिराश्रितमार्गं गोप्य ईरयति यत्र मुकुन्दः ॥ २

अरी सखी, जब श्यामसुन्दर अपना बाँया कपोल अपनी बाँयी बाँहकी ओर लटका देते हैं और भौंहें नचाते हुए अधरोंपर बाँसुरी धारण करके कोमल अँगुलियोंको उसके छिद्रोंपर फिरा-फिराकर उसे बजाने लगते हैं तब सिद्धोंकी पत्नियाँ अपने-अपने पति सिद्धगणोंके साथ आकाशमें अत्यन्त चकित—विस्मित हो जाती हैं।

देखो, यह ध्यानकी लीला है। कोई ऐतिहासिक अनुसन्धान करनेके लिए यह लीला नहीं है। यह लीला तो इसलिए है कि भावुक लोग अपने भाव-राज्यमें इस रूपको देखें, उनकी चित्तवृत्ति तदाकार हो जाय, तन्मय हो जाय और वे परमानन्दका अनुभव करें। यह कुर्सीपर, कुरसिकापर बैठकर थीसिस लिखनेकी लीला नहीं है। यह तो भक्तोंके रसास्वादनकी लीला है।

गोपियाँ कहती हैं कि श्रीकृष्णके वंशी-वादनके समय सिद्धोंकी जितनी भी देवियाँ होती हैं, वे सब पहले तो सलज्ज हो जाती हैं, फिर मोहित हो जानेके कारण उनको अपने वस्त्रादिका

भी ध्यान नहीं होता। सिद्ध-पत्नियोंकी ही क्या कहें, जब ये बाँसुरी बजाते हैं, तब व्रजके बैलों, मृगों और गायोंका मन भी हर लेते हैं। उन पशुओंकी यह दशा हो जाती है कि जिनके मुँहमें ग्रास है, वे ग्रास लिये ही रह जाते हैं। उनके कान भी ज्यों-के-त्यों खड़े-के-खड़े रह जाते हैं— मानो वे निद्रित हों, चित्र-लिखित हों। जिस समय वंशी-ध्वनिके द्वारा गायोंको बुलाते हैं, उस समय नदियोंकी गति भी भंग हो जाती है। जिस प्रकार हम श्रीकृष्णका आलिङ्गन प्राप्त न होनेपर दुःखी हो जाती हैं, उसी प्रकार नदियाँ भी दुःखी हो जाती हैं—

स्पृहयतीर्वयमिवाबहुपुण्याः प्रेमवेपितभुजाः स्तिमितापः। ७

जब श्रीकृष्ण वंशी बजाकर गिरिराजकी तलहटीमें चरती गायोंको बुलाते हैं, तब वनकी लताएँ और वृक्ष फूलों-फलोंसे लद जाते हैं मानो यह प्रकट करते हैं कि हम श्रीकृष्णको पहचानते हैं, ये साक्षात् विष्णु हैं और हमारे हृदयोंमें विराजमान हैं। वे उनको नमस्कार करते हैं, मधुधाराका क्षरण करते हैं और उनके शरीरमें रोमाञ्च हो जाता है।

दर्शनीयतिलको वनमालादिव्यगन्धतुलसीमधुमत्तैः।
अलिकुलैरलघुगीतमभीष्टमाद्रियन् यर्हि संधितवेणुः॥ १०

अरी सखी, भगवान्‌का तिलक देखो, वह कितना दर्शनीय है। वे अपनी दोनों भौंहोंके बीचमें-से अपने साँवरे ललाटपर केसरकी ऐसी सीधी-सीधी खौर उठाते हैं कि देखती ही रह जाओ।

दर्शनीय तिलकका अर्थ 'दर्शनीयः तिलको यस्य' तो है ही, कोई-कोई कहते हैं कि इसका अर्थ 'दर्शनीयानाम् तिलकः' भी है अर्थात् संसारमें जितने भी दर्शनीय पदार्थ हैं, उनमें शिरोमणि श्रीकृष्ण ही हैं। वे वनमाला पहने हुए हैं, इसलिए उसकी सुगन्ध उड़ रही है। तुलसीकी मधुसे मत्त होकर भौंरे गुञ्जार कर रहे हैं।

अरी सखी, जिस समय श्यामसुन्दर बाँसुरी बजाते हैं, उस समय सरोवरके सारस, हंस, विहंग उनकी वंशी-ध्वनिसे आकृष्ट होकर सामने आजाते हैं और आँख बन्द करके, मौन होकर महात्माओंकी तरह भगवान्‌की आराधना करते हैं—'चारुगीतहृतचेतस एत्य' (११)—पर्वतकी तलहटीमें वंशी-ध्वनि करके तो वे 'जातहर्ष उपरम्भति विश्वम्' (१२)—सम्पूर्ण विश्वका आलिङ्गन कर लेते हैं। उस समय मेघ मन्द-मन्द गर्जना करते हैं कि कहीं श्रीकृष्णका, उनके स्वर-तालका अतिक्रमण न हो जाय। श्रीकृष्णको वंशी-वादनके श्रमसे थकावट न हो, इसलिए मेघ उनके ऊपर छोटी-छोटी फुहियाँ बरसाते रहते हैं और छाया किये रहते हैं।

अरी यशोदाजी, तुम्हारे लाड़लें लाल ग्वाल-बालोंके साथ क्रीड़ा करनेमें बड़े विदग्ध हैं, निपुण हैं। उन्होंने वंशी बजानेकी कला किसीसे सीखी नहीं, स्वयं ही अनेक प्रकारके स्वर, ताल निकाल लिये हैं।

'निजशिक्षाः'का (१४)—अर्थ है—'निजैव शिक्षा यासु ताः निजशिक्षाः'।

जब वे बाँसुरी बजाते हैं तो शक्र, शर्व, परमेष्ठि आदि सिर झुका लेते हैं और सोच नहीं पाते कि यह कौन-सा राग है, कौन-सी रागिणी है। जब वे व्रजमें अपने ,चरण-चिह्नोंको चिह्नित करते हुए चलते हैं और बाँसुरी बजाते हैं तब गायोंके खुरसे खुदी हुई धरतीका दुःख दूर हो जाता है।

गोपियाँ आगे कहती हैं कि हम तो उनकी चलन, चितवन और वंशीध्वनिसे बिल्कुल वृक्षकी तरह स्तब्ध हो जाती हैं और हमें अपने शरीर तथा वस्त्रोंका भी स्मरण नहीं रहता! जब कभी वे मणि धारण किये हुए गायोंकी गणना करते-करते 'प्रणयिनोऽनुचरस्य कदांसे' (१८)—अपने प्रेमी ग्वाल-बालोंके कन्धोंपर अपना हाथ रख देते हैं और भाव-प्रदर्शन करके बाँसुरी बजाते तथा गाने लगते हैं, तब कृष्णसार हिरणोंकी हिरणियाँ आकर पास खड़ी हो जाती हैं और जैसे हम लोगोंको घर लौटनेको इच्छा नहीं रहती, वैसे ही उनकी भी दशा हो जाती है। जब वे कुन्ददाम आदिके द्वारा कौतुक वेश धारण करके और 'गोपगोधनवृत' होकर यमुनामें विहार करते हैं, तब शीतल-मन्द-सुगन्ध वायु चलने लगती है तथा देवता आकर उनका पूजन करते हैं। जब वे गायोंको लेकर लौटते हैं तो व्रजके बड़े-बड़े वृद्ध उनके चरणोंमें वन्दना करते हैं। उस समय यद्यपि थके हुए रहते हैं और गायोंके खुरोंके रजसे उनकी माला धूसरित होती है, तथापि वे लोगोंके नेत्रोंको खींच लेते हैं।

अरी, सखियो, देखो! वे आरहे हैं। उनके लोचन मदविघूर्णित हैं, वे सुहृदोंको आनन्द दे रहे हैं और उनका मृदुगण्ड कनक-कुण्डलोंसे मण्डित है। देखो, देखो वे सन्ध्याके समय मुस्कुराते हुए आरहे हैं, जिससे व्रजकी गौओंका ताप दूर हो! हम भी तो व्रजकी गौएँ ही हैं, इसलिए वे हमारे तापको भी दूर करते हुए आरहे हैं।

श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि परीक्षित, इस प्रकार गोपियाँ श्रीकृष्णमें अपना मन लगाकर दिनका समय व्यतीत करती थीं।



: ३६ :

अब श्रीशुकदेवजी महाराज आगे वर्णन करते हैं कि—

अथ तर्ह्यागतो गोष्ठमरिष्टो वृषभासुरः । १

देखो, यह कहा जाता है कि जब लोग शास्त्रके अर्थमें परिवर्तन करने लगते हैं, तब उन परिवर्तनकारियोंके द्वारा शास्त्रमें असुरका प्रवेश हो जाता है। जब लोग शास्त्रके विरुद्ध धर्मका प्रतिपादन करने लगते हैं तब धर्माचरणमें भी असुरका प्रवेश हो जाता है। जब लोग अशास्त्रीय रीतिसे चित्तकी एकाग्रताको ही समाधि मानने लगते हैं तब समाधिमें भी असुरका प्रवेश हो जाता है। जहाँ अशास्त्रीय अर्थके द्वारा शास्त्रमें असुरका प्रवेश हो, वहाँ केशी असुर हो जाता है। जहाँ आचरणमें अशास्त्रीयताके द्वारा अधर्मका प्रतिपादन हो, वहाँ असुराक्रान्त धर्म हो जाता है, असुराक्रान्त शास्त्र हो जाता है और असुराक्रान्त समाधि हो जाती है। व्योमासुर असुराक्रान्त समाधि है। केशी असुराक्रान्त शास्त्र है और वृषभासुर असुराक्रान्त वृषभ है, धर्म है। यह नहीं समझना कि इस व्याख्यासे हम श्रीमद्भागवतकी ऐतिहासिक घटनाओंपर आक्षेप करते हैं। सचमुच वृषभासुर आया, केशी आया, व्योमासुर भी आया। उनके आनेपर कोई आक्षेप नहीं है। परन्तु व्यासजी महाराजकी लिखनेकी ऐसी शैली है कि उसमें चाहो तो थोड़ी-थोड़ी चीज अपने जीवनके लिए भी निकालते जाओ! केवल ऐतिहासिक अथवा ऐतिह्यकी दृष्टिसे ही मत देखो! प्रत्येक प्रसंगकी संगति आधिदैविक, आध्यात्मिक और आधिभौतिक तीनों प्रकारसे लगती है।

तो, अरिष्ट नामका असुर वृषभ बनकर आया। 'महाककुत्कायः' (१)—उसका ककुद और काय दोनों बड़े-बड़े थे। वह पृथिवीको कँपाता हुआ, अखाड़ता हुआ और हुँकड़ता हुआ आया।

जोर-जोरसे आवाज करना तो हुँकड़ना है और पाँवसे मिट्टीको पीछे फेंकना अखाड़ना है।

वह समस्त सनातन मर्यादाओंको तोड़ता हुआ आया। उसकी भयंकर आवाजसे स्त्रियोंका गर्भस्राव होने लगा, सारे गोपी-गोप त्रस्त हो गये और कृष्ण-कृष्ण कहते हुए भगवान्‌की शरणमें गये। भगवान्‌के बिना और कौन बचावे?

भगवान्‌ने कहा कि डरो मत ! इससे तुम्हारी कोई हानि होनेवाली नहीं है। मैं ऐसे अभिमानियोंके दर्पको दूर करता हूँ। वे निर्भय भावसे एक सखाके कन्धेपर हाथ रखकर खड़े हो गये।

वृषभासुरने क्रोध करके अपनी पूँछको ऊपर उठा लिया, जिसके धक्केसे आकाशके मेघ इधर-उधर भ्रमण करने लगे—'उद्यत्पुच्छभ्रमन्मेघः' (९) उसने श्रीकृष्णपर आक्रमण कर दिया। वह अपने सींगोंको आगे करके श्रीकृष्णको मारनेके लिए दौड़ा। किन्तु भगवान्‌ने उसकी सींग पकड़कर उसको अठारह पग पीछे ढकेल दिया। जब वह भगवान्‌के ऊपर फिर झपटा तो उन्होंने उसके दोनों सींग उखाड़ दिये और उसको पीट-पीटकर धरतीपर गिरा दिया। फिर जैसे कोई गीले कपड़ेको निचोड़ दे, वैसे ही भगवान्‌ने उसे निचोड़ दिया। जब अधर्म धर्मका वेश धारण करके आता है, तब भगवान् इसी प्रकार उसका नाश करके सच्चे धर्मकी रक्षा करते हैं।

अब नारदजी कंसके पास पहुँचे और कहा कि अरे कंस, तू क्या राजनीति जानता है ? राजनीति तो वह है कि शत्रुके घरमें आज क्या पक रहा है, इसका भी ज्ञान हो ! तू तो ऐसा बावरा है कि तुझे कुछ पता ही नहीं। देख, देवकीकी जो लड़की आसमानमें उड़ गयी थी, वह तो यशोदाकी लड़की थी। देवकीके बेटे तो कृष्ण हैं और रोहिणीके बेटे बलराम हैं। उन्होंने तुम्हारे साथ षड्यन्त्र किया और अपने बेटे श्रीकृष्णको नन्दके पास रख दिया ! अब तो सचेत हो जा।

नारदजीके मुँहसे यह सब सुनकर कंस आग-बबूला हो गया, तिलमिला उठा और उसने तलवार उठायी। यह देखकर नारदजीने उसको रोक दिया और कहा कि देखो कंस, ऐसा नहीं करना, नहीं तो वे लोग कहीं भाग जायेंगे। इसलिए तुम चुपके-चुपके अपना काम करो।

इसके बाद कंसने देवकी-वसुदेवको तो हथकड़ी-बेड़ी लगाकर जेलमें डाल दिया और केशीको बुलाया और कहा कि तुम व्रजमें जाकर कृष्ण-बलरामको मार डालो।

केशी ह्रेषा-प्रधान है, हिनहिनाता है। प्रलयके समय हयग्रीवके द्वारा वेदकी चोरी और वेदकी रक्षा, ये दोनों बातें आती हैं। कंसने इसको यही सोचकर भेजा कि बड़ा ही हिंसक है, हिंसामें इसकी बुद्धि है।

कंसने मुष्टिक, चाणूर, शल, तोशल आदिको भी बुलाया, अमात्यों और हस्तिपोंको भी बुलाया और बोला कि हमारे दुश्मनका पता लग गया, वह नन्दके यहाँ है। हमने अपने यहाँ एक दङ्गलका आयोजन किया है। उसमें नागरिक और जानपद, शहरी और देहाती सब लोगोंको बुलाओ। कुवलयापीड हाथीको दरवाजेपर खड़ा कर दो और उसीके द्वारा हमारे

शत्रुओंको मरवाओ। इसी चतुर्दशीके दिन धूमधामसे धनुष-यज्ञ करो और उसकी सफलताके लिए 'भूतराजाय मीढुषे' (२६)—भूतनाथ भैरवको पवित्र पशुओंकी बलि दो।

इसके बाद कंसने अक्रूरजीको बुलवाया। 'इत्याज्ञाप्यार्थतन्त्रज्ञः' (२७)—कंस केवल अर्थ-तन्त्रज्ञ था, धर्म-तन्त्रज्ञ नहीं था। इसीलिए उसने अक्रूरको बुलवाया और हाथ-में-हाथ पकड़कर बोला कि अक्रूर, तुम तो दानपति हो! मतलब यह कि जब हम निष्कण्टक राज्य प्राप्त कर लेंगे तो तुमको दानपति बना देंगे। तुम हमारे साथ मित्रताका बर्ताव करो, तुमसे बढ़कर हमारा कोई हितैषी नहीं है। जैसे इन्द्र विष्णुका आश्रय लेते हैं, वैसे ही मैंने तुम्हारा आश्रय ले रखा है। तुम नन्दके व्रजमें जाओ और वहाँसे वसुदेवके बेटेको ले आओ। देखो, अभी इस रथपर बैठो और चले जाओ। मैंने सुना है कि देवताओंने वसुदेवके बेटेको मेरी मृत्युके रूपमें भेजा है। यहाँ लानेपर हम उसको कुवलयापीड हाथीसे नष्ट करवा देंगे। 'कुवलय भूवलयम् आपीडयति'—जो सम्पूर्ण भू-वलयको, कुवलयको पीड़ित कर दे, पीड़ा पहुँचा सके उसका नाम कुवलयापीड है। इसलिए कुवलयापीड उसे अवश्य मार देगा और उसके मरनेपर वसुदेव आदिको क्या गिनती है। उसके बाद तो हम अपने बाप उग्रसेनको भी मारेंगे और सब शत्रुओंका नाश कर देंगे। हमारे जरासन्ध आदि बड़े-बड़े मित्र हैं। फिर क्या चिन्ता है। तुम जल्दी जाकर उसको ले आओ। उसके बाद तो मैं रहूँगा और तुम रहोगे, फिर हमारी बन जायेगी मित्र!

अक्रूरने उत्तर दिया कि महाराज, आपने मनोरथ तो बहुत बढ़िया किया है, लेकिन सिद्धि और असिद्धिमें समान होकर काम करना चाहिए। सफलता-विफलता अपने हाथमें नहीं होती। 'दैवं हि फलसाधनम्'—कर्म-अकर्मका, पाप-पुण्यका फल जो ईश्वर देता है, वही मिलता है। मनुष्य तो अपने मनसे केवल सोचता ही रहता है।

कंसने अक्रूरजी तथा मन्त्रियोंको आदेश देकर विदा किया और अपने महलमें चला गया। अक्रूरजी भी अपने घर लौट गये।



केशी तु कंसप्रहितः खुरैर्महीं महाहयो निर्जरयन् मनोजवः । १

केशी शब्दका अर्थ आपको पहले बताया जा चुका है। वह अपने खुरसे पृथिवीको क्षत-विक्षत करता हुआ व्रजमें पहुँचा। उसके कन्धेपर छितराये बालोंके फहरानेसे विमान गिर पड़े। वह पापात्मा न होता, अधर्म न होता तो विमानपर चढ़े हुए लोगोंको गिरानेका काम क्यों करता? 'ह्रेषितभीषिताखिलः' (१)—वह अपनी ह्रेषासे सबको भयभीत कर देता था। भय-दान करना भी तो पापका ही काम है। असुरभावाक्रान्त केशीने सारे गोकुलको त्रस्त कर दिया। वह अपने वेगसे बादलोंको इधर-उधर उड़ाता हुआ सिंहके समान गर्जना करने लगा।

जब उसके सामने भगवान् आये तो उसने उनके ऊपर पीछेके पावोंसे आक्रमण किया। इसी अवज्ञाके समय भगवान्‌ने उसको पकड़ लिया और उसको सौ धनुषकी दूरीपर फेंक दिया। जब वह होशमें आया तब फिर भगवान्‌के ऊपर टूट पड़ा। भगवान्‌ने मुस्कुराते हुए उसके मुँहमें अपनी बाँह घुसेड़ दी; बस उसका सारा असुरपना जाता रहा।

जब भगवान्‌का कोई अङ्ग किसी शरीरके भीतर चला जाय तो उसमें असुरत्व कैसे रह सकता है? आप सुन चुके हैं कि भगवान्‌ने पूतनाको होंठोंसे ही चाट लिया, शकटासुरको पाँवसे उलट दिया तथा तृणावर्तके गलेमें हाथ डाल दिया और उनका उद्धार हो गया। यहाँ गोकुलमें तो अस्त्र-शस्त्रका प्रयोग होता ही नहीं। अस्त्र-शस्त्र तो बाहर लड़ाई करनेके लिए हैं।

हमारे भगवान् श्रीकृष्णके हाथमें सम्पूर्ण विश्व-सृष्टिके क्षत्रियत्वका बीज बैठा हुआ है। इसलिए जब उन्होंने केशीके मुँहमें मुस्कुराते हुए हाथ डाल दिया तब ऐसा लगा जैसे कोई सर्प बिलमें प्रविष्ट हो गया हो। भगवान्‌का हाथ केशीको गरम-गरम लोहेके समान लगा और वह उसके मुँहमें वैसे ही बढ़ता गया, जैसे कोई रोग उपेक्षा करनेपर बढ़ जाता है। उसके दाँत टूट गये और प्राण-वायु रुक गये।

मैंने आपको सुनाया था कि धर्माचरणमें, शास्त्रमें और समाधिमें जब आसुर भावका आक्रमण होता है तब वह विपरीत फलप्रद होता है। उसको ठीक करनेका उपाय यही है कि वहाँ भगवान्‌का अनु-प्रवेश होना चाहिए। बिना भगवान्‌के, बिना भगवद्भावके किसीका कल्याण होनेवाला नहीं।

तो, वायु रुकनेपर केशीका शरीर फट गया और देवता लोग भगवान्‌के ऊपर पुष्पोंकी वर्षा करने लगे। किन्तु भगवान्‌को उसके मरनेपर कोई विस्मय नहीं हुआ—'अविस्मितोऽयत्न-हतारिः' (९)—बिना प्रयत्नके ही शत्रुकी मृत्यु हो गयी।

इसी बीच कंसको समझा-बुझाकर देवर्षि नारद श्रीकृष्णके पास आगये—'देवर्षिरुप-सङ्गम्य'। (१०) वे चाहते हैं कि कंसकी क्रूरता जितनी अधिक बढ़ेगी, उतनी ही शीघ्रतासे उसके

ऊपर भगवान्‌की कृपा बरसेगी। इसलिए वे कंसको भी उत्तेजित कर आते हैं और यहाँ आकर भगवान्‌से भी मिल लेते हैं। नारदजीने एकान्तमें अक्लिष्टकर्मा भगवान्‌की स्तुति प्रारम्भ की।

'वासुदेवाखिलावास सात्वतां प्रवरप्रभो' (११)—हे वासुदेव, हे अखिलावास, हे यदुवंश-शिरोमणे, आप तो सबके आत्मा हैं। जैसे लकड़ीमें अग्निका निवास है, वैसे ही आप सबमें छिपे हुए हैं। आप अपने-आपमें ही रहकर, अपने संकल्पसे ही सृष्टि-स्थिति-प्रलय करते हैं। 'सेतूनां रक्षणाय च'—आप धर्म-मर्यादा, धर्म-सेतुकी रक्षाके लिए अवतीर्ण हुए हैं। आपने खेल-खेलमें ही वेदार्थका तिरस्कार करनेवाली हयाकृतिका नाश कर दिया। 'यस्य हेषितसंत्रस्तास्त्यजन्त्य-निमिषा दिवन्'। (१५)—उसकी हिनहिनाहट सुनते ही देवता लोग स्वर्ग छोड़कर भाग जाते थे। अब अधिक दिनोंकी बात नहीं रही, आप परसोंके दिन ही कंस-चाणूर-मुष्टिक आदिको मार डालेंगे और उसके बाद बड़ी-बड़ी लीला करेंगे। शाल्व, यवन, मुर और नरक—इनको भी आप मारेंगे। आप पारिजातापहरण करेंगे, इन्द्रको पराजित करेंगे, वीर कन्याओंसे विवाह करेंगे और द्वारिकामें निवास करेंगे। भार्या-सहित स्यमन्तक-मणि लायेंगे, ब्राह्मणके मृत पुत्रको लाकर देंगे, पौण्ड्रकको मारेंगे, काशीपुरीको उद्दीप्त करेंगे और दन्तवक्त्रको उद्धार करेंगे। आप यज्ञमें चैद्य, शिशुपालका वध करेंगे तथा और भी ऐसे बड़े-बड़े कर्म करेंगे, जिनका कवि लोग गान करते हैं। आप कालरूप अधर्मका नाश करनेके लिए अवतीर्ण हुए हैं। आप पृथिवीका भार दूर करेंगे।

धर्मकी रक्षामें आपकी इतनी रुचि है कि आप अर्जुनको रथी बना देंगे, स्वयं सारथि बनेंगे और उसकी आज्ञाका पालन करेंगे। 'रथं स्थापय मेऽच्युत' (गीता १.२१)—जब अर्जुन कहेगा कि कृष्ण, हमारे रथको सेनाके बीचमें ले चलो तो आप उसकी आज्ञाके अनुसार रथ-स्थापन करेंगे। जीव ईश्वरकी आज्ञाका पालन करता है, किन्तु आप ऐसे भक्तवत्सल हैं कि अर्जुनकी आज्ञाका पालन करेंगे। हम निकट भविष्यमें देखेंगे कि अक्षौहिणी-की-अक्षौहिणी सेना मर रही हैं और आप विशुद्ध विज्ञानघन अपने स्वरूपमें स्थित हैं। कोई भी वाञ्छा आपका स्पर्श नहीं कर सकती। 'नतोऽस्मि धुर्यं यदुवृष्णिसात्वताम्' (२४)—यदुवंश-शिरोमणि, हम आपको नमस्कार करते हैं।

श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि परीक्षित, नारदजी इस प्रकार भगवान्‌की स्तुति करके और उनकी अनुज्ञा लेकर चले गये।

इधर भगवान् श्रीकृष्ण केशीको मारकर नित्यकी तरह गायें चरानेके लिए वनमें जाने लगे। यह नहीं कि उन्होंने वृषभासुरको मार दिया, केशीको मार दिया, गोवर्द्धनको उठा लिया और वरुण-इन्द्र-आदिके सामने यह प्रकट कर दिया कि हम साक्षात् परब्रह्म परमात्मा हैं तो उनके जीवनमें परिवर्तन आगया। उनका तो वही सहज जीवन रहा, बड़प्पनका कोई ख्याल नहीं हुआ

और गोचारणमें किसी प्रकारकी त्रुटि नहीं आयी—'पशूनपालयत् पालैः प्रीतैर्व्रजसुखावहः' । (२६) व्रजमें ग्वाल-बाल भी प्रसन्न हैं और स्वयं भगवान् भी आनन्दमें भरे हुए हैं। वहाँ आनन्दकी आनन्दसे क्रीड़ा हो रही है।

एक दिन सब ग्वाल-बाल पर्वतकी तलहटीमें लुका-छिपीका खेल-खेल रहे थे। कोई भेंड़ बना, कोई चोर बना, कोई सिपाही बना और कोई राजा बना। सिपाही चोरको पकड़कर ले आयें और राजा दण्ड दे।

मयपुत्रो महामायो व्योमो गोपालवेषधृक्। २९

इसी बीचमें भगवान्के सखा ग्वाल-बालोंका वेश धारण करके महामायावी मयपुत्र व्योमासुर वहाँ आया। वह आकाशवत् शान्त और बड़ा विचित्र था। वह भी ग्वाल-बालोंके साथ खेलने लगा। वह चोर बन गया और जो ग्वाल-बाल भेंड़ बने हुए थे, उनको चुरा-चुराकर पर्वतकी गुफामें डालने लगा, बोला कि चलो-चलो यहाँ बैठो, आँखें बन्द कर लो, कान बन्द कर लो, नाक बन्द कर लो, जीभ बन्द कर लो, जिससे कि कोई देखने न पावे। उसने पत्थरसे गुफाका दरवाजा बन्द कर दिया!

जब चार-पाँच ग्वाल-बाल शेष रहे गये, तब श्रीकृष्णने उसको पहचान लिया! इसलिए जब वह आखिरी बार ग्वालोंको लेकर जा रहा था तब जैसे शेर वृक्को, भेंड़ियेको पकड़ ले, वैसे ही भगवान्ने व्योमासुरको पकड़ लिया।

अब तो वह असली रूपमें आगया और अपनेको श्रीकृष्णकी पकड़से छुड़ानेका प्रयास करने लगा। श्रीकृष्णने कहा कि अरे, जिसको हम पकड़ लेते हैं, उसको कभी छोड़ते नहीं हैं। हमने पूतनाको नहीं छोड़ा, शकटासुरको नहीं छोड़ा, तृणावर्तको नहीं छोड़ा, छोड़नेकी पद्धति हमको आती नहीं है। भगवान्ने तुरन्त दोनों हाथोंसे निग्रह करके उसको धरतीपर गिरा दिया और उसके एक-एक अंगको घायल करके 'पशुमारममारयत्' (३३)—पशुकी भाँति गला घोंटकर मार डाला। फिर श्रीकृष्णने गुहापिधानका निर्भेद करके, जिन ग्वालोंको व्योमासुरने बेहोश कर दिया था, उनको निकाल दिया!

देखो, साधारण लोगोंको पता नहीं होता कि बेहोशी क्या होती है और समाधि क्या होती है। वहाँ जो स्थिति थी, वह असुराक्रान्त थी। भगवान्ने उसका निर्भेदन करके सबको जाग्रत कर दिया और मानो कहा कि आओ, हमारी भक्ति करो, हमारे सखा बनो और हमारे साथ नाचो, गाओ, खेलो! तुम शून्यमें कहाँ जा रहे हो! जड़तामें क्यों डूब रहे हो! लो, हमारी स्तुति करो, मुझमें अपना मन लगाओ और गोकुलमें चलो!



श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि परीक्षित, अक्रूरजी कंससे मिलनेके बाद उस रात मथुरामें ही रह गये। वह महाग्मति हैं, बड़े बुद्धिमान् हैं। यदि कंसकी अवज्ञा करके कह देते कि हम श्रीकृष्णको लेने नहीं जायेंगे तो वह उनको भी मारता या जेलखानेमें डाल देता। इसलिए वे रात भर तो चुपचाप रहे और दूसरे दिन रथपर सवार होकर नन्दबाबाके गोकुलकी ओर चल पड़े।

महामाया अक्रूरजीको मार्गमें ही कमलनयन श्रीकृष्णमें पराभक्तिकी प्राप्ति हो गयी और वे मनमें सोचने लगे कि 'किं मयाऽऽचरितं भद्रं किं तप्तं परमं तपः' (३)—मैंने ऐसी कौन-सी श्रेष्ठ तपस्या की है, देशकालानुसार किसी सत्पात्रको क्या दान किया है कि आज मुझको भगवान्का दर्शन होगा। भगवान्का दर्शन तो समस्त धर्म-कर्मोंका फल है। मैं तो यह समझता हूँ कि जैसे शूद्रजन्माके लिए वेद दुर्लभ है, वैसे ही मेरे सरीखे विषयीके लिए उत्तमश्लोकका दर्शन अत्यन्त दुर्लभ है। फिर भी ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि 'ममाधमस्यापि स्यादेवाच्युतदर्शनम्' (५)—मुझ अधमको भगवान्के दर्शन होंगे।

देखो, भगवान् वही है, जो अधमोंको मिले। जब भगवान् बड़े-बड़े लोगोंको, छाँट-छाँटकर मिलने लगेगा तब वह भगवान् थोड़े ही लोगोंका रह जायेगा। इसीलिए गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं—

केवट मीत कहे सुख मानत, बानर बन्धु बड़ाई।

जो लोग तत्त्वज्ञान नहीं प्राप्त कर सकते, समाधि नहीं लगा सकते, निरन्तर भजन नहीं कर सकते, उनके कल्याणके लिए ही विशेषकर भगवान्का अवतार होता है। इसलिए अक्रूरजी सोचते हैं कि मेरे सरीखे अधमको भी भगवान् जरूर मिलेंगे, इसमें निराश होनेकी बात नहीं है। श्रीरामानुजाचार्यजी महाराजने भी कहा है कि अपने उद्देश्यको कभी दुर्लभ मत समझना। ईश्वर हमको कैसे मिलेगा—यह उद्देश्य-दुर्लभत्व अपने चित्तमें कभी मत आने देना और अपने दोषके अनुसन्धानमें न लगकर भगवद्गुणानुसन्धानमें लगना। उनके सौन्दर्य, माधुर्य, औदार्य और वात्सल्यका अनुसन्धान करना तथा यह ध्यान रखना कि साधन, साध्य दोनों वही हैं। भक्तको ऐसा ही होना चाहिए।

अक्रूरजीके मनमें अच्युतके दर्शनकी आशा प्रबल हुई और बोले कि जरूर दर्शन होगा। मुझमें वह सामर्थ्य नहीं है तो क्या हुआ। काल-नदी भी तो कभी-कभी बहाकर गन्तव्य तक पहुँचा देती है। आज हमारे सारे अमङ्गल नष्ट हो गये और हमारा जन्म सफल हो गया।

'यन्नमस्ये भगवतो योगिध्येयाङ्घ्रिपङ्कजम्' (६)—आज मैं भगवान्‌के उन चरण-कमलोंको, उनका प्रत्यक्ष दर्शन करके, नमस्कार करूँगा, जिनका बड़े-बड़े योगी लोग केवल ध्यान करते हैं, जो योगिध्येय हैं। कंसने मेरे ऊपर बड़ी कृपा की कि मुझे भगवान्‌के पास भेज रहा है। जिनके नखमण्डलकी कान्तिसे बड़े-बड़े महात्मा तर गये, आज मुझे उनका दर्शन प्राप्त होगा। ब्रह्मा, शंकर आदि देवता और श्रीदेवी जिनके चरणोंकी उपासना करती हैं, उन चरणोंको मैं देखूँगा कि किस प्रकार वे गोचारणके लिए वनमें जाते हैं और कैसे उनमें गोपियोंके वक्षस्थलका कुङ्कुम लगा हुआ है। आज मैं देखूगा वह सुकपोल-नासिकावाला मुकुन्दका मुखारविन्द, जिसमें मुस्कान है, प्रेम भरी चितवन है और जिसपर 'गुडालकावृतम्' (९)—घुँघराले बाल लटक रहे हैं। अहो, आज मैं उन भगवान्‌का दर्शन करूँगा, जिनकी आँखें लाल कमलके सदृश हैं—'अरुणकञ्जलोचनम्'। (९)

देखो, आज मुझे शुभ शकुन हो रहे हैं। भगवान् पृथिवीका भार उतारनेके लिए आये हैं। आज वे मुझको अपने हृदयसे लगा लेंगे और मुझे मेरी आँखोंका फल मिल जायेगा। भगवान्‌में अहंका लेश बिल्कुल नहीं है, वे सत्-असत् दोनोंके द्रष्टा हैं, उनके तेजसे 'तमोभिदाभ्रम अपास्त होता है अर्थात् अज्ञानजन्य भ्रम नष्ट हो जाता है। उनके ईक्षणसे ही सृष्टिकी यह सारी रचना हुई है। उनका दर्शन अपने हृदयमें ही होता है। उनके नाम-गुण-कर्मका वर्णन करनेसे सारे पाप नष्ट हो जाते हैं, मनुष्य शुभ प्राप्त करके जगत्‌को पवित्र करते हैं। भगवद्-गुणानुवादके बिना यह वाणी मुर्देकी शोभा बढ़ानेवाली है। जिन भगवान्‌के गुण-गानका इतना माहात्म्य है, वही प्रभु यदुवंशमें प्रकट हुए हैं, हमलोगोंका यश बढ़ा रहे हैं और देवता लोग भी उनका मान कर रहे हैं।

निस्सन्देह मैं उन भगवान्‌के दर्शन करूँगा, जो महापुरुषोंके आश्रय हैं, गुरु हैं, त्रैलोक्य-कान्त हैं। असलमें नेत्रवानोंके लिए 'दृशिमन्महोत्सवम्' (१४)—दृशिमान् प्राणियोंके लिए भगवान्‌के अङ्ग महोत्सव रूप हैं। यदि महावाक्य-जन्य वृत्तिसे ऐक्यका बोध हो जाय, अविद्याकी निवृत्ति हो जाय और एकाग्रतासे समाधि लग जाय तो सब ठीक है। मन भी पवित्र हो गया, वृत्ति भी पवित्र हो गयी और केवल पवित्र परमार्थ-तत्त्व रह गया। लेकिन व्यवहारमें हमको जो आँखें मिली हैं, उनसे जबतक भगवान्‌का दर्शन नहीं हो; तबतक क्या वे आँखें संसारके रूपको ही देखनेके लिए प्रकट हुई हैं ? कदापि नहीं।

आँखोंकी तो सफलता ही इसमें है कि उनसे परमात्माका दर्शन हो। वह परमार्थ हो क्या, जो केवल सोचने भरके लिए हो। परमार्थ तो वह है, जिसे हम नाकसे सूँघ सकें, जीभसे चाट सकें, आँखसे देख सकें, त्वचासे छू सकें और कानसे सुन सकें। जिससे हमारा व्यवहार ओत-प्रोत हो जाये, उसका नाम परमार्थ होता है। परमार्थके सिवाय जो बहुत सी आलतू-फालतू चीजें दिखाई पड़ती हैं; उनके भेद-भ्रमको मिटानेके लिए ही यह सब कोशिश करनी पड़ती है।

अक्रूरजी कहते हैं कि आज मैं जरूर परमात्माका दर्शन करूँगा। 'रूपं दधानं श्रिय ईप्सितास्पदम्' (१४)—जिस रूपको देखनेके लिए लक्ष्मीजी व्याकुल रहती हैं, उसको आज मैं देखूँगा। 'आसन्नुषसः सुदर्शनाः' (१४)—आजका प्रातःकाल बड़ा ही शुभ है, जिसमें मैं भगवान्‌के दर्शन करूँगा। उनको देखते ही झट रथपरसे कूद पड़ूँगा, उनके चरणोंमें गिरूँगा और वे अपना हस्तकमल मेरे सिरपर रख देंगे।

भगवान् संसारके भयभीत प्राणियोंको अभयदान करनेके लिए ही—शरणैषी प्राणियोंको अभयदान करनेके लिए ही अवतरित हैं। उनकी पूजा करके इन्द्र और बलि सर्वोपरि हो गये। भगवान्‌ने जिन हाथोंसे गोपियोंके श्रम-स्वेदको पोंछा था, उन्हीं हाथोंको वे मेरे सिरपर रखेंगे।

यद्यपि मैं कंसका भेजा हुआ हूँ तथापि भगवान् मुझे शत्रु नहीं समझेंगे, क्योंकि वे क्षेत्रज्ञ रूपसे सबके हृदयमें ही बैठे हुए हैं और अपनी निर्मल दृष्टिसे सबको देखते हैं। जब मैं उनके चरणोंमें गिरूँगा और हाथ जोड़कर उनके सामने खड़ा हो जाऊँगा तब वे मुस्कुराकर और प्रेमसे भींगी दृष्टिके द्वारा मुझे देखेंगे। उस समय 'सपद्यपध्वस्तसमस्तकिल्बिषो वोढा मुदम् वीतविशङ्क ऊर्जिताम्' (१९)—मेरी सारी शङ्काएँ निवृत्त हो' जायेंगी और मेरे सारे पाप-ताप नष्ट हो जायेंगे। उस समय मैं एक पृथक् आनन्दका आधार बन जाऊँगा, जब वे मुझको अपने हृदयसे लगायेंगे और कहेंगे कि अरे, यह तो हमारा सुहृद् है, जाति है, हमारे सिवाय इसका कोई देवता नहीं है। जब भगवान् अपनी लम्बी-लम्बी बाहोंमें बाँधकर मुझे अपने हृदयसे लगायेंगे तब मेरा आत्मा पवित्र हो जायेगा और मेरे सारे कर्मात्मक बन्धन ढोले पड़ जायेंगे। जब मुझे भगवान्‌का अङ्ग-सङ्ग मिल जायेगा और मैं सिर झुकाकर, हाथ जोड़कर, उनके सामने खड़ा हो जाऊँगा और वे मुझको 'ओ अक्रूर चाचाजी' कहकर सम्बोधित करेंगे तब मेरा जन्म सफल हो जायेगा!

'नैवाहृतो यो धिगमुष्य जन्म तत्' (२१)—जिसको भगवान्‌से आदर प्राप्त नहीं हुआ, उसके जन्मको धिक्कार है। 'न तस्य कश्चिद् दयितः'—यद्यपि भगवान्‌का कोई प्रिय-अप्रिय नहीं है, सुहृत्तम भी नहीं है, द्वेष्य-उपेक्ष्य भी नहीं है; तथापि 'भक्तान् भजते यथा तथा' (२२)—जिस प्रकार

कोई कल्पवृक्षके नीचे आजाय, उसका आश्रय ग्रहण कर ले तो वह कल्पवृक्ष उसके मनोरथको पूरा करता है, उसी प्रकार भगवान् भी अपनी शरणमें आये हुएके मनोरथको पूर्ण करते हैं। जब मैं बलरामजीके सामने सिर झुकाऊँगा तब वे मुस्कुराकर मुझे हृदयसे लगा लेंगे, मेरे हाथ पकड़ लेंगे, घरमें ले जायेंगे और पूछेंगे कि कंस हमारे भाई-बन्धुओंसे कैसा आचरण कर रहा है?

श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि परीक्षित, यह अक्रूरजीके मनकी दशा है—'इति सञ्चिन्तयन् कृष्णम्'। वे अभी व्रजमें पहुँचे तो हैं नहीं, पहुँचनेके पहले ही उनका मन इस प्रकार श्रीकृष्णका चिन्तन करने लगा!

आप लोगोंको यह भूल गया होगा कि अक्रूरजी अभी रथपर बैठे-बैठे ही यह सब सोच रहे हैं। किन्तु आप लोग अक्रूरजीके उद्गारोंके साथ श्रीकृष्ण-लीलाके दर्शन कर आये। इसका नाम है भागवत! आप लोग बैठे हैं मण्डपमें और भागवतने आपके मनको यहाँसे उठाकर भगवान्की लीलामें प्रविष्ट कर दिया। आपका प्रपञ्च-विस्मरण हुआ, भगवान्के चरणोंमें आपको आसक्तिका उदय हुआ, शरीरमें रोमाञ्च हुआ, आँखोंमें आँसू आये और कण्ठ गद्गद हुआ। यही तो जीवनके लिए सौभाग्यकी वस्तु है!

रथेन गोकुलं प्राप्तः सूर्यश्चास्तगिरिं नृप। २४

यद्यपि अक्रूरजीका रथ बड़ा तेज चलता था। 'रथेन वायुवेगेन'—यह बात आगे (३९.३८) कही गयी है। लेकिन जब कोई रथ हाँकनेवाला हो, तब तो वह तेज चले। यहाँ रथमें घोड़े जरूर जुते हैं, लेकिन जो रथ चलानेवाले हैं, वे मानों रथपर हैं ही नहीं। उनका मन तो पहले ही आगे बढ़कर गोकुलमें पहुँच गया और उनका रथ अपनी साधारण गतिसे धीमे-धीमे चलता रहा। इसीलिए वह सूर्यास्तके समय गोकुलमें पहुँचा।

पदानि तस्याखिललोकपालकिरीटजुष्टामलपादरेणोः। २५

अक्रूरजीने नन्दगाँवके गोष्ठमें पहुँचकर भगवान्के चरणचिह्न देखे और तुरन्त पहचान गये। वे जानते हैं कि भगवान्के चरणारविन्दमें अब्ज और यव आदिके चिह्न हैं। क्योंकि वे भक्तोंका पालन-पोषण करते हैं। भगवान्के चरणोंमें अंकुशका चिह्न इसलिए है कि वे मनरूप हाथीको वशमें करते हैं। उन चरण-चिह्नोंका दर्शन करते ही अक्रूरजीका ऐसा आनन्द-वर्द्धन हुआ कि प्रेमसे उनके रोम खड़े हो गये, उनकी आँखोंसे आँसू बहने लगे, वे रथसे कूद पड़े और वहीं धूलमें, चरण-चिह्नोंमें लोट-पोट होते हुए यह कहने लगे कि अहो, यह हमारे प्रभुके चरणोंकी धूल है—'स तेष्वचेष्टत, प्रभोरमूऱ्याङ्घ्रिरजांस्यहो इति'। (२६)

देखो मनुष्यके जीवनका इतना ही प्रयोजन है, इसीमें उसको सफलता है कि वह दम्भ न करे। दम्भ या बनावट न तो किसीके डरसे करना चाहिए और न शोकसे ग्रस्त होकर करना चाहिए। अक्रूरजी जबसे कंसका सन्देश लेकर नन्दगाँवको ओर चले हैं और 'सन्देशाद् यो हरेर्लिङ्गदर्शनश्रवणादिभिः' (२७)—उन्होंने भगवान्के चरण-चिह्नोंको देखा है तथा उनके बारेमें दम्भ-भय-शोक छोड़कर श्रवण किया है तबसे उनकी जो अवस्था है, यह यदि प्राप्त हो जाय तो समझो कि मनुष्यका जीवन सफल हो गया। जब अक्रूरजीकी ऐसी अवस्था हो गयी तो भगवान् उनको दर्शन देनेमें देर कैसे करते?

अक्रूरजीने देखा कि पीताम्बर-नीलाम्बरधारी, श्यामसुन्दर-गौरसुन्दर, शरत्कमलके समान नेत्रवाले, किशोर, श्यामल-श्वेत, श्रीनिकेत, बृहद्भुज, सुमुख, सुन्दरवर, अपने-अपने चरण-चिह्नोंसे व्रज-धूलिको चिह्नित और शोभायमान करते हुए, उदार, रुचिर-क्रीड़ा, स्रग्वी, वनमाली, पुण्यगन्धानुलिप्त, स्नात, विरजवास, प्रधानपुरुष, एक शेष और दूसरे शुद्ध चिन्मात्र, दोनों एक साथ चल रहे हैं। जगद्-हेतु और जगत्पतिके रूपमें दोनोंने ही अवतार ग्रहण किया है। मानो दोनों मरकत और सोनेके दो पर्वत हों। अक्रूरजी विह्वल होकर फिर रथसे कूद पड़े और उनके चरणोंमें गिर गये। भगवान्के दर्शनोंसे उनको अतिशय आनन्द हुआ, उनकी आँखें वाष्पसे, आँसूसे भर गयीं और शरीरमें रोमाञ्च हो गया!

देखो, जो एक बार भी भगवान्के चरणोंमें प्रणाम कर दे और यह प्रार्थना करे कि मैं तुम्हारा हूँ—'सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते' (रामायण ६.१८.३३)—तो प्रणत-वत्सल भगवान् उसको अपना लेते हैं और उससे ऐसे स्नेह करने लगते हैं, जैसे गाय अपने बछड़ेसे स्नेह करती है।

अब अक्रूरजीके प्रणाम करनेपर उनका एक हाथ श्रीकृष्णने पकड़ा, दूसरा हाथ बलरामजीने पकड़ा और वे उनको घर ले आये—'गृहीत्वा पाणिना पाणी अनयत् सानुजो गृहम्' (३७)। वहाँ उन्होंने अक्रूरजीका स्वागत-सत्कार किया, उनको श्रेष्ठ आसन दिया, पाद्य-मधुपर्क दिया और गायका निवेदन किया।

यहाँ जरा अपने भगवान् श्रीकृष्णका दर्शन करो। ऐसा नहीं कि वे अक्रूरजीके सामने सिर उठाये बैठे हैं। नहीं, नहीं, वे तो 'संवाह्य श्रान्तमादृतः' (३९)—अक्रूरजीके पाँव दबा रहे हैं। ऐसा भगवान् सृष्टिके पर्देपर कहीं भी नहीं मिलेगा। यह तो हमारा ही भगवान् है, जो अपने भक्तके पाँव दबाता है। केवल भक्त ही भगवान्की भक्ति नहीं करता, भगवान् भी अपने भक्तकी भक्ति करता है। उनकी घोषणा है कि 'अहं भक्तपराधीनः' (९.४.६३)—मैं भक्तके पराधीन हूँ।

इतना ही नहीं, 'प्रीतो व्यमुञ्चत् अब्बिन्दून्'—भक्तके लिए भगवान्की आँखोंसे झरझर आँसू भी गिरते हैं। 'तथाहमपि तच्चित्तो निद्रां च न लभे निशि'। भगवान्को रुक्मिणीके लिए रातमें नींद नहीं आती है, उनकी रुक्मिण्याकारवृत्ति हो जाती है। हमारे भगवान् ऐसे हैं, जिनकी वृत्ति भक्ताकार है, जो भक्तके पराधीन हैं और जिनका भक्तके जीवनमें जीवन है, ज्ञानमें ज्ञान है और आनन्दमें आनन्द है। यह केवल हमारे व्यक्तिगत भगवान् हैं। इसलिए यहाँ उनके स्वभावका, सौशील्यका और प्रणतवात्सल्यका वर्णन किया।

भगवान्ने रथ-यात्रासे थके हुए अक्रूरजीका 'अन्नं बहुगुणं मेध्यं श्रद्धयोपाहरद् विभुः' (३९)—पहले तो बड़े आदरसे पादसंवाहन किया। फिर श्रद्धाके साथ बहुगुण अन्नका भोजन कराया। जब अक्रूरजी भोजन कर चुके तब उनको मुखवास दिया, गन्ध दिया और फूलोंकी माला पहनायी। इस प्रकार भगवान्ने अक्रूरजीको खूब प्रसन्न किया और स्वयं भी प्रसन्न हुए। इसके बाद बातचीत प्रारम्भ हुई।

देखो, इस प्रसङ्गसे यह शिक्षा मिलती है कि किसीके आते ही अपना सुख-दुःख सुनाने नहीं बैठ जाना चाहिए। पहले समागतकी भूख-प्यासका निवारण करना चाहिए, उसको सब तरहकी सुख-सुविधा देनी चाहिए और उसके बाद ही कुशल-मङ्गलकी चर्चा करनी चाहिए। इसीलिए बलरामजी और श्रीकृष्णने पहले अक्रूरजीको सब प्रकारसे सन्तुष्ट किया, तृप्त किया और फिर 'परां प्रीतिं व्यधात् पुनः' (४०)—परा प्रीति दे दी।

इसके बाद नन्दबाबाने अक्रूरजीसे पूछा कि कंसके जीवित रहते आप लोग कैसे सुखसे रह रहे हैं? अरे, उसके रहते तो जैसे कसाईके हाथमें भेड़ोंकी दशा होती है, वही हाल मथुराकी प्रजाका होगा—'सौनपाला इवावयः' (४१)? जिसने अपनी सगी बहनके बच्चोंको मार डाला, उसकी प्रजाका सुख हम क्या पूछें?



श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि अक्रूरजीने .ार्गमें जो-जो विचार किये थे, वे सब भगवान्‌की कृपासे पूरे हो गये। जिसके ऊपर स्वयं भगवान् प्रसन्न हो जायँ, उसके लिए कोई वस्तु दुर्लभ नहीं है। किन्तु असलमें भगवान्‌का प्रेमी तो कुछ चाहता ही नहीं है।

भोजनके बाद, रात्रिके समय, भगवान्‌ने पूछा कि अक्रूरजी, क्या हाल-चाल है मथुराके हमारे भाई-बन्धुओंका? मामाके रूपमें हमारे वंशका जो रोग है, वह तो बढ़ता ही जा रहा है और उसीके कारण सारे दुःख आये हुए हैं। लेकिन छोड़िये उसकी बात; आप अपने आनेका कारण बताइये!

अक्रूरजीने कुछ छिपाया नहीं। कंसने जो-कुछ भी कहा था, वह सब कह दिया। यह भी बता दिया कि वहाँ रामकृष्णको मारनेके लिए क्या-क्या योजनाएँ बनी हैं, क्या-षड्यन्त्र रचे गये हैं।

यह सब सुनकर बलरामजी और श्रीकृष्ण हँसने लगे। उनकी हँसीका मतलब यह था कि शत्रुके षड्यन्त्रको विफल बनाने और उसको उसीके विपरीत करनेकी कला हमको आती है।

इसके बाद दोनों भाइयोंने नन्दजीको कंसका वास्तविक अभिप्राय तो बताया नहीं, केवल यही बताया कि मथुरामें बड़ा भारी उत्सव हो रहा है। उसे देखनेके लिए वहाँ चलना है।

इसपर नन्दबाबाने सब गोपोंको आज्ञा दे दी कि गाँवमें जितना भी दही-दूध आदि है, वह सब ले लो, छकड़े जोड़ लो, कल सबेरे ही हम लोग मथुरा पहुँच जायेंगे।

जब यह बात गोपियोंको मालूम हुई, तब उनको बड़ी पीड़ा हुई। उनकी लम्बी साँस चलने लगी और उनका मुँह मुरझा गया। उनको वस्त्रादिका कोई ध्यान नहीं रहा। उनका सारा ध्यान श्रीकृष्णमें चला गया, मानों वे किसी दूसरे लोकमें पहुँच गयी हों। उनके मनमें श्रीकृष्णको सुललित गति, चेष्टा, स्निग्ध-हासावलोकन, शोकापहारी प्रोद्दाम-चरित्र—यह सब मूर्तिमान् होने लगा! वे सब विरह-कातर हो गयीं और कहने लगीं कि ब्रह्माजी, तुमको कोई दया-माया नहीं है। पहले तो तुम लोगोंको मैत्री और प्रणयसे इकट्ठा कर देते हो, उसके बाद अभी उन्हें तृप्ति भी नहीं होती और वे कृतार्थ भी नहीं हो पाते कि उनको व्यर्थमें अलग कर देते हो! तुम तो लोगोंके साथ बच्चेकी तरह खेलते हो! पहले तो तुमने हमें मुकुन्दका कुन्दवत् हास्ययुक्त मुखारविन्द दिखाया, किन्तु अब उनको हमारी आँखोंसे ओझल कर रहे हो—यह कोई अच्छी बात नहीं है।

असलमें विधाता, तुम बड़े क्रूर हो और अपनी क्रूरता छिपानेके लिए अक्रूरका नाम धारण करके आये हो। 'क्रूरस्त्वमक्रूरसमाख्यया स्म नः' (२१)—जैसे कोई डाकू साधुका नाम रख ले, वैसे ही तुम हो तो क्रूर, पर अक्रूर नाम रखकर यहाँ आये हो और हमें आँख देकर फिर उसको हर रहे हो। जिन आँखोंसे हमने श्रीकृष्णके शरीरके एक अंशमें सृष्टिका सम्पूर्ण सौन्दर्य देखा, उन्हींको तुम हमसे हरण कर रहे हो!

देखो तो, ये कृष्ण भी कैसे हैं ? जिनके लिए हमने सब-कुछ छोड़ा, वे ही हमको छोड़कर मथुरा जा रहे हैं। आज तो मथुराके स्त्रियोंकी प्रातःवेला सफल होगी। वहाँ जाकर हमारे श्रीकृष्ण, हमारे श्यामसुन्दर अपने मधुर, मञ्जु भाषणके द्वारा उनके मनका अपहरण करेंगे और फिर हमारे पास क्यों आयेंगे ? 'सलज्जस्मितविभ्रमैर्भ्रमन्' (२४)—वे ठहरीं नागरी, नगरकी रहनेवाली, चतुरा और हम हैं गाँवकी गँवार ! अब हमारी ओर श्रीकृष्णका ध्यान क्यों जायेगा ? अब तो वे ही श्रीकृष्णका दर्शन करेंगी और उन्हींको परमानन्दकी प्राप्ति होगी।

अरे, इस क्रूरका, इस अकरुणका नाम अक्रूर नहीं होना चाहिए था। देखो तो हम लोगोंको कोई आश्वासन दिये बिना हमारे प्यारेको लिये जा रहा है; बड़ा कठोर है उसका हृदय ! ये ग्वाले भी कैसे मदान्ध हो गये हैं, कहते हैं कि जल्दी चलो, जल्दी चलो।

बादमें गोपियोंने कहा कि हम आगे बढ़कर श्रीकृष्णको रोक लेंगी ! हमारे ये बड़े-बूढ़े क्या करेंगे ! हम तो आधे क्षणके लिए भी श्रीकृष्णका परित्याग नहीं कर सकतीं ! हमने रास-गोष्ठीमें जिनके अनुराग, ललित-स्मित और वल्गुमन्त्र, लीलावलोक, परिरम्भणसे सारी रात्रि क्षणके समान व्यतीत कर दी, हाय-हाय, उनके बिना हम अपना समय कैसे बितायेंगी ? प्रतिदिन जिस समय हम देखती हैं कि हमारे प्यारे गाय चराकर लौटते होते हैं, उनके शरीरपर गायोंके खुरकी धूल पड़ी होती है, वे बाँसुरी बजाते होते हैं और प्रेमभरी मुस्कान-युक्त कटाक्ष-निरीक्षणसे हमको देखते होते हैं उस समय हमारी क्या दशा होती है ! उनके बिना हम कैसे रह सकती हैं !

इस प्रकार गोपियाँ लज्जा छोड़कर और 'गोविन्द दामोदर माधवेति' (३१)—नाम ले-लेकर रोने लगीं।

सूर्योदय होनेपर सन्ध्या-वन्दन आदि करके अक्रूरने अपना रथ चलाया। नन्द आदि गोप भी बड़े भारी उपायन अर्थात् भेंट-सामग्री लेकर उनके साथ चले। गोपियाँ यह आकांक्षा कर रही थीं कि श्रीकृष्ण हमारे लिए कुछ सन्देश, कुछ आश्वासन देकर मथुरा जायँ। इसलिए भगवान्ने उनकी दशा देखकर एक दूतके द्वारा यह कहला भेजा—'सान्त्वयामास सप्रेमैरायास्य इति दौत्यकैः'। (३५) इसका एक अर्थ तो यह है कि मैं आऊँगा—'आयास्ये'। दूसरा अर्थ है कि 'दौत्यकैः आयास्ये'—स्वयं तो नहीं आऊँगा, दूतके द्वारा आऊँगा अर्थात् उद्धवके रूपमें आऊँगा। जो धर्मात्मा लोग होते हैं, उनको श्रीकृष्ण झूठ बोलते हैं, यह बात सहन नहीं होती। अतः बोलते समय श्रीकृष्णने यह ख्याल रखा कि मेरी बात सच्ची होनी चाहिए और कहा कि—'दौत्यकैः आयास्ये'।

जब तक रथकी धूल दिखती रही तबतक गोपियाँ देखती रहीं, मानों गोपियोंकी आत्मा श्रीकृष्णका पीछा कर रही हो। उसके बाद जब दिखना बन्द हो गया तब वे निराश होकर

लौट आयीं। उनके मनकी आशा टूट गयी—'ता निराशा निववृतुर्गोविन्दविनिवर्तने' (३७)। किन्तु फिर भी वे समझती थीं कि वे हमेशाके लिए नहीं गये हैं, केवल आज नहीं लौटेंगे। उनके मनमें यह भी था कि थोड़ी दूर जानेपर श्रीकृष्णके हृदयमें जब मैयाका और हमारा प्रेम उमड़ेगा तब अक्रूरसे कहेंगे कि रथ घुमाओ !

लेकिन जब काफी देर हो गयी और उन्होंने देखा कि वे तो लौटते नहीं तब वे लौट आयीं और श्रीकृष्णकी लीलाका गान करने लगीं। विरहीके लिए एकमात्र अपने प्रियतमके गुणका गान ही सहारा है। गोपियाँ उसीसे अपना समय व्यतीत करने लगीं।

इधर श्रीकृष्ण और बलरामजी अक्रूरके साथ उनके वायुवेगवाले रथसे 'रथेन वायुवेगेन कालिन्दीमघनाशिनीम्' (३८)—यमुना-तटपर जा पहुँचे।

इसपर एक सुधारक सम्प्रदायके आचार्य स्वामीजीने आक्षेप किया है। लेकिन उस आक्षेपका न कोई सिर है, न पैर है; बल्कि उस आक्षेपको पढ़कर ऐसा लगता है कि स्वामीजीने श्रीमद्भागवतको पढ़ा ही नहीं। इस श्लोकका तो सीधा-सा अर्थ है कि अक्रूरजीने नन्दगाँवसे रथ हाँकनेके बाद यमुनाके किनारेतक उसको वायुवेगसे चलाया।

तो, यमुना-तटपर पहुँचकर बलरामजी और श्रीकृष्णने यमुनाजीके जलका स्पर्श किया। वृक्षोंकी झुरमुटमें रथ खड़ा करके उसपर बैठ गये। इधर अक्रूरजी दोनों भाइयोंसे अनुमति लेकर 'कालिन्द्या ह्रदमागत्य' (४०)—यमुनाजीके जलमें, ब्रह्महृदमें प्रविष्ट हुए, स्नान किया और स्नान करके जब जप करने लगे तो क्या देखते हैं कि राम और कृष्ण यमुना जलके भीतर हैं। उन्होंने आश्चर्य प्रकट किया कि अभी तो वे रथपर थे, यहाँ कैसे आगये ? रथपर जाकर देखा तो वहाँ भी राम और कृष्ण ज्यों-के-त्यों बैठे हैं और फिर यमुना-जलमें लौटकर देखते हैं तो एक ओर शेष भगवान् हैं तथा दूसरी ओर सिद्ध-चारण-गन्धर्व भगवान्‌की स्तुति कर रहे हैं। भगवान् शेष नीलाम्बर हैं और उनके उत्सङ्गमें घनश्याम, पीताम्बरधारी, चतुर्भुज, शान्त, पद्मपत्रारुणेक्षण महापुरुष विद्यमान हैं। वे मुस्कुरा रहे हैं, उनके मुखारविन्दसे प्रसन्नता बरस रही है। उनकी दृष्टि बड़ी सुन्दर है। उनका सर्वाङ्गसुन्दर रूप देखकर अक्रूर प्रेममें मग्न हो गये।

यहाँ यह वर्णन आया है कि भगवान्‌के साथ सब पार्षद थे, सब आयुध थे और श्रिया, पुष्ट्या, गिरा, कान्त्या, कीर्त्या, तुष्ट्या, इलया, ऊर्जया आदिसे युक्त थे। वे सब उनकी सेवा कर रही थीं। यह देखकर अक्रूरको हो गया रोमाञ्च और वे हाथ जोड़कर गद्‌गद वाणीसे भगवान्‌की स्तुति करने लगे।



अक्रूरजी बोले कि 'नतोऽस्म्यहं त्वाखिलहेतुहेतुम्' (१)—प्रभो, कोई कहता है कि जगत्का कारण परमाणु है और उसके हेतु आप हैं। कोई कहता है कि जगत्का कारण प्रकृति है उसके भी हेतु आप हैं। अभिप्राय यह कि सम्पूर्ण हेतुओंका पर्यवसान आपमें है और आप दूर नहीं, सबके हृदयोंमें बैठे हैं। आपके ही नाभि-कोशसे ब्रह्मा प्रकट हुए हैं। पृथिवी, अग्नि, जल आदि ये सब-के-सब आपके अङ्ग हैं—'सर्वे ये हेतवस्ते जगतोऽङ्गभूताः'। (२) ब्रह्मादि आपके स्वरूपको नहीं जानते, क्योंकि वे तो अनात्मारूप शरीरको, व्यक्तित्वको 'मैं' मानकर बैठ गये हैं। फिर मेरे जैसा अन्धा तो आपको क्या जानेगा ?

योगी लोग महापुरुषके रूपमें आपका ध्यान करते हैं। कई लोग साध्यात्म, साधिभूत और साधिदैव इस विद्यात्रयीके द्वारा यज्ञानुष्ठान करके आपकी आराधना करते हैं। जब वे 'इन्द्राय स्वाहा' 'अग्नये स्वाहा' करते हैं, तब आपका ही नाम लेते हैं। कोई-कोई सब कर्मोंका संन्यास करके केवल ज्ञान-यज्ञसे आपकी आराधना करते हैं। उसमें न आग जलानी पड़ती है और न स्रुवा-स्रुक्की आवश्यकता पड़ती है। निवृत्ति-परायण ऐसे ही आपका ध्यान करते हैं। कोई-कोई पञ्चरात्रकी रीतिसे बहुमूर्त्तिके रूपमें आपकी आराधना करते हैं और कोई शिव-रूपमें आपकी आराधना करते हैं।

बात यह है कि देवताका नाम चाहे कुछ हो, उसका आसन चाहे कुछ हो और मार्ग भी चाहे कुछ हो—इससे कोई मतलब नहीं है। वास्तवमें तो 'सर्व एव यजन्ति त्वां सर्वदेवमयेश्वरम्' (८)—सर्वदेवोंमें आप ही नारायण हैं, आप ही परमेश्वर हैं और सब आपकी ही आराधना करते हैं। 'येऽप्यन्यदेवता भक्ता येप्यन्यधियः प्रभो' (९)—भले ही कोई किसी दूसरे देवताका भक्त हो और यह समझता हो कि उसका आराध्य कोई दूसरा है, परन्तु असलमें 'बुद्धिमात्रभेदो न वस्तुभेदः'—उसके बुद्धिमात्रका ही भेद है, वस्तुका भेद नहीं है।

यथाद्रिप्रभवा नद्यः पर्जन्यापूरिताः प्रभो।
विशन्ति सर्वतः सिन्धुं तद्वत्त्वां गतयोऽन्ततः॥ १०

जैसे नदी पर्वतसे प्रकट होती है, वर्षासे भर जाती है तथा समुद्रमें जाकर प्रवेश करती है, वैसे ही जितनी भी गतियाँ हैं, जितने भी सम्प्रदाय हैं, जितने भी पन्थ हैं, वे सब अन्तमें जाकर आपमें ही मिलते हैं।

देखो, 'ऋजुकुटिलनानापथजुषाम् नृणामेको गम्यः' (महिम्नस्तोत्र ७)—ये टेढ़े-मेढ़े अथवा सीधे रास्ते ही अनेक हैं, किन्तु भगवान् तो बिल्कुल एक हैं। मैंने किसी जैन-ग्रन्थमें यह पढ़ा था कि 'उदधा इव सर्वसिन्धवः समुदीर्णास्त्वयि नाथ दृष्टयः'। इसका अर्थ है कि हे पारसनाथ, हे नेमिनाथ, जैसे सारी नदियाँ समुद्रमें जाकर मिलती हैं, वैसे ही सारी दृष्टियाँ आपमें जाकर मिलती हैं।

इसी प्रकार अक्रूरजी कहते हैं कि दृष्टियाँ अलग-अलग हैं, परन्तु उनमें-से किसी एकमें फँस जानेपर मनुष्यको व्यापकका दर्शन नहीं होता। भगवन्, आपमें ही आब्रह्म स्थावर सारी सृष्टि स्थित है और आप किसी एक दृष्टिमें आसक्त नहीं होते—'गुणप्रवाहोऽयमविद्यया प्रीतः' । (१२)

देखो, भगवान्‌को न जानने और भजन न करनेके कारण ऐसा कह देनेपर तो उपासक-सिद्धान्त हो जाता है और केवल इतना ही बोलें कि भगवान्‌को न जाननेके कारण ही यह प्रपञ्च प्रवाहित हो रहा है तो यह ज्ञान-सिद्धान्त है।

प्रभो, अग्नि आपका मुख है, पृथिवी आपका चरण है, सूर्य नेत्र है, नभ नाभि है, दिशाएँ श्रोत्र हैं, स्वर्ग सिर है, देवता भुजा है, सागर कुक्षि है और यह सम्पूर्ण सृष्टि तथा समस्त लोक आपमें ही कल्पित हैं। जैसे उदुम्बरके—गूलरके फलमें छोटे-छोटे कोड़े रहते हैं, वैसे ही ये सारे रूप आपके ही अन्दर हैं। आपने धारण किया मत्स्यका रूप, हयग्रीवका रूप और कूर्मका रूप। आपने ही वराह, सिंह, परशुराम, राम, कृष्ण, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध, बुद्ध और कल्कि रूप ग्रहण किया।

भगवञ्जीवलोकोऽयं मोहितस्तत मायया।
अहंममेत्यसद्ग्राहो भ्राम्यते कर्मवर्त्मसु ॥ २३

अक्रूरजी कहते हैं—यह दुनिया आपकी मायासे ही भासित हो रही है। जीवलोक आपकी मायासे मोहित होकर 'मैं' और 'मेरा'—इस कर्ममार्गमें भटक रहा है। 'अहं चात्मात्मजागार-दारार्थस्वजनादिषु' (२४)—मेरी यह हालत है कि मैं सपनेमें फँस गया हूँ और मिथ्याको सत्य समझता हूँ। अनित्य, अनात्मा और दुःखको नित्य, आत्मा और सुख समझने लगा हूँ। 'विपर्ययमतिर्ह्यहम्' (२५)—मेरी बुद्धि बिगड़ गयी है, द्वन्द्वाराम हो गयी है, अन्धकारमें पड़ गयी है। 'न जाने त्वाऽऽत्मनः प्रियम्' (२५)—आप ही हमारे सच्चे प्यारे हैं—इस बातको मैं भूल गया हूँ। जैसे कोई मूर्ख काईसे ढके हुए जलको छोड़कर मृगतृष्णाकी ओर जाय, वैसे ही मैं आपसे पराङ्मुख हो रहा हूँ। मेरा मन कामना और कर्मसे हत हो रहा है, इधर-उधर भटक रहा है। अब मैं आपके चरण-कमलोंमें आया हूँ। यह आपकी बड़ी कृपा है—

पुंसो भवेद् यर्हि संसरणापवर्गस्त्वय्यब्जनाभ सदुपासनया मतिः स्यात् । २८

जब मनुष्य संसारके चक्करसे छूटनेवाला होता है, तब सन्तोंकी उपासना द्वारा उसकी मति आपके चरणोंमें लगती है। हे विज्ञानमात्र, सर्वप्रत्यय-हेतु, पुरुषेशप्रधान, ब्रह्म, अनन्त-शक्ति, वासुदेव, सर्वभूत-निवास, मैं आपको नमस्कार करता हूँ। हृषीकेश, मैं आपकी शरणमें हूँ, आप मेरी रक्षा कीजिये। यहाँ 'क्षयाय' शब्दका अर्थ आश्रय है, निवास है।



इस प्रकार जब अक्रूरजीने स्तुति की तो जैसे कोई नट अपना नाट्यका पात्र अपना पार्ट बदल दे, वैसे ही श्रीकृष्णने अपना स्वरूप बदल दिया।

अब अक्रूरजीने देखा कि जलमें कुछ नहीं है। वे अपना आवश्यक कर्म पूरा करके बाहर आगये।

भगवान् श्रीकृष्णने पूछा कि क्यों अक्रूरजी, तुमने कहीं कोई आश्चर्य देखा है क्या? अक्रूरजी बोले कि बाबा, दुनियामें जितने भी आश्चर्य हैं, वह सब तुम्हारे ही अन्दर हैं। जब तुमको देख लिया तो आश्चर्य बाकी क्या रहा? सब कुछ तो तुम्हें देखनेमें ही मिल गया।

इसके बाद अक्रूरजीने अपना स्यन्दन (रथ) चलाया! रास्तेमें लोग मिलें और उनकी दृष्टि राम-कृष्णपर पड़ जाये तो वे हटें ही नहीं और तबतक उनकी ओर देखते रहें, जबतक रथ ओझल न हो जाय! 'प्रीता दृष्टि न चाददुः' (७)—एक बार जिसकी नजर श्रीकृष्णपर पड़ गयी, वह फिर लौटकर नहीं आयी! अक्रूरजीने जो कुछ देखा, उसमें इतनी देर हो गयी कि साथके छकड़े तो सब-के-सब मथुराके पास पहुँच गये और अक्रूरजी पीछे रह गये।

भगवान्ने अक्रूरका हाथ पकड़ लिया और हँसते हुए कहा कि अक्रूरजी, आप रथ लेकर आगे जाओ, हम इस तरह रथपर सवार होकर शत्रुकी पुरीमें जानेवाले नहीं हैं, पैदल ही जायेंगे।

अक्रूरजीने कहा कि मैं तुमको साथ लिये बिना नहीं जाऊँगा। तुम तो भक्तवत्सल हो, चलो अपनी चरणरेणुसे हमारे घरको पवित्र करो। वहाँ मैं तुम्हारे चरणोंको धोऊँगा, जिसकी वजहसे बलिकी महिमा बढ़ गयी और एकान्त ऐश्वर्यकी प्राप्ति हुई। तुम्हारे चरणारविन्दके धोवनका जल त्रिलोकीको पवित्र करता है। उससे न जाने कितने जीव पवित्र हुए हैं। सगरके बेटे तो स्वर्गमें ही चले गये हैं। प्रभो, तुम्हें मेरा नमस्कार है।

भगवान्ने कहा कि देखो अक्रूरजी, पहले मैं कंसको मारूँगा और उसके बाद तुम्हारे घरमें आऊँगा। पहले शत्रुका निवारण, फिर उसके बाद मित्रकी इष्ट-सिद्धि।

अक्रूरजी समझ गये। उन्होंने कंसके पास जाकर श्रीकृष्ण-बलरामके आनेका समाचार निवेदित किया और फिर अपने घर चले गये।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि परीक्षित, भगवान् श्रीकृष्ण-बलरामजो और ग्वाल-बालोंके साथ अपराह्नके समय मथुरामें प्रविष्ट हुए।

मथुराकी समृद्धिका क्या वर्णन करें? किसी भी अन्य पुरीके महत्त्वका, यहाँतक कि किसी अंशमें द्वारिकापुरीके महत्त्वका भी इतना सुन्दर वर्णन नहीं है, जितना सुन्दर वर्णन मथुरा-पुरीका किया गया है।

तो, जब बलरामजी और भगवान् श्रीकृष्ण मथुरामें प्रविष्ट हुए तब नगरकी स्त्रियाँ उनको

देखनेके लिए छज्जेपर चढ़ गयीं, उन्हें अपने वस्त्राभूषणोंका कोई ध्यान नहीं रहा, किसीने उल्टा-पुल्टा पहन लिया, किसीने दो अङ्गोंमें पहने जानेवाली चीजको एक ही अङ्गमें पहन लिया। किसी-किसीने केवल एक ही कानमें कुण्डल पहन लिया, एक ही पाँवमें नूपुर पहन लिया और एक ही आँखमें अञ्जन लगा लिया। उनको दूसरे किसीका ध्यान ही नहीं रहा, कोई खाते-खाते, कोई बिना मुँह धोये और कोई सोतेसे ही उठकर छतपर दौड़ गयी। श्रीकृष्णको तो यही चाहिए ही। 'मनांसि तासामरविन्दलोचनः' (२७)—उनका तो अवतार ही इसलिए हुआ है कि मन लूट लें। उन्होंने मथुरावासियोंके मनका ऐसा हरण किया कि आधी जनसंख्या तो उनकी तिरछी नजरसे ही घायल होकर उनके पक्षमें हो गयी। जिसने भी श्रीकृष्णका दर्शन किया, उसने उनकी आनन्दमूर्तिको 'दृशाऽऽत्मलब्धम्' (२८)—आँखोंके रास्ते हृदयमें उतार लिया, उनका मन-ही-मन आलिङ्गन किया, उसके शरीरमें रोमाञ्च हो आया और उसका सारा दुःख मिट गया। उनके आगमनपर मथुरामें फूलोंकी वर्षा हो रही है, नर-नारियोंके द्वारा दधि, अक्षत, उदपात्रसे उनकी पूजा की जा रही है, और नगरके निवासी आपसमें यह कह रहे हैं कि गोपियोंने ऐसी क्या तपस्या की है, जो रोज-रोज इनको देखती हैं।

इसी समय भगवान्‌के मनमें आया कि अब कोई ऐसा खेल खेलना चाहिए, जिससे कि मथुरामें जो दुश्मन हों, वे सब डर जायँ और जो हमारे पक्षके हैं, उनके हृदयमें यह विश्वास हो जाय कि हम कोई मामूली आदमी नहीं हैं।

इतनेमें एक धोबी जो कपड़ा रँगनेका भी काम करता था, कंसके लिए कपड़ोंका गट्ठर लाता हुआ दिखायी पड़ा। श्रीकृष्ण उसके पास पहुँच गये और उससे बोले कि अरे बाबा, मैंने सुना है, तुम हमारे मामाजीके धोबी हो। फिर तो तुम हमारे मामाके ही बराबर हो। हम तुम्हारे भानजे हैं। मामाकी वस्तुपर भानजेका अधिकार होता ही है। इसलिए हमको कपड़े दे दो।

लेकिन कंसका धोबी मदान्ध हो रहा था। आक्षेप करते हुए बोला कि 'गिरिवनेचराः' (३५)—तुम गिरिचर, वनचर हो, पहाड़ोंमें रहनेवाले जङ्गली लोग हो। श्रीकृष्णने कहा कि अच्छा, तुम जङ्गली और पहाड़ी लोगोंको बुरा समझते हो तो लो इसका फल भोगो। यह कहकर उन्होंने उस धोबीको ऐसी चपत लगायी कि वहीं उसका सिर टूटकर गिर पड़ा।

अब तो देखनेवालोंने कहा कि बाबा, इस बालकके तमाचेमें तलवार लगी हुई है क्या? सारे नगरमें यह खबर पहुँच गयी, लोग आश्चर्य-चकित हो गये और आपसमें कहने लगे कि यह बालक कितना निडर है, कितना बहादुर है। यह कंससे डरनेवाला नहीं है।

धोबी तो मर ही गया, उसके साथी सब कपड़े छोड़कर भाग खड़े हुए। बलराम-कृष्ण

उन कपड़ोंको पहनने लगे तो किसीको पहनना ही न आवे। कहाँ व्रजकी, गोकुलकी, वृन्दावनकी वेषभूषा और कहाँ ये राजसी ठाठके कपड़े। इतनेमें वहाँ आगया एक दर्जी और उसने झट कैंचीसे काट-कूटकर कपड़े पहना दिये। भगवान् उसके ऊपर प्रसन्न हो गये और उन्होंने उसको लक्ष्मीका दान किया। उसके बाद दोनों भाई एक मालीके यहाँ पहुँचे, जिसका नाम था सुदामा!

देखो, भगवान् पहले किसी पण्डितके, किसी क्षत्रियके अथवा किसी राजा, रईसके घर नहीं गये। उन्होंने कहा कि व्रजमें हमारे खेलका साथी सुदामा है, आगे भी एक सुदामा हमारा मित्र होनेवाला है। इसलिए यहाँ मथुरामें भी एक सुदामा हमारा मित्र होना चाहिए। यह सोचकर भगवान् अपने आप ही उसके घर चले गये। असलमें वही लोग अच्छे होते हैं, जो प्रेमपूर्वक अपने-आप ही किसीके घर जाते हैं।

तो, श्रीकृष्णके जानेपर मालीने उनको नमस्कार किया, आसन दिया, पूजा की और कहा कि आज हमारा जन्म सार्थक हो गया। हमारे सभी पितृदेवता आपके शुभागमनसे प्रसन्न हो गये। आप तो जगत्के मूल कारण हैं। आपमें अपने-पराये, धनी-गरीब और ऊँच-नीचकी विषम दृष्टि नहीं है—

न हि वां विषमा दृष्टिः सुहृदोर्जगदात्मनोः।
समयोः सर्वभूतेषु भजन्तं भजतोरपि॥ ४७

आप जगदात्मा हैं, सर्वसुहृद् हैं, आपमें भेददृष्टि नहीं है। जो आपका भजन करता है, उसका आप भजन करते हैं। स्वामी, अब आप आज्ञा दीजिये कि मैं आपकी क्या सेवा करूँ?

इसके बाद सुदामा मालीने अच्छे-अच्छे फूल लेकर ऐसी सुन्दर-सुन्दर मालाएँ बनायीं, जैसी कंसके लिए बनायी जाती थीं और उन सब मालाओंको बलरामजी, श्रीकृष्ण तथा उनके अनुयायी ग्वालबालोंके गलेमें पहना दिया।

जब भगवान्ने प्रसन्न होकर कहा कि सुदामा, वर माँग ले! तब माली बोला कि मुझे अचला भक्ति दे दो। ऐसे भगवान्में अचला भक्ति दे दो, जो छोटे-मोटे घर-घरौंदेमें नहीं रहते, बल्कि 'अखिलात्मनि'—सबके अन्तरात्मा हैं। यह भी कृपा करो कि भगवान्के भक्तोंके प्रति मेरा सौहार्द हो और सम्पूर्ण भूतोंमें परम दयाका भाव बना रहे।

इसके बाद भगवान्ने उस मालीको 'अन्वयवर्धिनी' लक्ष्मी तथा बल-आयु-यशका दान दिया और उसके घरसे बाहर निकले। मथुरामें छोटी-छोटी जातिके जितने भी लोग थे, उन सबको तो नन्दबाबाने पहले ही मिला रखा था, सब भीतर-भीतर श्रीकृष्णके पक्षमें थे। जो मिले नहीं थे, वे भी इन घटनाओंके बाद मिल गये!

मालीके घरसे बाहर आकर जब श्रीकृष्ण राजपथपर पहुँचे तब उन्होंने सोचा कि अब कुछ ऐसा तान्त्रिक-मान्त्रिक कर्म भी करना चाहिए, जिसको देखकर लोग हमें बड़ा भारी जादूगर समझें। कभी-कभी जादूका खेल भी बड़ा भारी काम बना देता है।

इसी समय कुब्जा मिली जो अङ्गराग लेकर कंसकी सेवा करने जा रही थी। कुब्जाको त्रिवक्रा कहते हैं। जैसे शरीरके भीतर कुण्डलिनी रहती है, वैसे ही कुब्जा मथुराकी कुण्डलिनी-शक्ति है। वह कंससे अर्थात् अहंसे कभी सीधी नहीं हुई। कुब्जाका मुँह तो बड़ा सुन्दर था, वह युवती भी थी, परन्तु थी कूबड़ी।

श्रीकृष्णने सोचा कि सुन्दरसे तो सब प्रेम करते हैं, जरा इस कूबड़ीसे भी प्रेम करके देखना चाहिए! बोले कि तुम कौन हो देवी, कहाँ जा रही हो? तुम्हारे पास जो अङ्गराग है, बड़ा उत्तम है, यह हमको दे दो।

कुब्जाका एक नाम सैरन्ध्री भी है। उसने कहा कि मैं तो कंसकी दासी हूँ। वह मेरा बड़ा आदर करता है। यद्यपि मेरी वस्तु कंसको बहुत प्यारी लगती है। तथापि इसके लिए आपसे बढ़िया पात्र और कोई नहीं मिल सकता। 'रूपपेशलमाधुर्यहसितालापवीक्षितैः धर्षितात्मा' (४)—वह श्रीकृष्णका सौन्दर्य, माधुर्य, सौकुमार्य, मन्द हास्य, प्रेमालाप और चारु चितवन देखकर ऐसी हर्षित हुई कि उसने वह अनुलेप, जो कंसके लिए था, श्रीकृष्णको दे दिया। भगवान् श्रीकृष्ण तथा बलरामजीने उस अनुलेपको अपने-अपने श्याम-गौर शरीरोंपर लगा लिया और फिर उससे उनकी बड़ी शोभा हुई।

भगवान् कुब्जापर बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने यह संकल्प किया कि इसको सीधी कर दें। उन्होंने यह भी सोचा कि जो हमारे पक्षमें आकर हमारा दर्शन करेगा और हमारी सेवा करेगा उसको क्या फल मिलेगा, इसको दुनिया देख ले—'दर्शयन् दर्शने फलम्' (६८)। इसके बाद उन्होंने अपने दोनों पाँवोंसे कुब्जाके दोनों पाँवोंके पंजे दबा लिये, दो अगुलियोंको उत्तान करके उसकी ठुड्ढी पकड़ी और उसको 'उदनीनमदच्युतः' खट्से सीधा कर दिया। कुब्जाका कूबड़ दूर हो गया और वह मुकुन्द-स्पर्शके प्रभावसे रूपगुणौदार्य-सम्पन्न उत्तम प्रमदा हो गयी।

परन्तु किसी स्त्रीका सत्कार करना हो तो जरा सोच-समझकर करना चाहिए। कुब्जाने भरी सड़कपर बहुत बड़े जनसमुदाय, ग्वाल-बालों तथा बलरामजीके सामने ही श्रीकृष्णका उत्तरीय पकड़ लिया—'उत्तरीयान्तमाकृष्य' (९)। फिर बोली कि अब तो मैं तुम्हारे ही साथ रहूँगी। आपने सुना होगा; बनारसमें गाते हैं—'हमारा जिया तोहरेपर लुभान भाया'। इसी बनारसी भाषामें कुब्जा भगवान्पर लुभाय गयी और उनका पल्ला पकड़कर मुस्कुराने लगी। उसके हृदयमें कामका उदय हो गया, बोली कि अब मैं आपको नहीं छोड़ूँगी। कंसको छोड़ो, उसको मारने या जिलानेकी कोई जरूरत नहीं है।

अब तो भगवान् सबकी तरफ देखकर हँसने लगे और बोले कि अच्छा, अच्छा, हम तुम्हारे घर आयेंगे। उन्होंनें और भी कई मीठी-मीठी बातें कीं। तब कुब्जाने उनको छोड़ा। भगवान्के मिलनकी आशा लेकर कुब्जा अपने घर गयी।

इसके बाद जब भगवान् नगरमें आगे निकले तो उनको देखकर सभी स्त्रियोंके होश-हवास गायब हो गये। 'विस्रस्तवासः कबरवलयालेख्यमूर्तयः (१४)—वे सब चित्र लिखित-सी हो गयीं।

अब श्रीकृष्ण वहाँ पहुँच गये, जहाँ धनुष रखा हुआ था और जिसके लिए यज्ञकी रचना करके वे बुलाये गये थे! वहाँ बहुत सारे रक्षक खड़े थे। उन सबके मना करनेपर भी श्रीकृष्णने धनुषको बाँये हाथसे उठा लिया और उसपर ताँत चढ़ाकर उसको वैसे ही तोड़ दिया, जैसे बच्चे गन्ना तोड़ देते हैं। परन्तु धनुष टूटनेपर ऐसा भयङ्कर शब्द हुआ कि उसकी आवाज कंसके कानों तक पहुँच गयी और उसका दिल थर-थर काँपने लगा।

भगवान्ने धनुष तोड़कर मथुरामें ऐसा भयानक वातावरण बना दिया कि किसीको कुछ बोलनेकी हिम्मत ही न पड़े। जब रक्षक सामने आये तब बलरामजी और श्रीकृष्णने टूटे हुए धनुषका एक-एक टुकड़ा हाथमें ले लिया और उससे सब रक्षकोंको पीट-पीटकर नष्ट कर दिया। मथुरामें यह बात फैल गयी कि राम-कृष्णने बिना अस्त्र-शस्त्रके ही चौदह हजार सैनिकोंको मार दिया। यह सुनकर कंसका दिल और भी धड़कने लगा।

इधर सूर्यास्त होते-होते राम-कृष्ण नन्दबाबाके पास चले आये। गोपियोंने मधुपुरी निवासियोंके सम्बन्धमें जो-जो बातें सोची थीं, वह सब-की-सब सच्ची होने लगीं। मथुरावासी पुरुष-भूषण भगवान्की गात्रलक्ष्मीका निरीक्षण करने लगे। अब लक्ष्मीने सब देवताओंको छोड़कर

अपने रहनेके लिए भगवान्का शरीर चुन लिया, उनके शरीरकी शोभामें ही लक्ष्मीने रहना पसन्द किया—'हित्वेतरान् नु भजतश्चकमेऽयनं श्रीः' (२४)। पहले भी लक्ष्मीने दूसरे देवताओंका तिरस्कार करके भगवान्के साथ विवाह किया था।

भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामजीने नन्दबबाके डेरेपर पहुँचकर सबसे पहले हाथ-पाँव धोया—'अवनिक्ताङ्घ्रियुगलौ' (२५)। वे थे तो ग्वाले और उनका यज्ञोपवीत-संस्कार भी अभी नहीं हुआ था, फिर भी वे बिना हाथ-पाँव धोये खाते-पीते नहीं थे। यह मर्यादा है और भगवान् इसका पालन करते थे।

'क्षीरोपसेचनम्' (२५)—हाथ-पाँव धोनेके बाद राम-कृष्णने दूधसे बने क्षीर आदि पदार्थोंका भोजन किया और वहाँ 'ऊषतुस्तां सुखं रात्रिम्' (२५)—'रात्रिमें बड़े आनन्दसे, निर्भय होकर शयन किया। उनको इस बातका तनिक भी डर नहीं लगा कि कंस रात्रिमें हमारे ऊपर आक्रमण कर देगा। सम्पूर्ण विश्व-सृष्टिको अभय प्रदान करनेवाले भगवान्को भय कहाँ ?

किन्तु कंसको रातमें नींद नहीं आयी। वह बड़े-बड़े अशकुन देखने लगा। उसको सपनेमें अपना सिर न दिखे, एक चन्द्रमा दो होकर दिखायी दे, परछाईंमें छिद्र मालूम पड़े, अपनी ही साँसकी आवाज न सुनायी दे और जब धरतीपर अपने पाँव रखे, तब पाँवके चिह्नका पता न चले। इन अपशकुनोंसे कंस बहुत डर गया। रात जागते-जागते बीत गयी।

प्रातःकाल चतुर्दशी आयी। कंसकी योजनाके अनुसार मल्लक्रीड़ाके लिए बड़े-बड़े पहलवान बुलाये गये। रङ्ग-भूमिकी खूब सजावट हुई। बाजे बजने लगे। राजा तथा अन्य सब लोग वहाँ आकर यथास्थान बैठ गये। कंसका दिल भीतरसे तो थर-थर काँप रहा था, लेकिन वह ऊपरसे अपनेको बड़ा भारी निर्भय दिखा रहा था। वह राजमञ्चपर आकर बैठ गया। इधर अपने-अपने शिष्योंके साथ चाणूर, मुष्टिक, कूट, शल, तोशल आदि बड़े-बड़े मल्ल अखाड़ेमें बैठ गये। कंसने नन्दबाबा आदिको बुलवाया और वे सब लोग आकर मञ्चपर यथास्थान बैठ गये।



जब बलरामजी और श्रीकृष्णने सुना कि दङ्गल प्रारम्भ होनेवाला है तथा उसके नगाड़े बज रहे हैं, तब वे भी रङ्गद्वार-पर पहुँच गये। वहाँ कुवलयापीड़ हाथी इतना बलवान् था कि भू-वलयको, भू-मण्डलको भी पीड़ित कर दे। राम-कृष्णने उसको देखते ही पहले तो अपने वल्कलको ठीक-ठीक बाँध लिया और उसके बाद महावतसे कहा कि इस हाथीको जल्दी रास्तेसे हटा दे, नहीं तो हमलोग तुमको हाथी समेत यमराजके हवाले करते हैं।

भला, इस तरह कोई बात की जाती है ? पीलवानने पहले तो समझा कि ये गाँवके गँवार हैं, इनको बोलनेका तौर-तरीका मालूम नहीं है। लेकिन जब उसने यह देखा कि ये तो जानबूझ-कर डाँट-डपट कर रहे हैं, तब उसको बड़ा क्रोध आया और उसने उनकी ओर हाथीको अङ्कुशसे मार-मारकर दौड़ा दिया। भगवान् श्रीकृष्णने झपटकर पहले तो हाथीके सूँड़को पकड़ लिया, फिर उसके पाँवोंमें छिप गये। इस तरह थोड़ी देर उसके साथ खेलते रहे ! कभी दायेंसे निकल जायँ, कभी बायेंसे निकल जायँ। बादमें हाथीकी पूँछ पकड़कर उसको बड़ी दूरतक घसीट ले गये।

इसके बाद भगवान्ने उसके सामने होकर उसको ऐसा घूँसा मारा कि वह गिर पड़ा। जब वह सम्हलकर उठा तब अपने दोनों दाँतोंसे दबाकर मारनेके लिए श्रीकृष्णकी ओर दौड़ा। किन्तु श्रीकृष्ण एक ओर भाग गये और हाथी दोनों दाँतोंके बल धरतीपर गिर पड़ा। भगवान्ने उसके दोनों दाँत उखाड़ लिये और उन्हींसे पीट-पीटकर हाथी तथा महावतको मार डाला।

तदनन्तर भगवान्ने मरे हुए हाथीका एक दाँत अपने पास रखा, दूसरा बलरामजीको दे दिया और उसी वेशमें ग्वालबालोंके साथ रङ्गशालामें प्रविष्ट हुए। उस समय ऐसी शोभा हुई कि मानों सारे रस एक साथ उनकी सेवा करनेके लिए उपस्थित हो गये हों। वर्णन देखिये—

मल्लानामशनिर्नृणां नरवरः स्त्रीणां स्मरो मूर्तिमान्
गोपानां स्वजनोऽसतां क्षितिभुजां शास्ता स्वपित्रोः शिशुः।
मृत्युर्भोजपतेर्विराडविदुषां तत्त्वं परं योगिनां
वृष्णीनां परदेवतेति विदितो रङ्गं गतः साग्रजः॥ १७

जिस समय भगवान् श्रीकृष्ण बलरामजीके साथ रङ्गशालामें पधारे, उस समय मल्लोंको ऐसा लगा कि उनका शरीर वज्रका बना हुआ है। वे मनुष्योंको श्रेष्ठ मनुष्य और स्त्रियोंको मूर्तिमान् कामदेवके रूपमें प्रतीत हुए। गोपोंको ऐसा लगा कि ये तो अपने ही हैं। राजाओंको प्रतीत हुआ कि हमारा कोई शासक आगया। जो माँ-बाप सरीखे थे, उनको लगा कि ये तो अपने शिशु हैं। कंसको ऐसा भान हुआ कि यह तो मेरी मौत खड़ी है। 'विराडविदुषां तत्त्वं परं योगिनाम्'—अविद्वान्की विराट्, योगियोंको परम तत्त्व और भक्तोंको परम देवताके रूपमें प्रतीत हुए श्रीकृष्ण। इस प्रकार एक ही भगवान् जिसके मनमें जैसी भावना थी, वैसे ही दिखायी पड़े—

जाको रही भावना जैसी। प्रभु मूरति देखी तिन्ह तैसी॥

जब कंसने देखा कि इन्होंने तो कुवलयापीड जैसे बलवान् हाथीको भी मार दिया, तब उसके मनमें बड़ा उद्वेग हुआ। किन्तु अन्य लोगोंके मन आकृष्ट हो रहे हैं, यह देखकर कि भगवान् नटके समान उत्तम वेश बनाये हुए हैं, विचित्र वस्त्राभरण धारण किये हुए हैं और उनके शरीरपर कुवलयापीड़के रक्तकी बूँदें पड़ी हुई हैं। सब-के-सब 'पपुर्न तृप्ता नयनैस्तदाननम्'। (२०)—बड़े आनन्दसे आँखोंके द्वारा श्रीकृष्णकी रूप-माधुरीका पान कर रहे हैं; फिर भी उनके नेत्र तृप्त नहीं हो रहे हैं।

पिबन्त इव चक्षुर्भ्यां लिहन्त इव जिह्वया।
जिघ्रन्त इव नासाभ्यां श्लिष्यन्त इव बाहुभिः॥ २१

देखो, प्रीति जब विकसित होती है तब वह मनमें ही समाकर नहीं रह जाती। प्रियतमको देखकर ऐसा ख्याल आता है कि आओ आँखोंसे इनका रूप पी जायँ, जीभसे चाट लें, नासिकासे सूँघ लें और बाहोंसे इनका आलिङ्गन कर लें।

यही दशा रङ्गमञ्चपर उपस्थित लोगोंकी हो रही है। उनके सामने भगवान्के रूप, गुण, माधुर्य, प्रागल्भ्य आदि सभी सद्गुण मूर्तिमान् होकर प्रकट हो गये हैं। वे आपसमें कह रहे हैं कि अरे, ये तो भगवान्के अवतार हैं। वसुदेव और देवकीके ही बेटे हैं। इतने दिनोंतक छिपकर रहे हैं। इन्होंने व्रजमें पूतना, चक्रवात, अर्जुन, गुह्यक, केशी और धेनुक आदि बड़े-बड़े असुरोंको मार दिया, एक हाथसे पहाड़ उठा लिया, इन्द्रको विमद किया तथा सर्पका दमन किया। गोपियाँ इनके प्रति अत्यन्त प्रेम करती हैं। इनसे यदुवंशको बड़ी प्रतिष्ठा बढ़ेगी। ये जो बलरामजी हैं, इन्हींके अग्रज हैं। इन्होंने भी अनेक असुरोंको मारा है।

इस प्रकार सब लोग आपसमें बात कर हो रहे थे कि वहाँ चाणूर आगया। चाणूर इतना बलवान् था, उसकी छाती इतनी कठोर थी कि वह जिसको हाथसे पकड़कर छातीसे चाण दे, वह चूर-चूर हो जाय। उसने कहा कि बलरामजी और श्रीकृष्ण, हमारे महाराजने सुना है कि आप लोग युद्ध-कुशल हैं, कुश्ती लड़नेमें बड़े निपुण हैं, इसीलिए उन्होंने आपको यहाँ बुलाया है। अब आप कुश्ती लड़कर दिखायें, जिससे कि हमारे महाराज प्रसन्न हों। राजाज्ञा पालन न करनेका फल अच्छा नहीं होता। आप लोग वनमें रहते हैं और आनन्दसे कुश्ती आदिके खेल खेलते रहते हैं। आइये, हमसब मिलकर मल्लयुद्धके द्वारा राजाको प्रसन्न करें।

श्रीकृष्णने कहा कि देखो चाणूर, हमें कुश्ती लड़नेमें कोई आपत्ति नहीं है। हम भी कंस महाराजकी प्रजा हैं। वे हमारी कुश्ती देखना चाहते हैं तो यह उनका अनुग्रह है। परन्तु हम अभी बालक हैं, इसलिए बालकोंके साथ ही खेल दिखायेंगे। कुश्ती समान बलवालोंमें ही होनी चाहिए, जिससे कि देखनेवाले सभासदोंको अधर्मका भागी नहीं होना पड़े।

चाणूरने जवाब दिया कि न तो तुम लोग बालक हो और न किशोर हो, तुम लोग तो 'बलिनां वरः' (३९)—बलियोंमें भी श्रेष्ठ बलवान् हो, नहीं तो खेल-खेलमें उस कुवलयापीड़ हाथीको कैसे मार देते, जो हजारों हाथियोंका बल धारण किये हुए था। इसलिए तुम लोग आओ और हमारे साथ युद्ध करो। 'मयि विक्रम वार्ष्णेय बलेन सह मुष्टिकः' (४०)—श्रीकृष्ण, तुम मेरे ऊपर अपना जोर आजमाओ और बलरामके साथ यह मुष्टिक लड़ेगा, जो घूँसेकी लड़ाईमें बड़ा निपुण है।



एवं चर्चितसङ्कल्पो भगवान् मधुसूदनः । १

श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि परीक्षित, भगवान्‌के मनमें भी मल्ल-युद्धका संकल्प उठा। उन्होंने मधु और कैटभ इन दो असुरोंको तब मारा था, जब उन्होंने कहा कि अच्छा तुम हमें मार दो! इसी तरह मधुसूदन कृष्ण और बलरामजी चाणूर तथा मुष्टिकके कहनेपर उनसे लड़नेके लिए तैयार हो गये। 'हस्ताभ्यां हस्तयोर्बद्ध्वा' (२)—जैसे पहलवान लोग कुश्ती लड़ते समय कभी हाथसे हाथ बाँधकर, कभी पाँवसे पाँव बाँधकर एक दूसरेको अखाड़ेमें घुमाते हैं, वैसे ही राम-कृष्ण और चाणूर-मुष्टिक दाँव-पेंच चलाने लगे। वे अरत्निसे अरत्नि, जानुसे जानु, सिरसे सिर, वक्षस्थलसे वक्षस्थल भिड़ाकर एक दूसरेपर प्रहार करने लगे। कभी एक दूसरेको 'परिभ्रामण' माने उठाकर घुमा दें, कभी विक्षेप माने दूर फेंक दें, कभी परिरम्भ माने छातीसे पकड़कर दबावें और कभी 'अवपातनैः' माने नीचे धरतीपर गिरा दें। इस प्रकार उसमें उत्थापन, स्थापन, उन्नयन, चालन, निपातन आदिका प्रयोग होने लगा।

अब तो वहाँ जितनी भी स्त्रियाँ थीं, सब कंसके विरुद्ध हो गयीं और परस्पर कहने लगीं कि यह युद्ध बड़ाभारी अधर्म है। कहाँ नन्हें-नन्हें बालक और कहाँ पहाड़के समान विशालकाय पहलवान! कहाँ 'शैलेन्द्रसन्निभ वज्रसारसर्वाङ्ग' चाणूर-मुष्टिक और कहाँ 'सुकुमाराङ्ग' किशोर राम-कृष्ण। इस प्रकारका विषम युद्ध देखनेपर बड़ाभारी धर्म-व्यतिक्रम होगा। आओ, आओ हमलोग यहाँसे चलें।

न सभां प्रविशेत् प्राज्ञः सभ्यदोषाननुस्मरन्।
अब्रुवन् विब्रुवन्नज्ञो नरः किल्बिषमश्नुते ॥ १०

सभ्य पुरुषको ऐसी सभामें, जहाँ अधर्मकी प्रधानता हो, प्रवेश नहीं करना चाहिए। इसलिए हमलोग यहाँ नहीं रहेंगी। देखो तो, श्रीकृष्णके मुखारविन्दपर कितना पसीना हो रहा है। बलरामजीकी आँखें कितनी लाल हो रही हैं। इस समय वे क्रोधको हँसी हँस रहे हैं। वह व्रज-भूमि कितनी पवित्र है, जहाँ ये गाय चराते हुए विचरण करते हैं। गोपियोंने क्या तपस्या की है कि उनकी आँखें इस लावण्यसार-रूपको देखनेके लिए व्याकुल रहती हैं—'लावण्यसार-मसमोर्ध्वम्' (१४)—जब किसीका रूप इनके समान हो नहीं है तब अधिक कहाँसे होगा!

इनका सौन्दर्य अनन्यसिद्ध है, सहज-स्वाभाविक है। यहाँ अनन्यसिद्धका अर्थ है कि भगवान्‌का सौन्दर्य कहींसे उधार लिया हुआ नहीं है। आजकल तो शरीर काला भी हो तो उसे पाउडर लगाकर चमका देते हैं। एक हास्य कविने कहा है—

करिया मुँहपर पौडर की शोभा सरसाय।
मनहुँ धुआनी भीतपर कलई दीन्ह कराय॥

मथुराकी स्त्रियाँ भगवान्‌की सौन्दर्य-सुधाको आँखोंसे पीने लगीं। उन्होंने अनुभव किया कि भगवान्‌का रूप प्रतिक्षण नया-नया दिखाई देता है। जितनी बार देखो, उतनी ही बार नया-नया प्रतीत होता है। वह यश, लक्ष्मी और ऐश्वर्यका एकान्तधाम है। तभी तो गोपियाँ दोहनमें, अवहननमें, मथनमें, उपलेपमें, झूलेमें, बच्चोंके रोनेमें और घरकी सफाई आदिमें प्रतिक्षण श्रीकृष्णका गान करती रहती हैं। 'अनुरक्तधियोऽश्रुकण्ठ्यः' (१५)—गोपियोंकी बुद्धि अनुरागके रंगमें लाल-लाल हो गयी है और उनके कण्ठके आँसू समा गये हैं। वे बाहरसे रो नहीं सकतीं। क्योंकि उनको रोती देखकर घरवाले कहेंगे कि क्या हर समय आँसू गिराती रहती है। 'धन्या व्रजस्त्रिय उरुक्रमचित्तयानाः' (१५)—अवश्य ही वे व्रजदेवियाँ धन्य हैं, जो अपने भगवदाकार चित्तके रथपर सवार होकर जब देखो तब यात्रा करती रहती हैं। गोपियोंका मन केवल श्रीकृष्णमें ही लगा हुआ है। उनका शरीर चाहे जहाँ कहीं भी जाय, उनकी वृत्ति भगवदाकार बनी है। वे प्रातः-सायं श्रीकृष्णको कहीं आते-जाते अथवा बाँसुरी बजाते देखती हैं तो अपने घरमें-से निकल आती हैं और उनके मुखारविन्दका दर्शन करती हैं। इस प्रकार मथुराकी स्त्रियाँ आपसमें बात करते-करते तन्मय हो गयीं।

अब यहाँ भगवान्‌की लीला देखो! भगवान्‌की योग-मायाने यह विचार किया कि यदि भगवान् चाणूर-मुष्टिक आदिसे लड़ते होंगे तो वह दृश्य देखकर मथुराकी स्त्रियोंका कोमल हृदय थक जायेगा, बड़ा दुःखी हो जायेगा। इसलिए भगवान्‌की लीला-शक्तिने ऐसा काम किया कि अखाढ़ेमें तो श्रीकृष्ण-बलराम चाणूर-मुष्टिकसे लड़ रहे हैं और मथुराकी स्त्रियोंका मन पहुँच गया है वृन्दावनमें! उनको वृन्दावनकी स्फूर्ति मथुरामें हो रही है। यदि उनका मन मथुरामें होता तो उन्हें बड़ा दुःख होता। अतः शरीरके मथुरा या अन्यत्र रहते हुए भी यदि मन वृन्दावनमें चला जाय तो परमानन्द है!

श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि परीक्षित, जिस समय पुरवासिनी स्त्रियाँ आपसमें इस प्रकारकी बात कर रही थीं, उसी समय श्रीकृष्णने शत्रुको मार डालनेका संकल्प किया। वसुदेव-देवकी रंग-मञ्चके पास ही कैद थे और वे मथुराकी स्त्रियोंकी सब बातें सुन रहे थे।

इसलिए भगवान्ने सोचा कि यदि शत्रुका संहार करनेमें देर होगी तो हमारे माँ-बापको ज्यादा तकलीफ होगी। इसलिए कुछ पैंतरे बदलने और दाँवपेंच दिखानेके बाद भगवान्ने चाणूरको ऐसा हाथ मारा कि वह तिल-मिला उठा और उसको लगा कि बस, अब शरीर टूट गया—'चाणूरो भज्यमानाङ्गः' (२०)। एक बार उसने दोनों हाथोंकी मुट्ठियोंसे श्रीकृष्णकी छातीपर बड़े जोरसे प्रहार किया, परन्तु भगवान्को तो ऐसा लगा कि मानों किसीने फूल मारा हो। किन्तु जब वह अन्यायपूर्ण आक्रमण कर चुका तब भगवान्ने उसके दोनों हाथ पकड़ लिये और उसको धरतीपर ऐसा पटका कि वह वहीं नष्ट हो गया।

इधर मुष्टिकने भी मौका पाकर बलरामजीको एक घूँसा मारा। इसपर भगवान् बलरामने उसको एक तमाचा मारकर धरतीपर गिरा दिया।

देखो, थप्पड़ मारना एक चीज है, घूँसा मारना दूसरी चीज है और तमाचा मारना तीसरी चीज है। तमाचा तो अङ्गुलीके नोंकसे ही मारते हैं। यह पूर्विया शब्द है, जिसको सब जगह लोग नहीं समझते।

बलरामजीने केवल तलसे तमाचा मारा 'तलेनाभिहतो भृशम्' (२४) और मुष्टिक निष्प्राण होकर धरतीपर गिर पड़ा!

इसी बीचमें शल-तोशल वहाँ आगये और उनको भी उन्होंने मार दिया! अब तो बाकी सब पहलवान वहाँसे भाग गये और लोग साधु-साधु, वाह-वाह, शाबाश-शाबाश कहने लगे!

कंसने क्रोधवश तुरन्त बाजे बजने बन्द करवा दिये और वह सन्निपातके रोगीकी तरह अनाप-शनाप बकने लगा—अरे, इन दुराचारियोंको यहाँसे निकालो, ग्वालोंकी सम्पत्ति छीन लो, दुष्ट नन्दको बाँध लो, वसुदेव और उग्रसेनको तुरन्त फाँसीपर चढ़ा दो!

'विकत्थमाने वै' (३४)—इस प्रकार कंसको बकवाद करते देखकर भगवान् तुरन्त 'लघिम्नोत्पत्य' (३४)—उसके मंचपर चढ़ गये। कंसने जब भगवान्को अपने समीप आते देखा तब वह बेचारा तलवार और ढाल लेकर उठने लगा। लेकिन इतनेमें ही डरके मारे उसका 'हार्ट फेल' हो गया! भगवान्को अपने मामाजीके ऊपर कोई हाथ-वाथ नहीं चलाना पड़ा। उन्होंने ज्यों-ही उसको पकड़ा त्यों-ही वह निष्प्राण होकर नीचे गिर पड़ा और भगवान् उसके ऊपर गिर पड़े। अब तो चारों ओर हाय-हाय होने लगी! कंस तो हमेशा उद्विग्न बुद्धिसे श्रीकृष्णका चिन्तन करता रहता था—यहाँतक कि खाते-पीते, सोते-जागते और साँस लेते समय भी श्रीकृष्णको ही देखता रहता था। इसलिए उसको 'तदेव रूपं दुरवापमाप' (३९)—श्रीकृष्णका दुर्लभ रूप प्राप्त हो गया!

अब वहाँ कंसके भाई-बन्धु बदलेकी भावनासे आये और क्रोधसे आगबबूले श्रीकृष्ण तथा बलरामजी की ओर दौड़े। परन्तु बलरामजीने उनको भी नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। इधर देवता लोग यह सब दृश्य टुकुर-टुकुर देख रहे थे। एक बार भी जय-जयकार न बोले! न उनकी भेरी बजे और न वे फूल बरसावें। जब उन्होंने देखा कि कंस और उसके सब भाई मर गये तब वे बेफिक्र हो गये! उनको यह चिन्ता थी कि हम लोगोंने फूल बरसा दिये, बाजा बजा दिये और कहीं कंस जीत गया तो वह हम लोगोंकी दुर्दशा करेगा।

नेदुर्दुन्दुभयो व्योम्नि ब्रह्मेशाद्या विभूतयः।
पुष्पैः किरन्तस्तं प्रीताः शशंसुर्ननृतुः स्त्रियः॥ ४२

अब ब्रह्मा-शंकर आदि फूल बरसाने लगे, दुन्दुभि बजने लगी और सब उनकी स्तुति करने लगे! इधर कंसकी पत्नियाँ छाती पीटती हुई वहाँ आयीं और विलाप करती हुई बोलीं—

अनागसां त्वं भूतानां कृतवान् द्रोहमुल्बणम्।
तेनेमां भो दशां नीतो भूतध्रुक् को लभेत शम्॥ ४७

स्वामी, तुमने बहुत निरपराध प्रणियोंको सताया था, उनके साथ अन्याय किया था। उसीसे तुमको यह गति प्राप्त हुई है! जो दूसरोंको सताता है, उसको शान्ति कभी नहीं मिलती। 'सर्वेषामिह भूतानामेष हि प्रभवाप्ययः' (४८)—ये श्रीकृष्ण साक्षात् नारायण हैं। यही सबके जन्मदाता कर्ता, भर्ता और संहर्ता हैं। इनके प्रति जो अपने मनमें दुर्भाव रखता है, उसको कभी सुखकी प्राप्ति नहीं होती।

इस प्रकार बिलखती मामियोंके पास भगवान् आगये और उनको खूब समझाया-बुझाया! उसके बाद उनकी अन्त्येष्टि-क्रिया करवायी! फिर जेल पहुँचकर अपने माता-पिता देवकी-वसुदेवको हथकड़ी-बेड़ीसे मुक्त करवाया और उनके चरणोंमें अपना सिर रख दिया। परन्तु देवकी-वसुदेवका यह ख्याल था कि ये तो साक्षात् जगदीश्वर हैं, बड़े वीर हैं। इसलिए उन्होंने 'कृतसंवन्दनौ पुत्रौ सस्वजाते न शङ्कितौ' (५१)—'पुत्रों द्वारा प्रणाम करनेपर भी उनको उठाकर हृदयसे नहीं लगाया! उनको यह शंका हो गयी कि हम ईश्वरको पुत्र कैसे समझें?



श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि परीक्षित, जब भगवान्‌ने देखा कि हमारे माता-पिता हमको पहचान गये तब उन्होंने अपनी वैष्णवी, जनमोहिनी मायाका उपयोग किया और बोले कि ओ मेरी मैया, ओ मेरे पिताजी हम लोग तो हमेशा चाहते थे कि आपकी कुछ सेवा करें। आप भी हमारी सेवा लेना चाहते थे। लेकिन हम न तो आपके पास रह सकें और न आपका प्यार पा सके। हमारी इतनी उम्र बिल्कुल व्यर्थं हो गयी। आपने हमको जन्म दिया, हमारा पालन-पोषण किया। यदि हम सौ बरस भी आपकी सेवा करें तो आपसे उऋण नहीं हो सकते। जो पुत्र शरीर और धनसे समर्थ होकर भी अपने माँ-बापको जीविका नहीं देता, उसको अपना मांस खाना पड़ता है। जो अपने माता-पिताका, वृद्धादिका पालन-पोषण नहीं करता वह साँस लेता हुआ भी मुर्देके बराबर है। हम कंसके डरके कारण ही आपकी सेवा नहीं कर सके। उसके लिए 'तत्क्षन्तुमर्हथ-स्तात' (९)—हे माता, हे पिता, आप हमें क्षमा करें। हम परतन्त्र थे, इस बातके लिए बड़े दुःखी थे कि आपके क्लेशके समय भी आपकी कोई सेवा नहीं कर सके।

यह सुनकर देवकी-वसुदेव भगवान्‌की मायासे मोहित हो गये और उन्होंने झट अपने पुत्रोंको गोदमें उठा लिया। उनकी आँखोंसे आँसू गिरने लगे और उनका गला रुँध गया। वे कुछ भी बोल न सके।

इसके बाद भगवान्‌ने यदुवंशियोंके पतिरूपमें उग्रसेनका चुनाव किया और बोले कि हम तो आपके आज्ञाकारी रहेंगे। यद्यपि ययातिके शापवश हम यदुवंशी राजा नहीं बन सकते—'ययाति-शापाद् यदुभिर्नासितव्यं नृपासने' (१३)। तथापि हम लोगोंपर आप शासन कीजिये। हम आपकी सेवा करेंगे।

यहाँ आप लोग भगवान्‌का सौशील्य समझो अथवा उनकी राजनीति समझो। उनका संकेत यह था कि जब मेरे-सरीखा सेवक आपके पास खड़ा रहेगा तो मनुष्योंमें रखा ही क्या है, सब देवता भी आपको भेंट देंगे।

इसके बाद भगवान्‌ने उन यदुवंशियोंको जो कंसके डरसे भागकर, जहाँ-तहाँ बसे हुए थे, बुलवाया और उन सबको धन देकर यथास्थान बसाया। अब मथुरावासी निर्भय हो गये और भगवान् श्रीकृष्णके मुखारविन्दका दर्शन कर-करके बड़े ही आनन्दित होने लगे।

यहाँ एक प्रसंग बहुत विलक्षण है। 'तत्र प्रवयसोऽप्यासन् युवानोऽतिबलौजसः' (१९)—मथुरामें कोई बूढ़ा नहीं रह गया। जितने भी बूढ़े लोग थे, वे सब-के-सब जवान और बड़े बली हो गये। ऐसा कैसे हो गया? क्या उनको कोई ओषधि मिल गयी थी? अभीतक तो ऐसा कोई वैज्ञानिक अनुसन्धान हुआ नहीं है। फिर वह औषधि क्या थी? यही थी कि 'पिबन्तोऽक्षैर्मुकुन्दस्य मुखाम्बुजसुधां मुहुः' (१९)—मथुरावासी अपनी आँखोंसे भगवान् श्रीकृष्णके मुखकमलकी सुधाका बराबर पीते रहते थे। इसलिए उसके प्रभावसे न हो बुढ़ापा आता था और न निर्बलता आती थी।

अब देवकी-नन्दन भगवान् अपने अग्रज संकर्षण भगवान्के साथ नन्दबाबाके पास गये और वहाँ उनके हृदयसे लग गये। फिर बोले कि पिताजो, आपने बड़े स्नेहसे हमारा लालन और पालन-पोषण 'पित्रोरभ्यधिका प्रीतिरात्मजेष्वात्मनोऽपि हि' (२१)—असली माँ-बाप अपने बच्चेसे जितना प्यार करते हैं, उससे भी अधिक प्यार आपने हमसे किया।

देखो, भगवान् बात तो बड़े प्रेमसे कर रहे हैं किन्तु इससे यह अर्थ निकलता है कि हमारे असली माँ-बाप तो देवकी-वसुदेव हैं, परन्तु आप लोग हमारे माता-पिता इसलिए हैं कि आपने ही हमारा पालन-पोषण किया है। हमारे असली माँ-बापने तो हमें जन्मते ही आपके पास डाल दिया और आपने ही हमको पाला-पोसा। इसलिए हम लोग आप लोगोंको ही अपना माँ-बाप समझते हैं।

'यात यूयं व्रजं तात' (२३)—अब आप व्रजमें लौट जाइये। यद्यपि मैयाको, आपको तथा वहाँ सब लोगोंको हमारे स्नेहके कारण बड़ा दुःख होगा, लेकिन कर्तव्यवश हमें यहाँ रुकना पड़ेगा। हम लोग 'ज्ञातीन् वो द्रष्टुमेष्यामो विधाय सुहृदां सुखम्' (२३)—यहाँके सुहृदोंको सुखी करके आपका दर्शन करनेके लिए आयेंगे।

देखो, भगवान्ने यह नहीं कहा कि आप लोगोंके पास रहनेके लिए आयेंगे, बल्कि यह कहा कि 'द्रष्टुमेष्यामः'—कभी-कभी देखनेके लिए आजायेंगे।

यह सुनकर नन्दबाबा चुप हो गये, कुछ बोले ही नहीं। ऐसी परिस्थितिमें क्या बोलें? राम-कृष्णने उनको बड़ी सान्त्वना दी और भाँति-भाँतिकी वस्तुओं द्वारा उनका बड़ा आदर-सत्कार किया। नन्दबाबा बड़े विह्वल हो गये, उनकी आँखोंमें आँसू भर गये और वाणी अवरुद्ध हो गयी। उन्होंने राम-कृष्णको गले लगा लिया और वहाँसे गोपोंके साथ व्रज लौट गये।

इसके बाद व्रजमें क्या हुआ, यह बात श्रीशुकदेवजी महाराजने तो नहीं सुनायी। किन्तु महात्माओंके अनुसार जब नन्दबाबा नन्दगाँव पहुँचे तो यशोदा मैयाके मुँहसे ऐसे अमङ्गल शब्दका

उच्चारण हो गया, जिसको कोई पत्नी अपने पतिके लिए नहीं बोल सकती। वे बोलीं कि महर, तुम हमारे दिलके टुकड़ेको छोड़कर अकेले चले आये। इससे तो अच्छा होता कि तुम भी वहीं मर जाते, यहाँ लौटकर नहीं आते!

नन्दबाबाने आँखोंसे आँसू बहाते हुए कहा कि महर, तुम्हारा इस प्रकार दुःखी होना, बिल्कुल ठीक है। लेकिन तुम इस बातपर विचार करो कि यदि मैं कृष्णके वियोगमें वहाँ मर जाता अथवा यहाँ आकर मैं और तुम दोनों मर जायँ तो व्रजवासी भी मर जायेंगे। फिर जब यह समाचार कृष्णके पास पहुँचेगा तो उसका क्या होगा? तुम जानती हो कि तुम्हारे कन्हैयाका हृदय कितना कोमल है! जब वह यह सुनेगा कि उसके वियोगमें हम लोग मर गये, व्रजवासी मर गये तो उसको कितना कष्ट होगा? हमें मरना ही है तो हम घुल-घुलकर मरेंगे। रोज-रोज रोयेंगे, तड़पेंगे और जलेंगे; उसके लिए जैसे-तैसे जिन्दा रहेंगे। लेकिन उसके कानोंमें हमारे मरनेका समाचार कभी नहीं पहुँचना चाहिए, कभी नहीं पहुँचना चाहिए।

इधर मथुरामें वसुदेवजीने बलरामजी और श्रीकृष्णके व्रतबन्ध आदि संस्कार करवाये और ब्राह्मणोंको खूब दक्षिणा दी। उन्होंने जो श्रीकृष्णके जन्मके समय मनमें दस हजार गोदान करनेका संकल्प किया था, उसको भी पूरा किया। अब दोनों भाइयोंको द्विजत्व प्राप्त हो गया।

द्विजत्व माने दूसरी बार जन्म ग्रहण करना। पक्षी पहले अण्डेके रूपमें पैदा होता है और फिर जब अण्डा फूटता है तब पैदा होता है। दाँत पहले दूधवाले होते हैं और फिर जब टूट जाते हैं तब दूसरे दाँत आते हैं। इसलिए पक्षी और दाँत दोनोंको द्विज कहते हैं। इसी प्रकार जो ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य हैं, इनको द्विज कहते हैं, क्योंकि एक बार ये जन्मसे पैदा होते हैं और दूसरी बार संस्कारसे पैदा होते हैं।

राम-कृष्णको पहले गर्गाचार्यजीने गायत्री मन्त्रका उपदेश किया और फिर वे अपने ज्ञानको छिपाकर गुरु-परम्पराकी रक्षा करनेके लिए सान्दीपनि ऋषिके पास गये। 'काश्यं सान्दीपनिं नाम ह्यवन्तीपुरवासिनम्' (३१)—सान्दीपनिजी महाराज रहते तो थे अवन्तीमें, उज्जैनमें, परन्तु निवासी काशीके थे। विद्या तो काशीसे ही निकलती है। एक दिन सान्दीपनिजीके मनमें आया कि मुझे वहाँ रहना चाहिए, जहाँ विद्याध्ययनके लिए बढ़िया-से-बढ़िया शिष्य मिलें। जब ध्यानस्थ हुए तब उनको लगा कि सबसे बढ़िया शिष्य उज्जैनमें मिलेंगे। क्योंकि वहाँ राम-कृष्ण पढ़ने आयेंगे। इसलिए वे उनको पढ़ानेकी लालचमें काशी छोड़कर अवन्तीपुर चले गये।

वहाँ जब राम-कृष्ण आये तो उन्होंने उनको सब विद्या पढ़ायी—वेद, धर्मशास्त्र, मीमांसा, तर्कविद्या और षड्विध राजनीति सबका उपदेश किया। राम-कृष्ण तो स्वयं ही सम्पूर्ण विद्याओंके प्रवर्तक हैं, इसलिए उन्होंने चौंसठ दिन-रातमें चौंसठों कलाओंको ग्रहण कर लिया।

देखो, प्रवचनमें समय हो तब तो चौंसठ कलाओंके अलग-अलग नाम लेकर निरूपण किया जाय। वंशीधर आदि कई टीकाकारोंने चौंसठ कलाओंके नामका उल्लेख किया है। मूलमें तो केवल इतना ही है कि राम-कृष्णने एक बार पढ़ानेसे ही सब-कुछ पढ़ लिया। जब गुरुजीने देखा कि इन शिष्योंकी महिमा तो बड़ी विलक्षण है, तब उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई।

जब विद्याध्ययन पूरा हो गया तो श्रीकृष्णने कहा कि गुरुजी, क्या गुरु-दक्षिणा लोगे, बताओ! गुरुजीने सोचा कि क्या बताऊँ? मैं ठहरा भोला-भाला ब्राह्मण, कहीं छोटी चीज माँगकर ठगा न जाऊँ! इसलिए उन्होंने अपनी पत्नीसे परामर्श किया। उनकी श्रीमतीजी बड़ी बुद्धिमती थीं। असलमें पण्डित लोग बड़े भोले-भाले होते हैं—दिन-रात पढ़ने-पढ़ानेमें प्रवृत्त रहते हैं। उनकी घर-गृहस्थी तो पण्डितानियाँ ही चलाती हैं। सान्दीपनि जीकी पत्नीका भी राम-कृष्णसे बड़ा प्रेम था और वह उनकी विलक्षण शक्तिसे परिचित हो चुकी थी। वह बोली कि हमारा एक बालक प्रभासमें डूब गया था, हमें उसकी प्राप्ति करा दो।

बलराम और कृष्णने उनकी आज्ञा शिरोधार्य की और दोनों समुद्रके तटपर गये। समुद्रने दोनोंकी पूजा की और कहा कि मुझे तुम्हारे गुरुजीके बालकका पता नहीं है। हमारे भीतर शङ्खके रूपमें एक पञ्चजन नामका असुर रहता है, शायद उसने उस बालकको मार दिया हो!

भगवान्‌ने उस असुरका वध कर दिया और उसीसे अपना पाञ्चजन्य शङ्ख बनाया। लेकिन उस असुरके पेटमें भी वह बालक नहीं मिला। सर्वज्ञ भगवान् तो जानते ही हैं कि वह बालक कहाँ है, लेकिन उनको लीला करनी है, इसलिए तलाश कर रहे हैं।

अब भगवान् गये यमपुरीमें। वहाँ यमराजने उनकी बड़ी सेवा-पूजा की और बोले कि महाराज, आपका गुरु-पुत्र 'निजकर्मनिबन्धनम्'—अपने कर्मके अनुसार यहाँ आया है। भगवान्‌ने कहा कि कर्म-बन्धनको रखो एक ओर, 'मच्छासनपुरस्कृतः' (४५)—मेरी आज्ञा सर्वोपरि है। मेरे सामने कर्म क्या होता है?

देखो, यदि ईश्वर 'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुम्'—समर्थ न हो तो उसका ऐश्वर्य किस कामका? ईश्वरके ऊपर तो कर्मनिष्ठोंने यह बन्धन लगा दिया कि वह जो-कुछ करेगा, वह कर्मके अनुसार

ही करेगा । परन्तु वह मान्यता अभक्त-विषयक है । जहाँ अभक्तका कोई काम हो, वहाँ तो भगवान् बिल्कुल कर्मानुसार न्याय करते हैं । किन्तु जहाँ भक्तकी बात आजाती है, वहाँ कोई-न-कोई बहाना बनाकर उसका उद्धार कर देते हैं । उन्हें तो 'व्याजमपेक्षते'—कोई बहाना चाहिए, कोई व्याज मिल जाये तो उसीके आधारपर भगवान् उद्धार कर देते हैं ।

अब भगवान् उस बालकको यमपुरोसे ले आये और उसे गुरु-दम्पतीके सामने करते हुए बोले कि महाराज, और कुछ माँगो ! गुरुजीने कहा कि बस-बस, हो गया । जिसको तुम्हारे जैसा शिष्य प्राप्त हो गया, जिसका तुम्हारे साथ नाता-रिश्ता हो गया—सम्बन्ध हो गया, उसको और क्या चाहिए ? अब तुम लोग घर जाओ, तुम्हारी कीर्ति पावनी हो और वेद सदा-सर्वदा तुम्हारे अनुगत बने रहें, कभी विस्मृत न हो !

श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि पुत्र परीक्षित, इस प्रकार गुरुदेवसे आज्ञा और आशीर्वाद प्राप्त करके बलराम-कृष्ण अपने तीव्रगतिगामी रथपर चढ़कर मथुरा आगये । वहाँके प्रजा-जनने उनको बहुत दिनोंके बाद देखा तो वे वैसे ही आनन्दित हुए, जैसे उनका खोया हुआ धन फिर मिल गया हो—'अपश्यन्त्यो बह्वहानि नष्टलब्धधना इव' । (५०)

यहाँ देखो, सर्वज्ञ भगवान् द्वारा इतने दिनोंतक विद्यालयमें रहने और विद्याध्ययन करनेका व्यावहारिक पक्ष क्या है ? यह है कि वे एक ग्वालेके घरमें पैदा हुए थे । लोगोको यह भ्रम हो सकता था कि श्रीकृष्ण बड़े होकर राजनीतिके चक्रमें पड़ेंगे और किसी विद्वत्सभामें जायेंगे तो वहाँ उनका तिरस्कार होगा । इसलिए जनमानसके इस भ्रमको मिटानेके लिए भगवान्ने गुरुजीसे विविध विषयोंकी शिक्षा प्राप्त की और वे उनमें निष्णात होकर घर लौटे ।



वृष्णीनां प्रवरो मन्त्री कृष्णस्य दयितः सखा।
शिष्यो बृहस्पतेः साक्षादुद्धवो बुद्धिसत्तमः॥ १

एक कविने लिखा है कि भगवान् श्रीकृष्ण मथुरामें यमुनाजीके तटपर बैठे हुए थे। वहाँ उन्होंने देखा कि एक सुवर्णरङ्गका कमल यमुनाजीकी धारामें बहता हुआ जा रहा है। वह सुन्दर कमल देखकर श्रीकृष्णको उसके प्रति इतना आकर्षण हुआ कि उन्होंने उसे पकड़कर उठा लिया। सूँघनेपर उसमें-से श्रीराधारानीके अङ्गकी तरह सुगन्ध आयी। फिर तो उनको श्रीराधारानीकी ऐसी स्मृति हो आयी कि वे मूर्च्छित-से होने लगे। उद्धवजी उनके पास ही थे। उन्होंने पूछा कि श्यामसुन्दर, तुम्हारी यह क्या दशा हो रही है?

उद्धवजी कोई साधारण व्यक्ति नहीं थे, यदुवंशियोंके श्रेष्ठ मन्त्री थे, श्रीकृष्णके प्यारे सखा थे, बृहस्पतिके शिष्य थे और बुद्धिमें भी अतिशय श्रेष्ठ थे। उनमें और सब तो सारी योग्यताएँ थीं, परन्तु भगवत्प्रेम जैसा होना चाहिए, वैसा नहीं था। वैसे वे स्वयं भगवान्के बहुत प्यारे थे— 'दयितः'। परन्तु उनको भगवान् उतने प्यारे नहीं थे, जितने गोपियोंके थे। भगवान्ने सोचा यही अवसर है, जब उद्धवजीको गोपियोंसे प्रेम सीखनेके लिए वृन्दावन भेजना चाहिए।

असलमें प्रेम भगवान्से नहीं मिलता। भगवान् तो स्वयं प्रेमके भिखारी हैं। दरवाजे-दरवाजे भटकते हैं कि हमें प्रेम दो, प्रेम दो। गोपियोंसे दही दो, दूध दो, मक्खन दो, मिश्री दो माँगनेका अर्थ क्या है? यही है कि प्रेम दो। प्रेम उनसे ही मिलता है, जो प्रेमके धनी होते हैं। प्रेमके धनी वही हैं, जो प्रेमी हैं। जैसे जिनके पास धन होता है, वे धनी कहलाते हैं; वैसे ही जिनके पास प्रेम होता है, वे प्रेमी कहलाते हैं। जैसे जिसको धन चाहिए तो वह धनीके पास जाता है; वैसे ही जिसको प्रेम चाहिए, उसे किसी प्रेमीकी सङ्गति करनी चाहिए।

इसलिए जब उद्धवजीने भगवान् श्रीकृष्णसे उनकी मूर्च्छाका कारण पूछा तब भगवान् उनका हाथ पकड़कर एकान्तमें ले गये और कहा कि तुम तो मेरे सखा हो, तुमसे क्या छिपायें? मुझसे प्रेम करनेवाली गोपियाँ मेरे विरहमें अत्यन्त दुःखी हैं। इसलिए उद्धव, तुम व्रजमें जाओ। वहाँ जाकर हमारे माता-पिताको प्रीति दो, सुख दो और गोपियोंको मेरे वियोगसे जो पीड़ा हो रही है, उससे उनको मेरा सन्देश देकर मुक्त करो।

अब स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण गोपियोंकी महिमाका गान करते हुए कहते हैं—

ता मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थे त्यक्तदैहिकाः ।
मामेव दयितं प्रेष्ठमात्मानं मनसा गताः ।
ये त्यक्तलोकधर्माश्च मदर्थे तान् बिभर्म्यहम् ॥ ४

उद्धव, गोपियोंका मन मैं ही हूँ—'अहमेव मनो यासां ताः मन्मनस्काः' । यदि उनका मन, उनका हृदय फाड़कर देखोगे तो उनमें मैं ही मिलूँगा । 'मत्प्राणाः'—मैं ही उनकी साँस हूँ, मैं ही उनके प्राण हूँ । 'मदर्थे त्यक्तदैहिकाः' (४)—उन्होंने मेरे लिए अपने शरीरके सारे व्यवहार छोड़ दिये हैं । वे लोकधर्मका पालन नहीं करतीं । उनका भरण-पोषण मेरे अधीन है । मैं उनसे इतना प्यार करता हूँ कि वे मेरे दूर हो जानेपर भी मेरा स्मरण करती हैं । वे विरहकी उत्कण्ठासे विह्वल हो रही हैं और उनके प्राण कण्ठमें लगे हुए हैं—

स्मरन्त्योऽङ्ग विमुह्यन्ति विरहौत्कण्ठ्यविह्वलाः । ५

किन्तु जिनके साथ हँसते रहे हैं, खेलते रहे हैं, नाचते रहे हैं, गाते रहे हैं, उनकी याद कर-करके कभी जीवन व्यतीत करना पड़े तो, इससे बढ़कर दुर्भाग्यकी बात और क्या होगी ?

जा थल कीन्हें विहार अनेकन ता थल बैठिकै काँकरि चुन्यौ करें ।

जहाँ जिनके साथ विहार किया, वहाँ आज उनकी याद करनी पड़ रही है ।

एक जगह तो वर्णन आता है कि गोपियाँ श्रीकृष्णकी याद भुलानेके लिए प्रयत्न करती थीं—

प्रत्याहृत्य मुनिः क्षणं विषयतो यस्मिन्मनोधित्सते
बालासौ विषयेषु धित्सति ततः प्रत्याहरन्ती मनः ।
यस्य स्फूर्तिलवाय हन्त हृदये योगी समुत्कण्ठते
मुग्धेयं बत पश्य तस्य हृदयान्निष्क्रान्तिमाकाङ्क्षति ॥

नारदजीने देखा कि एक गोपी प्राणायाम कर रही है, आसन लगा रही है, पोठकी रीढ़ सीधी करके ध्यान लगा रही है । वे उसके पास गये और उससे पूछा कि यह तुम क्या करती हो ? क्या श्रीकृष्णका ध्यान कर रही हो ? गोपी बोली कि नाम मत लो उसका वह घरका कोई काम नहीं करने देता । जब देखो तब वही-वही-वही, इसलिए मैं तो उसको अपने हृदयसे निकाल रही हूँ ।

यह सुनकर नारदजी स्तम्भित रह गये और कहने लगे कि धन्य है, धन्य है । जिसको लोग साधन-भजन करके अपने स्मरणका विषय बनाना चाहते हैं, उसको यह मनसे निकलना चाहती है । ऐसी प्रीतिमयी यह गोपी है ।

पीडाभिर्नवकालकूटकटुता गर्वस्य निर्वासनो
निष्यन्देन मुदां सुधामधुरिमाहङ्कारसङ्कोचनः।
प्रेमा सुन्दरिनन्दनपरो जागर्ति यस्यान्तरे
ज्ञायन्ते स्फुटमस्य वक्रमधुरास्तेनैव विक्रान्तयः॥

प्रेमकी ऐसी टेढ़ी-मेढ़ी चाल है कि उसको कोई प्रेमी ही समझ सकता है—

मोहि-मोहि मोहनमयो री मन मेरो भयो हरिचन्द भेद न परत पहिचानि है।
कान्ह भये प्राणमय प्राण भये कान्हमय हियमें न जानि परै कान्ह है कि प्राण है॥

गोपियाँ भगवान्‌का स्मरण करके विमोहित हो रही हैं। प्रेम-वैचित्त्य हो रहा है। भगवान् तो चले गये मथुरा, और गोपियोंको लगता है कि यह रहे, वह रहे—'जित देखौं तित स्याममयी है'। उनको तो ऐसे लगता है कि यह श्याम तो मेरे सङ्ग-सङ्ग लगा डोलता है।

श्रीकृष्ण कहते हैं कि उद्धव, गोपियाँ मेरे ही स्मरणमें मग्न हैं। मैं यहाँ बैठे-बैठे यह सब देख रहा हूँ। वे बड़े कष्टसे प्राण धारण कर रही हैं। मैंने उनके पास वापस आनेका सन्देश भेजा है। इसलिए तुम वृन्दावन जाओ और उनको सान्त्वना दो।

अब उद्धवजी भगवान्‌का सन्देश लेकर वृन्दावन गये। सूर्यास्तके समय वहाँ पहुँचे। धूलसे उनका रथ ढक गया था। उन्होंने वहाँ पहुँचकर देखा कि कोई उदासी नहीं है।

वैसे हिन्दीके कवियोंने तो बड़ी उदासीका वर्णन किया है, परन्तु श्रीशुकदेवजी महाराजकी दृष्टिमें वहाँ रोज सबेरे-सबेरे जब व्रजवासियोंकी नींद टूटती तो वे यह समझते कि श्यामसुन्दर शायद आजायँ। गोपियाँ प्रतिदिन प्रातःकाल उठते ही घर-द्वारको लीप-पोतकर, मङ्गलाचार करके ताजा माखन निकालतीं और यह प्रतीक्षा करने लगतीं कि न जाने कब श्यामसुन्दर आयेंगे।

यह दृश्य आज भी देखनेको मिलता है। हमारे एक परिचित महात्मा कुछ ही दिन पहले नन्दगाँव गये थे तो देखा कि माखन निकालकर खुलेमें रखा हुआ है। महात्मा बोले कि अरी बावरी, ढककर रख दो; नहीं तो मक्खियाँ बैठेंगी। गोपी बोली कि नहीं महाराज, पता नहीं कब हमारा नन्दलाला आजायेगा! फिर उसको ढक्कन हटानेकी तकलीफ उठानी पड़ेगी। लेकिन ऐसे खुला रहेगा तो आनेपर थोड़ा-बहुत खा लेगा।

इस प्रकार व्रजवासी अब भी श्रीकृष्णसे कितना प्रेम करते हैं। उनसे कुछ नहीं माँगते। दुनियाके सामने चाहे वे कितने भी भिखारी हों, पर अपने श्रीकृष्णको तो आशीर्वाद ही देते हैं।

उद्धवजीने देखा कि साँड़ गायोंके लिए लड़ रहे हैं और दूधसे भरे हुए थनको लेकर गौएँ इधर-उधर चल रही हैं। गो-दोहनकी ध्वनि हो रही है और गोपियाँ श्रीकृष्ण-गुणका गान कर रही हैं।

स्वलंकृताभिर्गोपीभिर्गोपैश्च सुविराजितम्'। ११

सब गोपियाँ इसलिए वस्त्राभूषणोंसे सुसज्जित हैं कि कहीं आज ही श्यामसुन्दर आगये और उन्होंने देखा कि हम उनके लिए दुबली हो गयी हैं, मैली हो गयी हैं, हमारे कपड़े-लत्ते मैले हो गये हैं तो उनको कितना दुःख होगा ! इसलिए वे रोज तैयार होकर श्रीकृष्णके लिए बैठती हैं !

एक बात और देखो। आजकलके तथाकथित अनन्य लोग चाहे कुछ करें-चाहे न करें, लेकिन व्रजवासी श्रीकृष्णके विरह-कालमें भी 'अग्न्यर्कातिथिगोविप्रपितृदेवार्चनान्वितैः' (१२) अपने घरमें नित्यकर्मानुसार अग्निमें होम करते थे, सूर्यका उपस्थान करते थे, अतिथि, गाय, ब्राह्मण पितर और देवताकी पूजा भी करते थे। व्रजवासी श्राद्ध और देवपूजासे कभी विरत नहीं हुए। धूप-दीप-माल्यसे गोपावास, अपने निवास-स्थान सजाते थे। आजकलके लोग जरा-सी भक्ति आजाय तो अपना सनातन धर्म, अपना सदाचार छोड़ देते हैं। परन्तु व्रजवासियोंने अपने सनातन धर्मको कभी नहीं छोड़ा।

उद्धवजीने देखा चारों ओर वन खिले हुए हैं, सरोवर लहरा रहे हैं, पशु प्रसन्न हैं, पक्षी चहक रहे हैं, नन्दबाबा भी इतने आनन्दमें हैं कि उन्होंने आगे बढ़कर उद्धवजीको देखते ही गलेसे लगा लिया। उनका खूब सत्कार किया और खूब बढ़िया भोजन कराया। उन्होंने ऐसा व्यवहार किया मानो उनको श्रीकृष्णका वियोग ही न हो—

भोजितं परमान्नेन संविष्टं कशिपौ सुखम्। १५

नन्दबाबाने उद्धवजीको अच्छे पलंगपर सुलाया और 'पादसंवाहनादिभिः गतश्रमम्' (१५)—पाँव दबाकर उनका श्रम दूर किया। तत्पश्चात् सबसे पहले यही पूछा कि हमारे सखा वसुदेव सुखी हैं न ? फिर कहा कि कंस मर गया, बहुत बढ़िया हुआ। हमारे कृष्ण-कन्हैया कैसे हैं ? वह कभी हम लोगोंकी याद करते हैं क्या ? क्या वह हम लोगोंका दर्शन करनेके लिए कभी यहाँ आयेंगे ? यदि आयेंगे तो हम उनका मुँह देख लेंगे, अन्यथा हम लोग तो कभी उनके पास जानेवाले हैं नहीं। क्या मुँह लेकर जायें ? हम दोनों असली माँ-बाप बनकर उनका पालन-पोषण करते रहे, लेकिन अन्तमें पोल खुल ही गयी। वे जान गये कि हम नकली माँ-बाप थे।

देखो उद्धव, कृष्णने अनेक-अनेक संकटोंमें-से हमको बचाया है। उनका पराक्रम, चरित्र, हास्य, सम्भाषण—ये स्मरण करके हमारे सब क्रिया-कलाप शिथिल हो गये हैं। और क्या बताऊँ, यह जो नदी है यमुना, यह जो पर्वत है गिरिराज और यह जो वन है वृन्दावन—इन सबको देख-देखकर और जहाँ-जहाँ श्रीकृष्णके चरण-चिह्न हैं, उनके खेलके स्थान हैं, उन सबका अवलोकन करके हमारा मन तदात्मक हो जाता है। अब याद आती है गर्गजीकी बात ! उन्होंने बतलाया था कि वे तो कोई देवता हैं, जिन्होंने इतने बड़े-बड़े असुरोंको मार दिया।

इतना कहनेके बाद नन्दबाबा श्रीकृष्णके स्मरणमें डूब गये। उनकी बुद्धि उन्हींके अनुराग-रंगमें रँग गयी, उत्कण्ठा बढ़ गयी और इस प्रकारके उद्गार निकलने लगे—आओ प्राणनाथ, आओ प्यारे कन्हैया, अब तुम्हारे बिना एक क्षण भी नहीं कटता।

इस प्रकार प्रेम-प्रसर-विह्वल हो गये नन्दबाबा! यशोदा मैयाने तो एक शब्द नहीं कहा। केवल आँसूकी धारा उनकी आँखोंसे बहने लगी। यही तो माताका स्वरूप है कि उसके स्तनमें दूधकी धारा होती है और आँखोंमें आँसू होते हैं।

यह सब देखकर उद्धवजी बोले कि तुम लोग जिससे इतना प्रेम करते हो, वे तो साक्षात् जगदीश्वर हैं। तुम उनसे प्रेम करके कृतकृत्य हो गये।

उद्धवजीको यह कहनेको हिम्मत नहीं हुई कि श्रीकृष्ण नहीं आयेंगे। इसलिए बोले कि धैर्य रखो, थोड़े ही दिनमें श्रीकृष्ण यहाँ आयेंगे और तुमसे जो कहकर गये हैं, वह सब सच करेंगे। श्रीकृष्ण सबके भीतर हैं। उनमें अपने-परायेका, प्रिय-अप्रियका कोई भेद नहीं है। उनके न तो माता-पिता हैं और न जन्म-मरण है। फिर भी उनका आविर्भाव-प्रादुर्भाव प्राणियोंके कल्याणके लिए होता रहता है। वे तो निर्गुण हैं। अन्तःकरणादिके सम्बन्धसे कर्ता ज्ञात होते हैं। वे केवल तुम्हारे ही पुत्र नहीं, सबके पुत्र हैं।

असलमें उद्धवजी पढ़े-लिखे तो बहुत थे, परन्तु उनको अभी तत्त्वज्ञान नहीं हुआ था। उनको तत्त्वज्ञान तो तब हुआ, जब भगवान् श्रीकृष्णने उन्हें अपने स्वरूपका ज्ञान कराया, उपदेश किया। अभीतक तो वे बृहस्पतिजीसे पढ़े थे, सर्वशास्त्र-विशारद थे। इसलिए शास्त्रकी बात दुहरा दिया करते थे। किन्तु एक प्रेमीके सामने कहीं शास्त्रज्ञान टिक सकता है? प्रेमीके पास तो हृदय है और शास्त्रज्ञानीके पास शब्दकी सम्पत्ति है। शब्द-सम्पत्तिकी यह अवस्था है कि एक विद्वान् दूसरे विद्वान्की बात नहीं मानता। वे आपसमें मतभेदकी ही बात करते हैं। मतमेलकी बात तो करते ही नहीं। यदि कहीं पाँच-छः विद्वान् इकट्ठे हों तो उन सबके मत बिल्कुल अलग-अलग होंगे। वे कभी समन्वयकी बात नहीं करेंगे, आपसमें लड़ जायेंगे। विद्वान् दोषज्ञके रूपमें ही प्रकट होते हैं, गुणज्ञके रूपमें नहीं। वे शास्त्रोंकी खटपटमें ही लगे रह जाते हैं। उन्हें बताना तो यह चाहिए कि न्याय और सांख्य, सांख्य और योग तथा दूसरे शास्त्र किस-किस स्थानपर मिलते हैं एवं कहाँ-कहाँ नहीं मिलते। भेदवाली बात तो विद्वानोंकी जीभकी नोकपर रहती है, लेकिन उनमें मेल क्या है—यह वे नहीं जानते। शास्त्रार्थसे पाण्डित्य नहीं होता, पाण्डित्य तो सहृदयतासे होता है। 'सा विद्या सन्मतिर्यया', 'सा विद्या या विमुक्तये'—विद्या वह है, जिससे मुक्ति मिले। विद्या वह है जिससे भगवान्में बुद्धि लगे।

दृष्टं श्रुतं भूतभवद्भविष्यत्स्थास्नुश्चरिष्णुर्महदल्पकं च।
विनाच्युताद् वस्तु तरां न वाच्यं स एव सर्वं परमार्थभूतः॥ ४३

अध्याससे तो आत्मा और देहकी एकता सबको है, परन्तु यदि बाधसे एकता मालूम पड़ जाय, कार्य-कारणसे एकता मालूम पड़ जाय, विशेषण-विशेष्यसे एकता मालूम पड़ जाय तो क्या आश्चर्य ! कार्य-कारण अथवा विशेषण-विशेष्यसे एकता मालूम पड़नेपर भक्ति हो जायेगी और बाधसे एकता मालूम पड़नेपर, सामानाधिकरण्य होनेपर तत्त्वानुभूति हो जायेगी। अन्यथा आध्यासिक एकताको पकड़कर संसारमें भटकते रहो, उससे कोई काम बननेवाला नहीं है।

इसलिए जब उद्धवजीने कहा कि श्रीकृष्णके सिवाय और कुछ है नहीं, तब नन्दबाबा कुछ नहीं बोले।

प्रातःकाल होनेपर गोपियाँ उठीं, उन्होंने वास्तुपूजा की, दीपक जलाये। वे अपने-अपने वस्त्राभूषणोंके साथ शोभायमान हुईं और भगवान्का गान करने लगीं।

उद्गायतीनामरविन्दलोचनं व्रजाङ्गनानां दिवमस्पृशद् ध्वनिः। ४६

अरविन्द-लोचन भगवान्का गान करते-करते, गोपियोंकी ध्वनि स्वर्गका स्पर्श करने लगी, उसमें दधि-मन्थनका शब्द और मिल गया। जहाँ संगीत हो और दधि-मन्थन हो रहा हो, वहाँ जरा दोनोंको एकमें मिलाकर देखो। संगीत प्रेमकी ध्वनि है और दधि-मन्थन अन्न-धनकी, सम्पत्तिकी ध्वनि है। जहाँ हृदयमें प्रेम भरा है ओर बाहर खानेके लिए मक्खन मिलता है, वहाँ और क्या चाहिए ?

निरस्यते येन दिशाममङ्गलम्। ४६

इसीसे अमङ्गल दूर होता है। दही मथा जा रहा है, गोपियाँ गा रही हैं तथा दोनोंकी ध्वनि एक साथ मिलकर सम्पूर्ण विश्वके अमङ्गलको दूर कर रही है।

जब कुछ और सबेरा हुआ तब गोपियोंकी दृष्टि उद्धवजीके रथपर पड़ी। वे सोचने लगीं कि यह रथ किसका है ? कहीं वह अक्रूर फिर तो नहीं आगया। पहले तो वह हमारे कृष्णको ले गया, अब कहीं अपने मरे हुए स्वामी कंसकी अन्त्येष्टि क्रियामें सम्मिलित करनेके लिए हम लोगोंको तो नहीं ले जाना चाहता है ? लेकिन कंस तो राक्षस था, कौणप था। उसके श्राद्धमें हम लोगोंकी क्या जरूरत ? इस प्रकार गोपियाँ सोच-विचार कर ही रही थीं कि उनके बीचमें उद्धवजी आगये।



श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि परीक्षित, गोपियोंने देखा—जैसी वेशभूषा श्रीकृष्णकी है, वैसी ही वेशभूषा इस नवागतकी है। उनके ही जैसे लम्बे-लम्बे बाहु, कमलके समान नेत्र, पीताम्बर, पुष्करमाली, लसन्मुखारविन्द और मणिमृष्ट कुण्डल !

अब तो गोपियोंके मुँहपर पवित्र मुस्कान फैल गयी और उन्होंने कहा कि अरे, यह हमारे प्यारेका वेश धारण करके कौन आया है ? इसने तो उनका उतरा हुआ कपड़ा पहन रखा है और उन्हींके आभूषण भी धारण किये हैं। गोपियोंने घेर लिया उद्धवको। फिर उनको एकान्तमें ले गयीं, उनका खूब सत्कार किया और जान गयीं कि यह तो कोई कृष्णका सन्देश लेकर आया है। बोलीं कि हम तुम्हें पहचान गयी हैं। तुम यदुपतिके पार्षद हो—'भर्त्रेह प्रेषितः पित्रोर्भवान् प्रियचिकीर्षया'। (४)

देखो, यह व्यङ्ग्य है। उनका संकेत यह है कि तुम हमारे कृष्णके नहीं हो। इसलिए यहाँ आये हो कि तुम्हारे भर्ताने तुमको यहाँ भेजा है। हमारे स्वामीने तुमको नहीं भेजा, तुम्हारे ही स्वामीने तुमको भेजा है। उसने तुमको हमारे लिए नहीं, अपने माँ-बापके लिए भेजा होगा। अन्यथा हमारी याद उसको क्यों आती ? जरूर माँ-बापकी याद आती होगी, क्योंकि माँ-बापको याद तो बड़े-बड़े ऋषि-मुनियोंको भी आती है।

इस दुनियामें सब सम्बन्ध स्वार्थके होते हैं—वैसे ही जैसे फूलोंसे भौंरोंके और पैसेवालेसे वेश्याके। फूलोंके सूखनेपर भौंरे उड़ जाते हैं और वेश्या जब देखती है कि पुरुषके पास पैसा नहीं है तो उसको छोड़ देती है। इसी प्रकार प्रजा असमर्थ राजाको छोड़ देती है। शिष्य जब विद्या प्राप्त कर लेता है तो गुरुको छोड़ देता है। ऋत्विज दक्षिणा लेकर यजमानको छोड़ देते हैं। पक्षी जब देखते हैं कि फल नहीं है तो वे वृक्षोंको छोड़ देते हैं। यही दुनियाकी चाल है। इसीलिए श्रीकृष्ण हमको छोड़कर चले गये। इतना कहते-कहते गोपियाँ रोने लगीं।

इसी बीचमें एक भँवरा वहाँ आगया। एक गोपीने देखा कि यह तो मधुकर है। इसके हाथमें—सूँडमें तो मधु है, लेकिन हृदयमें मधु नहीं है। मधुका स्वाद उसको नहीं मालूम है—

काचिन्मधुकरं दृष्ट्वाध्यायन्ती कृष्णसङ्गमम्। ११

गोपियाँ कल्पना करके कहने लगीं कि अरे, यह तो जैसे हम श्रीकृष्णके साथ मान करती हैं और दूत हमें मनाने आया है।

'मधुप कितवबन्धो मा स्पृशाङ्घ्रिम्' (१२)—लेकिन एक तो यह मधुप है। 'मधूनि पिबति इति मधुपः'—जो मधुपका पान करे वह मधुप। मधुप होना ही बड़ाभारी दोष है। मधुप माने शराबी; पता नहीं नशेमें क्या गुनगुना रहा, क्या गा रहा, क्या बोल रहा है!

दूसरे 'कितवबन्धो'—कितवका बन्धु है अथवा 'मधुपस्य कितवस्य च बन्धो'—वह जो मधुप है, मधुपति है और कितव है, कपटी है—'किं तव' करनेवाला है, क्या तुम उसके भाई हो? मत छुओ हमारे पाँव, तुम तो अछूत हो, छूने योग्य ही नहीं हो।

देखो न, तुम कितने वेशऊर हो, वहाँका सब इतिहास अपनी मूँछोंमें लिखकर ले आये हो। यह तुम्हारी मूँछ-दाढ़ीमें जो पीलापन है, वह क्या है? तुमको केसर कहाँ मिल गयी? केसर तो कश्मीरमें पैदा होती है, वह तुमको मथुरामें कैसे मिल गयी? यदि मथुरामें मिली है तो जरूर किसी स्त्रीने अपने वक्षस्थलपर लगाकर रखा होगा और तुम वहींसे उसे अपनी मूँछमें लगाकर आये हो! किन्तु उन मानिनियोंका प्रसाद वह मधुपति ढोया करे, तुम तो बदनामी ही करानेवाले हो—'यदुसदसि विडम्ब्यं यस्य दूतस्त्वमीदृक्' । (१२)

तुम्हारा कुचकुङ्कुमलिप्तश्मश्रु होकर यहाँ आना अत्यन्त उपहासास्पद है। यदि कहो कि हमने भी तो उनका अधरामृत पान किया था तो अरे ओ भँवरा, ऐसा मत बोलो, क्योंकि हमने तो केवल एक बार ही ऐसा किया था!

देखो, प्रेममें तृप्ति नहीं होती, वहाँ बहुत बार नहीं माना जाता। यदि कोई किसीसे कहे कि तुम तो बहुत दिनके बाद मिले हो और वह झटसे जवाब दे दे कि अरे अभी छह महीने पहले ही तो तुमसे मिले थे, बहुत दिन कहाँ हुए तो समझना कि पूछनेवाला तो बहुत प्रेमी है, लेकिन जवाब देनेवाला बिल्कुल वज्र है। वह प्रीतिकी रीति नहीं जानता।

इसलिए गोपियाँ बोलती हैं कि केवल एक बार उसने अपनी मोहिनी अधरसुधाका पान कराया था। वह भी हम जानबूझकर पीना नहीं चाहती थीं उसने तो जबरदस्ती की थी—'पाययित्वा'। उसके बाद भँवरे, जैसे तुम फूलको छोड़ देते हो, वैसे ही वह हमलोगोंको छोड़कर चला गया।

गोपियोंने अपने लिए 'सुमनस्' शब्दका प्रयोग किया है। मतलब यह कि हम तो उसकी बहुत प्रेमिका हैं, लेकिन वह हमको छोड़कर चला गया। आश्चर्य तो यह है कि लक्ष्मी उसके चरणारविन्दकी सेवा करती है। जरूर इसमें कोई राज होना चाहिए।

अपि बत हृतचेता उत्तमश्लोकजल्पैः। १३

वह राज क्या है? यही है कि श्रीकृष्ण उत्तमश्लोक हैं। 'उत्तमः श्लोको यस्य'—उनका यश बहुत बढ़िया है। 'उत्तमैः श्लोक्यते इति'—उत्तम लोग उनका उपश्लोकन करते हैं। ठीक

है। परन्तु उनके जो जल्प हैं, वे वाद नहीं हैं। वहाँ तो बस जल्प-ही-जल्प है, झूठ-ही-झूठ है। वे कोई-न-कोई जल्प माने गप्प हाँक देते हैं और भोली-भाली लक्ष्मीजी उनकी बातोंमें आजाती हैं।

अरे ओ षडङ्घ्रे, तुमको हम क्या कहें ? दो पाँववालोंको मनुष्य कहते हैं, चार पाँववालोंको पशु कहते हैं, लेकिन जिनके छह पांव हों, उनको क्या बोलना पड़ेगा ? ड्योढ़ा पशु। इसलिए भँवरे, तुम षट्पाद क्या हो, ड्योढ़ा पशु हो। क्यों हम गरीबोंके सामने आकर यदुओंके अधिपतिका गुणगान करते हो ? वे तो हमारे लिए पुराने पड़ गये हैं। कोई नयी बात हो तो सुनाओ। गाना ही हो तो हमारे व्रजनन्दन, व्रजेन्द्र-नन्दनकी गुण-गरिमा गाओ। 'अगृहाणाम्' (१४)—हम तो बेघरबार हैं, तुम्हें कुछ दे नहीं सकतीं, यदि तुमको कुछ लेना-देना है तो यहाँसे चले जाओ।

विजयसखसखीनां गीयतां तत्प्रसङ्गः। १४

इस समय तुम्हारे यदुपति विजयी हो रहे हैं। इसलिए उनकी जो नयी सखियाँ बनी हैं, उनके पास जाकर गाओ, क्योंकि उन्होंने उनकी छातीकी बीमारी दबा-दबाकर दूर कर दी है।

इसलिए 'कल्पयन्तीष्टमिष्टाः' (१४)—तुम जो चाहोगे, वह तुमको देंगी। यदुपति महोदयके लिए दिवि, भुवि और रसामें कोई स्त्री दुर्लभ नहीं है। क्योंकि उनके रुचिर हास कपटतासे परिपूर्ण हैं। जब लक्ष्मी उनके चरण-धूलिको उपासना करती हैं, तब हम उनके लिए क्या होती हैं!

वयं का, अपि च कृपणपक्षे ह्युत्तमश्लोक शब्दः। १५

लेकिन भँवरे, एक बात है। यह जो 'उत्तमश्लोक' शब्द है, उसका अर्थ कृपा करनेवाला होता है। जो गरीबोंपर कृपा करे, उसीको उत्तमश्लोक कहा जाता है। इसलिए तुम लौटकर जाना तो इस ओर उनका ध्यान दिलाना।

देख भँवरे, तू हमारी बहुत खुशामद मत कर, चाटुकारी मत कर! हमारे पाँवोंपर अपना सिर मत रख। यदि तू कृष्णका दूत बनकर आया है तो देख हमारी दशा! जिसके लिए हमने पति और लोक सब कुछ छोड़ा, उसने हमलोगोंको ही छोड़ दिया। इसलिए अब वह सन्धि करने योग्य नहीं है।

मृगयुरिव कपीन्द्रं विव्यधे लुब्धधर्मा। १७

देखो, गोपियोंका प्रेम इसी जन्मका नहीं, जन्म-जन्मान्तरका है। यह प्रेम ऐसा है, जिससे ईर्ष्या आती है, असूया आती है।

गोपियाँ कहती हैं कि जैसे कोई व्याध कपीन्द्रको मारे, वैसे उसने बालिको मार दिया, स्त्री चाहनेके लिए आयी तो उसको विरूप कर दिया और बलिने सर्वस्व दे दिया तो उसको बाँध दिया।

तदलमसितसख्यैर्दुस्त्यजस्तत्कथार्थः १७

ऐसे कृष्णकी हमें जरूरत नहीं है। हमने तो सब कारे आजमा लिये, दुनियाके जितने भी कारे हैं, सब देख लिये। इसलिए हम 'तदलमसित सख्यैः' (१७)—कालोंसे हम मित्रता करना नहीं चाहतीं। करें भी तो कैसे? मित्रता एक ओरसे नहीं होती, दोनों ओरसे होती है।

'असित सख्यैः'—हम तो उसके साथ बँध गयीं, लेकिन वह हमारे साथ 'असित' ही रहा, नहीं बँधा। इसलिए उस न बँधनेवालेके साथ सख्य करके हम क्या करेंगी?

यदि तुम कहो कि जब तुम मित्रता करना नहीं चाहतीं तो फिर उसीके बारेमें बार-बार क्यों चर्चा करती हो? मन तो तुम्हारा उसके पास वैसे ही मँडराता है, जैसे हम फूलके आस-पास मँडराते हैं। तो, इसका उत्तर यह है कि 'दुस्त्यजस्तत्कथार्थः'—हम स्वयं उसको तो छोड़ सकती हैं, लेकिन उसकी कथाको नहीं छोड़ सकतीं। क्योंकि उसकी कथा ऐसी है कि यदि किसीने उसके लीलारूप कर्ण-पीयूषका एक विप्रुट्, एक फुहिया, एक सीकर भी ले लिया, उसका द्वन्द्व-धर्म विधूत हो जाता है, नष्ट हो जाता है और वह गृह-कुटुम्बको छोड़कर दीन हो जाता है।

देखो, ये जो बाबाजी लोग दुनियामें हैं, उन्होंने अपने बूढ़े माँ-बापको क्यों छोड़ा, अपनी जवान पत्नीको क्यों छोड़ा, अपने बच्चोंको क्यों छोड़ा और अपना बना-बनाया घर-संसार क्यों छोड़ा? ये बेचारे पेड़के नीचे क्यों रहते हैं, भीख माँगकर क्यों खाते हैं? इसमें इनका कोई दोष नहीं है। दोष तो है उसकी कथाका, जिसने इनको मतवाला बना दिया और इनको सब-कुछ छोड़नेके लिए विवश कर दिया। इसीलिए ये महात्मा चिड़ियाकी तरह रहते हैं और भिक्षुचर्याका आचरण करते हैं—

बहव इह विहङ्गा भिक्षुचर्यां चरन्ति। १८

भँवरे, हमने तो उसकी बातको सच्ची समझा था, पर वह तो धोखा निकली। देखो न, कितनी-कितनी बार हम उससे धोखा खा चुकी हैं, इसलिए अब तुम उसकी चर्चा मत करो, 'भण्यतामन्यवार्ता' (१९)—कोई दूसरी कथा सुनाओ!

इतने-में भँवरा कहीं दूर चला गया तो गोपियाँ उसके लिए व्याकुल हो गयीं और कहने लगीं कि अरे, एक सहारा तो था, वह भी कहाँ चला गया? भँवरा घूमता हुआ फिर पास आया। उससे गोपियाँ बोलीं कि अच्छा, फिर प्यारेने तुमको भेजा है, इसलिए तुम आगये। अच्छा, अच्छा तुम हमारे माननीय प्यारेके दूत हो, जो चाहो, वह माँग लो!

जब भँवरा गुनगुनाने लगा, तब गोपियाँ फिर बोलने लगीं—

नयसि कथमिहास्मान् दुस्त्यजद्वन्द्वपार्श्वम्। २०

श्रीरूप गोस्वामीजी महाराजने अपने उज्ज्वल-नीलमणि नामक ग्रन्थमें चित्र-जल्पके सुजल्प, संजल्प, परिजल्प आदि दस भेद करके इनकी जो व्याख्या की है (स्थायिभाव प्रकरण) अद्भुत है। उसपर श्रीजीव गोस्वामीजी महाराजकी टीका है। उसमें उन्होंने उन दसोंके भी दस भेद बनाये हैं और उनको रीति-ग्रन्थोंसे सङ्गत करके एक-एकमें क्या-क्या रहस्य भरा हुआ है, यह उद्घाटित किया है।

गोपियोंने कहा—अच्छा भँवरे, तुम फिरसे लौटकर गुनगुनाने लगे। क्या तुम यह चाहते हो कि हम तुम्हारे साथ, अपने प्यारेके पास चलो चलें? पर, बाबा! हम तो उसके पास जानेवाली नहीं हैं। क्योंकि कोई-न-कोई लक्ष्मी आदि तो हमेशा उसके वक्षस्थलपर लगी रहती हैं।

अच्छा जाने दो इन बातोंको, यह बताओ कि वे अच्छी तरहसे तो हैं, कुशलसे तो हैं? हमने तो इतनी देरमें अभीतक उनका कुशल-मङ्गल ही नहीं पूछा! कभी उनको गोपोंकी याद आती है? कभी माँ-बापकी याद आती है? क्या हम दासियोंकी कथा भी कभी उनके मुँहपर आती है? क्या कभी वे यहाँ आकर हमारे सिरपर अपना कर-कमल रखेंगे?

अब उद्धवजीने देखा कि ये साधारण गोपियाँ नहीं हैं। 'निशम्यैवं कृष्णदर्शन-लालसाः' (२२)—ये तो श्रीकृष्ण-दर्शनकी मूर्तिमती लालसा हैं। उन्होंने उनको श्रीकृष्णका सन्देश देकर सान्त्वना दी, कहा कि तुम तो परिपूर्ण हो गोपियों, जो तुम्हारा मन इस प्रकार कृष्णमें लगा हुआ है। दान, व्रत, तप, होम, जप, स्वाध्याय, संयम और दूसरे जो श्रेयस्कर कर्म हैं, उनसे श्रीकृष्णकी भक्ति सिद्ध की जाती है। भक्ति धर्म नहीं है, भक्ति तो धर्मका फल है—'कृष्णे भक्तिर्हि साध्यते' (२४)। भक्ति फलात्मिका है, फलात्मिका ही नहीं, रसात्मिका है और रसात्मिका ही नहीं, भगवत्स्वरूपात्मिका है—भगवान्‌का स्वरूप है। तुमने भगवान्‌के प्रति अनुत्तम भक्तिका प्रवर्तन किया है।

वृन्दावनी महात्मा लोग कहते हैं कि यहाँ श्रीमद्भागवतमें एक अपूर्व वस्तुका उल्लेख है। वह क्या है? यही है—

भगवत्युत्तमश्लोके भवतीभिरनुत्तमा।
भक्तिः प्रवर्तिता दिष्ट्या मुनीनामपि दुर्लभा॥ २५

गोपियोंने एक नवीन भक्तिका प्रवर्तन किया है अर्थात् गोपियाँ भक्ति-सम्प्रदायकी आचार्य हैं। कहा जा सकता है कि जब बड़े-बड़े मुनियोंने नये-नये पन्थोंके प्रवर्तन किये हैं, तब यदि गोपियोंने भी भक्ति-पथका प्रवर्तन कर दिया तो क्या आश्चर्य! लेकिन गोपियोंकी भक्ति ऐसी नहीं है। वह तो बड़े-बड़े मुनियोंके लिए भी दुर्लभ है।

इसलिए उद्धवजीने गोपियोंसे कहा कि जैसे संन्यासी स्वरूपतः वस्तु छोड़कर, स्थान छोड़कर, सम्बन्ध छोड़कर, कर्म छोड़कर और कर्माधिकारकी निवृत्ति करके परमात्माके स्वरूपमें स्थित होता है, वैसे ही तुमने चतुर्वर्गका संन्यास करके कर्माधिकार और ज्ञानाधिकारको निवृत्त करके परमात्माके प्रति रसीली भक्तिका प्रवर्तन किया है—

हित्वा वृणीत यूयं यत् कृष्णाख्यं पुरुषं परम् । (२६)

उद्धवजी बोले—श्रीकृष्ण पुरुष नहीं, परपुरुष हैं—'वसुदेवगृहे साक्षाद् भगवान् पुरुषः परः'। जो सबके हृदयोंमें अलग-अलग बैठा हुआ है, वह ये नहीं हैं। ये तो सब पुरुषोंमें अनुगत एक पर हैं, पृथक्-पृथक् पुरुषोंका पालन-पोषण करनेवाले, सत्ता-स्फूर्ति देनेवाले पर हैं। तुमको सर्वात्मभाव हो गया—यह तुमने हमारे ऊपर बड़ा अनुग्रह किया। अब श्रीकृष्णने तुमको जो सन्देश दिया है, वह सुन लो!

भगवान्‌ने कहा है कि अरी गोपियों, मेरे साथ तुम्हारा वियोग कहाँ है? मेरे साथ तो तुम्हारा क्वचित् भी वियोग नहीं है। भला, मेरे साथ तुम्हारा वियोग कैसे हो सकता है? क्योंकि मैं तो सबका आत्मा हूँ और क्या अपने आत्मासे किसीका वियोग होता है?

'सर्वात्मना—सर्वप्रेमास्पदेन' (२९)—मैं तो सबका परम प्रेमास्पद हूँ। जब तुम मुझसे प्रेम करती हो तो क्या कोई ऐसा क्षण भी होता है कि मैं तुम्हारे दिलमें नहीं रहता? जैसे उपादान कारण कार्यमें रहता है, वैसे ही मैं तुम्हारे रोम-रोममें व्याप्त हूँ। मुझमें ही सारी सृष्टि है। आत्मा तो सबसे परे है। यह जो इन्द्रियोंका विषय दीख रहा है, जिससे यह सब छिप जाता है, वह तो कुछ है ही नहीं—

येनेन्द्रियार्थान् ध्यायेत मृषा स्वप्नवदुत्थितः। ३२

जैसे नदीका अन्त समुद्रमें है और सब साधनोंका अन्त परमात्मामें है, वैसे ही तुम्हारे मनका संगम मुझमें है। गोपियो, मैं तुम्हारा प्यारा हूँ। तुम्हारी आँखोंसे दूर इसलिए हूँ कि 'मनसः सन्निकर्षार्थम्' । (३४) मनसे बिल्कुल तुम्हारे पास रहूँ। क्योंकि दूर रहनेपर प्रियतममें जैसा मन लगता है, वैसा पास रहनेपर नहीं लगता। तुम लोग अपने मनसे अन्य वृत्तियोंको निकालकर केवल मुझमें अपना मन लगाना और जल्दी आकर मुझे प्राप्त होना। जो गोपी रासमें सशरीर नहीं आयी थी, वह मुझे जल्दी प्राप्त हो गयीं!

इस प्रकार उद्धवजीने गोपियोंको उनके प्रियतमका सन्देश सुनाया। यह सुनकर कोई गोपी उद्धवजीपर नाराज नहीं हुई—'ता ऊचुरुद्धवं प्रीतास्तत्संदेशागतस्मृतीः' । (३८) बल्कि सब-की-सब गोपियाँ उद्धवजी द्वारा सन्देश श्रवण करके श्रीकृष्णकी स्मृतिमें मग्न हो गयीं।

उसके बाद गोपियाँ बोलती हैं—महाराज, बड़े सुख-सौभाग्यकी बात है कि कंस मारा गया, श्रीकृष्ण वहाँ सुखी हैं और पुरकी स्त्रियोंको आनन्दित कर रहे हैं। वे तो रस-शास्त्रके जानकार हैं, क्यों नहीं वहाँ मोहित हो जायेंगे ? बताइये कि क्या कभी हम लोगोंका भी संस्मरण करते हैं ? क्या उस रासलीलाका स्मरण करते हैं ? क्या कभी वे आयेंगे ? जैसे वन बादलोंके आनेसे आनन्दित होता है, वैसे ही हमारी आँखें उनके शरीरको देख-देखकर आनन्दित होंगी ? हम उनका संगीत बनेंगी ?

अरे उद्धवजी, भला वे क्यों यहाँ आने लगे ? वहीं विवाह कर लेंगे। अब हमारी उनको क्या जरूरत है ? हमारी तो निराशा ही सबसे बढ़िया है बाबा ! परन्तु यह जानते हुए भी आशा नहीं छूटती।

देखो, जबतक मिलनकी आशा रहती है तबतक करुण रसका उदय नहीं होता और विप्रलम्भात्मक शृङ्गार ही रहता है। गोपियोंके जीवनमें करुणरस नहीं है, शृङ्गार रस है, क्योंकि उनके मनमें मिलनेकी आशा बनी हुई है।

गोपियाँ आगे कहती हैं कि उद्धवजी, श्रीकृष्णको भला कौन छोड़ सकता है ! उनके न चाहनेपर भी लक्ष्मी उनको कभी छोड़ती नहीं। व्रजकी एक-एक चीज बारम्बार उनकी स्मृति दिला रही है। जहाँ देखो वहीं श्रीकृष्णका आचरण दिखायी देता है, यहाँकी नदी, यहाँका शैल, यहाँका वन, यहाँकी गाएँ, सबमें उनकी वंशी-ध्वनि समायी है। इन सबको देख-देखकर श्रीकृष्णकी याद आती रहती है। उनकी वह ललित गति, उनका वह उदार हास, उनका वह लीलावलोकन, उनकी वह मीठी वाणी हमारी बुद्धिको हर ले गयी। भला उनको हम कैसे भूल सकती हैं ?

यह कहकर गोपियाँ श्रीकृष्ण-स्मरणमें मग्न हो गयीं और यह उद्गार प्रकट करने लगीं— हे नाथ, हे रमानाथ, तुम्हारा यह सारा व्रज तुम्हारे वियोगके अथाह सागरमें डूब रहा है। आओ इसे बचाओ—

हे नाथ हे रमानाथ व्रजनाथार्तिनाशन। मग्नमुद्धर गोविन्द गोकुलं वृजिनार्णवात्॥ ५२

इसके बाद गोपियोंकी क्या दशा हुई यह भी देखो—

उद्धवं पूजयाञ्चक्रुर्ज्ञात्वाऽऽत्मानमधोक्षजम्। ५३

गोपियोंने उद्धवजीको अपने परम प्रेमास्पद श्रीकृष्णके रूपमें, अपने आत्मा श्रीकृष्णके रूपमें जानकर उनकी पूजा की। महीनों तक उद्धवजी वहाँ रहे। नित्य श्रीकृष्णकी चर्चा चलती, दिन-रात क्षणके समान व्यतीत होते और वहाँ नदी-तटपर, वनमें, पहाड़की तलहटीमें और फूले हुए वृक्षोंकी छायामें हरिदास उद्धवजी व्रजवासियोंको श्रीकृष्णका स्मरण कराते—'कृष्णं संस्मारयन् रेमे हरिदासो व्रजौकसाम्'। (५६)

अब उद्धवजी, जो साक्षात् बृहस्पतिके शिष्य हैं, यदुवंशियोंके प्रवर मन्त्री हैं और श्रीकृष्णके सखा हैं, गोपियोंका प्रेम देखकर अपना सब कुछ भूल गये। बोले कि नहीं, नहीं, इन सब बातोंसे मेरे अन्दर कोई बड़प्पन नहीं आया, बड़प्पन तो आया इन गोपियोंको गुरु बनानेसे।

एताः परं तनुभृतो भुवि गोपवध्वो गोविन्द एव निखिलात्मनि रूढभावाः। ५८

देखो, यह गोपी है, जिसका सर्वस्व सारा भाव श्रीकृष्णमें ही लगा हुआ है। ऐसी स्थितिको बड़े-बड़े मुनि चाहते हैं और कहते हैं—'किं ब्रह्मजन्मभिरनन्तकथारसस्य' (५८)—भला, अनन्तकी कथामें जिसको रस आगया, उसको ब्राह्मण, शुक्ल, सावित्र आदि जन्मकी क्या जरूरत है? यदि भगवान्की कथामें रस आगया तो ब्रह्म होकर क्या करेंगे और यदि भगवान्की कथामें रस नहीं आया तो—'अनन्तकथासु अरसस्य ब्रह्म जन्मभिः किम्' ब्रह्मा होनेसे भी क्या लाभ? क्या मिलेगा उससे? कहाँ तो ये वनमें रहनेवाली, जातिहीन, आचारहीन, ज्ञानहीन स्त्रियाँ और कहाँ भगवान्में इनका अनन्य प्रेम! असलमें श्रीकृष्णके प्रेममें ज्ञानकी जरूरत नहीं है—

नन्वीश्वरोऽनुभजतोऽविदुषोऽपि साक्षात्। ५९

अरे, जो ज्ञानकी पराकाष्ठा है, वह भक्ति है और जो भक्तिकी पराकाष्ठा है, वह ज्ञान है और दोनोंमें यदि रसकी पराकाष्ठा मिल जाये तो क्या कहना? भक्ति और ज्ञानकी पराकाष्ठा मिल जाती है। जैसे कोई अनजानमें भी अमृत पी ले तो उसका परम कल्याण हो जाता है, वैसे ही अनजानमें भी श्रीकृष्णका नाम ले ले और उनसे प्रेम कर ले तो उसका परम कल्याण हो जाता है। श्रीकृष्णने गोपियोंपर रास-लीलाके समय जो कृपा की, वह न तो किसी देवी-देवतापर हुई और न लक्ष्मीपर ही हुई—

नायं श्रियोऽङ्ग उ नितान्तरतेः प्रसादः स्वर्योषितां नलिनगन्धरुचां कुतोऽन्याः। ६०

उद्धवजीने कहा कि मैं तो जन्म-जन्ममें इस वृन्दावनकी कोई गुल्मलता या ओषधि बनना चाहता हूँ, जिससे कि मुझपर इन गोपियोंकी चरणधूलि पड़ती रहे। इन गोपियोंकी महिमा तो देखो। इनका अपने परिवारमें प्रेम न हो और ये लड़ाई-झगड़ा करके निकली हों—यह बात नहीं है। इनका तो सबसे बड़ा स्नेह-सम्बन्ध था। फिर भी इन्होंने उसका परित्याग करके भगवान्का परम प्रेम प्राप्त कर लिया है—

या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम्। ६१

वेद-वृक्षकी सारी शाखाओंमें ढूँढ लिया, कहीं ब्रह्म नहीं मिला। मिला तो कहाँ मिला? गोपीके आँचलमें छिपा हुआ मिला—

वेदतरोः प्रतिशाखं मृगितं मिलितं न तद्ब्रह्म।
मिलितं मिलितमिदानीं गोपवधूटीपटाञ्चले नद्धम् ॥

उपनिषदोंके अर्थको व्रजवासियोंने ऊखलमें बाँध लिया—'उपनिषदर्थम् उलूखले निबद्धम्'।

देखो, हमारे जो शाब्दिक विद्वान् हैं, उनमें कोई-कोई कहते हैं कि शब्द प्रत्येक ज्ञानमें अनुगत होता है—'अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते' (वाक्यपदीय १.१२३)। जितना भी लोक-व्यवहारका ज्ञान है, उसमें शब्द अनुव्याप्त ही रहता है, अथात् शब्द बड़ा भारी सूक्ष्म है। कोई कहते हैं कि शब्द और अर्थका औत्पत्तिक सम्बन्ध है, नित्य सम्बन्ध है। कोई कहते हैं कि दोनों बिल्कुल एक ही हैं। कोई कहते हैं कि ज्ञानसे शब्द बनते हैं, कोई कहते हैं कि शब्दसे ज्ञान होता है, कोई कहते हैं कि शब्द और ज्ञान युगपत् हैं और कोई कहते हैं कि दोनों विज्ञान-मात्र ही हैं। कोई कहते हैं कि दोनों अधिष्ठान-मात्र ही हैं। विज्ञान-मात्र और अधिष्ठान-मात्र होनेमें फर्क है। विज्ञानमें धारा है और अधिष्ठानमें धारा नहीं है।

परन्तु गोपियोंने ऐसा आश्चर्य प्रकट किया कि अर्थको ही लेकर ऊखलमें बाँध दिया। बोलीं कि अब तुम्हारे शब्द हों चाहे न हों, ज्ञान हो चाहे न हो, अर्थ तो हमारा 'उलूखले-निबद्धम्'—ऊखलमें ही बँधा हुआ है।

इसलिए उद्धवजी कहते हैं कि मैं तो बनूँ वृन्दावनकी कोई झाड़ी और उसपर पड़े गोपियोंके चरणोंकी धूलि ! क्योंकि इन गोपियोंने श्रीकृष्णके चरणारविन्दको अपने हृदयपर रखा, जो बड़े-बड़े योगी और ज्ञानियोंको भी नहीं मिलता। मैं तो वन्दना करता हूँ नन्दबाबाके व्रजकी, इन गोपियोंके चरण-रेणुकी, जिनका 'हरिकथोद्गीत' (६३)—तीनों लोकोंको पवित्र करता है।

श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि परीक्षित, अब उद्धवजी मथुरा लौटनेके लिए तैयार हुए। व्रजवासियोंने उनको तरह-तरहकी भेंट-पूजा लाकर दी, फिर बड़े अनुरागसे यह कहा कि उद्धवजी, हमें कृष्णकी अपेक्षा उनकी प्रसन्नताकी अधिक आवश्यकता है। वे नहीं आ पाते हैं तो मत आयें। न आनेमें यदि उनको आनन्द है तो उनका आनन्द बना रहे—'तुम नीके रहो उनही के रहो'। उनको जहाँ सुख मिलता है, वहाँ रहें। लेकिन हम अपने लिए भी कुछ चाहते जरूर हैं।

इसपर जब मानो उद्धवजीने पूछा कि अपने लिए क्या चाहते हो आपलोग ? तब व्रज-वासियोंने कहा कि बस, हम यही चाहते हैं—

मनसो वृत्तयो नः स्युः कृष्णपादाम्बुजाश्रयाः। ६६

हमारे मनकी वृत्तियाँ श्रीकृष्ण-चरणारविन्दका आश्रय ग्रहण करें, 'वाचोऽभिधायि-

नीर्नाम्नां'—हमारी वाणी उनके नामका उच्चारण करती रहे और 'कायस्तत्प्रह्वणादिषु' (६६)—हमारा शरीर उनकी सेवा करे। हम उनमें सर्वात्मना लगे रहें। हमारे प्यारे आयें चाहे मत आयें, लेकिन मस्त रहें, मुस्कुराते रहें और खुश रहें।

कर्मभिर्भ्राम्यमाणानां यत्र क्वापीश्वरेच्छया। ६७

हमें मुक्ति नहीं चाहिए। हम नरकमें भी, पशु-पक्षी योनिमें भी जानेको तैयार हैं, लेकिन हमारा जो कुछ मङ्गलाचरित है, दान है, उसका हम केवल एक फल चाहते हैं—'रतिर्नः कृष्ण ईश्वरे (६७)—हमारी मति श्रीकृष्णमें लग जाय।

यदि कोई कहे कि ईश्वरमें मति लगाओ, श्रीकृष्णमें मति क्यों लगाते हो? तो, हमारा ईश्वर श्रीकृष्ण ही है।

देखो, 'नः ईश्वरे कृष्णे' (६७) इसमें मतिके साथ नः का सम्बन्ध न करके ईश्वरके साथ जोड़ दो—'नः ईश्वरे कृष्णे रतिरस्तु'।

व्रजवासियोंने कहा कि हम श्रीकृष्णके सिवाय दूसरे ईश्वरको नहीं जानते। और कोई ईश्वर हो तो वह बाबाजीओंको मिले, लेकिन हमारा, व्रजवासियोंका जो ईश्वर हैं, वह तो श्रीकृष्ण ही है। हमारा तो यह प्रण है कि 'धोखे हुँ दूसरो नाम कढे रसना मुख काढ़ि हलाहल बोरौं'—यदि धोखेमें भी दूसरेका नाम जीभपर आजाय तो हम अपनी जीभको निकालकर जहरमें डुबो देंगे। बस, अब और क्या कहें।

इसके बाद उद्धवजो व्रजवासियोंसे पूजित होकर मथुरा लौटे। वहाँ आकर श्रीकृष्णसे मिले और उनको बताया कि उनके प्रति व्रजवासियोंकी कैसी प्रीति है। फिर उद्धवजी नन्दबाबाके दिये हुए जो-जो उपहार अपने साथ लाये थे, वह सब उन्होंने बलरामजी, वसुदेवजी और राजा उग्रसेनको दे दिये।

उद्धवजीने श्रीकृष्णको कोई उपहार इसलिए नहीं दिया कि उनके सामने प्रेमसे बढ़कर किसी वस्तुकी कोई कीमत नहीं है। उनके लिए तो प्रेम ही सर्वोपरि उपहार है और वह व्रजवासियोंके हृदयमें कितना कूट-कूटकर भरा हुआ है—यह उद्धवजीने श्रीकृष्णके समक्ष निवेदित कर दिया।



उद्धवजीने श्रीकृष्णको उलाहना देते हुए कहा कि श्रीकृष्ण, तुम्हारा हृदय कितना कठोर है ? वह फट क्यों नहीं जाता ? गोपियाँ तुमको इतना प्रेम करती हैं और तुम उनको छोड़कर यहाँ मथुरामें रह रहे हो ? यह तुम्हारा कैसा प्रेम है ? कैसा आनन्द है ? कैसा रस है ? कैसा ज्ञान है ? क्या यही तुम्हारा सच्चिदानन्द स्वरूप है ? अरे बाबा, तुम अभी चलो व्रजमें और वहीं चलकर रहो।

श्रीकृष्णने कहा कि उद्धव, तुम गोपियोंके पास जानेके लिए कहते हो, ठीक है। लेकिन इधर मेरी यह दशा है कि मैं कामतप्ता कुब्जाको भी छोड़ नहीं सकता। लेकिन जब इस सैरन्ध्रीको नहीं छोड़ सकता तब भला, मैं गोपियोंको कैसे छोड़ सकता हूँ ? मैंने गोपियोंको छोड़ा नहीं है। जरा मेरी ओर तो देखो, मेरे रोम-रोममें गोपियाँ बसी हैं।

भक्त कवि नन्ददासजीने भी श्रीकृष्णके रोम-रोममें गोपी-ही-गोपीका वर्णन किया है। इसलिए श्रीकृष्ण 'कैमुतिक न्याय'से यह सिद्ध करनेके लिए कह रहे हैं कि जब मैं कुब्जासे भी इतना प्रेम करता हूँ तब गोपियोंके प्रति मेरा कितना प्रेम है—यह तुम स्वयं समझ लो।

श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि भगवान् श्रीकृष्ण उद्धवके साथ तुरन्त कुब्जाके घर गये। कुब्जाने उनका बड़ा स्वागत-सत्कार किया। श्रीकृष्ण उसके पलङ्गपर बैठे और उद्धवजी नीचे फर्शपर बैठ गये। श्रीकृष्णने कुब्जाका मनोरथ पूरा किया।

यहाँ श्रीशुकदेवजी महाराजने कुब्जाको 'दुर्भगा' कहा है। अब आप स्वयं समझिये कि जब श्रीशुकदेवजी महाराज कुब्जाके विरुद्ध बोल सकते थे कि यह दुर्भगा है, तो क्या गोपियोंके विरुद्ध नहीं बोल सकते थे ? परन्तु नहीं, कुब्जाका जैसा सम्बन्ध था, वैसा सम्बन्ध गोपियोंका नहीं था। इसीलिए गोपियोंकी महिमाका गान करते हुए श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं—

दुराराध्यं समाराध्य विष्णुं सर्वेश्वेश्वरम्।
यो वृणीते मनोग्राह्यमसत्त्वात् कुमनीष्यसौ॥ ११

जो भगवान्को पाकर भी उनसे शरीर-भोग्य विषय माँगता है, वह कुमनीषी है। मतलब यह कि कुब्जा श्रीकृष्णसे जैसा काम-भोग चाहती थी, वैसा काम-भोग गोपियाँ नहीं चाहती थीं। अगर गोपियाँ चाहतीं तो उनके विरुद्ध भी श्रीशुकदेवजी महाराज टिप्पणी अवश्य करते !

इसके बाद श्रीकृष्ण-बलरामजी और उद्धवको साथ लेकर अक्रूरके घर गये। अक्रूरने सबको प्रणाम करके उनके चरण धोये और चरणोदकसे अपने घरको शुद्ध किया। फिर उनकी स्तुति करते हुए कहा कि महाराज, आपने अच्छा किया, जो कंसको मार दिया। आपके सिवाय दूसरा कुछ तो है नहीं। यह सारी सृष्टि आपने ही बनायी, आपने ही बिगाड़ी और आपमें ही यह सब-की-सब रहती है। आप तो परम स्वतन्त्र हैं और यही खेल-खेलते रहते हैं!

देहाद्युपाधेरनिरूपितत्वाद् भवो न साक्षान्न भिदाऽऽत्मनः स्यात्। २२

देहादिकी जो उपाधियाँ हैं ये सब अनिरूपित हैं अर्थात् 'सदसद्भ्याम् अनिर्वचनीयम्' हैं, 'तत्त्वन्यत्वाभ्यां अनिर्वचनीयम्' हैं। 'अनिरूपितत्वाद्' तो 'भवो न साक्षात्'—यह संसार है ही नहीं। 'न भिदाऽऽत्मनः स्यात्'—आत्मा-आत्मामें भेद नहीं होता है।

अतो न बन्धस्तव नैव मोक्षः स्यातां निकामस्त्वयि नोऽविवेकः। २२

इसलिए न बन्धन है, न मोक्ष है। बन्धन-मोक्ष जो मालूम पड़ता है, वह तो हमारा अविवेक है। महाराज, आप तो समय-समयपर अवतार लेते रहते हैं। आज हमारा घर धन्य हो गया। कोई आपके सिवाय दूसरे किसकी शरणमें जाय! आप अपनेसे प्रेम करनेवालोंकी सब कामना पूर्ण करते हैं।

इस तरह जब अक्रूरजीने स्तुति की तब भगवान् उनको मोहित करते हुए-से बोले—अजी चाचाजी, आप तो हमारे बड़े हैं, श्लाघ्य हैं, बन्धु हैं, हम तो आपके बच्चे हैं, हमें आपकी सेवा करनी चाहिए। आप तो सन्त हैं।

न ह्यम्मयानि तीर्थानि न देवा मृच्छिलामयाः।
ते पुनन्त्युरुकालेन दर्शनादेव साधवः॥

पानीके तीर्थ और मिट्टीके देवता भी पवित्र करते हैं, परन्तु देरसे करते हैं। जो चलते-फिरते तीर्थ और देवता हैं वे दर्शन मात्रसे पवित्र करते हैं। अब आप हस्तिनापुर जाइये। वहाँ हमारे जो सगे-सम्बन्धी हैं, वे बड़े दुःखी हैं। धृतराष्ट्र उनके साथ समान बर्ताव नहीं करते। इसलिए वहाँसे उनका सब समाचार जानकर ले आइये। फिर हम ऐसा प्रबन्ध करेंगे, जिससे उनका कल्याण हो!



श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि परीक्षित, इसके बाद भगवान् तो अपने भवनमें चले गये। अक्रूरजी हस्तिनापुरके लिए रवाना हो गये और वहाँ पहुँचकर धृतराष्ट्र, भीष्म, विदुर, कुन्ती, बाह्लीक, सोमदत्त आदिसे यथायोग्य मिले। कई महीनों तक वहाँ रहे और सबका कुशल-समाचार प्राप्त किया। पाण्डवोंके प्रभावको सहन न करनेके कारण उनके साथ दुर्योधन आदि जो अन्याय करते थे, वह भी अक्रूरजीने देखा।

जब अक्रूरजी कुन्तीके घर आये तब वह बड़ी प्रसन्न हुई। कुन्तीका जन्म-स्थान तो मथुरा ही था। वह वसुदेवकी बहन थी, दूसरी जगह गोद चली गयी थी और पाण्डुसे उसका विवाह हो गया था।

कुन्ती बोली कि भैया, तुमलोग कभी हमको याद नहीं करते हो! हमलोग बड़े दुःखमें हैं। मैंने सुना है कि श्रीकृष्ण बड़े ही भक्तवत्सल हैं। क्या वे हमारे पुत्रोंका कभी स्मरण करते हैं? कुन्तीको यह भूल गया कि मैं अक्रूरसे बात कर रही हूँ। उसको तो सामने श्रीकृष्ण ही दीखने लगे और वह बोलने लगी—

कृष्ण कृष्ण महायोगिन् विश्वात्मन् विश्वभावन।
प्रपन्नां पाहि गोविन्द शिशुभिश्चावसीदतीम्॥ ११

'हे कृष्ण, मैं अपने बच्चोंके साथ भेड़ियोंके बीच घिरी हिरणीकी तरह बड़ा दुःख भोग रही हूँ। आपके सिवाय और कोई शरणागतका रक्षक नहीं है। आप शुद्ध हैं, बुद्ध हैं, ब्रह्म हैं, मैं आपकी शरणमें आयी हूँ। मेरी रक्षा कीजिये।

इस तरह जब कुन्ती दुःखी हुई, तब दुःख-सुखमें समान अक्रूर तथा विदुरने उसको बहुत समझाया और बताया कि तुम्हारे बेटे तो पृथिवीका भार दूर करनेके लिए पैदा हुए हैं। वे तो देवता हैं।

उसके बाद अक्रूरजी धृतराष्ट्रके पास गये और उनको समझाया कि पाण्डुके मर जानेपर आप जो अपने भतीजोंके साथ द्वेषका बर्ताव करते हो, इससे आपको अपकीर्ति मिलेगी। इस दुनियामें कौन हमेशा रहता है। आदमी अकेला आता है, अकेला चला जाता है। ये खाने-पीनेवाले लोग एक दूसरेको नष्ट-भ्रष्ट कर रहे हैं। जिनको आप अपना समझकर पालन-पोषण करते हो, वे आपको छोड़कर चले जायेंगे। आपके हाथ तो केवल पाप लगेगा और अन्तमें आपको नरकमें जाना पड़ेगा। इसलिए आप इस संसारको 'स्वप्न माया मनोरथम्' (२५)। सपना, माया, जादूका खेल और मनोरथ अथवा मनोराज्यकी सृष्टि समझिये तथा अपने स्वरूपको जानिये। अपने आपको अपनेमें एक कर लीजिये और शान्त हो जाइये—'वीक्ष्यायम्यात्मनाऽऽत्मानं समः शान्तो भव प्रभो'। (२५)

धृतराष्ट्रने कहा कि अक्रूरजी, तुम जो कहते हो, वह बिल्कुल ठीक है–'यथा वदति कल्याणीं वाचं दानपते भवान्' (२६)। यही तो मैं भी कहता हूँ। तृप्ति भी इससे नहीं होती, लेकिन यह बात मेरे भीतर टिकती नहीं है; क्योंकि हृदयमें बेटोंका पक्षपात है। जैसे पहाड़के शिखरपर बिजली कौंधकर अन्तर्धान हो जाती है, वही दशा तुम्हारे इन उपदेशोंकी है।

धृतराष्ट्रने आगे कहा—अक्रूरजी, सुना है सर्वशक्तिमान् भगवान् पृथिवीका भार उतारनेके लिए यदुकुलमें अवतीर्ण हुए हैं। ऐसा कौन पुरुष है, जो उनके विधानमें -उलट-फेर कर सके ? उनकी जैसी इच्छा होगी, वही होगा। मैं उन परम ऐश्वर्यशाली प्रभुको नमस्कार करता हूँ।

श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि परीक्षित, अक्रूरजी धृतराष्ट्रका अभिप्राय जानकर चुप हो गये और कुरुवंशी स्वजन-सम्बन्धियोंसे प्रेमपूर्वक विदा लेकर मथुरा लौट आये। उन्होंने वहांका सारा हाल भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामजीको बता दिया। यह भी बता दिया कि धृतराष्ट्र पाण्डवोंके साथ कैसा व्यवहार करते हैं। अक्रूरजीको वहाँ भेजे जानेका उद्देश्य भी यही था।



भागवत-दर्शन

 श्रीमद्भागवत महापुराण 

२

दशम स्कन्ध

उत्तरार्द्ध



प्रवचन

अनन्तश्री विभूषित

स्वामी अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज

दशम स्कन्ध : उत्तरार्द्ध

: ५० :

अस्तिः प्राप्तिश्च कंसस्य महिष्यौ भरतर्षभ।
मृते भर्तरि दुःखार्ते ईयतुः स्म पितुर्गृहान्॥ १

श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि परीक्षित, कंसकी अस्ति और प्राप्ति नामक दो पत्नियाँ थीं। कंस माने अभिमान होता है। 'हिंसकः एव कंसः इति उच्यते'—जो हिंसा करे, उसका नाम कंस है। वह हिंसा ऐसे करता है कि किसी वस्तुको देश, कालसे परिच्छिन्न करके 'मैं' बना लेता है। उसीका नाम अभिमान है। 'अभितो मानः परिमाणः'—जिसके चारों ओर मान हो, परिमाण हो, देश, काल, वस्तुमें जो 'मैं' कर ले, उसका नाम होता है अभिमान। यह दूसरेको अपनेसे अलग-थलग कर देता है। अपने चारों ओर चहारदीवारी बनाकर कहता है—'अहं ब्राह्मणः, क्षत्रियो न भवामि'—मैं ब्राह्मण हूँ क्षत्रिय नहीं हूँ, 'त्वं क्षत्रियः, मत्तो भिन्नः'—तू क्षत्रिय है, मुझसे भिन्न है आदि। अभिमान केवल जातिका ही नहीं कुलका, कर्मका, विद्याका, बुद्धिका—अनेक प्रकारका होता है और परिच्छेदन ही इसका काम है। यह अभिमान बड़ा भारी हिंसक होता है।

अब कंसकी अस्ति और प्राप्ति नामक दोनों पत्नियोंका स्वरूप देखो। अस्ति माने इतना तो हमारे पास है, इतनेके हम मालिक हैं और प्राप्ति माने आगे इतना और प्राप्त करेंगे। इसीमें अभिमानी लगा रहता है। गीतामें इसकी बड़ी सुन्दर व्याख्या है—

इदमद्यमयालब्धं इदं प्राप्स्ये मनोरथम्। इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम्॥
असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि। ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान् सुखी॥

१६.१३-१४

कंसकी अस्ति-प्राप्ति नामक पत्नियाँ जरासन्धकी बेटियाँ थीं। जरासन्ध मगधका राजा था। उसने अपने अधीनस्थ राजाओंके साथ सेना इकट्ठी करके मथुरापर चढ़ाई कर दी। लेकिन वह युद्धमें बुरी तरह पराजित हुआ और अपमानित होकर लौटा। उसने सत्रह बार युद्ध किया। हर बार नये उत्साहसे आक्रमण करता और हार जाता। जब हारता तब वह उपेक्षापूर्वक छोड़ दिया जाता।

उसी समय नारदजीका भेजा हुआ कालयवन आया। जरासन्ध और कालयवन दोनों मिल गये और इनके रूपमें दो-दो विपत्तियाँ एक साथ मथुरापर मँडराने लगीं। लेकिन भगवान् तो बड़े कौतुकी हैं। उन्होंने समुद्रके भीतर द्वारिकाका निर्माण किया और मथुरामें एक नयी लीला कर डाली। वे भाग खड़े हुए। भगवान्‌को बड़ी-बड़ी विद्याएँ आती हैं। कभी कुछ-का-कुछ बोल देते हैं और कभी कुछ-का-कुछ कर देते हैं। उनकी यह पलायन-लीला बड़ी विचित्र है।



अब जब भगवान् मुचुकुन्दके सामने आये तो उनको देखकर मुचुकुन्द चकित हो गये। उन्होंने देखा—घनश्याम वर्ण है, पीताम्बर धारण किये हुए हैं, श्रीवत्साङ्कित वक्ष है, गलेमें कौस्तुभमणि है, चतुर्भुज हैं, वैजयन्तीमाला सुशोभित है और चारुप्रसन्नवदन हैं। देखकर मुचुकुन्दने पूछा कि आप कौन हैं महाराज ? यहाँ कैसे आये हैं ? आप तेजस्वियोंके तेज हैं, अग्नि हैं, सूर्य हैं, महेन्द्र हैं, लोकपाल हैं या तीनों देवताओंमें-से कोई देवता हैं ? आप तो अपने प्रकाशसे इस गुफाके अन्धकारको नष्ट कर रहे हैं। हम निष्कपट भावसे श्रवण करना चाहते हैं कि आप कौन हैं ?

यदि आप हमारा परिचय जानना चाहते हैं तो सुन लीजिये। मैं यौवनाश्व मान्धाताका पुत्र हूँ। चिरकालतक जागनेके कारण थक गया था और थककर सो गया था। किसीने मुझे जगा दिया तो उसके पापोंने ही उसको भस्म कर दिया। उसके बाद आपका दर्शन हुआ। आपके शरीरमें इतना तेज है कि मैं आपको अच्छी तरह देख नहीं सकता।

जब राजा मुचुकुन्दने ऐसा संभाषण किया तब भगवान् हँसने लगे और बोले—राजन्, मेरे तो अनन्त जन्म-कर्म हैं। उनकी संख्याकी गणना नहीं की जा सकती। यदि मैं भी बताना चाहूँ तो उनकी अनन्तताके कारण नहीं बता सकता—'अनन्तत्वान्मयापि हि' (३७)। भले ही कभी कोई अनेक जन्मोंमें पृथिवीके रजःकण गिन ले, परन्तु मेरे जन्मादिकी गणना नहीं हो सकती। बड़े-बड़े ऋषि चिरकालसे गिन रहे हैं, परन्तु अबतक उनकी गिनतीमें मेरे जन्म-कर्म नहीं आये।

फिर भी सुन लो मेरा नाम। मैं ब्रह्माकी प्रार्थनापर पृथिवीका भार हरण करनेके लिए, वसुदेवके घरमें 'वासुदेव' नामसे प्रकट हुआ हूँ और मैंने बड़े-बड़े दैत्य मार दिये हैं। इस समय तुम्हारे ऊपर अनुग्रह करनेके लिए मैंने यह दर्शन दिया है। जो तुमको चाहिए, वह वर तुम मुझसे माँग लो। क्योंकि एक बार मैं प्राप्त हो जाऊँ तो फिर मनुष्यको दुःख नहीं उठाना पड़ता।

जब इस प्रकार भगवान्ने कहा तब मुचुकुन्दको वृद्ध गर्गका वचन स्मरण हो गया और वे बोले—प्रभो, जीव तो आपकी मायासे मोहित ही है, इसीलिए आपका भजन नहीं करता। वह अनर्थदर्शी हो गया है, सुखके लिए दुःखके काममें लगा रहता है। इस कारण स्त्री-पुरुष सब आपसे वञ्चित हो रहे हैं। मनुष्य-जन्म बड़ी कठिनाईसे मिलता है। फिर भी मनुष्य पशुकी तरह घरके कूएँमें गिरता है और आपके चरणारविन्दका भजन नहीं करता। आपके दर्शनोंके बिना मेरा अबतकका समय निष्फल गया। मैं तो इस मिट्टोके बने शरीरके घमण्डमें फँसकर खजाने और सेनाके चक्करमें पड़ गया। 'नरदेव इत्यहम्' (४९)—मैं राजा हूँ, सेना लेकर घूमता हूँ और मुझे यह करना है, वह करना है—इसमें मेरा लोभ बढ़ गया। विषय-लालसा बढ़ गयी। आप तो कभी प्रमाद नहीं करते। जैसे साँप चूहेको डँस लेता है, वैसे ही आप प्रमादग्रस्त प्राणीको डँस लेते हैं।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं परीक्षित, जब कालयवनने देखा कि श्रीकृष्ण रण छोड़ रहे हैं, तब उसने उनका पीछा किया। भगवान् भागते समय उससे दूर न जायें, बस इतनी ही दूरी रखें, जिनसे वह समझे कि उसने अब पकड़ा तब पकड़ा। जैसे प्रमाणज्ञ विद्वान् समझता है कि मैंने प्रमाण-द्वारा ईश्वरको पकड़ रक्खा है, वैसे ही कालयवन समझता था कि मैं श्रीकृष्णको पकड़ लूँगा। पर क्या प्रमाणके चङ्गुलमें कभी ईश्वर फँसता है? जो प्रमातासे, अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्यसे एक होकर बैठा हुआ है, वह प्रमाणका विषय होकर सामने कैसे आयेगा? इसी तरह श्रीकृष्णको पकड़ना कालयवनके वशकी बात नहीं थी।

यद्यपि कालयवन बड़ा वेगवान् था। फिर भी श्रीकृष्णको पकड़ न सके तो बोले कि अरे, तुम यदुवंशी होकर भागते हो! पर श्रीकृष्णने उसकी बातका कोई जवाब नहीं दिया।

देखो, हर बातका जवाब नहीं देना चाहिए। कोई अंट-संट बोलता हो तो बोलने दो। यह समझकर उपेक्षा करो कि बाबा, तेरा मुँह है। तुझे जो बोलना है, बोल ले।

भगवान् भागते गये और जाकर एक पर्वतकी गुफामें छिप गये। वहाँ मुचुकुन्द सो रहे थे। कालयवनने समझा कि कृष्ण ही यहाँ आकर सोनेका बहाना बना रहे हैं। उसने एक लात मारी! तुरन्त मुचुकुन्दकी आँख खुली और उनके दृष्टिपात-मात्रसे ही कालयवन भस्म हो गया। इसी बीचमें श्रीकृष्ण उनके सामने आगये!

राजा परीक्षितने पूछा कि महाराज, मुचुकुन्द कौन था, जिसकी नजर पड़नेसे ही कालयवन भस्म हो गया?

श्रीशुकदेवजी महाराज बोले कि मुचुकुन्द इक्ष्वाकु-कुलके मान्धाताके पुत्र थे। बड़े ब्राह्मण-भक्त थे! उनको देवता लोग स्वर्गमें ले गये थे। वे वहाँ जाकर उनकी रक्षा करते थे। जब देवताओंकी रक्षा करनेके लिए स्वामी कार्तिकेय प्रकट हो गये, तब मुचुकुन्दकी छुट्टी हो गयी। देवताओंने कहा कि वर माँगो। मुचुकुन्द बोले कि बाबा, वरकी बात मत करो। इस समय मुझे आरही है नींद। पहले सोनेकी व्यवस्था करो और देखो, मुझे कोई जगाये नहीं। देवताओंने कह दिया कि जो तुमको जगायेगा और पहले तुम्हारे सामने पड़ेगा, वह भस्म हो जायेगा। बस, इसी कारण कालयवन उनकी दृष्टिसे भस्म हो गया।

में विष्ठा होनेवाले, कीड़ा होनेवाले, भस्म होनेवाले इस शरीरको ही मैं-मेरा मानकर राजा बन बैठा और फिर स्त्रियोंका क्रीड़ामृग हो गया। मनुष्य सोचता है कि मैं कर्म करूँगा तो मुझे राज्य मिलेगा। लेकिन इस तरहकी तृष्णासे कभी सुख नहीं मिलता।

भवापवर्गो भ्रमतो यदा भवेज्जनस्य तर्ह्यच्युतसत्समागमः।
सत्संगमो यर्हि तदैव सद्गतौ परावरेशे त्वयि जायते मतिः॥ ५४

संसारके चक्करमें घूमते-घूमते जब कभी छूटनेका समय आजाता है तब सन्तका समागम प्राप्त होता है और वह जब सत्संग मिलता है तब परमेश्वरमें मन लगता है। आपने बड़ी कृपा की कि मेरा राज्य छूट गया। अब मैं आपके चरणारविन्दको छोड़कर और कुछ नहीं चाहता।

आराध्य कस्त्वां ह्यपवर्गदं हरे वृणीत आर्यो वरमात्मबन्धनम्। ५६

भगवन्, भला बताइये तो कि आपको छोड़कर अपनेको बन्धनमें डालनेके लिए वर कौन माँगे। इसलिए मैं अपनी सब इच्छाओं-आशाओंको छोड़कर आपका जो निरञ्जन, निर्गुण, अद्वय और ज्ञप्तिमात्र स्वरूप है, उसकी शरण ग्रहण करता हूँ।

चिरमिह वृजिनार्तस्तप्यमानोऽनुतापैः। ५८

प्रभो, मैं बहुत फँस गया, बहुत ताप भोग चुका और बड़े-बड़े काम-क्रोधादि शत्रुओंके चक्करमें पड़ा रहा, लेकिन कभी शान्ति नहीं मिली। अब आपके चरणारविन्दकी शरणमें आया हूँ, मेरी रक्षा कीजिये।

भगवान्‌ने कहा कि सार्वभौम महाराज, तुम्हारी बुद्धि तो बहुत अच्छी है, क्योंकि वर माँगनेके लिए कहनेपर भी तुमने नहीं माँगा। तुम्हारा यह अप्रमाद बहुत बढ़िया है। क्योंकि मेरे जो सच्चे भक्त होते हैं, उनकी बुद्धि कभी इच्छाओंसे बहकती नहीं है। अन्यथा बहुत प्राणायामादि करनेपर भी वासनाएँ फिर उठ आती हैं। अब तुम जाओ और पृथिवीमें विचरण करो। तुमको मेरी नित्यदा, अनपायिनी भक्ति भक्ति प्राप्त हो। तुमने पहले क्षात्र-धर्ममें स्थित होनेपर मृगया आदिके द्वारा प्राणियोंका वध किया था और उसके बाद तुम सो गये थे। अब तुम तपस्या करो। अभी तुमको भक्ति करनेका अवसर नहीं मिला। जगे हो तो अभी थोड़े दिनोंतक भक्तिका आनन्द ले लो। इसके बाद—

जन्मन्यनन्तरे राजन् सर्वभूतसुहृत्तमः। भूत्वा द्विजवरस्त्वं वै मामुपैष्यसि केवलम्॥ ६४

'जब तुम जन्मान्तरमें सबकी भलाई करनेवाले ब्राह्मण बनोगे तब मुझे प्राप्त हो जाओगे।'



श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि परीक्षित इस प्रकार श्रीकृष्णका अनुग्रह प्राप्त करके मुचुकुन्द गुफासे बाहर निकले और छोटे-छोटे पेड़-पौधोंको देखकर पहचान गये कि अब कलियुग आगया है। उनमें तपस्या थी, श्रद्धा थी, धैर्य था, असंगता थी, इसलिए उन्होंने अपने मनको श्रीकृष्णमें लगा दिया। फिर गन्धमादन पर्वतपर चले गये और नर-नारायणके आश्रममें सब द्वन्द्वोंको सहन करते हुए तपस्या-पूर्वक भगवान्‌की आराधना करने लगे।

इधर भगवान् श्रीकृष्ण मथुराकी ओर लौटे, जो कालयवनकी सेनासे घिरी हुई थी। वहाँ उन्होंने उन म्लेच्छोंका संहार कर दिया और उनका सारा धन लेकर द्वारिका भेज दिया।

इसी बीचमें तेईस अक्षौहिणी सेना लेकर जरासन्ध फिर चढ़ आया। अब तो बलराम और श्रीकृष्ण दोनों मनुष्य-चेष्टाको प्राप्त हो गये और सब कुछ छोड़-छाड़कर भाग खड़े हुए। वे अनेक योजनोंतक दौड़ते रहे। जरासन्ध उनका पीछा करता रहा। अन्तमें जब प्रवर्षण पर्वतपर चढ़ गये तब जरासन्धने उस पर्वतको चारों ओरसे जला दिया और यह निश्चय करके कि अब वे मर गये होंगे, मगध लौट गया। लेकिन भगवान्‌को कौन मार सकता है? वे तो उस पर्वतसे कूद पड़े और बड़े-बड़े ऋषियोंके आश्रमोंमें जाकर उनका आदर-सत्कार तथा सत्संग करते रहे। उसके बाद श्रीकृष्ण-बलराम द्वारिका चले गये।

श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि परीक्षित, यह बात मैं नवम स्कन्धमें पहले ही बता चुका हूँ कि आनर्त देशके राजा रैवतने अपनी कन्या रेवतीका विवाह ब्रह्माजीकी प्रेरणासे, बलरामजीके साथ कर दिया था। उसके बाद भगवान् श्रीकृष्ण भी विदर्भ देशकी राजकुमारी भीष्मकनन्दिनी रुक्मिणीको उनके स्वयम्बरमें-से बलपूर्वक हर लाये और उनसे विवाह कर लिया। उस स्वयम्बर-समारोहमें शिशुपाल तथा उसके पक्षपाती नरेश शाल्व आदि भी आये हुए थे, परन्तु उन सबको श्रीकृष्णने परास्त कर दिया।

राजा परीक्षितने कहा कि महाराज, इस कथाको आप जरा विस्तारसे सुनाइये। मैंने सुना है कि श्रीकृष्णने रुचिरानना रुक्मिणीके साथ विवाहकी आठ विधियोंमें-से एक राक्षस

विधिसे विवाह किया था। वैसे तो भगवान्‌की सभी लीला-कथाएँ मनकी मलिनताको दूर करनेवाली हैं, परन्तु यह कथा तो बड़ी रोचक और बहुत मधुर होगी। इसलिए उससे भला कौन तृप्त हो सकता है?

श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि परीक्षित, मुनो। विदर्भ देशके राजा थे भीष्मक। उनके रुक्मी, रुक्मरथ, रुक्मबाहु, रुक्मकेश और रुक्ममाली ये पाँच तो पुत्र थे और रुक्मिणी नामकी एक कन्या थी, जो साक्षात् लक्ष्मीजीका ही स्वरूप थी।

देखो, रुक्म माने होता है सोना। जिसमें बड़ी सुन्दरता निवास करती है, उसको रुक्म बोलते हैं। यह रुच् धातुसे बनता है, जिससे रुचि भी बनती है। बड़ा सौन्दर्य है सती रुक्मिणीमें। सोनेकी तरह उनका शरीर है। उन्होंने जबसे श्रीकृष्णके गुणानुवादका श्रवण किया, तभीसे उनके मनमें यह बात बैठ गयी कि श्रीकृष्णसे ही मेरा विवाह होगा।

देखो, अपने प्राचीन ग्रन्थोंमें इस प्रकारके प्रसंग आते हैं। यहाँ हम शीघ्रबोध, बालबोधकी चर्चा नहीं करते। उनकी बात दूसरी है। 'अष्टवर्षा भवेत् गौरी, नववर्षा च रोहिणी'—वाली बात भी बहुत बढ़िया है। स्मृतियोंमें भी श्लोक आते हैं। हम उनके ऊपर कोई कटाक्ष नहीं करते। हमारा तो यह कहना है कि पुराणोंमें जो विवाहके प्रसंग हैं, वे बड़े विलक्षण हैं।

तां बुद्धिलक्षणौदार्यरूपशीलगुणाश्रयाम्।
कृष्णश्च सदृशीं भार्यां समुद्वोढुं मनोदधे॥ २४

जब श्रीकृष्णने रुक्मिणीकी बुद्धि, उसके लक्षण, उसकी उदारता तथा उसके रूप-शील-गुण आदिके बारेमें सुना तब उन्होंने भी मन-ही-मन यह निश्चय कर लिया कि मैं उन्हींसे विवाह करूँगा।

लेकिन रुक्मिणीके बड़े भाई रुक्मीका श्रीकृष्णसे बड़ा द्वेष था। वह बड़ा धनी था, उसको तो पैसेके सिवा और कोई बात समझमें ही नहीं आती थी। यह देखकर रुक्मिणी बहुत उदास रहा करती थीं। उन्होंने सोच-विचारकर एक विश्वस्त ब्राह्मणको द्वारका भेजा—'विचिन्त्याप्तं द्विजं कञ्चित् कृष्णाय प्राहिणोद् द्रुतम्'। (२६)

जब द्वारकाके महलमें उस ब्राह्मणका प्रवेश हुआ तब श्रीकृष्ण उसको देखते ही अपने सिंहासनसे उतर गये और उन्होंने उसे सिंहासनपर बैठा दिया। उन्होंने सोचा कि यह भावी ससुरालका ब्राह्मण है, अगर इससे बीचमें कुछ गड़बड़ी कर दी तो व्याह ही रुक जायेगा। इसलिए 'उपवेश्यार्हयाञ्चक्रे' (२८)—खूब स्वागत-सत्कार किया उस ब्राह्मणका। जब वह खा-पी चुका तब भगवान् श्रीकृष्ण उसको एकान्तमें ले जाकर उसके पाँव दबाने लगे और उससे इस तरहकी

बातें कीं, मानो वे विवाहके लिए उतावले न हों। मनमें तो वे उतावले थे ही, व्यग्र भी थे; परन्तु उनकी बातचीतमें ऐसा कोई लक्षण नहीं था—'अव्यग्रस्तमपृच्छत' (२९)।

श्रीकृष्णने कहा कि ब्राह्मण देवता, आप इतना बड़ा मार्ग तय करके यहाँ आये हैं, आपके राज्यमें सुख तो है, धर्म-पालनकी सुविधा तो है। जिस देशमें ब्राह्मणको धर्म-पालनकी सुविधा होती है, वही राज्य सम्पन्न होता है। ब्राह्मणके मनमें सन्तोष चाहिए। जिस देशमें विप्र सन्तुष्ट होकर निवास करते हैं और निरहंकार, शान्त होते हैं, वही देश श्रेष्ठ है। आप बताइये कि आपके राजासे प्रजाका मङ्गल होता है या नहीं ? जब आप इतना लम्बा मार्ग तय करके आये हैं तब उसके पीछे कोई-न-कोई गुप्त बात तो जरूर होगी। इसलिए जो बात हो, उसे आप धीरे-से मुझको बता दीजिये।

इस प्रकार जब श्रीकृष्ण ब्राह्मणसे निवेदन कर चुके तब उसने उनको सारी बात कह सुनायी—'तस्मै सर्वमवर्णयत्'। (३६)

देखो, यहाँ रुक्मिणीके पत्रका उल्लेख नहीं है। केवल सन्देशका उल्लेख है। यह सन्देश साधकोंके लिए एक दिव्य वस्तु है। वे बड़े प्रेमसे इसका पाठ करते हैं।

श्रुत्वा गुणान् भुवनसुन्दर शृण्वतां ते निर्विश्य कर्णविवरैर्हरतोऽङ्गतापम्।
रूपं दृशां दृशिमतामखिलार्थलाभं त्वय्यच्युताविशति चित्तमपत्रपं मे॥ ३७

ब्राह्मण बोला—रुक्मिणीजीने कहा है कि हे भुवन-सुन्दर, आपके गुणोंका हमने श्रवण किया है। जो आपके गुणानुवादका श्रवण करते हैं, उनके कर्णरन्ध्रोंमें प्रविष्ट होकर आपके गुण श्रवण करनेवालेके अङ्गतापको हर लेते हैं।

'रूपं दृशां दृशिमताम्'—इस संसारमें जितने चक्षुष्मान्—सच्ची आँखवाले प्राणी हैं, उनके लिए आपका रूप अखिलार्थ-लाभ है अर्थात् उससे धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारो पुरुषार्थोंकी प्राप्ति होती है। श्रीकृष्ण, मेरा चित्त 'अपत्रप—अपगता त्रपा यस्मात्' अर्थात् लज्जा रहित होकर आपके अन्दर प्रवेश कर रहा है।

इसके बाद रुक्मिणीजी यह बताती हैं कि मैं दीन-हीन होकर आपसे यह याचना नहीं करती हूँ, क्योंकि मैं तो बिल्कुल बराबरीकी हूँ—

को त्वा मुकुन्द महतीकुलशीलरूप-विद्यावयोद्रविण-धामभिरात्मतुल्यम्। ३८

हम दोनोंके कुल, शील, रूप, विद्या, वय, द्रविण और धाम बराबर हैं। मैं बड़े ऊँचे कुलमें

पैदा हुई हूँ और धीरा हूँ—अधीरा अथवा चञ्चला नायिका नहीं हूँ। आप भी नरलोकमनोऽभिराम हैं। इसलिए मैं आपको वरण करती हूँ।

रुक्मिणीने साफ-साफ कह दिया कि मैंने आपको अपना पति बना लिया है, आप पति हैं और मैं आपकी पत्नी हूँ। मैंने अपना शरीर आपको अर्पित कर दिया है, आगेकी बात आप जानें। कहीं ऐसा न हो कि सिंहका हिस्सा सियार ले जाय। मैंने अबतक जो कुछ धर्म-कर्म किया है, उसका फल मुझे यही मिले कि आप आकर मेरा पाणिग्रहण कीजिये। दूसरा कोई मुझे न छूने पाये। इसलिए सेनापतियोंके साथ आकर शिशुपालको हराइये और मुझे ले जाइये। मैं आपके साथ चोरीसे भागना नहीं चाहती। इसलिए आइये और आमने-सामने लड़कर मुझे ले जाइये—'निर्मथ्य चैद्यमगधेन्द्रबलं प्रसह्य'। (४१)

यदि आप यह कहें कि मैं अन्तःपुरमें कैसे आऊँगा तो इसका उपाय यह है कि मैं विवाहके पहले दिन कुलदेवीके दर्शनार्थ शोभा-यात्रामें जाऊँगी। वहीं पहुँचकर आप मुझे ले जाइयेगा।

देखिये कमलनयन, जैसे उमापति आत्मशुद्धिके लिए आपके चरणारविन्दके रसमें स्नान करते हैं, वैसे ही यदि आपका प्रसाद मुझे नहीं मिला तो मैं एक जन्ममें नहीं, सौ जन्मोंमें अपने प्राण छोड़ती जाऊँगी और अन्तमें आपसे विवाह करके ही रहूँगी।

देखो, रुक्मिणीजीका यह गुह्य-सन्देश मौखिक हो या पत्रमें हो, कितना सारगर्भित है। इसमें एक शब्द भी अनावश्यक नहीं है—'नानपेक्षितमुच्यते'। (काव्य-टीकाकर मल्लिनाथका प्रतिज्ञावाक्य) आजकल जो शास्त्री या आचार्य पास होते हैं, उनमें अधिकांश संस्कृतमें एक चिट्ठी भी अच्छी तरह नहीं लिख सकते। ऐसे लोगोंको इस गम्भीर सन्देशका, जो एक लड़कीकी ओरसे प्रेषित है, अच्छी तरह अध्ययन करना चाहिए और इससे शिक्षा लेनी चाहिए।

अन्तमें ब्राह्मण देवताने कहा कि यदुवंश-शिरोमणे, मैं रुक्मिणीजीका यही सन्देश लेकर आपके पास आया हूँ। आप इसपर विचार करके जो कुछ करना हो, जल्दी कीजिये।



: ५३ :

श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि परीक्षित, भगवान् श्रीकृष्णने रुक्मिणीजीका सन्देश सुनकर ब्राह्मणका हाथ पकड़ लिया—'प्रगृह्य पाणिना पाणिम् (१)। फिर 'प्रहसन्निदमब्रवीत्'—जैसे ससुरालवालोंके साथ हँसी-मजाक किया जाता है, वैसे हँसते हुए बोले—ब्राह्मण देवता, आपसे क्या बताऊँ? जैसे विदर्भको राजकुमारी मुझे चाहती हैं, वैसे ही मेरा मन भी उन्हींमें लगा है। मुझको तो नींद भी नहीं आती। मैं जानता हूँ कि रुक्मी मुझसे उनका ब्याह नहीं होने देना चाहता। लेकिन मैं युद्धमें उन सबको पराजित करके रुक्मिणीको ले आऊँगा।

इसके बाद यह सोचकर कि परसों ही तो विवाहका नक्षत्र है, श्रीकृष्णने अपने सारथिको बुलाया और उसे शीघ्र रथ जोड़नेकी आज्ञा दी। सारथि चार घोड़ोंवाला रथ लेकर आया। उसपर भगवान् ब्राह्मणके साथ बैठ गये और द्वारकासे विदर्भ देशकी ओर चल पड़े।

उधर भीष्मक शिशुपालको अपनी कन्या देनेके विचारसे सब कर्म करवा रहे थे। नगरको सजावट हो रही थी, ब्राह्मणोंको भोजन कराया जा रहा था और दूसरी सब तैयारियाँ भी की जा रही थीं। कन्याको मङ्गल-सूत्र पहना दिया गया था। वेदमन्त्रोंसे उसकी रक्षा और ग्रहशान्ति की जा रही थी। शिशुपालके यहाँ भी यही सब कुछ हो रहा था। वह कुण्डिनपुर पहुँच गया था और उसका स्वागत-सत्कार करके भीष्मकने उसको यथास्थान ठहरा दिया था।

रुक्मीने अपने पक्षके सब लोगोंको बता दिया था कि 'मेरी बहन कृष्णसे प्रेम करती है। उधरसे कोई गड़बड़ी न होने पाये, तुम लोग तैयार रहना। इसलिए सबके मनमें शङ्का थी और इस कारण जरासन्ध, शाल्व शिशुपाल आदि युद्धकी तैयारी करके आये थे।

जब बलरामजीको विपक्षी राजाओं द्वारा युद्धकी तैयारी और अपने भाई कृष्णके किसीको बताये बिना अकेले जानेका पता चला तब उन्हें बड़ी आशङ्का हुई और वे भी एक अक्षौहिणी सेना लेकर रातों-रात द्वारकासे विदर्भ पहुँच गये।

इधर कुण्डिनपुरमें रुक्मिणीजीने देखा कि विवाहमें केवल एक रात बाकी रह गयी है और अभीतक न तो श्रीकृष्ण आये और न ब्राह्मण लौटे तब उनको बड़ी चिन्ता हो गयी। उन्होंने विचार किया कि मेरे अन्दर जरूर कोई कमी होगी। मैं अभागिनी हूँ। दैव मेरे अनुकूल नहीं है। गौरी-महेश्वर मुझपर प्रसन्न नहीं हैं।

यह विचार करते-करते रुक्मिणीजीने आँखें बन्द कर लीं। अब तो उनके बाँयें अंग फड़कने लगे। इसी बीचमें वह ब्राह्मण भी आगया। उसको देखकर रुक्मिणीजी बहुत प्रसन्न हुईं। ब्राह्मणने बताया कि श्रीकृष्ण आगये हैं और उन्होंने कहा कि मैं जरूर ब्याह् करूँगा। यह सुनकर रुक्मिणीजीके आनन्दकी सीमा नहीं रही। उनके मनमें आया कि ब्राह्मणको कुछ दे दें।

लेकिन ब्राह्मण लोग धन पानेका प्रारब्ध लेकर नहीं आते। इसलिए रुक्मिणीजीने सोचा कि यदि मैं धन-दौलत दूँगी तो वह ब्राह्मणको प्यारी नहीं लगेगी—'ब्राह्मणाय प्रियम् अन्यत् न पश्यन्ती केवलं ननाम'—और केवल हाथ जोड़कर 'पालागी महाराज' कह दिया। ब्राह्मण तो देखता ही रह गया—'न पश्यन्ती ब्राह्मणाय प्रियनन्यन्ननाम सा' (३१)—ठन-ठनपाल, कुछ नहीं मिला ब्राह्मणको। यदि लक्ष्मीजीने उस समय कुछ दे दिया होता तो वह अन्वयवर्द्धिनी सम्पत्तिके रूपमें अबतक ब्राह्मणोंके पास बनी रहती।

इसी बीचमें यह बात फैल गयी कि बलराम और श्रीकृष्ण भीष्मककी पुत्रीका विवाह देखनेके लिए आये हुए हैं। भीष्मककी ओरसे उनका बड़ा भारी आतिथ्य किया गया और उनके योग्य ठहरनेके स्थानका प्रबन्ध किया गया। उनकी सेना भी यथास्थान ठहरायी गयी।

और भी जितने राजा आये थे, उन सबकी 'यथावीर्यं यथावयः यथाबलं यथावित्तम्' (३५) सेवा हुई। किन्तु किसीको यह पता नहीं चला कि श्रीकृष्णको न्योता किसने दिया है। भीष्मकके पक्षके लोग समझते थे कि शिशुपालके मौसेरे भाई हैं, इसलिए उसने न्योता भेजा होगा और शिशुपाल-पक्षके लोग समझते थे कि भीष्मकने न्योता भेजा होगा। बहुत भीड़-भाड़ थी, कैसे पता चले किसने बुलाया है। लेकिन यहाँ तो न्योता किसीने दिया ही नहीं था। बिना न्योताके ही बारातमें पहुँच गये थे।

जब विदर्भके लोगोंने सुना कि श्रीकृष्ण पधारे हैं, तब वे उनके दर्शनोंके लिए आने लगे। वहाँ पहुँचकर वे पहला काम यह करें कि अपनी आँखके प्यालेसे श्रीकृष्णके मुख-कमलका पान करें और फिर आपसमें बोलें कि बस, इन्हींकी पत्नी होनी चाहिए हमारी रुक्मिणी। ये अनवद्यात्मा ही रुक्मिणीके लिए समुचित पति हैं।

देखो, जब भगवान् राम जनकपुर पहुँचे थे तब वहाँके निवासियोंने भी गोस्वामी तुलसीदासजीके शब्दोंमें यही प्रार्थना की थी कि यदि हमारा कुछ भी धर्म-पुण्य हो तो उसके फल-स्वरूप हमारी जानकीका विवाह इन्हीं श्रीरामसे हो जाय। इसी तरह विदर्भवासी भी कहें कि भगवान् हमारे ऊपर ऐसा अनुग्रह करें, जिससे इन अच्युतका विवाह रुक्मिणीसे हो जाय।

किंचित्सुचरितं यन्नस्तेन तुष्टास्त्रिलोककृत्।
अनुगृह्णातु गृह्णातु वैदर्भ्याः पाणिमच्युतः॥ ३८

परीक्षित, जिस समय पुरवासी लोग परस्पर इस प्रकारकी बातें कर रहे थे, उसी समय रुक्मिणीजी देवीका दर्शनके लिए अन्त:पुरसे बाहर निकलीं। उन्होंने मौन ले लिया था और बड़े बड़े शूरवीर सैनिक उनकी रक्षाके लिए उनके साथ चल रहे थे। बाजे बज रहे थे। मन्दिरके प्राङ्गणमें पहुँचकर रुक्मिणीजीने पहले मर्यादाके अनुसार हाथ-पाँव धोये और वे सब प्रकारसे पवित्र होकर मन्दिरमें प्रविष्ट हुईं। उनके साथ जो बड़ी-बूढ़ी स्त्रियाँ थीं, उन्होंने उनसे भवानीकी षोडशोपचार पूजा करवायी। जब मन्त्र पढ़नेका अवसर आया तब रुक्मिणजी बड़ी-बूढ़ी स्त्रियोंके बताये अनुसार आधा मन्त्र तो यह पढ़ती थीं कि—'नमस्ये त्वाम्बिकेऽभीक्ष्णं स्वसन्तानयुतां-शिवाम्' (४६)। इसका अर्थ यह है कि मैं गणेशको, गौरीको, शिवको नमस्कार करती हूँ। फिर यह आधा मन्त्र अपने मनमें पढ़ लेती थीं—'भूयात् पति मे भगवान् कृष्णस्तदनुमोदताम्' (४६)—मेरे पति तो श्रीकृष्ण ही हों।

इस प्रकार पूजा-प्रार्थना करने और प्रसाद ग्रहण कर लेनेके बाद जब वीर-मोहिनी रुक्मिणीजी मन्द-मन्द मुस्कुरातीं और अपने पाँवके नूपुरोंको रुनझुन-रुनझुन बजातीं मन्दिरसे बाहर निकलीं तब उनका सौन्दर्य देखकर वहाँ जितने भी राजा और सैनिक उपस्थित थे, सब-के-सब विमोहित हो गये तथा उनके हाथोंके हथियार गिर पड़े। जो लोग हाथी या घोड़ोंपर सवार थे, वे ऐसे बेहोश हुए कि टपसे जमीनपर टपक पड़े। रुक्मिणीजी अपने चरणारविन्द धरतीपर धीरे-धीरे रखती हुईं आगे बढ़ी जा रही थीं। सहसा जब श्रीकृष्ण उनकी नजरके सामने पड़े तो उन्होंने उनको लज्जापूर्ण दृष्टिसे देखा—'प्रासान् ह्रियैक्षत नृपान् ददृशेऽच्युतं सा' (५४)—और उनके मनमें ऐसा आया कि मैं कूदकर श्रीकृष्णके रथपर चढ़ जाऊँ।

इधर आश्रयण-सौकर्यापादन तो भगवान् श्रीकृष्णका धर्म ही है, स्वभाव ही है। जो उनकी सेवामें आना चाहता है, उसका हाथ पकड़कर वे अपनी ओर खींच लेते हैं। यहाँ भी उन्होंने यही किया और रुक्मिणीजीका हाथ पकड़कर उनको अपने रथपर बैठा लिया। शत्रु लोग टुकुर-टुकुर देखते ही रह गये। शेरका भाग शेरको मिल गया। जब श्रीकृष्ण रुक्मिणीजीको लेकर वहाँसे निकल गये तब शत्रुओंको होश हुआ। शिशुपाल, जरासन्ध आदि कहने लगे कि हाय-हाय गाँवका गँवार ग्वाला हम लोगोंका हिस्सा लेकर चला गया।

ॐ

श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि परीक्षित, इसके बाद शत्रुओंने श्रीकृष्णका पीछा किया। यदुवंशियोंके सेनापतियोंने उनको आते देखा तो वे अपने धनुषपर टंकार करते हुए उनका सामना करने लगे। जब रुक्मिणीजीने देखा कि श्रीकृष्णको तो इन लोगोंने घेर लिया है तब वे भयविह्वल होकर उनकी ओर देखने लगीं। भगवान्‌ने कहा कि आज तुमको ससुराल पहुँचनेके पहले ही अच्छी शोभा देखनेको मिल गयी, लेकिन डरो मत। अभी ये लोग नष्ट हुए जाते हैं। इतनेमें ही यदुवंशी वीर गद, सङ्कर्षण आदिने शत्रुओंकी सेनाको छिन्न-भिन्न कर दिया और उनके अस्त्र-शस्त्र गिरा दिये।

जरासन्ध आदि सभी राजा भाग खड़े हुए और शिशुपालके पास पहुँचकर कहने लगे—महाराज, आप उदास नहीं होइये। किसका प्रिय और किसका अप्रिय होता है, इसकी कोई मर्यादा नहीं है। यह सारी सृष्टि कठपुतलीकी तरह ईश्वरके हाथसे नाचती है। जरासन्धने तो अपनी ओर लक्ष्य करते हुए कहा कि मुझे देखो, मैं सत्रह बार इसके हाथों हार गया, केवल एक बार इसको जीत सका। इसी तरह जब हमारा काल अनुकूल होगा, तब हम जीतेंगे।

बेचारा दूल्हा शिशुपाल रोता ही रहा। लेकिन बराती कितने दिन उसके पास रहते? उसको वैसे ही रोता छोड़कर चले गये। इस संसारका यही होता है। बराती कभी साथ नहीं देते।

दूसरे बराती तो सब चले गये, लेकिन रुक्मिणीजीका भाई रुक्मी बड़ा उग्र था। उसने कहा कि मैं अकेले ही कृष्णसे अपनी बहिनको छीन लूँगा और यह प्रतिज्ञा भी की कि यदि मैं रुक्मिणीको वापिस नहीं ला सका तो अपने इस कुण्डिन नगरमें प्रवेश नहीं करूँगा।

इसके बाद वह रथपर बैठकर इतनी तीव्र गतिसे चला कि श्रीकृष्णके पास पहुँच गया। वहाँ उसने श्रीकृष्णको बहुत डाँटा और उनपर बाणोंकी वर्षा करने लगा। श्रीकृष्णने भी उसके बाणोंका जवाब बाणोंसे दिया। अन्तमें जब भगवान् श्रीकृष्णने उसको मारनेके लिए तलवार उठायी तब रुक्मिणीजी उनके पाँवोंपर गिर पड़ीं और बोलीं कि यह मेरा भाई है, इसको मत मारिये। यह कहकर वे भयसे काँपने लगीं। भगवान्‌ने कहा कि अच्छी बात है, मैं सालेको छोड़ देता हूँ। लेकिन उन्होंने उसकी दाढ़ी-मूँछ तो उखाड़ ही ली और उसको कपड़ेसे बाँधकर रथके एक कोनेमें रख दिया।

इसी बीचमें बलरामजी वहाँ आगये और रुक्मीको उस हालतमें बँधा देखकर लगे दोष निकालने कृष्णमें। बड़े भाई जो ठहरे। उन्होंने सोचा कि मैं बहूको खुश कर लूँगा तो यह घरमें अच्छा-अच्छा माल बनाकर मुझको खिलायेगी। उन्होंने कहा कि कृष्ण, तुम्हारी यह रीति अच्छी नहीं है, तुमने बहुत खराब काम किया है। भला कोई अपने सालेकी दाढ़ी-मूँछ इस तरह उखाड़ता है ? रुक्मिणी, तुम नाराज मत होना। यह ईश्वरकी लीला है। क्षत्रियका धर्म बड़ा भयंकर है। युद्धमें भाई भाईको मारता है। फिर कृष्णसे कहा कि संसारी लोग ही अपने सम्बन्धियोंको मारते हैं।

इस प्रकार बलरामजी एक बार रुक्मिणीसे बोलें, दूसरी बार श्रीकृष्णसे बोलें और कहें कि अपना-पराया कोई नहीं है। सबके अन्दर आत्मा एक है। विचार न करनेके कारण जो देहमें आत्मबुद्धि हो गयी है, उसीसे संसार होता है, जन्मादि विकार तो आत्मामें है ही नहीं। यह तो सब स्वप्न जैसा खेल है। इसलिए रुक्मिणी, तुम अपना शोक दूर करो और स्वस्थ हो जाओ—

तस्मादज्ञानजं शोकमात्मशोषविमोहनम्।
तत्त्वज्ञानेन निर्हृत्य स्वस्था भव शुचिस्मिते॥ ४९

अब रुक्मिणीका मन वैमनस्यसे मुक्त और पवित्र हो गया। उनके भाई रुक्मी भी छोड़ दिये गये। लेकिन वह अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार लौटकर कुण्डिनपुर नहीं गया। भोजकट नगरका निर्माण किया और वहीं रहने लगा। भगवान् श्रीकृष्ण रुक्मिणीको द्वारका ले आये और वहाँ उनका विधिपूर्वक पाणिग्रहण-संस्कार हुआ।

देखो, श्रीकृष्णने अपनी ओरसे विवाहका सन्देश नहीं भेजा था, रुक्मिणोजीने ही अपनो ओरसे विवाहका सन्देश भेजा था। इसका अर्थ यह है कि जीवको पहले भगवान्से मिलनेको प्रार्थना करनी चाहिए। तभी भगवान् आते हैं और हाथ पकड़कर अपनी शरणमें ले लेते हैं, बाधा-विघ्न दूर कर देते है, ब्याह कर लेते हैं। एक बार जीवको ओरसे यह सन्देश जाना ही चाहिए कि प्रभो, मैं आपको प्राप्त करना चाहता हूँ।

जब रुक्मिणीजी द्वारका में लायी गयीं, तब वहाँकी बड़ी भारी शोभा हुई। भगवान् श्रीकृष्णको रुक्मिणी-वल्लभके रूपमें देखकर नगरनिवासियोंके आनन्दकी सीमा नहीं रहा। जगह-जगह रुक्मिणी-हरणकी गाथाएँ गायी जाने लगीं, जिनको सुनकर राजकन्याएँ विस्मित होने लगीं।



श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि परीक्षित, जब कामको शंकरजीने जला दिया तब वह उनकी शरणमें आया और उन्हींके कृपा-प्रसादसे श्रीकृष्णवीर्य-समुद्भव होकर रुक्मिणीके गर्भ-द्वारा प्रद्युम्न नामसे प्रकट हुआ। इधर नारदजीने शम्बरको कुछ ऐसा सिखाया-पढ़ाया कि वह दस दिनके भीतर ही प्रद्युम्नको चुराकर अपने घर ले गया और फिर समुद्रमें डाल दिया। वहाँ शिशु प्रद्युम्नको मछलीने निगल लिया, उस मछलीको मछुओंने पकड़ा और भेंटके रूपमें शम्बरा-सुरको दे दिया। उसने उसे रसोई-घरमें भेज दिया। वहाँ नारदजीकी शिक्षासे कामकी पत्नी रति मायावतीके नामसे रह रही थी। इसलिए जब मछलीके पेटसे बालक प्रद्युम्न निकला तो वह उसे नारदके उपदेशके आधारपर पहचान गयी। असलमें नारदके उपदेशके बिना कोई किसीको नहीं पहचानता।

बालक प्रद्युम्न थोड़े ही दिनोंमें जवान हो गया और रति उसके सामने पत्नीके हाव-भाव प्रकट करने लगी! इसपर प्रद्युम्नने कहा कि माता, तुम यह क्या करती हो? रतिने कहा कि तुम मेरे पुत्र नहीं, पति हो। मैं तुम्हारी पत्नी रति हूँ। यह शम्बरासुर तुम्हारा शत्रु है। यही तुमको चुराकर ले आया था।

इसके बाद रतिने प्रद्युम्नको शस्त्रास्त्रकी सारी विद्या सिखा दी। प्रद्युम्नने शम्बरासुरको ललकारा और अन्तमें भीषण युद्धके बाद उसे मार डाला। तदनन्तर प्रद्युम्न रतिको आकाश-मार्गसे, उड़न खटोलापर बैठाकर, द्वारकामें ले आये। प्रद्युम्नको देखकर स्त्रियाँ समझने लगीं कि श्रीकृष्ण ही किसी स्त्रीको लेकर आये हैं। पर बादमें मालूम पड़ गया कि यह श्रीकृष्ण नहीं, प्रद्युम्न हैं। अब तो रुक्मिणीकी छातीमें दूध आगया। देवकी आयीं, वसुदेव आये, श्रीकृष्ण आये। अन्तमें नारदजीने आकर सब-कुछ बता दिया। सबको बड़ा सुख, आश्चर्य हुआ कि हमारा मरा हुआ पुत्र लौट आया। भगवान् श्रीकृष्णका सौभाग्य ऐसा है कि उनका मरा हुआ पुत्र भी लौट आता है।

प्रद्युम्न और श्रीकृष्णमें सौन्दर्य-माधुर्यका इतना साम्य था कि प्रद्युम्नकी माताएँ भी कभी-कभी भ्रममें पड़ जाती थीं और उनको श्रीकृष्ण समझने लगती थीं।

यं वै मुहुः पितृसरूपनिजेशभावास्तन्मातरो यदभजन् रहरूढभावाः। ४०

प्रद्युम्नको देखकर श्रीकृष्णकी पत्नियोंके मनमें प्रेमका भाव आजाता था और वे भागकर एकान्तमें चली जाती थीं। यह प्रद्युम्नके लिए कोई आश्चर्यकी बात नहीं थी। क्योंकि उनके रूपमें स्वयं काम ही आँखोंके सामने आजाता था।



श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि परीक्षित, सत्राजितने श्रीकृष्णपर झूठा कलङ्क लगाकर बहुत बड़ी गलती की थी। अतः उसके परिमार्जनके लिए उसने स्यमन्तक मणिके साथ-साथ अपनी कन्या सत्यभामाको श्रीकृष्णकी सेवामें समर्पित कर दिया।

देखो, सम्प्रदायविद् लोग कहते हैं कि श्रीदेवी रुक्मिणीके रूपमें और भूदेवी सत्यभामाके रूपमें प्रकट हुई हैं। उनके कथनानुसार वृषभानु बाबाकी पुत्री श्रीराधारानी जब श्रीकृष्णके वियोगमें व्याकुल हुईं, तब वे उन्हें सूर्यके पास पहुँचा आये थे—इसलिए कि वे उन्हें समझायेंगे-बुझायेंगे। बादमें उन्हें सूर्यने सत्राजितको दे दिया था। इसलिए सत्यभामा सत्राजितकी बेटी नहीं साक्षात् वृषभानुनन्दिनी राधारानी ही थीं, लेकिन उनको सब विस्मरण हो गया था।

महात्मा लोग यह भी कहते हैं कि रुक्मिणीजो श्रीराधारानीकी अन्तरङ्गा सखी चन्द्रावली थीं और उनकी दूसरी अन्तरङ्गा सखी ललिता ही जाम्बवती हो गयी थीं। इस प्रसङ्गको श्रीरूपगोस्वामीजी महाराजने अपने 'ललितमाधव' नामक नाटकमें बड़े प्रेमसे नवीन कथाके रूपमें वर्णित किया है।

अब राजा परीक्षितके पूछनेपर श्रीशुकदेव महाराजने बताया कि सत्राजित सूर्यका बड़ा भारी भक्त था। इसीलिए सूर्यने उसको स्यमन्तकमणि दे दी थी। वह जब उसको पहनकर द्वारिकामें आया तो लोगोंने उसकी चमक-दमक देखकर यही समझा कि सूर्य भगवान् श्रीकृष्णका दर्शन करनेके लिए आये हैं। लेकिन श्रीकृष्णने कहा कि नहीं-नहीं, यह तो सत्राजित है।

स्यमन्तकमणि केवल चमक-दमकवाला ही नहीं था, उससे प्रतिदिन आठ भार सोना निकल आता था, फिर भी वह मणि ज्यों-का-त्यों रहता था। जहाँ वह रहता, वहाँ दुर्भिक्ष नहीं, सर्प नहीं, आधि-व्याधि नहीं। इसलिए श्रीकृष्णने सत्राजितसे कहा कि देखो, प्रतिदिन आठ भार सोना देनेवाली जैसी बड़ी सम्पत्ति एक प्रजाके घरमें नहीं रहनी चाहिए। इसका तो राष्ट्रीयकरण

हो जाना चाहिए और यह राजकीय प्रबन्धमें रहना चाहिए, जिससे कि इसका उपयोग प्रजाकी भलाईमें हो। इसलिए तुम यह मणि महाराज उग्रसेनको दे दो—

स याचितो मणिं क्वापि यदुराजाय शौरिणा। १२

परन्तु सत्राजितने श्रीकृष्णकी बात स्वीकार नहीं की और मणिको अपने पास ही रखा। वह इतना अर्थलोलुप था कि उसे भगवान्‌की आज्ञाके उल्लङ्घनका कोई विचार नहीं हुआ—

नैवार्थकामुकः प्रादाद् याच्ञाभङ्गमतर्कयन्। १२

अब सत्राजितके भाई प्रसेनने उससे यह कहकर कि तुम भोले-भाले हो, तुमसे श्रीकृष्ण ले लेंगे, उस प्रकाश-पुञ्ज मणिको अपने गलेमें बाँध लिया और वह शिकार खेलनेके लिए वनमें चला गया। उसने इस बातका विचार नहीं किया कि इतने बहुमूल्य और पवित्र मणिको गलेमें बाँधकर उसे जंगलमें शिकार खेलने नहीं जाना चाहिए। परिणाम यह हुआ कि उसको जंगलमें सिंहने मार दिया और फिर उस सिंहको जाम्बवान्‌ने मारकर वह मणि प्राप्त कर ली। किन्तु लोगोंमें यह बात फैल गयी कि श्रीकृष्णने ही प्रसेनको मारकर वह मणि ले ली होगी।

जब श्रीकृष्णको इस झूठे कलङ्कका पता चला तब उन्होंने मणिकी खोज प्रारम्भ की। उन्होंने अपने साथके लोगोंको बाहर बैठा दिया और खुद अकेले जाम्बवान्‌की गुफामें प्रवेश कर गये। वहाँ जाम्बवान्‌से अट्ठाईस दिनतक युद्ध हुआ। अन्तमें जब श्रीकृष्णने जाम्बवान्‌को घूसे मार-मारकर ठीक कर दिया तब वे उनको पहचान गये। भगवान् जबतक जीवको एकाध घूसा नहीं लगा देते, तबतक वह उनको पहचानता नहीं है। जब जाम्बवान्‌ने पहचान लिया तब कहा कि आप साक्षात् भगवान् रामचन्द्र ही हैं।

इसके बाद श्रीकृष्णने जाम्बवान्‌के शरीरपर हाथ फेरकर उनको ठीक-ठाक कर दिया। फिर वे बोले कि मुझे मणिके सम्बन्धमें मिथ्याभिशाप, झूठा कलङ्क लगा है। जाम्बवान्‌ने कहा कि महाराज, आप यह मणि ले जाइये। लेकिन इसके साथ-साथ मेरे पास एक मणि और है मेरी कन्या जाम्बवती। इसे भी ग्रहण कर लीजिये। भगवान् उनकी बात मान गये।

यहाँ देखो भगवान्‌की महिमा! वे भालूकी लड़कीसे भी शादी करनेको तैयार हो जाते हैं। इसलिए आपलोग निराश नहीं होना। जो भालूकी लड़कीसे शादी कर सकता है, वह आपकी मनोवृत्तिसे भी अश्वयमेय विवाह कर लेगा। वह भले ही काली-कलूटी क्यों न हो, बालवाली क्यों न हो। लेकिन जाम्बवती तो भालूकी कन्या होनेपर भी बड़ी सुन्दर थी।

इधर जो यदुवंशी गुफाके बाहर रह गये थे, वे जब श्रीकृष्णकी प्रतीक्षा करते-करते थक गये तब अत्यन्त दुःखी होकर द्वारिका लौट गये। वहाँ वसुदेव-देवकी, रुक्मिणी, समस्त द्वारिका-वासी सत्राजितको भला-बुरा कहने लगे और श्रीकृष्णकी प्राप्तिके लिए चन्द्रभागा नाम्नी दुर्गाकी शरणमें पहुँचे। ज्यों ही मन्दिरमें अनुष्ठान प्रारम्भ हुआ, त्यों ही मन्दिरके भीतरसे स्यमन्तक मणि और जाम्बवतीको साथ लिये हुए श्रीकृष्ण निकल आये।

अब तो सबको बड़ा भारी आनन्द हुआ। उन्होंने सत्राजितको बुलाकर उसकी मणि दे दी। इससे सत्राजित् बड़ा लज्जित हुआ, अपने घर गया और सोचने लगा कि मैं इस अपराधसे कैसे मुक्त होऊँ? अन्तमें उसने अपनी कन्या सत्यभामा और स्यमन्तक मणि दोनोंको ही भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंमें समर्पित कर दिया।

भगवान्‌ने सत्यभामासे तो विधिपूर्वक विवाह कर लिया, लेकिन मणिके सम्बन्धमें कहा कि मैं नहीं लूँगा। क्योंकि इससे एकबार मुझे कलङ्क लग चुका है। भगवान् श्रीकृष्णने यह भी विचार किया कि यदि मणि हमारे घर आयी तो रुक्मिणी कहेगी मैं बड़ी हूँ, मुझे मिलनी चाहिए। सत्यभामा कहेगी कि यह मेरे बापकी है, इसलिए मुझे मिलनी चाहिए। जाम्बवती कहेगी कि यह मेरे बापके पाससे आयी है, इसलिए मुझे मिलनी चाहिए। और बलरामजी भी कहेंगे कि पहले मणि मिली थी तो मुझको दी थी, इसलिए अब भी मुझे देदो। ऐसी हालतमें मैं क्या करूँगा? इस सम्पत्तिके झमेलेमें न पड़ना ही अच्छा है।

यह सोचकर भगवान् सत्राजितसे बोले कि मणिको तुम अपने घरमें ही रखो और रोज-रोज इसकी पूजा किया करो। मैं तुम्हारे ऊपर कृपा करके इतना अवश्य स्वीकार करता हूँ कि चन्दन-फल-फूल द्वारा इसकी पूजा तो तुम किया करना, लेकिन इससे जो प्रतिदित आठ भार सोना निकलता है; वह हमारे घर भिजवा दिया करना—'वयं च फलभागिनः' (४५)। फल हमारे घरमें आयेगा और साधन तुम्हारे घरमें रहेगा। यही तो भक्तिकी महिमा है।



श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि परीक्षित, जब भगवान् श्रीकृष्णने सुना कि लाक्षागृहकी आगमें कुन्ती-पाण्डव जल मरे हैं तब यह जानते हुए भी कि इस अफवाहमें कोई सचाई नहीं है, वे बलरामजीके साथ उस समयकी कुल-परम्पराका पालन करनेके लिए हस्तिनापुर गये और वहाँ भीष्म आदि कौरवाधिपतियोंके साथ संवेदना प्रकट करते हुए कहा कि हाय-हाय यह तो बड़े दुःखकी बात हुई—

विज्ञातार्थोऽपि गोविन्दो दग्धानाकर्ण्य पाण्डवान् ।
कुन्तीं च कुल्यकरणे सहरामो ययौ कुरून् ॥ १

इधर जब श्रीकृष्ण-बलराम हस्तिनापुर चले गये तब द्वारकामें अक्रूर और कृतवर्माको गड़बड़ करनेका मौका मिल गया। वे दोनों शतधन्वाके पास गये और बोले कि तुम यह मणि सत्राजितसे छीन क्यों नहीं लेते? सत्राजितने अपनी कन्या हमको देनेके लिए कहा था, लेकिन नहीं दिया।

शतधन्वा अक्रूर और कृतवर्माके बहकावेमें आगया और उसने सत्राजितको मारकर उससे मणि ले ली। सत्राजितकी स्त्रियाँ रोती रह गयीं। सत्यभामा अपने पिताकी गति देखकर बहुत दुःखी हुई, रथपर चढ़कर हस्तिनापुर पहुँचीं और वहाँ श्रीकृष्ण-बलरामको सब-कुछ सुनाया।

अब तो राम-कृष्ण द्वारका लौटे और मणिहरण करके शतधन्वाको सबक सिखानेका निश्चय किया। शतधन्वाको जब राम-कृष्णकी योजनाका पता चला तब वह कृतवर्माके पास गया और बोला कि मैं संकटमें हूँ, मेरी मदद करो। लेकिन कृतवर्माने टका-सा जवाब देते हुए कहा कि बाबा, मैंने तुमको हाथ जोड़ा। भला इतने बलवान् शत्रुके सामने मैं तुम्हारी सहायता करूँगा? उनसे विरोध मोल लेनेकी सामर्थ्य मुझमें नहीं है। वे तो साक्षात् भगवान् हैं!

इसके बाद जब शतधन्वा अक्रूरके पास गया तब उन्होंने भी ऐसा ही उत्तर दिया। अब तो शतधन्वाने उस मणिको अक्रूरके पास फेंक दिया और वह घोड़ेपर सवार होकर भाग निकला। बलराम-कृष्णने उसका पीछा किया। मिथिला-प्रदेश तक पहुँचते-पहुँचते शतधन्वाका घोड़ा गिर गया। उसको छोड़कर वह पैदल भागा। श्रीकृष्णने भी रथपर तो बलरामजीको छोड़ दिया और स्वयं रोष करके उसके पीछे पैदल दौड़े। अन्तमें उन्होंने अपने चक्रसे शतधन्वाका सिर काट दिया।

लेकिन मणि उसके पास नहीं मिली। श्रीकृष्ण बलरामजीके पास आये और बोले कि मैंने तो शतधन्वाको यों ही मार दिया, उनके पास मणि तो है नहीं। बलरामने कहा कि कहीं

छिपाकर रख दिया होगा। चलो हम लोगोंको मणिसे क्या प्रयोजन है ? तुम द्वारिका लौटो और मैं कुछ दिनोंतक अपने मित्र मिथिला-नरेशके पास रहूँगा।

इसके बाद श्रीकृष्ण द्वारका गये और बलरामजी जनकके पास चले गये। राजा जनकने उनका बड़ा स्वागत-सत्कार किया। दुर्योधनको बलरामजीके मिथिलाप्रवासका पता लग गया था और वह यह भी जान गया था कि बलरामजी आजकल मणिके प्रसङ्गको लेकर कुछ दुर्मना हैं। क्योंकि वे समझते थे कि वह मणि पहले शंखचूड़को मारकर उन्हें दी गयी थी, इसलिए अब भी उन्हींको मिलनी चाहिए। अतः दुर्योधन मिथिला पहुँचा और बलरामजीसे गदा-युद्ध सीखता रहा।

इधर श्रीकृष्णने द्वारका लौटकर सबको सब समाचार सुना दिया। अक्रूर और कृतवर्मा द्वारका छोड़कर भग गये। लोग कहते हैं कि अक्रूरके जानेके बाद द्वारकामें बड़े-बड़े उत्पात हुए, परन्तु यह बात बिल्कुल गलत है। जहाँ साक्षात् भगवान्‌का निवास है, वहाँ भला कहीं उत्पात हो सकता है ?

अन्तमें एक दिन भगवान्‌ने अक्रूरको भरी सभामें बुलाया और कहा कि देखो अक्रूरजी, मैं यह बात पहलेसे जानता हूँ कि शतधन्वाने भागते समय मणि तुम्हारे पास रख दी थी। तुम जानते हो कि सत्राजितको कोई सन्तान नहीं थी, इसलिए उसकी सम्पत्ति सत्यभामाके पुत्रोंको ही मिलनी चाहिए। लेकिन वह मणि तुम्हारे पास ही रहे।

तथापि दुर्धरस्त्वन्यैस्त्वय्यास्तां सुव्रते मणिः।
किन्तु मामग्रजः सम्यङ् न प्रत्येति मणिं प्रति॥ ३८

देखो, यहाँ भगवान् श्रीकृष्णने बड़े दुःखकी बात कही है। भगवान्‌के हृदयकी बात भगवान्‌के सिवाय दूसरा कोई नहीं समझ सकता। उन्होंने कहा कि अक्रूरजी, मेरे सामने कठिनाई यह है कि बड़े भाई बलरामजी मणिके सम्बन्धमें मेरे ऊपर सम्यक् विश्वास नहीं करते। इसलिए तुम एक बार उसे दिखा दो, जिससे कि मेरी सफाई हो जाय।

इसके बाद अक्रूरने भरी सभामें मणि लाकर दिखा दी और पूछा कि अब इसको किसके पास रखें ? रुक्मिणीके पास कि सत्यभामाके पास कि जाम्बवतीके पास कि बलरामके पास ? भगवान्‌ने कहा कि किसीके पास नहीं। तुम्हीं इसे ले जाओ और अपने पास रखो।

इस घटनासे अक्रूरको बदनामी ही मिली। अन्यथा भगवान् जिसपर प्रसन्न होते हैं, उसको धन-दौलत नहीं देते, अपने आपको ही दे देते हैं।



श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि परीक्षित, अबतक लोगोंको पता चल गया था कि पाण्डव लाक्षागृहमें जले नहीं हैं। इसलिए एक दिन श्रीकृष्ण सात्यकि आदिको साथ लेकर पाण्डवोंसे मिलने इन्द्रप्रस्थ गये। वहाँ सबसे मिलने-जुलनेके बाद श्रीकृष्णने अर्जुनको साथ लिया और वनमें विहार करने चले गये। उधर अनेक प्रकारके दृश्य देखते हुए यमुना-तटपर पहुँचे। वहाँ देखते क्या हैं कि एक कुमारी कन्या तपस्या कर रही है। श्रीकृष्ण स्वयं तो कुछ दूर खड़े रह गये और अर्जुनको कहा कि जाकर पता लगाओ।

अर्जुनके पूछनेपर कन्याने बताया कि मेरा नाम कालिन्दी है। मैं विष्णु भगवान्‌से ब्याह करनेके लिए तपस्या कर रही हूँ। उनको छोड़कर दूसरेके साथ ब्याह नहीं करूँगी। जब अर्जुनने श्रीकृष्णको उसकी बातें बतायीं तब श्रीकृष्णने आगे बढ़कर कहा कि विष्णु तो तेरे दरवाजेपर खड़ा है, आओ मेरे रथपर बैठो। यह कहकर श्रीकृष्णने उसको रथपर बैठा लिया और धर्मराजके पास ले आये।

उसी समय भगवान्‌ने विश्वकर्मासे पाण्डवोंके रहनेके लिए नगर बनवाया था, अग्निके लिए खाण्डव वनका दहन करवाया था और अर्जुनके सारथि बने थे। अग्निने प्रसन्न होकर अर्जुनको कवच, रथ आदिका दान किया था। खाण्डव-दाहके समय अर्जुनके मित्र बने मय दानवने एक अद्भुत सभा-मण्डप निर्मित किया था और उसीमें दुर्योधनको जलमें स्थलका भ्रम हुआ था।

इसके बाद श्रीकृष्ण द्वारका चले आये। वहाँ उनका कालिन्दीके साथ विवाह हुआ।

देखो, अब विवाहोंका नम्बर आगया है। आप उनकी गिनती करते रहना। असलमें भगवान्‌का एक नाम विवाह भी है—'विपक्षी, वाहो वाहनं यस्य।' गरुड़ पक्षी जिसका वाहन है, उसका नाम विवाह। जब भगवान्‌का नाम ही विवाह है तब वे सबसे विवाह ही करते फिरते हैं। उन्होंने सबसे ब्याह ही कर रखा है।

अवन्तीके राजा थे विन्द और अनुविन्द। उनकी बहन मित्रविन्दा चाहती थी श्रीकृष्ण-को। राजाने जब उसको रोका तब भगवान्‌ने कहा कि वाह, जो मुझको चाहता है, उसको रोकने-वाले तुम कौन होते हो और उसे बलपूर्वक ले आये।

उसके बाद कोसलके राजा नग्नजितकी कन्याका नम्बर आया, जिसे सत्या कहते थे—'नग्नजिन्नाम कौसल्य आसीद् राजातिधार्मिकः' (३२)। भगवान् श्रीकृष्णने सोचा कि अयोध्याका वंश बहुत ऊँचा है, इसलिए वहाँ भी कुछ-न-कुछ सम्बन्ध होना चाहिए।

श्रीधर स्वामीने कोसल देशका अर्थ अयोध्या किया है। परन्तु अयोध्याके विद्वानों और महात्माओंने बहुत खोज करके इसको काट दिया है। वे कहते हैं कि उस समय हमारे यहाँ नग्नजित नामका कोई राजा नहीं था। यह कोई दक्षिण कोसलका राजा होगा, उत्तर कोसलका नहीं।

जो हो, आप नग्नजित नामके अर्थपर विचार करें। नग्न वह, जो वेद-शास्त्रको न माने। इसलिए उन्होंने उनको जीतकर वैदिक धर्मकी स्थापना की और कोसल देशके राजा हुए। नाम तो इनका कुछ और था, लेकिन नग्नजित इनकी संज्ञा हो गयी।

नग्नजितकी कन्या नाग्नजिती अथवा सत्याके विवाहके लिए यह शर्त थी कि जो सात बड़े-बड़े बैलोंको एक साथ नाथ दे, उसीसे उसका विवाह होगा। जब भगवान् श्रीकृष्णने सुना तब वे वहाँ गये। उनको मालूम था कि वह लड़की उन्हींके साथ विवाह करना चाहती है। इसलिए भगवान्ने स्वयं अपनी ओरसे ही प्रस्ताव कर दिया कि मैं तुम्हारी लड़कीके साथ ब्याह करना चाहता हूँ।

राजाने कहा कि महाराज, आपसे बड़ा तो कोई मिल ही नहीं सकता। परन्तु क्या करें, हमारी एक मर्यादा है। उसके अनुसार आप सात बैलोंको एक साथ नाथ दीजिये। भगवान्ने एक साथ ही अपने सात रूप धारण करके उन सातों बैलोंको नाथ दिया। उनके लिए तो वे बैल वैसे ही हो गये, जैसे लकडीके बने हुए हों। उसके बाद सत्याके साथ श्रीकृष्णका विधिपूर्वक विवाह हो गया। बड़ा ही आनन्द हुआ। राजाने उनको दहेजमें बहुत-सारो सम्पत्ति दी।

देखो, दहेजकी प्रथा पहले भी थी, लेकिन वह आज जैसी नहीं थी। पहले लड़कीको अचल सम्पत्तिमें हिस्सा न देकर चल सम्पत्तिमें-से बहुत अधिक दे देते थे और आजीवन तीज-त्योहारोंपर देते जाते थे। लड़कीको देना उसपर दया करना नहीं है, भीख देना नहीं है। लेकिन अब यह बात लोग भूल गये हैं कि जैसे सम्पत्तिमें भाई-भाईका हिस्सा होता है, वैसे ही बहनका भी हिस्सा होता है।

तो, नग्नजितने श्रीकृष्णको इतना अधिक दहेज दिया कि उसका वर्णन पढ़कर लोगोंको आश्चर्य होता है—

नवनागसहस्राणि नागाच्छतगुणान् रथान् ।
रथाच्छतगुणानश्वानश्वाच्छतगुणान् नरान् ॥ ५१

राजा नग्नजितने जामाताको हजारों गौएँ, हजारों दासियाँ और बहुमूल्य वस्त्राभरण देनेके बाद नौ हजार हाथी, नौ लाख रथ, नौ करोड़ घोड़े और नौ अरब सेवक भी दिये ।

इसकी संगति इस प्रकार बैठती है कि जिस जंगलमें हाथी रहते थे, उस जंगलको ही दे दिया । उनके राज्यमें जितने रथ, जितने घोड़े थे, उनको कह दिया कि ये तुम्हारे हैं । इसी तरह दहेजमें दिये दासोंकी संख्याके सम्बन्धमें यह संगति लगानी चाहिए कि गाँव-के-गाँव, प्रान्त-के-प्रान्त देकर कह दिया कि इनमें रहनेवाली सारी प्रजा तुम्हारी है । दहेजका वर्णन पढ़कर ऐसा लगता है कि नग्नजित कोई बहुत बड़े सम्राट् थे ।

अब जब भगवान् द्वारकाकी ओर चले तब उन राजाओंने जो इस विवाह और सम्पदासे वञ्चित रह गये थे, श्रीकृष्णपर आक्रमण कर दिया । परन्तु अर्जुनने उन सबको परास्त करके भगा दिया ।

उसके बाद श्रीकृष्णने अपनी बुआ श्रुतकीर्तिकी पुत्री भद्राके साथ विवाह किया और तदनन्तर मद्राधिपतिकी पुत्री लक्ष्मणाके साथ भी ब्याह कर लिया ।

इस प्रकार भगवान्ने अनेक विवाह किये । ये कथाएँ फिरसे आनेवाली हैं । एक बार किसीने मुझसे पूछा था कि भगवान्की इतनी पत्नियोंका उल्लेख क्यों है ? मैंने कहा ये तो बहुत कम हैं, जो आध्यात्मिक रूपसे सबके हृदयोंमें रहते हैं और सबकी वृत्तियोंके साथ रमण करते हैं, उन्होंने यदि आधिभौतिक और आधिदैविक रूपसे सृष्टिकी सभी लड़कियों तथा वृत्तियोंके साथ विवाह कर लिया तो यह उनके लिए कोई आश्चर्यकी बात नहीं है । उनकी पत्नियोंकी सोलह हजार संख्या तो केवल उपलक्षण-मात्र है ।



इसके बाद राजा परीक्षितने जब भौमासुरका प्रसंग उठाया तब श्रीशुकदेवजी महाराज उसका वर्णन करते हुए कहते हैं—

इन्द्रेण हृतच्छत्रेण हृतकुण्डलबन्धुना।
हृतामराद्रिस्थानेन ज्ञापितो भौमचेष्टितम्॥ २

लोग छत्रपर बड़ा अभिमान करते हैं और कहते हैं कि हमारे पास छत्र है, हम बहुत बड़े हैं। लेकिन भौमासुरने 'हृतकुण्डलबन्धुना'—इन्द्रका छत्र छीन लिया, उनकी माता अदितिका कुण्डल छीन लिया और उनके रहनेका स्थान भी छीन लिया। जब उनकी सहायताके लिए भगवान् श्रीकृष्ण भौमासुरसे युद्ध करने जाने लगे तब सत्यभामा भी उनके साथ हो गयी। उन्होंने वहाँ जाकर उन सभी बड़े-बड़े घेरोंको तोड़ दिया, जो भौमासुरने अपनी राजधानी प्राग्ज्योतिष-पुरकी रक्षाके लिए बना रखे थे। उसके बाद उसके मन्त्रीका सिर काट दिया। जब भौमासुरके पुत्र लड़ने आये तब उनको भी मार दिया।

अन्तमें भौमासुर स्वयं आया और उसके साथ भगवान् श्रीकृष्णका बड़ा भयंकर युद्ध हुआ। उसने वह शक्ति चलायी, जिससे वज्र भी विफल हो गया था। लेकिन उससे भगवान्‌को कोई चोट नहीं लगी। उसने जो-जो अस्त्र-शस्त्र चलाये, उन सबको श्रीकृष्णने नष्ट कर दिया।

अब यहाँ देखो कि इस युद्धमें भगवान् सत्यभामाको साथ लेकर क्यों गये थे? भगवान्‌ने वराहावतारमें भूमिके साथ विवाह कर लिया था। तबसे भूदेवी उनकी पत्नी हो गयीं। उन्हींका पुत्र यह भौमासुर है। पृथिवी देवीने कहा था कि महाराज, आपका यह बेटा आपके बिना और किसीके हाथसे नहीं मरेगा। लेकिन जबतक मैं न कहूँ, तबतक इसको मत मारना। इसीलिए भगवान् सत्यभामाको, जो भूदेवीकी अवतार हैं, साथ लेकर आये थे! जब सत्यभामाने देखा कि यह तो हमारे पतिपर बहुत आक्रमण करने लगा है तब उन्होंने कहा कि आप इसके साथ खेल क्यों रहे हैं? इसको मार क्यों नहीं डालते?

अब भूदेवीको अनुमति मिलते ही श्रीकृष्णने भौमासुरका वध कर दिया। असुरोंमें हाय-हाय मच गयी। ऋषि-देवता श्रीकृष्णका वर्धापन करने लगे। वर्धापन माने बधाई देना, जिसका अर्थ है कि बढ़ो महाराज और आगे बढ़ो।

इसके बाद साक्षात् भूदेवी श्रीकृष्णके सामने प्रकट हुईं। उसने भौमासुर द्वारा छीनी हुई सब वस्तुएँ लौटा दीं! उसने पङ्कजनाभ, पङ्कजमाली, पङ्कजनेत्र, पङ्कजाङ्घ्रि, 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' कहकर भगवान्‌को प्रणाम किया और स्तुति करने लगीं—हे शङ्ख-चक्रगदाधर, आप भक्तोंकी इच्छासे नाना रूप धारण करते हैं। सृष्टि-स्थिति-प्रलय आप ही करते हैं। असलमें आपके भीतर कुछ नहीं है।

देखो, जितने तत्त्व होते हैं, वे सब वेदान्ती होते हैं, अद्वैती होते हैं, इसलिए जब पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश आदि तत्त्व भगवान्‌की स्तुति करते हैं तब अद्वैतपरक भाषाका प्रयोग करते हैं। व्यक्ति भले ही द्वैतवादी हो जाये, परन्तु तत्त्व द्वैतवादी नहीं हो सकता। इसीलिए पृथिवी देवी कहती हैं—

अहं पयो ज्योतिरथानिलो नभो मात्राणि देवा मन इन्द्रियाणि।
कर्ता महानित्यखिलं चराचरं त्वय्यद्वितीये भगवन्नयं भ्रमः॥ ३०

भगवन्, प्रकृतिसे लेकर पृथिवी अर्थात् मुझ-पर्यन्त जो कुछ है, वह आपके अद्वितीय स्वरूपमें केवल भ्रम है, बुद्धि और मनका भ्रमण है—'भगवन्नयं भ्रमः। भ्रमके कारण ही यह सृष्टि दिखायी पड़ती है। यह भौमासुरका लड़का भगदत्त आपके चरणोंमें है, इसकी रक्षा कीजिये।

इस प्रकार पृथिवीकी प्रार्थना सुनकर भगवान्‌ने भगदत्तको अभय दे दिया और वे उसको साथ लेकर उसके घरमें गये। वहाँ भौमासुरने सोलह हजार कन्याएँ इकट्ठी कर रखी थीं। उसका यह संकल्प था कि जब एक लाख कन्याएँ इकट्ठी हो जायेंगी तब इनके साथ विवाह करूँगा। श्रीकृष्णको देखते ही उन सब कन्याओंके मनमें एक ही लालसा उत्पन्न हुई कि हमारा विवाह इन्हींके साथ हो जाय और ये इसका अनुमोदन करें। भगवान् श्रीकृष्णने कहा कि सबको द्वारका भेज दो। भगदत्तने सबको रथ, कोश आदि दान-दहेज देकर द्वारका भेज दिया। भगवान् स्वयं सत्यभामाके साथ इन्द्रलोक गये और वहाँ अदिति माताको प्रणाम करके उनका कुण्डल दे दिया। इन्द्रने अपनी पत्नी इन्द्राणीके साथ श्रीकृष्ण-सत्यभामाका बड़ा स्वागत-सत्कार किया।

विष्णुपुराणकी कथाके अनुसार दासियाँ सत्यभामाजीके सत्कारके लिए कल्पवृक्षका एक

फूल लेकर आयीं। इन्द्राणीने आँखसे इशारा किया कि—एँ, क्या यह मानुषीके लिए है? कहाँ यह मानुषी, कहाँ हम देवता और कहाँ हमारा यह फूल! स्त्रियाँ स्त्रियोंके मनका भाव बहुत जल्दी समझती हैं। इसलिए सत्यभामाजी समझ गयीं, लेकिन कुछ बोलीं नहीं।

जब वहाँसे श्रीकृष्ण भगवान् चलने लगे तब सत्यभामाजीने कहा कि क्योंजी, स्वर्गमें आकर भी तुमने कुछ दिखाया नहीं। सुना है, यहाँ बाग-बगीचे बहुत बढ़िया हैं। श्रीकृष्णने सत्यभामाकी बात सुनकर कहा कि अच्छा चलो, तुम्हें दिखा देते हैं। जब वे नन्दन-काननमें पहुँचीं तब गरुड़परसे उतर कल्पवृक्षके नीचे बैठ गयीं और बोलीं कि अब आप पधारिये अकेले ही द्वारकामें। मैं तो जबतक आप यह पारिजात लेकर नहीं चलेंगे, आपके साथ जानेवाली नहीं हूँ।

श्रीकृष्णने कहा कि अच्छा देवी, लो! उन्होंने पारिजातको उखाड़कर गरुड़पर रख लिया और द्वारकाकी ओर चलनेके लिए प्रस्तुत हुए। देवताओंने पारिजातके लिए बड़ी भारी लड़ाई की। लेकिन श्रीकृष्णने सब देवताओंको पराजित कर दिया और द्वारकामें आकर सत्यभामाके घरमें पारिजात स्थापित कर दिया। यह पारिजात-प्रसंग इतना सुन्दर है कि इसपर कई काव्य लिखे जा चुके हैं।

कहते हैं कि एक बार नारदजी पारिजातका एक फूल लेकर आये और उन्होंने उसे कृष्णको दे दिया। श्रीकृष्णने रुक्मिणीजीको दे दिया। नारदजीको मनोरञ्जन करनेकी सूझी। वे सत्यभामाके घर जाकर बोले कि श्रीकृष्ण-प्रेम तो रुक्मिणीसे ही करते हैं, तुमसे नहीं। देखो न, मैं स्वर्गसे कल्पवृक्षका फूल ले आया तो उन्होंने तुमको न देकर रुक्मिणीको दे दिया। अब तो सत्यभामाजी रूठ गयीं। श्रीकृष्णने कहा कि एक फूलके लिए क्यों रूठती हो! मैंने रुक्मिणीको एक फूल दे दिया तो क्या हुआ? तुम्हारे घरमें मैं पारिजातका पेड़ ही लाकर लगा दूँगा। तब सत्यभामाजी प्रसन्न हो गयीं। उसी वचन-बद्धताके कारण श्रीकृष्णने सत्यभामाके घरमें कल्पवृक्षका आरोपण कर दिया।

श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि परीक्षित, जरा इन्द्रको तो देखो! ये वही देवता हैं, जो श्रीकृष्णके चरणोंमें प्रणाम करके अपनी भलाईके लिए उनको बारम्बार असुरोंसे लड़वाते हैं, परन्तु जब कृतार्थ हो जाते हैं, तब एक कल्पवृक्षके लिए उनका तिरस्कार करने लगते हैं। यह उनकी धनाढ्यताका परिणाम है। उनकी उस धनाढ्यताको धिक्कार है—

सिद्धार्थं एतेन विगृह्यते महानहो सुराणां च तमो धिगाढ्यताम् । ४१

इधर भगवान् श्रीकृष्णने एक ही मुहूर्तमें भौमासुरके यहाँसे आयी हुई सब कन्याओंके साथ ब्याह कर लिया और उनके साथ विहार करने लगे।

कहते हैं कि जब भगवान् श्रीकृष्ण सत्यभामासे बहुत प्रेम करने लगे तब रमादेवीने कहा कि अच्छा, ऐसी बात है ! वे सोलह हजार लड़कियोंके रूप धारण करके भौमासुरके घरमें बैठ गयीं और जब ब्याह हुआ तो बोलीं कि सत्यभामा तो एक रहेगी, लेकिन मैं सोलह हजार रूप धारण करके विहार करूँगी—

रेमे रमाभिर्निजकामसम्प्लुतो यथेतरो गार्हकमेधिकांश्चरन् । ४३

परीक्षित, ब्रह्मादि देवता भी भगवान् श्रीकृष्णके वास्तविक स्वरूपको नहीं जानते, लेकिन उन स्त्रियोंने उनको पतिके रूपमें प्राप्त कर लिया और वे नित्य-निरन्तर सम्वर्द्धमान अनुराग, हास अवलोकन, संगम, जल्प और लज्जासे उनकी सेवा करने लगीं। वे श्रीकृष्णको देखकर खड़ी हो जायँ और उनको ऊँचे आसनपर बैठायें। रुक्मिणी, सत्यभाभा आदि तो भगवान्के पाँव अपने हाथसे धोयें। उनको ताम्बूल खिलायें, विश्राम दें, पङ्खा झलें, गन्धमाला पहनायें। 'केशप्रसार-शयनस्नपनोपहार्यैः' (४५)—उनके बाल सँवारें, उनको सुलायें, स्नान करायें, भोजन करायें और भेंट दें। घरमें हजारों दासियाँ थीं, परन्तु वे उन दासियोंके द्वारा अपने स्वामीकी सेवा नहीं कराती थीं।



श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि परीक्षित, एक दिन भगवान् श्रीकृष्ण रुक्मिणीजीके महलमें पलङ्गपर बड़े आनन्दसे बैठे हुए थे और रुक्मिणोजी 'पतिं पर्यचरद् भैष्मी व्यजनेन सखीजनैः' (१)—अपनी सखियोंके साथ अपने हाथसे पङ्खा झल रही थीं। रुक्मिणीजीका भवन बड़ा सुन्दर है। विविध शोभाओंसे युक्त है। मुक्तादामवितान, मणिमय दीप, मल्लिकादि पुष्पोंसे विराजित है, भ्रमरकुलसे नादित है, जालरन्ध्रसे विनिर्गत अगरु धूपसे सुवासित है और उसमें दूधके फेनके समान पर्यङ्क है, जिसपर श्रीकृष्ण बैठे हैं। व्यजन करते समय रुक्मिणीजीके पैरोंमें रुनझुन-रुनझुन नूपुर बज रहे हैं।

भगवान्‌ने कहा कि देवीजी, आप तो बड़ी सुन्दर हैं। विवाहके पहले आपको शिशुपाल जैसे बड़े-बड़े श्रीमान् और रूपौदार्यबलोर्जित महानुभाव चाहते थे। आपके पिता और भाई आपको उन्हें दे रहे थे। लेकिन आपने उनको छोड़कर मेरे सरीखे व्यक्तिसे विवाह क्यों किया ? मैं तो आपको बराबरीका नहीं हूँ बल्कि आपसे बहुत छोटा हूँ। देखो, मैं राजाओंसे डरता हूँ, समुद्रमें रहता हूँ, बलवानोंसे मेरा बड़ा भारो द्वेष है, मैं प्रायः राजपद छोड़ चुका हूँ और लोगोंको यह भी पता नहीं है कि मैं किस सम्प्रदायका हूँ—

अस्पष्टवर्त्मनां पुंसामलोकपथमीयुषाम् । १३

मुझे पता नहीं कि मैं ऊर्ध्वपुण्ड्र लगाऊँ या त्रिपुण्ड्र लगाऊँ ? मैं लोगोंके साथ चल नहीं पाता। मैं तो गरीबोंका साथी हूँ, इसलिए गरीबोंका ही प्यारा हूँ, धनी लोग प्रायः मुझसे प्रेम नहीं करते और यदि करते भी हैं तो गरीबोंको अपने वशमें रखनेके लिए ही करते हैं—

तस्मात् प्रायेण न ह्याढ्या मां भजन्ति सुमध्यमे । १४

असलमें धनी लोग धनके प्रेमी होते हैं। वे अपने धनकी रक्षाके लिए ही मेरा नाम लेते हैं। उनका उद्देश्य तो धन ही है। मैं तो उदासीन हूँ। मुझको न श्री चाहिए और न धन चाहिए, इसलिए देवी, विवाह तो बराबरीमें ही होना चाहिए, छोटे-बड़ेमें नहीं होना चाहिए। तुम अब भी सोच लो और यदि तुम्हारी रुचि हो तो किसी श्रेष्ठ पुरुषसे विवाह कर लो। वहाँ तुम्हारे सब मनोरथ पूरे होंगे।

यहाँ देखो, रुक्मिणीजीसे श्रीकृष्णके नाती-पोते हो चुके हैं। फिर भी उनको बुढ़ापेमें न जाने क्यों इस प्रकारका विनोद सूझ गया। लेकिन ऐसा देखा गया है कि अस्सी-अस्सी बरसके बूढ़े लोग भी जब अपनी पत्नीके साथ एकान्तमें बैठते हैं तो ऐसी-ऐसी छेड़छाड़ और विनोद करते हैं, जिससे मालूम पड़ता है कि उनके भीतर न जाने कितनी जवानी भरी हुई है। शरीर बूढ़ा हो जाता है, लेकिन मन जवान रहता है, वह बूढ़ा नहीं होता।

लेकिन यहाँ श्रीकृष्ण तो बूढ़े होनेवाले हैं नहीं। वे तो नित्य नूतन हैं और उनको नित्य यौवन प्राप्त है। संस्कृत भाषामें यह जो छेड़-छाड़ है, इसको क्ष्वेली बोलते हैं। छेड़-छाड़से प्रेम और ताजा हो जाता है।

असलमें रुक्मिणीजीको कुछ ऐसा ख्याल हो गया था कि मैं बड़ी सुन्दर हूँ और मेरे समान श्रीकृष्ण-प्रिया और कोई नहीं है। इसलिए भगवान्‌ने उनके साथ इस प्रकारकी बातें की। भगवान्‌को और सब-कुछ तो पसन्द है, परन्तु अभिमान पसन्द नहीं है। 'मैं' जहाँ आया कि वहाँसे भगवान् पीछे हटे। 'मैं' में भगवान् नहीं टिकते। यह प्रमाता भी प्रमाण और प्रमेय दोनोंको बाधित कर देता है, प्रमाताका प्रमातृत्व भी बाधित हो जाता है। वह शुद्ध रूपमें ही परमात्माका स्वरूप है, अन्यथा किसी भी वस्तुको पकड़ोगे तो भगवान् पीछे पड़ जायेगा।

जब रुक्मिणीजीने भगवान्‌के मुँहसे यह सब सुना तब वे थर-थर काँपने लगीं, रोने लगीं, धरती खोदने लगीं और अन्तमें उनका शरीर भी गिर पड़ा। उनके बाल बिखर गये। अब तो झट भगवान् श्रीकृष्ण चतुर्भुज हो गये, बोले कि अरे, यह तो बड़ी भोरी-भारी है। हास्यके रहस्यको नहीं समझती। उन्होंने अपने चारों हाथोंसे रुक्मिणीजीको पकड़कर उठाया, उनके बाल सीधे किये, आँसुओंको पलकोंसे पोंछ दिया और उन्हें हृदयसे लगा लिया।

फिर बोले कि तुम मेरी बातोंमें इतना दोष मत देखो। मैंने तो तुम्हारे मुँहसे तुम्हारे प्रेमकी बात जाननेके लिए यह विनोद किया है—'क्ष्वेल्याऽऽचरितमङ्गने' (२९)। मैं देखना चाहता था कि तुम्हारे मुँहपर जब क्रोध आता है, ओठ फड़कने लगते हैं, तब तुम्हारी कैसी शोभा होती है, तुम्हारी भौंहे कैसी चढ़ती हैं और तुम्हारे कटाक्ष कैसे चलते हैं! गृहस्थ जीवनका यही लाभ है कि यदि ब्याह-शादी पुरानी पड़ गयी हो और घरमें बैठे हों तो थोड़ा रूठ लें, थोड़ा मनवा लें। उससे जिन्दगी ताजी हो जाती है। रूठने-मनानेसे हर गृहस्थीका प्रेम बढ़ता है।

इस प्रकार जब भगवान्‌ने समझाया तब रुक्मिणीजीको यह सन्तोष हो गया कि श्रीकृष्ण मुझे छोड़ेंगे नहीं। फिर अच्छी तरह होश-हवास आनेपर बोलीं कि महाराज, निस्सन्देह मैं आपके सदृश नहीं हूँ, आपकी बराबरी कभी नहीं कर सकती—

क्व स्वे महिम्न्यभिरतो भगवांस्त्र्यधीशः क्वाहं गुणप्रकृतिरज्ञगृहीतपादा। ३४

कहाँ आप अपनी महिमामें रत त्रिगुणमयी मायाके नचानेवाले भगवान् और कहाँ मैं गुणमयी प्रकृतिवाली अज्ञानी जीव ! मेरे पाँव तो कामनाओंके पीछे चलनेवाले अज्ञानी लोग ही पकड़ते हैं। आपका यह कहना कि आप डरके मारे समुद्रमें रह रहे हैं, ठीक है। अवश्य ही आप गुणोंसे डरकर अन्तःसमुद्रमें शयन करते हैं। आपका वैर राजाओंसे नहीं, इन्द्रियोंसे है। बड़े-बड़े ऋषि लोग आपके चरण-कमल-रसका सेवन करते हैं। आपका मार्ग लोगोंके लिए स्पष्ट नहीं है। आप निष्किञ्चन इसलिए हैं कि आपके सिवाय दूसरा कोई है ही नहीं।

देखो, निष्किञ्चन उसे कहते हैं, जिसके पास कुछ न हो। निष्किञ्चन भी एक प्रकारका वाक्य ही है, शब्द नहीं है। एकने किसीके पास पोटली देखी तो पूछा कि इसमें कुछ है ? 'अपि किञ्चन ?' है किञ्चन ? बोले कि नहीं-नहीं, यह किञ्चन भावसे निष्क्रान्त हो गये हैं। 'किञ्चनतः निष्क्रान्तः निष्किञ्चनः'। जो किञ्चनसे निष्क्रान्त है, उसका नाम निष्किञ्चन है।

रुक्मिणीजीने कहा—स्वामी, ब्रह्मादि आपकी सेवा करते हैं। आप ही पुरुषार्थमय हैं। बड़े-बड़े महात्मा आपके बाल-भावका वर्णन करते हैं। फिर औरोंकी तो बात ही क्या है। आपने तो सबके बीचमें सबको हराकर मेरा हरण किया है। आप यह कहते हैं कि जो आपका भजन करते हैं, वे दुःख पाते हैं। किन्तु पृथु, भरत, गय आदि तो अपना सारा सुखैश्वर्य छोड़कर आपका भजन करनेके लिए वनमें चले गये। आप कहते हैं कि मैं अपने समान क्षत्रियका वरण कर लूँ। लेकिन जिसने आपके चरणारविन्द-मकरन्दका भजन नहीं किया है, वही दूसरेका वरण कर सकता है।

देखो, शास्त्रोंमें कहीं-कहीं स्त्रियोंके शरीरकी निन्दा आती है तो लोग कहते हैं कि स्त्री-शरीरकी कितनी निन्दा है ? लेकिन यहाँ रुक्मिणीजीने स्पष्ट रूपसे पुरुषोंके शरीरकी निन्दा की है—

त्वक्श्मश्रुरोमनखकेशपिनद्धमन्तर्मांसास्थिरक्तकृमिविट्कफपित्तवातम् ।
जीवच्छवं भजति कान्तमतिर्विमूढा या ते पदाब्जमकरन्दमजिघ्रती स्त्री ॥ ४५

जिस स्त्रीने आपके चरणारविन्द मकरन्दको कभी सूँघा नहीं है, वही किसी चलते-गिरते मुर्देको अपना प्यारा समझकर उसमें सुख मान सकती है। यह चलता-फिरता मुर्दा कैसा है ? इसमें है क्या ? त्वचा है, दाढ़ी है, मूँछ है, नख हैं, बाल हैं और इन्हींसे यह बँधा हुआ है। इसके भीतर क्या है ? मांस है, हड्डी है, पीव है, रक्त है, कृमि है, विष्ठा पुरुषका शरीर है।

लोग कहते हैं कि निन्दा किसीकी ठीक नहीं, न स्त्रीकी और न पुरुषकी। अरे भाई, यह निन्दा, निन्दा नहीं है। इसका उद्देश्य तो यह है कि पुरुषके प्रति स्त्रीका और स्त्रीके प्रति

पुरुषका जो यौन-आकर्षण है, लैङ्गिक आकर्षण है और जो मनुष्यको दुःख देता रहता है, उसका निवारण हो। उस दुःखसे छुड़ानेके लिए शास्त्रोंमें दोनोंके लिए दोनोंकी निन्दा आती है।

अन्तमें जब रुक्मिणीजीने कहा कि बस, मैं यही चाहती हूँ कि आपके चरणोंसे मेरी प्रीति सदा बनी रहे तब भगवान् बोले—बस-बस-बस, मैं भी तो यही सुनना चाहता था। देखो तो, तुम्हारी कैसी प्रीति है, कैसी एकान्त-निष्ठा है और कैसी अविचल भक्ति है! तुमने मेरे प्रति पातिव्रत्यका सम्पादन किया है। संसारके सुख तो नरकमें भी मिल सकते हैं। लेकिन इनको चाहता कौन है? तुमने बड़ी निष्काम प्रीति मेरे साथ की है। तुम्हारी-सरीखी गृहिणी तो सृष्टिमें कहीं मिलती नहीं हैं। तुमने सबको छोड़कर मुझसे प्रीति की है।

यहाँ एक बात ऐसी कही गयी है, जिससे यह मालूम पड़ता है कि यह विनोद बहुत बड़ी उम्रमें किया गया है, वर्णन तो क्रमसे आगया है परन्तु यह किया गया है बहुत देरसे।

भगवान् कहते हैं कि देखो, मैंने ब्याहके समय तुम्हारे भाईकी दाढ़ी-मूँछ उखाड़ ली और अनिरुद्धके विवाहोत्सवके समय तो भरी सभामें चौसर खेलते समय मेरे भाई बलरामजीने तुम्हारे भाईको मार ही डाला। लेकिन तुमने मेरे लिए अपना सारा दुःख चुप-चाप सह लिया।

देखो, बलरामजीने पहले तो श्रीकृष्णसे यह कहा था कि तुम रुक्मीसे छेड़छाड़ क्यों करते हो? ऐसा कहकर उन्होंने भगवान्‌के काममें दोष निकाला। भगवान्‌ने कहा कि अच्छा बड़े भैया, मैंने तो केवल दाढ़ी-मूँछ ही उखाड़ी है, तुम तो कभी इसका सिर ही उखाड़ लोगे। इसलिए भगवान्‌के काममें कभी दोष नहीं निकालना चाहिए।

अन्तमें श्रीकृष्णने कहा कि मैं तो तुम्हारे वशमें हूँ। तुमने मेरी प्राप्तिके लिए ब्राह्मण-दूत द्वारा अपना गुप्त सन्देश भेजा था और जब मेरे पहुँचनेमें कुछ विलम्ब हुआ तब तुमको सारा संसार सूना दिखने लगा था। तुम्हारी-सरीखी श्रीमती गृहिणी दुर्लभ है। मैं तुम्हारे सर्वोच्च प्रेम-भावका अभिनन्दन करता हूँ।

परीक्षित, भगवान् श्रीकृष्ण आत्माराम हैं। वे इसी प्रकार दूसरी पत्नियोंसे भी विनोद-प्रमोद करते हुए गृहस्थोचित धर्मका पालन करते थे।



श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि परीक्षित, भगवान् श्रीकृष्णकी पत्नियोंने दस-दस पुत्र उत्पन्न किये। वे सब अलग-अलग यही समझती थीं कि श्रीकृष्ण मेरे घरमें ही रहते हैं, मुझसे ही सर्वाधिक प्यार करते हैं। क्योंकि वे श्रीकृष्णके तत्त्वको नहीं जानती थीं—

प्रेष्ठं न्यमंसत स्वं स्वं न तत्तत्त्वविदः स्त्रियः। २

सभी स्त्रियाँ भगवान् श्रीकृष्णकी एक-एक क्रियासे, उनके सौन्दर्यसे, मुखारविन्दसे, बाहुसे, नेत्रसे, प्रेम-हास-रस-वीक्षित-वल्गुजल्पसे मोहित हो गयीं। परन्तु स्वयं उनको अपने विभ्रमसे वशमें नहीं कर सकीं! उनके किसी भी हाव-भाव या चेष्टासे भगवान्के हृदयमें काम उत्पन्न नहीं हो सका!

अब श्रीशुकदेवजी महाराज श्रीकृष्ण-पुत्रोंके नाम बताते हुए कहते हैं कि परीक्षित, रुक्मिणीसे प्रद्युम्न, चारुदेष्ण आदि दस पुत्र थे। सत्यभामासे भानु, सुभानु आदि दस पुत्र थे। जाम्बवतीसे, साम्ब, सुमित्र आदि दस पुत्र थे। सत्याके वीर, चन्द्र आदि दस पुत्र थे। कालिन्दीसे श्रुत, कवि आदि दस पुत्र थे। लक्ष्मणासे प्रघोष, गात्रवान् आदि दस पुत्र थे। मित्रविन्दासे वृक, हर्ष आदि दस पुत्र थे। भद्रासे संग्रामजित आदि दस थे। इन आठ पटरानियोंके अतिरिक्त जो षोडश सहस्र पत्नियाँ थी, उनमें रोहिणी मुख्य थीं और उनसे भी दीप्तिमान् तथा ताम्रतप्त आदि दस पुत्र थे।

रुक्मिणी-पुत्र प्रद्युम्नकी पत्नी रुक्मवतीसे, जो रुक्मीकी कन्या थी, अनिरुद्ध हुए। रुक्मिणीके भाई रुक्मीने पहले तो अपने बहनोई श्रीकृष्णसे झगड़ा कर लिया था, परन्तु बादमें उसने अपने भांजे प्रद्युम्नको बुलाकर उससे अपनी कन्याका विवाह कर दिया, जिससे कि परस्पर प्रेम हो जाय। प्रद्युम्न बड़े सुन्दर थे। इसलिए रुक्मवती भी चाहती थी कि उसका विवाह प्रद्युम्नसे हो। रुक्मीने इसमें बाधा नहीं डाली, स्वयंवरका आयोजन किया और उसमें प्रद्युम्नने रुक्मवतीका हरण कर लिया। रुक्मीने उनको उनके घर भेज दिया। प्रद्युम्नको बहिन चारुमतीका विवाह कृतवर्माके पुत्र बलिसे हो गया।

किन्तु सम्बन्धी बनानेपर भी रुक्मीका मन श्रीकृष्णकी ओरसे बहुत साफ नहीं हुआ था, अभीतक बैर बना हुआ था। उसने अपनी बहिन रुक्मिणीको प्रसन्न करनेके लिए अपनी पौत्री रोचनाका विवाह भी अपने दौहित्र अनिरुद्धके साथ कर दिया—यह जानते हुए भी कि विवाह धर्मानुकूल नहीं है!

अब आप ध्यान दीजिये—इन विवाह-सम्बन्धोंकी प्रथापर! मामा-नानाकी कन्यासे विवाह! एक बार मैंने ऐसा विवाह पण्डितराज राजेश्वर शास्त्रीजीके घरमें देखा था। मुझे

आश्चर्य हुआ और मैंने वेंकटेश्वर शास्त्रीसे पूछ लिया कि ऐसा कैसे हो रहा है ? उन्होंने तुरन्त एक वेद-मन्त्र बोल दिया—और फिर कहा कि इस मन्त्रके अनुसार दाक्षिणात्योंमें अबतक यह प्रथा प्रचलित है ! इस प्रकार हमारे शास्त्र ऐसे हैं, जिनमें कोई पक्ष छूटा नहीं है !

परीक्षित, रोचना और अनिरुद्धके विवाहमें द्वारिकासे बलरामजी, श्रीकृष्ण तथा अन्य अनेक यदुवंशी इकट्ठे हुए थे। जब विवाह सानन्द सम्पन्न हो गया तब कन्यापक्षके कलिङ्ग-नरेश आदि अभिमानी राजाओंने रुक्मीसे कहा कि हम लोग बलरामजीको ऐसे तो हरा नहीं सकते, आओ जुएमें ही हरा दें ! उससे भी हमें थोड़ा सन्तोष हो जायेगा। इस तरह हिंसाका भाव मनमें रखकर उन लोगोंने चौसर खेलनेका आयोजन किया। उसमें जीते तो बलरामजी, लेकिन वे सब बोले कि हमने जीत लिया। बलरामजीके जीतनेके सम्बन्धमें आकाशवाणी भी हुई, लेकिन तब भी वे लोग नहीं माने और बलरामजीकी हँसी उड़ाते हुए कहने लगे कि अरे ! ओ गँवार ग्वाले, तुमको राजाओंके खेलका क्या पता है !

अब तो बलरामजीको क्रोध आगया और उन्होंने चौसर खेलना छोड़कर एक परिघ, जिसे गाँवोंमें ब्योंड़ा बोलते हैं, उठाया। इस ब्योंड़ा शब्दका भारतेन्दु हरिश्चन्द्रजीने भी अपने एक दोहेमें प्रयोग किया है—

> ले ब्योंड़ा ठाड़े भये श्री अनिरुद्ध सुजान।
> बाणासुर की सेनको हनन लगे भगवान॥

बलरामजीने उसी परिघ अथवा ब्योंड़ासे उस मङ्गल-सभामें ही रुक्मीको मार डाला और उसका साथी कलिङ्ग-नरेश, जो बलरामजीका उपहास करता था, जब भागने लगा तब उसको भी पकड़कर उन्होंने उसके दाँत तोड़ दिये। जैसे शंकरजीके गण वीरभद्रने यज्ञमें दक्षकी दुर्दशा की थी, वैसे ही बलरामजीने अपने साले रुक्मीकी दुर्दशा कर डाली। जिस रुक्मीके लिए बलरामजीने पहले श्रीकृष्णको समझाया था, उसीको मार दिया।

अब श्रीकृष्णने यह देखा कि यदि हम भाईका पक्ष लेते हैं तो रुक्मिणी नाराज होंगी, प्रद्युम्न-अनिरुद्धकी बहुएँ नाराज होंगी तथा यदि रुक्मीका पक्ष लेते हैं तो भाई नाराज होंगे। इसलिए वे चुप लगा गये। कभी-कभी जीवनमें ऐसा अवसर आता है, जब कुछ न बोलना ही अच्छा रहता है।

अब इसके बाद बलराम-श्रीकृष्ण आदि बहूको लेकर भोजकट नगरसे द्वारका लौट आये और वहाँ बड़ा आनन्द हुआ।



: ६२ :

राजा परीक्षितने पूछा कि मुनीश्वर, मैंने सुना है, बाणासुरकी पुत्री ऊषासे भगवान् श्रीकृष्णके पौत्र अनिरुद्धका विवाह हुआ था—'बाणस्य तनयामूषामुपयेमे यदूत्तमः। (१) किन्तु उस विवाहको लेकर भगवान् श्रीकृष्ण और भगवान् शङ्करमें बहुत भीषण युद्ध हुआ था। कृपा करके यह वृत्तान्त मुझे सुनाइये।

यहाँ जो 'ऊषा' संज्ञा है उसमें दीर्घ ऊकार है और प्रातःकाल वाची जो 'उषा' शब्द है, उसमें ह्रस्व उकार है। जो लोग इस भेदको नहीं जानते, उनसे लिखने-पढ़नेमें गलती हो जाती है।

एक बात और है। मैंने आपको सुनाया होगा और आपने उसपर ध्यान दिया होगा कि भगवान् श्रीकृष्णने पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश इन सब तत्त्वोंका शोधन किया। यथाप्रसङ्ग ब्रह्माजी, इन्द्र और शङ्करजी पराजित हुए। इसका अभिप्राय यही है कि श्रीकृष्ण सर्वोत्कृष्ट हैं। भगवान्की सर्वोत्कृष्टता बतानेके लिए ही स्थान-स्थानपर इस प्रकारके प्रसङ्गोंका वर्णन आता है।

श्रीशुकदेवजी महाराज परीक्षितके प्रश्नका उत्तर देते हुए कहते हैं कि बाण बलिके सौ पुत्रोंमें-से ज्येष्ठ पुत्र था। बलि तो वामनके भक्त बन गये। लेकिन बाणने शङ्करजीकी भक्ति की। वह कहता था कि वामन बनकर माँगने आनेवाले, किन्तु लेते समय त्रिविक्रम बनकर सब-कुछ ले लेनेवाले देवताका भजन क्या करना? मुझे तो सीधे-सादे, भोले बाबा, आशुतोष, अवढरदानी भगवान् शङ्करका भजन करना है और वह उनका भजन करने लगा।

बाण शोणितपुरका राजा हुआ। सब-के-सब देवता लोग उसके सेवक हो गये। उसकी हजार भुजाएँ थीं। एक दिन भगवान् शङ्कर जब ताण्डव नृत्य कर रहे थे तब उसने अपने हजार हाथोंसे भाँति-भाँतिके बाजे बजाकर उनको प्रसन्न कर लिया। शङ्करजीने कहा कि अच्छा बाण, तू वर माँग ले! उसने प्रार्थना की कि महाराज, हमारे पिता बलिके पहरेदार विष्णु भगवान् बन गये तो आप हमारी नगरीके पहरेदार बन जाइये। शङ्करजीने कहा कि अरे भाई, वामन भगवान् तो अपने मनसे बन गये, वह बात दूसरी है। कोई सेवक कहे कि हम तो तान दुपट्टा सोते हैं और तुम हमारी पहरेदारी करो तो क्या यह कोई माननेकी बात है? लेकिन चलो तुम्हारी बात मान लेता हूँ।

एक दिन वह फिर अपने बल-पौरुषसे मदमत्त होकर शंकर भगवान्के पास गया और बोला कि महाराज, आपने हमको हजार भुजाएँ तो दे दीं, लेकिन कोई लड़ाई करनेवाला मिलता नहीं है। इसलिए इन भुजाओंमें बड़ी खाज हो रही है। आइये न, आपसे ही दो-दो हाथ हो जाय!

बाणने एक प्रकारसे शंकरजीको ललकार दिया। अब शंकरजीको आया क्रोध और वे

बोले कि ले जा यह ध्वजा और इसे गाड़ दे अपने नगरमें। जिस दिन यह गिर जाय, उस दिन समझ लेना कि अब तुमसे युद्ध करनेवाला आगया है। वाण उस युद्धकी प्रतीक्षा करने लगा।

परीक्षित, जैसा कि तुमको मालूम है बाणासुरकी लड़की थी ऊषा। उसका स्वप्नमें अनिरुद्धके साथ सहवास हुआ। जब स्वप्न टूट गया तब वह कहाँ-कहाँ चिल्लाती हुई उठी। उसने अपनी प्रिय सखी चित्रलेखाको बुलाया, जो बाणके मन्त्री कुम्भाण्डकी पुत्री थी। उसने उसको सारा हाल बताकर कहा कि अब तो मेरा विवाह उसीसे होगा। मुझे वही चाहिए।

चित्रलेखा योगिनी थी। वह लगी पटपर चित्र बनाने। उसने नमूनेके तौरपर बहुत-से चित्र बनाये। लेकिन ऊषा उनको अस्वीकार करती गयी। अन्तमें जब उसने श्रीकृष्णका चित्र बनाया तब ऊषा बोली कि हाँ-हाँ, इसीसे मिलता-जुलता है। जब चित्रलेखाने प्रद्युम्नका चित्र बनाया तब उसको देखकर ऊषा कुछ लज्जित हुई। लेकिन जब अनिरुद्धका चित्र देखा तब उसने कहा—यही है, यही है।

अब योगिनी चित्रलेखा रात्रिमें वैष्णवका वेश धारण करके द्वारका पहुँची। अच्छे वेशमें बुरे लोग छिप जाते हैं। रावण साधुका वेश धारण करके आया और सीताजीको हर ले गया। आजकल तो चोर-डाकू साधुओंका ही नहीं, पुलिसका भी वेश धारण कर लेते हैं। इसीसे कहते है कि—'तुलसी देखि सुवेष भूलहिं मूढ़ न चतुर नर'। वेशको देखकर कभी मोहित नहीं होना चाहिएं ?

तो, वैष्णव वेश-धारिणी चित्रलेखा घुसी द्वारकामें और योगबलसे सोते हुए अनिरुद्धको पलंग सहित उठा ले आयी। उनकी नींद खुली तो देखते हैं कि ऊषाके घरमें हैं। अब वे वहीं रहने लगे, उनको समयका पता ही न चले। दूसरोंको भी उनका पता नहीं लगा !

परन्तु ऊषाके लक्षणोंसे सेवकोंके मनमें कुछ शङ्का हो गयी। उन्होंने बाणासुरको बता दिया महाराज, आपकी कन्यामें कुछ कुल-दूषण मालूम पड़ रहा है। यह सुनकर बाण कन्याके घरमें घुस गया ! वहाँ उसने देखा कि एक भुवनैकसुन्दर, श्यामवर्ण, पीताम्बरधारी, कुंडली, किरीटी पुरुष ऊषाके साथ रह रहा है। अब उसने घेरा डाल दिया। अनिरुद्ध वह है, जिसे कोई रोक न सके। लेकिन भगवान्‌की लीला देखो कि ऊषाने अनिरुद्धको भी अपने घरमें निरुद्ध करके रख लिया।

जब अनिरुद्धने देखा कि बाणासुर अपने सैनिकोंके साथ उनको पकड़ना चाहता है, तब उन्होंने परिघ या गदा उठा लिया और उससे मार-मारकर बाणासुरके सैनिकोंको भगा दिया। लेकिन बाणासुरने उनको नागपाशसे बाँधकर पकड़ लिया और बन्दीगृहमें डाल दिया !



: ६३ :

श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि परीक्षित, द्वारकामें अनिरुद्धके लापता हुए कई महीने बीत गये। एक दिन नारदजी आये और उन्होंने आकर डाँटा कि क्यों जो, तुम्हारे यहाँ बच्चोंका कोई रजिस्टर है या नहीं? सोलह हजार एक सौ आठ तो श्रीमतियाँ, उनके दस-दस पुत्र और उन सबके भी नाती-पोते। इनमें-से एक-दो खो जाते हैं तो तुम लोगोंको पता लगता है कि नहीं?

आपको यह मालूम होगा कि श्रीकृष्णने द्वारकासे सूतकको, जो बच्चा होनेपर लगता है, निकाल दिया था। क्योंकि प्रतिदिन दो-तीन बच्चे होते रहते थे। नहीं तो इतने बच्चे कैसे होंगे? कुल सौ बरसका तो समय और उसमें ढाई लाख बच्चे हो गये। पहले एक बच्चा हुआ तो मना लिया, दूसरा हुआ तो मना लिया और तीसरा बच्चा हुआ तब भी मना लिया। किन्तु अब रोज-रोज बच्चे होंगे तो कहाँतक सूतक मनायेंगे? तब तो सन्ध्या-वन्दन, अग्निहोत्र, ब्याह, यज्ञोपवीत कुछ भी नहीं हो सकेगा और घरके सब माङ्गलिक कार्य ही समाप्त हो जायेंगे। इसलिए काशीके पण्डितोंने व्यवस्था दी होगी कि तीन बार तक यदि बच्चे पैदा हों तब तो सूतक मान लो; लेकिन जब लगातार होने लगें तब सूतक-पातक माननेसे काम नहीं चलेगा।

अब जब नारदजीसे यह पता चला कि अनिरुद्ध बाणासुरके घरमें कैद हैं तब यदुवंशियोंने बड़ी भारी सेनाके साथ चढ़ाई कर दी। उन्होंने बारह अक्षौहिणी सेना द्वारा बाणके नगरको घेर लिया और बड़ा अद्भुत रोमहर्षक संग्राम हुआ। बाणकी सेना भागने लगी। उसने अपने हजार हाथोंमें एक साथ पाँच सौ धनुष लेकर प्रत्येकपर दो-दो बाण चढ़ाये। भगवान्‌ने उन सब हाथोंको काट दिया। उसी समय बाणकी धर्ममाता कोटरा नंगी होकर दोनोंके बीचमें आगयी। भगवान्‌ने अपना मुह फेर लिया और बाण भागकर घर चला गया।

परन्तु शोणितपुरकी रक्षा करनेवाले भगवान् शंकरके भूतगणका विद्रावण होनेके कारण उनकी ओरसे तीन सिर और तीन पैरवाला शैव ज्वर बीचमें आगया। भगवान् श्रीकृष्णने जब शैवज्वरको आते देखा तब उसका मुकाबिला करनेके लिए अपना ज्वर भेज दिया।

जो शैव-वैष्णव आपसमें लड़ते हैं, वे स्वयं नहीं लड़ते; उनके भीतर जो बुखार चढ़ा रहता है, वह लड़ता है। यही शैव ज्वर और वैष्णव ज्वर है। इसमें कोई गलती हो तो क्षमा करना, लेकिन लड़नेका काम तो ज्वर ही करता है। भगवान् तो लड़नेका काम करते नहीं।

जब शैव ज्वर और वैष्णव ज्वर दोनों आपसमें लड़ने लगे तो अन्तमें वैष्णव ज्वरने शैव ज्वरको पीड़ा पहुँचायी। शैव ज्वर भगवान्‌की शरणमें आकर स्तुति करने लगा—

प्रभो, आप तो साक्षात् ब्रह्म और ब्रह्मलिङ्ग हैं। काल, देव, कर्म, जीव, स्वभाव, द्रव्य, क्षेत्र, प्राण, आत्मा, विकार, ये सब और ये लिङ्ग देह, इनके अङ्कुर सब-के-सब आपकी माया हैं—'त्वन्मायैषा तन्निषेधं प्रपद्ये' (२६)—'तस्य निषेधः अपोहः यस्मिन् तं त्वां प्रपद्ये'। आपमें

सबका निषेध है, हम आपकी शरण लेते हैं। आप बार-बार अवतार लेकर सन्तोंकी रक्षा करते हैं और मैं आपके तेजसे अत्यन्त व्यथित हो गया हूँ।

भगवान्‌ने कहा—अरे ओ त्रिशिर, मैं तेरे ऊपर प्रसन्न हो गया हूँ। अब तुम वैष्णव ज्वरसे नहीं डरो। यह सुनकर माहेश्वर ज्वर भगवान्‌को प्रणाम करके चल गया।

इसी बीचमें वहाँ बाणासुर आगया और वह भगवान्‌से युद्ध करने लगा। भगवान् अपने चक्रसे उसके हाथोंको वैसे ही काटने लगे जैसे कोई कुल्हाड़ीसे पेड़की डालीको काटता हो। अब वहाँ भगवान् शंकर प्रकट हो गये और श्रीकृष्णकी स्तुति करने लगे—

त्वं हि ब्रह्म परं ज्योतिर्गूढं ब्रह्मणि वाङ्मये। यं पश्यन्त्यमलात्मान आकाशमिव केवलम्॥ ३४

आप परब्रह्म हैं, परम ज्योति हैं, वेदवाणीमें गूढ हैं। जब साक्षात् अपरोक्ष वस्तु अज्ञात हो तो वह साक्षी, द्रष्टा, स्वतःसिद्ध, अपना आत्मा होते हुए भी उसको सिद्धि नहीं होती। वह देश, काल, वस्तुसे अपरिच्छिन्न अद्वय है—यह बात वेदवाणीसे ही मालूम पड़ती है। इसके अतिरिक्त उसको मालूम करनेका और कोई तरीका नहीं है। ब्रह्म तो छिपा है। जिसका अन्तरात्मा निर्मल हो जाता है, वही इस आकाशके समान केवल वस्तुको देखता है।

इसके बाद भगवान् शङ्करने विराट् रूपसे स्तुति करते हुए कहा कि नभ ही आपकी नाभि है, अग्नि ही आपका मुख है और जल ही आपका रेत है। द्यौ आपका शीर्ष है और दिशाएँ आपके कर्ण हैं। इस विराट् रूपमें आप ही स्थित हैं और आप ही धर्म-रक्षणके लिए अवतार लेते हैं। आप अद्वितीय हैं, सर्व विषयोंको प्रकाशित करते हैं। जो मनुष्य-शरीर प्राप्त करके आपके चरणारविन्दका आदर नहीं करता वह वञ्चक है। हम सब आपके अधीन हैं।

इस प्रकार भगवान् शङ्करने स्तुति करके श्रीकृष्णसे कहा कि यह बाणासुर मेरा बड़ा प्यारा है, अनुवर्ती है और मैं इसको अभय दे चुका हूँ। इसलिए आप इसको मारिये मत !

भगवान् श्रीकृष्णने कहा कि शङ्करजी, हम दोनोंके हृदय एक हैं—'शिवस्य हृदयं विष्णुः विष्णोश्च हृदयं शिवः'। शिवके हृदयका नाम विष्णु है विष्णुके हृदयका नाम शिव है। जो भेद-दर्शी हैं, वे विमूढ हैं। बाणासुर मेरे लिए भी अवध्य है क्योंकि मैंने प्रह्लादको वर दे दिया है कि मैं तुम्हारे वंशके दैत्योंको नहीं मारूँगा। मैंने इसका घमण्ड चूर करनेके लिए ही इसके हाथ काट दिये हैं। अब जैसे मेरे चार हाथ हैं, वैसे ही इसके भी चार हाथ रहेंगे। शिवजी, आप हमारे मालिक हैं और मैं तथा बाणासुर दोनों चार-चार हाथ करके रहेंगे।

इसके बाद ऊषा और अनिरुद्धका विवाह हुआ और दोनोंको लेकर भगवान् द्वारकामें आगये। जो शङ्करके साथ श्रीकृष्णके युद्ध और श्रीकृष्णकी विजयका प्रातःकाल उठकर स्मरण करता है, उसकी पराजय नहीं होती। ॐ

श्रीशुकदेवजी-महाराज कहते हैं परीक्षित, एक दिन यदुवंशी राजकुमार घूमने-खेलने उपवनमें गये। वहाँ जब उनको प्यास लगी तब वे एक कूँएँके पास गये। वहाँ उनको मिल गया एक गिरगिट। उनके मनमें आया कि वे उसको निकाल दें। उन लोगोने बड़ा उद्योग किया, परन्तु वह नहीं निकला। जब भगवान्‌ने आकर बाँयें हाथसे उसको छू दिया तब वह निकल गया और उसका गिरगिट रूप छूट गया। भगवान् उसको जानते तो थे, परन्तु उन्होंने पूछा कि तुम कौन हो ? यह बताओ कि तुम इस दशामें क्यों पड़े हुए थे ?

उसने भगवान् श्रीकृष्णको नमस्कार किया और बताया कि महाराज, मैं इक्ष्वाकु-पुत्र राजा नृग हूँ। आपके सामने वन्दीजनोंने, भाटोंने, पुराण-प्रवक्ताओंने कभी कथा सुनायी होगी तो उसमें मेरा नाम आया होगा—

दानिष्वाख्यायमानेषु यदि ते कर्णमस्पृशम्। १०

दानियोंके नाम सुनते समय शायद मेरे नामने आपके कानको छू लिया होगा। आपसे क्या अविदित है महाराज, मैंने इतनी गौयें दान की थीं कि उनकी गिनती नहीं हो सकती। सभी गौयें पयस्विनी, तरुणी, शीलगुणोपपन्ना और कपिला थीं। मेरा दान श्रद्धायुक्त भी था।

देखो, कभी-कभी दान देनेवालेसे अनजानेमें ही ऐसी क्रिया हो जाती है, जिसको वह खुद नहीं पहचान पाता। किसीने एक-एक रुपयेके पाँच नोट निकाले, उनको बायें हाथमें लिया और उनमें-से जो सबसे मैला नोट था, वह ब्राह्मणको दे दिया। उसको एक रुपया तो दे दिया, लेकिन यदि देनेवालेके हृदयमें प्रीति होती तो जो सबसे अच्छा नोट होता, वह देता। हम यह नहीं कहते कि एककी जगह दो दो लेकिन जो भी दो श्रद्धा और प्रीतिके साथ दो। श्रद्धा-प्रीति सहित दिया दान बिल्कुल दूसरे ढंगका होता है।

यह सोचना बिल्कुल गलत है कि जब सामनेवालेको जरूरत होगी, तब हम दान करेंगे। दान अपनी जरूरतसे दिया जाता है। जब दिये बिना दिल नहीं मानता तब दान होता है। यह नहीं कि कोई आदमी गरीब है, दरिद्र है तब हम उसको दान दें। हृदयमें जो पीड़ा होती है, उसको मिटानेके लिए दान होता है। सेठ-साहूकार लोग अपनेको पैसेवाला तो मानते ही हैं, साथ-साथ बड़ा भारी धर्मज्ञ भी मानते हैं। परन्तु धर्मकी छाया तो बहुत दूर निवास करती है, वह गुरुगम्य है, सम्प्रदाय-गम्य है।

राजा नृगने बताया कि प्रभो, मैंने बड़े-बड़े दान दिये। लेकिन एक ब्राह्मणको दान की हुई गाय हमारी गायोंमें आकर मिल गयी और मैंने उसे दूसरे ब्राह्मणको दान दे दिया। दोनों ब्राह्मण न्यायके लिए मेरे पास आये। मैंने एकसे कहा कि लाख गायें ले लो !

देखो, बाल्मीकि-रामायणमें यह कथा बहुत बढ़िया ढंगसे आयी है। उसमें कहा गया है

कि अपराध नृगका नहीं था, गाय चोरीसे नहीं आयी थी। जो लाखोंका गोदान करता है, उसकी कोई गाय कभी-न-कभी दूसरी गायोंमें मिल सकती है। नृगका अपराध यह था कि उन्होंने न्याय देनेमें बड़ा भारी विलम्ब किया। बेचारे दोनों ब्राह्मण उनके दरवाजेपर कई दिनों तक पड़े रहे। लेकिन वे उनसे मिले ही नहीं।

बाल्मीकि-रामायणके अनुसार यदि राजाके सामने कोई झगड़ा आजाय तो उसका काम है कि झटपट उसको निबटा दे, जिससे कि फरियादीका मन ज्यादा झगड़ेमें न पड़ा रहे। उसको जल्दी शान्ति मिल जाय। जो राजा न्यायको लटकाकर लोगोंके हृदयमें अशान्तिकी स्थापना करते हैं, वे शान्ति-दाता, प्रजाका एजन करनेवाले राजा नहीं हैं। यही राजा नृगने किया और इसीलिए उनको गिरगिट हो जाना पड़ा।

राजा नृगने कहा कि मैंने उन ब्राह्मणोंसे बहुत अनुनय-विनय की, परन्तु वे नहीं माने और चले गये। अन्तमें आयु समाप्त होनेपर मैं मर गया। यमराजने पूछा कि पहले शुभ कि अशुभ ? मैंने कहा अशुभ। उसके अनुसार मैं गिरगिट होकर कूँएँमें गिर पड़ा।

प्रभो, आपकी यह लीला है कि बड़े-बड़े योगेश्वर आपका ध्यान करते हैं, फिर भी जल्दी आप उनके ध्यानमें नहीं आते। परन्तु आप मुझे गिरगिटको योनिसे छुड़ानेके लिए मेरी आँखोंके सामने आगये। हे देव-देव, हे पुरुषोत्तम, हे जगन्नाथ, हे गोविन्द, हे नारायण, हे हृषीकेश, हे पुण्यश्लोक, हे अच्युत, हे अव्यय, मैं जहाँ कहीं भी रहूँ; वहाँ मेरा मन आपमें लगा रहे।

अन्तमें राजा नृगने अपने सिरके मुकुटसे भगवान्‌के चरणोंमें प्रणाम किया और उनकी अनुज्ञासे विमानपर चढ़कर चले गये। श्रीकृष्णका तो था यह खेल। उन्होंने कहा कि राजकुमारो आओ, आओ। सब इकट्ठे हो जाओ। जब सब पुरजन-परिजन इकट्ठे हो गये तब बोले कि देखो, ब्राह्मणकी सम्पत्ति दुर्जर है, वह कभी पचती नहीं है। उससे बड़े-बड़े राजाओंका नाश हो जाता है। हालाहल विषका नाम विष नहीं है, उसकी तो प्रतिक्रिया है; परन्तु ब्राह्मणोंका धन ऐसा विष है, जिसको कोई दवा नहीं है।

हिनस्ति विषमत्तारं वह्निरद्भिः प्रशाम्यति। ३४

विष खानेवालेको ही मारता है, आग भी जलसे शान्त हो जाती है; परन्तु जो ब्रह्म-स्वरूप अग्नि है, वह मूलसहित कुलका दाह कर देती है। यदि कोई बिना अनुज्ञाके ब्राह्मणकी सम्पत्ति ले ले तो उसके तीन वंशका नाश हो जाता है। परन्तु कोई राजाश्रयसे या हठपूर्वक ब्राह्मणका धन हड़प ले तो उसकी पहले और आगेकी दस-दस पीढ़ियाँ नष्ट हो जाती हैं।

इसलिए भगवान्‌ने कहा कि हमारे वंशमें ऐसा कोई नहीं होना चाहिए, जो ब्राह्मणकी सम्पत्ति हड़प ले। ऐसा उपदेश अपने घरके लोगोंको करनेके बाद भगवान् अपने मन्दिरमें चले गये। ॐ

श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि परीक्षित, एक बार बलरामजीके मनमें यह बात आयी कि मैं व्रजमें चलकर अपने संगी-साथियोंसे मिल आऊँ।

देखो, वैसे तो कभी-कभी श्रीकृष्ण भी द्वारिकासे व्रजमें गये हैं, जिसका संकेत भागवतमें इस प्रकार मिलता है—'कुरून् मधून् वाथ सुहृद्दिदृक्षया'। द्वारिकावासी कभी-कभी श्रीकृष्णसे कहते हैं कि आप मधुदेशमें, मधुपुरीमें जाते हैं। विष्णुपुराण और पद्मपुराणके एक-एक अध्यायमें भगवान्के पुनः व्रजमें आनेका वर्णन लिखा है। पर बलरामजीकी व्रजयात्राका प्रसंग केवल भागवतमें ही है!

तो, जब बलरामजी रथपर सवार होकर नन्दबाबाके व्रजमें आये तब सब उनसे मिले, उनका आलिंगन किया। बलरामजीने नन्द-यशोदाको प्रणाम किया। वे उनको यह आशीर्वाद देने लगे कि तुम अपने छोटे भाईके साथ चिरकालतक हमारा पालन-पोषण करते रहो। उन्होंने बलरामजीको गोदमें ले लिया और आँखोंके आँसुओंसे सींच दिया। उसके बाद हँस-हँसकर बातें शुरू हुईं। सब आपसमें एक दूसरेका हाथ पकड़ हाथ मिलावें और आलिङ्गन करें। जब प्रेमसे बलरामजी बैठ गये, तब कुशल-मङ्गलका आदान-प्रदान हुआ। सबका मन तो श्रीकृष्णमें लगा हुआ था। ग्वालोंने पूछा कि क्यों बलरामजी, आप लोगोंका कुटुम्ब-विस्तार तो बहुत बढ़ गया है, क्या कभी हमारी याद भी आती है आप लोगोंको? बड़े सौभाग्यकी बात है कि आप लोगोंने हमारे कंसादि शत्रुओंको मार दिया और अब आप लोग बड़े भारी किलेमें रह रहे हैं!

इसके बाद गोपियाँ हँसती हुई आयीं और कहने लगीं कि आप तो हमें श्रीकृष्णकी कथा सुनाइये! 'पुरस्त्रीजनवल्लभः'—(९)—नगर-नारियोंके प्राणवल्लभ प्रसन्न तो हैं न? सब उनसे प्रेम करती होंगी? क्या कभी माता-पिताकी या हमारी याद करते हैं? उनको कभी हमारी सेवाकी याद आती है? जिनके लिए हमने सब-कुछ छोड़ दिया—'दुस्त्यजान् स्वजनान्' (११)—वही हमको छोड़कर चले गये! अब भला कोई स्त्री कैसे किसी पुरुषकी वाणीपर विश्वास करेगी? वे कितने चञ्चल-चित्त हैं, कैसी मीठी-मीठी बात बनाते हैं और कैसे मुस्कुराकर देखते हैं! इसपर एक गोपीने कहा कि अरी चुप रह सखि, क्या उनकी बात करती है? हम क्या ऐसी-

वैसी हैं। अगर हमारे बिना उनका समय बीत जाता है तो हमारा समय भी उनके बिना बीत जायेगा—

किं नस्तत्कथया गोप्यः कथाः कथयतापराः।
यात्यस्माभिर्विना कालो यदि तस्य तथैव नः॥ १४

इसके बाद गोपियाँ श्रीकृष्णकी याद करके रोने लगीं। यह देखकर संकर्षण भगवान्ने, जो अनुनयमें बड़े ही कोविद हैं, उनको सन्देश सुनाया और सान्त्वना दी। उन्होंने वहाँ कई महीनोंतक प्रवास किया।

देखो, शङ्खचूड़के प्रसंगमें ही यह बात स्पष्ट हो जाती है कि व्रजमें गोपियोंके दो गुट हैं— एक बलरामजीका गुट और दूसरा श्रीकृष्णका गुट। इसलिए एक यूथ तो श्रीकृष्णके लिए व्याकुल रहता है और दूसरा यूथ बलरामजीके लिए।

इसलिए बलरामजीने अपने यूथकी गोपियोंके साथ यमुना-तटपर बड़ी क्रीड़ा की। उन्होंने यमुनाजीसे कहा कि आओ, हम तुम्हारे अन्दर स्नान करेंगे। परन्तु जब यमुनाजी नहीं आयीं तो वे उनपर हुए नाराज, उन्होंने उठाया अपना हल और बोले कि सौ-सौ टुकड़े कर दूँगा तेरे। अब तो बलरामजीको पहचान गयीं यमुनाजी। सामने आकर बोलीं कि महाराज, क्षमा करो मुझको, बड़ा अपराध हुआ मुझसे। मुझे छोड़ दो। इसके बाद भगवान् बलरामने यमुनाजीको छोड़ दिया!

आप कभी वृन्दावन जायँगे तो देखेंगे कि यमुनाजी एक ओर तो कालियदहकी तरफ, दूसरी ओर रमणरेतीकी तरफ, तीसरी ओर वंशीवटकी तरफ और चौथी ओर अक्रूर घाटकी तरफ बह रही हैं। यदि आप हमारे आश्रममें वंशीवटकी ओर मुँह करके खड़े हो जायँ तो देखेंगे कि बाँयें यमुना, दायें यमुना और सामने यमुना। वे इतनी टेढ़ी बलरामजीके हलके प्रभावसे ही हो गयी हैं। आज भी स्पष्ट दिखायी पड़ता है कि यमुनाजी बलरामजीके खीचें हुए मार्गसे बहकर उनके बल-वीर्यको प्रकट करती हैं।



अब श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि परीक्षित, जब बलरामजी नन्दव्रजमें निवास कर रहे थे, तभी करूषदेशके स्वामी राजा पौण्ड्रकने द्वारिकामें श्रीकृष्णके पास दूत भेजकर कहलाया कि असली कृष्ण तो मैं हूँ, तुम नकली कृष्ण हो। बात यह है कि जी-हजूरों, चापलूसों, चाटुकारोंने उसको बढ़ा-चढ़ा दिया था। इसलिए वह स्वयंको कृष्ण समझने लगा था। इसीलिए उसने श्रीकृष्णके पास खबर भेज दी कि मैं ही वासुदेव हूँ, तुम मेरा नाम छोड़ दो, मेरी शरणमें आ जाओ और अपने सब चिह्न छोड़ दो।

यह बात जब द्वारिकामें पहुँची तब वहाँ सब लोग बहुत हँसे, बहुत हँसे। श्रीकृष्णने पौण्ड्रक-दूतसे कहा—अपने मतिमन्द राजासे कह देना कि मैं अपना चक्र-चिह्न केवल तुम्हारे ही ऊपर नहीं छोड़ूँगा, तुम्हारे उन साथियोंपर भी छोड़ूँगा, जिनके बहकावेमें आकर तू इतना बहक रहा है।

इसके बाद श्रीकृष्ण अपने रथपर चढ़े और उन्होंने पौण्ड्रकपर चढ़ाई कर दी। पौण्ड्रकने भी काशी-नरेशकी सहायता ली और श्रीकृष्णका नकली रूप ग्रहण करके सामने आगया।

पौण्ड्रकने श्रीकृष्णका जो नकली रूप बनाया था, वह सब लकड़ीका था। उसने लकड़ीके दो हाथ बनवा लिये थे, लकड़ीका ही गरुड़ बनवा लिया था और शङ्ख-चक्र-गदा आदि भी लकड़ीके ही बनवाये थे। श्रीकृष्णने जब उसको देखा तो पहले तो खूब हँसे, बादमें कहा कि तूने मेरे पास चिह्न छोड़ देनेकी खबर भेजी थी, इसलिए अब मैं अपने चिह्न तुम्हारे ऊपर छोड़ रहा हूँ और तूने झूठमूठ मेरा नाम रख छोड़ा है, उसको भी छुड़वाता हूँ। यह कहकर श्रीकृष्णने अपने चक्रसे पौण्ड्रकका सिर काट दिया और उसके पक्षपाती साथी काशीपतिका सिर भी काटकर काशीपुरीमें फेंक दिया। उसके बाद भगवान् श्रीकृष्ण द्वारिका लौट गये।

यहाँ यह बात बतायी गयी है कि कोई कामसे, क्रोधसे, मोहसे, लोभसे, किसी भी भावसे भगवान्की याद करे तो उसका कल्याण हो जाता है। पौण्ड्रकने इस दम्भसे कि मैं भगवान् हूँ, तन्मय होकर श्रीकृष्णका स्मरण किया था। जो लोग दोष-दुर्गुणको स्वीकार करके, काम, क्रोध, लोभ, मोह, दम्भसे भगवान्का भजन करते हैं, उनको जिन्दगीभर तो हृदयमें जलन रहती है, लेकिन मरनेके बाद वे मुक्त हो जाते हैं।

अब जब काशीमें राजमहलके द्वारपर लोगोंने अपने नरेशका कटा सिर देखा तो वे हाय-हाय करने लगे। काशिराजके पुत्रने अभिचार करवाया, जिससे कृत्या राक्षसी उत्पन्न हुई। वह द्वारकाको जलानेके लिए गयी। द्वारकावासी उससे डर गये, जलने लगे। यह देखकर भगवान् श्रीकृष्णने कृत्यापर अपना चक्र फेंका, चक्रने कृत्याका पीछा किया और कृत्याने भागकर काशीको ही जला दिया। उसके बाद भगवान्का चक्र भगवान्के पास द्वारका लौट गया। इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्णकी अनेकों लीलाएँ हैं।



श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि परीक्षित, द्विविद नामका एक वानर था, जो नरकासुरका बड़ा भारी मित्र था।

जिसमें उभय-कोटि-अवगाही ज्ञान हो, उसको द्विविद बोलते हैं। उभकोट्यवगाही ज्ञान होता है संशय—कभी इस किनारे तो कभी उस किनारे, कभो देवताओंसे मेल तो कभी असुरोंसे मेल। इसकी विद्या दो कोटि, दो कक्षाका स्पर्श करती है। इसीलिए यह चञ्चलप्रकृति वानर भी है। क्योंकि वानरमें भी तो 'वा' लगा हुआ है।

द्विविद वानर भी था, संशयग्रस्त भी था। वह अपने मित्र भौमासुरकी ओरसे गाँवोंमें आग लगाता, उनको पानीमें डुबाता, ऋषि-मुनियोंके आश्रमोंको नष्ट-भ्रष्ट करता और लोगोंको गुफाओंमें बन्द कर देता।

एक बार जब बलरामजी महाराज रैवत पर्वतपर क्रीड़ा कर रहे थे, तब द्विविद वहाँ आकर उपद्रव करने लगा और कलशपर पत्थर फेंकने लगा। यह देखकर बलरामजीको क्रोध आगया और उन्होंने अपने हल-मूसलको याद की।

देखो, भगवान् बलरामजीका हल क्या है? वे भगवान् संकर्षण हैं और शिवजी इनको आराधना करते हैं। जब भगवान् शेष संकर्षण बन गये और संकर्षण बलराम बन गये तो शिव अर्थात् हर—हल बनकर उनके हाथमें आगये। हर ही हल है। 'रलयोः अभेदः'—जो हरमें रेफ है, वही हलमें ल है।

बलरामजीने भीषण युद्धके बाद द्विविदको हलमें फँसाया और मूसलसे उसका सिर फोड़ दिया, उसको मार डाला। अब तो देवता लोग जय-जयकार बोलने लगे और बलरामजी द्वारकामें आगये।



: ६८ :

श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि परीक्षित, भगवान् श्रीकृष्णके पुत्रोंमें जाम्ववती-नन्दन साम्ब शूरवीर तो थे ही, बड़े सुन्दर और मधुर भी थे। यही एक ऐसे पुत्र थे, जिनकी उत्पत्तिके लिए भगवान् श्रीकृष्णने सूर्यकी आराधना की थी। साम्बपुराणमें इनकी बड़ी विचित्र कथा आती है।

एक बार साम्बने सोचा कि कौरव-पाण्डव लोग जब देखो तब हमारे वंशकी लड़की उठा ले जाते हैं। इसलिए इनसे कुछ तो बदला लेना चाहिए। यह सोचकर वे स्वयं दुर्योधनकी कन्या लक्ष्मणाको उठा लाये। इसपर कौरवोंने कहा कि यह बड़ा उद्दण्ड, निर्मर्याद बालक है, हमारे वंशकी लड़कीका हरण करता है, बाँध लो इसको। यदि इसकी सहायताके लिए यादव आयेंगे तो हम लोग उनका भी घमण्ड तोड़ देंगे। साम्बने उनसे अकेले ही बड़ा भारी युद्ध किया। लेकिन कर्ण, शल, भूरि, यज्ञकेतु, दुर्योधन आदि सबने मिलकर साम्बको बाँध लिया और उनके साथ लड़कीको लेकर अपने घरमें लौट आये।

जब द्वारकामें बहुत दिनों तक साम्बका अता-पता नहीं चला तब नारदजी महाराज ही आये और उन्होंने बताया कि तुम्हारा बेटा कौरवोंने कैद कर रखा है, उनपर तुरन्त चढ़ाई करके साम्बको छुड़ा लाओ। बलरामजीने कहा कि अरे दुर्योधन तो मेरा चेला है, मुझसे गदायुद्ध सीख चुका है, मैं जो कहूँगा, वह मान लेगा। वे ब्राह्मणों, कुलवृद्धों और उद्धवजीको साथ लेकर हस्तिनापुर गये। परन्तु वे लोग कौरवोंके घर नहीं गये, एक बगीचेमें बैठ गये और उद्धवके द्वारा कौरवोंके पास सन्देश भेज दिया।

कौरव लोग भेंट-पूजा लेकर आये, कुशल-मंगल हुआ। उसके बाद बलरामजीने कौरवोंसे बड़ी शानके साथ बात की। उनकी बातमें तनिक भी दीनताका लेश नहीं था। उन्होंने कहा—राजराजेश्वर भगवान् उग्रसेनने आप लोगोंके लिए जो आज्ञा की है, उसको आप लोग सावधान होकर सुनिये और अविलम्ब उसका पालन कीजिये—'कुरुध्वं माविलम्बितम्' (२१)। आप लोगोंमें-से बहुतोंने एक साथ मिलकर अधर्मपूर्वक हमारे बालक साम्बको बाँध लिया है। इनको हम लोगोंने इसलिए सहन किया है कि हम लोगोंमें मैत्री बनी रहे।

अब तो बलरामजीको इस बातपर कौरव लोग चिढ़ गये और बोले कि वाह, आज तो जूती हमारे सिरपर चढ़नेको तैयार हो गयी है। हमने तुमको कुजातिसे निकालकर अपनी जातिमें मिला लिया और अपनी पाँतमें बैठाकर भोजन किया, नहीं तो यदुवंशियोंको कौन पूछता था?

एते यौनेन सम्बद्धाः सहशय्यासनाशनाः।
वृष्णयस्तुल्यतां नीता अस्मद्दत्तनृपासनाः॥ २५

अरे, तुम्हारे घरमें तो रातको बैठनेके लिए कोई गद्दी भी नहीं थी, आसन भी नहीं था। जब हम लोगोंने सिंहासन भेजा, तबसे तुम लोग उसपर बैठने लगे। चामर, व्यजन हमने भेजा, मुकुट बनवाकर हमने भेजा—

किरीटमासनं शय्यां भुञ्जन्त्यस्मदुपेक्षया। २६

उनको तुम लोग इसीलिए पहनते हो कि हम लोग उनकी उपेक्षा करते हैं। अब तुम लोगोंका अभिमान इतना बढ़ गया कि हम लोगोंपर ही हुकुम चलाने लगे। भला, जहाँ भीष्म, द्रोण, अर्जुन है, वहाँ उनको कौन आज्ञा दे सकता है? तुम यदुवंशी लोग होते ही कौन हो?

अब जब कौरवोंकी ओरसे ऐसा उत्तर मिला तब बलरामजीको आया क्रोध। उन्होंने कहा कि ये तो शान्ति नहीं चाहते। दुष्ट हो गये हैं, इसलिए इनको दण्ड देना चाहिए। मैं तो द्वारकामें कृष्णको शान्त करके यहाँ आया और ये ऐसे-ऐसे कटुभाषण कर रहे हैं। बड़े-बड़े लोकपाल जिनकी आज्ञाका पालन करते हैं, वे महाराज उग्रसेन तो इनके लिए राजा नहीं हैं और श्रीकृष्ण, जिन्होंने कल्पवृक्षको स्वर्गसे ले आकर धरतीपर स्थापित कर दिया और लक्ष्मी जिनके चरणोंकी उपासना करती हैं, इनकी दृष्टिमें राज्यासनपर बैठने लायक नहीं हैं। हम लोग इनके जूते हैं और ये लोग सिर हैं। अच्छा, चखाता हूँ मजा इनको।

यह कहकर भगवान् बलरामने अपने हलका स्मरण किया और कहा कि चल-रे-चल! इतना कहते ही हल तुरन्त आसमानसे सामने आकर खड़ा हो गया। बलरामजीने बायें हाथसे उसको पकड़ा। मूसलको कहा कि अभी तू ठहर जा, केवल हलसे ही काम चल जायेगा। अब तो बलरामजीके हाथमें हल देखकर सब डर गये, हस्तिनापुर डगमगा गया और लगने लगा कि वह गङ्गामें डूब जायेगा।

देखो, हस्तिनापुर गङ्गाके तटपर ही है। जब कर्णवाससे गङ्गाके किनारे-किनारे हरद्वारकी ओर जाते हैं तब रास्तेमें हस्तिनापुर पड़ता है। उसको हस्ती नामक राजाने बसाया था। परीक्षितगढ़ भी उधर ही है। ये सब आज भी गङ्गातटके पुण्यतीर्थ हैं।

तो, जब हस्तिनापुरके गङ्गाजीमें डूबनेकी स्थिति उत्पन्न हो गयी तब सब कौरव बलरामजीके शरणापन्न हुए। उन्होंने बलरामजीसे अपने अपराधका क्षमापन किया, क्षमा माँगी। फिर दुर्योधनने अपनी कन्या लक्ष्मणाका साम्बके साथ ब्याह करके और उनको भरपूर दान-दहेज देकर खूब प्रेमसे विदा किया। सब लोग द्वारका पहुँचे और वहाँ बलरामजीने भरी सभामें अपना वह सारा चरित्र कह सुनाया, जो उन्होंने हस्तिनापुरमें किया था। हस्तिनापुरमें आज भी बलरामजीका बलविक्रम दिखाई पड़ता है।



: ६९ :

श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि परीक्षित, एक बार नारदजीके मनमें भगवान् श्रीकृष्णकी जीवनचर्या देखनेकी अभिलाषा हुई और वे द्वारका पहुँचे। उन्होंने सोचा कि किसीके घरमें एक स्त्रीकी जगह दो स्त्रियाँ हो जायँ तो दोनों दो ओरसे पल्ला पकड़कर खींचती हैं! यहाँ तो भगवान् श्रीकृष्णने हजारों स्त्रियोंके साथ विवाह कर लिया है, फिर उनकी क्या दशा होती होगी—

कृष्णेनैकेन बह्वीनां तद्दिदृक्षुः स्म नारदः। १

नारदजी द्वारका तो अनेक बार आते-जाते रहे हैं। लेकिन इस बार उनको वह बड़ी सुन्दर लगी। वहाँ उनको विश्वकर्माका सारा कौशल प्रकट दिखायी पड़ा। खूब चौड़ी-चौड़ी सड़कें हैं, रथवालोंके लिए अलग, पैदलवालोंके लिए अलग। बीच-बीचमें चत्वर बने हुए हैं, बगीचे लगे हुए हैं, उद्यान हैं, उपवन हैं। सब जगह जलकी, सिंचाईकी व्यवस्था है।

वहाँ भगवान् श्रीकृष्णका दिव्य अन्त:पुर है, जिसमें सैकड़ों महल बने हुए हैं। नारदजी सबसे पहले रुक्मिणीके महलमें गये। उसकी शोभाका क्या कहना। अगणित दासी-दास थे। फिर भी रुक्मिणीजी अपने हाथसे श्रीकृष्णको व्यजन डुला रही थीं। भगवान्‌ने नारदजीको देखा तो पलङ्गपरसे उठ खड़े हुए और आगे बढ़कर उनको प्रणाम किया, अपने आसनपर बैठाया और ऊनके पाँव धोये—'तच्चरणौ प्रक्षाल्य'—चरणोदकको सिरपर धारण किया। विधि-पूर्वक उनकी पूजा की। फिर कहा कि स्वामी, मैं आपकी क्या सेवा करूँ?

नारदजीने कहा कि प्रभो, आप हमसे प्रेम करते हैं, हमारा सम्मान करते हैं, यह आपका बड़ा भारी अनुग्रह है और आपकी यह लीला हमारे लिए आदर्श है। जब आपके चरणोंका दर्शन हो गया तब बाकी क्या रहा? बस, आपकी स्मृति सदा-सर्वदा बनी रहे, ऐसी कृपा आप हमारे ऊपर कीजिये।

इसके बाद नारदजी दूसरे महलमें गये तो वहाँ देखा कि भगवान् श्रीकृष्ण अपनी श्रीमतीजी और अपने मित्र उद्धवजीके साथ चौसर खेल रहे हैं। भगवान् श्रीकृष्णने नारदजीको देखते ही खेलना बन्द कर दिया और कहा कि कब आये महाराज! आप अपना प्रयोजन बताकर हमारा जन्म सफल कीजिये।

नारदजी वहाँसे चुपचाप उठकर एक-एक करके सब महलोंमें गये। उन सबमें कहीं तो भगवान् बालक खिला रहे हैं, कहीं स्नान कर रहे हैं, कहीं हवन कर रहे हैं, कहीं पञ्चमहायज्ञ कर रहे हैं, कहीं ब्राह्मण-भोजन करा रहे हैं, कहीं ब्राह्मणोंको भोजन करानेके बाद स्वयं भोजन कर रहे हैं, कहीं संध्या-वन्दन कर रहे हैं, कहीं जप कर रहे हैं और कहीं हाथमें ढाल-तलवार लेकर पैंतरे बदल रहे हैं। कहीं अर्थ-कामका सेवन कर रहे हैं, कहीं धर्मका सम्पादन कर रहे हैं, कहीं परमात्माका ध्यान कर रहे हैं, कहीं बड़ोंकी सेवा कर रहे हैं, कहीं युद्ध-कौशलकी चर्चा कर रहे हैं, कहीं सन्धिपत्रपर हस्ताक्षर कर रहे हैं, कहीं कन्याओंका विवाह कर रहे हैं, कहीं उनकी विदाई कर रहे हैं, कहीं उनको घर बुलानेकी तैयारी कर रहे हैं और कहीं प्रस्थानके लिए वेष धारण कर रहे हैं, आदि-आदि।

जब नारदजीने यह सब देखा तो विस्मित हो गये और बोले कि बस महाराज, मैंने हाथ जोड़ लिये आपकी योगमायाको। मेरे लिए तो आपकी लीलाका गान करते हुए विचरण करते रहना ही अच्छा है।

श्रीकृष्णने कहा कि नारदजी, मैं तो धर्मका कर्त्ता, वक्ता और अनुमोदिता हूँ, लोगोंको शिक्षण देनेके लिए ही इस प्रकारका आचरण करता हूँ। तुम कहीं खेद मत करना। इसके बाद नारदजी चले गये।

असलमें, भगवान्‌के इन चरित्रोंके वर्णनका तात्पर्य यही है कि उनकी भक्ति हमारे हृदयमें आये। भगवद्भक्तिके लिए उनके चरित्रको श्रवण करनेके अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है। जैसे सुगन्धित चीजको नाकसे सूँघनेपर, स्वादिष्ट चीजको जीभसे चखनेपर और सुन्दर चीजको आँखोंसे देखनेपर उसके प्रति अपने-आप ही प्रीति उत्पन्न हो जाती है, वैसे ही बार-बार श्रवण करनेपर अनदेखी चीजके प्रति प्रीति उत्पन्न हो जाती है। इसलिए जो श्रीकृष्ण-कथाका गान, श्रवण, अनुमोदन करता है, उसको भगवान्‌के प्रति भक्ति होती है।



श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि परीक्षित, जब प्रातःकाल होता तब भगवान् श्रीकृष्णको श्रीमतियाँ अपने दोनों हाथोंसे उनका गला पकड़ लेतीं और कहतीं कि ये मुर्गे कितने बुरे हैं, जो सोते समय ही बाँग देने लगते हैं—'कुक्कुटान् कूजतोऽशपन्' (१)। इसी तरह जब पक्षी अपने मधुर कलरव द्वारा बन्दीजनके समान भगवान्को जगाने लगते, तब वह रुक्मिणी आदिको पसन्द नहीं आता। लेकिन फिर भी भगवान् श्रीकृष्ण उनके मोहमें न पड़कर पलङ्गपर पड़े नहीं रहते, ठीक समयपर ब्राह्ममुहूर्तमें उठ जाते थे—'ब्राह्मे मुहूर्त उत्थाय वार्युपस्पृश्य माधवः'। (४)

देखो, मनुजीका भी यही कहना है कि आप ईश्वर-चिन्तनकी बात तो छोड़ दीजिये, उसके लिए तो ब्राह्म-मुहूर्त सर्वथा उपयोगी है ही, यदि आपको अर्थ अथवा धर्मका भी चिन्तन करना है तो आप ब्राह्म-मुहूर्तमें उठकर कीजिये। रात्रि विश्रामके बाद ब्राह्म-मुहूर्तमें उठनेपर बुद्धि बहुत शुद्ध रहती है और अच्छी-से-अच्छी बात आपके मनमें स्फुरित हो जाती है—

ब्राह्मे मुहूर्ते बुध्येत धर्मार्थौ चानुचिन्तयेत्।
कायक्लेशांश्च तन्मूलान्वेदतत्त्वार्थमेव च॥ म० स्मृ० ४.९२

आपको यदि कोई रोग हो रहा है तो पहले आप डॉक्टर-वैद्यके पास न जाकर ब्राह्म-मुहूर्तमें उठकर विचार कीजिये कि वह रोग आपको क्यों हो रहा है, आपसे ऐसी क्या गलती हो गयी, जिससे कि यह रोग आपके शरीरमें आगया है? आपको उत्तर मिल जायेगा। हर हालतमें सूर्योदयके समय सोना नहीं चाहिए, ब्राह्ममुहूर्तमें उठ जाना चाहिए।

तो, भगवान् श्रीकृष्ण भी ब्राह्ममुहूर्तमें उठ जाते, उठकर हाथ-पाँव धो लेते और फिर प्रसन्न-इन्द्रियसे परमात्माका ध्यान करते—

एकं स्वयंज्योतिरनन्यमव्ययं स्वसंस्थया नित्यनिरस्तकल्मषम्।
ब्रह्माख्यमस्योद्भवनाशहेतुभिः स्वशक्तिभिर्लक्षितभावनिर्वृतिम्॥ ५

परमात्माका ध्यान क्या है? परब्रह्म परमात्मा एक है, जिसमें सृष्टिका अन्वय-व्यतिरेक है। 'एति इति एकः'—'इण् गतौ' धातुसे 'एक' शब्द बनता है। जो अन्वय और व्यतिरेकके द्वारा सत्रमें परिपूर्ण है, जिसके बिना कुछ नहीं, परन्तु सबके बिना जो रहता है, वह एक है।

५२

एक है और स्वयं है-का अर्थ है कि दूसरेसे उसकी सिद्धि नहीं होती। वह प्रकाश-स्वरूप स्वयं ज्योति है और उसमें दूसरी कोई वस्तु नहीं है। उसमें विनाश नहीं है और कोई पाप-पुण्य भी नहीं है। श्रुतिने कहा है—

अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात् कृताकृतात्।
अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत् पश्यसि तद्वद ॥ कठ उप० १.२.१४

उसमें न तो कार्य-कारण है, न साधन-साध्य है, न धर्माधर्म है, न पाप-पुण्य है और न भूत-भव्य है।

ऐसा जो परब्रह्म परमात्मा है, उसका ध्यान श्रीकृष्ण पहले कर लेते, उसके बाद उठकर स्नान आदि करते, वस्त्र धारण करते। बादमें सन्ध्यावन्दन, अग्निहोत्र करते। फिर मौन होकर जप करते।

देखो, मैंने ऐसा देखा है कि लोग माला भी फेरते जा रहे हैं और बात भी करते जा रहे हैं। ऐसा नहीं करना चाहिए। माला मौन होकर ही फेरनी चाहिए, जिससे कि मन-वाणीका प्रवाह भगवान्‌की ओर लगा रहे।

जपके बाद भगवान् सूर्योपस्थान करते। देव, ऋषि, पितरोंका तर्पण करते। वृद्ध ब्राह्मणोंका सेवन करते। फिर खूब गोदान करते। गोदान करनेमें उनकी बड़ी रुचि थी। उससे ब्राह्मण लोग प्रसन्न होते हैं—

धेनूनां रुक्मशृङ्गीणां साध्वीनां मौक्तिकस्रजाम्।
पयस्विनीनां गृष्टीनां सवत्सानां सुवाससाम् ॥ ८

भगवान् श्रीकृष्ण ब्राह्मणोंको 'बद्वं बद्वं दिने-दिने' (९)—प्रतिदिन तेरह हजारसे भी अधिक गौयें, वस्त्राभूषणोंसे सुसज्जित करके दान करते। गाय, ब्राह्मण, देवता, वृद्ध सबकी भक्ति करते। मङ्गल वस्तु देखते। अपना शृङ्गार करते। इसके बाद घृत-पात्रमें अपना मुँह देखते और वह किसीको दे देते। शीशेमें भी अपनेको देखते। सबकी इच्छा पूरी करते। पहले दूसरोंको खिलाकर तब खाते।

सुहृदः प्रकृतीर्दारानुपायुङ्क्त ततः स्वयम्। १३

भगवान् पुष्पमाला, ताम्बूल, अङ्गराग आदि पहले ब्राह्मणोंको देते, उसके बाद मित्रोंको देते, उसके बाद प्रजाको देते, उसके बाद पत्नीको देते और उसके बाद अपने लिए रखते। वे बराबर इस बातका ख्याल रखते कि पहले ब्राह्मणोंको, फिर मित्रोंको, फिर मन्त्रियोंको, फिर

पत्नियोंको भोजन मिल गया कि नहीं ? अपना नम्बर सबके बादमें रखते थे। इससे यह शिक्षा मिलती है कि पुरुषके पहले पत्नीके भोजनादिकी व्यवस्था करनी चाहिए।

इसके बाद सारथि रथ लेकर आता और भगवान्‌को प्रणाम करके खड़ा हो जाता। स्त्रियाँ उनको घरसे जाने देना नहीं चाहतीं। परन्तु भगवान् हँसते-हँसते और उनके मनको हरण करते सुधर्मा-सभामें चले जाते।

सुधर्मा-सभा ऐसी है, जहाँ काम-क्रोधादि नहीं हैं। वहाँ बड़े-बड़े वीर पुरुष उपस्थित होते हैं। ऐसा नहीं समझना कि वहाँ बड़ा गम्भीर वातावरण होता है। सुधर्मा-सभामें केवल गम्भीर वातावरण ही नहीं होता। वहाँ तो अनेक प्रकारके हास्य-विनोद भी होते हैं, क्योंकि हँसनेसे बुद्धि निर्मल होती है। सुधर्मा-सभामें नट लोग स्वाँग करते। नर्तकियाँ नृत्य करतीं। तरह-तरहके ताण्डव नृत्य होते।

देखो, आजकल जो सांस्कृतिक कार्यक्रम होते हैं, वे भी मनोरञ्जनके लिए ही होते हैं। मनोरञ्जन गान्धर्व-वेदका ही एक अङ्ग है। औषधियाँ आयुर्वेद है, लड़ाई-भिड़ाईकी तैयारी धनुर्वेद है। इस तरह स्थापत्यवेद, अर्थवेदकी आवश्यकता हमारी लौकिक उन्नतिके लिए है।

सुधर्मा-सभामें कभी हास्य, कभी नाटक, कभी वाद्य, कभी सङ्गीत और कभी नृत्यका आयोजन होता। कभी स्तुति होती, कभी विद्वान् ब्राह्मण वेदोंकी अथवा कभी प्राचीन कालको कोई कथा सुनाते। इस प्रकार भगवान्‌की सुधर्मा-सभा चलती।

एक दिन सुधर्मा-सभामें कोई नया व्यक्ति आया और उसने जरासन्ध-द्वारा बन्दी बनाये गये राजाओंका दुःख निवेदन किया। उसने बताया कि जरासन्धके दिग्विजयके समय जो लोग उसके सामने झुके नहीं, उनको उसने गिरिव्रजमें कैद कर रखा है। उन्होंने प्रार्थना की है कि हे कृष्ण, हे अप्रमेयात्मन्, हे प्रपन्नभयभञ्जन, हम लोग आपकी शरणमें आये हैं। उन्होंने यह भी कहा है कि हम लोग 'भवभीता पृथग्धियः' (२५)—संसारसे, जन्ममरणके चक्करसे दुःखी हैं और हमारे अन्दर भेदबुद्धि बनी हुई है। मनुष्य आपकी पूजा नहीं करता। विकर्ममें लगा रहता है। काल उसके सिरपर सवार है। राज्यमें कोई सुख नहीं, वह तो 'स्वप्नायितम्' (२८)—सपनेके समान है, परतन्त्र है, इसका तो भार ही ढोना पड़ता है। आपकी मायाके कारण हम दुःखी हो रहे हैं। उन्होंने कहा है कि यह तो हमारे कर्मका पाश है, फन्दा है—'मगधाह्वयकर्मपाशात्' (२९)। सब अपने-ही-अपने कर्मका फल भोग रहे हैं। भगवन्, आपने सत्रह बार जरासन्धको हरा दिया। अट्ठारहवीं बार उसने आपको जीत लिया। अब हम लोगोंको बहुत दुःख दे रहा है। इसलिए हम आपके चरणोंकी शरणमें आये हैं। हमारा कल्याण कीजिये!

परीक्षित, दूतके द्वारा यह सब सुनकर भगवान् शरणागतोंकी रक्षाके लिए कोई निर्णय लेने ही जा रहे थे तबतक नारदजी वहाँ आगये। उनको देखते ही भगवान् उठकर खड़े हो गये, उनके चरणोंमें सिर डालकर उनकी वन्दना की और फिर बोले कि नारदजी तीनों लोकोंमें कुशल-मङ्गल तो है न! भगवान्‌ने नारदजीसे उनका कुशल-मङ्गल नहीं पूछा—

न हि तेऽविदितं किंचिल्लोकेष्वीश्वरकर्तृषु। ३६

यही कहा कि ईश्वरकी रचनामें आपको कुछ भी अविदित नहीं है। इसलिए 'त्रयाणाम-कुतोभयम्'—तीनों लोकोंका कुशल-मङ्गल सुनाइये। विशेष रूपसे यह बताइये कि पाण्डव लोग इस समय क्या करना चाहते हैं?

नारदजीने कहा कि हे अनन्त, सारी दुनियामें मैं आपकी माया देखता फिरता हूँ। उसको ठीक-ठीक कौन समझ सकता है? आप भूत, भविष्य, वर्तमानसे बिल्कुल विलक्षण होकर भी इस वर्तमान प्रपञ्चके रूपमें भास रहे हैं। लेकिन जैसे दिखते हैं, वैसे नहीं हैं, उससे बिल्कुल न्यारे हैं। यह जीव आपको न जाननेके कारण संसारमें इधर-उधर भटक रहा है। आप अवतार लेकर उसको अपने यशका ज्ञान कराते हैं।

आप युधिष्ठिरकी बात जानना चाहते हैं तो सुनिये! इस समय उनके मनमें यह है कि वे राजसूय-यज्ञके द्वारा आपकी आराधना करना चाहते हैं। उसमें सब राजा और ऋषिमुनि इकट्ठे होंगे। आपके श्रवण, कीर्तन, ध्यानसे अन्त्यज भी पवित्र हो जाते हैं। लेकिन जब आपका साक्षात् दर्शन मिले, तब तो कहना ही क्या है! आपका यश तीनों लोकोंमें प्रसिद्ध है। आपका चरणामृत तीनों लोकोंमें तीन प्रकारकी गङ्गा बनकर लोकोंको पवित्र करता है।

अब यहाँ दो प्रश्न उपस्थित हो गये कि पहले जरासन्ध द्वारा बन्दी बनाये गये राजाओंको छुड़ानेके लिए चढ़ाई कर देनी चाहिए या पहले युधिष्ठिरके यज्ञमें उनकी सहायता करनी चाहिए? भगवान् श्रीकृष्णने उद्धवजीको बुलाया और बोले कि तुम्हीं हमारे उत्तम नेत्र हो, सुहृद् हो, मन्त्रार्थतत्त्ववित् हो। इसलिए इस समय जो कुछ करने योग्य हो, वह हमें बताओ!



श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि परीक्षित, उद्धवजीने भगवान्‌की सलाह मान ली और वे उनके सामने अपने विचार प्रकट करने लगे ! उन्होंने पहले अपनी ओरसे कोई बात नहीं कही ! वहाँ जितने सभासद् थे, उनका मत जान लिया—'सभ्यानां मतमाज्ञाय'। (१)

देखो, इससे यह सिद्ध होता है कि मनुष्यको पहले अपने मनमें जो भरा हो, वह जाहिर नहीं करना चाहिए, बल्कि सबका मन जाननेके बाद जो उचित प्रतीत हो, वह करना चाहिए। उद्धवजीने पहले श्रीकृष्ण क्या करना चाहते हैं, यह जान लिया और फिर सभासदोंका मत जाननेके बाद अपने मतको प्रकट किया। जो लोग अपने ही मनका करना, समझाना और बताना चाहते हैं, वे लोग संसारके व्यवहारमें बिल्कुल असफल होते हैं। इसलिए पञ्चोंका मत जानकर, मालिकका मन जानकर तब कुछ करना चाहिए !

उद्धवजीने बताया कि हम लोगोंका कर्तव्य युधिष्ठिरको सहायता करना तो है ही, राजाओंकी रक्षा करना भी है। राजसूय-यज्ञ दिग्विजयके बिना किया नहीं जा सकता। इसलिए युधिष्ठिरके दिग्विजय-अभियानमें ही जरासन्धको जीतना, राजाओंको छुड़वाना और फिर युधिष्ठिरका यज्ञ सम्पन्न करवाना चाहिए। हमें स्वतन्त्र रूपसे जरासन्धके साथ युद्ध नहीं करना चाहिए। उधर हम उससे लड़ने चले जायेंगे और इधर युधिष्ठिर यज्ञ करने लगेंगे तो हम लोगोंमें फूट पड़ जायेगी। ऐसी स्थितिमें यही राजनीति ठीक रहेगी कि हम अपने मित्र युधिष्ठिरके लिए जरासन्धसे लड़ें। फिर उन्होंने जरासन्धपर विजय प्राप्त करनेका उपाय बताते हुए कहा कि श्रीकृष्ण, भीमसेन और अर्जुन ब्राह्मणके वेशमें वहाँ जायें और जरासन्धसे युद्धकी भिक्षा माँगें। करेंगे तो सब कुछ आप ही, भीमसेन तो निमित्त-मात्र होंगे। इसलिए आपके यशका गान सारी सृष्टिमें होगा ! जरासन्धको मारनेसे बड़े-बड़े प्रयोजन सिद्ध होंगे।

शिशुपाल-वध नामक काव्यके प्रारम्भमें ऐसा ही प्रसंग है। उसमें भी बहुत बढ़िया सलाह दी गयी है ! आजकल लोग अर्थनीति, राजनीतिके नये-नये ग्रन्थ ढूँढ़ते हैं। लेकिन हमारे महाभारतमें इन विषयोंका ऐसा सुन्दर निरूपण हुआ है कि क्या कहना। कहा गया है कि 'बृहत्सहायः कार्यान्तम् क्षोदीयानपि गच्छति' (शिशुपालवध २.१००)—यदि एक छोटे-से-छोटा आदमी भी अपनेसे बड़ेकी मदद ले ले तो वह अपने काममें सफलता प्राप्त करता है। पहाड़में-से एक छोटा-सा झरना निकलता है और बड़ी नदीमें मिलकर उसकी सहायतासे समुद्रमें पहुँच जाता है। अतः मनुष्यको अपना काम बनानेके लिए सबको मिला-जुलाकर काम करना चाहिए।

उद्धवजीने जो कुछ कहा, वह मान लिया गया ! उसके बाद भगवान्‌ने आज्ञा दे दी कि सारी सेना, सब स्त्रियाँ, सभी सगे-सम्बन्धी, यहाँतक कि नगरकी वाराङ्गनाएँ भी इन्द्रप्रस्थ चलें ! सबने प्रस्थान किया।

श्रीकृष्णने नारदजीका पूजन किया और वे आकाश-मार्गसे प्रस्थान कर गये। उसके बाद भगवान्‌ने राजदूतसे कहा कि हम लोग जरासन्धको मारकर राजाओंको छुड़ायेंगे। राजदूत चला गया और वहाँ जाकर उसने बन्दी राजाओंको सन्देश भेज दिया।

तदनन्तर भगवान् अनेक देशोंको पार करते हुए इन्द्रप्रस्थमें युधिष्ठिरके निवास-स्थानपर पहुँचे। युधिष्ठिर श्रीकृष्णका दर्शन करके बहुत आनन्दित हुए। उन्होंने तथा भीमसेनने उनको छातीसे लगाया। नकुल, सहदेव और अर्जुन श्रीकृष्णके द्वारा आलिङ्गित हुए। उसके बाद श्रीकृष्णने युधिष्ठिर और भीमसेनको नमस्कार किया। फिर उन्होंने अर्जुनका आलिङ्गन किया और सहदेव, नकुलके द्वारा अभिवन्दित हुए। सूत, मागध, वन्दी सबने उनका सत्कार किया। बाजे-गाजे बजने लगे। घर-घरमें महोत्सव होने लगा। लोग श्रीकृष्णका दर्शन करके कहने लगे कि धन्य हैं द्वारिकावासी, जो रोज इनका दर्शन करते हैं।

कुन्ती तो वृद्धा हो गयो गयी थीं और पलंग पर बैठी थीं। पर जब उन्होंने श्रीकृष्णको देखा तब उनका हृदय प्रीतिसे भर गया और वे पलंगपरसे उठ गयीं—'प्रीतात्मोत्थाय पर्यङ्कात्' (३९)। फिर अपनी पुत्रवधू द्रौपदीके साथ आगे बढ़ीं और उन्होंने श्रीकृष्णको अपने हृदयसे लगा लिया। श्रीकृष्णका क्या सत्कार करना चाहिए, यह किसीको सूझे ही नहीं। द्रौपदी-सुभद्रा सब श्रीकृष्णसे मिलीं। रुक्मिणी आदि श्रीकृष्ण-पत्नियोंसे भी सबका मिलन हुआ। सब लोग बड़े आनन्दसे यथास्थान ठहर गये।

परीक्षित, एक बार भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनके साथ पाण्डव वनका दाह करके अग्निको प्रसन्न करनेके साथ-साथ वहाँ रहनेवाले मयासुरको बचा लिया था। उसी मयासुरने भगवान्‌की आज्ञासे पाण्डवोंके लिए दिव्य सभा तैयार की थी।

इस प्रसंगमें कहते हैं कि ब्राह्मणोंके यज्ञमें घी-बूरा खाते-खाते अग्नि देवताको अपच हो गया था। अन्तमें भगवान्‌ने उनका अजीर्ण दूर करनेके लिए यह निर्णय किया कि खाण्डव वनका दाह करो, वानस्पत्य खाओ। अतः अग्निने खाण्डव वनका दाह किया। वहाँ इन्द्रका मित्र एक सर्प था, जिसको भगवान्‌ने इन्द्रके कहनेसे छोड़ दिया। इससे इन्द्र प्रसन्न हुए और उन्होंने श्रीकृष्णसे कहा कि वर माँग लो! श्रीकृष्णने कहा कि मैं तुमसे यही वर माँगता हूँ कि अर्जुनके साथ मेरी मैत्री सदा बनी रहे। यह कथा महाभारतमें आयी है।

भगवान् श्रीकृष्ण पाण्डवोंको प्रसन्न करनेके लिए कई महीनों तक इन्द्रप्रस्थमें रहे। समय-समयपर अर्जुन आदिके साथ रथपर सवार होकर विहार करनेके लिए इधर-उधर जाते रहे।



श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं परीक्षित, एक दिन भरी सभामें, जहाँ सब बड़े-बूढ़े लोग बैठे हुए थे, धर्मराज युधिष्ठिरने सबके सामने भगवान् श्रीकृष्णसे निवेदन किया कि हे गोविन्द, हम राजसूय यज्ञके द्वारा आपकी आराधनाके साथ-साथ आपके विभूति-स्वरूप देवताओंकी भी आराधना करना चाहते हैं।

देखो, कई लोगोंका ऐसा ख्याल होता है कि यदि हम असली मालिकको प्रसन्न कर लें तो नीचेके लोगोंकी अप्रसन्नतासे भी कोई हर्ज नहीं है। परन्तु यह देखनेमें आता है कि यदि किसी बड़े आदमीके सचिव या चपरासी भी नाराज हो जायें तो उनसे मिलना मुश्किल हो जाता है। यहाँतक कि हम लोगोंके यहाँ जो सेवक हैं, वे भी किसीसे नाराज हो जायँ तो उनको हमसे मिलने या बात करनेमें कठिनाई पड़ जाती है। इसलिए भगवान्‌का भजन करना हो तो उनको विभूतियोंको भी, पार्षदोंको भी प्रसन्न करना चाहिए। जो वैष्णवगण हैं, वे तो भगवान्‌के खास हैं, इनको कभी नाराज नहीं होने देना चाहिए।

धर्मराज युधिष्ठिरने कहा कि जो लोग आपके चरणारविन्दकी पूजा करते हैं, उन्हें मोक्षको भी प्राप्ति होती है और उनकी सांसारिक अभिलाषा भी पूरी होती है। अन्यथा लोग व्यर्थ ही चक्रवर्ती बने फिरते रहते हैं। हम संसारको यह दिखाना चाहते हैं कि आपकी आराधना करनेवालों और न करनेवालोंमें क्या फर्क होता है। वैसे तो आप समदर्शी हैं, सर्वात्मा हैं, आपमें अपने-परायेका भेद नहीं है, परन्तु फिर भी जो आपकी भक्ति-सेवा करते हैं, उनके ऊपर आपका विशेष प्रसाद होता है। आपमें परापरका भेद नहीं है, तथापि सेवानुरूप फलकी प्राप्ति तो होती ही है—

संसेवतां सुरतरोरिव ते प्रसादः सेवानुरूपमुदयो न विपर्ययोऽत्र। ६

भगवान्‌ने कहा कि युधिष्ठिरजी, आपने बहुत बढ़िया विचार किया है। इससे आपकी कीर्ति फैलेगी और हमारी पूजा भी होगी। आप निश्चिन्त होकर राजसूय यज्ञ कीजिये। आपको दुनियामें कोई पराजित नहीं कर सकता।

अब तो युधिष्ठिरको बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने अपने भाइयोंको भिन्न-भिन्न दिशाओंमें भेजकर अनायास ही सब राजाओंको वशमें कर लिया। सब दिशाओंके राजा लोग चलकर आये और उन्होंने भेंट-पूजा दी। लेकिन जब यह मालूम हुआ कि अन्य सब राजा तो वशमें आगये, केवल जरासन्ध अभीतक वशमें नहीं आया तो राजा युधिष्ठिरको बड़ी चिन्ता हुई।

अब उद्धवने जैसा उपाय बताया था, उसके अनुसार भीम, अर्जुन और श्रीकृष्ण तीनों ब्राह्मण बनकर जरासन्धके यहाँ गये। महाभारतमें लिखा है कि वे बड़ी मुश्किलसे चहारदीवारी लाँघकर भीतर गये, जिससे कि कोई उनको पहचान न ले।

जरासन्धका यह नियम था कि आतिथ्यके समय जो कोई उसके पास आकर माँगता तो वह 'ना' नहीं करता, दे देता था। इसलिए भीम, अर्जुन, श्रीकृष्ण भी उसी समय उसके पास पहुँचे और उन लोगोंने कहा कि महाराज, हम तो आपके अतिथि हैं। आपके लिए अदेय कुछ भी नहीं है। हम ज्यादा कहकर आपको तकलीफ नहीं देना चाहते। हरिश्चन्द्र, रन्तिदेव, शिवि सबने माँगनेवालोंकी, शरणागतोंकी अभिलाषा पूर्ण की है।

जरासन्ध समझ गया कि ये कोई भिखमङ्गे नहीं हैं, सीधा-सामान लेने नहीं आये हैं। ये तो कोई बड़े-बड़े क्षत्रिय राजा मालूम पड़ते हैं और ब्राह्मणके वेशमें मेरे पास आये हैं। उसने सोचा कि मेरी जीत तो तभी हो गयी, जब सामने आकर इन लोगोंने युद्ध नहीं किया और ये भिखारी बनकर माँग रहे हैं। इसलिए बोला कि बाबा, तुमलोगोंको जो-कुछ माँगना हो, माँग लो। बलिकी कीर्ति इसलिए सुननेमें आती है कि उन्होंने अपने गुरु शुक्रके मना करनेपर भी विष्णुको सब-कुछ दे दिया। यदि मैं तुम्हारी अभिलाषा पूर्ण नहीं करता हूँ तो क्षत्रिय देह रखनेमें क्या फायदा है। ब्राह्मणो! यदि तुम कहोगे तो मैं अपना सिर काटकर भी तुम लोगोंको दे दूँगा।

भगवान्ने कहा कि राजन्, हम कोई अन्न माँगनेवाले ब्राह्मण नहीं हैं। क्षत्रिय हैं और युद्धके लिए आपके पास आये हैं। यह भीमसेन है, यह अर्जुन है और मैं इन दोनोंका ममेरा भाई कृष्ण हूँ।

अब तो जरासन्धको क्रोध भी आया और वह जोरसे हँसने भी लगा। फिर बोला कि अच्छा, यदि ऐसी बात है तो मैं तुमलोगोंको युद्ध दूँगा। लेकिन तुम तो हमसे डरकर समुद्रसे

घिरे हुए द्वारकामें वस रहे हो। तुम मुझसे क्या लड़ोगे ? कौन-सा मुँह लेकर लड़ोगे ? फिर यह अर्जुन तो मुझसे बहुत हल्का है। रही बात इस भीमसेनकी, इससे मैं लड़ लूँगा।

अब मल्लयुद्धकी तैयारी हुई। जरासन्धने भीमसेनको गदा दी और स्वयं भी बड़ी भारी गदा लेकर नगरके बाहर अखाड़ेमें उतरा। लेकिन दोनों इतने बलशाली थे कि एक दिनमें कोई पराजित होनेवाला नहीं था। दोनों दिनभर युद्ध करें और रातमें मित्रकी तरह रहें। युद्धके समय कभी बाँयें तो कभी दाँयें पैंतरे बदलें—'मण्डलानि विचित्राणि सव्यं दक्षिणमेव च'। (३५) कई बार एक दूसरेपर प्रहार करते-करते गदा टूट जाय। जब एक गदा टूट जाय तो दूसरी गदा ले लें। इस प्रकार युद्ध करते-करते सत्ताईस दिन बीत गये और दानोंकी बराबरी रही। अट्ठाईसवें दिन भीमसेनने कहा कि देखो कृष्ण, तुम तो बैठे-बैठे तमाशा देख रहे हो और मेरे शरीरपर पड़ती है चोट। अब तो मैं तुमको साफ-साफ बता देना चाहता हूँ कि इसको जीतना मेरे वशकी बात नहीं है।

लेकिन श्रीकृष्ण तो सब-कुछ जानते थे। उन्होंने भीमसेनको प्रोत्साहित किया और युद्धके समय ही हाथमें एक तिनका लेकर उसको चीर दिया। भीमसेन समझ गये। उन्होंने जरासन्धको नीचे गिरा दिया। फिर उसके एक पाँवको अपने पाँवसे दबा दिया और उसका दूसरा पाँव हाथमें लेकर उसको चीर दिया। उसके शरीरके दो टुकड़े हो गये।

जरासन्ध पैदा ही दो हिस्सोंमें हुआ था, जरा नामक राक्षसीने उसको जोड़ दिया था। उसके मरनेसे हाय-हाय मच गयी। सारी प्रजा हाहाकार करने लगी और कहने लगी कि बड़ा धर्मात्मा था जरासन्ध। श्रीकृष्णने उसके पुत्र सहदेवको मगधका राजा बना दिया और बन्दी राजाओंको छुड़ा दिया।



श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि परीक्षित, जो-जो राजा जरासन्धकी शरणमें नहीं आये, उनको उसने पकड़कर कैदमें डाल दिया था। ऐसे बन्दी राजाओंकी संख्या बीस हजार आठ सौ थी। जरासन्धकी मृत्युके बाद भगवान् श्रीकृष्ण उन राजाओंसे मिलनेके लिए जेलमें गये। वहाँ शङ्ख-चक्र-गदा-पद्मधारी, किरीट, कुण्डल, मुक्ताहार, करधनी आदिसे युक्त, श्रीवत्साङ्क, चतुर्बाहु भगवान्‌को देखकर राजा लोग मुग्ध हो गये। उनके मनमें यही भाव आने लगा कि उनको हम अपनी आँखोंसे पी जायँ, जीभसे चाट लें, नासिकासे सूँघ लें और बाहुओंसे इनका आलिङ्गन कर लें। श्रीकृष्ण-दर्शनसे राजाओंके पाप-ताप कट गये।

राजा बोले कि महाराज, हम आपके शरणागत हैं और आप शरणागतोंके दोष-निवर्तक हैं। अब हम इस घोर संसारसे निर्विण्ण हो चुके हैं, निवृत्त हो चुके हैं, आप हमें शान्ति प्रदान कीजिये। हमलोग जरासन्धकी कोई निन्दा नहीं करते। क्योंकि मनुष्य जब राज्य, ऐश्वर्यके मदसे उन्मत्त हो जाता है तब उसको कल्याणकी प्राप्ति नहीं होती। जो संसारमें मायासे मोहित हैं, वे ही यहाँ की सम्पत्तिको अचल समझते हैं। जैसे बालक मृगतृष्णाको जलाशय मानते हैं, वैसे ही अयुक्त लोग—जो न तो सदाचारी हैं, न जिनका मन एकाग्र है और न जिनमें ज्ञान है इस वैकारिक मायाको वस्तुरूप देखते हैं—

एवं वैकारिकीं मायामयुक्ता वस्तु चक्षते। ११

पहले श्रीमदसे हमारी दृष्टि नष्ट हो गयी थी और आपकी और हमारा बिल्कुल ध्यान नहीं था। इसलिए आपने अच्छा किया कि हमलोगोंको श्री-भ्रष्ट कर दिया और हमारा अभिमान तोड़ दिया। अब हमको राज्य नहीं चाहिए। क्योंकि अब हम जान गये हैं कि राज्य तो मृगतृष्णा है। हम तो स्वर्ग भी नहीं चाहते हैं—

क्रियाफलं प्रेत्य च कर्णरोचनम्। १४

केवल यही चाहते हैं कि हमारे द्वारा आपके चरणोंकी पूजा होती रहे। बस, यह युक्ति आप हमको बता दीजिये कि हमें आपके चरणोंकी स्मृति बनी रहे।

कृष्णाय वासुदेवाय हरये परमात्मने।
प्रणतक्लेशनाशाय गोविन्दाय नमो नमः॥ १६

देखो, इस श्लोकको श्रीमालवीयजी महाराज बहुत महत्त्व देते थे। इसको पर्चोंपर छपवा-छपवाकर लोगोंमें बाँटते थे और अनुरोध करते थे कि जिसको कोई क्लेश हो, वह इसे मन्त्र समझकर इसका जप करे। फिर उसका क्लेश जरूर दूर हो जायेगा।

तो, जब राजाओंने स्तुति की तब भगवान् बोले कि जाओ अब आजसे तुम लोगोंकी भक्ति मेरे प्रति बनी रहेगी और तुम लोग केवल मेरी भक्ति ही करोगे। तुमने यह जो निश्चय कर लिया, यह बड़े सौभाग्यकी बात है। वास्तवमें श्रीमदके कारण मनुष्य बँध जाता है। हैहय, नहुष, रावण, वेन, नरक सब इसीसे बँध गये। जाओ, अब तुम लोग राज्य भी करो और मेरा सेवन भी करो। देखो, देहादिसे उदासीन रहना, अपने मनको मुझमें लगाना। अन्तमें तुम्हें मेरी प्राप्ति होगी—

उदासीनाश्च देहादावात्मारामा धृतव्रताः।
मय्यावेश्य मनः सम्यङ्मामन्ते ब्रह्म यास्यथ॥ २३

इसके बाद भगवान्ने राजाओंके बाल बनवाये, उनके शरीरमें उबटन लगवाया, उनको स्नान करवाया, उत्तम वस्त्राभूषण धारण करवाया, भोग दिया और राज्य-शासन चलाने योग्य सब साधनोंकी व्यवस्था कर दी। उनको रथ दे दिये, घोड़े दे दिये, मणि-काञ्चनसे भूषित कर दिया और उनके सारे कष्ट दूर कर दिये।

अब वे सब राजा श्रीकृष्णका ध्यान करते हुए अपने-अपने राज्यमें चले गये। सहदेवने श्रीकृष्णकी पूजा की और भगवान् भीम, अर्जुनके साथ इन्द्रप्रस्थ चले गये। वहाँ युधिष्ठिरने समझ लिया कि श्रीकृष्ण, भीम, अर्जुनके साथ जरासन्धको मारकर आगये। जब उन लोगोंने सब कथा सुनायी तब युधिष्ठिरजी महाराजकी आँखोंसे आनन्दके आँसू गिरने लगे।



श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि परीक्षित, धर्मराज युधिष्ठिरको अपने भाइयोंसे जरासन्धके वध और श्रीकृष्णकी महिमाका वर्णन सुनकर बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने कहा कि महाराज, त्रिलोकीके गुरु सनकादि भी सिर झुकाकर आपकी आज्ञाका पालन करते हैं। हमारी स्थिति यह है कि हम लोग स्वयं दीन-हीन होते हुए भी अपनेको भूपति मानते हैं। इसीलिए हमें होना चाहिए दण्डका पात्र, परन्तु आप इतने उदार हैं कि हमारी आज्ञा स्वीकार करके उसका पालन करते हैं। यह सब आपका अभिनय मात्र है। जो ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर लेता है, उसमें भी जब वृद्धि और ह्रास नहीं होता तब साक्षात् परब्रह्म परमात्माको तो बात ही क्या है? आपके भक्तोंमें मैं और मेरा, तू और तेरा नहीं होता। यह भेद-बुद्धि तो पशुओंकी है—

त्वं तवेति च नानाधीः पशूनामिव वैकृता। ५

परीक्षित, इस प्रकार स्तुति करनेके बाद धर्मराज युधिष्ठिरने यज्ञका समय आनेपर भगवान्‌की अनुमतिसे बड़े-बड़े महात्माओंको आमन्त्रित किया। व्यास, भरद्वाज, सुमन्तु, गौतम, असित, वसिष्ठ, च्यवन, कण्व, मैत्रेय, कवष, त्रित, विश्वामित्र, वामदेव, सुमति, जैमिनि, क्रतु, पैल, पराशर, गर्ग, वैशम्पायन, अथर्वा, कश्यप, धौम्य, परशुराम, शुक्राचार्य, आसुरि, वीतिहोत्र, मधुच्छन्दा, वीरसेन, अकृतव्रण आदि सब-के-सब आये और उन सबका धर्मराज युधिष्ठिरने यथायोग्य वरण किया। जहाँ स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण बैठे हैं, वहाँ ऋषि-मुनियोंकी क्या कमी?

युधिष्ठिरके बुलानेपर धृतराष्ट्र आये, दुर्योधन आये, विदुर आये। चारों वर्णों और आश्रमोंके लोग आये। स्वर्णके हलसे जोतकर पृथिवीका शोधन हुआ और फिर युधिष्ठिरने दीक्षा-संस्कार लिया। वहाँ सारी सामग्री सोनेकी हो थी। इन्द्रादि लोकपाल, सिद्ध-गन्धर्व, राजागण, राजपत्नियाँ सब-के-सब आये। फिर विधिवत् यजन हुआ। समयपर सोमवल्ली रसका पान हुआ।

अब यह प्रश्न उठा कि सभासदोंमें-से अग्रपूजा किसकी हो? वहाँ बड़े-बड़े योग्य महानुभाव उपस्थित थे, लेकिन कुछ निश्चय ही न हो। अन्तमें सहदेवजी उठकर खड़े हो गये और उन्होंने कहा कि सभासदो, सुनिये हमारे बीच विराजमान श्रीकृष्ण ही अग्रपूजाके योग्य हैं। क्योंकि यही समस्त देवता, देश, काल, धन आदि हैं।

यदात्मकमिदं विश्वं क्रतवश्च यदात्मकाः। २०

श्रीकृष्ण ही उपादान कारण रूप होनेसे सम्पूर्ण विश्व हैं। यही क्रतु हैं, यही यज्ञ हैं। अग्नि, आहुति, मन्त्र, सांख्य, योग—सब इन्हींके लिए हैं—

एक एवाद्वितीयोऽसावैतदात्म्यमिदं जगत्। २१

सहदेवने श्रुति पढ़कर बता दिया कि श्रीकृष्ण ही कार्य-कारण हैं। यही सबको सृष्टि करते हैं। यही धर्मका फल देते हैं। इसलिए हमारी राय है कि श्रीकृष्णकी ही अग्रपूजा करनी चाहिए।

एवं चेत् सर्वभूतानामात्मनश्चार्हणं भवेत्। २३

इनकी अग्रपूजा होनेपर अन्य सबकी पूजा अपने-आप हो जायेगी। अङ्गीकी पूजा हो जाय तो अङ्गकी पूजा हो जाती है। विशेष्यकी पूजा हो जाय तो विशेषणकी पूजा हो जाती है। कारणकी पूजा हो जाय तो कार्यकी पूजा हो जाती है। विवर्ता अभिन्ननिमित्तोपादानका पूजा हो जाय तो विवर्तको पूजा हो जाती है। इसलिए श्रीकृष्णकी ही अग्रपूजा होनी चाहिए—

सर्वभूतात्मभूताय कृष्णायानन्यदर्शिने।
देयं शान्ताय पूर्णाय दत्तस्यानन्त्यमिच्छता॥ २४

अब तो सहदेवका यह प्रस्ताव सुनकर सभी सत्पुरुष साधु-साधु कहने लगे। महाभारतमें यह वर्णन आता है कि भीष्मने सहदेवका बड़ा भारी अनुमोदन किया। धर्मराज युधिष्ठिर तो यह चाहते ही थे। उन्होंने एक क्षणका भी विलम्ब नहीं किया और तत्काल श्रीकृष्णको पूजा प्रारम्भ कर दी। सबसे पहले युधिष्ठिरने श्रीकृष्णके चरणारविन्दको धोकर उसका लोकपावन जल अपने सिरपर धारण किया। उनको बहुमूल्य वस्त्राभूषण समर्पित किये। उस समय उनकी आँखोंमें इतने प्रेमाश्रु भर गये कि उनको कुछ दिखायी न पड़े। सभी सभासद् भगवान्को प्रणाम करने लगे। आकाशसे पुष्पोंको वर्षा होने लगी। चारों ओर जय-जयकार होने लगा।

किन्तु यह सब देख-सुनकर शिशुपालको बड़ा क्रोध आगया। वह बोला कि जैसा मैं वैसा ही यह! मैं भी राजा, यह भी राजा! यह हमारा भाई हो तो लगता है। मैं इसकी बुआका हो लड़का हूँ। लेकिन यह तो मेरी मँगेतरको ही उड़ा ले गया, यह हमारी अपेक्षा अधिक योग्य कहाँ-से हो गया? यह समयका फेर है कि लोग इसकी पूजा करते हैं। लेकिन आपलोग सहदेव जैसे बच्चेकी बात मत सुनिये। भला कोई गाँवका ग्वाला, चरवाहा कभी पूजाके योग्य हो सकता है? यज्ञका पुरोडाश कौएको नहीं मिलना चाहिए।

देखो, शिशुपाल कर तो रहा है भगवान्की निन्दा, लेकिन हो रही है स्तुति! कहता है कि ये कर्म-धर्मसे बहिष्कृत हैं, वर्णाश्रम-आचारके परे हैं, गुणोंसे हीन हैं, पूजाके योग्य नहीं हैं!

ये तो सब कुछ छोड़-छाड़कर चल देनेवाले हैं। द्विजातिके द्वारा शप्त हैं और समुद्रमें रहनेवाले हैं।

ये सब भगवान्के ही लक्षण तो हैं। लेकिन शिशुपालको श्रीकृष्णकी भगवत्ता नहीं दिखायी देती और वह कहता है कि ये पूजाके योग्य नहीं हैं।

शिशुपालकी बातें सुनकर भगवान् कुछ नहीं बोले ! उन्होंने सोचा कि जहाँ सारी प्रजा पक्षमें है, वहाँ अपने मुँहसे अपनी प्रशंसा अथवा निन्दाका विरोध क्यों किया जाय ? इसको तो लोग ही देख-समझ लेंगे।

वही हुआ भी। कुछ भगवद्भक्त अपने-अपने कानोंमें उँगली देकर जाने लगे कि भगवान्की ऐसी निन्दा सुननी नहीं चाहिए, अन्यथा अधोगति होती है। कई राजा ऐसे निकले, जो शिशुपालको मारनेके लिए तैयार हो गये। लेकिन जो थोड़ेसे शिशुपालके पक्षपाती थे, वे उसकी ओरसे बोलने लगे। दो दल बन गये। भगवान्ने सोचा कि यदि पाण्डवोंको क्रोध आगया और वे भी लड़ने लगे तो यज्ञमें विघ्न पड़ जायेगा।

इसलिए भगवान् श्रीकृष्ण उठ खड़े हुए और उन्होंने अपने पैने चक्रसे शिशुपालका सिर काट लिया। अब तो वहाँ बड़ा भारी कोलाहल हुआ। सबके देखते-देखते आश्चर्य यह हुआ कि शिशुपालके मृत शरीरमें-से एक ज्योति निकली और वह श्रीकृष्णमें समा गयी। परन्तु इसमें आश्चर्यकी कोई बात नहीं है। शिशुपालके जीवको, जो तीन जन्मोंसे अपने वैरभावके कारण भगवन्मय हो रहा था, सबके सामने अपनेमें विलीन करके अपना पार्षद बना लिया। अब तो सबकी बोलती बन्द हो गयी और सब लोगोंने कहा कि श्रीकृष्ण तो साक्षात् ईश्वर हैं।

उसके बाद शान्ति स्थापित हो गयी। धर्मराज युधिष्ठिरकी ओरसे सब सदस्योंको सम्मानित किया गया। ऋत्विजोंको यथायोग्य दक्षिणा दी गयी। फिर यज्ञके अन्तमें अवभृथ स्नान हुआ। भगवान् बहुत दिनतक इन्द्रप्रस्थमें रहे और उसके बाद द्वारका चले गये !

इस यज्ञ द्वारा धर्मराज युधिष्ठिरकी बड़ी शोभा हुई तथा बड़ा सौभाग्य-वर्द्धन हुआ। उससे अन्य सब लोग तो प्रसन्न हुए, किन्तु वह दुर्योधनको सहन नहीं हुआ, क्योंकि वह स्वभावसे ही कुटिल था।



राजा परीक्षितने पूछा कि महाराज युधिष्ठिरका यज्ञ देखकर जहाँ सब लोग प्रसन्न हुए, वहाँ केवल दुर्योधनको ही अप्रसन्नता क्यों हुई ? कृपा करके इसका कारण बताइये ।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि परीक्षित, दुष्टका स्वभाव ही ऐसा होता है । 'देखि न सकहिं पराइ विभूती'—वह दूसरेका वैभव नहीं देख सकता ।

तुम्हारे दादा युधिष्ठिरका राजसूय यज्ञ बहुत बड़ा यज्ञ था । बड़े कामोंमें सबका सहयोग जरूरी होता है । उसमें एकके ही जिम्मे सब काम नहीं होता । इसलिए उस यज्ञमें परिचर्याके अलग-अलग विभाग कर दिये गये थे और उनपर भाई-बन्धुओंको नियुक्त कर दिया गया था । भीमसेनको पाकशालाका, दुर्योधनको कोषका, सहदेवको स्वागत-सत्कारका और नकुलको विविध वस्तुओंके संग्रहका काम सौंपा गया था ! इसी तरह अर्जुनको गुरुजनोंकी सेवा-शुश्रूषामें लगाया गया था । द्रौपदीको भोजन परसनेका काम दिया गया था, जिससे कि कभी कोई कमी न हो । कर्णको दान करनेका काम सौंपा गया था, जिससे कि कभी दान-क्रिया बन्द न हो । इस प्रकार सब-के-सब बन्धु-बान्धव और सगे-सम्बन्धी यथायोग्य सेवा-कार्योंमें लगा दिये गये थे ।

जब श्रीकृष्णसे पूछा गया कि महाराज, आप क्या काम करेंगे तो वे बोले कि मैं अतिथियोंके पाँव धोया करूँगा । यही काम ले लिया उन्होंने अपने जिम्मे !

यहाँ देखो, भगवान्‌ने अपने जिम्मे जो सेवा ली है, वह स्वयं उन्हींकी सेवा है । क्योंकि सबके पाँवोंमें अधिदेवता अथवा अधिष्ठातृ-देवताके रूपमें स्वयं भगवान् विष्णुका ही निवास है ।

अब जब यज्ञ सम्पन्न हो गया और अवभृथ स्नानका समय आया तब खूब गाना, बजाना, नाचना-नचाना हुआ । देवताओंके द्वारा पुष्पवृष्टि हुई । स्त्री-पुरुष सब एक साथ अवभृथ स्नानके लिए निकले । सभी स्त्री-पुरुष सुगन्धित पदार्थों, पुष्पहारों, रंग-विरंगे वस्त्रों और आभूषणोंसे सुसज्जित थे । लेकिन सब एक-दूसरेके ऊपर किसी चीजका लेप कर दें, कोई किसीका अभिषेक कर दे । इस प्रकार विविध रसोंमें विहार करके चल रहे थे—

तैलगोरसगन्धोदहरिद्रासान्द्रकुङ्कुमैः । पुम्भिर्लिप्ताः प्रलिम्पन्त्यो विजह्रुर्वारयोषितः ॥ १५

देखो, आजकल बाबाजी लोग, जो संस्कारसे शान्त होते हैं, उत्सव मनानेमें बड़ा सङ्कोच

करते हैं। परन्तु भागवतके इस वर्णनसे विदित होता है कि राजा-महाराजाओंके यहाँ जो इस प्रकारके उत्सव होते थे, वे ऋषि-मुनियों और साधु-महात्माओं द्वारा अनुमोदित होते थे।

स्नानके समय नाना प्रकारके स्त्री-पुरुष एक दूसरेके ऊपर पानी उलीचें, उनके शरीरपर इतने महीन वस्त्र थे कि भीग जानेपर यह पता ही न चले कि उनके शरीरपर कपड़े हैं या नहीं ? सब ऋत्विजों और उनकी पत्नियोंने गंगा-स्नान किया।

उनके अतिरिक्त और भी जितने वर्णाश्रम-युक्त स्त्री-पुरुष थे, सबने स्नान किया। युधिष्ठिरकी बड़ी भारी शोभा हुई। उन्होंने सबका सत्कार किया। वहाँ छोटेसे लेकर बड़ेतक जितने भी लोग थे, सब युधिष्ठिर द्वारा सत्कृत हुए। कोई शूद्र अथवा अन्त्यज भी बिना सत्कारके वहाँसे खाली हाथ नहीं लौटा। राजाने सबकी पूजा की। सब लोग उनकी प्रशंसा करते हुए लौटे।

राजसूय-यज्ञके बाद जिस प्रकार धर्मराज युधिष्ठिरके अन्तःपुरकी शोभा बढ़ी, सम्पत्ति बढ़ी, उनका महत्त्व बढ़ा और राजरानी द्रौपदी अपने पतियोंकी सेवा करने लगी, उसको देख-देखकर दुर्योधनके मनमें डाह बढ़ने लगा।

एक और घटना घट गयी। मयदानव द्वारा निर्मित सभामें धर्मराज युधिष्ठिर सुवर्ण सिंहासनपर बैठे थे। वहाँ समस्त विभूतियाँ विराजमान थीं। द्रौपदी अपने पतियोंकी सेवामें संलग्न थी और भी बहुत-सी स्त्रियाँ इधर-उधर डोल रही थीं। सारी सभा भरी हुई थी।

उसी समय दुर्योधन वहाँ पहुँच गया। सभाकी फर्श ऐसी थी कि स्थलकी जगह जल और जलकी जगह स्थल दीखता था। इसलिए दुर्योधनको भ्रम हो गया। उसने स्थलकी जगह जल समझकर अपने कपड़े ऊपर उठा लिये और जहाँ जल था, वहाँ स्थल समझकर कपड़े पहने ही गिर पड़ा, भींग गया। उसकी यह दशा देखकर सब लोग हँस पड़े। भीमसेन समेत जितनी भी स्त्रियाँ थीं, सब ताली पीट-पीटकर हँसने लगीं। दुर्योधनको बड़ी लज्जा आयी। वह जलभुन गया और सभासे निकलकर हस्तिनापुर चला गया। इस घटनासे युधिष्ठिरको बड़ा खेद हुआ, परन्तु भगवान् श्रीकृष्णने उसका अनुमोदन ही किया। क्योंकि वे चाहते थे कि युद्ध हो और उसके द्वारा पृथिवीका भार कम हो जाय।

परीक्षित, यही सब कारण बने राजसूय-यज्ञके समय दुर्योधनकी अप्रसन्नताका। इस सम्बन्धमें जैसा तुमने पूछा, वैसा मैंने तुमको बता दिया।



: ७६ :

श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि परीक्षित, अब तुम श्रीकृष्णके एक और अद्भुत चरित्रका वर्णन सुनो। पहले तुम सुन चुके हो कि रुक्मिणीके विवाहमें शाल्व, जरासन्ध आदिको यदुवंशियोंने हरा दिया था। वहाँ शाल्वने यह प्रतिज्ञा की थी कि मैं पथिवीको यादव-रहित कर दूँगा। उस समय तुम मेरा पौरुष देखना! उस प्रतिज्ञाकी पूर्तिके लिए उसने बड़ी उग्र तामसी तपस्या आरम्भ की। वह केवल एक मुट्ठीभर राख मुँहमें फाँक लिया करता था और सारे समय शिवकी आराधना करता था।

आशुतोष भगवान् शंकर शाल्वके ऊपर प्रसन्न हो गये और बोले कि वर माँग लो। शाल्वने कहा कि मुझे एक ऐसा विमान चाहिए, जिससे यदुवंशियोंको भय हो—'अभेद्यं कामगं वव्रे स यानं वृष्णिभीषणम्' (६)। शंकरजी महाराजने मयासुरको आज्ञा देकर उसे वैसा ही विमान दे दिया।

शाल्वने वह विमान लेकर द्वारकापर उस समय चढ़ाई कर दी, जब श्रीकृष्ण वहाँ नहीं थे। वह नगरको नष्ट-भ्रष्ट करने लग गया। उस समय घरमें प्रद्युम्नजी थे। उन्होंने सात्यकि, चारुदेष्ण, साम्ब आदिको लेकर शाल्वका मुकाबिला किया। बड़ा भयंकर युद्ध हुआ। शाल्वका विमान छिन्न-भिन्न होने लगा। लोगोंने प्रद्युम्नका युद्ध-कौशल देखकर उनका बड़ा सत्कार किया।

वह विमान कैसा था, उसकी एक झाँकी देखो! उसमें अनेक रंग थे। वह कभी एक सरीखा दीखे, कभी अनेक सरीखा दीखे और कभी पता ही न चले कि कहाँ है? कभी धरतीपर, कभी आकाशमें, कभी पहाड़पर, कभी पानीमें, चाहे जहाँ दिखायी पड़े और चक्कर काटता फिरे!

प्रद्युम्नने शाल्वको ऐसे-ऐसे बाण मारे कि मोहित हो गया! उसके मन्त्री महाबली द्युमान्ने, जिसको पहले प्रद्युम्नने घायल कर दिया था, प्रद्युम्नके ऊपर प्रहार किया और उससे प्रद्युम्न बेहोश हो गये। यह देखकर प्रद्युम्नके सारथिने उनको युद्ध-भूमिसे अलग हटा दिया। जब उनको होश आया तब वे अपने सारथिसे बोले कि तुमने मुझे युद्धभूमिसे अलग करके बड़ा बुरा काम किया। अब हम घरमें कौन-सा मुँह दिखायेंगे? हमारी भाभियाँ कहेंगी कि तुम्हारा बल-पौरुष कहाँ चला गया?



: ७७ :

श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि परीक्षित, इसके बाद प्रद्युम्नने हाथ-मुँह धोकर कवच और धनुष-बाण धारण करके अपने सारथिसे कहा कि जहाँ द्युमान् है, वहीं मुझे ले चलो वहाँ पहुँचकर उन्होंने तत्काल ऐसे-ऐसे बाण मारे कि द्युमान् अपने घोड़ों, रथ और सारथिके साथ भस्म हो गया। अब सभी यदुवंशी वीर शाल्वके मायामय विमानपर भीषण प्रहार करने लगे और उसके सैनिक विमानमें-से मर-मरकर गिरने लगे।

इस तरह युद्ध होते-होते सत्ताईस दिन बीत गये। इधर इन्द्रप्रस्थमें श्रीकृष्णको यह ख्याल हुआ कि कहीं हमारे पुराने शत्रु द्वारकापर आक्रमण न कर दें। वे तुरन्त सबसे अनुमति लेकर रथपर सवार हुए और द्वारकाकी ओर चल पड़े। वहाँ पहुँचकर उन्होंने देखा कि सचमुच उनकी द्वारका विपत्तिग्रस्त हो गयी है। उन्होंने बलरामजीको द्वारकाकी रक्षा करनेके लिए कहा और अपने सारथि दारुकको आज्ञा दी कि मेरा रथ जल्दी-से-जल्दी शाल्वके पास ले चलो। देखो, सम्भ्रम नहीं करना, शाल्व बड़ा भारी मायावी है।

इधर जब शाल्वने देखा कि श्रीकृष्ण उसकी ओर आरहे हैं तब उसने उनके सारथि दारुकपर शक्तिका प्रयोग किया। लेकिन भगवान्ने उस शक्तिको काट दिया। अब दोनोंमें बड़ा भयंकर युद्ध हुआ। एक बार तो शाल्वने ऐसा आश्चर्य कर दिखाया कि उसके शास्त्राघातसे श्रीकृष्णके वाम बाहुमें शोभायमान शार्ङ्ग धनुष गिर पड़ा। बड़ा भारी हा-हाकार मच गया। लेकिन श्रीकृष्णने उसको डाँटा और कहा कि अब तू मरनेवाला है!

इसी बीचमें शाल्वने एक माया रची। उसने मायाका वसुदेव बनाकर श्रीकृष्णके सामने खड़ा कर दिया और उसकी चोटी पकड़कर बोला कि देखो, मैं तुम्हारे बापका सिर काट रहा हूँ। उसने काट भी दिया। यह देखकर भगवान् श्रीकृष्ण थोड़ी देरके लिए बेहोश-सरीखे हो गये। लेकिन जिन भगवान्के चरणोंकी सेवासे अविद्याका नाश होता है और मोक्षकी प्राप्ति होती है, उनमें शोकादि कहाँसे आ सकते हैं? उन्होंने तुरत समझ लिया कि यह उसकी आसुरी माया है।

इसके बाद भगवान्ने अपनी गदाके प्रहारसे शाल्वके विमानको चूर-चूर कर दिया और जब वह धरतीपर आकर युद्ध करने लगा तब अपने चक्रसे उसका सिर काट दिया।



श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि परीक्षित, शाल्वके मारे जानेपर जब भगवान् युद्ध-भूमिसे द्वारकामें जाने लगे तब दन्तवक्त्र वहाँ आगया। वह शिशुपाल, पौण्ड्रक और शाल्व सबका मित्र था। उसने अकेले ही श्रीकृष्णसे युद्ध छेड़ दिया और वह उनके प्रति अंट-संट बकने लगा, बोला कि आज मैं अपने मित्रोंसे उऋण हो जाऊँगा। यह कहकर उसने श्रीकृष्णपर अपनी गदा चलायी। लेकिन भगवान्ने उसकी गदाकी कोई परवाह नहीं की और अपनी कौमोदकी गदासे उसपर ऐसा प्रहार किया कि वह खून उगलता हुआ वहीं गिर गया। उसके शरीरसे भी एक ज्योति निकलकर श्रीकृष्णके शरीरमें प्रविष्ट हो गयी।

महाभारतमें यह वर्णन है कि दन्तवक्त्रकी मृत्यु शिशुपालकी मृत्युके साथ ही हुई थी और दोनोंकी ज्योतियाँ एक साथ श्रीकृष्णमें मिलीं परन्तु श्रीमद्भागवतमें दोनोंकी मृत्यु अलग-अलग वर्णित है।

दन्तवक्त्रकी मृत्युके बाद उसका भाई विदूरथ लड़ने आया और उसको भी भगवान्ने मार दिया। फिर भगवान् विजयी होकर द्वारकामें प्रविष्ट हुए। भगवान् तो सदा ही विजयी हैं। सहज ही उनमें उत्कर्ष है। पशुदृष्टि अथवा भेद-दृष्टिवालोंको ही ऐसा मालूम पड़ता है कि वे कभी हार जाते हैं तो कभी जीत जाते हैं।

इसके बाद जब बलरामजीने सुना कि कौरवों और पाण्डवोंमें बड़ा भारी युद्ध होनेवाला है तब उन्होंने कहा कि मैं इस युद्धमें पड़नेवाला नहीं हूँ। वे उससे उपराम होकर तीर्थयात्रापर निकल गये। उन्होंने प्रभास-क्षेत्रमें तर्पण किया। उसके बाद सरस्वती नदीके तटपर गये और वह जिधरसे आरही थी, इधर चल पड़े। मार्गमें पड़नेवाले पृथूदक, बिन्दुसर, त्रितकूप, सुदर्शन आदि तीर्थोंका भ्रमण करके यमुना-गङ्गाके तटवर्ती तीर्थोंमें होते हुए नैमिषारण्यमें पहुँच गये। वहाँ ऋषियोंने उनका बड़ा भारी स्वागत किया।

उसके बाद बलरामजीने देखा कि वहाँ सिंहासनपर बैठकर रोमहर्षण नामक सूतजी पुराणोंकी कथा सुना रहे हैं। वे बलरामजीको देखकर खड़े नहीं हुए और न ही उनको प्रणाम ही किया। इसपर बलरामजीको क्रोध आगया।

श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि परीक्षित, इसके बाद प्रद्युम्नने हाथ-मुँह धोकर कवच और धनुष-बाण धारण करके अपने सारथिसे कहा कि जहाँ द्युमान् है, वहीं मुझे ले चलो वहाँ पहुँचकर उन्होंने तत्काल ऐसे-ऐसे बाण मारे कि द्युमान् अपने घोड़ों, रथ और सारथिके साथ भस्म हो गया। अब सभी यदुवंशी वीर शाल्वके मायामय विमानपर भीषण प्रहार करने लगे और उसके सैनिक विमानमें-से मर-मरकर गिरने लगे।

इस तरह युद्ध होते-होते सत्ताईस दिन बीत गये। इधर इन्द्रप्रस्थमें श्रीकृष्णको यह ख्याल हुआ कि कहीं हमारे पुराने शत्रु द्वारकापर आक्रमण न कर दें। वे तुरन्त सबसे अनुमति लेकर रथपर सवार हुए और द्वारकाकी ओर चल पड़े। वहाँ पहुँचकर उन्होंने देखा कि सचमुच उनकी द्वारका विपत्तिग्रस्त हो गयी है। उन्होंने बलरामजीको द्वारकाकी रक्षा करनेके लिए कहा और अपने सारथि दारुकको आज्ञा दी कि मेरा रथ जल्दी-से-जल्दी शाल्वके पास ले चलो। देखो, सम्भ्रम नहीं करना, शाल्व बड़ा भारी मायावी है।

इधर जब शाल्वने देखा कि श्रीकृष्ण उसकी ओर आरहे हैं तब उसने उनके सारथि दारुकपर शक्तिका प्रयोग किया। लेकिन भगवान्ने उस शक्तिको काट दिया। अब दोनोंमें बड़ा भयंकर युद्ध हुआ। एक बार तो शाल्वने ऐसा आश्चर्य कर दिखाया कि उसके शास्त्राघातसे श्रीकृष्णके वाम बाहुमें शोभायमान शार्ङ्ग धनुष गिर पड़ा। बड़ा भारी हा-हाकार मच गया। लेकिन श्रीकृष्णने उसको डाँटा और कहा कि अब तू मरनेवाला है!

इसी बीचमें शाल्वने एक माया रची। उसने मायाका वसुदेव बनाकर श्रीकृष्णके सामने खड़ा कर दिया और उसकी चोटी पकड़कर बोला कि देखो, मैं तुम्हारे बापका सिर काट रहा हूँ। उसने काट भी दिया। यह देखकर भगवान् श्रीकृष्ण थोड़ी देरके लिए बेहोश-सरीखे हो गये। लेकिन जिन भगवान्के चरणोंकी सेवासे अविद्याका नाश होता है और मोक्षकी प्राप्ति होती है, उनमें शोकादि कहाँसे आ सकते हैं? उन्होंने तुरत समझ लिया कि यह उसकी आसुरी माया है।

इसके बाद भगवान्ने अपनी गदाके प्रहारसे शाल्वके विमानको चूर-चूर कर दिया और जब वह धरतीपर आकर युद्ध करने लगा तब अपने चक्रसे उसका सिर काट दिया।



श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि परीक्षित, शाल्वके मारे जानेपर जब भगवान् युद्ध-भूमिसे द्वारकामें जाने लगे तब दन्तवक्त्र वहाँ आगया। वह शिशुपाल, पौण्ड्रक और शाल्व सबका मित्र था। उसने अकेले ही श्रीकृष्णसे युद्ध छेड़ दिया और वह उनके प्रति अंट-संट बकने लगा, बोला कि आज मैं अपने मित्रोंसे उऋण हो जाऊँगा। यह कहकर उसने श्रीकृष्णपर अपनी गदा चलायी। लेकिन भगवान्‌ने उसकी गदाकी कोई परवाह नहीं की और अपनी कौमोदकी गदासे उसपर ऐसा प्रहार किया कि वह खून उगलता हुआ वहीं गिर गया। उसके शरीरसे भी एक ज्योति निकलकर श्रीकृष्णके शरीरमें प्रविष्ट हो गयी।

महाभारतमें यह वर्णन है कि दन्तवक्त्रकी मृत्यु शिशुपालकी मृत्युके साथ ही हुई थी और दोनोंकी ज्योतियाँ एक साथ श्रीकृष्णमें मिलीं परन्तु श्रीमद्भागवतमें दोनोंकी मृत्यु अलग-अलग वर्णित है।

दन्तवक्त्रकी मृत्युके बाद उसका भाई विदूरथ लड़ने आया और उसको भी भगवान्‌ने मार दिया। फिर भगवान् विजयी होकर द्वारकामें प्रविष्ट हुए। भगवान् तो सदा ही विजयी हैं। सहज ही उनमें उत्कर्ष है। पशुदृष्टि अथवा भेद-दृष्टिवालोंको ही ऐसा मालूम पड़ता है कि वे कभी हार जाते हैं तो कभी जीत जाते हैं।

इसके बाद जब बलरामजीने सुना कि कौरवों और पाण्डवोंमें बड़ा भारी युद्ध होनेवाला है तब उन्होंने कहा कि मैं इस युद्धमें पड़नेवाला नहीं हूँ। वे उससे उपराम होकर तीर्थयात्रापर निकल गये। उन्होंने प्रभास-क्षेत्रमें तर्पण किया। उसके बाद सरस्वती नदीके तटपर गये और वह जिधरसे आरही थी, इधर चल पड़े। मार्गमें पड़नेवाले पृथूदक, बिन्दुसर, त्रितकूप, सुदर्शन आदि तीर्थोंका भ्रमण करके यमुना-गङ्गाके तटवर्ती तीर्थोंमें होते हुए नैमिषारण्यमें पहुँच गये। वहाँ ऋषियोंने उनका बड़ा भारी स्वागत किया।

उसके बाद बलरामजीने देखा कि वहाँ सिंहासनपर बैठकर रोमहर्षण नामक सूतजी पुराणोंकी कथा सुना रहे हैं। वे बलरामजीको देखकर खड़े नहीं हुए और न ही उनको प्रणाम ही किया। इसपर बलरामजीको क्रोध आगया।

देखो, रोमहर्षणकी जाति जरा छोटी थो। वैसे शास्त्रकी दृष्टिसे रोमहर्षणजो कोई योनिज तो हैं नहीं, अयोनिज हैं। दिव्य जन्म है उनका। परन्तु दिव्यमें भी जाति-विजातिका विचार हो जाता है। बृहस्पति और इन्द्रके चरुके मिश्रणसे इनका जन्म हुआ, इसलिए प्रतिलोम हो गये।

बलरामजीने कहा कि यह रोमहर्षण बृहस्पतिके चरुमें इन्द्रके चरुसे उत्पन्न प्रतिलोम जातिका होनेपर भी ब्राह्मणोंके सिंहासनपर बैठता है। इसलिए वधके योग्य है। ऐसा कहकर पहले तो उन्होंने उनको फटकारा और फिर एक कुश उठाकर उनकी ओर फेंक दिया। उससे सूतजीकी मृत्यु हो गयी। आषाढ़ शुक्ल द्वादशी थी उस दिन। तभीसे पण्डित लोग द्वादशोको पुराण-पाठ नहीं करते।

ब्राह्मण लोग सूतजीकी मृत्युसे हाय-हाय चिल्ला उठे। कहने लगे कि यह तो ब्राह्मण था, इसको हमलोगोंने ब्राह्मणत्व दे दिया था। बलरामजी, तुमने अनजानमें इस ब्राह्मणका वध कर दिया। यह बड़ी गड़बड़ हुई। इसके लिए यदि तुम प्रायश्चित्त नहीं करोगे तो दुनियामें फिर कोई आदर्श नहीं रहेगा। सबलोग ऐसा करने लगेंगे।

बलरामजीने कहा कि ऋषियों, मैं अवश्य प्रायश्चित्त करूँगा। बताओ मैं क्या करूँ? यदि तुम कहो तो मैं इसको फिर जिला दूँ, दीर्घायु दे दूँ, बल दे दूँ। जो कहोगे, वही करूँगा।

ऋषियोंने कहा कि नहीं, तुम्हारे अस्त्र-शस्त्रका भी आदर होना चाहिए और हमलोगोंका काम भी चलना चाहिए। इसके बाद बलरामजीने रोमहर्षणके पुत्र उग्रश्रवाको आयु और इन्द्रिय-बलका दान कर दिया। फिर बोले कि अच्छा महात्माओं, यदि तुमलोग और कुछ चाहते हो तो वह भी कहो, मैं कर दूँगा। प्रायश्चित्त तो मैं करूँगा।

ऋषियोंने कहा कि पर्वके दिन इल्वलका पुत्र बल्वल नामक दानव हमारे पास आता है और हमारे यज्ञमें, सत्रमें, सत्संगमें विघ्न उत्पन्न करता है, गन्दी-गन्दी वस्तुएँ बरसाता है। इसलिए आप उसको नष्ट कर दीजिये।



श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि परीक्षित, ऋषियोंकी प्रार्थना सुनकर बलरामजी वहाँ ठहर गये। पर्वके दिन जब बल्वल आकर विष्ठा-मूत्रकी वर्षा करने लगा तब बलरामजीने अपने हल और मूसलका स्मरण किया। दोनों शस्त्र आगये और बलरामजीने उनसे बल्वलको मार डाला।

देखो, अनुसन्धान करनेसे ऐसा लगता है कि बुलन्दशहरके पास कहीं बल्वल रहता था और अलीगढ़के पास इल्वल रहता था। वहींसे वे दोनों नैमिषराण्य जाकर कथा-वार्तामें विघ्न डाला करते थे। भगवान् बलरामने उनको मारकर जहाँ गंगा-स्नान किया वह रामघाट कहलाता हैं। जब कर्णवाससे नीचेकी ओर गङ्गाजीके किनारे-किनारे चलते हैं तब रामघाट आता है। वहीं श्रीउड़िया बाबाजीका आश्रम है। बड़ा सुन्दर, बड़ा विशाल क्षेत्र है, उस स्थानका। जो क्षेत्र-माहात्म्य मिलता है, उसमें यह कथा लिखी हुई है कि बलरामजीने आकर इल्वल-बल्वलको मारनेके बाद यहाँ गङ्गा-स्नान किया था।

अब तो ऋषियोंने बलरामजीकी बड़ी स्तुति की और उनको एक माला दी, दिव्य वस्त्राभरण दिया। वहाँसे चलकर बलरामजी कौशिकी नदीके तटपर गये और वहाँ स्नान किया। वहाँसे सरयू नदीके तटपर गये और वहाँ स्नान किया। फिर प्रयाग गये और वहाँसे भिन्न-भिन्न तीर्थ-क्षेत्रोंमें स्नान करते हुए दक्षिण दिशा की ओर चले गये। दक्षिणमें भी वेणा, पम्पा, भीमरथी, श्रीशैल, वेङ्कटेश्वर, कामकोष्णी, काञ्चीपुरी, श्रीरङ्ग, ऋषभाद्रि, दक्षिण मथुरा, रामेश्वर आदि गये। उन्होंने सर्वत्र बड़ा गोदान किया। कुलाचल जाकर अगस्त्यजीका दर्शन किया। अनन्तपुर गये। फिर पञ्चाप्सरस तीर्थमें स्नान किया। केरल, त्रिगर्त आदि देशोंमें भी गये। उसके बाद शूर्पारक क्षेत्रमें पहुँचे, बादमें रेवा, माहिष्मती आदि तीर्थोंमें गये। इस प्रकार उन्होंने सारे भारतके तीर्थोंकी यात्रा की।

अन्तमें जिस दिन कुरुक्षेत्र-युद्ध समाप्त हो रहा था। उस दिन वहाँ पहुँच गये। युधिष्ठिर, नकुल, सहदेव, श्रीकृष्ण और अर्जुनने उनकी वन्दना की। उनके सामने सब-के-सब भयभीत थे कि ये न जाने क्या कहेंगे।

उस समय भीमसेन और दुर्योधन गदा-युद्ध कर रहे थे। बलरामजीने जाकर दोनोंको रोका और कहा कि देखो दुर्योधन, तुम तो गदा-युद्धकी शिक्षामें निपुण हो और भीमसेन, तुम बलमें अधिक हो। फिर तुम दोनों व्यर्थमें क्यों मरना चाहते हो? इस युद्धको अब यहीं समाप्त करो। परन्तु वे दोनों इतने जोशमें थे कि उन्होंने उनकी बात नहीं मानी।

इसपर बलरामजी दोनोंसे नाराज हो गये और वहाँसे चल पड़े। द्वारका होते हुए फिर नैमिषारण्य क्षेत्रमें आये। ऋषियोंने उनसे यज्ञ कराया। भगवान् बलरामने दक्षिणाके रूपमें उनको विशुद्ध विज्ञानका उपदेश किया—

येनैवात्मन्यदो विश्वमात्मनं विश्वगं विदुः। ३१

बलरामजीका उपदेश सुनकर ऋषिलोग आत्मामें प्रपञ्च और प्रपञ्चमें आत्माका अनुभव करने लगे, जिसका अर्थ होता है कि केवल आत्मा-ही-आत्मा है। विश्व बाधित हो जाता है और आत्मसत्ता अखण्ड रह जाती है।

परीक्षित, भगवान् बलरामजी अनन्त हैं। उनके ऐसे-ऐसे असंख्य चरित्र हैं, जिनकी गिनती नहीं की जा सकती। जो इनका चरित्र सुनता है, वह भगवान्का अत्यन्त प्यारा हो जाता है।



अब परीक्षितजीने प्रार्थना की कि महाराज श्रीकृष्णकी और कथा सुनाइये। उनकी कथा ऐसी है कि जो एक बार उसे सुन लेता है और जिसको उसका रस आजाता है, वह फिर उससे उपराम नहीं होता। 'विषण्णः काममार्गणैः' (२)—इस दुनियाँमें मनुष्यको कामके बाण लग रहे हैं और सता रहे हैं, इसलिए कौन भगवान्को मङ्गलमयी लीलाओंसे विमुख होना चाहेगा ?

सा वाग् यया तस्य गुणान् गृणीते करौ च यत्कर्मकरौ मनश्च। ३

मुनिवर, मेरी दृष्टिमें तो वाणी वही है, जो भगवान्के गुणानुवादका गान करे। हाथ वही है, जो उनकी सेवा करे। मन वही है, जो उनका स्मरण करे। कान वही है, जो उनकी कथाका श्रवण करे और सिर वही है, जो उनको प्रणाम करे। मनुष्यके अङ्ग-प्रत्यङ्ग तभी सफल हैं, जब भगवान्के काममें लग जायें।

इस प्रकार जब परीक्षितजीने कहा तब श्रीशुकदेवजी महाराज भगवान्के चरित्रका वर्णन करने लगे—

कृष्णस्यासीत् सखा कश्चिद् ब्राह्मणो ब्रह्मवित्तमः।
विरक्त इन्द्रियार्थेषु प्रशान्तात्मा जितेन्द्रियः॥ ६

परीक्षित, श्रीकृष्णका एक सखा था सुदामा। सखा उसको कहते हैं, जिसका नाम साथ-ही-साथ आजाय। एकका नाम लिया और उसके साथ दूसरेका नाम भी झट आगया तो उसे उसका सखा कहते हैं। सखा माने समान ख्यातिवाला—'सह ख्यायते इति सखा'। जैसे राम-लक्ष्मण, श्याम, बलराम, कृष्ण-अर्जुन, कृष्ण-उद्धव नाम एक साथ आते हैं, वैसे ही कृष्ण-सुदामा नाम भी एक साथ आता है।

सुदामा ब्राह्मण था, वेदका विद्वान् था और उसको विषयोंमें वैराग्य था। विषयोंमें वैराग्य हो, इन्द्रियाँ वशमें हों और मनमें शान्ति हो—ये तीनों बातें ऐसी हैं कि एकके बिना दूसरी निष्फल हो जाती है। वैराग्य तो खूब हो, लेकिन मन चञ्चल हो तो वैराग्य व्यर्थ हो जाता है। मन शान्त होना चाहिए। इसीतरह वैराग्य भी हो, मन भी शान्त हो, लेकिन इन्द्रियाँ वशमें न

हों और वे जहाँ कहें, वहाँ चले गये, तो वहीं फँस जायेंगे। इसलिए जीवनमें तीनों बातोंकी आवश्यकता है।

एक बाबा बड़े वैराग्यवान् थे। जंगलमें रहें, माँगकर खायें, लेकिन जब फिरोजबादमें पहुँचे तो दूकानोंमें घुस-घुसकर चूड़ियाँ तोड़ डालें। लोग पूछते कि बाबा, ऐसा क्यों करते हो तो बाबा बोलें कि मेरा मन जरा पिटनेका हो गया। इसपर दूकानदार उनको पीट दिया करते थे। ऐसा वैराग्य किस कामका?

सुदामाको घर-गृहस्थी थी, लेकिन कोई संग्रह उनके पास नहीं था। जो प्रारब्धानुसार मिल जाता, उसीसे सन्तुष्ट रहते। कपड़े भी अच्छे पहननेको नहीं थे, फटा-चीथड़ा पहनते थे। भरपेट भोजन न मिलनेके कारण बहुत दुर्बल थे। उनकी पत्नी भी उन्हींकी तरह भूखसे दुबली थी और कपड़े भी वैसे ही पहनती थी।

एक दिन सुदामाकी पतिव्रता किन्तु गरीबीसे दुःखी पत्नी सूखे मुँहसे, दुर्बलताके कारण थर-थर काँपती हुई उनके पास आयी और बोली कि स्वामी मैंने सुना है, साक्षात् श्रीपति भगवान् श्रीकृष्ण आपके मित्र हैं, सखा हैं। वे बड़े ब्राह्मण-भक्त और शरणागत-वत्सल हैं। फिर आप उनके पास क्यों नहीं जाते? यदि आप उनके पास चले जायेंगे और उनको मालूम होगा कि आप अन्नके बिना पीड़ित हैं तो वे आपकी ओरसे न माँगनेपर भी आपके अभावका निवारण कर देंगे।

यहाँ देखो, एक बारकी बात है। कोई सज्जन किसीको कुछ देने जा रहे थे। मैंने कह दिया कि उनको तो कुछ नहीं चाहिए। वे तो बड़े विरक्त हैं, आप उनको क्यों देते हैं? इसपर देनेवाले सज्जन बोले कि वे नहीं चाहते, विरक्त हैं सो तो ठीक है, पर इनकी पत्नी तो दुःखी होगी, इनका बेटा तो दुःखी होगा। वे भी तो इनके सम्बन्धी हैं, उनकी भी तो माँग हैं। यदि उनका ख्याल नहीं किया जायेगा, उनको वैराग्यवान्-वैराग्यवान् कहकर कुछ नहीं दिया जायेगा तो इनसे सम्बन्धित लोग दुःखी होंगे और यह हमारे लिए बड़े कष्टकी बात होगी। इसपर मुझे चुप हो जाना पड़ा और मैंने अनुभव किया कि उदार लोग देनेका कोई-न-कोई बहाना निकाल लेते हैं।

तो, सुदामा-पत्नीने कहा कि इस समय भगवान् द्वारकामें ही हैं और इतने उदार हैं कि अन्य लोग तो वस्तुओंको उठा-उठाकर देते हैं, लेकिन वे अपने आपको ही दे देते हैं। फिर उनके लिए सांसारिक पदार्थोंमें क्या रखा है!

स्मरतः पादकमलमात्मानमपि यच्छति। ११

इस प्रकार सुदामा-पत्नीने बड़ी मृदुतासे कहा, कोई जिद नहीं की कि नहीं जाओगे तो मैं अनशन कर दूँगी या रूठ जाऊँगी।

सुदामाने सोचा कि लेना-देना तो क्या है ? सबसे बड़े लाभकी बात यह है कि श्रीकृष्णका दर्शन हो जायेगा। इसलिए उन्होंने जानेकी बात तो निश्चित कर ली, लेकिन कहा कि श्रीकृष्णके पास जानेके लिए कुछ भेंट भी तो चाहिए, यदि घरमें कुछ हो तो लाकर दे दो।

अब उनकी पत्नीने एक कपड़ेका फटा हुआ टुकड़ा लिया और उसमें लपेटकर भेंट दे दी। वह भेंट क्या थी—

याचित्वा चतुरो मुष्टीन् विप्रान् पृथुकतण्डुलाम्। १४

चार मुट्ठी चिवड़ा! वह भी घरमें नहीं था। 'याचित्वा चतुरो मुष्टीन्'—ब्राह्मणी बेचारी गयी गाँवमें और चार घरोंसे एक-एक मुट्ठी 'पृथुकतण्डुल'—चिपटा चिवड़ा माँगकर ले आयी। एक घरमें लाल-लाल मिला, दूसरे घरमें सफेद-सफेद मिला, तीसरे घरमें छोटे-छोटे दाने मिले और चौथे घरमें बड़े-बड़े दाने मिले। इस तरह चार तरहका चार मुट्ठी चिवड़ा मिला। उसको ब्राह्मणी फटे चीथड़ेकी पोटलीके अन्दर बाँधकर ले आयी। घरमें कोई साबुत या साफ-सुथरा कपड़ा भी तो नहीं था कि वह उसमें बाँध करके दे। उस पोटलीमें उसकी गरीबीका सारा इतिहास लिख गया।

अब ब्राह्मण देवता सुदामाजी भेंट लेकर द्वारका गये। ब्राह्मणके लिए श्रीकृष्णके दरबारमें कोई रोक-टोक नहीं थी, सब फाटक पार करके पहुँच गये वहाँ, जहाँ श्रीकृष्ण थे। उन्होंने देखा कि श्रीकृष्ण अपनी प्रियाजीके पर्यङ्कपर बैठे हुए हैं—'प्रिया-पर्यङ्कमास्थितः' (१८)। जब श्रीकृष्णकी दृष्टि ब्राह्मणपर पड़ी तो उन्होंने एकाएक प्रियाजीको तो एक ओर किया, उठकर दौड़ पड़े और ब्राह्मणको हृदयसे लगा लिया।

हिन्दीके एक कवि नरोत्तमदासने इस प्रसङ्गका बड़ा करुण चित्रण किया है। उनके शब्दोंमें द्वारपालने श्रीकृष्णसे कहा—एक दुर्बल ब्राह्मण द्वारपर खड़ा है, जिसके सिरपर न तो पगड़ी है और न शरीरमें कुर्ता है। न जाने किस गाँवका रहनेवाला है। उसकी धोती फटी है, उसका दुपट्टा भी लटा-फटा है। उसके पाँवोंमें जूतेका निशान भी नहीं है। वह यहाँकी धरतीका सौन्दर्य देखकर चकित हो रहा है। प्रभो, वह आपका धाम पूछ रहा है और अपना नाम सुदामा बता रहा है—

सीस पगा न झगा तन मैं अरु जानेको आइ बसै केहि ग्रामा,
धोति फटी सी लटी दुपटी अरु पाँय उपानह की नहिं सामा।
द्वार खड्यो द्विज दुर्बल देखि रह्यो चकि सों वसुधा अभिरामा,
पूछत दीनदयालको नाम बतावत आपुनो नाम सुदामा॥

यह सुनते ही दौड़ पड़े भगवान् श्रीकृष्ण और सुदामाके पास पहुँचकर उनको दोनों हाथोंसे पकड़ लिया, उनसे चिपक गये—'अङ्गसङ्गातिनिर्वृतः'। (१९)

यहाँ तुलना करो। श्रीकृष्ण अपनी प्रियाजीके पर्यङ्कपर उनके साथ शयन कर रहे हैं। वहाँ वे कितने सुखी होंगे, प्रसन्न होंगे। एक तो वे स्वयं सुखस्वरूप, दूसरे प्रियाजीका सङ्ग। लेकिन जब उनको सुदामाका अङ्ग-सङ्ग प्राप्त हुआ तो निर्वृतसे अति निर्वृत हो गये। मतलब यह कि भगवान् स्वयं तो निर्वृत रहते ही हैं और जब प्रियाजीके साथ रहते हैं तब महा निर्वृत रहते हैं। जब निर्वृत ब्राह्मणके साथ मिले तब अति निर्वृत हो गये। अपने निर्वृत स्वरूपका भी अतिक्रमण कर गये। 'निर्वृतम् अतिक्रान्तः अतिनिर्वृतः'। उनको वह आनन्द आया, वह आनन्द आया कि 'प्रीतोऽव्यमुञ्चदब्बिन्दून्' (१९)—उनकी आँखोंसे आँसुओंकी धारा बहने लगी।

पानी परातको हाथ छुयो नहिं नैननके जलसे पग धोये।

इसके बाद भगवान्ने सुदामाको ले जाकर अपने पलङ्गपर बैठाया और उनके पाँव धोकर उसका जल अपने सिरपर धारण किया—

अग्रहीच्छिरसा राजन् भगवाँल्लोकपावनः। २१

फिर उनको चन्दन लगाया, धूप दिया, जैसे देवताकी षोडशोपचार पूजा की जाती है, वैसे ही उनकी पूजा की। फिर उनको ताम्बूल दिया और गाय निवेदन किया मधुपर्कमें—'ताम्बूलं गां च स्वागतमब्रवीत्'। (२२)

गाय निवेदनका अर्थ यह नहीं है कि किसीको गाय दे दी जाय और वह उसे साथ लेकर चला जाय। होता यह है कि गाय सामने लाकर खड़ी कर दी जाती है और कहा जाता है कि यह आपके दूधके लिए है।

अब नगरके स्त्री पुरुषों और दासी-दासोंने देखा कि इनके तनपर तो फटा और मलिन कपड़ा है, शरीरमें धूल-मिट्टी लगी हुई है, दुबले-पतले हैं, नसें दीख रही हैं, फिर भी इनको रुक्मिणीजी चामर लेकर डुला रही हैं और श्रीकृष्ण इनकी पूजा कर रहे हैं, तब यह दृश्य देखकर सब-के-सब विस्मित हो गये। वे सोचने लगे कि ऐसी क्या बात है जो भगवान् इस अवधूतकी पूजा कर रहे हैं—'अवधूतं सभाजितम्'। इन्होंने ऐसा क्या पुण्य किया है, जो त्रिलोक-गुरु श्रीनिवासने अपनी पत्नी रुक्मिणीजीको पलङ्गपर छोड़कर इन्हें बलरामजीकी तरह हृदयसे लगा लिया है—

पर्यङ्कस्थां श्रियं हित्वा परिष्वक्तोऽग्रजो यथा। २६

अब जब दोनों बैठ गये तब भगवान् बोले कि सुदामाजी, गुरुकुलको दक्षिणा देकर जब तुम समावृत्त हुए, तब तुमने ब्याह किया कि नहीं किया ? क्योंकि घर-गृहस्थीमें तो तुम्हारा मन था ही नहीं, फिर भी कई लोग निष्काम भावसे भी गृहस्थाश्रम-धर्मका पालन करते हैं। इसलिए बताओ, तुमने ब्याह किया कि नहीं किया ? जब हम लोग गुरुकुलमें रहते थे तब तुम्हें याद है कि कैसे एक साथ रहते थे ? वस्तुतः गुरुकुलमें ही धर्मकी सच्ची शिक्षा प्राप्त होती है और यह बड़े महत्त्वकी वस्तु है। पिता तो केवल जन्म मात्र देता है, वेदाध्यापन गुरु करता है और जो ज्ञान देता है, वह तृतीय गुरु होता है। ज्ञान देनेवाले गुरुसे ही लोग संसार-सागरके पार जाते हैं। मैं गुरु-शुश्रूषासे जैसा प्रसन्न होता हूँ, वैसा गृहस्थ आदि धर्मसे प्रसन्न नहीं होता।

सुदामाजी, तुम्हें उस दिनकी बात याद आती है या नहीं कि जब गुरु-पत्नीने हम लोगोंको ईन्धन लानेके लिए वनमें भेजा था। वहाँ जानेपर बड़ी वर्षा हुई, तेज हवा चलने लगी, रातमें हम लोग भटक गये और वहीं रह गये, लौटकर नहीं आये। जब प्रातःकाल हुआ तब गुरुजी महाराज हमें ढूँढ़ते हुए आये और बोले कि बेटा, तुम लोगोंने हमारे लिए बड़ा दुःख उठाया। सत् शिष्योंका गुरुके प्रति यही कर्तव्य है कि वे अपना सर्वस्व, यहाँ तक कि अपना शरीर भी उनकी सेवाके लिए अर्पित कर दें। 'सर्वार्थात्मार्पणं गुरौ' (४१)। अन्तमें गुरुजीने कहा कि मैं तुम लोगोंपर बहुत प्रसन्न हूँ। जाओ, तुम्हारे वेद हमेशा ताजे रहेंगे और तुम्हारा मनोरथ पूर्ण होगा।

सुदामाजीने कहा कि महाराज, जब मैंने आपके साथ गुरुकुलमें वास कर लिया तो अब मेरे लिए बाकी क्या रह गया ? आपका तो शरीर ही वेद है। फिर भी आप वेदाध्ययनके लिए गुरुकुलमें वास करते हैं, यह आश्चर्यकी बात नहीं तो और क्या है ?



श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि परीक्षित, इस प्रकारकी बातें बड़ी देरतक होती रहीं। इतनेमें भगवान्‌ने मुस्कराकर कहा कि क्यों ब्राह्मण देवता, केवल बातें-ही-बातें होती रहेंगी या मुझे कुछ भेंट भी मिलेगी? तुम्हारी पत्नीने मेरे लिए कुछ भेजा है या नहीं? मेरी बात तो ऐसी है कि मुझे प्रेमसे कोई कुछ थोड़ा भी दे तो वह मेरे लिए बहुत हो जाता है। लोग समझते हैं कि जब वे बहुत देंगे तब मैं उनपर खुश होऊँगा। लेकिन मुझको बहुत नहीं चाहिए। मुझे तो केवल प्रेम चाहिए। यदि कोई मुझको प्रेमपूर्वक 'पत्रं पुष्पं फलं तोयं' (गीता ९) भी अर्पण कर दे तो मेरे लिए वही बहुत है।

अब तो संकोचके मारे सुदामाका मुँह लटक गया। वे श्रीकृष्णका वैभव देखकर पहलेसे ही चकित थे। सोचने लगे कि इनको देने लायक मेरे पास क्या है? भला क्या ये चार मुट्ठी चिवड़ा देने योग्य है? नहीं, नहीं; मैं इनको चिवड़ा नहीं दूँगा।

अन्तर्यामी भगवान् सब-कुछ समझ गये। उन्होंने मन-ही-मन कहा कि देखो यह ब्राह्मण कितना निष्काम है। इसने कभी भी कुछ चाहकर मुझसे प्रेम नहीं किया। लेकिन अब मैं इसको दूँगा।

इसके बाद श्रीकृष्ण बोले कि अरे ब्राह्मण देवता, तुमने काँखमें यह क्या छिपा रखा है? अरे यह तो छोटी-सी पोटली है। भला देखूँ तो सही इसमें क्या हैं? अब तो सुदामाजी उसे छिपावें और श्रीकृष्ण उसे छीननेकी कोशिश करें। उनका पुराना ग्वालापन जाग्रत् हो गया। छीना-झपटीमें पोटलीका पुराना कपड़ा फट गया और उसमें-से चिवड़ा निकल आया!

श्रीकृष्ण बोले कि अरे सुदामा, इसको अब तक तुमने क्यों छिपाये रक्खा? वाह-वाह, यह तो मुझे बड़ा प्यारा है! जबसे मैं व्रजसे आया हूँ, इस द्वारिकामें ऐसा चिवड़ा कभी नहीं मिला। यह तो केवल मुझे ही नहीं, सारे विश्वको तृप्त करनेके लिए पर्याप्त हैं।

यह कहकर श्रीकृष्णने एक मुट्ठी चिवड़ा खा लिया। जब उन्होंने दूसरी मुट्ठी उठायी, तब रुक्मिणी-रूप लक्ष्मीजीने उनका हाथ पकड़ लिया और कहा कि बस-बस, क्या आप मुझे भी इनको दे डालेंगे? आप तो इतने उदार हैं कि चाहे जिसे अपने-आपको भी दे दें। लेकिन इन ब्राह्मण देवताके लिए इतना ही बस है!

परीक्षित, सुदामाजी रातभर श्रीकृष्णके महलमें ही रहे। वहाँ उन्होंने बड़े आनन्दसे भोजन-शयन किया और उनको ऐसा लगा कि वे साक्षात् वैकुण्ठमें पहुँच गये हैं।

एक महात्माने इस प्रसंगका बड़ा रोचक वर्णन किया है। उनके कथनानुसार जब भगवान्की दूसरी सोलह हजार पत्नियोंको यह पता चला कि सुदामाजी रातभर रुक्मिणीके महलमें रहे हैं और उन्होंने उनकी बड़ी सेवा की है, तब उन्होंने कहा—केवल रुक्मिणीको ही उस ब्राह्मणकी सेवाका सौभाग्य क्यों ? हम भी उस ब्राह्मणकी पूजा करेंगी। अब वे सब थालमें चन्दन, फूल, अगरबत्ती और पेड़ा लेकर आयीं और पूजन करने लगीं। सुदामाजीने पूछा कि ये कौन हैं तो श्रीकृष्ण उनका परिचय देते जायँ और सुदामाजी यह आशीर्वाद देते जायँ कि 'पतिप्रिया भव, सौभाग्यवती भव, पुत्रवती भव'। जब वे एक, दो, तीन, चार करके क्रमशः चन्दन लगाने और माला पहनाने लगीं तब श्रीकृष्णके इशारेपर कुछ स्त्रियाँ चन्दन पोंछती तथा माला निकालती जायँ। सबको आशीर्वाद देते-देते सुदामाजीका मुँह सूख गया। उन्होंने आशीर्वादकी शब्दावलीमें छँटनी कर दी और 'पति-प्रिया'को निकाल दिया। केवल 'सौभाग्यवती भव, पुत्रवती भव' रखा। फिर जब आशीर्वाद देते-देते थकावट आने लगी तब 'पुत्रवती भव' भी निकाल दिया, केवल 'सौभाग्यवती भव' रखा। उसके बाद देखा कि अभी तो पूजन करनेवालियोंका ओर-छोर नहीं, तब 'सौभाग्यवती' भी निकाल दिया, केवल 'भव-भव' बोलने लगे। जब भव-भव बोलते-बोलते भी थक गये तो 'भो-भो' बोलने लगे।

देखो, सोलह हजार एक सौ आठ स्त्रियों द्वारा पूजन सम्पन्न होना कोई आसान काम नहीं है। कई लोग समझते हैं कि चन्दन लगवाने और माला पहननेवाले बड़ी पूजा पाते हैं, बड़ी भेंट पाते हैं। लेकिन कभी-कभी मालासे, चन्दनसे, सर्दी-जुखाम हो जाता है और धूपसे खाँसी आने लगती है। फिर यहाँ यदि सब स्त्रियाँ एक-एक पेड़ा भी खिलाती तो सोलह हजार एक सौ आठ पेड़ा किसी ब्राह्मणको पचनेवाला है !

वृन्दावनके एक महात्मा सुनाते थे कि जब सुदामाजी द्वारिका आये थे, तब उनके शरीरपर एक ही कपड़ा था। स्नान करके पहननेके लिए न तो दूसरी धोती थी और न रातको ओढ़ने-बिछानेके लिए कोई कपड़ा था। यह सब तो उनके घरमें ही नहीं था। इसलिए वे एक ही धोतीको तर-ऊपर करके चले आये थे।

जब वे द्वारकामें स्नान करने लगे तो श्रीकृष्ण बोले कि लो पीताम्बर पहन लो और यह कहकर उन्होंने सुदामाको पीताम्बर पहना दिया। रातको ठण्डसे बचनेके लिए भी कपड़ा दे दिया। जब सुदामाजी घर लौटनेके लिए तैयार हुए तो श्रीकृष्ण बोले कि अच्छा सुदामाजी, तुम

यह पीताम्बर पहने हुए चले जाओ। सुदामाजी बोले कि नहीं-नहीं श्रीकृष्ण, यह मुझे अच्छा नहीं लगेगा। उन्होंने अपनी वही फटी-पुरानी धोती पहन ली।

श्रीकृष्ण बोले कि अच्छा पीताम्बर न सही तो कोट ही लेते जाओ। सुदामाजी बोले कि नहीं-नहीं, मैं कोट पहनकर बाहर निकलूँगा तो लोगोंको अच्छा नहीं लगेगा। कहाँ आपका यह कीमती कोट और कहाँ मैं गरीब आदमी। यह मैं कैसे पहनूँगा।

श्रीकृष्णने कहा कि अच्छा कोट भी नहीं सही तो कुछ खाने-पीनेका सामान ही साथ लेते जाओ। क्योंकि तुम्हें बहुत दूर जाना है। सुदामाने कहा कि नहीं-नहीं, रास्तेमें भूख लगेगी तो कहीं माँगकर खा लूँगा। कोई चिन्ता मत करो।

इस प्रकार सुदामाजी बिना कुछ लिये द्वारकासे बाहर निकले तो बोले कि देखो, श्रीकृष्ण कितने ब्राह्मण-भक्त हैं। उनके दर्शनसे कितना अद्भुत आनन्द मिला है।

देखो, जब आवरण-भङ्ग हो जाता है, तब ज्ञान और आनन्द दोनों अलग-अलग नहीं रहते। सत् है अविनाश, चित् है स्वयं प्रकाश और आनन्द है अपना स्वरूप। जबतक आवरण रहता है तबतक हमको मृत्यु छूती है, अज्ञान छूता है और दुःख छूता है। यही आवरणका लक्षण है। जहाँ आवरण-भङ्ग हुआ, वहाँ 'अति निर्वृतः'—'महद्दर्शननिर्वृतः' (१४)की स्थिति हो जाती है।

इस प्रकार सुदामाजी बड़े आनन्दमें मग्न हैं। सोचते हैं कि देखो कहाँ तो मैं परम दरिद्र और कहाँ अपने वक्षस्थलपर लक्ष्मीको धारण करनेवाले श्रीकृष्ण! फिर भी उन्होंने हृदयसे मेरा आलिङ्गन किया। कहाँ मैं पापी, अत्यन्त दरिद्र और कहाँ श्रीनिकेतन श्रीकृष्ण! परन्तु फिर भी उन्होंने मुझे हृदयसे लगाया। इतना ही नहीं, उन्होंने मुझे अपनी प्रियाके पलङ्गपर सुलाया और अपनी पत्नीसे मेरे लिए पङ्खा झलवाया—'बालव्यजनहस्तया' (१०)। उन्होंने मेरी बड़ी भारी सेवा की, मेरे पाँव दबाये—'शुश्रूषया परमया पादसंवाहनादिभिः'। (१८) वे पाद-संवाहन करनेमें कितने निपुण हैं!

सुदामाजी सोचते हैं कि सम्पत्तियाँ तो सब-की-सब श्रीकृष्णके चरणार्चनसे ही मिल जाती हैं। परन्तु उन्होंने मुझको इसलिए कोई धन नहीं दिया कि मैं घर जाकर मतवाला हो जाऊँगा और उनको भूल जाऊँगा—

अधनोऽयं धनं प्राप्य माद्यन्नुच्चैर्न मां स्मरेत्। २०

देखो, यदि किसीको एक मकान बनवाना होता है तो वह दिन-रात उसीके बारेमें मनोराज्य करने लगता है। यदि किसीको कुछ धन प्राप्त करना होता है तो वह उसीके बारेमें

मनोराज्य करने लगता है। इसलिए श्रीकृष्णने देखा कि अगर इस निर्धनको धन मिल जायेगा तो यह उसमें प्रमत्त हो जायेगा और मुझे भूल जायेगा। कितनी कृपा है श्रीकृष्णकी मेरे ऊपर !

यह सोचते-सोचते सुदामाजी रास्तेमें थोड़ी देर विश्राम करनेके लिए बैठ गये। उनकी आँखें बन्द हो गयीं और उन्हें झपकी-सी आगयी। जब आँख खुली तब देखते क्या हैं कि वे तो अपने घरके पास हैं। उन्होंने कहा कि अरे, मैं क्या देख रहा हूँ ? क्या मैं फिर द्वारका पहुँच गया ?

इतनेमें सुदामाजीकी पतिव्रता पत्नी अन्य स्त्रियोंके साथ उनके पास पहुँच गयी। उसने उनकी आरती उतारी और उनका स्वागत किया। सुदामाजीने देखा कि उनका सारा गाँव विमानकी तरह बन गया है और इन्द्रसे भी अधिक सम्पत्ति उनके यहाँ आगयी है। सोनेकी सारी सामग्रियाँ, हाथी दाँतके पलंग, स्वर्ण-दण्ड, चामर व्यजन, हैमासन, मुक्तादाम वितान, रत्नोंके दीपक।

सुदामाजी बोले कि बाबा, यह सब श्रीकृष्णकी महिमा है। उन्हींकी कृपा-दृष्टि है। वे सामने तो कुछ बोलते नहीं हैं, लेकिन पीछेसे इतना सारा भेज देते हैं। अपना दिया हुआ बहुत भी थोड़ा मानते हैं और थोड़े-से सुहृत्कृतको भी बहुत मान बैठते हैं। मेरे एक मुट्ठी चिवड़ेको उन्होंने कितने प्रेमसे ग्रहण कर लिया। बस, मुझे स्वामी मिले तो ऐसा मिले। मुझको जन्म-जन्ममें ऐसे स्वामीकी ही प्राप्ति हो। वे अपने भक्तोंको सम्पत्ति नहीं देते, राज्य-विभूति नहीं देते, यह उनकी बड़ी कृपा है। मनुष्यको तो केवल उनकी भक्ति ही करनी चाहिए।

परीक्षित इस प्रकार विचार करके सुदामा अनासक्त भावसे अपना जीवन व्यतीत करने लगे। उनके अन्दर सकाम-भावना तो थी ही नहीं, लेकिन भोग मिलनेपर भी उनका चित्त उधर नहीं गया और वे भगवान्‌के ध्यान द्वारा अपना अहंकार निवृत्त करके यह अनुभव करने लगे कि जो सृष्टि दिखायी पड़ रही है, वह सब स्वप्न है, मायाका खेल है। उन्होंने अपनी मनोवृत्तिको भगवान्‌में लगा दिया।



श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि परीक्षित, एक बार जब भगवान् राम और श्रीकृष्ण द्वारकामें निवास कर रहे थे, तब सर्वग्रास सूर्यग्रहणका पर्व पड़ा। इसलिए दोनों भाई अन्य सब यदुवंशियोंके साथ स्नान करनेके लिए समन्तपञ्चक तीर्थ कुरुक्षेत्र गये।

समन्तपञ्चक तीर्थ वह है, जहाँ परशुरामजीने क्षत्रियोंको मारकर भगवान्‌की आराधना की थी और लोगोंको प्रायश्चित्तका मार्ग दिखानेके लिए प्रायश्चित्त भी किया था।

ग्रहणके अवसरपर कुरुक्षेत्रमें भारतवर्षके सब प्रान्तोंकी प्रजा इकट्ठी हुई। उसमें अक्रूर, वसुदेव, गद, प्रद्युम्न, साम्ब आदि यदुवंशी भी वहाँ गये और उनकी बड़ी भारी शोभा हुई। वहाँ जाकर लोगोंने दान किया, राम-ह्रदमें स्नान किया और सुहृत्-सम्बन्धियोंसे मिले।

कुरुक्षेत्रमें मत्स्य, उशीनर, कोशल, विदर्भ, कुरु, सृञ्जय सब देशके लोग आये। सबको बड़ा आनन्द हुआ एक दूसरेसे मिलकर। स्त्रियाँ भी आपसमें मिलीं। यदुवंशी भी सब लोगोंसे मिले और श्रीकृष्णकी चर्चा करने लगे। वहाँ कुन्तीजीका अपने भाई-बहनों आदिसे मेल-मिलाप हुआ और उन्होंने वसुदेवसे कहा कि तुम लोग तो हमें भूल ही गये। वसुदेवने कहा कि पहले तो हम लोग बड़े दुःखमें पड़े थे, अब जब राज्य-सम्पत्ति मिल गयी तो हम लोगोंसे कुछ भूल हो गयी।

वहाँ जितने भी राजा या अन्य लोग थे सब-के-सब श्रीकृष्णका दर्शन करके बड़े प्रसन्न हुए। भीष्म, द्रोण, विराट, भीष्मक, पुरुजित्, द्रुपद, शल्य काशिराज आदि सब-के-सब श्रीकृष्णको देखकर आनन्दमें निमग्न हो गये। उनकी स्तुति करते हुए कहने लगे कि इनकी कीर्ति, इनके चरणोंका जल गङ्गा है और इनका वचन वेद है, जो तीनों लोकोंको पवित्र करता है।

कुरुक्षेत्रमें जैसे और सब लोग आये वैसे ही नन्दबाबा भी यशोदा मैया और अन्य गोप-गोपियोंके साथ वहाँ आये। यदुवंशियोंसे उन सबका मिलन हुआ। यदुवंशी नन्दबाबा आदिसे मिलकर बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने उनका गाढ़ आलिंगन किया। उन सबको सारी पुरानी बातें याद आने लगीं।

जब बलराम और श्रीकृष्ण नन्द एवं यशोदासे मिले तो उनकी आँखोंमें इतने आँसू आये कि वे कुछ बोल न सके—

न किञ्चनोचतुः प्रेम्णा साश्रुकण्ठौ कुरूद्वह। ३५

यशोदा मैया उनको अपनी गोदमें लेकर बैठ गयी। रोहिणी और देवकीजी भी वहाँ आगयीं तथा वहीं मिलकर बैठ गयीं। उनके मुँहसे भी कोई बोली न निकले। उन्होंने यशोदाजीसे कहा—

तुमने हमारे साथ जो उपकार किया है, उसका बदला नहीं चुकाया जा सकता। ये राम-कृष्ण बचपनसे तुम्हारे पास रहे और तुमने इनको आँखोंकी पुतलियोंकी तरह रक्खा। इनके माँ-बाप तो तुम्हीं लोग हों।

इसी बीचमें गोपियाँ वहाँ आगयीं और श्रीकृष्णसे मिलीं। ये वही गोपियाँ हैं, जो श्रीकृष्ण-दर्शनके समय यदि पलक गिर जाय तो उसके लिए ब्रह्माको गाली देने लगती थीं कि तुमने हमारी इन आँखोंमें पलक क्यों बनायी? उन्होंने अपनी आँखोंके द्वारसे श्रीकृष्णको हृदयमें ले जाकर आलिङ्गन किया और उनसे मन-ही-मन एक हो गयीं।

भगवान् भी गोपियोंसे एकान्तमें मिले, उनके साथ कुशल-मङ्गल, हास्य-विनोद सब-कुछ हुआ। श्रीकृष्णने पूछा कि गोपियों, तुमको कभी-न-कभी हमारी याद तो जरूर आती होगी। कहीं तुम लोग हम लोगोंको अकृतज्ञ तो नहीं समझती हो? देखो हमारे हाथमें है ही क्या? सब-कुछ ईश्वरके ही हाथ मेंहै। वही कभी किसीको मिलता है तो कभी किसीको बिछुड़ा देता है। जैसे वायु बादलों, तृणों तथा धूलि-कणोंको मिलाता और फिर उड़ा देता है, वैसे ही ईश्वर प्राणियोंका संयोग-वियोग कराता रहता है।

गोपियों, मेरे मिलनकी अपेक्षा मेरी भक्ति श्रेष्ठ है और तुम लोगोंको वह भक्ति प्राप्त है। इसलिए तुम लोग परमानन्दमें निमग्न रहो।

इस प्रसंगमें एक महात्मा मुझे बताया करते थे कि भगवान् कभी दर्शन देने आते हैं तो दो-चार मिनट भक्तसे बातचीत करके चले जाते हैं। अपने पास तो उनकी भक्ति ही पूँजीके रूपमें रहती है। इसलिए जब भगवान्के दर्शनके बाद भी हमारे पास उनकी भक्ति ही रहनेवाली है तब हम अभीसे क्यों न उनको भक्तिको ही रख लें? दर्शन तो अपने आप हो जायें तो हो जायें। नहीं हों तो नहीं हों! पर आदि अन्तमें तो उनकी भक्ति ही काम देनेवाली है।

श्रीकृष्णने कहा गोपियो, मेरे प्रति तुम्हारा जो स्नेह है, उसीसे मेरा-तुम्हारा मिलन हुआ है। अब मैं तुम लोगोंको अपनी भक्तिका फल देता हूँ—

अहं हि सर्वभूतानामादिरन्तोऽन्तरं बहिः।
भौतिकानां यथा खं वार्भूर्वायुर्ज्योतिरङ्गनाः॥ ४६

देखो, सम्पूर्ण प्राणियोंका आदि-अन्त, और अन्तराल में ही हूँ। जैसे घड़ेमें पहले मिट्टी, बीचमें मिट्टी, बादमें मिट्टी होती है, जैसे एक बूँद पानीमें पहले पानी, बीचमें पानी, बादमें पानी होता है। जैसे हवाके झोंकेमें पहले वायु, पीछे वायु, बीचमें वायु होता है; वैसे ही सम्पूर्ण विश्व-प्रपञ्चके पहले-पीछे और बीचमें मैं ही मैं हूँ।

इसमें जो कार्य-कारण मालूम पड़ता है, वह काल सापेक्ष है। काल-विशेषमें कार्य होता है और काल-विशेषमें कारण होता है। कालसे ही कार्य और कारणकी व्यवस्था ठीक बैठती है। परन्तु जो अकाल वस्तु है, उसमें कार्य और कारण तो अपेक्षाकी दृष्टिसे ही होते हैं। कालातीत वस्तुमें यह कार्य है ओर यह कारण है, इस प्रकारका विभाग कैसे होगा ? वह तो काल हीमें होता हैं। यदि देशमें कोई चीज हो तो उसमें बाहर-भीतरका विभाग बन सकता है, परन्तु देशाधिष्ठान वस्तुमें यह बाहर, यह भीतर, यह दाहिने, यह बाँयें कुछ बनता ही नहीं है। यदि एक जड़ हो और दूसरा चेतन हो तो जड़ प्रकाश्य और चेतन प्रकाशक बन जाय। किन्तु जहाँ केवल चिन्मात्र अद्वय वस्तु ही है, वहाँ यह जड़ वस्तु कहाँसे आयेगी ?

श्रीकृष्णने कहा—ये सारे भूत आत्मासे फैले हुए हैं। आत्मा तथा भूत दोनों मुझमें हैं और मैं दोनोंसे परे हूँ।

उभयं मय्यथ परे पश्यताभातमक्षरे। ४७

इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्णने उन गोपियोंको, जो प्रेमकी साक्षात् मूर्ति हैं और जिनसे बढ़कर दूसरा कोई प्रेमी इस सृष्टिमें मिलना मुश्किल हैं, अध्यात्मकी शिक्षा दी—

अध्यात्मशिक्षया गोप्य एवं कृष्णेन शिक्षिताः।
तदनुस्मरणध्वस्त जीवकोशास्तमध्यगन्॥ ४८

परिणाम यह हुआ कि भगवान्की इस शिक्षाका अनुस्मरण करके गोपियोंके जीव-कोशका ध्वंस हो गया और उनको परमात्माका अधिगम अर्थात् साक्षात् अपरोक्ष वस्तुका अनुभव हो गया।

इसके बाद गोपियाँ बोलीं कि महाराज, ठीक है। आत्मदृष्टिसे हम-आप एक हैं, परन्तु ऐसी कृपा आप कीजिये कि हमारी मनोवृत्ति, हमारा व्यक्तित्व और अन्तःकरण हमेशा आपके चरणारविन्दके चिन्तनमें लगा रहे। हमें भले ही घरमें काम करना पड़े, लेकिन आपका चरणारविन्द हमारे मनमें बसा रहे।

इस सम्बन्धमें महात्मा लोग यह वर्णन करते हैं कि जो गोपियाँ पहले ऋषि-मुनि थीं, ज्ञान-वासनासे भजन करती थीं, किन्तु बादमें भगवान् श्रीराम और भगवान् श्रीकृष्णको देखकर, मधुर भावमें आगयीं अथवा जो गोपियाँ पहले श्रुतियाँ थीं और भजन करके गोपी बन गयीं, उनको भगवान्ने उनकी पूर्व-वासनाके अनुसार ज्ञानका उपदेश करके, उनकी इच्छा पूरी कर दी। किन्तु जो गोपियाँ नित्य-सिद्ध हैं, कृपा-सिद्ध हैं, साधन-सिद्ध हैं और भगवान्के नित्य-लोकमें जाती रहती हैं, वे तो हमेशा गोपियाँ ही रहती हैं। उनको भगवान् अपनी नित्य लीलामें ही रखते हैं और उनके साथ वैसे ही नाचते, गाते बजाते हुए क्रीड़ा करते रहते हैं।



श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि परीक्षित, इस मिलनके पहले तक तो भगवान् गोपियोंके केवल प्यारे थे, परन्तु अब उनकी गति वही, उनके ब्रह्म वही, और गुरु भी वही हो गये— 'गोपीनां स गुरुर्गतिः'। (१) ऐसा करके भगवान्ने उनपर महान् अनुग्रह किया।

इसके बाद भगवान्ने धर्मराज युधिष्ठिर आदिसे मिलकर उनका कुशल-मङ्गल पूछा। उन लोगोंने कहा कि महाराज, जबतक आपकी मङ्गल-कथा सुननेको मिलती है, आपके दिव्य चरित्र सुननेको मिलते हैं; तबतक हमारे लिए अमङ्गलकी सम्भावना ही कहाँ? आप तो परमानन्द-स्वरूप, अकुण्ठशक्ति हैं। हम तो आपको ही नमस्कार करते हैं।

परीक्षित, इस प्रकार एक ओर जहाँ पुरुष लोग भगवान्की स्तुति कर रहे थे, वहाँ दूसरी ओर यादव और कौरव-कुलकी स्त्रियाँ इकट्ठी होकर आपसमें बातचीत करने लगीं। उनकी बातचीतके विषय भी श्रीकृष्ण ही थे।

सबसे पहले द्रौपदीने एक-एक कृष्ण-पत्नीका नाम ले-लेकर सम्बोधित किया और कहा कि तुम लोग अपने-अपने ब्याहकी कथा बताओ! भगवान्ने कैसे-कैसे तुम्हारे साथ ब्याह किया?

रुक्मिणीने बताया कि द्रौपदीजी, सबलोग चाहते थे कि मेरा ब्याह शिशुपालके साथ हो। लेकिन मैं तो श्रीकृष्णको ही चाहती थी। इसलिए उन्होंने सिंहकी तरह मेरा हरण करके मेरे साथ ब्याह किया।

सत्यभामाने बताया कि किस प्रकार उसके पिता सत्राजितने मुझे श्रीकृष्णको दे दिया।

जाम्बवतीने कहा कि श्रीकृष्णने युद्ध करके मेरे पिता जाम्बवान्को पराजित किया और फिर मुझे प्राप्त किया।

कालिन्दीने कहा कि मुझे तो अर्जुनके साथ यमुना-तटपर जाकर अपने-आप ही उठा लाये।

मित्रविन्दाने कहा कि स्वयंवरमें बड़े-बड़े राजाओंको जीतकर मुझे अपने घर ले आये। मैं तो यही चाहती हूँ कि जन्म-जन्ममें इनके चरणोंकी दासी बनी रहूँ।

सत्याने बताया कि मेरे लिए तो उन्होंने सात बैलोंको एक साथ नाथ दिया था। मैं कोई मामूली नहीं हूँ। मेरे-लिए ही उन्होंने इतना बड़ा काम किया।

भद्राने कहा कि मेरे पिता श्रुतकीर्तिने अपने मातुलेय कृष्णको बुलाकर और यह जानकर कि मैं उनसे प्रेम करती हूँ, मुझे स्वयं दे दिया था। ब्राह्म विवाह तो हमारा ही हुआ है। मुझे उन्हींके चरणोंका स्पर्श मिलता रहे, यही मैं चाहती हूँ।

लक्ष्मणाने कहा कि मेरा मन श्रीकृष्णसे ब्याह करनेके लिए लालायित था। उसके लिए उन्होंने ही उपाय किया। तुम समझती हो कि मत्स्य-वेध तुम्हारे लिए ही हुआ था। परन्तु तुमसे भी बड़ा मत्स्य-वेध मेरे लिए हुआ। तुम्हारे मत्स्य-वेधके समय तो मछलीकी छाया दिखती थी, लेकिन मेरे यहाँ तो मछली ढकी हुई थी। फिर भी बिना देखे ही श्रीकृष्णने उसका वेध कर दिया और मुझे प्राप्त कर लिया। मैंने स्वयं आकर श्रीकृष्णके गलेमें माला पहनायी। बड़ा भारी उत्सव मनाया गया। भगवान् मुझे लेकर अपने नगरमें आये। जिन लोगोंने बाधा डाली, उनको मार दिया। मैं तो बस यही चाहती हूँ कि जन्म-जन्ममें श्रीकृष्ण ही हमारे स्वामी हों। मुझको और कुछ नहीं चाहिए।

आत्मारामस्य तस्येमा वयं वै गृहदासिकाः।
सर्वसङ्गनिवृत्त्याद्धा तपसा च बभूविम ॥ ३९

अन्तमें सोलह हजार पत्नियोंमें प्रमुख रोहिणीने बताया कि श्रीकृष्णने कैसे भौमासुरको मारकर हम सबको प्राप्त किया। उन्होंने कहा कि सखि, हमलोग तुमसे अपने हृदयकी बात सही-सही कहती हैं कि हमें साम्राज्य, स्वाराज्य, भौज्य, वैराग्य, पारमेष्ठ्य अथवा आनन्त्य-मोक्ष कुछ भी नहीं चाहिए। हम तो बस इनके चरणोंकी वह धूलि चाहती हैं, जिसको लक्ष्मीजी अपने शरीरपर धारण करती हैं। हम वही चाहती हैं, जिसको व्रजकी स्त्रियाँ तथा वहाँके तृण, वीरुध और गोप आदि चाहते हैं।

इस प्रकार श्रीकृष्णकी सभी पत्नियोंने अपने-अपने विवाहकी कथा सुनायी और यह प्रकट किया कि उनके पति उनसे ही अधिक प्रेम करते हैं।



श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि परीक्षित, श्रीकृष्ण-पत्नियोंका यह वार्तालाप द्रौपदीके अतिरिक्त कुन्ती, गान्धारी, सुभद्रा आदिने भी सुना और वे उनका पारस्परिक स्नेह-प्रेम देखकर आश्चर्य-चकित हो गयीं।

इसी समय श्रीराम-कृष्णका दर्शन करनेके लिए व्यास, नारद, च्यवन, देवल, असित, विश्वामित्र आदि बड़े-बड़े ऋषि-मुनि आये। उन सबको पाण्डवों और राम-कृष्ण आदिने उठ-उठकर नमस्कार किया उन महापुरुषोंकी बड़ी सेवा-शुश्रूषा हुई। भगवान् श्रीकृष्णने महात्माओंसे कहा कि आज हमारे इस जीवनका सम्पूर्ण फल मिल गया कि देवताओंके लिए भी दुर्लभ आप योगेश्वरोंका दर्शन प्राप्त हुआ। जिन्होंने पूर्व जन्ममें बहुत थोड़ी तपस्या की है और जो लोग सन्तोंकी सेवा, भगवत्कथा तथा सत्सङ्ग छोड़कर मूर्त्ति-विशेषका दर्शन करने चले जाते हैं, उनको आपके दर्शन, स्पर्श, कुशल-प्रश्न, प्रणाम और पादार्चनादिका सौभाग्य प्राप्त नहीं होता।

न ह्यम्मयानि तीर्थानि न देवा मृच्छिलामयाः। ११

पानीके तीर्थ ही तीर्थ नहीं हुआ करते और मृच्छिलाके देवता ही देवता नहीं हुआ करते— वैसे होते तो हैं, सनातन-धर्मी लोग उनको बहुत मानते हैं, परन्तु उनसे बहुत देरमें कल्याण होता है और सत्पुरुषोंके द्वारा बहुत जल्दी कल्याण हो जाता है—

ते पुनन्त्युरुकालेन दर्शनादेव साधवः। ११

निस्सन्देह तीर्थ भी हैं, देवता भी हैं, परन्तु वे देरसे फल देते हैं, जबकि साधु लोग तत्काल फल देते हैं। अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा, तारा, पृथिवी और जल चाहे मूर्तिके रूपमें हों, चाहे तत्त्वके रूपमें हों, इनकी उपासना करनेसे भेद-बुद्धि बढ़ती है। परन्तु सत्पुरुषोंकी, विपश्चितोंकी दो घड़ी सेवा करनेसे भी कल्याण हो जाता है—

विपश्चितो घ्नन्ति मुहूर्तसेवया। १२

जो व्यक्ति वात-पित्त-कफ इन त्रिधातुक मुर्दा शरीरको तो आत्मा मानता है, पत्नी आदिको अपनी मानता है, पत्थर अथवा पञ्चभूतसे बनी हुई मूर्तिको पूज्य मानता है और जलको तीर्थ मानता है; परन्तु अभिज्ञ सज्जनोंको न आत्मा मानता है, न आत्मीय मानता है, न पूज्य मानता है और न तीर्थ मानता है, वह तो गाय-बैलके समान पशु है—'स एव गोखरः'। (१३)

परीक्षित, श्रीकृष्णके इन गुरु वचनोंको सुनकर महात्मा लोग चुप रह गये। उनकी बुद्धि चकरा गयी और वे आपसमें कहने लगे कि श्रीकृष्ण कह क्या रहे हैं—'वचो दुरन्वयं विप्राः'। (१४) इसकी तो संगति लगाना बड़ा मुश्किल है। फिर चिरकालतक विचार करनेके बाद उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि भगवान् लोक-संग्रहके लिए ही ऐसा कह रहे हैं, जिससे कि सब लोग महात्माओंको मानें।

इसके बाद महात्माओंने कहा—महाराज, आपकी मायासे हम लोग मोहित हैं। आप

अनीश्वरके समान आचरण कर रहे हैं। आपकी बात कोई समझ नहीं सकता। आप इच्छा-रहित होनेपर भी अनेक रूप धारण करते हैं। भक्तोंकी रक्षा और दुष्ट-निग्रहके लिए ही आपका तत्त्वात्मक रूप होता है। इसीलिए आप ब्राह्मण-कुलकी महिमाका गान करते हैं। आप ही ब्राह्मणोंमें मुख्य हैं और आप ही ब्राह्मण-भक्तोंमें सबसे श्रेष्ठ हैं—'तद् ब्रह्मण्याग्रणीर्भवान्'। (२०) आज हमारा जन्म और हमारी विद्या, तपस्या, दृष्टि, सब कुछ आपसे मिलकर सफल हो गयी। आपका मिलना परम कल्याणोंका अन्त है—'यदन्तः श्रेयसां परः'। (२१) जितने भी श्रेयस हैं, उन सबकी आप अवधि हैं। आप साक्षात् सद्गति हैं, इसलिए जब आप मिल गये तो बाकी क्या रहा? आपने योगमायासे अपनी महिमाको आच्छन्न कर रखा है। औरोंकी तो बात ही क्या, स्वयं आपके साथ आहार-विहार करनेवाले यदुवंशी लोग भी आपको नहीं पहचानते। जिस प्रकार सोते समय सब वृत्तियाँ आत्मामें पहुँच जाती हैं, लेकिन आत्माको पहचानती नहीं, क्योंकि उनका आवरण-भंग नहीं हुआ रहता; उसी प्रकारकी दशा लोगोंकी है। लोग आपको देखकर भी, आपके पास पहुँचकर भी, आपको पहचानते नहीं हैं।

ऐसी स्तुति करनेके बाद जब मुनि लोग जानेके लिए तैयार हुए तबतक वहाँ वसुदेवजी आगये। उन्होंने महात्माओंको प्रणाम किया और कहा कि महाराज, आप लोग कोई ऐसा उपाय बताइये, जिससे कर्म-बन्धनसे छुटकारा मिले।

देखो, श्रीमद्भागवतमें कई बार यह प्रसंग आया है कि–'कर्मणा कर्मनिर्हारो न ह्यात्यन्तिक इष्यते (६.१.११) इसका अर्थ है कि केवल कर्मके द्वारा कर्मकी निवृत्ति नहीं हो सकती। क्योंकि जब कर्म होगा तब कर्तापना बना रहेगा, कर्मवासना भी बनी रहेगी और उसका फल हम चाहे या न चाहें, किसी-न-किसी रूपमें प्रकट होगा।

महात्माओंके साथ नारदजी भी थे। उन्होंने ऋषियोंसे कहा कि आप लोग वसुदेवकी बात सुनकर आश्चर्य मत कीजिये। ये तो श्रीकृष्णको अपना बेटा समझते हैं। इसीलिए हम लोगोंसे अपनी भलाईकी बात पूछते हैं।

बहुत पास रहनेसे यही दशा होती है। गङ्गाजीके किनारे रहनेवाले लोग सोचते हैं कि हम पुष्कर, कुरुक्षेत्र आदिके सरोवरोंमें स्नान कर आयँगे तो हमारी पवित्रता हो जायेगी। परन्तु गङ्गाजीसे बढ़कर तो इस सृष्टिमें स्नानका और कोई स्थान नहीं है। शास्त्रोंमें ऐसा विधान है कि यदि आप किसी नदी या सरोवरमें स्नान करें तो यह भावना करें कि हम गङ्गामें ही स्नान कर रहे हैं। परन्तु यदि गङ्गामें स्नान कर रहे हों तो किसी नदी या सरोवरकी याद न करें, सीधे गङ्गाकी भावनासे ही गङ्गामें स्नान करना चाहिए।

नारदजीने कहा कि भगवान् श्रीकृष्ण वसुदेवजीके बेटे हैं। फिर भी वसुदेवजी हमसे पूछने आते हैं। यह श्रीकृष्णको मनुष्य मानने और इनके बहुत पास रहनेका फल है।

परीक्षित, इसके बाद ऋषियोंने श्रीकृष्ण-बलरामके सामने ही वसुदेवजीसे कहा—देखो हम तुम्हें कर्मसे कर्म काटनेका उपाय बताते हैं। वह उपाय यह है कि तुम्हारे पास जो भी शुक्ल वित्त हो, उसे श्रद्धापूर्वक यज्ञमें लगाओ और उसके द्वारा भगवान्‌की आराधना करो—

यच्छ्रद्धया यजेद् विष्णुं सर्वयज्ञेश्वरं मखैः। ३५

यही चित्तकी शान्तिका उपाय है। यह सुगम योग है, आत्ममुदावह धर्म है और स्वस्त्ययन पन्थ है—

यच्छ्रद्धयाऽऽप्तवित्तेन शुक्लेनेज्येत पूरुषः। ३७

देखो, 'शुक्लेन' का अर्थ है ईमानदारीकी कमाईसे, चन्दा करके भी नहीं, जितना अपने पास हो उतनेसे ही, श्रद्धाके साथ भगवान्‌की आराधना करें। क्योंकि पैसेकी गिनती भगवान् नहीं गिनते। वे तो देखते हैं केवल श्रद्धा। धन अपना होना चाहिए, यह नहीं कि कहींसे लूटकर ले आये और यज्ञ करने बैठ गये। मनमें जो एषणाएँ हैं, उनको छोड़ना चाहिए। मनुष्य तीन ऋण लेकर आया है—ऋषि-ऋण, पितृ-ऋण और देव-ऋण। यज्ञ, अध्ययन और पुत्र-इनके द्वारा तीनों ऋण दूर हो जाते हैं। इन ऋणोंसे मुक्त होनेके बाद ही संन्यास लिया जाता है। वसुदेव तुम्हें क्या करना है, तुम्हारे तो बेटे हैं साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण!

अब वसुदेवने कहा कि जब यज्ञका इतना महत्त्व है, तब क्यों न इसी समय यज्ञ हो जाय। उन्होंने महात्माओंका वरण कर लिया। बड़ा भारी उत्सव हुआ। बाजे बजने लगे, नट-नर्तक नाचने लगे, सूतादि स्तुति करने लगे, गन्धर्व गान करने लगे। जैसे चन्द्रमाके साथ नक्षत्र होते हैं, वैसे ही वसुदेवके साथ उनकी अट्ठारह पत्नियाँ थीं। अट्ठारहों पत्नियाँ जीवत्व-पर्यन्त सूक्ष्म शरीरके अवयव हैं। उनको वशमें करके ही वसुदेव भगवान्‌को अपना पुत्र बनाते हैं।

वसुदेवने प्राकृत और वैकृत दोनों प्रकारके यज्ञ किये। सबको खूब दक्षिणा लुटायी। उन्होंने किसीको भी अतृप्त नहीं रखा। यहाँतक कि श्वपचोंसे लेकर कुत्तोंतकको तृप्त किया। सब लोग उनकी प्रशंसा करते हुए लौटे।

इसके बाद धृतराष्ट्र और व्यास आदिमें जो बड़े-बड़े लोग थे, उनका भी वसुदेवजीने आदर किया। नन्द और ग्वालोंकी भी खूब पूजा की और उनको भेंट दी। उनको विदा करते समय वसुदेवजीने कहा कि नन्दजी, पहले हम लोग जब तकलीफमें थे, तब आपका कोई हित नहीं कर सके, किन्तु जब हमें सुख मिला तब आपकी याद ही नहीं आती। जहाँ आदमी धन और मकानके चक्करमें पड़ा कि उसे अपने रिश्तेदार-नातेदार सब भूल जाते हैं।

अब तो नन्दबाबा और वसुदेवजी दोनों रोने लगे। अन्तमें सब लोग अपने-अपने यहाँ लौट गये तथा तीर्थ और तीर्थ-यात्रामें जो कुछ हुआ था, उसका वर्णन करने लगे।



श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि परीक्षित, द्वारका लौटनेपर एक दिन राम और कृष्ण दोनों वसुदेवजीके पास प्रणाम करनेके लिए आये। वैसे तो वे रोज ही अपने माता-पिताके पास प्रणाम करनेके लिए आते थे। परन्तु अब ऋषियोंके द्वारा राम-कृष्णका प्रभाव और महत्त्व सुनकर उनके प्रति वसुदेवकी श्रद्धा-प्रीति बढ़ गयी थी। इसलिए वसुदेव बोले कि कृष्ण और संकर्षण, मैं जानता हूँ कि तुम लोग प्रधान पुरुष हो और तुमसे यह सृष्टि हुई है। तुम्हीं सबमें प्रवेश करके सबको जीवित रखते हो। सब शक्तियाँ तुम्हारे पराधीन हैं और तुम स्वतन्त्र हो। संसारमें जो कुछ भी है, वह सब तुम्हारी सत्तासे है। दिशाओंमें तुम अवकाश हो, इन्द्रियोंमें विषय-प्रकाशन शक्ति हो। इस प्रकार वसुदेवने एक-एक विषयका नाम लेकर कहा कि तुम्हीं उन सबके प्रकाशक हो। असलमें ये सब तुम्हारे स्वरूपमें हैं हो नहीं। अज्ञानी लोग ही इस गुण-प्रवाहको देखते हैं। तुम हमारे पुत्र नहीं हो, साक्षात् परब्रह्म परमात्मा हो। मैं तुम्हारी शरणमें हूँ। तुमने पहले मुझे यह बात बतायी भी थी कि ब्रह्मभावसे हमारा चिन्तन करना।

परीक्षित, वसुदेवकी यह बात सुनकर भगवान् मुस्कराने लगे और उन्होंने कहा कि पिताजी, आप अपने पुत्रके प्रति ब्रह्म-ज्ञानका उपदेश कर रहे हैं—

यन्नः पुत्रान् समुद्दिश्य तत्त्वग्राम उदाहृतः। २२

असलमें जैसा आपने कहा, वैसा ही मेरा स्वरूप है। मैं ब्रह्म हूँ, आप भी ब्रह्म हैं, ये बलरामजी भी ब्रह्म हैं, द्वारिकावासी भी ब्रह्म हैं और समस्त चराचर सृष्टि भी ब्रह्म है, क्योंकि यहाँ एक ही नाना रूपोंमें प्रकट हो रहा है—

आत्मा ह्येकः स्वयंज्योतिर्नित्योऽन्यो निर्गुणो गुणैः।
आत्मसृष्टैस्तत्कृतेषु भूतेषु बहुधेयते ॥ २४

यह सुनकर वसुदेवजी महाराजको लगा कि उनकी नानात्व-बुद्धि नष्ट हो गयी है और वे चुप हो गये।

इसके बाद देवकीने कहा कि कृष्ण, मैंने सुना है कि तुम अपने गुरुके मरे हुए बेटेको

यमपुरीसे ले आये थे। मेरे भी छह बेटोंको जन्मते ही कंसने मार दिया था। उनके बिना मुझे बड़ी पीड़ा होती है। इसलिए उनको लाकर मुझे दिखा दो।

अब श्रीकृष्ण और बलराम दोनों बलिके सुतल लोकमें गये। वहाँ बलिने उनकी विधिवत् पूजा और स्तुति की। बलिने भगवान्‌की आज्ञासे देवकीके छहों पुत्रोंको दे दिया। बलराम-श्रीकृष्णने बलिको बता दिया कि ये छहों पहले मरीचिके पुत्र थे। बादमें ब्रह्माका उपहास करनेके कारण उनके शापसे असुर-योनिमें हिरण्यकशिपुके पुत्रके रूपसे उत्पन्न हुए। फिर योग-मायाके द्वारा ये देवकीके गर्भमें आये और वहाँ इनको पैदा होते ही कंसने मार डाला। वहींसे ये तुम्हारे यहाँ आये। अब इनको हम लोग देवकीके पास ले जायेंगे और वहाँ इनका कल्याण हो जायेगा।

इसके बाद राम-कृष्ण उन पुत्रोंको लेकर देवकीके पास आये। उनको देखकर देवकीका वात्सल्य उमड़ आया और उन्होंने उनको अपना वह स्तन पिलाया, जिसे श्रीकृष्ण कभी पी चुके थे। इसलिए उनको भगवान्‌का प्रसाद मिल गया।

इस प्रसङ्गसे यह सिद्ध होता है कि भगवान् श्रीकृष्ण देवकोका स्तन-पान करते थे। वे बारह बरसके बाद ही तो मथुरा पहुँचे थे और देवकोके स्तनमें तो दूध-ही-दूध था—

पीत्वामृतं पयस्तस्याः पीतशेषं गदाभृतः।
नारायणाङ्गसंस्पर्श-प्रतिलब्धात्मदर्शनाः॥ ५५

जब उन पुत्रोंको नारायणके अङ्गका स्पर्श प्राप्त हुआ तब उनको आत्मदर्शन हो गया। वे देवलोकमें चले गये।

परीक्षित, भगवान् श्रीकृष्णकी शक्ति अनन्त है। उनके ऐसे-ऐसे अद्भुत चरित्रोंका पार नहीं पाया जा सकता। उन चरित्रोंके श्रवण-श्रावणमें पाप-नाशकी महाशक्ति है।



: ८६ :

अब राजा परीक्षितके पूछनेपर श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं—एक बार अर्जुन तीर्थ-यात्रा करते हुए प्रभास-क्षेत्रमें आये और वहाँ उन्होंने सुना कि बलरामजी उनके मामा वासुदेवजीकी लड़की सुभद्राका विवाह दुर्योधनके साथ करना चाहते हैं—

तल्लिप्सुः स यतिर्भूत्वा त्रिदण्डी द्वारकामगात् । ३

यह सुनकर उनके मनमें आया कि दुर्योधन श्रीकृष्णका बहनोई बन जायेगा तो ठीक नहीं रहेगा। उसके साथ इनका सम्बन्ध होना हमारे लिए लाभदायक नहीं है। इसलिए बहनोई तो मैं ही बनूँगा।

योजनानुसार अर्जुन यति बन गये। कैसे यति बने ? त्रिदण्डी यति बने। यज्ञोपवीत और शिखा सहित यति बने ? जिससे कि विवाह करनेकी गुञ्जायश बनी रहे। यदि शिखा और यज्ञोपवीत निकालकर एकदण्डी बन जाते तो विवाह करना अशोभन लगता। वैसे शास्त्रमें संन्यास-ग्रहणके लिए एक दण्ड और त्रिदण्ड दोनोंका विधान है। जैसे—

यदैव विदितं तत्त्वं परं ब्रह्म सनातनम् ।
तदैकदण्डं संगृह्य सोपवीतां शिखां त्यजेत् ॥

इसका अर्थ है कि यदि संन्यासी एक दण्ड ग्रहण करे तब तो शिखा और सूत्रका परित्याग कर दे तथा त्रिदण्ड ग्रहण करे तो शिखा-सूत्रको रक्खे।

अर्जुनने त्रिदण्डी बनकर वहाँ चातुर्मास्य किया। एक दिन बलरामजी उसे भिक्षा करानेके लिए अपने घर ले आये। वहाँ सुभद्राकी और उनकी आँखें मिल गयीं, दोनोंके मन मिल गये।

असलमें देवकी, वसुदेव और श्रीकृष्ण—ये तीनों चाहते थे कि सुभद्राका विवाह अर्जुनसे ही हो। इसलिए अर्जुनके सामने कोई विशेष बाधा नहीं थी।

एक दिन जब सुभद्रा मेला देखने गयी तब अर्जुन वहींसे उसका हरण करके ले गये। जब भेद खुला तब बलरामजी बड़े नाराज हुए और उन्होंने कहा कि पाण्डवोंपर चढ़ाई कर दो। श्रीकृष्णने समझाया कि भैया लड़की तो किसी-न-किसीको देनी ही थी, वह किसी अयोग्यके हाथमें तो गयी नहीं है। दुर्योधनमें ही ऐसा क्या सद्गुण है कि आप बहिनका विवाह उसीसे करें। दुर्योधन न सही तो अर्जुन ही सही।

इसपर बलरामजी शान्त हो गये। अर्जुनके पास दहेज भिजवा दिया। बोले कि अच्छा बाबा लड़कीके विवाहसे पिण्ड छूटा, वह अच्छे घर चली गयी।

देखो, कभी ऐसा प्रसंग आजाय तो माँ-बापको नाराज नहीं होना चाहिए। यदि लड़कोकी पसन्द अच्छी हो तो उसका अनुमोदन ही कर देना चाहिए। मनुजी महाराजने लिखा है—

त्रीणि वर्षाण्युदीक्षेत कुमार्यृतुमतो सती।
ऊर्ध्वं तु कालादेतस्माद्विन्देत सदृशं पतिम्॥ ९.९०

कन्याओंके भी कुछ अधिकार होते हैं। यह मैं उनको उत्तेजित करनेके लिए नहीं कह रहा हूँ। माँ-बापको स्वयं हो उनका ख्याल करना चाहिए।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि परीक्षित, श्रीकृष्णके एक सखा थे, जिनका नाम था श्रुतदेव। उनके हृदयमें अनन्य श्रीकृष्ण-भक्ति थी। वे पूर्ण मनोरथ, परम शान्त, ज्ञानी और विरक्त थे। विदेह-देश मिथिलामें रहते थे और ऐसे सद्गृहस्थ थे कि अपने आप जो कुछ मिल जाता था, उसीसे निर्वाह करते थे, किसीसे कुछ माँगते नहीं थे। ऐसा प्रारब्ध उनका था कि प्रतिदिन खाने-पीने भरकी चीजें उनके पास आजाती थीं और उन्हींसे वे सन्तुष्ट रहते थे। इसके अतिरिक्त और कुछ वे चाहते नहीं थे।

उन दिनों मिथिलाके राजा थे बहुलाश्व। जिस राज्यमें श्रुतदेव जैसा ब्राह्मण हो, उसका राजा भो पवित्र हो जाता है। जैसे श्रुतदेव, वैसे ही बहुलाश्व। दोनों निरहम्मान, दोनों अच्युत-प्रेमी। ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों एक साथ मिलकर ही उन्नति करते हैं—

नाब्रह्म क्षत्रमृध्नोति नाक्षत्रं ब्रह्म वर्धते।

देखो, भगवान्‌के भक्त चाहे उनसे कितने भी दूर हों, भगवान् उनसे दूर नहीं होते। क्योंकि वे सर्वत्र व्यापक हैं। इसलिए भगवान् श्रीकृष्ण राजा बहुलाश्व और श्रुतदेवकी भक्तिसे परिचित थे। श्रीकृष्ण स्वभावसे ही ब्रह्मण्य हैं। उनके जीवनमें यह बात देखनेमें आती है कि जो वेद-शास्त्रोंके चिन्तन-मनन, अध्ययन-अध्यापन और अनुष्ठानमें लगे रहते हैं, उनके प्रति उनका बड़ा सम्मान है और उनको वे देवतातुल्य मानते। फिर ऐसे लोग यदि त्यागी, तपस्वो और विरक्त हों तब तो कहना ही क्या है?

अतः भगवान् श्रीकृष्ण श्रुतदेव और बहुलाश्वपर प्रसन्न होकर हमको दर्शन देनेके लिए विदेह-देशकी ओर चल पड़े। उन्होंने अपने साथ नारद, वामदेव, अत्रि, वेदव्यास, परशुराम, असित, आरुणि, बृहस्पति, कण्व, मैत्रेय, च्यवन और मुझे भी ले लिया। मार्गमें पड़नेवाले सब नगरोंमें भगवान्‌की तथा उनके साथ हम सबकी सेवा-पूजा हुई, सत्कार हुआ। दर्शन करनेवाले स्त्री-

पुरुषोंको बड़ा आनन्द मिला और उन्होंने भगवान् तथा महात्माओंके उदार हास एवं स्निग्धेक्षणका रसास्वादन किया। उन सबको अभयदान करते हुए भगवान् विदेह-देशमें पहुँचे। वहाँकी सारी प्रजा उनके दर्शनोंके लिए टूट पड़ी। सबने श्रीकृष्ण और ऋषियोंको प्रणाम निवेदित करके उनका बड़ा स्वागत-सत्कार किया।

अब राजा बहुलाश्व और श्रुतदेव दोनों यह मानें कि श्रीकृष्ण तो हमारे ऊपर अनुग्रह करनेके लिए ही आये हैं। दोनोंने उनको अपने-अपने घर आमन्त्रित किया! भगवान्‌ने भी दोनोंका आमन्त्रण एक साथ स्वीकार कर लिया और दो रूप धारण करके उनके घर गये। उन्होंने केवल अकेले ही दो रूप धारण नहीं किये, उनके साथ मेरे सहित जितने भी ऋषि-मुनि थे, सेवक थे, जितनी वस्तुएँ थीं, सबके दो-दो रूप हो गये। जैसे ब्रह्मा द्वारा गोवत्स-हरणके समय भगवान्‌के विभिन्न रूप हो गये थे, वैसे ही उन्होंने विदेह-देशमें दो-दो रूप धारण कर लिये।

बस, अन्तर केवल इस बातका हुआ कि राजा बहुलाश्वके घरमें तो भगवान् कई दिनोंतक अतिथि बनकर रहे, लेकिन श्रुतदेवको केवल एक दिनके आतिथ्यकी प्रतीति हुई, जो बहुलाश्वके अट्ठाइस दिनोंके आतिथ्यके बराबर थी।

इसका आप अनुसन्धान करके देख सकते हैं। श्रुतदेवके यहाँ जो केवल एक दिन भगवान्‌का स्वागत-सत्कार और सत्संग हुआ, उसमें न तो दिन मालूम पड़ा और न रात मालूम पड़ी। भगवान्‌ने दिन-रातका भान ही मिटा दिया। किन्तु बहुलाश्वके घरके सत्संगमें रात-दिन आते रहे और विश्राम हो।

विदेहराज बहुलाश्वने यह अनुभव किया कि दुष्ट लोग जिनका नाम श्रवण भी नहीं कर पाते, वे ही भगवान् श्रीकृष्ण बड़े-बड़े महात्माओंको साथ लेकर उनके घर पधारे हैं। उन्होंने बड़े प्रेमसे उनका स्वागत-सत्कार किया, उनके चरण-रजको मस्तकमें लगाया और चरणोदक लेकर सिरपर धारण किया।

उसके बाद राजा बहुलाश्व भगवान्‌के चरणोंको अपनी गोदमें रखकर उन्हें बड़े प्रेमसे सहलाते हुए आनन्द-पूर्वक उनकी स्तुति करने लगे—प्रभो, आप तो साक्षी स्वदृक् हैं। जो आपके चरणाम्भोजका स्मरण करते हैं, उन्हींको दर्शन देते हैं। आप अपना वचन सत्य सिद्ध करनेके लिए ही हमारे घरमें आये हैं। आपने स्वयं ही यह कहा है कि मुझे मेरे एकान्त भक्तसे बढ़कर न तो बलराम प्यारे हैं, न लक्ष्मी प्यारी हैं और न अज-ब्रह्मा प्यारे हैं।

यदात्थैकान्तभक्तान्मे नानन्तः श्रीरजः प्रियः। ३२

ऐसी स्थितिमें आपके चरण-कमलको कौन छोड़ सकता है? आपका स्वभाव तो ऐसा है कि जब आपने देखा, एकान्त प्रिय, शान्त और निष्किञ्चन मुनि लोग और कुछ नहीं चाहते, तब

उन्हें अपने-आपको ही दे दिया—'मुनीनां यस्त्वमात्मदः' (३३)। आप बोले कि मुनियो, यह जो मेरा 'मैं' है, वह मेरा नहीं, आपका मैं है। अब आप सब लोग 'सोऽहम्-सोऽहम्' करना। इस प्रकार जो कुछ भी नहीं चाहते, उनको आपने अपना सर्वस्व दान कर रक्खा है।

राजा बहुलाश्वने आगे कहा कि आपने यदुवंशमें अवतार लेकर यशका विस्तार किया है। हम आपके चरणोंमें नमस्कार करते हैं। हमारी प्रार्थना है कि आप कुछ दिनोंतक हमारे घरमें ही निवास कीजिये और अपनी चरण-धूलिसे निमिवंशको पवित्र कीजिये।

राजा बहुलाश्वकी प्रेम-भरी प्रार्थना भगवान् श्रीकृष्णने स्वीकार कर ली और कई दिनोंतक उन्हीके घरमें रह गये—

इत्युपामन्त्रितो राज्ञा भगवाँल्लोकभावनः।
उवास कुर्वन् कल्याणं मिथिलानरयोषिताम्॥ ३७

इधर श्रुतदेवके घर भी भगवान् उसी समय पहुँचे, जब राजा बहुलाश्वके घर गये। जैसे राजाने उनका स्वागत-सत्कार प्रेमपूर्वक किया, वैसे ही श्रुतदेवने भी किया। पर उनके पास न तो वैसे आसन थे और न खिलाने-पिलानेकी ही सामग्री थी। वहाँ न नाच, न गाना और न बजाना। 'धुन्वन् वासो ननर्त ह (३८)—भगवान्के पधारनेपर श्रुतदेव अपना पल्ला हिला-हिलाकर नृत्य करने लगे। उन्होंने बैठनेके लिए चटाई बिछा दी, पीढ़ा दे दिया—'तृणपीठबृसीष्वेतान्' (३९)। क्योंकि उनके घरमें कोई फर्नीचर तो था नहीं। जो आसन था, उसीपर बैठा दिया, स्वागत किया, पाँव धोया और उसी जलसे स्नान किया। फिर उनके घरमें जो कुछ फल-अर्हण-उशीर था, मीठा-मीठा पानी था, तुलसी-कुश-अम्बुज था 'सत्त्वविर्धनान्धसा (४१)—सवाँ आदि खाद्यान्न था, वह समर्पित किया, खिलाया-पिलाया।

इसके बाद 'उवाचाङ्घ्र्यभिमर्शनः' (४३)—भगवान्के चरणोंका स्पर्श करके श्रुतदेवने कहा—प्रभो, आज आप मेरे घर पधारे, यह मेरा बहुत बड़ा सौभाग्य है। लेकिन आप यह मत समझें कि आज पहले-पहल ही मुझे दर्शन देनेके लिए आपका आगमन हुआ है—'नाद्य नो दर्शनं प्राप्तः' (४४)। आ [illegible] तभीसे मिले हुए हैं, जबसे आपने अपनी शक्तियोंसे यह सृष्टि बनायी और इसमें आत्मसत्तासे प्रवि [illegible]। जैसे मनुष्य स्वप्नमें रहकर स्वप्नको देखता है, वैसे ही आप सृष्टिको प्रकाशित करते हैं। जो आपकी पूजा करता है, कीर्तन करता है, संवाद करता है, उसीके हृदयमें आप भासते हैं। जिनकी बुद्धि कर्म-विक्षिप्त हो गयी है, उनके लिए आप हृदयमें रहकर भी दूर है। मैं तो आपके चरणोंमें नमस्कार करता हूँ। अब आप मुझे कुछ शिक्षा दीजिये—

स त्वं शाधि स्वभृत्यान् नः किं देव करवमहे।
एतदन्तो नृणां क्लेशो यद् भवानक्षिगोचरः॥ ४९

मनुष्यके लिए क्लेश तभीतक है, जबतक आप उसके अक्षिगोचर न हों। आपके दर्शनोंमें ही समस्त क्लेशोंकी परिसमाप्ति है। आज तो आप मेरी आँखोंके सामने हैं। फिर मैं क्या कहूँ ?

इसके बाद भगवान्‌ने श्रुतदेवका हाथ पकड़ लिया—'गृहीत्वा पाणिना पाणिम्' (५०)।

देखो, हाथसे हाथ केवल आजकल ही नहीं मिलाया जाता। पहलेके लोग भी किसीके ऊपर बहुत खुश होते थे तो उसके हाथ-से-हाथ मिलाते थे। भागवतमें तो पच्चीसों बार पाणि-स्पर्श, कर-स्पर्श करनेका प्रसंग आया है।

अब भगवान्‌के बोलनेकी रीति देखो। वे कहते हैं—ब्राह्मण देवता, ये बड़े-बड़े ऋषिमुनि आपपर अनुग्रह करनेके लिए ही पधारे हैं। अपने पादरेणुसे लोकको पवित्र करनेके लिए ही मेरे साथ विचरण कर रहे हैं। ये जिन स्थानोंपर जाते हैं, वे स्थल इनकी दृष्टिसे ही पवित्र हो जाते हैं। ब्राह्मण जन्मसे श्रेष्ठ है। फिर उसमें तपस्या, विद्या, सन्तुष्टि—ये सब मेरी कलाएँ हों तब तो कहना ही क्या है।

न ब्राह्मणान्मे दयितं रूपमेतच्चतुर्भुजम्। ५४

मेरा जो चतुर्भुज रूप है, वह मेरी दृष्टिमें ब्राह्मणसे अधिक श्रेष्ठ नहीं है। मेरे रूपसे ज्यादा श्रेष्ठ ब्राह्मण ही है।

सर्ववेदमयो विप्रः सर्वं देवमयो ह्यहम्। ५४

ब्राह्मण वेदमय है और मैं देवमय हूँ। दुष्प्रज्ञ लोग इसको नहीं जानते। इसलिए तिरस्कार करते हैं। संसारमें जितने भाव हैं, जितना चराचर विश्व है और जो इसके कारण हैं, ये सब मेरे स्वरूप हैं। ब्राह्मण मुझे पहचान करके—'मदीक्षया'। (५६) अपने स्वरूपमें धारण करते हैं। इसलिए तुम इनकी पूजा करो। इन्हींको पूजासे मैं प्रसन्न होता हूँ। बड़े वैभवसे प्रसन्न नहीं होता।

श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि इस प्रकार प्रभुके आदेशसे श्रुतदेव और बहुलाश्व दोनोंको सद्गति प्राप्त हुई।

देखो, यहाँ 'भक्त-भक्तिमान्' पदका प्रयोग है, जो भागवतमें केवल इसी स्थानपर है। इसका अर्थ है कि भगवान् अपने भक्तके भक्त हैं। भक्तोंकी भक्ति भगवान्‌के साथ लगी रहती है।

भगवान् श्रुतदेव और बहुलाश्व दोनों भक्तोंके पास रहे और उनको सन्मार्गका आदेश किया, सद् वस्तुका ज्ञान कराया और यह बताया कि परमात्माका साक्षात्कार कैसे होता है ? उसके बाद द्वारका चले गये।

ॐ

अब राजा परीक्षितने पूछा कि भगवन्, जब भगवान्ने श्रुतदेव-बहुलाश्वको परमात्म-तत्त्वका उपदेश किया तब शब्दोंका ही तो प्रयोग किया होगा। लेकिन शब्दके प्रयोगसे शब्दातीत भगवान् कैसे समझाये जा सकते हैं ? 'ब्रह्मन् ब्रह्मण्य निर्देश्ये' (१)—ब्रह्म तो कोई निर्देशका विषय है नहीं। क्योंकि उसमें कोई गुण ही नहीं है। वाणी जब किसीका वर्णन करती है तब या तो वह उसके गुण द्वारा या क्रिया द्वारा या उसके रूप द्वारा उसका वर्णन करती है। शब्दकी शक्तियाँ सारी-की-सारी व्यवस्थित हैं। फिर जो सत् और असत्से परे हैं, अर्थात् अस्ति-नास्ति दोनोंका विषय नहीं है, उसका वर्णन श्रुतियाँ किस प्रकार करेंगी ? यह आप हमें बताइये।

श्रीशुकदेवजी महाराजने कहा कि परीक्षित, भगवान्ने जीवोंके चतुर्विध पुरुषार्थकी सिद्धिके लिए बुद्धि, इन्द्रिय, प्राण और मनकी सृष्टि की—

मात्रार्थं च भवार्थं च आत्मनेऽकल्पनाय च। २

इसका अर्थ है कि जीवनमें विषय-भोग भी यथोचित प्राप्त हों, अगला जन्म भी ठीक-ठीक मिले, लोकान्तरमें स्वर्गकी प्राप्ति हो और अन्तमें ऐसा मोक्ष मिले, जिसमें कोई कल्पना ही नहीं रहती। कहनेका अभिप्राय यह है कि श्रुति, जब वर्णन करने लगती है तब कार्य-कारणादिमें अनुस्यूत सगुण ईश्वरका ही वर्णन करती है—

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति। तै० उप० ३.१.१

श्रुति यह भी वर्णन करती है कि ईश्वर गुणोंसे अनभिभूत है, सर्वज्ञ है, सर्वेश्वर है, सर्वोपास्य है, सच्चिदानन्द है, भगवान् है। जैसे सम्पूर्ण वेद-शास्त्रों और पुराणोंमें परमेश्वरका वर्णन है, ठीक वैसी ही, उसके वर्णनकी प्रणाली है। लेकिन अन्तमें जब श्रुति तत्त्वमसि, अहं ब्रह्मास्मि बोलती है तब यह अल्पज्ञ, अल्पशक्ति जीव और वह सर्वज्ञ सर्वशक्ति ईश्वर दोनों एक हो जाते हैं।

श्रुति यह बताती है कि किस प्रकार सर्वज्ञ और अल्पज्ञ, दोनों एक हो जाते हैं ? अन्वयानुपपत्ति होनेसे महावाक्यमें लक्षणा करके अभिधेयसे सम्बद्ध पदार्थ चिन्मात्रका बोध श्रुतियाँ कराती हैं। असत्रूप उपाधिका निरसन करके परमात्माके सत्यस्वरूप प्रत्यक्-चैतन्याभिन्न अद्वय ब्रह्मका प्रतिपादन श्रुतियाँ करती हैं।

मतलब यह कि श्रुतियाँ मुख्यतः सगुणका और तात्पर्यतः अद्वैतका प्रतिपादन करती हैं। इसलिए सम्पूर्ण श्रुति-स्मृति-शास्त्रकी एक-वाक्यता है। उपाधि-निषेध तथा नेति-नेति आदिके द्वारा जो निर्विशेष निर्धर्मक चिन्मात्र परमात्मा है, वहीं श्रुतियोंका पर्यवसान है। इसमें कोई शङ्का नहीं करनी चाहिए। जो श्रद्धाके साथ इस ब्राह्मी उपनिषद्का गान करता है, उसको परम पदकी प्राप्ति होती है।

अब इस प्रसंगको और स्पष्ट करनेके लिए श्रीशुकदेवजी महाराज नारायण-नारदके संवादका, इतिहासका उल्लेख करते हुए कहते हैं कि एक बार नारदजी बदरिकाश्रममें पहुँचे और वहाँ उन्होंने नारायणका दर्शन किया। नारायण वदरिकाश्रममें तपस्या करते हैं, किन्तु अपने लिए नहीं—'क्षेमाय स्वस्तये नृणाम्' (६)—लोगोंके कल्याण और स्वस्तिके लिए। वहाँ नारदजीने नारायणको प्रणाम करके वही प्रश्न किया, जो तुमने मुझसे किया है कि निर्गुण और सगुण ब्रह्ममें गुणवृत्ति श्रुतियाँ कैसे विचरण करती हैं ?

इसका उत्तर भगवान्ने यह दिया कि देखो, नारद, पहले जन-लोकमें एक ब्रह्म-सत्र हुआ था। उसमें सनकादि ऋषि आये थे और वहाँ भी यह प्रश्न उठा था।

यह सुनकर नारदजीने कहा कि महाराज, ऐसा सत्संग-सत्र हो गया, उसका मुझे पता नहीं चला और मैं उसमें सम्मिलित नहीं हुआ—यह कैसे हुआ ?

भगवान् बोले कि नारद, उस समय तुम श्वेत द्वीपमें दर्शन करने चले गये थे। इसलिए तुम्हें उसका पता नहीं चला और तुम उस सत्संगसे वञ्चित रह गये। वहाँ सनकादिकोंने सनन्दनको प्रवक्ता बना दिया और शेष भाई श्रोता बन गये।

सनन्दनने कहा कि जब परमात्मा सारी शक्तियोंके साथ इस विश्व प्रपञ्चको अपने अन्दर पीकर सो जाता है तब प्रलयका अन्त होनेपर सृष्टिके प्रारम्भमें श्रुतियाँ उसका उद्बोधन करती हैं—ठीक वैसे ही, जैसे कोई सम्राट् शयन कर रहा हो और बन्दो लोग उसके पराक्रमका वर्णन कर रहे हों। उस समय श्रुतियाँ इस प्रकार वर्णन करती हैं—

जय जय जह्यजामजित दोषगृभीतगुणां त्वमसि यदात्मना समवरुद्धसमस्तभगः।
अगजगदोकसामखिलशक्त्यवबोधक ते क्वचिदजयाऽऽत्मना च चरतोऽनुचरेन्निगमः॥ १४

सत् ही सबका मूल है। महाप्रलयके समय सभी वस्तुओंके बीज सत्में ही शयन करते हैं, बिना बीजके सृष्टिकी स्थिति-उत्पत्ति और प्रलय नहीं चल सकता—

कथमसतः सज्जायेत। छान्दोग्य उप० ६.२.२

सन्मूला सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः। छान्दोग्य ६.८.४

प्रजा सन्मूल सदायतन सत्प्रतिष्ठ है। समय-समयपर सृष्टिप्रलय होते रहते हैं। कभी नित्य प्रलय होता है, कभी नैमित्तिक प्रलय होता है, कभी महाप्रलय होता है और सृष्टिकी परम्परा चलती रहती है। किन्तु सृष्टिकी निवृत्ति तब होती है, जब आत्यन्तिक प्रलय होता है।

देखो, श्रीमद्भागवतमें स्थान-स्थानपर आत्यन्तिक प्रलयका वर्णन है। आत्यन्तिक प्रलय तब होता है, जब बीजका निषेध करके निर्बीज परमात्मा और आत्मामें कोई भेद नहीं है—इसका बोध होता है।

पहले सबीज परमात्माका वर्णन करती हुई श्रुतियाँ कहती हैं—जय जय प्रभो, जीत लो, अपना उत्कर्ष प्रकट करो। 'जह्यजाम् जहि अजाम्'—यह जो अविद्या है, माया है, बकरी है, इसको ज्यादा महत्त्व मत दो, मार डालो। जब साधारण कर्मकाण्डी लोग भी अजाको कोई महत्त्व नहीं देते तब प्रभो, आप इसको महत्त्व क्यों दें?

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वी प्रजाः सृजमानां सरुमाम्'। (श्वेताश्व० उप० ४.५) यह बहुत बच्चे देनेवाली है और लाल-काली-पीली तिरंगी है। इसको मार डालो। 'कैसे मारें? यह तो बड़ी गुणवती है।' गुणवती है तो क्या हुआ? इसने 'दोषगृभीतगुणां'—दोषके लिए गुणोंको धारण किया है।

यहाँ देखो, गृभीतगुणांमें 'ह'का 'भ' हो गया है। वेदमें ऐसा हो जाता है। 'हृग्रहोर्भश्छन्दसि'। (वार्तिक ८.२.३२) तो, यह गुणवती बनकर बैठी है। लेकिन 'माया किया सिंगार बैठी बीच बाजार।' इसने जो श्रृङ्गार किया है, अपनेमें जो गुण दिखा रहो है, सब दूसरोंको ठगनेके लिए है।' अच्छा, हम इसको मारने जायें और इससे हार जायें तब क्या होगा' 'नहीं, आप अजित हैं, आपको यह नहीं हरा सकेगी। लेकिन यदि हम इसको न मार सकें तो?' ऐसा नहीं हो सकता। 'त्वमसि यदात्मना समवरुद्धसमस्तभगः'—आप तो अपने स्वरूपसे ही सम्पूर्ण ऐश्वर्यको अपने अन्दर लेकर बैठे हैं। इसलिए आपके द्वारा इसके मारे जानेमें कोई सन्देह नहीं है?

'अगजगदोकसाम् अजाम् जहि'—प्रभो, यह सबके भीतर लगी हुई है, इसको जला दीजिये। यदि आप कहें कि जीव ही अपनी शक्तिसे इसको क्यों नहीं मार देता? तो इसका उत्तर है कि 'अखिलशक्त्यवबोधक'—आप ही इस शक्तिको जगानेवाले हैं।

क्वचिदजयाऽऽत्मना च चरतोऽनुचरेन्निगमः।

यहाँ मानों भगवान् बोले कि हम इस अविद्या मायाको मार देंगे, इसका क्या प्रमाण है। इसपर श्रुतियाँ कहती हैं कि इससे बढ़कर प्रमाण और क्या होगा? शब्दके बारेमें कान प्रमाण है, रूपके बारेमें आँख प्रमाण है, स्पर्शके बारे त्वचा प्रमाण है और प्रत्यक्षके द्वारा लिङ्गग्रहण होनेपर,

ठीक-ठीक व्याप्तिग्रहण होनेपर अनुमान-प्रमाण भी हो जाता है। उपमान, अर्थापत्ति अनुपलब्धि भी उसीके अन्तर्गत है। लेकिन जो वस्तु नित्य अपरोक्ष होकर भी, स्वरूप होकर भी, अज्ञात हो जाय तो? यदि कोई राजकुमार अपने-आपको भील मानने लग जाय, डाकू मानने लग जाये तब वहाँ उसके राजकुमार होनेका क्या प्रमाण होगा? वहाँ तो सिवाय इस वाक्यके कि तू भील नहीं है, राजकुमार है और क्या प्रमाण हो सकता है? इसलिए नित्य परोक्ष स्वर्गादि और उनके साधन धर्मादिमें वाक्यके सिवाय और कोई प्रमाण नहीं।

यदि नित्य अपरोक्ष प्रत्यक्-चैतन्याभिन्न ब्रह्मत्व भी अपनेसे अलग हो तो जड़ हो जायेगा, दृश्य हो जायेगा, विकारी हो जायेगा, नाशवान् हो जायेगा और यदि अपनेसे अलग होकर परोक्ष हो तो कल्पना-मात्र हो जायेगा।

तब परमात्माका साक्षात्कार कैसे हो? प्रत्यक्-चैतन्याभिन्नतया हो सकता है। लेकिन जो प्रत्यक् चैतन्याभिन्न होकर भी अज्ञात हो रहा है, उसकी अज्ञातता मिटाने और ज्ञातता उत्पन्न करनेके लिए क्या उपाय होना चाहिए? बोले कि केवल निगम प्रमाण है, जो अपौरुषेय है और भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा, करणापाटवादि दोषसे रहित है। 'अपौरुषेय'—अर्थात् पुरुष-प्रयत्नसे जो ज्ञान होता है उससे विलक्षण, स्वतः सिद्ध, सहज ज्ञानको अभिव्यक्त करनेवाली श्रुतिके सिवाय और कोई प्रमाण नहीं हो सकता।

वेदमें ईश्वरके बहुत नाम मिलते है। इन्द्र, अग्नि आदि-आदि। यह सब नाम कहने मात्रके लिए हैं—

बृहदुपलब्धमेतदवयन्त्यवशेषतया। १५

असलमें सब नाम एकके ही हैं—

एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति। ऋग्० १.१६४.४६
एकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति। ऋग्० १०.११४.५

विद्वान् लोग सब नामोंमें-से एक ही परमात्माका वर्णन करते हैं। सारे नाम ब्रह्मके ही हैं। सब नाम, रूप ब्रह्म ही है, क्योंकि सबके न रहनेपर भी वह अवशेषतया रहता है और उसीसे सबका उदय तथा अस्त होता है। उसी तरह जैसे 'विकृतेर्मृदि' (१५)—घटादि विकारोंकी उत्पत्ति, स्थिति मिट्टीमें ही होती है, फिर क्या वह विकारी है? विकारी नहीं है, निर्विकार है।

अत ऋषयो दधुस्त्वयि मनोवचनाचरितं
कथमयथा भवन्ति भुवि दत्तपदानि नृणाम्॥ १५

जिस ऋषिने, जिस द्रष्टाने, जिस अनुभवी पुरुषने उसको जान लिया, देख लिया, उसका कहना है कि मैं मनसे जो सोचता हूँ, वह परमात्मा है—'यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र समाधयः'।

मैं वचनसे जो बोलता हूँ, वह परमात्मा है—'यद-यद् वदति वाचा व तत् तद् ब्रह्मेति।' मैं कानसे जो सुनता हू, वह परमात्मा है—'यद् यत् शृणाति श्रोत्राभ्यां तत्-तत् ब्रह्मेति।' इस प्रकार वह जो वाणीसे बोलता है—वह ब्रह्म, जो मनसे सोचता है वह ब्रह्म और जो आकार देखता है वह ब्रह्म। क्योंकि जितने भी आकार हैं, रूप हैं, आभास हैं, सब-के-सब ब्रह्म हैं।

कथमयथा भवन्ति भुवि दत्तपदानि नृणाम्। १५

कोई मनुष्य धरतीपर पाँव तो रखे और कहे कि वह धरतीपर नहीं है तो उसका ऐसा कहना कैसे बन सकता है? इसी प्रकार मनुष्य कुछ बोले और कुछ सोचे तो वह ब्रह्म न हो, ऐसा कैसे हो सकता है? क्योंकि ब्रह्मके सिवाय तो दूसरी कोई चीज ही नहीं है। इसलिए वह जो-जो सुनता है, सोचता है, देखता है, सब परमात्मा है।

इति तव सूरयस्त्र्यधिपतेऽखिललोकमल
क्षपणकथामृताब्धिमवगाह्य तपांसि जहुः। १६

इसमें जो सूरि पद है, वह केवल श्रीमद्भागवतका ही नहीं है, यह तो ऋग्वेदका भी है ओर ऋग्वेदसे पुराना कोई ग्रन्थ ही नहीं है—

तद् विष्णोः परमं सदा पश्यन्ति सूरयः।
दिवीव चक्षुरातम्॥ ऋग्० १.२२.२०

तो, जो सूरि हैं और परमात्माका दर्शन करते हैं, वे भगवान्‌के कथामृत-समुद्रमें डुबकी लगा-लगाकर अपने मलका परित्याग कर देते हैं। वह कथा-समुद्र छोटा नहीं, बहुत विशाल है—इतना विशाल है कि उसमें सारी सृष्टि डुबकी लगाकर अपने मलका परित्याग कर सकती है। जो उसमें डुबकी लगाता है, उसके तपस् अर्थात् दूसरे साधनका दुःख छूट जाता है। दुःखका हेतु पाप छूट जाता है। पापका हेतु वासना छूट जाती है। वासनाका हेतु कर्तृत्व-भोक्तृत्व छूट जाता है और कर्तृत्व-भोक्तृत्व हेतु अविद्या छूट जाती है। जब कथामृतमें इतना सामर्थ्य है तो जो लोग स्वयं-प्रकाश परमात्माका अनुभव कर लेते हैं और जिन्होंने आशय-गुण रागादि और काल-गुण जरामृत्यु आदिका विधूनन कर दिया है और भगवान्‌के अजस्र सुखानुभव पदका भजन करते हैं, उनके सम्बन्धमें तो कहना ही क्या?

वे प्राणी लोहारकी धौंकनीकी तरह साँस लेते हैं, जो उस परमात्माका भजन नहीं करते। जिसने यह महद्-अहमादि सारी विश्व-सृष्टि बनायी है—वह परमात्मा कहीं दूर नहीं है। इस शरीरमें ही पुरुषके समान है! अन्वय है उसका इसमें। जो पुरुषका आकार है, वही उसका आकार है। वह अन्नमय कोशमें अन्नमय आकार चेतन है। प्राणमय कोशमें प्राणमय-आकार चेतन है। उसमें प्राणमयका आकार आरोपित हो जाता है। मनोमय कोशमें मनोमयावच्छिन्न चैतन्य है। विज्ञानमय

कोशमें विज्ञानमयावच्छिन्न चैतन्य है। आनन्दमय कोशमें आनन्दमयावच्छिन्न चैतन्य है। न वह सत् है, न असत् है। सद्-असद् अस्ति-नास्ति सबसे परे है। वह तो सब-में-सब है। अमृतस्वरूप है।

कई लोग ऐसे होते हैं, जो नाभि-चक्रमें भगवान्‌की आराधना करते हैं। कोई-कोई हृदय-चक्रमें भगवान्‌की आराधना करते हैं, कोई-कोई शिरश्चक्रमें भगवान्‌की आराधना करते हैं, कोई-कोई कर्म-प्रधान आराधना करते हैं, कोई भाव-प्रधान आराधना करते हैं और कोई ज्ञान-प्रधान आराधना करते हैं।

पुनरिह यत् समेत्य न पतन्ति कृतान्तमुखे। १८

आराधना चाहे जैसे भी हो; जहाँ त्रिद् वस्तुका अनुभव हुआ, वहाँ फिर कभी मृत्युमें गिरना नहीं होता। वह सबके अन्दर व्याप्त है। लकड़ी छोटी-बड़ी होती है, परन्तु आग छोटी-बड़ी नहीं होती। 'अनलवत् स्वकृतानुकृतिः' (१९) लकड़ीकी आकृति अग्निपर आरोपित हो जाती है।

अथ वितथास्वमूष्ववितथं तव धाम समम्। १९

जितनी भी योनियाँ हैं, सब-की-सब लकड़ीकी तरह वितथा हैं, मिथ्या हैं। इनमें अविचल धाम परमात्माका है। परतु सबको इसका अनुभव नहीं होता।

विरजधियोऽन्वयन्त्यभिविपण्यव एकरसम्। १९

जिनकी बुद्धि निर्मल है और जो लेन-देनके व्यापारसे, सकाम भावसे मुक्त हैं, वे इस एक रस वस्तुका अनुभव करते हैं। परमात्मा अपनी बनायी हुई पुरियोंमें बाह्य और अन्तरका संवरण न रखकर पुरुषके रूपसे भरा हुआ है। यह पुरुष उसी अखिल शक्तिधारीका अंश है। प्रत्येक जीवकी अन्तिम गति यही है। इसको विद्वान् लोग जान लेते हैं और अपने सम्पूर्ण वेदान्तका विन्यास भगवान्‌के चरणोंमें करके विश्वास-पूर्वक नित्य उनकी आराधना करते हैं। उनके चरित्र महामृत-समुद्रमें जो डुबकी लगाते हैं, तैरते हैं, उस लीलामें परिश्रम करते हैं, उसको समझते हैं, उनको मोक्षकी इच्छा नहीं होती—

न परिलषन्ति केचिदपवर्गमपीश्वर ते। २१

जो उस अमृताब्धिको जान लेते हैं, उसमें डुबकी लगा लेते हैं, शुद्ध हो जाते हैं, जिन्हें परमात्माके स्वरूपका अनुभव हो जाता है, उनके सामने मुक्ति क्या चीज है? अरे मुक्ति तो वे लोग चाहते हैं, जो बद्ध हैं। जो स्वयं मुक्त हैं, उनको मुक्ति चाहनेकी क्या जरूरत है? जो अपवर्ग है, वह अपवर्जनात्मक है। सबका निषेध कर देनेपर जो शेष रह जाता है, वह अपवर्ग है। इसमें वर्ग-भेद नहीं है कि यह एक नम्बरका है कि दो नम्बरका है कि तीन नम्बरका है।

देखो, आजकल लेने-देनवाले इस तरहके नम्बरवाले लोकोंका शास्त्र निकालते हैं। यह समयकी विडम्बना ही है कि शास्त्रका अध्ययन-अध्यापन करके उसकी अनुभूति करना तो दूर रहा, नाना-प्रकारके लोकोंकी निराधार कल्पना होने लगी।

अपवर्ग एक-दो-तीन या दस नम्बरका लोक नहीं है, अपवर्ग तो परमात्माका लोक है। उसमें वर्ग-भेद बिल्कुल नहीं है। वहाँ कोई ऊँच-नीच नहीं होता। छोटा-बड़ा नहीं होता। वह ज्ञानलोक है, प्रेमलोक है, सत्‌लोक है। वह सत्‌लोक होनेके कारण आकार-लोक नहीं है, चित्‌लोक होनेके कारण जड़लोक नहीं है—विषय-लोक नहीं है, आनन्द-लोक होनेके कारण दुःखलोक नहीं है। यदि वहाँ वर्गभेद रहेगा तो दुःख तो बना ही रहेगा। वह तो अपवर्ग है, उसमें पवर्ग (प-फ-ब-भ-म) अर्थात् पाप-पुण्य, फल, बन्ध, भोग, मोक्षकी गति नहीं है।

'चरणसरोजहंसकुलसङ्गविसृष्टगृहाः' (२१)—भगवान्‌के चरणारविन्दके हंस महात्मा लोगोंका साथ मिल गया तो घर-द्वार भूल गया। यह शरीर भगवान्‌के अनुकूल चलता है— 'त्वदनुपथं कुलायमिदम्'। (२२)

कुलाय माने धरतीमें लीन होनेवाला—'कौ लीयते इति कुलायम्'। अन्तमें जो मिट्टीमें मिल जाय, उसे कुलाय कहते हैं। इसे जलाओ चाहे दफनाओ और उसपर सङ्गमरमरकी समाधि बनाओ, लेकिन मिट्टी तो मिट्टीमें ही जायेगी। क्योंकि इसका नाम कुलाय है।

यह शरीर ईश्वरके अनुपथ है और कहो तो उसको आत्मवत्, सुहृद्वत्, प्रियवत् करता है। भगवान् भी हित है, प्रिय है, आत्मा है और उन्मुख है। फिर भी लोग असद् देहादिकी उपासनामें ऐसे लग जाते हैं कि परमात्माको छोड़ देते हैं। इससे उनको दुष्ट शरीर प्राप्त करके उरुभय प्रपञ्चमें विचरण करना पड़ता है। बड़े-बड़े योगियों और मुनियोंको प्राणायाम आदि करनेपर जो गति प्राप्त होती है, वह तो भगवान्‌के शत्रुओंको भी मिल जाती है, क्योंकि उनका स्मरण तो उनको भी होता है। लेकिन जो प्रेमसे भगवान्‌का भजन करते हैं, उनको इस जीवनमें भी सुख है और भगवान्‌से मिल जानेपर भी सुख है। परन्तु जो द्वेषसे भगवान्‌का स्मरण करते हैं, उनको इस जीवनमें तो दुःख है, लेकिन मरनेके बाद अवश्य उनको भगवान् मिल जाते हैं।

'उरगेन्द्रभोगभुजदण्डविषक्तधियः' (२३)—भगवान्‌के भुजदण्ड-युगसे आसक्ति करनेवाली गोपियोंको भी वही गति मिलती है, जो 'अङ्घ्रिसरोजसुधाः' अर्थात् भगवच्चरणारविन्दके मकरन्द रसका पान करनेवाली श्रुतियोंको मिलती है; क्योंकि भगवान् समदर्शी हैं।

जो ऋषि-मुनि और देवता लोग बादमें पैदा हुए और पहले ही मर जायेंगे, वे परमात्माको पहचानें कैसे ? क्योंकि जिस समय भगवान् सब-कुछ समेटकर सो जाते हैं, उस समय न तो सत् रहता है, न असत् रहता है और न कालकी ही कोई गति रहती है। महाप्रलयकालमें भगवान्‌के सिवा दूसरी कोई वस्तु रहती ही नहीं। कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि 'जनिमसतः' (२५)— मुक्ति आत्माका स्वरूप नहीं है, वह साधन करनेसे पैदा होती है और कुछ लोग कहते है कि 'सतो मृतिम्' (२५)—बन्धन तो सच्चा है, लेकिन साधन करनेसे निवृत्त होता है। किन्तु मुक्ति

और बन्धनको, उनके उदय और मरणको सत्य माननेपर तो पैदा हुई मुक्ति भी मर जायेगी और मरा हुआ बन्धन भी उदय हो जायेगा--

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः । गीता २.६१

कोई-कोई आत्मामें भेद मानते हैं—जैसे सांख्य आदि। 'विपणमृतं स्मरन्ति' (२५)—कई लोग इस व्यवहारको ही सच्चा समझते हैं—जैसे मीमांसक आदि। 'उपदिशन्ति त आरुपितैः'—न्याय, वैशेषिक, योग, सांख्य पूर्व मीमांसा अध्यारोपको ही सत्य समझकर उपदेश करते हैं। 'त्रिगुणमयः पुमानिति भिदा यदबोधकृता' (२५)—किन्तु परमात्माके स्वरूपको न जाननेके कारण मैं शान्त हूँ, विक्षिप्त हूँ, मूढ़ हूँ—इस प्रकारकी भेद-बुद्धि पैदा होती है। परमात्मा तो अबोधसे परे है, भेदसे परे है, उसके अवबोधरसमें ये सब नही हैं।

देखो, यह सब देह मूढ़ हैं। इसलिए यदि मनुष्य देहसे एक हो जाता है तो अपनेको मूढ़ समझता है। उसका मन विक्षिप्त है, इसलिए मनसे एक हो जाता है तो अपनेको विक्षिप्त समझता है। यदि कहीं मनकी समाधि लग गयी, वह शान्त हो गया तो मनुष्य कहता है कि मैं बड़ा शान्त हूँ। इस प्रकारका झूठा अभिमान मनके साथ एक होकर मनुष्य कर बैठता है।

असलमें न तो बन्धन सच्चा है कि उसकी निवृत्ति हो, न मुक्ति सच्ची है कि उसकी प्राप्ति हो और न भेद सच्चा है। यह जो सारा लेन-देनका व्यवहार है, अध्यारोप ही है, केवल आत्माके ज्ञानमें ही उपयोगी है। परमात्माके स्वरूपमें तो कुछ है ही नहीं। इसलिए कहा गया कि न तो आत्मासे पृथक् प्रपञ्च है और न आत्मासे पृथक् पुरुष जीव है। फिर ये दोनों सच्चे क्यों मालूम पड़ते हैं?

सदिव मनस्त्रिवृत्त्वयि विभात्यसदामनुजात्
सदभिमृशन्त्यशेषमिदमात्मतयाऽऽत्मविदः ।
न हि विकृतिं त्यजन्ति कनकस्य तदात्मतया
स्वकृतमनुप्रविष्टमिदमात्मतयावसितम् ॥ २६

यह त्रिवृत्, त्रिगुणात्मक सृष्टि, सारा-का-सारा प्रपञ्च मनोविलास मात्र है। यह है तो असत्, परन्तु सत्-सरीखा भासता है। अधिष्ठानकी सत्तासे ही इसमें सत्यता है, स्वयं-प्रकाश अधिष्ठानसे पृथक् इसकी किंचित् भी सत्ता नहीं है।

यदि कहो कि आत्मज्ञानी लोगोंका भी तो खाना-पीना, चलना-फिरना सब दिखाई पड़ता ही है, तो बोले कि हाँ दिखाई पड़ता है, लेकिन एक सोनेको पहचानता है और दूसरा सोनेको नहीं पहचानता, गहनेको ही पहचानता है। लेकिन सोनेको पहचाननेवाला गहनेको तो फेंक देता नहीं, इसलिए जो कार्यात्मना और कारणात्मना भास रहा है, उसको ज्ञानी लोग जानते हैं।

वे जानते हैं कि जैसे कनकसे पृथक् जेवर नहीं है, वैसे ही आत्मासे पृथक् न जीव है और न जगत् है। जो अखिलसत्त्वनिकेतके रूपमें, सर्वाधिष्ठानके रूपमें, सर्वाधारके रूपमें, भगवान्‌की उपासना करते हैं वे मृत्युके सिरपर पाँव रखकर भगवान् तक पहुँच जाते हैं और जो भगवान्‌से विमुख हैं, वे चाहे देवता ही क्यों न हों, भगवान् उनको पशुओंके समान बाँध देते हैं। जो भगवान्‌से प्रेम करते हैं, वे दूसरोंको भी पवित्र कर देते हैं और जो भगवान्‌से विमुख हैं, वे किसीको भी पवित्र नहीं कर सकते।

त्वयि कृतसौहृदाः खलु पुनन्ति न ये विमुखाः। २७

जो परमात्मा है, उसमें सबके कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि प्राप्त हैं। यहाँ यदि यह शङ्का करो कि जब ईश्वर भी जीवके समान कर्ता-भोक्ता हो गया तब उसमें शिवत्व क्या होगा तो उसके उत्तरमें कहते हैं—

त्वमकरणः स्वराडखिलकारकशक्तिधरः। २८

परमात्मा इन्द्रियोंसे रहित है, स्वयं प्रकाश है, अखिल कारकोंकी, सर्वेन्द्रियोंकी शक्ति धारण करता है और स्वतः सिद्ध ज्ञान-शक्ति है। इसीलिए ब्रह्मा आदि देवता भगवान्‌की पूजा करते हैं। ब्रह्मादि तो भगवान्‌को पूजा करते हैं और दूसरे जीव ब्रह्मादिकी पूजा करते हैं—ठीक वैसे ही, जैसे छोटे-छोटे खण्डमण्डलाधिपति सार्वभौम राजाकी पूजा करते हैं और अपनी प्रजासे बलि भी लेते हैं। भगवान्‌ने जिस देवताको, जिस मनुष्यको, जिस जीवको, जिस कर्ममें लगा दिया है, वह उनके द्वारा नियुक्त होकर उन्हींके भयसे अपना काम करते रहते हैं।

जब भगवान् मायासे क्रीड़ा करना चाहते हैं, तव उनमें लीन रहनेवाले सब-के-सब जीव भगवान्‌के ईक्षणसे, उनकी ईक्षासे प्रकट हो जाते हैं। जीवोंके साथ उनके कर्म प्रकट होते हैं, उनकी उपाधि प्रकट होती है। उन सबके प्रकट होनेपर ही यह सारी सृष्टि चलती है। क्योंकि ईश्वरमें तो कोई विषमता है नहीं और न अपना-पराया है। इसलिए यदि पहलेसे कोई निमित्त सोया हुआ न हो, कर्म-वासना न हो, उपाधि न हो तो ईश्वर भी उसका कैसे संचालन करे? यदि सब-के-सब जीव अनन्त हों, नित्य हों, सर्वगत हों तब तो वे परमात्माके समान ही हो गये। फिर यह शास्ता है, यह शिष्य है, शासनका विषय है और यह शासन-कर्ता है—इस प्रकारका नियमन दोनोंमें नहीं हो सकता। यदि एक छोटा हो, दूसरा बड़ा हो, तभी नियमन होगा।

अजनि च यन्मयं तदविमुच्य नियन्तृ भवेत्
सममनुजानतां यदमतं मतदुष्टतया। ३०

जीव जिस उधाधिको लेकर प्रकट हुआ है, उस उपाधिके नियन्त्रणसे ही ईश्वर उसका नियन्ता होता है। क्योंकि ईश्वर समान है, वह किसीका सुख और किसीको दुःखमें डाले—ऐसा

तो हो नहीं सकता। जो लोग कहते हैं कि हमने तो ईश्वरको पूरी तरहसे जान लिया, घड़ीके एक-एक पुर्जेकी तरह समझ लिया, उनका कहना बिल्कुल ठीक नहीं है। क्योंकि उपनिषद्का कहना है—

यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः। केन उप० २.३

जो मतिका आश्रय है, मतिका अधिष्ठान है, मतिका प्रकाशक है, मतिके भी प्रत्यक् विराजमान है, उसको मति कैसे देखेगी ? इसलिए कहते हैं—

अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्। केन उप० २.३

जिन्होंने यह दावा किया कि हमने परमात्माको जान लिया, उन्होंने उनको नहीं जाना। परमात्माको जाननेकी एक प्रक्रिया है, अवेद्यतत्त्वकी अपरोक्षता। जो अवेद्य होकर भी अपरोक्ष हो अर्थात् घट-घटादिके समान वेद्य न हो और स्वर्गादिके समान परोक्ष न हो, ऐसी कोई चीज इस दुनियामें है तो समझ लो वह क्या है ? अगर आप यह बुझौवल बूझना चाहते हैं तो बूझ लीजिये। एक चीज ऐसी है कि जो घड़ेकी तरह दिखायी नहीं पड़ती और स्वर्गकी तरह परोक्ष नहीं है, किन्तु है, कभी लुप्त नहीं होती और मालूम भी पड़ती है, वह क्या चीज है ? अपना आपा है, उसे ही कहते हैं अपना आपा।

अपने आपाके साथ देश-काल-वस्तुका सम्बन्ध जोड़ना स्वयं प्रकाश चेतनके साथ अन्याय करना है। वह तो कालापरिच्छिन्न, दिगपरिच्छिन्न, द्रव्यापरिच्छिन्न है। परिच्छिन्नके अत्यन्ताभावका अधिष्ठान और प्रकाशक है। जिसमें जिसका अभाव हो, उसीमें यदि वह चीज भासे तब उसको मिथ्या कहते हैं। स्वाभावाधिकरणे भासमानत्व ही मिथ्यात्व है। उपाधिके जन्मसे ही प्रकृति और पुरुषका जन्म कहा जाता है, स्वयं इनका जन्म नहीं होता, क्योंकि वह सम्भव नहीं है। प्रकृति और पुरुषका उद्भव घटित नहीं होता, क्योंकि दोनोंके सङ्गसे जीव उत्पन्न सरीखे कहे जाते हैं। जैसे जल बुद्बुद न तो केवल जलसे होता है और न केवल वायुसे होता है, दोनोंसे मिलित होता है; वैसे ही जीव भगवान्के अन्दर अनेक प्रकारकी कार्योपाधिके साथ लीन होते हैं।

सरित इवार्णवे मधुनि लिल्युरशेषरसाः। ३१

जिस प्रकार समुद्रमें सब नदियाँ होती हैं और शहदमें सारे फूलोंके रस होते हैं, उसो प्रकार प्रलयके समय जीव भगवान्में लीन रहते हैं। संसारके जीवोंमें भ्रम देखकर सुधी पुरुष अभव परमात्मामें जन्म-जन्म भक्ति-भाव चाहते हैं। जो भगवान्के चरणोंका भजन करते हैं, उनके लिए काल भयकी सृष्टि नहीं करता। क्योंकि—सृजति मुहुस्त्रिणेभिरभवच्छरणेषु भयम्' (३२)।

'त्रिणेभि' अर्थात् काल देवता, जिसके भूत-भविष्यत्-वर्तमान ये तीन नेमि हैं, भयकी सृष्टि तो करता है, परन्तु उनके लिए जो 'अभवच्छरणेषु —भगवान्की शरणमें नहीं होते। भगवान्की

शरणमें चले जानेपर तो न वहाँ भूत पहुँचता है, न वर्तमान पहुँचता है और न भविष्य पहुँचता है।

जो लोग गुरु नहीं बनाते और कहते हैं कि हम अपना अभिमान दूसरेके सामने कैसे तोड़ें, जिनका दुनियामें कोई मददगार नहीं, हितैषी नही और अहंकार बड़ा भारी है, उनको गुरु मिल नहीं सकते। ऐसे लोग, चाहे वे योगी ही क्यों न हों, गुरुके चरणारविन्दका परित्याग करके यदि बोलें कि हमने इन्द्रियोंको जीत लिया, मनको जीत लिया और मन-रूपी घोड़ेको जीत्त लिया, तो यह उनका दम्भ ही है। असलमें अभ्यास करते-करते थक जाते हैं और उनको व्यर्थका श्रम हो हाथ लगता है, क्योंकि उनको मालूम तो है नहीं कि चञ्चल मन-तुरंगको कैसे वशमें किया जाता है।

देखो, जब घोड़ा दौड़ने लगता है तब उसपर चढ़ा हुआ अनजान आदमो लगामको जोरसे खींचता है। लेकिन वह जितना-जितना लगाम खींचता है, घोड़ा उतना-उतना और दौड़ता है। यदि उसको कोई बता दे कि लगामको जरा-सा ढीला छोड़ दो, जोरसे मत खींचो तो घोड़ा रुक जाता है। इसलिए जब गुरुके बिना घोड़ा तक चलाना नहीं आता तब मन चलाना कहाँसे आयेगा ?

व्यसनशतान्विताः समवहाय गुरोश्चरणम्। ३३

मनुष्यके जीवनमें गुरु-चरणाश्रयके बिना सौ-सौ दुःख आते हैं। 'अकृतकर्णधरा जलधौ' (३३)—अरे भाई, जिन्दगीमें एक आदमी तो ऐसा रखो, जो कभो-कभी तुम्हारे कान पकड़ लिया करे। क्योंकि कान ही तो तरह-तरहकी बातें सुनकर मनको इधर-उधर ले जाता है, इसलिए जीवनमें कोई-न-कोई कान पकड़नेवाला जरूर चाहिए।

तुमने नाव तो डाल दी गङ्गाजीमें, लेकिन पतवार पकड़नेवाला नहीं है तो क्या होगा ? कभी नाव इस किनारे लगेगी तो कभी उस किनारे लगेगी, कभी इधर जायेगी तो कभी उधर जायेगी और अन्ततोगत्वा संशयके भँवरमें पड़ जायेगी। इसलिए एक कर्णधार जरूर चाहिए। अब जब कर्णधार चाहिए तब परमात्मासे बढ़कर कर्णधार और कौन होगा ? वह तो अपने हृदयमें ही बैठा है। उसके रहते हुए संसारकी वस्तुओंकी कोई जरूरत नहीं, वह तो अपना आत्मा है, सर्वरस है।

जो इस सत्यको नहीं जानते, वे कभी यह वस्तु पाकर खुश होते हैं तो कभी वह वस्तु पाकर खुश होते हैं। लेकिन संसारका ऐसा कोई पदार्थ नहीं, जो उनको सुखो कर सके—'सुखयति कोन्विह'। (३४) संसारके पदार्थ तो 'स्वविहते स्वनिरस्तभगे' (३४)—स्वयं ही नश्वर हैं, अपने आप ही छीज जाते हैं। दुनियाकी सब चीजें अपने-आप ही क्षीण हो जाती हैं। बढ़िया-से-बढ़िया

भोजन बनाकर रख दो, वह अपने-आप ही बासी हो जायेगा, उसका स्वाद चला जायेगा। इसलिए जिस संसारमें वस्तुका स्वाद अपने-आप नष्ट हो जाता है और वस्तु अपने-आप हो मिट जाती है, उसमें तुम स्वाद क्यों ढूँढ़ते हो ? असलमें अविनाशी परमात्माको छोड़कर और कहीं स्वाद नहीं है।

सन्त पुरुष मदहीन होते हैं और पुण्य तीर्थमें विचरण करते रहते हैं। वे अपने हृदयमें भगवान्‌के चरणारविन्दको रखते हैं और इसी कारण उन सन्तोंके चरणोंका जल पापका नाश करनेवाला हो जाता है। जहाँ भी महात्मालोग रह जाते हैं, भगवान्‌का गुणानुवाद कर जाते हैं और परमात्माको स्थापित कर जाते हैं, उसीका नाम तीर्थ होता है।

जो केवल एक बार भी अपने नित्य-सुख आत्मामें मनको लगा देता है, वह कभी घर-गृहस्थीके चक्करमें नहीं फँसता। इस देह-गेहकी आसक्ति ऐसी है कि 'पुरुषसारहृगावसथान्' (३५)—पुरुषोंके सार, धैर्य, विवेक, स्थैर्य, क्षमा, शान्ति आदिका हरण कर लेती है।

सत इदमुत्थितं सदिति चेन्ननु तर्कहतं
व्यभिचरति क्व च क्व च मृषा न तथोभययुक्।
व्यवहृतये विकल्प इषितोऽन्धपरम्परया
भ्रमयति भारती त उरुवृत्तिभिरुक्थजडान् ॥ ३६

जो कहते हैं कि सत्यसे पैदा होनेके कारण यह प्रपञ्च सत्य है, उनकी युक्ति तो बड़ी बढ़िया है। लेकिन सत्य कालसे असम्बद्ध है और उससे पैदा हुआ प्रपञ्च कालसे सम्बद्ध है, इस बातपर उनका ध्यान क्यों नहीं जाता ? जो पैदा हुआ, वह पहले नहीं था और जिससे पैदा हुआ, वह पहले भी था, अब भी है तथा आगे भी रहेगा। जो पैदा हुआ, वह कालमें पैदा हुआ और फिर मर जायेगा। इसलिए वह स्वप्नको तरह हुआ। कारणके समान ही कार्य सत्य है, यह बात कहना बिल्कुल तर्कसंगत नहीं है।

यदि कहो कि एक नम्बरका सत्य कारण है और दो नम्बरका सत्य कार्य है तो बस-बस, हम भी यही कहते हैं कि कार्य दो नम्बरका सत्य है। किन्तु परमार्थ ब्रह्म सत्तापेक्षया किंचित्-न्यून-सत्तात्व—ही अनिर्वचनीयता है, मिथ्यात्व है। कहीं-कहीं तो वह वस्तु व्यभिचरित हो जाती है और कहीं मृषा हो जाती है। जगत्‌का उपादान कारण ब्रह्म अकेला नहीं, वह तो अज्ञानसे मिलकर है। प्रपञ्चकी उत्पत्ति अज्ञान-युक्त ब्रह्मसे अज्ञानोपहित ब्रह्मसे, होनेपर भी सत्य नहीं है। यह तो व्यवहारके लिए विकल्प स्वीकार किया गया है।

'उरुवृत्तिभिरुक्थजडान्'—जो कर्ममें जड़ हो गये हैं, उनके लिए श्रुति भगवती कर्मका उपदेश करती है—परमार्थकी अपेक्षासे नहीं, अधिकारीकी अपेक्षासे। जो अर्थी है, समर्थ है,

विद्वान् है, शास्त्रसे अपर्युदस्त है, स्वर्गादिका इच्छुक है, यज्ञ-यागादि कर सकता है, समझता है और शास्त्रसे निषिद्ध नहीं है, उसके लिए श्रुतिने कर्म कहा है।

न यदिदमग्र आस न भविष्यदतो निधनादनु मितमन्तरा त्वयि विभाति मृषैकरसे। ३७

प्रपञ्च पहले भी नहीं था, आगे भी नहीं होगा और बीचमें भी नहीं है। यह जो मृत्युके पहले, बीचमें मालूम पड़ता है, वह एकरस परमात्माके स्वरूपमें झूठा भासता है। इसीलिए लौह, मृत्तिका आदिसे बने हुए पदार्थों द्वारा इसकी उपमा दी जाती है।

श्रुतिने स्पष्ट कह दिया है कि वक्ता लोग आगे चलकर रज्जु-सर्पादिकी उपमा द्वारा समझानेका प्रयास करेंगे और श्रोता लोग मृत्तिका-घटादिकी उपमासे उसको सच्चा समझने लगेंगे। इसलिए श्रुतिने स्वयं मृत्तिका, घरादिका उपमान देकर कह दिया—

'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्। (छान्दोग्य उप० ६.१.४) अर्थात् जैसे रज्जु-सर्पादिसे जगत्का मिथ्यात्व सिद्ध होता है,

वैसे ही मृत्तिका-घटादिसे भी जगत्का मिथ्यात्व सिद्ध होता है। 'वितथमनोविलास-मृतमित्यवयन्त्यबुधाः' (३७) इसमें जो वितथ शब्द है, उसका अर्थ है कि 'यथा भासते तथा न भवति'—यह जैसा भासता है, वैसी है नहीं। यह तथात्वके विपरीत है, मनोविलास है। जो अधिष्ठान-ज्ञानसे वंचित हैं, वे लोग ही इसको ऋत अथवा सत्य समझते हैं।

भगवान् जब मायाके द्वारा गुणोंका सेवन करते हैं, तब उसीकी सरूपताको प्राप्त हो जाते हैं और उनका ऐश्वर्य छिप जाता है। परन्तु उसका भगवान्पर कोई प्रभाव नहीं होता। जैसे साँप केंचुलको छोड़ देता है, इसी प्रकार भगवान् अपने स्वरूपमें रहकर मायासे कोई सम्बन्ध नहीं रखते। उनका ऐश्वर्य अनन्त है—

महसि महीयसेऽष्टगुणितेऽपरिमेयभगः। ३८

जो लोग बाबाजी बन जाते हैं, परन्तु जिनके मनसे नाना प्रकारकी वासनाएँ नहीं निकलतीं उनके हृदयोंमें भी रहते तो भगवान् ही हैं—

यदि न समुद्धरन्ति यतयो हृदि कामजटाः। ३९

लेकिन वे भगवान्को वैसे ही भूल जाते हैं, जैसे कोई कण्ठमें हार पहनकर उसको भूल जाय इसलिए वे भगवान्को नहीं पहचान सकते—

असुतृपयोगिनामुभयतोऽप्यसुखं भगवन्। ३९

जो योगी-यती इन्द्रियोंकी तृप्तिमें लग गये, उनके लिए दोनों ओरसे दुःख-ही-दुःख है। एक

तो उनको मृत्युका दुःख है और दूसरे वे आपके पदपर आरूढ़ नहीं हुए। उनको न तो अनर्थकी निवृत्ति हुई और न परमानन्दकी प्राप्ति हुई। इसलिए वासनाकी निवृत्ति करना बड़ा आवश्यक है।

'त्वदवगमी' (४०)—जिसको परमात्माका अधिगम प्राप्त हो जाता है, वह जानता ही नहीं कि शुभ-अशुभ क्या होता है ? फिर उसको सुख, दुःख कहाँ आकर लगेगा ?

जो देहाभिमानी लोग महात्माओंपर आक्षेप करते हैं, निन्दा करते हैं, वे तो उनके बेटे ही हैं, बड़े प्यारे बेटे हैं।

बेटे दो तरहके होते हैं—एक तो वे होते हैं, जो अपने बापकी सुख-सम्पत्तिको ले लेते हैं और दूसरे वे होते हैं, जो उनके ऋणको, दुःखको, रोगको अपने ऊपर ले लेते हैं। इसी तरह महात्माओंके बेटे भी दो तरहके होते हैं। जो महात्माकी स्तुति करता है, उसको उस महात्माके शरीरसे होनेवाला पुण्य और उस पुण्यसे प्राप्त होनेवाली सुख-सम्पत्ति मिल जाती है। किन्तु जो महात्माकी निन्दा करता है, उसको महात्माके शरीरसे होनेवाला पाप और उस पापसे प्राप्त होनेवाला दुःख-दारिद्र्य मिल जाता है। यह बात ब्राह्मण-ग्रन्थोंमें स्पष्ट कही हुई है। मनुजीने भी यह बात कही है—

प्रियेषु स्वेषु सुकृतमप्रियेषु च दुष्कृतम्।
विसृज्य ध्यानयोगेन ब्रह्माभ्येति सनातनम्॥ ६.७९

गुरु लोग अप्रिय शिष्यको अपने पापका उत्तराधिकार और श्रद्धालु शिष्यको अपने पुण्यका उत्तराधिकार दे जाते हैं। लेकिन दुनियादार लोग उनपर क्या आक्षेप करते हैं, इसकी ओर उनकी किंचित् भी दृष्टि नहीं जाती। अभिमानी और संसारी लोग इसको समझते नहीं।

अनुयुगमन्वहं सगुणगीतपरम्परया श्रवणभृतः। ४०

जीवन्मुक्त महापुरुष लोग जबतक जिन्दा रहते हैं तबतक युग-युगमें सगुण गीतकी परम्परासे अपने कानोंमें भगवान्‌को भरते रहते हैं—'जीवन्मुक्त ब्रह्मपर चरित सुनहिं तजि ध्यान'।

परमात्माके अन्तका असली रहस्य तो बड़े-बड़े देवता लोग नहीं प्राप्त कर सकते। यहाँतक कि 'त्वमपि' (४१)—स्वयं भगवान् भी नहीं जान सकते। अन्त ही क्यों, भगवान्‌को तो अपने जन्मका ही पता नहीं है। वे पहले-पहल कब प्रकट हुए—यह उनको नहीं मालूम है। इसलिए जैसे उनको अपने आदिका पता नहीं, वैसे ही अन्तका भी पता नहीं है। इसी तरह भगवान् कहाँ नहीं हैं, यह बात भी उन्हें मालूम नहीं है ? क्योंकि—

अनन्ततया त्वमपि यदन्तराण्डनिचया ननु सावरणाः। ४१

सारा विश्व परमात्मामें है। जैसे आकाशमें रजकण हवासे उड़ते रहते हैं, वैसे ही यह सम्पूर्ण विश्वसृष्टि अपने अत्यन्ताभावके अधिष्ठान परमात्मामें ही चमकती-दमकती रहती है।

श्रुतयस्त्वयि हि फलन्त्यतन्निरसनेन भवन्निधनाः । ४१

इसीलिए श्रुतियाँ तात्पर्यरूपसे परमात्मामें जाकर फलित हो जाती हैं। उसकी रीति यह है कि वे 'अतन्निरसनेन' (४१)—जो परमात्मासे अतिरिक्त भास रहा है, उसका निरसन करके अन्ततः परमात्मामें ही समाप्त हो जाती हैं—'भवति निधनं यासां ताः'।

देखो, मैंने एक पन्थका भजन पढ़ा था। उसमें एक पद यह था कि 'तू प्रभु जीवै मैं मर जाऊँ'—हे प्रभो, तू जीता रह और मैं मर जाऊँ। यहाँ श्रुतियोंने भी अन्तमें यही कह दिया कि प्रभो तू-ही-तू रहे। तेरे अन्दर द्वैत बनानेके लिए हमारी उपस्थितिकी आवश्यकता नहीं है। यही प्रेमीका स्वरूप है कि वह अपने प्रियतमकी स्थापना कर जाय और स्वयं अपने आपको मटियामेट कर दे।

भगवान् कहते हैं कि नारदजी, सनकादिकोंने इसी उपदेशका उद्धार किया। यही समाम्नाय-उपनिषद्-पुराणका रस है। तुम भी इसको धारण करके पृथिवीमें विचरण करो। तुम्हारी सारी कामनाएँ शान्त हो जायँगी।

श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि परीक्षित, नारदजीने नारायणके आदेशको शिरोधार्य करके उनको तथा उनके शिष्योंको नमस्कार किया। फिर वे मेरे पिता व्यासजीके पास आये और उनको उन्होंने वह सब बताया, जो भगवान् नारायणने उपदेश किया था।

परीक्षित, तुमने यही प्रश्न किया था कि जहाँ वाणीकी गति नहीं है, उसका वर्णन वेद कैसे करता है? जिसके बारेमें यह कहा जाता है कि 'यतो वाचो निवर्त्तन्ते अप्राप्य मनसा सह' (तै. उप. २.४.१)—उसका वर्णन आखिर श्रुतियाँ कैसे करती हैं?

तो, उसके वर्णनकी रीति यही है कि उसमें पुष्पका अध्यारोप करके फिर उसका निषेध कर दिया जाता है। अध्यारोप अपवादका जो साक्षी है, अधिष्ठान है, उसका निषेध किसी भी प्रकारसे नहीं हो सकता और वही परमात्माका स्वरूप है। वह प्रत्यक् चैतन्यसे अभिन्न है। जो इस प्रपञ्चका उत्प्रेक्षक है, इसमें प्रविष्ट होकर सबका शासन करता है, जिससे एक हो जानेके बाद जीव मुक्त हो जाता है और जिसकी केवलतामें कारणपना भी निरस्त है, उसी परमात्माका ध्यान करना चाहिए—'तं कैवल्यनिरस्तयोनिमभयं ध्यायेदजस्रं हरिम्'। (५०)



अब राजा परीक्षितने पूछा कि भगवन्, यह देखनेमें आता है कि शंकरजीका भजन करनेवाले तो बड़े धनी हो जाते हैं, किन्तु लक्ष्मी-पति श्रीहरिका भजन करनेवाले धनी नहीं होते। होना तो यह चाहिए कि लक्ष्मी-पतिका भजन करनेवालेको लक्ष्मी मिले और त्यागी-अवधूतका भजन करनेवाला त्यागी-अवधूत हो जाय। मुझे इस बारेमें बड़ा संशय है कि त्यागी भगवान्की उपासनासे भोग और लक्ष्मी-पतिकी उपासनासे त्याग कैसे मिलता है? आप इस संशयका निवारण करनेकी कृपा करें।

श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि परीक्षित, सुनो—

शिवः शक्तियुतः शश्वत् त्रिलिङ्गो गुणसंवृतः। ३

भगवान् शिव शक्तिसे युक्त हैं, त्रिगुणसंवृत हैं और वह साक्षीके विभेदसे त्रिधा हो जाते हैं।

देखो, यह अहंकारोपाधिक चैतन्यकी दृष्टिसे शिव और निरुपाधिक चैतन्यकी दृष्टिसे विष्णु कहा गया है। कभी ऐसा भी होगा कि त्रिगुणोपाधिक चैतन्यकी दृष्टिसे विष्णु नाम रखेंगे और निरुपाधिक चैतन्यकी दृष्टिसे शिव नाम रखेंगे। इसीसे पुराणोंमें भेद आता है। वस्तु बिल्कुल एक ही होती है। कहीं यह उपाधि उस नाममें जोड़ दी और कहीं वह निरुपाधिता इस नाममें ला दी। इसलिए पुराणोंमें कहीं मतभेद नहीं है। उनमें बिल्कुल एक-वाक्यता है। पुराण उन्मत्त-प्रलाप नहीं हैं, बड़े-बड़े तत्त्वज्ञानी पुरुषोंके द्वारा कहे हुए हैं।

जिस उपाधिवाले रूपका मनुष्य भजन करता है, वह वैसा ही हो जाता है। भगवान् विष्णु हैं निर्गुण, इसलिए उनका भजन करनेवाला निर्गुण हो जाता है। जब तुम्हारे दादा युधिष्ठरका राजसूय यज्ञ सम्पन्न हुआ तब भगवान् श्रीकृष्णने उनसे कहा कि मैं जिसके ऊपर अनुग्रह करता हूँ, उसका धन धीरे-धीरे हरण कर लेता हूँ—'हरिष्ये तद्धनं शनैः। (८)

देखो, भगवान्को माखन-चोरीकी ऐसी आदत पड़ी कि वह उनके बड़े बूढ़े होनेपर भी नहीं छूटी। पहले मक्खन चुराते थे और बादमें आदत पड़ जानेपर लोगोंका धन खींचने लग गये।

'ततोऽधनं त्यजन्त्यस्य' (८)—भगवान् श्रीकृष्णने कहा कि मनुष्यके निर्धन हो जानेपर उसके स्वजन उसको दुःखी समझकर छोड़ देते हैं। जब वह निर्धन मनुष्य धनके लिए पुनः उद्योग करने लगता है तब मैं उसका वह उद्योग भी व्यर्थ कर देता हूँ। अन्तमें वह सब ओरके निराश होकर

सन्तोंकी शरणमें आता है और फिर वह मेरी कृपाकी प्राप्ति कर लेता है। किन्तु मेरी आराधना है कठिन। इसलिए साधारण लोग मुझे छोड़कर दूसरे आशुतोष देवताओंकी आराधना करने लगते हैं और उनसे राज्य, श्री आदि प्राप्त कर लेते हैं। किन्तु बादमें उन्मत्त होकर देनेवाले देवताओंको भूल जाते हैं और उनका तिरस्कार भी कर बैठते हैं।

श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि परीक्षित, वैसे तो शाप और प्रसाद ब्रह्मा, विष्णु और शिव ये तीनों ही देते हैं। परन्तु शंकर और ब्रह्माजी तो जल्दी शाप और प्रसाद दे देते हैं, अच्युत भगवान् जल्दी शाप और प्रसाद नहीं देते!

इस सम्बन्धमें एक इतिहास है। शकुनिके पुत्र वृकासुरने नारदजीसे पूछा कि देवताओंमें जल्दी खुश कौन होगा? नारदजीने कहा कि शंकरजी बहुत जल्दी सन्तुष्ट हो जाते हैं। वे रावण और बाणपर कितनी जल्दी सन्तुष्ट हो गये थे।

वृकासुर नारदजीके बतानेपर केदार क्षेत्रमें चला गया और वहाँ अपने मांससे शंकरकी आराधना करने लगा। जब शंकरजीने देखा कि यह तो अपना सिर काटनेके लिए तैयार है तब वे झट उसपर प्रसन्न हो गये और प्रकट होकर उसके शरीरको ठीक करते हुए बोले कि जो तेरी मौज हो, वह माँग ले। मैं तो औढरदानी हूँ, आशुतोष हूँ, केवल जल चढ़ानेसे ही प्रसन्न हो जाता हूँ। फिर तुम अपने शरीरको इतना कष्ट क्यों दे रहे हो?

लेकिन वृकासुर बड़ा भारी पापी था। उसने कहा कि मैं जिसके सिरपर हाथ रखूँ, वह मर जाय। अब तो शंकरजीको बड़ा दुःख हुआ। फिर भी उन्होंने कहा कि अच्छा जा, ऐसा ही होगा। आगे भगवान्‌की जैसी इच्छा होगी, वैसा ही होगा।

यह वरदान पाकर वृकासुरके मनमें आया कि शंकरजीके साथ इनकी जो गौरवर्णा श्रीमतीजी हैं, क्यों न मैं इनका हरण कर लूँ—'गौरीहरणलालसः'। यह सोचकर वह शंकरजीके सिरपर हाथ रखनेके लिए चला। शंकरजी वहाँसे भाग खड़े हुए। उनको मालूम नहीं कि वे कैसे बचेंगे। भागकर वैकुण्ठमें पहुँचे, जहाँ, साक्षात् नारायण निवास करते हैं।

नारायणने शंकरजीका कष्ट देखा तो—'मेखलाजिनदण्ड' (२८)—धारण किये हुए ब्रह्मचारीके रूपमें प्रकट हो गये और बोले कि अरे ओ शकुनि-नन्दन, आप भला अपने शरीरको इतना परिश्रम क्यों दे रहे हैं? थोड़ी देर ठहरिये तो। 'आत्मायं सर्वकामधुक्' (२९)—अरे आप अपने देहको ठीक रक्खेंगे तो आपको सब-कुछ मिल सकता है। जरा मुझे भी तो बताइये कि आप चाहते क्या हैं?

वृकासुरने बताया कि शंकरजीने मुझे वर दिया है और मैं गौरीको प्राप्त करनेके लिए उनके सिरपर हाथ रखूँगा। इसपर ब्रह्मचारी भगवान्‌ने कहा कि राम-राम-राम, आप इस पागलकी बातपर विश्वास कर बैठे हैं ? अरे, यह तो प्रेत-पिशाचराज है। यदि आप इसकी बात सच्ची मानते हैं तो पहले परीक्षा करके देख लीजिये। वृकासुरने कहा कि बात तो ठीक है, लेकिन परीक्षा कहाँ करूँ ? भगवान् बोले कि अरे, सबसे पास तो आपका अपना ही सिर है, उसी पर हाथ रखकर परीक्षा क्यों नहीं कर लेते ? अब तो वृकासुरने ज्यों ही अपने सिरपर हाथ रखा कि तुरन्त भस्म हो गया।

इस प्रसंगका अर्थ है कि शंकर भगवान् बहुत भोले हैं, विष्णु भगवान् बड़े ही चतुर हैं और जल्दीमें प्राप्त प्रसाद ज्यादा सफल नहीं होता। लेकिन भगवान् शंकर और भगवान् विष्णु दोनों एक ही हैं। यह तो एक विनोदकी लीला थी।

वृकासुरके भस्म होते ही देवता लोग जय-जय, नमो-नमः कहने लगे, पुष्पोंकी वर्षा होने लगी। भगवान् नारायणने शंकरजीको संकटसे बचा दिया और कहा कि शंकरजी, यह तो अपने पापसे ही मर गया है। भला कोई महापुरुषका अपराध करे तो वह कल्याण-भाजन हो सकता है—

हतः को नु महत्स्वीश जन्तुर्वै कृतकिल्बिषः।
क्षेमी स्यात् किमु विश्वेशे कृतागस्को जगद्गुरौ॥ ३९

अपराध तो कोई साधारण महात्माका भी करे तो उसका कल्याण नहीं हो सकता; किन्तु जो साक्षात् जगद्गुरु विश्वेश्वर भगवान् शंकरका अपराधी हो, उसका कल्याण कैसे हो सकता है ?

यह भगवान्‌की ऐसी लीला है कि जो इसका कथन-श्रवण करता है, वह संसारके समस्त बन्धनोंसे छूट जाता है।



श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि परीक्षित, एक बार सरस्वतीके तटपर सब महात्मा लोग इकट्ठे हुए और उनमें परस्पर तर्क-वितर्क चलने लगा। वे लोग इस ऊहापोहमें, उधेड़-बुनमें लग गये कि ब्रह्मा, शिव और विष्णु—इन तीनों देवताओंमें कौन सबसे श्रेष्ठ है? महात्माओंने यह पता लगानेका काम भृगुजीको सौंपा। क्योंकि वे बड़े उग्र हैं, भून-भूनकर परीक्षा लेनेवाले हैं। उनको भृगु इसीलिए कहते है कि ये सबका भर्जन कर देते हैं, सबको भून डालते हैं—'भर्जनात् भृगुः'।

भृगुजी सबसे पहले ब्रह्माकी सभामें गये, जो उनके पिता हैं। उन्होंने वहाँ जाकर ब्रह्माको प्रणाम नहीं किया। इसपर ब्रह्माजीको क्रोध आगया कि यह कैसा मेरा बेटा है, जो मुझे प्रणाम नहीं करता? उनको अपने बेटेसे प्रणाम करानेकी वासना होगी, तभी तो उन्हें क्रोध आगया।

उसके बाद भृगुजी गये शंकरजीके पास। शंकरजीने कहा कि अहो, मेरे भाई आये हैं और वे उनका आलिङ्गन करनेके लिए आगे बढ़े। किन्तु भृगुजीने कह दिया कि तुम श्मशानकी धूल लगाते हो, भस्म लगाते हो, सन्ध्या-वन्दन तथा अग्निहोत्र आदि नहीं करते और चले हो मुझे आलिङ्गन करने! इसपर शंकरजीको आया क्रोध, उन्होंने त्रिशूल उठा लिया, किन्तु गौरीने आकर भृगुजीको बचा लिया।

अब भृगुजी गये वैकुण्ठमें। वहाँ विष्णु भगवान् शयन कर रहे थे और लक्ष्मीजी उनके पाँव दबा रही थीं। भृगुजीने अकारण ही विष्णु भगवान्की छातीपर, धम्मसे अपनी लात दे मारी।

यहाँ देखो, भृगुजीने ब्रह्माजीको तो केवल प्रणाम नहीं किया और शिवजीको दुर्वचन कह दिया तो उन दोनोंको क्रोध आगया। यदि भृगुजी अपराध नहीं करते तो ब्रह्मा या शिव उनपर क्रोध नहीं करते।

किन्तु यहाँ विष्णु भगवान्की तो बात ही अलग है। भृगुजीके लात मारनेपर भी विष्णु भगवान् उनपर क्रोध करना तो दूर रहा, झट अपनी शैयासे उठे और उनको सिरसे नमस्कार

करते हुए बोले कि महाराज, आपका स्वागत है, आइये-आइये। कब आये हैं आप ? थोड़ी देर बैठ जाइये। हमें अगर मालूम होता कि आप आरहे हैं तो हम घरसे बाहर आकर आपका स्वागत सत्कार करते। हमसे जो अपराध हुआ, उसके लिए आप हमें क्षमा कीजिये। आपके चरण तो बड़े कोमल हैं।

यह कहकर भगवान् भृगुजीके पाँव दबाने लगे और बोले कि आप यहीं विराजिये। हमें अपना चरणामृत लेने दीजिये, उससे हमारा लोक पवित्र होगा। आपके चरणोंका जल तो तीर्थोंको तीर्थ बनानेवाला है—'तीर्थानां तीर्थकारिणा'। (११)

देखो, पदाघात सहकर भी भगवान् भृगुकी प्रशंसा करते हैं। इससे भृगु बड़े नहीं हो गये। बड़ा तो वह हुआ, जिसमें इतना औदार्य है, इतना सौशील्य है। भगवान् त्रिलोकीनाथ हैं, अखिल ब्रह्माण्डनायक हैं, लेकिन फिर भी छातीमें पाँव मारनेवालेके पाँव दबाते हैं और कहते हैं कि यहीं रहिये, हमें पवित्र कीजिये। यह आपके चरणोंकी ही कृपा है कि लक्ष्मीजी मेरे पास मेरे वक्षस्थलमें लच्छन बनकर रहती है।

अब तो भृगुजीकी बोलती बन्द हो गयी। वहाँसे लौटकर ब्राह्मणोंके पास आये और वहाँकी सभामें विष्णु भगवान्‌की प्रशंसा करने लगे। उन्होंने कहा कि बस, भगवान् विष्णुकी आराधनामें ही शान्ति और अभयका निवास है, उन्हींसे धर्म, ज्ञान, वैराग्य, अष्टधा ऐश्वर्य, यश, सब-कुछ प्राप्त होता है।

मुनीनां न्यस्तदण्डानां शान्तानां समचेतसाम्।
अकिंचनानां साधूनां यमाहुः परमां गतिम्॥ १७

जो न्यस्तदण्ड, शान्त, समचेता, अकिंचन साधु-मुनि हैं, उनकी परम गति भगवान् नारायण ही हैं। इनकी प्रियमूर्ति सत्त्व है, ब्राह्मण इनके इष्ट देवता हैं और निष्काम लोग इनका भजन करते हैं। बुद्धिमान् पुरुष विष्णुका भजन नहीं करेंगे तो और किसका करेंगे ? देव, असुर, राक्षस ये सब उनकी आकृतियाँ हैं। ऐसी कोई चीज नहीं, जो भगवान्‌को आकृति न हो। यहाँतक कि मच्छर, बिच्छू, सर्प भी भगवान्‌की ही आकृति हैं। लेकिन 'मशकाय नमः, वृश्चिकाय नमः' दंशाय नमः' कहकर मच्छर, बिच्छू, आदिके रूपमें भगवान्‌की पूजा नहीं की जाती। सब-का-सब भगवान् होनेपर भी जहाँ सत्त्व है, धैर्य है, सौशील्य है, औदार्य है, वात्सल्य है, सौन्दर्य-माधुर्य आदि हैं, वहीं भगवान्‌की पूजा की जाती है।

श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि परीक्षित, ऋषियोंने अपने लिए नहीं; संसारके

मनुष्योंका संशय मिटानेके लिए ही ब्रह्मा, शिव और विष्णुकी परीक्षा लेनेकी यह युक्ति रची थी। भगवान्का यह चरित्र बड़ा ही पवित्र है। अब तुम आगेकी कथा सुनो।

एक दिनकी बात है, द्वारकामें एक ब्राह्मणके घरमें बेटा हुआ। लेकिन वह पैदा होते ही मर गया। देखो उस समयके राजतन्त्रकी महिमा! ब्राह्मण तुरन्त अपने बेटेके शवको उठाकर ले गया और राज-द्वारपर रख दिया। फिर विलाप करते हुए कहने लगा—राजा, तुम्हारी दुष्टतासे ही मेरा बेटा मर गया। जहाँ राजा अच्छा होता है, वहाँ अकाल-मृत्यु नहीं होती। तुम लोग ब्रह्मद्वेषी हो, लोभी हो, विषयात्मा हो। तुम्हारे कर्म-दोषके कारण ही मुझे अपने बेटेसे वञ्चित होना पड़ा है। जहाँ राजा दुष्ट होते हैं, वहाँ प्रजा दुःखी रहती है।

इसके बाद भी एक-एक करके ब्राह्मण आठ बालक पैदा हुए और वे सभी मरते गये। वह ब्राह्मण हर मरे हुए बालकको राजाके दरवाजेपर पटक दे और वहीं विलाप करे। नवें बालकके जन्मके समय अर्जुन द्वारका आये हुए थे। उन्होंने ब्राह्मणकी पूरी बात सुनी और उससे कहा कि क्या तुम्हारे नगरमें कोई धनुर्धारी क्षत्रिय नहीं है? जहाँ ब्राह्मणोंको इतना कष्ट है, वहाँ तो नट ही राजाके रूपमें वेष धारण करके रह रहे हैं। मैं तुम्हारे बेटेको जिन्दा करूँगा और यदि न जिला सकूँ तो अग्निमें प्रवेश कर जाऊँगा। ब्राह्मणने कहा कि यह तुम क्या कह रहे हो? यहाँ तो संकर्षण हैं, श्रीकृष्ण हैं, प्रद्युम्न हैं, अनिरुद्ध हैं। यदि वह कुछ नहीं कर सके तो तुम ऐसी दुष्कर प्रतिज्ञा क्यों करते हो? अर्जुनने कहा कि मैं बलराम, कृष्ण और प्रद्युम्न तो नहीं हूँ, परन्तु मेरा नाम अर्जुन है।

यहाँ देखो, अर्जुन कितने भोले-भाले हैं। वैसे तो अर्जुन शब्द अर्ज धातुसे बनता है। 'अर्जनाद् अर्जुनः'—जो ज्ञानार्जन करे, धनार्जन करे, वह अर्जुन। लेकिन नीलकण्ठने अर्जुनकी व्युत्पत्ति इस प्रकार की है—'ऋजुत्वात् अर्जुनः' जिसका शील-स्वभाव बड़ा ऋजु है, सरल है, वह अर्जुन है।

तो, भोले-भाले अर्जुनने कह दिया कि—'अहं वा अर्जुनो नाम गाण्डीवं यस्य वै धनुः' अर्थात् मेरे पास वह गाण्डीव धनुष है कि मैं सौ मोड़पर लगातार बाणोंका प्रहार कर सकता हूँ।

देखो, गाण्डी कहते हैं ग्रन्थिको, गाँठको। गाण्डीवमें इतनी गाँठे बनी हुई थीं कि अर्जुन चाहे जहाँसे, चाहे जिस कोणसे उसको मोड़कर उसके द्वारा लक्ष्यवेध कर सकते थे। इसीसे उनके उस धनुषका नाम गाण्डीव हुआ था। गाण्डीव शब्दकी व्युत्पत्ति भी नीलकण्ठने ही महाभारतकी व्याख्यामें की है।

अर्जुनने आगे कहा कि देखो, ब्राह्मण देवता, मैंने युद्ध में शंकरजीको सन्तुष्ट किया है, तुम मेरा तिरस्कार मत करो, मैं मृत्युको जीतकर तुम्हारे पुत्रोंको ला दूँगा।

अब ब्राह्मणको विश्वास हो गया और उसने नवें बालकके जन्मका समय आनेपर अर्जुनको बुलाया। वे गाण्डीव लेकर गये और उन्होंने वाणोंसे सूतिकागारको रोक दिया। परन्तु पहले तो मृत बालकोंके शव मिल जाते थे, इस बार तो ऐसी लीला हुई कि मुर्दा भी गायब! अब तो ब्राह्मणने कहा कि अरे मैंने किस नपुंसककी बातोंपर विश्वास कर लिया—'श्रद्दधे क्लीबकत्थनम्' (४०)। राम-राम! जो कृष्ण, बलराम, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध नहीं कर सके, उसको यह क्या कर सकता है? यह तो झूठा है। मूर्खता है इसकी, जो इसने ऐसी प्रतिज्ञा की। इस प्रकार वह ब्राह्मण अर्जुनको गाली देने लगा।

इधर अर्जुनने इन्द्र, अग्नि आदि सभी लोकपालोंकी पुरियोंमें जा-जाकर देख लिया; लेकिन बच्चोंका कहीं पता ही नहीं लगा। इसलिए अर्जुन अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार चिता बनाकर उसमें जलनेको तैयार हो गये। उसी समय भगवान् श्रीकृष्ण उनके पास आये और उन्होंने अर्जुनको जलनेसे रोक दिया। श्रीकृष्णकी महिमा बड़ी विलक्षण है। वे अर्जुनके साथ रथपर सवार होकर प्रतीची दिशामें गये।

देखो, कोई बढ़िया चीज ढूँढ़नी हो तो प्राक् दिशा, पूर्व दिशा, इन्द्रियोंके सम्मुखकी दिशामें ढूँढ़ना चाहिए। श्रीकृष्ण भगवान्को जब ब्याह करना होता है तो प्राग्ज्योतिषपुर चले जाते हैं। क्रीड़ा करनी होती है तो वृन्दावनमें करते हैं। वह भी पूर्व दिशामें ही है। परन्तु जहाँ जाकर अन्तर्धान होना होता है, लीला-संवरण करना होता है, वह प्रतीची दिशा माने पीछेकी दिशा होती है। अगर आपको परमात्माको पाना हो तो अपनी आँखोंकी पिछली दिशामें चले जाइये। वहाँ वह बैठा और आपको टुकुर-टुकुर देखता हुआ मिल जायेगा।

तो, भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनके साथ अपने रथ द्वारा सात द्वीप, सात सिन्धु, सात गिरि, लोकालोक सबको लाँघते हुए गये। जब उनके रथके घोड़ोंकी गति भी भ्रष्ट हो गयी, तब भगवान्ने अपने चक्रको आगे कर दिया और वह अन्धकारका ,निवारण करता हुआ चलने लगा। इसके बाद वे लोग जल आदिके क्षेत्रोंको पार करते हुए शेषशायी भगवान्के पास पहुँच गये। वहाँ उन्होंने देखा कि सहस्र फणोंवाले, महाभीम, अशेषकान्ति शेषकी गोदमें पुरुषोत्तम पीताम्बरधारी, किरीटी, कुण्डली, अष्टभुज, श्रीवत्स—कौस्तुभ-वनमाला आदिसे युक्त भूमा भगवान् विराजमान हैं तथा सुनन्दादि पार्षदोंसे सेव्यमान हो रहे हैं।

अब उन्हीं शेषशायी प्रभुने कहा कि कृष्ण और अर्जुन, मेरे मनमें तुमलोगोंको देखनेकी इच्छा थी। इसीलिए मैंने ब्राह्मण-बालकोंको बुलवा लिया था। तुमलोग तो साक्षात् नर-नारायण हो। अपना काम पूरा करके जल्दी-से-जल्दी मेरे पास लौट आओ।

श्रीकृष्ण और अर्जुनने भूमा पुरुषकी आज्ञा स्वीकार की और ब्राह्मणके पुत्रोंको लेकर अपने धाममें लौट आये उन्होंने ब्राह्मणको उसके बालक दे दिये। वैष्णव-धामकी ज्योति और श्रीकृष्णकी कृपा देखकर अर्जुन चकित हो गये। उन्होंने यह मान लिया कि श्रीकृष्णका प्रभाव असाधारण है।

उसके बाद श्रीकृष्णने खूब दान-पुण्य किया और अर्जुन आदिके द्वारा धर्मका संस्थापन करवाया।

इस प्रसङ्गमें हमारे आचार्यगण कहते हैं कि श्रीकृष्ण और अर्जुन तो नर-नरायण हैं। ये दोनों महानारायणके दर्शन करनेके लिए गये थे। जहाँ अर्जुनकी गति नहीं थी, वहाँ श्रीकृष्ण उनको ले गये। उन्होंने जिन महानारायणका दर्शन किया, वही परम तत्त्व हैं।

महानारायण हैं तो शेषशायी और पुराण-पुरुष, लेकिन जब उन्होंने सुना कि वृन्दावन-धाममें श्रीकृष्ण अपना सौन्दर्य-माधुर्य प्रकट करके लीला कर रहे हैं और द्वारकामें विवाह करके बच्चे पैदा कर रहे हैं तब उन्होंने कहा कि ऐसा क्या उपाय करें, जिससे कि उनका दर्शन हमें प्राप्त हो। वे बड़े ब्रह्मण्यदेव हैं, ब्राह्मण-भक्त हैं। इसलिए ब्राह्मणके द्वारा छेड़-छाड़ करके उनको अपने यहाँ बुला लें तो ठीक रहेगा। श्रीकृष्ण बड़े भक्त-वत्सल हैं, अर्जुनको रक्षाके लिए हमारे पास अवश्य आयेंगे और उनका दर्शन हो जायेगा। इस प्रकार महानारायण भगवान्ने श्रीकृष्णका दर्शन करनेके लिए ही ऐसी लीला रची थी।

सुखं स्वपुर्यां निवसन् द्वारकायां श्रियः पतिः।
सर्वसंपत्समृद्धायां जुष्टायां वृष्णिपुङ्गवैः ॥ १

श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि परीक्षित, भगवान् श्रीकृष्ण अपनी सुन्दर नगरी द्वारकामें सुखपूर्वक निवास करते थे। उनके पास सुन्दर-सुन्दर स्त्रियाँ थीं, अनन्त सम्पत्ति थी और बड़े-बड़े मनोरम महल थे। वे जब अपनी श्रीमतियोंके साथ जल-विहार करते तब गन्धर्व आदि बाजे-गाजेके साथ उनके यशका गान करने लगते।

देखो, वेदज्ञ ब्राह्मण लोग केवल स्वर्गको परम पुरुषार्थ मानते हैं तो मानें। उनकी मान्यता ठीक है, वैदिक है। वे यज्ञ-यागादि द्वारा जीवन भर अग्निके सामने बैठकर हवन करें, अग्निहोत्रादि करें। उसका फल उनको मरनेके बाद प्राप्त होगा—यह भी ठीक है। उसमें कोई अशास्त्रीय अथवा अवैदिक बात नहीं है। परन्तु मनुष्यके जीवनमें केवल यज्ञ और उसका फल परलोक ही सब-कुछ नहीं है। मनुष्यके जीवनमें तो आयुर्वेद भी है, धनुर्वेद भी है, स्थापत्य-वेद भी है, अथर्ववेद भी है और गान्धर्व वेद भी है। ये सब हमारे उपवेद हैं, जिनमें नृत्य है, सङ्गीत है, नाट्य है और लौकिक उन्नतिके सारे उपाय हैं। आप वेदान्त-दर्शनको अपना ग्रन्थ समझते हैं, ठीक है। परन्तु काम-सूत्र भी हमारा ही ग्रन्थ है, कौटिल्य अर्थशास्त्र भी हमारा ही ग्रन्थ है और भाव-प्रकाशनके लिए भरतका नाट्यशास्त्र भी हमारा ही ग्रन्थ है।

कहनेका मतलब यह है कि हमारा भारतवर्ष लौकिक सुख-समृद्धिमें शास्त्रीय दृष्टिसे कभी पीछे नहीं रहा है। केवल बाबाजी लोग ही उसकी विपरीत व्याख्या करने लगे और पुरोहित भी यज्ञ-यागादिके कर्म-काण्डमें लग गये। फल यह हुआ कि हमारी संस्कृत भाषामें लौकिक उन्नतिके लिए जो महान् शास्त्र हैं, उनकी बिल्कुल उपेक्षा हो गयी और इस कारण दृष्टिकोणमें बदलाव आगया। सब शास्त्र बाबा लोगोंके लिए ही नहीं हैं, गृहस्थोंके लिए भी बहुत सारे शास्त्र हैं।

इसीलिए हमारे भगवान् श्रीकृष्णने सभी उपवेदोंका रसास्वादन किया। नाचनेमें इतने प्रबल कि कालिय नागके फणोंपर नाच उठे। किसीको चोट लग जाय तो तुरन्त उसकी चिकित्सा कर दें। रोगोंकी चिकित्सा तो उनको आती ही थी। यहाँतक कि वे घोड़ोंकी चिकित्सा भी कर लिया करते थे। युद्ध-भूमिमें निपुण, नगर बसानेमें निपुण, सड़क बनानेमें निपुण। नाचने, गाने-बजानेमें तो उनकी निपुणताका कहना ही क्या था! यह सब मैं जान-बूझकर इसलिए सुना रहा हूँ कि लोग यह न समझें कि श्रीशुकदेवजी महाराजने इन सब बातोंका वर्णन नहीं किया होगा।

ताः क्लिन्नवस्त्रविवृतोरुकुचप्रदेशाः सिञ्चन्त्य उद्धृतबृहत्कबरप्रसूनाः।
कान्तं स्म रेचकजिहीरषयोपगुह्य जातस्मरोत्सवलसद्वदना विरेजुः॥ १०

स्वयं श्रीशुकदेवजी महाराज ही कह रहे हैं कि जब श्रीकृष्ण अपनी श्रीमतियोंके साथ विहार करते तब एक दूसरेके ऊपर पिचकारियोंकी बौछार होने लगती और ऐसा लगता मानों यक्ष यक्षिणियोंसे क्रीड़ा कर रहे हों। वस्त्र सबके भींग जाते और पत्नियोंके जाँघ और वक्षस्थल खुल जाते। उनकी चोटियाँ खुल जातीं। फिर भी वे कृष्णकी पिचकारी छीननेके लिए उनके ऊपर टूट पड़तीं। लेकिन पिचकारी छीनना तो भूल जाता, दोनों हाथोंसे उनको पकड़कर हृदयसे लगाने लग जातीं।

कृष्णस्तु तत्स्तनविषज्जितकुङ्कुमस्रक्क्रीडाभिषङ्गधुतकुन्तलवृन्दबन्धः।
सिञ्चन् मुहुर्युवतिभिः प्रतिषिच्यमानो रेमे करेणुभिरिवेभपतिः परीतः॥ ११

क्रीड़ा करनेके बाद भगवान् श्रीकृष्ण और उनकी पत्नियाँ उन नट-नर्तकोंको अपने-अपने वस्त्र और अलङ्कार बाँट दिया करते थे, जिनकी जीविका गीत-वाद्य आदि होती। भगवान्‌की चाल-ढाल, बातचीत, चितवन-मुस्कान ऐसी होती कि रानियोंकी चित्तवृत्ति उन्हींकी ओर खिंची रहती। कभी-कभी तो भगवान्‌के सामने ही प्रेमोन्मत्तकी तरह बातें करने लगतीं।

इसीको प्रेम-वैचित्त्य कहते हैं कि भगवान् तो हों बिल्कुल पासमें, लेकिन प्रेमीको यह ख्याल हो जाय कि उसका भगवान्‌से विरह हो गया है! राधासुधानिधिमें इसका बड़ा सुन्दर वर्णन आया है—

अङ्कस्थितेऽपि दयिते किमपि प्रलापं हा मोहनेति मधुरं विदधत्यकस्मात्।

भगवान् प्रियाजीकी गोदमें हैं, परन्तु वे चिल्लाती हैं कि हाय-हाय, प्यारे मोहन कहाँ गये तुम? वही दशा यहाँ द्वारकामें श्रीकृष्णकी महिषियों और पटरानियोंकी हो जाती।

वे कभी कुररीको देखकर कहतीं कि अरी तुझको नींद नहीं आती है। क्या जैसे हम श्रीकृष्णके वियोगमें दुःखी हैं वैसे ही तू भी दुःखी है? वे कभी चक्रवाकीसे कहें कि जैसे हम श्रीकृष्णके लिए रोती हैं, वैसे ही तू भी रो रही है? क्या तू भी श्रीकृष्णको प्रसाद-मालाको अपने सिरपर धारण करना चाहती है? अरे ओ समुद्र, तुझको भी निद्रा नहीं आती क्या? तुम भी हमारी-सरीखी दशाको प्राप्त हो गये हो क्या? अरे चन्द्रमा, क्या तुझे यक्ष्मा रोग हो गया है? आज तेरी किरणोंसे तुम क्यों नहीं क्षीण होता? हे मलयानिल, हमलोगोंने तुम्हारा क्या अप्रिय किया है कि एक तो श्रीकृष्णके कटाक्षसे हमारा हृदय फट गया है, दूसरे तुम उसमें काम डाल रहे हो! अरे, ओ मेघ, तुम तो श्रीकृष्णके सखा हो। जैसे हम श्रीकृष्णका ध्यान करती हैं, वैसे ही ध्यान करके तुम बाष्पधाराका सर्जन करते हो! हे कोकिल, तुम्हारे शब्द तो बड़े मधुर हैं। बताओ कि हम तुम्हारे लिए क्या करें? अरे, ओ पर्वत, क्या तुम भी हमारे वक्षस्थलके समान कठोर हो गये? क्या तुम भी हमारी तरह श्रीकृष्णके चरणारविन्दको धारण करना चाहते हो? अरे हंस, आ तुझे हम दूध पिलायें। तू हमारे प्यारेका चरित्र सुना दे।

इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्णकी पत्नियाँ उनके सामने ही—प्रेमसे विह्वल होकर ऐसे उद्गार प्रकट करतीं, मानों वे उनसे बहुत दूर चले गये हों और वे उनके विरहकी ज्वालामें जल रही हों!

कभी-कभी वे कहतीं कि श्रीकृष्ण तो बड़े क्षुद्र हैं। क्षुद्रका अर्थ एक तो छोटा है, छोटी किस्मका है और दूसरा अर्थ है 'क्षुधं राति ददाति इति क्षुद्रः'। यहाँ क्षुधका क्षुद्र हो गया है। इसका मतलब यह हुआ कि श्रीकृष्ण भूख देते हैं, प्यास देते हैं और इनसे जितना-जितना मिलो, उतनी-ही-उतनी और मिलनेकी कामना देते हैं।

भगवान् श्रीकृष्ण तो ऐसे हैं कि केवल श्रवण करनेसे ही मनको आकृष्ट कर लेते हैं। फिर जो उनको देखे, उनके सम्पर्कमें रहे, उनका सेवन करे, उसकी गतिका तो कहना ही क्या है? इस प्रकार उन स्त्रियोंने जगद्गुरु भगवान् श्रीकृष्णकी पति-बुद्धिसे पूजा की और परम गतिको प्राप्त हुई।

परीक्षित, भगवान् श्रीकृष्ण साधु पुरुषोंके आश्रय हैं। उनका जो घर-गृहस्थ है, उनकी जो क्रीड़ा है—

एवं वेदोदितं धर्ममनुतिष्ठन् सतां गतिः। २८

वह सब वेदोक्त धर्म है और इसके पालन द्वारा वे संसारके गृहस्थोंके लिए आदर्श उपस्थित करते हैं। उनका तात्पर्य है कि धर्म, अर्थ और कामका एकमात्र निवास-स्थान घर-गृहस्थी ही है। यदि शास्त्रकी रीतिसे साधु होना हो तो उनके लेंहड़े-के-लेंहड़े नहीं मिलते। आपने सुना ही होगा—

सिंहोंके नहीं लेंहड़े हंसोंकी नहीं पाँत।
लालोंकी नहीं बोरियाँ साधु न चले जमात ॥

जो बड़े ही विरक्त हों, जिनके अन्तःकरणमें वैराग्यकी उपाधि हो, भजनके प्रति बड़ी भारी रुचि हो, उनके लिए सब-कुछ छोड़-छाड़कर भजन करनेका विधान है। किन्तु ऐरे-गैरे नत्थू-खैरे, व्रतहीन, अध्ययनहीन केवल वेशधारी लोगोंके लिए साधु-आश्रम नहीं है। उनको तो अपनी घर-गृहस्थीमें ही रहकर अपने कर्त्तव्यका धर्मानुकूल पालन करना चाहिए।

भगवान् श्रीकृष्णने अपने वेदोक्त आचरणमें यह बात दिखायी कि यदि तुम्हें धर्म करना हो, यज्ञ करना हो तो गृहस्थीमें रहकर करो, भोग भोगना हो गृहस्थाश्रममें रह कर भोगो। किन्तु जब दृढ़ वैराग्य हो जाय तब साधु-आश्रममें चले जाओ।

श्री शुकदेवजी फिर बता रहे हैं कि परीक्षित, श्रीकृष्णके सोलह हजार एक सौ आठ रानियाँ थीं और जैसा कि पहले भी वर्णन आ चुका है, उनमें-से प्रत्येकके दस-दस पुत्र हुए। सबसे श्रेष्ठ रुक्मिणी-नन्दन प्रद्युम्नजी थे। वे सभी गुणोंमें अपने पिताके समान ही थे। रुक्मीकी कन्यासे इनका विवाह हुआ और उससे अनिरुद्धजीका जन्म हुआ। अनिरुद्धजीने अपने नानाकी पोतीसे विवाह किया। उनके गर्भसे वज्रका जन्म हुआ। ब्राह्मणोंके शापसे यदुवंशका नाश हो जानेपर एकमात्र वज्र ही बच रहे। इनके प्रतिबाहुके सुबाहु, सुबाहुसे शान्तसेन और शान्तसेनके शतसेन हुए।

इस वंशमें ऐसा कोई भी पुरुष नहीं हुआ, जो बहुत सन्तानवाला न हो। इनमें कोई भी निर्धन, अल्पायु, अल्पवीर्य और अब्रह्मण्य नहीं था। उनकी संख्या इतनी अधिक है कि उन सबकी गिनती नहीं की जा सकती। कहीं-न-कहीं जाकर उस गिनतीको अधूरी छोड़ना ही पड़ेगा। इसलिए लीजिये, मैं भी उसको अधूरी छोड़ देता हूँ।

तिस्रः कोटयः सहस्राणामष्टाशीतिशतानि च। ४१

भगवान् श्रीकृष्णके यहाँ तीन करोड़ अट्ठासी लाख आचार्य बालकोंको पढ़ानेके लिए आया करते थे। फिर यदुवंशियोंकी संख्या कौन बता सकता है ? असलमें देवता लोग ही यदुवंशमें अवतीर्ण हुए थे और उनके मध्य स्वामीके रूपमें श्रीकृष्ण प्रकट हुए थे। परन्तु भगवान्‌की लीला देखो कि वे श्रीकृष्णके साथ शय्या, आसन, अटन, आलाप, क्रीड़ा, स्नान आदिमें हर समय साथ रहनेपर भी उनको पहचान नहीं सके।

परीक्षित, भगवान् श्रीकृष्णके कीर्तिरूप तीर्थने उनके चरणजल गङ्गारूप तीर्थोंको परिपूर्ण कर दिया। उनके लिए पृथिवीका भार उतारना कोई आश्चर्यकी बात नहीं है।

अन्तमें श्रीशुकदेवजी महाराज यह दशम स्कन्ध समाप्त करते हुए मङ्गलाचरण करते हैं—

जयति जननिवासो देवकीजन्मवादो यदुवरपर्षत्स्वैर्दोर्भिरस्यन्नधर्मम्।
स्थिरचरवृजिनघ्नः सुस्मितश्रीमुखेन व्रजपुरवनितानां वर्धयन् कामदेवम्॥ ४८

परीक्षित, भगवान्‌ने अवतार लेकर ऐसे-ऐसे कर्म किये कि यदि कोई उनके कर्मका श्रवण-श्रावण करे तो उसके कर्मोंकी निवृत्ति होकर भगवान्‌के चरणोंमें भक्तिकी प्राप्ति हो जाय। भगवच्चरित्रके श्रवण-श्रावणसे ही हृदयमें भक्ति बढ़ती है और ऐसा आनन्द आता है कि बड़े-बड़े सम्राट् अपना साम्राज्य छोड़कर वनमें चले जाते हैं। इसलिए मनुष्यको भगवान्‌की लीला-कथाका श्रवण करना ही चाहिए।

हरिः ॐ तत्सत्



भागवत-दर्शन

श्रीमद्भागवत महापुराण

२

एकादश स्कन्ध



प्रवचन

अनन्तश्री विभूषित

स्वामी अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज

एकादश स्कन्ध

यह एकादश स्कन्ध मुख्य-स्कन्ध है। इसके पहलेवाले पाँच अध्यायोंमें विद्याके पाँच पर्वोंका वर्णन है। जैसे अविद्याके पाँच पर्व होते हैं, वैसे ही विद्याके भी पाँच पर्व होते हैं—वैराग्य, सत्सङ्ग, विवेक, भक्ति और तत्त्वज्ञान। इनके द्वारा अविद्याके पाँच पर्वोंकी निवृत्ति बतायी हुई है। वह जीवको मुक्तिका मुख्य उपाय है। उसके बाद चौबीस अध्यायोंमें प्रकृतिके चौबीस बन्धनोंकी निवृत्तिके लिए भगवान् श्रीकृष्णने उद्धवजीको उपदेश किया है। अन्तके दो अध्यायोंमें ब्रह्ममुक्तिके प्रसंगका वर्णन है। जैसे नट अपने नाट्यका परित्याग कर देता है, वैसे ही श्रीकृष्ण और दूसरे मुख्य यदुवंशी अपने यादव-वंशरूप नाट्यका परित्याग करते हैं। इस प्रकार कुल इकतीस अध्यायोंमें तीन प्रसंगोंका वर्णन है।

यदि किसी योगीको समाधि लगानी हो तो वह पहले सद्‌गुणको धारण करेगा। चित्त-प्रसाधनके लिए, परिकर्मके लिए मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षाके द्वारा अपने दोष-दुर्गुणोंपर विजय प्राप्त करेगा। लेकिन यदि उसको समाधि लगानी होगी तो क्या मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा उसके साथ जायेंगी? समाधिमें तो मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षाको छोड़कर ही जाना पड़ेगा, अन्यथा समाधि होगी ही नहीं।

इसी प्रकार दुर्गुणोंके परित्यागके लिए यदुवंशरूप सद्‌गुणकी आवश्यकता पड़ती है, पाण्डवोंकी जरूरत होती है। लेकिन अपने स्वरूपमें स्थित होनेके लिए न यदुवंशकी आवश्यकता होती है और न पाण्डव वंशकी, उनको भी छोड़ना पड़ता है। क्योंकि स्वरूप-स्थितिमें ये कहाँ साथ देंगे?

इसलिए जब इस मुक्ति-प्रसंग रूप एकादश स्कन्धका प्रारम्भ हुआ तब इसमें सबसे पहले यह बात बतायी गयी कि भगवान्‌ने आपसमें ही फूट डालकर रजोगुणसे तमःको भगा दिया और सत्त्वगुणसे रजःको दबा दिया।

अब रह गया सत्त्व। उसमें भी भगवान्‌ने फूट उत्पन्न कर दी—यह शान्ति वृत्ति है और यह अशान्त वृत्ति है। दया अशान्त वृत्ति है और अहिंसा शान्तवृत्ति है। दोनों ही सात्त्विक हैं। इस प्रकार आपसमें ही वृत्तियोंका विभाग करके संग्रयका परित्याग कर दिया और जो निर्विषय हैं, वे रह गये।



श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि परीक्षित, भगवान्‌ने अपने मनमें संकल्प किया कि अब दुष्टोंका ध्वंस तो हो ही चुका, पाण्डव-कौरवोंकी भी व्यवस्था ठीक हो गयी, परन्तु यदुवंशियोंका पराभव अन्य किसी प्रकारसे सम्भव नहीं हो सकता। इसलिए जैसे बाँस आपसमें टकरा जाते हैं और उनमें आग लग जाती है, वैसे ही ये भी आपसमें टकराकर भस्म हो जाय, वृत्तिसे वृत्तिका ध्वंस हो जाय और मैं अपने स्वरूपमें शान्त बैठ जाऊँ। यह संकल्प करनेके बाद श्रीकृष्णने ब्राह्मणोंके शापके निमित्तसे अपने कुलका संहार कर दिया।

इस संसारमें जितना भी सौन्दर्य है, वह सब भगवान् श्रीकृष्णके सुन्दर विग्रहमें-से ही निकला है। वे अपने धामके लिए प्रस्थान करते समय सबकी आँखें छीनकर, सबके चित्त चुराकर ले गये। उन्होंने सबके चित्त चुन लिये और यहाँ अपनी मूर्तिका शुभ स्थापन कर दिया, जिससे कि लोग उनके अन्तर्धान होनेके बाद भी उनकी कीर्तिका श्रवण-गान करें तथा उनको प्राप्त हों।

राजा परीक्षितने कहा कि महाराज, कृपया यह बताइये कि यदुवंशी तो बड़े ब्राह्मण-भक्त थे, उदार थे, वृद्धसेवी थे और श्रीकृष्णमें उनका मन लगा रहता था, फिर ब्राह्मणोंने उनको शाप क्यों दे दिया? जब एक ही सबका लक्ष्य था, तब उनमें भेद-भाव कहाँसे आगया? उनमें फूट तो नहीं पड़नी चाहिए थी।

श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि परीक्षित, श्रीकृष्णने बहुत ही सुन्दर रूप धारण किया और बड़े ही स्तुत्य कर्म किये। जो लोग उनका गान करेंगे, उनके लिए उन्होंने अपनी उदार कीर्तिकी स्थापना कर दी।

जब भगवान्‌ने यदुवंशियोंके संहारका निश्चय कर लिया तब द्वारकामें रहनेवाले विश्वामित्र, असित, कण्व, दुर्वासा, भृगु, अङ्गिरा, कश्यप, वामदेव, अत्रि, वसिष्ठ, नारद आदि

महात्माओंको विदा कर दिया। वे सब लोग पिण्डारक क्षेत्रमें चले गये, जो द्वारकाके पास ही था।

श्रीकृष्ण बलराम तो महात्माओंपर बहुत श्रद्धा करते थे, परन्तु उनको नयी पीढ़ीके युवकोंमें उनके प्रति तनिक भी श्रद्धा नहीं थी। साम्ब, अनिरुद्ध आदि महात्माओंके आशीर्वादसे ही पैदा हुए थे, परन्तु वे उनकी खिल्ली उड़ाते थे।

एक दिन उन युवकोंने साम्बको बना दिया स्त्रीके वेशमें और उसको महात्माओंके पास ले जाकर पूछा कि महाराज, इससे बेटी होगी या बेटा होगा ? जरा ज्योतिष गिनकर बताइये।

उन महात्माओंको किसीसे कुछ लेना-देना तो था नहीं। जिनको भेंट-पूजा ज्यादा लेनी होती है, वे ही हाँ-हाँ ज्यादा करते हैं। कुछ में-में, पें-पें, करके बच्चोंको भी रिझाये रखते हैं। लेकिन उन महात्माओंने यदुवंशी कुमारोंकी धृष्टता देखी तब क्रोध करके शाप दे दिया कि इससे तो मूसल पैदा होगा और वही यदुवंशका नाश कर देगा। मूसल पैदा हो भी गया।

अब तो वे यदुवंशी बालक बहुत दुःखी हुए, परन्तु फिर भी डरके मारे श्रीकृष्णके पास नहीं गये। उन्होंने वहीं आपसमें सलाह की और उस लोहेके मूसलको चूर-चूर करके समुद्रमें फिकवा दिया। उससे कुशकी घास उत्पन्न हो गयी। उसकी एक गाँसी बच गयी थी; जिसे पहले तो एक मछलीने निगल लिया, फिर वह एक लुब्धकके पास पहुँच गयी और उसने अपने बाणमें लगा लिया। भगवान् यह सब जानते थे। परन्तु उनका जैसा संकल्प होता है वैसा ही होता है। विनाशका समय उपस्थित होनेपर न तो बड़ा भारी महल या किला काम देता है और न शक्ति काम देती है। जो-कुछ होनेवाला होता है, वही होकर रहता है।



श्रीशुकदेवजी महाराज द्वारकाकी बात सुनाते हुए कहते हैं कि परीक्षित, द्वारका गोविन्द-भुजगुप्ता है। दूसरी जगहकी रक्षा तो भगवान् अपनी बाहुओंसे उत्पन्न क्षत्रियोंके द्वारा करवाते हैं। लेकिन वे द्वारकाकी रक्षा स्वयं अपनी भुजासे करते हैं—वैसे ही, जैसे उन्होंने अपनी उँगलीपर गोवर्द्धन उठाकर व्रजकी रक्षा की थी। तुम जानते ही हो कि उन्होंने तुम्हारी रक्षा भी तो मांके पेटमें ही कर दी थी। इसलिए ऐसा कौन प्राणी है, जो ऐसे कृपालु भगवान्के चरणाम्बुजका सेवन नहीं करेगा ?

को नु राजन्निन्द्रियवान् मुकुन्दचरणाम्बुजम्। २

इन्द्रियोंकी सफलता तो भगवान्के सगुण-साकार रूपके दर्शन-पूजनमें ही है। भगवान्के दर्शन और अनुभवके बिना तो इन्द्रियाँ बेकार ही रह जायेंगी। क्योंकि संसारमें चारों ओर मृत्यु-ही-मृत्यु बैठी है।

इसलिए नारदजी भगवान्के बार-बार विदा करनेपर भी उनका सान्निध्य छोड़ना नहीं चाहते थे। एक दिन वसुदेवजीने देखा कि नारदजी स्वयं ही उनके घरमें आगये हैं। उन्होंने उनको प्रणाम किया और बोले—महाराज आप हमारी भलाई करनेके लिए ही आये हैं।

कृपणानां यथा पित्रोरुत्तमश्लोकवर्त्मनाम्। ४

माता-पिता वैसे तो अपने सब बच्चोंका भला करते हैं—'सर्वदेहिनाम्' (४)—परन्तु उनमें कोई गरीब हो जाय तो उसका ज्यादा ध्यान रखते हैं। फिर उनमें कोई भला हो तो उसके प्रति उनका विशेष आकर्षण हो जाता है। देवता लोग तो बदलेकी भावनासे काम करते हैं। उनको जितना दो, उसकी वे बिल्कुल गिनती रखते हैं और उसीके हिसाबसे मनुष्यका भला करते हैं। वे तो छायाके समान हैं।

वसुदेवजीने कहा कि नारदजी, मैं आपसे यह पूछता हूँ कि भागवत-धर्मका स्वरूप क्या है ? मैंने पहले भगवान्की जो पूजा की, वह मोक्षके लिए नहीं की। मेरे साथ देवताओंकी माया ऐसी लिपट गयी और श्रीकृष्णने अपना ऐसा सौन्दर्य-माधुर्य दिखाया कि मैं उसीमें रम गया ! अब आप मुझे शिक्षा दीजिये।

वसुदेवकी यह प्रार्थना सुनकर देवर्षि नारद बहुत ही प्रसन्न हुए। उनको भगवान्‌के गुणोंका स्मरण हो आया—'हरेः संस्मारितो गुणैः'। (१०)

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि क्या नारदजी भगवान्‌को भूल गये थे? क्यों उनको वसुदेवजीके प्रश्न करनेपर भगवान्‌की याद आगयी। इस सम्बन्धमें हमारे विश्वनाथ चक्रवर्ती आदिने बहुत ही मजेदार बात कही है! उनका कहना है कि नारदजी नारायणको हमेशा याद रखते थे। वे तो उन्हींके शिष्य हैं और उन्हींका भजन भी करते हैं। लेकिन वे जबसे द्वारकामें आये तबसे श्रीकृष्णने उनपर ऐसा जादू डाल दिया कि उनको नारायण भूल गये। और वे श्रीकृष्णके पीछे-पीछे ही घूमने लगे। इसलिए जब वसुदेवजीने प्रश्न किया तब उनको नारायणकी याद आयी!

तो, नारदजीने कहा कि वसुदेवजी, तुमने बहुत बढ़िया प्रश्न किया है। यह बड़ा कल्याण-कारी है! भागवत-धर्म ऐसा है कि इसका श्रवण, पाठ, ध्यान, आदर, अनुमोदन आदि करनेवाला कितना ही देवद्रोही अथवा विश्वद्रोही क्यों न हो, उसको तत्काल पवित्र कर देता है! आज तुमने मेरा परमकल्याण किया, जो मुझे पुण्य-श्रवण-कीर्तन नारायण भगवान्‌का स्मरण करा दिया—

स्मारितो भगवानद्य देवो नारायणो मम। १३

अब मैं तुमको एक पुराना इतिहास सुनाता हूँ। उसमें ऋषभके पुत्र नवयोगीश्वरों और महात्मा विदेहका संवाद है। तुम सुन ही चुके हो कि स्वायम्भुव मनुके पुत्र प्रियव्रत थे। उनके पुत्र आग्नीध्र हुए, आग्नीध्रके नाभि हुए और नाभिके ऋषभ हुए। ऋषभके सौ पुत्रोंमें एक भरत हुए! उन्हींके नामसे यह भारतवर्ष प्रसिद्ध हुआ! वे भजन करने गये और उन्होंने तीसरे जन्ममें भगवान्‌को पा लिया।

ऋषभके शेष निन्यानबे पुत्रोंमें नौ राजा हो गये, इक्यासी द्विजाति हो गये और नौ मुनि हो गये, जो नवयोगीश्वर कहलाये। वे जन्मतः सिद्ध नहीं थे, जैसे कि कई लोग जन्मसिद्ध होते हैं। उन्होंने बहुत परिश्रम करके सिद्धि प्राप्त की थी। दिगम्बर रहते थे और आत्मविद्या-विशारद थे। उनके नाम थे—कवि, हरि, अन्तरिक्ष, प्रबुद्ध, पिप्पलायन, आविर्होत्र, द्रुमिल, चमस और करभाजन। उनका अनुभव था कि यह जो सदसदात्मक सम्पूर्ण विश्व है, अच्छा-बुरा है, कार्य-कारण है, दुनिया दिखायी पड़ती है, वह सब भगवद्रूप है। वे कार्य विश्वको कारण विश्वसे और आत्माको ईश्वर चैतन्यसे बिल्कुल अभिन्न देखते थे। उनका अकाट्य अनुभव था कि पञ्चभूतसे बनी हुई सृष्टि मूलतः भगवान्‌से उत्पन्न हुई है, इसलिए भगवान्‌से अभिन्न है! पाञ्चभौतिक सृष्टि

भगवान्‌में मिल जानेपर जिससे प्रसिद्ध और प्रकाशित होती है उस प्रत्यक् चैतन्यसे न्यारा भगवान् नहीं रहता।

इस प्रकार नव योगीश्वर सर्वत्र और सबमें भगवद्-दर्शन करते हुए विचरण करते—'पश्यन्तो व्यचरन् महीम्'। (२२) एक बार वे राजा निमिके सत्रमें पहुँच गये। वहाँ बड़े-बड़े ऋषि बैठे थे। उन सब लोगोंने उनका स्वागत-सत्कार किया। विदेहने उनको नारायण-परायण जानकर बहुत आनन्दसे यथायोग्य आसनपर बैठाया और वहाँ बड़ी भारी शोभा हुई, उनकी!

अब विदेहने उनसे कहा—महाराज, आप लोग तो साक्षात् मधुसूदन भगवान्‌के पार्षद हैं—'विष्णोर्भूतानि' (२८)। लोगोंको पावन करनेके लिए ही विचरते रहते हैं—'लोकानां पावनाय चरन्ति हि' (२८)। यह मनुष्य-शरीर दुर्लभ है। यदि दुर्लभ शरीर मिल गया तो मिलनेपर भी क्षणभङ्गुर है और फिर इस क्षणभङ्गुर जीवनमें भगवान्‌के भक्तोंका दर्शन दुर्लभ है। इसलिए आपलोग बताइये कि मनुष्यका परम कल्याण क्या है? उसकी प्राप्तिका साधन क्या है? इस संसारमें महात्माओंका संग यदि आधे क्षणके लिए भी मिल जाय तो वह मनुष्यके लिए बहुत बड़ी निधि है—'शेवधिर्नृणाम्' (३०)। इसलिए महाराज, आपलोग मुझे भागवत-धर्मका उपदेश कीजिये, जिससे प्रसन्न होकर भगवान् अपने आपको दे देते हैं।

नारदजी कहते हैं कि वसुदेवजी, जब विदेहराज निमिने ऐसा पूछा तब इन नव योगीश्वरोंने उनका बहुत आदर किया और बड़े प्रेमसे 'ससदस्यर्त्विजं नृपम्' (३२)—सदस्योंके साथ बैठे हुए निमिको सम्बोधित करते हुए कहा—

देखो, आजकलके वक्ता लोग अकेलेमें प्रश्नोत्तर करना पसन्द करते हैं। वहाँ दूसरे लोगोंको क्या मालूम कि वे जो-कुछ कह रहे हैं, वह वेदके अनुकूल है या प्रतिकूल है? लेकिन नव योगीश्वरोंने भरी सभामें जहाँ सदस्य भी हैं, ऋत्विज भी हैं, ऋषि-मुनि भी हैं, बोलना प्रारम्भ किया। क्योंकि उनको सच बात बोलनेमें किसीका डर नहीं था।

उन नव योगीश्वरोंमें जो कवि थे, वे सबसे पहले बोले! सहज स्वभावसे सत्यवस्तुको वर्णित करनेवालेका नाम कवि होता है अथवा कं=सुखं वाति—सुखका विस्तार करनेवालेको कवि कहते हैं अथवा 'कविर्मनीषीपरिभूः स्वयंभूः' (ईशोप० ८) स्वयं परमात्मा ही कवि है।

कवि बोले कि इस जगत्‌में भगवान् अच्युतके चरणोंकी आराधना ही परम कल्याणका कारण है। जो कभी छूटकर न गिरे उसका नाम अच्युत है—'न च्यवते इति अच्युतः'। पत्नीको छातीसे लगाकर सोनेवालोंके हाथ ढीले पड़ जाते हैं और नोटोंको हाथसे पकड़कर सोनेपर नोट

गिर जाते हैं। लेकिन अच्युत भगवान् ऐसे हैं कि वे सुषुप्तिमें भी नहीं छूटते। यदि वे आपसे अभिन्न होकर न रहें तो उनका नाम अच्युत नहीं हो सकता।

भक्तिका अर्थ तो बहुत प्रसिद्ध है ही, सबलोग जानते हैं। 'पादाम्बुजोपासनमत्र नित्यम्' (३३)—भगवान्का पाद क्या है? विश्व, तैजस, प्राज्ञ, विराट्, हिरण्यगर्भ, ईश्वर और तुरीय। उसको अम्बुज इसलिए कहा कि वह असंग है, वहाँ चेतन ही बैठा हुआ है। 'उद्विग्न-बुद्धेरसदात्मभावाद्' (३३)—इसका अर्थ है कि संसारके प्राणी असद्वस्तुमें आत्मभावके कारण दुःखी हैं, उद्विग्न-बुद्धि हो रहे हैं। वे यदि भगवान्के चरणारविन्दका भजन करें तो निर्भय हो जायेंगे—

ये वै भगवता प्रोक्ता उपाया ह्यात्मलब्धये। ३४

भगवान्के चरणारविन्दकी उपासना ही अकुतश्चिद्भय है। इसलिए भगवान्की उपासना करो तो भय निवृत्त हो जायेगा।

देखिये, आप केवल एक क्षणके लिए यहाँके स्थान, समय और दृश्यका ख्याल छोड़कर इस बातका ध्यान कीजिये कि यह वृन्दावन धाम है, यमुना बह रही है, उसका पुलिन है, मुरलीमनोहर, पीताम्बरधारी, श्यामसुन्दर मन्द-मन्द मुस्कराते और ठुमुक-ठुमुककर पाद-विन्यास करते हुए आपकी ओर आ रहे हैं अथवा आपको अपनी ओर बुला रहे हैं। आप क्षणभरके लिए इस भावका चिन्तन कर लें और फिर देखें कि आपके मनमें कोई दुःख है क्या? जब इतनी ही देरमें सारा दुःख मिट जाता है तो यदि आप इस ध्यानको पाँच मिनट करें, पाँच घण्टे करें, तब तो आपके आनन्दका कहना ही क्या है? यह तो दृष्ट है, कोई पारलौकिक नहीं कि मरनेके बाद स्वर्गमें जायेंगे तब मिलेगा, उधार धर्म नहीं, बिल्कुल नगद धर्म है।

कवि कहते हैं कि भगवान् तो इतने उदार हैं कि उन्होंने अज्ञानियोंके लिए भी इस धर्मका वर्णन किया है—

अञ्जः पुंसामविदुषां विद्धि भागवतान् हि तान्। ३४

इसमें ज्ञानकी कोई शर्त ही नहीं। विधि-विधानको भी जानो चाहे मत जानो। इसमें न स्खलन है और न प्रत्यवाय है—

धावन्निमील्य वा नेत्रे न स्खलेन्न पतेदिह। ३५

इसमें एक और विचित्रता है। न इसमें अमुक प्रकारका चरु बनाना पड़ता है, न अमुक प्रकारका पुरोडास बनाना पड़ता है और न अमुक मन्त्रसे अर्पित करना पड़ता है।

कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा बुद्ध्यात्मना वाऽनुसृतस्वभावात्।
करोति यद् यत् सकलं परस्मै, नारायणायेति समर्पयेत्तत्॥ ३६

भगवान्‌के लिए चाहे कोई भी कर्म करे—शरीरसे, वाणीसे, मनसे, इन्द्रियोंसे, बुद्धिसे, अहङ्कारसे अथवा आदतसे—वह सब परब्रह्म परमात्माको, नारायणको समर्पित कर दें। बस, इतनेका नाम भागवत-धर्म है।

देखो, अङ्गिरा ऋषिका भी मत है कि भगवदर्पित कर्मका ही नाम धर्म है—'भगवदर्पितं कर्म धर्मः इति अङ्गिरा'। आपको स्मरण होगा, यमदूतोंने जो धर्म बताया था, वह दूसरा था। भागवत-धर्म वह है, जो पार्षदोंने एवं परम भागवत धर्मराजने बताया था।

कविने कहा—भागवत-धर्म यह है कि सारा कर्म भागवतके लिए करें। ईश्वरसे विमुख हो जानेके कारण ही भयकी प्राप्ति हुई है और इसमें हेतु है भगवान्‌की माया। इसलिए अनन्य भक्तिसे भगवान्‌की आराधना करनी चाहिए। मनको भगवान्‌में लगा दें। ऐसे न लगे तो भगवान्‌के जन्म-कर्मका श्रवण करें, गान करें, असङ्ग होकर, बिलज्ज होकर विचरण करें। भगवान्‌के नामोच्चारणसे हृदयमें अनुराग आजाता है। फिर तो ऐसी मस्ती आती है कि कभी भक्त हँसता है भगवान्‌के लिए, कभी रोता है भगवान्‌के लिए, कभी चिल्लाकर पुकारता है भगवान्‌को, कभी गाने लगता है कि भगवान् सुनकर प्रसन्न हो जायेंगे। वह लोकबाह्य होकर नृत्य करता है। सम्पूर्ण विश्वसृष्टिको परमात्माका स्वरूप समझकर सबको प्रणाम करता है।

राजन्, इस मार्गकी यह विशेषता है कि जैसे आप किसीसे प्रेम करते हैं तो उससे दो बातें करनी स्वाभाविक होती हैं, दूसरे छूट जाते हैं और प्रेमास्पदके बारेमें आपकी जानकारी बढ़ जाती है, वैसे ही भगवान्‌की भक्ति करनेपर दूसरोंसे वैराग्य हो जाता है और भगवान्‌के बारेमें आपकी जानकारी बढ़ जाती है। ये तीनों ही बातें एक समय चलती हैं। जिस प्रकार भोजन करें तो तुष्टि, पुष्टि और भूखकी निवृत्ति एक साथ होती है, उसी प्रकार भगवान्‌का भजन करनेपर भगवान्‌के प्रति प्रेम, उन स्वरूपका अनुभव और अन्य वस्तुओंसे वैराग्य—तीनों एक साथ हो जाते हैं और परा शान्तिकी प्राप्ति होती है।

राजा निमिने कहा कि महाराज, अब आप भक्तका लक्षण बतायें तो दूसरे नव योगीश्वर हरिजी बोले।

हरिजी महाराज तो साक्षात् हरि ही हैं। 'हरति भक्तचेतांसि'—जो भक्तोंका मन हरण करे, उसका नाम हरि है। 'हरति दुःखम्, हरति पापम्, हरति वासनाम्, हरति अहङ्कारम्, हरति अविद्याम्'—जो दुःख, पाप, वासना, अहङ्कार और अविद्या हर ले, उसको हरि कहते हैं।

श्रीहरिजीने कहा—जो सबमें भगवान् और भगवान्में सब, भगवान्में आत्मा और आत्मामें भगवान्का दर्शन करता है, वही श्रेष्ठ भागवत है, उत्तम भागवत है। जो भगवान्से प्रेम, भगवद्भक्तोंसे मित्रता, अज्ञानियोंपर कृपा और भगवान्से द्वेष करनेवालोंको उपेक्षा करता है, वह मध्यम भागवत है। जो केवल अर्चाके समय ही श्रद्धापूर्वक भगवान्की पूजा करता है, भक्तों और दूसरोंकी सेवा-शुश्रूषा नहीं करता; वह साधारण श्रेणीका प्राकृत भक्त है।

जो इस विश्व-सृष्टिको देखकर भी इसमें फँसता नहीं, सबको अपने भगवान्की माया देखता है, न कहीं द्वेष करता है और न राग करता है, वह श्रेष्ठ भागवत है। संसारमें जबतक शरीर है, तबतक इसका जन्म होता है, इसकी मृत्यु होती है और इसको भूख, भय, प्यास, तृष्णा लगती रहती है। इनके लिए कोई दवा करनेकी जरूरत नहीं। **इन सब रोगोंकी एक दवा है और यह है कि भगवान्की स्मृतिमें डूब जाओ—'स्मृत्या हरेर्भागवत-प्रधानः' (४१)। जो ऐसा करता है, वह उत्तम भागवत है। जिसके मनमें काम, कर्म, बीज नहीं रहते और जो भगवान्में बैठा रहता है, उसका नाम भागवतोत्तम है। जिसके अन्दर अपने वर्णका, आश्रमका, जातिका, जन्मका और कर्मका अभिमान नहीं होता, वह निश्चय ही भगवान्का प्रिय है।**

यहाँ देखो, अभिमानका लक्षण यह है कि अपनेको बड़ा और दूसरेको छोटा समझने लगता है। परन्तु किसको बड़ा समझता है? देहको ही सबसे बड़ा समझता है। लेकिन यह देह क्या है? भानुमतीका पिटारा ही तो है? 'दिह्-उपचये' धातुसे देह शब्द बना है, जिसका अर्थ हुआ हड्डी, मांस, चाम, विष्ठा और मूत्रकी पिटारी। श्रीवल्लभाचार्यजी महाराजने तो एक जगह देह शब्दकी व्युत्पत्ति इस प्रकार की है—'दह्यते इति देहः'। जो जला दिया जाता है, उसका नाम देह है। दहन और देह ये दोनों शब्द समान हैं। इसलिए दह् धातुसे ही देह बना लो।

अब निर्गुण, निराकार ईश्वरके भक्तका लक्षण बताकर सगुण-साकार भगवान्के भक्तका लक्षण बताते हुए हरिजी कहते हैं कि जो त्रिभुवन-विभवके लिए भी भगवान्की स्मृति नहीं छोड़ता तथा जिस भगवत्पादारविन्दके लिए बड़े-बड़े देवता और ऋषि-मुनि व्याकुल रहते हैं, उससे लवनिमिषार्ध भी विचलित नहीं होता, वह श्रेष्ठ वैष्णव है।

देखिये, मैं आपको केवल स्मरण दिलाता हूँ, शिक्षण नहीं देता—'स्मारये न तु शिक्षये'। आप यह ध्यान रखें कि हम लोगोंको संसारमें जो हजार-हजार सुख-दुःख होते रहते हैं, वे सब मनकी कल्पनासे ही होते हैं। इनको दूर करनेके लिए किसी सच्ची दवाकी जरूरत नहीं है, आप

झूठ-मूठ ही कल्पना कर लें कि आपके हृदयमें भगवान्‌के चरणारविन्द हैं और उनको अँगुलियोंकी नखद्युतिसे आपका हृदयान्धकार दूर हो रहा है। बस, वे कल्पित चरणारविन्द ही आपके दुःखको दूर करनेमें समर्थ हैं। फिर आपके हृदयमें यदि भगवान्‌के सच्चे चरणारविन्द स्थापित हो जायें तो कहना ही क्या है? वे तो सारे पाप-ताप ही मिटा देते हैं।

इसलिए हरिजी कहते हैं कि 'हृदि कथमुपसीदतां पुनः सः' (५४)—भजन करनेवालोंके हृदयमें पाप-ताप नहीं आसकते। जहाँ चन्द्रोदय हो गया, वहाँ सूर्यका ताप कहाँ?

देखो, भगवान्‌के चरणारविन्द बड़े लक्षसुन्दर हैं। यह लक्षसुन्दर ही गाँवोंमें लखसुन्दर हो गया। यह भी बड़ा विलक्षण शब्द है। एक घास होती है जो किसीके कपड़ेमें लग जाय तो छुड़ानेपर भी जल्दी नहीं छूटती। इसी प्रकार भगवान्‌के चरणारविन्द जिसके हृदयमें आजाते हैं, उसको छोड़ते नहीं!

इसलिए हरिजीने अन्तमें कहा कि 'विसृजति हृदयं न यस्य साक्षात्' (५५)—यदि कोई विवश होकर भी भगवान्‌का नाम ले और उनको पुकारे तो पापका नाश हो जाता है। फिर भगवान् तो एक बार हृदयमें आजानेके बाद कभी विलग नहीं होते। क्योंकि भक्त उनको प्रेमकी रस्सीसे बाँधकर रख छोड़ता है। वास्तवमें ऐसा पुरुष ही भक्तोंमें प्रधान होता है।



इसके बाद राजा निमिने पूछा कि भगवन्, अब आप लोग मुझे मायाका लक्षण बताइये। क्योंकि माया कभी भक्तका स्पर्श नहीं करती। उस मायाका स्वरूप क्या है? मुझे आप लोगोंकी वाणीसे तृप्ति नहीं होती।

इस प्रश्नका उत्तर तीसरे योगीश्वर अन्तरिक्ष देने लगे। वास्तवमें मायाका स्वरूप अन्तरिक्ष ही बता सकते हैं। क्योंकि भीतर जिनकी ईक्षा है, जिनका ईक्षण भीतर-ही-भीतर है, उसे कहते हैं अन्तरिक्ष।

तो, महात्मा अन्तरिक्षजी कहते हैं कि भगवान्‌ने मायाकी सृष्टि महाभूतोंसे की है। उन्होंने चारों तरफ पुरुषार्थका भोग करनेके लिए, जीवोंको एकधा दशधा प्रसिद्ध कर दिया—प्रकट कर दिया; यह उनकी माया है। गुणोंसे गुणोंका भोग होता है, यह भी माया है। माया माने जादूका खेल, जिसे जादूगर दिखाते हैं। 'मीयते जगत् अनया'— जिससे चीज तो दीखे, परन्तु वह हो नहीं। यह सृष्टि, यह स्थिति, यह प्रलय—ये सब क्या हैं? भगवान्‌की माया हैं—'एषा भगवतः माया। (१६)

अब राजा निमिने कहा कि महाराज, इस मायाके चक्करमें न पड़ना पड़े और यदि पड़ जायें तो छूटें कैसे—यह उपाय आप हमें बताइये। इसपर चौथे योगीश्वर प्रबुद्धजी बोलनेको तत्पर हुए। प्रबुद्ध माने जाग्रत्। जो मायाकी निद्रासे जाग गया है, उसको प्रबुद्ध बोलते हैं।

प्रबुद्धजी कहते हैं कि राजन्, इस संसारमें जो लोग सुख पानेके लिए बहुत भारी कर्म आरम्भ करते हैं, उनको सुख तो मिलता नहीं, किन्तु दुःख मिलता है। धनके साथ दुःख आता ही है। धनका मिलना मुश्किल है। उसके साथ मृत्यु जुड़ी हुई है। बहुत परिश्रम करके धन कमाओ, तब भी उसे कोई छीन लेता है। ऐसा ही परलोक भी है, स्वर्गकी भी यही दशा है। इसलिए इन सब नश्वर वस्तुओंमें न फँसकर गुरुके पास जाना चाहिए। गुरु ऐसा हो कि शब्द और ब्रह्म अर्थात् शास्त्र और परब्रह्म दोनोंमें निष्णात हो। शास्त्र नहीं जानेगा तो ठीक समझा नहीं सकेगा और अनुभवी नहीं होगा तो दूसरोंको अनुभवमें डाल नहीं सकेगा।

प्रबुद्धजी कहते हैं कि 'उपशमाश्रयम्'—गुरुको शान्तवृत्तिका भी होना चाहिए। उसमें शान्ति एवं निवृत्तिपरायणता भी होनी चाहिए। मनुष्य ऐसे ही गुरुसे भागवत-धर्मकी शिक्षा ग्रहण करे और कपट छोड़कर उसकी सेवा करे। गुरुकी सेवासे भगवान् बहुत प्रसन्न होते हैं।

गुरुसे यह सीखना चाहिए कि मन सब जगह असङ्ग कैसे रहे ? असङ्गताकी प्राप्तिके लिए पहले सन्तका सङ्ग करे। उसके बाद दया करे। दया भी सीखनेकी वस्तु है। बिना सीखे दया करने जाओगे तो राजा भरतकी तरह आसक्ति हो जायेगी। मैत्री भी समझ-बूझकर—सीखकर करनी चाहिए। विनय भी ऐसा नहीं रखना चाहिए कि कोई डाँट-डपटकर बुरा काम करवा ले अथवा दुराचारमें प्रवृत्त हो जाना पड़े। पवित्रता, तपस्या, तितिक्षा, मौन, स्वाध्यय, आर्जव, ब्रह्मचर्य, अहिंसा और गर्मी-सर्दीमें सहनशीलता—यह सब सद्‌गुरुसे सीखना पड़ता है।

देखो, किसी दिन जोश आया, जाकर गङ्गा, यमुना या सरयू नदीमें बैठ गये और हो गया निमोनिया। किसी दिन चिलचिलाती धूपमें बैठ गये और लग गयी लू। ऐसे काम नहीं होता। यह सब भी सीखना पड़ता है। इसी तरह सब जगह सबमें ईश्वरको कैसे देखना चाहिए, यह गुरु ही बताता है। आपके घरमें जब भगवान् चोर बनकर आते हैं तब यही कहने आते हैं कि हमें पुलिसके सुपुर्द कर दो। वे चोरके रूपमें आपसे हाथ जुड़वाने नहीं आते, हाथ जुड़वाना होता तो महात्मा बनकर आये होते !

प्रबुद्धजी कहते हैं—राजन्, मनुष्य एकान्तमें कैसे रहे, कैवल्य कैसे होता है, बिना घरके कैसे रहा जाता है और चीर धारण कैसे होता है, यह सब सीखना चाहिए। भागवत-शास्त्रमें श्रद्धा रहे, किसीकी निन्दा न हो, मनोवाक्कर्मदण्ड, श्रवण-कीर्तन-ध्यान, यज्ञ-दान-तप कैसे भगवान्‌के प्रति अर्पित होते हैं, सब सीखना चाहिए।

भक्तोंका सङ्ग कैसे करना, सबकी सेवा कैसे करनी, आपसमें मिलकर भगवच्चरित्रका गान कैसे करना, परस्पर किस प्रकार आनन्द मनाना, कैसे तुष्ट होना और कैसे निवृत्त होना—यह सब सीखनेकी बातें हैं।

राजन्, समस्त पापोंका विनाश करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णका स्मरण करना और दूसरोंको उनका स्मरण कराना चाहिए। उनके स्मरणसे भक्ति होती है, भक्तिसे प्रतिबन्ध मिट जाते हैं और फिर सहज भक्तिका उदय हो जाता है—'भक्त्या संजातया भक्त्या' (३१)। फिर ऐसी भक्तिवाले पुरुष कभी हँसते हैं, कभी रोते हैं, कभी गाते हैं, कभी बजाते हैं और कभी परमानन्दको प्राप्त हो जाते हैं। इस प्रकार भक्तिके द्वारा जो नारायण-परायण होता है, वह मायासे पार हो जाता है।

अब राजा निमिने पूछा कि महाराज, नारायण क्या हैं—'नारायणाभिधानस्य ब्रह्मणः परमात्मनः' (३४)। महात्मा लोग नारायण-नारायण कहते रहते हैं। परन्तु वे हैं कौन ? यदि वे वाङ्मनसागोचर प्रत्यक्चैतन्याभिन्न परमतत्त्व परमार्थ हैं तो आप उनका स्वरूप हमें बताइये !

इस प्रश्नका उत्तर देनेके लिए पाँचवें योगीश्वर पिप्पलायन ऋषि उद्यत हुए। ये पिप्पलायन कौन हैं ? पिप्पल माने संसार और यहाँ जो रहे, उसका नाम पिप्पलायन –'पिप्पले अयनं यस्य'। यह पिप्पल 'ऊर्ध्वमूलम् अध शाखम्' (गीता १५.१) है और इसीमें पिप्पलायनका निवास है।

तो पिप्पलायन बोले कि राजन्, नारायण ही इस प्रपञ्चकी स्थिति, उत्पत्ति और प्रलयके हेतु हैं।

यहाँ देखो, पिप्पलायनजी पहले प्रपञ्चकी उत्पत्ति न कहकर स्थिति कह रहे हैं। क्योंकि उन्हें नारायणका स्वरूप बताना है, जो स्थितिके देवता हैं। दूसरी बात यह है कि स्थित प्रपञ्च ही भासता है। इसकी उत्पत्ति और प्रलयको तो मनसे सोचना पड़ता है, किसीने उनको देखा नहीं। नारायणके सिवाय अगर कोई दावा करे कि हमने महाप्रलय देखा है तो वह बिल्कुल झूठा है। क्योंकि वह तो उस समय था ही नहीं। प्रलय देखेगा कैसे ?

पिप्पलायनजी आगे कहते हैं कि 'अहेतुरस्य'—नारायणका कोई कारण नहीं, वे सबके कारण हैं। यदि कहो कि यह तो बहुत दूरकी बात है, तो पासकी बात सुन लो—

यत् स्वप्नजागरसुषुप्तिषु सद् बहिश्च। ३५

पहले जो कहा गया, वह तत्पदार्थके रूपमें था, अब त्वंपदार्थके रूपमें कहा जा रहा है कि नारायण स्वप्न, जाग्रत् और सुषुप्ति तीनों अवस्थाओंमें रहते हैं। जो सृष्टिके मूलमें है, वही तुम्हारी तीनों अवस्थाओंके मूलमें है। यदि कहो कि यह बात भी कुछ परोक्षकी है और तुम साक्षात् अपरोक्षकी बात सुनना चाहते हो तो राजन्, वह भी सुनो—

देहेन्द्रियासुहृदयानि चरन्ति येन। ३५

जो हमारे देह-इन्द्रिय, प्राण और हृदयको प्रेरित करते हैं—'धियो यो नः प्रचोदयात्' (गायत्रीमन्त्र, ऋग् ३.६२.१०)—वे ही नारायण हमारे जीवनमें, शरीरमें साक्षात् अपरोक्ष हैं। मन आदि उनके पास नहीं जाते और बिना उनके निषेधकी सिद्धि नहीं होती। एक ही परब्रह्म परमात्मा सबके रूपमें प्रकट हो रहे हैं। इनके जन्म-मरण आदि छह भाव-विकार नहीं होते। सत्त्व अनपायी उपलब्धि मात्र है और इन्द्रियोंके बलानुसार जैसे एक ही कई प्रकारसे दीखता है, वैसे

ही भिन्न-भिन्न शरीरोंमें भिन्न-भिन्न प्रकारका देखनेमें आता है। जब इन्द्रियाँ सो जाती हैं और अहं भी सो जाता है तब वह 'कूटस्थ आशयमृते' (३९)—बिना आशयके, बिना अन्तःकरणके, बिना उपाधिके, बिना अभावके अपने अस्तित्वको प्रमाणित करना है।

यहाँ सुनिये सीधी-सी बात ! आप क्या अपने अभावका अनुभव करते हैं ? यदि हम कहें कि 'अहं नास्मि'—तो क्या यह वदतो व्याघात नहीं होगा ? हमारा ऐसा सोचना कि हम नहीं हैं, बिलकुल बेकार बात है। जिसको हम कभी न तो ना बोल सकते हों और न सोच सकते हों, जो मिथ्या अहंके भीतर बिना अन्तःकरणके कूटस्थ रहता है, जिसकी स्मृति होती है, लेकिन जिसका अनुभव नहीं होता, वही परमात्मा है। समझ लें कि अभी है, यहीं है और यही है। अभी और यहींकी उपाधिका निषेध करके फेंक दें द्वैतवादियोंके घरमें। जो अपना आपा है, उसीका नाम परमात्मा है।

यर्ह्यब्जनाभचरणैषणयोरुभक्त्या चेतोमलानि विधमेद् गुणकर्मजानि।
तस्मिन् विशुद्ध उपलभ्यत आत्मतत्त्वं साक्षाद् यथामलदृशोः सवितृप्रकाशः ॥ ४०

राजन्, भगवान्की भक्तिसे चित्तके जो गुण-कर्मज मल हैं, उनको धोकर फेंक दो। यदि कहो कि भक्ति क्या है तो भक्तिका सीधा-सादा स्वरूप है, कुछ टेढ़ा-मेढ़ा नहीं। आपके मनमें भगवान्के चरणारविन्दकी प्राप्तिकी यदि इच्छा है, तो वही भक्ति है। उस भक्तिसे गुण और कर्मका मैल धुल जायेगा और अन्तःकरण शुद्ध होते ही जैसे आँखका रोग दूर होनेपर सूरजका प्रकाश दीखने लगता है, वैसे ही परमात्मा दीखेगा।

राजा निमिने कहा कि महाराज, अब आपलोग वह कर्मयोग बताइये, जिससे अन्तःकरणकी शुद्धि हो। एकबार मैंने यह प्रश्न सनकादिसे पूछा था, लेकिन उन्होंने नहीं बताया। इसका कारण क्या था, कृपाकर बतायें।

इस प्रश्नका उत्तर छठे योगीश्वर आविर्होत्रजीने दिया। वे बोले कि राजन्, कर्म, अकर्म, विकर्म ये सब परमार्थकी वस्तु नहीं हैं—

कर्माकर्मविकर्मेति वेदवादो न लौकिकः। ४३

ये न तो पञ्चभूतमें हैं और न परमार्थमें हैं। ये तो वेदवाद हैं। वेद ईश्वरात्मा है, इसमें बड़े-बड़े विद्वान् मोहित हो जाते हैं। वेद परोक्षवाद है। कर्मसे छुड़ानेके लिए कर्म बताता है।

देखो, इसको ऐसे समझो कि बच्चेके शरीरमें मैल लगी है। मैयाने कहा कि उबटन लगा लो, साबुन लगा लो। बच्चा उबटन-साबुन लगाकर बैठ गया, मैयाने कहा कि अब धो लो।

बच्चा कहने लगा कि नहीं-नहीं यह तो मैल छुड़ानेके लिए है, अब हम इसको नहीं उतारेंगे। मैयाने कहा कि अरे नहीं, उसीके साथ तुम्हारा मैल छूट जायेगा।

तो, कर्मयोग उबटन है, साबुन है, इसको लगाये बिना मैल नहीं छूटती। परन्तु लगानेके बाद इसको धो देना पड़ता है। जो वेदोक्त कर्म नहीं करता, उसको मृत्युसे मृत्युकी प्राप्ति होती है। किन्तु जो असंग होकर वेदोक्त कर्म करता है, उसको नैष्कर्म्य-सिद्धिकी प्राप्ति होती है।

जिसे शीघ्र सफलता प्राप्तिकी आकाङ्क्षा हो, उसे तन्त्रोक्त विधिसे केशवकी आराधना करनी चाहिए और उसके लिए गुरुका अनुग्रह प्राप्त करना चाहिए। शिष्यकी श्रद्धा और गुरुका अनुग्रह—इन दोनोंके मिलनका नाम है दीक्षा। इसीको शक्तिपात बोलते हैं।

इसके बाद यह प्रश्न उठता है कि कैसे भगवान्‌की पूजा करनी चाहिए? इसका उत्तर है कि एतत्सम्बन्धी एक-एक बात गुरुदेवसे सीखकर पूजा करनी चाहिए। जो लोग मूर्ति नहीं मानते और बिना आधारके ईश्वरकी पूजा करना चाहते हैं, वे भूल करते हैं। पूजा सर्वमें होगी या एकमें होगी? एक काल भी मूर्ति हो जायेगा, एक देश भी मूर्ति हो जायेगा, एक वस्तु भी मूर्ति हो जायेगी और अपना हृदय भी मूर्ति हो जायेगा। किन्तु आधारके बिना, अपने पूज्यकी स्थापना किये बिना पूजा कैसे होगी? आधारको ही तो मूर्ति बोलते हैं। वह आधार ही शक्ति है। जो अग्निमें, सूर्यमें, जलमें, अतिथिमें, हृदयमें अपने आत्मस्वरूप ईश्वरकी पूजा करता है, वह मुक्त हो जाता है।



: ४ :

अब जब राजा निमिने पूछा कि योगीश्वरो, नारायण अपने भिन्न-भिन्न अवतारोंमें क्या-क्या कर्म करते हैं तब सातवें योगीश्वर द्रुमिल बोले—राजन्, नारायणके गुण-कर्म तो अनन्त हैं। जो सबका वर्णन करना चाहे, वह बालबुद्धि है। जब पहले इस विश्वकी रचना करके इसमें प्रवेश करते हैं, तब उनका वह पुरुष नामका अवतार होता है। उन्हींसे यह सारा विश्व बनता है। उसमें ब्रह्मा होते हैं, विष्णु होते हैं।

एक तो आदि नारायण हैं और दूसरे गुणावतारके रूपमें आये हुए नारायण हैं। गुणावतार नारायणकी ही सृष्टि होती है और उन्हींके कर्म होते हैं। उन्होंने ही भक्तोंके आचरण करने योग्य धर्मको स्थापना की, तपस्या की।

एक बार नारायणकी तपस्या देखकर इन्द्रके मनमें शङ्का हुई कि कहीं ये हमारा धाम तो नहीं छीनना चाहते—'इन्द्रो विशङ्क्य मम धाम जिघृक्षतीति' (७)। इसलिए उन्होंने उनके पास काम आदिको भेज दिया। इसपर नारायण हँसने लगे और कामादि डरकर काँपने लगे। नारायणने कहा कि मित्रो, मैं बहुत दिनोंसे यहाँ अकेला ही तपस्या कर रहा था, आओ-आओ, तुम लोग कुछ दिन यहीं रहो! 'गृह्णीत नो बलिमशून्यमिमं कुरुध्वम्' (८)—मेरा स्वागत-सत्कार ग्रहण करो, कुछ दिन मेरे आश्रममें ही चहल-पहल रहे, काम रहे, अप्सरा रहे, मलयानिल रहे, वसन्त रहे!

उन लोगोंने कहा कि महाराज, आप तो निर्विकार हैं और इसमें आपके लिए कोई आश्चर्यकी बात नहीं—'नैतद् विभो त्वयि परेऽविकृते विचित्रम्' (९)। जो आपका भजन करते हैं, वे विघ्नोंके सिरपर पाँव रखकर आगे चले जाते हैं। कई लोग काम आदिको तो भस्म कर लेते हैं, परन्तु क्रोधके वशमें होकर शाप दे देते हैं।

नारायणने कहा—मैं तुम लोगोंको क्या शाप दूँ ? तुम लोग जैसी स्त्रियाँ लेकर मुझको लुभानेके लिए आये हो, उनसे सुन्दर-सुन्दर स्त्रियाँ मेरे पास पहलेसे ही हैं।

यह कहकर नारायणने लक्ष्मीके अनेक रूप दिखा दिये। उन्हें देखकर सब-के-सब मोहित हो गये। नारायण बोले कि इनमें-से एक छाँट लो और अपने साथ ले जाओ! उन्होंने एक छाँट ली। वह उर्वशी कहलायी। उसे साथ लेकर वे सब इन्द्रकी सभामें गये। वहाँ वह स्वर्गभूषण हो गयी और उससे इन्द्रकी बहुत महिमा बढ़ी।

इसके बाद नारायणने हंसावतार धारण करके ब्रह्माको आत्मयोगका उपदेश किया। दत्तावतार, कुमारावतार, ऋषभावतार आदि भी नारायणके ही अवतार हैं। हयग्रीवावतार धारण करके नारायण असुरोंको मारते हैं और वेदकी रक्षा करते हैं। नारायण ही अवतार लेकर देवासुर-संग्राममें देवताओंकी सहायता करते हैं। फिर परशुराम और रामावतार धारण करके अनेकानेक लीलाएँ करनेके बाद श्रीकृष्णावतार द्वारा ऐसे-ऐसे दिव्य कर्म करते हैं, जो देवतालोग कभी नहीं कर सकते।

'राजन्, नारायणके अनेक जन्म-कर्म हैं। इनके श्रवण-श्रावणसे अन्तःकरणकी शुद्धि होती है और भगवान्की भक्ति आती है।



अब राजा निमिने पूछा कि योगीश्वरो, इस संसारमें प्रायः लोग भगवान्का भजन नहीं करते। फिर उनकी क्या स्थिति होती है?

इसका उत्तर प्रारम्भ करते हुए आठवें योगीश्वर चमसजीने बताया कि राजन् देखो, जिस प्रकार पिताकी सेवा न करनेवाला पुत्र और स्वामीकी सेवा न करनेवाला सेवक अपराधी होता है, इसी प्रकार भगवान्का भजन न करनेवाले प्राणी अपराधी होते हैं। संसारके जितने भी जीव हैं, वे सब भगवान्के अङ्गसे ही पैदा हुए हैं और उनके बच्चे हैं। वे उन सब जीवोंके स्वामी भी हैं। पिता भी वही और स्वामी भी वही—'आत्मप्रभवमीश्वरम्'। (३) इसलिए उनका जो भजन नहीं करते, वे स्थान-भ्रष्ट हो जाते हैं। उनका अधःपतन हो जाता है।

देखिये राजन्, किसीको भजनका अनधिकारी मत समझिये। इससे बहुत भारी अपराध होता है। जैसे माघ महीनेमें गङ्गास्नानके अधिकारी सब होते हैं, वैसे ही सब भजनके भी अधिकारी होते हैं। भगवान् किसीके कैदी नहीं हैं, वे तो सबके ही हैं। इसलिए भगवान्के भजनमें कोई अनधिकारी है ही नहीं—

दूरे हरिकथाः केचिद् दूरे चाच्युतकीर्तनाः। ४

श्वपच भी भगवद्भजनका अधिकारी है, शूद्रादि भी भगवद्भजनके अधिकारी हैं। उन सबपर अनुकम्पा करनी चाहिए। वैसे तो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य—तीनों बहुत श्रेष्ठ हैं। ये वेद भी पढ़ते हैं और इनका जन्म भी उत्तम है, लेकिन जब ये वेदवादी हो जाते हैं तब दूसरोंका अपमान करने लगते हैं।

देखो, एक बार श्रीउड़िया बाबाजी महाराजसे किसीने कहा कि आप तो अद्वैतवादी हैं। वे बोले कि भलेमानुस, मैं तो कोई वादी-विवादी नहीं। वादी-विवादी तुम होगे। फिर आप क्या हैं महाराज? बोले कि मैं तो केवल अद्वैत हूँ।

तो, चमसजी महाराज कहते हैं कि लोग आम्नायवादी हो जानेपर, वेदवादी हो जानेपर, दूसरोंका तिरस्कार करने लगते हैं और कहते हैं कि हम ब्राह्मण और तू शूद्र! हम साधु तू गृहस्थी! असलमें वेदवादियोंको 'वदन्ति चाटुकान् मूढाः' (६)—कर्म करनेका ढङ्ग मालूम नहीं होता। वे मूर्ख होनेपर भी, अपण्डित होनेपर भी, पण्डितमानी हो जाते हैं और अपनेको बड़ा भारी

पण्डित मानने लगते हैं। जो रजोगुणी हैं, क्रोधी हैं, कामी हैं, दम्भी हैं, वे भगवान्‌के भक्तोंकी हँसी उड़ाते हैं—यह वृत्ति बहुत ही गलत है।

राजन्, मूर्ख लोग तन्त्र आदिका सहारा लेकर स्त्रियोंकी उपासना करते हैं। 'वदन्ति तेऽन्योन्यमुपासितस्त्रियः' (८)—मैथुन-सुखमें प्रीति रखते हैं और शास्त्रीय विधिके बिना ही पशुओंकी हिंसा करते हैं। उनके अभिमानकी सीमा नहीं होती और वे भगवान्‌के भक्तोंका तिरस्कार करते हैं। यह नहीं देखते कि उन भक्तोंमें भगवान्‌का प्रेम कितना है और उनके द्वारा लोक-कल्याण कितना होता है! उनके अन्दर जो गुण हैं, उनपर उनकी दृष्टि नहीं जाती—'सतोऽवमन्यन्ति हरिप्रियान् खलाः'। (९)

राजन्, वेद कहते हैं कि भगवान् समस्त शरीरधारियोंमें आकाशके समान स्थित हैं—'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (छान्दोग्य ३.१४.१)। परन्तु वे मूर्ख इस वेदवाणीपर ध्यान नहीं देते और अपने मनोरथोंमें फँस जाते हैं। 'वेदोपगीतं न च शृण्वतेऽबुधाः'। (१०)

देखो राजा, मद्यसेवा आदिकी जो विधि है, वह अपूर्व विधि नहीं, परिसंख्या विधि है। जो उसमें संलग्न हैं, उनकी वृत्तिको सङ्कुचित करके उधरसे हटानेके लिए है। लेकिन मूर्ख लोग इसका अभिप्राय न समझकर उसके विपरीत आचरण करते हैं।

धनं च धर्मैकफलं यतो वै ज्ञानं सविज्ञानमनुप्रशान्ति। १२

धनका फल है धर्म। धर्मसे ही—धर्मानुष्ठानसे ही, ज्ञान, विज्ञान और शान्तिकी प्राप्ति होती है। उस धनको मूर्ख लोग अपनी घर-गृहस्थीके काममें लगा देते हैं और अपनी मृत्युपर ध्यान नहीं देते।

यद् घ्राणभक्षो विहितः सुरायास्तथा पशोरालभनं न हिंसा। १३

यज्ञमें सुरा नाकसे सूँघी जाती है, उसका पान नहीं होता। आलभनका अर्थ स्पर्श है, हिंसा नहीं। इसलिए उसका तात्पर्य समझना चाहिए और अपने विशुद्ध धर्मका ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। पशु-हिंसा नहीं करनी चाहिए। जो पशु-हिंसा करते हैं, उनको उनके मरनेके बाद वे पशु ही मारकर खाते हैं।

मृतके सानुबन्धेऽस्मिन् बद्धस्नेहाः पतन्त्यधः। १५

यह शरीर मुर्दा है। रिश्तेदार-नातेदार उसकी पूँछ हैं। वे भी छूट जाते हैं। जो लोग अपने शरीरसे तो प्रेम करते हैं, लेकिन दूसरोंके शरीरमें बैठे हुए परमेश्वरसे द्वेष करते हैं, उनका अधःपतन हो जाता है। जिन्होंने कैवल्य प्राप्त नहीं किया, जो पूरी तरह मूढ़ भी नहीं हैं, वे न

इधरके हैं, न उधरके हैं और आत्मघाती हैं। अन्तमें उनको सब-कुछ छोड़कर मरना पड़ता है। जो वासुदेव भगवान्से विमुख हैं, उन्हें घोर अन्धकारमें जाना पड़ता है।

इसके बाद जब राजा निमिने यह प्रश्न किया कि किस समयमें भगवान्की कैसी आराधना करनी चाहिए? तब नवें योगीश्वर करभाजनजी महाराज जो खाद्यपदार्थको हाथपर ही रखकर खाते-पीते हैं, पात्रका प्रयोग नहीं करते, बोले—राजन्, सत्ययुग, त्रेता, द्वापर, कलियुग ये चार युग हैं। इनमें भगवान्के अनेक नाम, अनेक वर्ण और अनेक आकार होते हैं और उनकी नाना-विधिसे आराधना होती है। सत्ययुगमें श्वेतवर्ण, चतुर्बाहु, वल्कलाम्बरधारी, मृगचर्म-उपवीत-मण्डित रूपमें भगवान्की आराधना होती है। उस समय सब लोग शान्त और निर्वैर होते हैं। हंस, सुपर्णादि भगवान्के नाम होते हैं। त्रेतामें रक्तवर्ण, चतुर्बाहु आदि भगवान्के रूप होते हैं और त्रयी आदिके द्वारा उनकी आराधना होती है। विष्णु, यज्ञ आदि उनके नाम होते हैं। द्वापरमें भगवान् श्याम होते हैं। पीतवसन, चक्रादिधारी और श्रीवत्सादि चिह्नोंसे अलक्षित होते हैं। उस समय मनुष्य वेदतन्त्रके द्वारा उनकी पूजा करते हैं और वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध आदि नामोंसे उनकी आराधना करते हैं।

कलियुगमें उनका इन्द्रनीलमणिके समान कृष्ण वर्ण है और उनके बीचमें-से उज्ज्वल कान्ति निकलती रहती है। मतलब यह कि भगवान्का विग्रह नीलोज्ज्वल है, केवल कालेकी आराधना नहीं हो सकती, यदि उसमें चमक न हो—'कृष्णवर्णं त्विषाकृष्णं साङ्गोपाङ्गास्त्र-पार्षदम्'। (३२)

असलमें उपासना तो चमककी ही होती है। भगवान् काला है या गोरा, इसको तो भक्तलोग जानें, परन्तु जहाँ विशेष चमक होती है वहाँ आराधना जरूर होती है।

महात्मा चमस कहते हैं कि बुद्धिमान् लोग कलियुगमें संकीर्तन-प्रधान यज्ञसे भगवान्की आराधना करते हैं और इस प्रकार उनकी स्तुति करते हैं—

> ध्येयं सदा परिभवघ्नमभीष्टदोहं तीर्थास्पदं शिवविरिञ्चिनुतं शरण्यम्।
> भृत्यार्तिहं प्रणतपाल भवाब्धिपोतं वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम्॥ ३३
> त्यक्त्वा सुदुस्त्यजसुरेप्सितराज्यलक्ष्मीं धर्मिष्ठ आर्यवचसा यदगादरण्यम्।
> मायामृगं दयितयेप्सितमन्वधावद् वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम्॥ ३४

देखो, इन दोनों श्लोकोंको लेकर हमारे अयोध्यावासी भक्तलोग कहते हैं कि कलियुगमें तो केवल श्रीरामकी ही प्रधान आराधना है और उन्हींका प्रधान आराध्यत्व है। लेकिन

गौड़ेश्वर सम्प्रदायके लोग भी इन श्लोकोंमें-से अपने चैतन्य महाप्रभुको निकाल लेते हैं और इनको उन्हींका स्तुतिपरक मानते हैं।

इस प्रकार युग-युगमें भगवान्‌की पूजा होती है। किन्तु कलियुगमें सारभागी गुणज्ञ लोग रहते हैं, इसलिए यहाँ भगवान् संकीर्तनसे प्राप्त होते हैं—

यत्र संकीर्तनेनैव सर्वः स्वार्थोऽभिलभ्यते। ३६

क्रम यह है कि पहले बुद्धि, फिर मन, उसके बाद क्रिया और अन्तमें वाणी। सत्ययुगमें भगवान् बुद्धिमें रहते हैं, त्रेतामें मनमें रहते हैं, द्वापरमें क्रियामें रहते है और कलियुगमें वाणीमें उतर आते हैं। इस प्रकार चतुर्विध क्रमसे, आजकलका युग वाणीका ही युग है। लोग बुद्धि छोड़कर, मन छोड़कर, क्रिया छोड़कर वाणीमें उतर आये हैं। इसलिए भगवान्‌ने कृपा करके कहा कि मैं भी अब नाम-रूपसे वाणीमें ही रहूँगा। लोग मेरे नामका संकीर्तन करेंगे। वाणी-यज्ञ होगा। इसके बाद फिर क्रिया-यज्ञ होगा, फिर मनोयज्ञ होगा और फिर बुद्धि-यज्ञ होगा। आज वाणी-यज्ञसे बढ़कर प्राणोंके लिए और कोई यज्ञ नहीं है। क्योंकि इससे परम शान्तिकी प्राप्ति होती है और संसार मिट जाता है—

यतो विन्देत परमां शान्तिं नश्यति संसृतिः। ३७

राजन्, सत्युग आदिके लोग नारायण-परायण होनेके लिए कलियुगमें अपना जन्म चाहते हैं। दक्षिणमें ताम्रपर्णी, कृतमाला, पयस्विनी, कावेरी, प्रतीची आदि कई नदियाँ हैं। जो उनका जल पीते हैं, उनके हृदयमें प्रायः भक्ति आती है।

लेकिन देखनेमें यह आया कि दक्षिणके आचार्यगण उन नदियोंका जल पी-पीकर उत्तर भारतमें आये हैं। हमारे भगवान्‌को तो नदीका जल पीनेकी जरूरत नहीं। उन्होंने तो अयोध्या, मथुरा, माया, काशी, काञ्ची, अवन्तिका और द्वारवती इन सात पुरियोंमें-से चारको तो उत्तर प्रदेशमें ही रखना पसन्द किया। यह काशी तो पटरानी है तीर्थराजकी। यहाँ तो मुक्तिका सदावर्त चलता है। यहाँ मरनेवालेको ध्यान आदिकी जरूरत नहीं पड़ती। भगवान् शंकर अन्तमें आकर कानमें ज्ञानोपदेश कर देते हैं। इसीलिए गोस्वामी तुलसीदासजीने कहा—

सो कासी सेइय कस न जहँ बस सम्भु भवानि।

हमारे एक बड़े-बूढ़े कहा करते थे कि 'सोकासी सेइय कस न'में सो और कासी अलग-अलग नहीं, सोकासी (शोकासि) है अर्थात् शोकके लिए तलवार है। वह सारे शोकको काट देती है। रामायणी लोग तो बड़े-बड़े विलक्षण अर्थ करते हैं।

राजन्, जो भगवान्का भक्त है और सब कर्मोंसे मुक्त होकर भगवान्की शरणमें आगया है, उसको देवऋण, ऋषिऋण, भूतऋण, पितृऋण, अतिथिऋण—ये पञ्चमहायज्ञ करनेकी जरूरत नहीं; क्योंकि वह न किसीका किंकर है और न किसीका ऋणी है।

लेकिन इसप्रकार जो भगवान्का भजन करता है, उससे भी कभी न कभी गलती हो जाती है। ऐसा नहीं समझना कि वह दूधका धुला हुआ होता है, उसको कोई वासना नहीं उत्पन्न होती और उसकी क्रियामें त्रुटि नहीं रहती। जो यह दावा करता है कि मुझसे कोई गलती नहीं हुई, वह या तो बड़ा भारी दम्भी है या अत्यन्त अज्ञ है— जिसको अपनी गलतियोंका पता ही नहीं। गलतियाँ सबसे होती हैं। इसलिए भक्ति करते-करते, ध्यान करते-करते यदि कभी कोई गलती हो जाय तो—

विकर्म यच्चोत्पतितं कथंचिद्धुनोति सर्वं हृदि सन्निविष्टः। ४२

उसके लिए किसी पण्डितसे पूछकर प्रायश्चित्त करनेकी जरूरत नहीं। अन्यथा वह ऐसा प्रायश्चित्त बतायेगा, जिससे जप छूट जायेगा, पाठ छूट जायेगा। वह भगवान्का ध्यान-स्मरण छुड़वाकर बारह महीनेके लिए भीख मँगवा देगा, द्वादश मासका प्रायश्चित्त करवा देगा या कह देगा कि आगमें जल जाओ आदि-आदि। इससे जो कुछ भजन होता था, वह छूट जायेगा।

इसलिए यदि भक्तसे कभी कोई गलती हो जाय तो भगवान्के सामने हृदयसे पश्चात्ताप करना चाहिए, उनसे क्षमा माँगनी चाहिए और रोज दस मालाका जप करते हो तो उस दिन बीस मालाका जप कर देना चाहिए। एक घण्टा ध्यान करते हो तो दो घण्टा ध्यान करना चाहिए। भक्तकी गलती भक्तिसे ही दूर होती है, प्रायश्चित्तसे दूर नहीं होती। यह वैष्णव धर्म, शुद्ध भागवत-धर्मका सिद्धान्त है कि भक्तिसे कर्म-कलापका सम्बन्ध ज्यादा नहीं जोड़ना चाहिए। क्योंकि भगवान् हृदयमें आजाते हैं तो वे सब पापोंको दूर कर देते हैं।

अब नारदजी कहते हैं कि वसुदेवजी, मिथिलेश्वर राजा निमि नव योगीश्वरोंसे भागवत-धर्मोंका वर्णन सुनकर बहुत ही प्रसन्न हुए। उन्होंने उपाध्यायोंके साथ उनकी पूजा की।

इसके बाद महात्माओंने सोचा कि यदि हम राजासे अलग एकान्तमें मिलकर जायेंगे तो लोग समझेंगे कि हम भेंट-पूजा लेकर लौटे होंगे। इसलिए किसीको कोई भ्रम न हो, वे सबके सामने ही अन्तर्धान हो गये—'ततोऽन्तर्दधिरे सिद्धाः सर्वलोकस्य पश्यतः' (४४)। उनका न तो कोई घर-द्वार था और न शरीरपर कोई वस्त्र था। वे सब नंगे थे। यज्ञभूमिकी धूल भी जो उनके शरीरमें लगी थी, वहीं-की-वहीं रह गयी। जो महात्मा सब कुछ छोड़ चुके होते हैं, उनको किसीसे कुछ लेनेकी जरूरत ही नहीं होती। वे तो निस्संग और परमगतिको प्राप्त होते हैं।

इसके बाद नारदजी देवकी और वसुदेवको सम्बोधित करते हुए कहने लगे कि भगवान् श्रीकृष्ण तुम्हारे बेटा बन गये और तुमने उनसे पुत्र-स्नेह किया ! फिर उन्हें हृदयसे लगाकर अपने आपको पवित्र कर लिया !

वैरेण यं नृपतयः शिशुपालपौण्ड्रशाल्वादयो गतिविलासविलोकनाद्यैः ।
ध्यायन्त आकृतधियः शयनासनादौ तत्साम्यमापुरनुरक्तधियां पुनः किम् ॥ ४८

भगवान् श्रीकृष्ण तो ऐसे हैं कि जिन्होंने उनसे वैर किया, उनकी वृत्ति तदाकार हो गयी और वे उनको प्राप्त हो गये । फिर तुम लोग तो उनके प्रेमी हो । तुम्हारे मंगलका क्या कहना । लेकिन तुम लोग श्रीकृष्णको अपना पुत्र मत समझना । यह तो इनका मायामनुष्यभाव है । ये साक्षात् परमेश्वर हैं, यश-विस्तारके लिए हैं ।

एतच्छ्रुत्वा महाभागो वसुदेवोऽतिविस्मितः ।
देवकी च महाभागा जहतुर्मोहमात्मनः ॥ ५१

अब तो महाभाग वसुदेव और महाभागा देवकी दोनोंके मोह दूर हो गये—'जहतुर्मोहमात्मनः !

देखो, जब देवकी-वसुदेवने ऋषि-मुनियोंके संकल्पसे यज्ञ किया तब भी उनका मोह दूर नहीं हुआ था । जब भगवान्‌ने उनके बेटे लाकर दे दिये और कह दिया तुम ब्रह्म हो, तब भी उनका मोह दूर नहीं हुआ था । असलमें भगवान्‌से मोह दूर नहीं होता । जब महात्मा मिलते हैं, सत्सङ्ग मिलता है, तब मोह दूर होता है । अज्ञान दूर करनेका काम देवर्षि नारदजी ही करते हैं ।

अन्तमें श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि परीक्षित, वसुदेव-देवकीकी मोह-निवृत्तिका यह इतिहास बड़ा पुण्यप्रद है । जो समाहित होकर इसको धारण करता है, वह ब्रह्मपदको प्राप्त हो जाता है ।



अब श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि परीक्षित, जब नारदजी वसुदेवजीको उपदेश करके चले गये तब ब्रह्माजी, सनकादि, प्रजापति सब-के-सब द्वारकामें भगवान्‌के पास उपस्थित हुए। वहाँ उन्होंने भगवान् श्रीकृष्णका दर्शन किया और उनकी यह स्तुति की—

प्रभो, हम अपनी बुद्धि, इन्द्रिय, प्राण, मन और वाणीसे आपके पादारविन्दमें विनत हैं, जिसका चिन्तन मुमुक्षु-जन अपने अन्तर्हृदयमें कर्ममय उरुपाशसे मुक्त होनेके लिए करते हैं—

यच्चिन्त्यतेऽन्तर्हृदि भावयुक्तैर्मुमुक्षुभिः कर्ममयोरुपाशात्। ७

आप अपनी त्रिगुणमयी मायासे इस सृष्टिको बनाते और बिगाड़ते हैं। आप अपने अव्यवहित सुखमें अभिरत हैं और अनवद्य हैं। जो दुराशय हैं, जिनके अभिप्रायमें दुष्टता भरी हुई है, उनमें चाहे कितनी भी विद्या हो, वेदज्ञान हो, अध्ययन हो, दान हो, तपस्या हो, क्रिया हो, परन्तु उनके हृदयकी शुद्धि नहीं होती। 'श्रवणसम्भृतया यथा स्यात्'—(९) श्रवणसे सुन-सुनकर जब भगवान्‌के बारेमें श्रद्धाका संग्रह किया जाता है तब हृदयकी शुद्धि होती है। मुमुक्षु लोग जिनका अर्चन करते हैं, भक्त लोग चतुर्व्यूहमें जिनकी पूजा करते हैं, याज्ञिक लोग यज्ञमें जिनके लिए हवन करते हैं और योगी लोग अणिमादिके रूपमें जिनका चिन्तन करते हैं, वे प्रभु आप ही हैं। आप हमपर प्रसन्न हों।

प्रभो, जब भक्त लोग आपको वनमाला पहना देते हैं तब लक्ष्मीजीको यह ख्याल होता है कि जिस छातीपर मैं हूँ, उसीपर यह वनमाला भी है। परन्तु वनमाला भी ऐसी है कि कभी सूखती ही नहीं, कुम्हलाती ही नहीं, मुरझाती ही नहीं। वह तो आपका स्पर्श प्राप्त करके नित्य हरी-हरी रहती है। आप उसे लक्ष्मीजीके न चाहनेपर भी कभी अपने वक्षस्थलपरसे नहीं हटाते। लक्ष्मीजी नाराज होती हैं तो होती रहें, उसको भले ही अपनी सौत समझें, परन्तु आप सोचते हैं कि अपने प्यारे गरीब भक्तकी दी हुई वनमाला कैसे उतार दूँ?

भक्तवत्सल, आपके चरण-कमल हमारे हृदयमें प्रतिष्ठित हों और वे हमारी विषय-वासनाका विनाश करें! यह गंगा आपकी कीर्तिका तीनों लोकोंमें विस्तार करती है और ये काल आदि सब आपके अधीन हैं। आपके चरणारविन्द हमारा मङ्गल करें!

प्रभो, आप ही इस सृष्टिके कारण हैं और आपसे ही शक्ति प्राप्त करके पुरुष सारी सृष्टिका

संचालन करता है। आप सबमें अनुगत हैं, स्थिर हैं सोलह हजार पत्नियोंके हाव-भाव, कटाक्ष तथा काम-बाण आपके अन्दर किसी भी प्रकारकी विकृति उत्पन्न नहीं कर सके—

स्मायावलोकलवदर्शितभावहारिभ्रूमण्डलप्रहितसौरतमन्त्रशौण्डैः ।
पत्न्यस्तु षोडशसहस्रमनङ्गबाणैर्यस्येन्द्रियं विमथितुं करणैर्नविभ्व्यः ॥ १८

प्रभो, आपके कथामृतकी नदी और आपके चरणारविन्दकी नदी गङ्गा, दोनों ही सारे पाप-तापोंको धो डालती हैं। पवित्रात्मा लोग उन्हींका स्पर्श करते हैं।

इस प्रकार स्तुति करनेके बाद देवताओंने यह बुद्धिमानी की कि वे सब प्रणाम करके आकाशमें उड़ गये और वहाँ भगवान्के सामने खड़े हो गये—'प्रणम्याम्बरमाश्रितः' (२०)। इसके बाद उन्हें जो प्रार्थना करनी थी, वह उन्होंने धरतीपर बैठकर नहीं की !

यहाँ प्रश्न उठता है कि यह उनकी कौन-सी शिष्टता है ? कोई बात कहनी थी तो पहले ही कह लेते और फिर स्तुति करके प्रणाम करनेके बाद स्वर्गमें जाते ? इसका उत्तर स्पष्ट है। ब्रह्मादिने सोचा कि यदि कहीं हमने सभामें बैठकर श्रीकृष्णसे स्वधाम-गमनकी प्रार्थना की और कहीं यदुवंशी लोगोंने सुन लिया तो वे हमको पकड़ लेंगे, हमसे चिपट जायेंगे और हमसे मारपीट शुरू कर देंगे। इसलिए पहले जब वे आकाशमें सुरक्षित स्थानपर पहुँच गये तब उन्होंने अपनी अद्भुत शैलीमें यह प्रार्थना की—

प्रभो, आप हमारी प्रार्थनापर पृथिवीका भार उतारनेके लिए आये थे। अब आपने धर्मका स्थापन कर लिया, कीर्तिका विस्तार कर लिया ! कलियुगमें लोग आपके चरित्र सुनेंगे और संसार-सागरसे पार हो जायेंगे। आपको यहाँ आये हुए एक सौ-पच्चीस बरस हो चुके हैं। अब हम लोगोंका कोई काम बाकी नहीं रहा। आपने सब कुछ कर दिया। इधर ब्राह्मणोंका शाप भी यदुवंशको मिल गया। अब यदि आपकी रुचि हो तो अपने लोकमें पधारिये !

भगवान्ने कहा कि ब्रह्माजी, आपका कहना ठीक है। अवश्य ही अन्य सब कार्य हो गये। लेकिन अभी यदुवंशी बाकी हैं। जबतक ये नष्ट नहीं हो जाते, तबतक मैं यहीं रुकूँगा और उसके बाद आऊँगा। यह सुनकर देवता लोग अपने-अपने धाममें चले गये।

अब इधर द्वारकामें उत्पात होने लगे। यह भगवान्की ही माया थी, लीला थी। द्वारकामें किसीका शाप नहीं लगता था। नारदजी स्वयं अनेक शापोंके भागी हैं। सबसे ज्यादा गालियाँ नारदजीने ही खायी हैं, जैसे—हमेशा भटकते रहो, तुम्हें रहनेके लिए जगह नहीं मिलेगी, तुम्हारो

कुटिया कभी नहीं बनेगी, तुमने बच्चोंको फोड़ लिया, आदि-आदि। लेकिन नारदजी जब द्वारकामें आते तब वहाँ उनपर शापका कोई प्रभाव नहीं पड़ता था।

इसलिए जब द्वारकामें उत्पात होने लगे तब भगवान्‌ने सोचा कि यहाँ तो ये यदुवंशी मरेंगे नहीं, इनको कहीं बाहर कर देना चाहिए। यह सोचकर भगवान् यदुवंशियोंसे बोले कि यहाँ बहुत उपद्रव हो रहे हैं, तुम लोग तुरन्त प्रभास-तीर्थमें चले जाओ। वहाँ दक्ष शापसे मुक्त हो गया था। वहीं चलकर दान आदि करो, उससे हम सब ब्राह्मणोंके शापसे मुक्त हो जायेंगे। भगवान्‌की बात मानकर सब यदुवंशी प्रभासक्षेत्र चले गये।

अब जब उद्धवजीने देखा कि यदुवंशी तो प्रभासक्षेत्र जानेको तैयार हैं और द्वारकामें बड़े-बड़े अरिष्ट हो रहे हैं तब वे एकान्तमें भगवान्‌के पास आये—'विविक्त उपसंगम्य जगतामीश्वरेश्वरम्' (४१)—और प्रणाम करके बोले—प्रभो, मैं समझ गया कि आप अब यदुवंशको छोड़कर जाना चाहते हैं। क्योंकि आप यदि चाहते तो ब्राह्मणोंके शापको काट देते। मैं तो आधे क्षणके लिए भी आपके चरणारविन्दको छोड़नेके लिए तैयार नहीं। आपका चरित्र परम मङ्गल है, कर्णपीयूष है। उसका आस्वादन करके मनुष्य अन्यस्पृहाका त्याग कर देता है। मैं तो आपके साथ एक पलंगपर सोया, एक आसनपर बैठा, एक साथ घूमा, एक साथ स्नान किया, एक साथ खेला, एक साथ भोजन किया। अब मैं आपको कैसे छोड़ सकता हूँ? मैं आपका उतरा हुआ प्रसाद ही तो पहनता हूँ, आपका उच्छिष्ट ही तो खाता हूँ।

प्रभो, यद्यपि मैं जानता हूँ कि आपको मायापर विजय प्राप्त करना बड़ा कठिन है। फिर भी आपकी कृपासे बड़े-बड़े संन्यासियोंको जो गति मिलती है, वह मुझको अनायास मिल जाती है।

यहाँ देखो, उद्धवजीकी वचनावलिमें एक बात बहुत विचित्र है। वे पहले तो कह गये कि 'नाहं तवाङ्घ्रिकमलं क्षणार्धमपि केशव' (४३)—मैं आधे क्षणके लिए आपके चरण-कमलका परित्याग नहीं करूँगा। परन्तु अब बोलते हैं कि 'त्वद्वार्तया तरिष्यामस्तावकैर्दुस्तरं तमः' (४८) मैं तो आपकी कथा-वार्ता करूँगा और उससे आपके वियोगके दुःखको तर जाऊँगा। आपका कीर्तन, आचरण, भाषण आदिका स्मरण करता रहूँगा—'गत्युत्स्मितेक्षणक्ष्वेलि'। (४९)

इससे भगवान् समझ गये कि उद्धवजी मेरे साथ जाना नहीं चाहते और यहीं रहना चाहते हैं। इसके बाद भगवान्‌ने उद्धवजीको उत्तर देना प्रारम्भ किया।

भगवान् बोले—उद्धवजी, तुम जो बोलते हो ठीक ही बोलते हो। सब देवता भी यही चाहते हैं। उनका काम पूरा हो चुका है। इसीके लिए मैंने अवतार ग्रहण किया था। अब यदुवंश नष्ट होनेवाला है। आजसे सातवें दिन यह द्वारकापुरी समुद्रमें डूब जायेगी। मेरे चले जानेके बाद चारों ओर कलियुगका राज्य हो जायेगा।

न वस्तव्यं त्वयैवेह मया त्यक्ते महीतले।

तुम मेरे बिना इस धरतीपर एक जगह मत रहना। क्योंकि सब लोगोंके मनमें अधर्मके प्रति रुचि हो जायेगी।

त्वं तु सर्वं परित्यज्य स्नेहं स्वजनबन्धुषु। ६

स्वजनों और बन्धुओंमें जो तुम्हारा स्नेह है, वह सब छोड़कर तुम 'मय्यावेश्य मनः सम्यक्' (६)—मेरे अन्दर अपने मनको भली-भाँति लगा दो और 'सम्यक् समदृग् विचरस्व गाम्' (६) समदर्शी होकर पृथिवीपर विचरण करो!

यदिदं मनसा वाचा चक्षुर्भ्यां श्रवणादिभिः। ७

जो मन, वाणी, चक्षु और श्रवण आदिसे गृह्यमाण है, विनाशी है, कालके पेटसे पैदा होने और मरनेवाला है, वह सब माया है। क्योंकि यह कालमें पकता रहता है अर्थात् ऐन्द्रियक होनेके कारण मिथ्या है। यह मनोमय है। इसलिए यह सारा दृश्य-प्रपञ्च मायामात्र है।

नाना वस्तुएँ उन्हींको दीखती हैं, जिसका मन एकाग्र नहीं है। एक अद्वैत प्रत्यक्‌चैतन्या-भिन्न ब्रह्ममें नानात्वकी दृष्टि ही भ्रम है। अपने स्वरूपको न जाननेके कारण ही अध्यासरूप भ्रम है और उसीमें गुण-दोषकी बुद्धि होती है—'भ्रमः स गुणदोषभाक्' (८)। गुण-दोषकी बुद्धिसे ही कर्म, अकर्म, विकर्मका भेद होता है। इसलिए अपने मन और इन्द्रियोंको वशमें करो और इस विश्वको देखो—'आत्मनीक्षस्व विततमात्मानं मय्यधीश्वरे' (९)। अपने-आप यह विश्व फैला हुआ है। अपना आपा मुझ परमेश्वरमें है—'ज्ञानविज्ञानसंयुक्त आत्मभूतः शरीरिणाम्' (१०)। संसारके जितने लोग हैं, सबके आत्मा तुम हो। आत्मानुभवसे सन्तुष्ट हो जाओ। फिर विघ्न भी आत्मरूप हो जायेगा।

दोषबुद्धयोभयातीतो निषेधान्न निवर्तते।
गुणबुद्धया च विहितं न करोति यथार्भकः॥ ११

जो उभयातीत पुरुष है, दोष और गुणसे परे पहुँच गया है, वह निषिद्ध कर्मसे इसलिए विरत नहीं होता कि उसके प्रति उसकी दोष-बुद्धि होती है। इसी तरह वह जो विहित कर्म करता है, उसमें उसकी गुण-बुद्धि नहीं होती। वह विहितका अनुष्ठान और निषिद्धका परित्याग वैसे ही करता है, जैसे बालक सरल स्वभावसे कोई काम करता है।

उद्धवजी, तुम सर्वभूतसुहृद्, शान्त, ज्ञान-विज्ञान-निश्चय हो जाओ। सम्पूर्ण विश्वको मेरा स्वरूप समझो और अजर, अमर अविनाशी हो जाओ। 'न विपद्येत वै पुनः' (१२)—फिर मृत्युकी कोई शंका ही नहीं है।

जब भगवान्‌ने ऐसा आदेश दिया तब उद्धवजीके मनमें और भी सच्ची जिज्ञासा हो गयी और उन्होंने प्रार्थना की कि प्रभो, आपने जो योगका उपदेश किया है, इसमें तो बड़ा भारी त्याग और सर्व-संन्यास है। विषयी लोगोंके लिए तो यह बहुत ही कठिन है। जो आपके भक्त नहीं हैं, वे तो इतना त्याग कर ही नहीं सकते। मैं तो मैं, मेराके चक्करमें पड़ गया हूँ। इसलिए मुझे कुछ सुगम मार्ग बताइये!

प्रभो, आप जैसा वक्ता तो सृष्टिमें दूसरा कोई है ही नहीं, ब्रह्मादि भी आपकी मायासे मोहित हैं। औरोंकी तो बात ही क्या है? बड़े-बड़े देवता बाह्य वस्तुओंको सच्चा समझते हैं—'बहिरर्थभावाः' (१७)। संसारमें जो स्त्री-पुरुष, धन-दौलत आदि हैं, ये सब स्वप्नवत् अन्तरर्थ हैं। बाह्यको अर्थ समझना ही भूले हुएका लक्षण है। इसीलिए मैं विरक्त होकर आपकी शरणमें आया हूँ। अब आप ही मेरा उद्धार कीजिये?

भगवान्‌ने कहा कि उद्धवजी, जो लोकतत्त्वविचक्षण पुरुष होते हैं, वे स्वयं ही अपने आपको वासनामय अन्तःकरणसे निकाल लेते हैं। मनुष्य अपना गुरु स्वयं है। यदि कोई स्वयं अपना भला न चाहता हो तो दूसरा कहाँतक उसका भला कर सकता है?

देखो, एक बार एक महात्माने कहा था कि हम दूसरोंकी लंगोटी पकड़-पकड़कर तो उनको ब्रह्मचारी बना नहीं सकते, जो स्वयं ब्रह्मचारी रहना चाहते हैं, वे ही रह सकते हैं। इसी तरह एक वेदान्तीने कहा था कि जब तुम इस बातका निर्णय करते हो कि अमुक तुम्हारा गुरु होने लायक है या नहीं, तो तुम स्वयं गुरुके भी गुरु हो!

इसलिए भगवान्‌ने कहा कि मनुष्य प्रत्यक्ष और अनुमानके द्वारा अपना कल्याण स्वयं प्राप्त कर सकता है। मनुष्य-शरीरमें परमात्माका प्रत्यक्ष दर्शन हो सकता है, क्योंकि जैसा अपना

आत्मा है, वैसा ही परमेश्वर भी है। सृष्टिमें अनेक शरीर हैं। इसमें तुम्हें तुम्हारी दृष्टिसे नेति-नेतिके द्वारा जो परमेश्वर न मालूम पड़े, उसका परित्याग करते चलो।

श्रीकृष्णने अपने पूर्वज राजा यदु और अवधूत दत्तात्रेयका इतिहास उद्धृत करते हुए कहा कि हमारे पूर्वज यदु बड़े धर्मवेत्ता थे। उन्होंने अवधूत दात्तात्रेयको देखा और और उनके पास जाकर पूछा कि महाराज, आपको यह बुद्धि कहाँसे प्राप्त हुई है? सब-कुछ समझते हुए भी आप बालककी तरह कैसे रहते हैं? लोग तो प्रायः कुछ-न-कुछ इच्छा करके ही कर्ममें प्रवृत्त होते हैं। आप तो समर्थ हैं, कवि हैं, दक्ष हैं, सुभग हैं और अमृतभाषण हैं, फिर भी कुछ करते-कराते नहीं। दुनियाके लोग डूब रहे हैं, आगमें जल रहे हैं और आप गङ्गामें प्रविष्ट हाथीकी तरह प्रसन्न हो रहे हैं। बताइये कि आपको यह आनन्द कहाँसे आता है?

इस प्रकार जब राजा यदुने अवधूत दत्तात्रेयसे पूछा और साथमें यह भी कह दिया कि यह प्रश्न मैं बहुतोंसे कर चुका हूँ, तब उन्होंने उत्तर दिया कि राजन्, मैंने बहुत-से गुरुओंका आश्रय लिया है, इसीलिए मैं आनन्दपूर्वक विचरण करता हूँ।

देखो यहाँ 'गुरु' शब्दका वह अर्थ नहीं, जो कानमें मन्त्र, इष्ट और उसकी आराधनाकी पद्धति देते हैं। यहाँ तो गुरु शब्दका तात्पर्य यह है कि जिससे शिक्षा ली जाती है। मनुष्योंको स्वयं अपनी ओरसे सर्वत्र सबसे शिक्षा लेनेके लिए सतत सावधान रहना चाहिए। वह चाहे तो हर प्रसंगमें किसी-न-किसीसे कुछ-न-कुछ शिक्षा ले सकता है। यहाँतक कि कभी-कभी चलते-चलते उसके पाँव फिसल जायँ और वह गिर पड़े तो उससे भी यह शिक्षा ली जा सकती है कि हर समय सावधान होकर चलना चाहिए।

दत्तात्रेयजी कहते हैं कि मैंने पृथिवी, वायु, आकाश, जल, अग्नि, चन्द्रमा, सूर्य, कबूतर, अजगर, समुद्र, पतंग, भौंरा, हाथी, शहद निकालनेवाला, हरिन, मछली, पिंगला वेश्या, कुरर पक्षी, बालक, कुमारी कन्या, बाण बनानेवाला, सर्प, मकड़ी और भृङ्गी कीट—इन चौबीस पदार्थोंको अपना गुरु बनाया तथा इन सबसे क्या शिक्षा ग्रहण की, सुनो!

देखो, यहाँ यह ध्यानमें रखनेकी बात है कि इन चौबीस पदार्थोंसे एक अवधूतने शिक्षा ग्रहण की है। गृहस्थको इनमें-से वही शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए, जो गृहस्थाश्रमके अनुकूल पड़ती हो। ऐसा नहीं कि केवल ग्रन्थमें पढ़कर वह इतना लम्बा कदम रख दे कि उससे आगे न बढ़ सके!

दत्तात्रेयजी कहते हैं—मैंने पृथिवीसे यह शिक्षा ली कि संसारके प्राणी कभी उसको खोदते हैं तो कभी उसको पूजा करते हैं, पर धरती बिल्कुल एक-रस रहकर सबको क्षमा करती है।

पर्वत पृथिवीका ही एक अंश है, वह भी सारा काम दूसरोंके लिए करता है—उससे जो नदियाँ निकलती हैं अथवा उसपर जो वृक्ष-वनस्पतियाँ होती हैं, वह सब दूसरोंके हितके लिए होती हैं। इसी प्रकार धरतीपर उगनेवाले वृक्ष भी दूसरोंकी भलाईमें ही लगे रहते हैं।

वायु एक तो भीतर है, जिसे प्राणवायु कहते हैं और दूसरी प्राणवायु बाहर है, जिसमें मनुष्य साँस लेता है। मैंने प्राणवायुसे यह शिक्षा ग्रहण की कि मनुष्यको खाना-पीना इतना ही चाहिए, जिससे शरीरका पोषण हो, अपच न हो जाय, कोई रोग न हो जाय। बाहरके वायुसे यह बात सीख ली कि चाहे जहाँ जाना-आना पड़े, पर कहीं बँध नहीं जाना चाहिए, आसक्त नहीं हो जाना चाहिए। क्योंकि विषयोंमें-से मनुष्यको निकलना ही पड़ता है। इसलिए जैसे वायु सुगन्ध-दुर्गन्धनें-से निकलकर अनासक्त रहती है, वैसे ही मनुष्यको विषयोंसे असङ्ग रहना चाहिए।

आकाश मनुष्य-शरीरके भीतर रहता है, पर बाहरके आकाशसे पृथक् नहीं रहता। जैसे आकाश शरीरावच्छिन्न होनेपर भी शरीरसे कट नहीं जाता, अवच्छिन्न और अनवच्छिन्न आकाशमें भेद नहीं होता, वैसे ही आत्मा परमात्मासे अभिन्न ही रहता है। वायु चाहे चले या न चले, आकाश एक सरीखा रहता है। यह बात मैंने आकाशसे सीखी।

जल हमेशा स्वच्छ रहता है, मधुर रहता है, स्निग्ध रहता है। इसके दर्शन और स्पर्श आदिसे ही मनुष्यका कल्याण हो जाता है। इसलिए मैंने यह बात सीखी कि मनुष्यको, महात्माको भी जलकी तरह रहना चाहिए।

अग्नि इतना तेजस्वी है कि उसमें कुछ भी डाल दिया जाय तो वह भस्म हो जाता है। इसलिए उससे मैंने यह सीखा कि महात्माको पवित्र ज्ञानाग्निमें स्थित रहना चाहिए। वह कभी आगकी तरह गुप्त रहे तो कभी प्रकट रहे। जो उसमें हवन करे, उसका दुःख दूर कर दे। आगमें जलायी जानेवाली लकड़ी कोई बड़ी होती है, कोई छोटी होती है, कोई मोटी होती है, कोई पतली होती है। लेकिन आग उसमें प्रवेश करके लकड़ीके आकार-प्रकारकी हो जाती है, सबको भस्मके रूपमें परिणत कर देती है। इस प्रकार इस शरीरमें महात्माको रहना चाहिए, यह मैंने आगसे सीखा।

चन्द्रमासे शिक्षा ग्रहण करनेकी बात यह है कि उसकी कलामें पन्द्रह दिन वृद्धि होती है तो पन्द्रह दिन ह्रास होता है। परन्तु चन्द्रमा ज्यों-का-त्यों रहता है। इसी प्रकार शरीरमें जन्मसे लेकर मृत्यु-पर्यन्त अनेक क्रियाएँ होती हैं, परन्तु आत्मा ज्यों-का-त्यों रहता है। प्राणियोंके

जन्म-मरण हमेशा होते रहनेपर भी वैसे ही दिखाई नहीं पड़ते, जैसे अग्निकी ज्वालाकी उत्पत्ति और नाश हमेशा होनेपर भी दिखाई नहीं पड़ते !

मैंने सूर्यसे यह बात सीखी है कि जैसे सूर्य अपनी किरणोंसे पृथिवीका जल ग्रहण करके फिर उसे धरतीपर छोड़ देता है, वैसे ही महात्माको इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंका ग्रहण करके फिर छोड़ देना चाहिए, उनमें आसक्त नहीं होना चाहिए। सूर्यमें उपाधिके कारण ही भेद दिखाई पड़ता है। जब वह घटादिके जलमें प्रतिबिम्बित होता है तब घटादिके हिलने-डुलनेसे वह हिलता-डुलता दिखाई देता है, लेकिन वास्तवमें वह हिलता-डुलता नहीं।

मैंने कबूतरसे क्या सीखा, यह सुनो ! एक कबूतर अपनी कबूतरीके साथ जङ्गलमें घोंसला बनाकर रहता था। दोनों बहुत बरसों तक एक साथ रहे। समयपर कबूतरीने अण्डे दिये। जब वे परिपक्व होकर फूटे तो उनमें-से दो चूजे निकले। कबूतर-कबूतरी उनके पालन-पोषणमें लग गये। भगवान्की ऐसी माया हुई कि जब वे दोनों चारा लेनेके लिए जङ्गलमें गये हुए थे, तब एक बहेलिया आया। उसने उन नन्हें-नन्हें बच्चोंको जाल बिछाकर पकड़ लिया। इतनेमें कबूतरी आगयी और उसने देखा कि हमारे बच्चे तो जालमें फँस गये। बस, वह भी जालमें कूद पड़ी। जब कबूतर आया तब वह अपने बच्चों और कबूतरीको जालमें फँसा देख विलाप करने लगा कि हाय-हाय मेरा तो सर्वनाश हो गया ! कैसी तो प्रेम-परायणा मेरी कबूतरी थी और कैसे-कैसे प्यारे बच्चे थे। अब मैं इस खाली घरमें अकेला रहकर क्या करूँगा ? यह कहकर वह भी जालमें कूद पड़ा। अब तो बहेलियेका काम बन गया और वह उन सबको लेकर चला गया।

इसी प्रकार इस संसारमें जो लोग फँसे हुए हैं, उनकी और उनके बाल-बच्चोंकी यही गति होती है। मनुष्य-शरीर मुक्तिका दरवाजा है, किन्तु कालरूपी शिकारी इसके पीछे पड़ा हुआ है। वह जब चाहे शिकार करके ले जाय। इसलिए मनुष्यको इससे बचनेकी कोशिश करनी चाहिए।

दत्तात्रेयजी महाराज आगे कहते हैं कि राजन्, जो दुःख-सुख नरक और स्वर्गमें होता है, वह तो मिलेगा ही। जो दुःख देनेमें इतना सावधान है, वह सुख देनेमें भी गलती कैसे करेगा? मनुष्यको उसकी इच्छा नहीं करनी चाहिए। जैसा मिले, वही ठीक? अजगरको जो अच्छा-बुरा खानेके लिए मिल जाता है, वह खा लेता है। मिल गया तो खा लिया, नहीं मिला तो नहीं खाया। मनकी तुष्टि—पुष्टि है, बाहरकी वस्तुओंमें कुछ नहीं रखा। मैंने अजगरसे यही सीखा कि अवधूतको उसीकी तरह रहना चाहिए। कभी सो रहा है, कभी खा रहा है, कभी काम कर रहा है, कभी नहीं कर रहा है।

अजगर करे न चाकरी, पंछी करे न काम।
दास मलूका कह गये सबके दाता राम॥

राजन्, मैंने समुद्रसे यह सीखा है कि मनुष्यको प्रसन्न-गम्भीर और अनन्त-अपार होना चाहिए। वह न तो वर्षा-कालमें नदियोंकी बाढ़से बढ़ता है और न गर्मियोंमें घटता है, सूखता है। महात्माको इसी प्रकार रहना चाहिए।

मैंने पतंगसे यह सीखा है कि जैसे वह दीपककी लौमें गिरकर जल मरता है, वैसे ही अजितेन्द्रिय पुरुष स्त्रीका सौन्दर्य देखकर लुभा जाता है और उससे अपना सर्वनाश कर लेता है। जो भोग-बुद्धिसे कामिनी, आदिमें फँस जाता है, वह अपना विवेक खोकर पतिंगेके समान नष्ट हो जाता है।

भँवरेसे मैंने यह सीखा है कि वह रसके लोभसे कमलकी पँखुड़ीमें बँध जाता है। उससे यह भी सीखा है कि जैसे वह सब जगहोंसे रस ले लेता है, वैसे ही मनुष्यको बड़े-छोटे सभी ग्रन्थोंसे रस ले लेना चाहिए।

मैंने मधु-मक्खीसे यह सीखा है कि मनुष्यको ज्यादा संग्रह नहीं करना चाहिए। नहीं तो संग्रह करनेसे चोर ले जायेंगे, डाकू ले जायेंगे। इसलिए जितनेसे अपनी गुजर-बसर हो, उतनेमें ही काम चला लेना चाहिए।

हाथीसे मैंने यह सीखा है कि मनुष्यको स्त्रीसे आसक्ति नहीं करनी चाहिए। अन्यथा जैसे हाथी हथिनीके साथ जाकर बँध जाता है, वैसे ही मनुष्यको बँध जाना पड़ेगा।

मैंने शहद निकालनेवालेसे यह सीखा है कि मनुष्यको लोभवश धन-संग्रह नहीं करना चाहिए। लोभी अपने संगृहीत धनका न तो दान करते हैं और न उपभोग करते हैं। किन्तु जैसे शहद निकालनेवाला शहद लेकर चला जाता है, वैसे ही कोई लोभी द्वारा संगृहीत धन लेकर चला जाता है।

हरिणसे मैंने यह सीखा है कि मनुष्यको संगीतमें ज्यादा नहीं लुभाना चाहिए, क्योंकि

बेचारा हरिण संगीत सुन-सुनकर बँध जाता है। ऋष्य-शृङ्ग भी इसी चक्करमें पड़कर फँस गये थे।

मैंने मछलीसे यह सीखा है कि जीभ, बहुत चटोरी है और रस चाहती रहती है। जिस प्रकार शिकारी काँटेमें केंचुआ वगैरह डालकर मछलीको फँसा लेते हैं और वह मर जाती है, इसी प्रकार लोग दूसरे लोगोंको अच्छा-अच्छा भोजन देकर फँसा लेते हैं। वैसे तो भोजन छोड़ देनेसे सब इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त किया जा सकता है, परन्तु भोजन छोड़ देनेसे जिह्वा और ललचाती है।

इसी काशीमें एक महात्मा रहते थे, जो बीच-बीचमें कई दिनों तक भोजन छोड़ दिया करते थे। जब उनके भोजन करनेका समय आता तो इस बातपर पञ्चायत बैठती थी और विचार होता था कि जब महाराजका उपवास छूटेगा तो उनको सबसे पहले क्या खिलाया जायेगा? महाराज भी उसमें शामिल होते थे और कहते कि यह नहीं, वह ठीक रहेगा। एक साधुने कई महीनों बाद मौन तोड़ा तो अनेक दिनों तक यह विचार-विमर्श हुआ कि पहले कौन-सा शब्द बोलेंगे!

मतलब यह कि यदि रसनेन्द्रियपर विजय प्राप्त करनी है तो केवल भोजन छोड़ देनेसे वह नहीं जीती जा सकती। मुख्य बात यह है कि मनुष्य तबतक जितेन्द्रिय हो ही नहीं सकता, जबतक रसनेन्द्रियपर विजय प्राप्त नहीं कर ले। इसका उपाय भोजनपर संयम है, भोजनका परित्याग नहीं। 'तन्निरन्नस्य वर्धते' (२०)—यदि भोजन छोड़ दोगे तो रसको लालसा और बढ़ेगी।

राजन्, मैंने पिङ्गला नामकी वेश्यासे भी शिक्षा ग्रहण की। वह मिथिला नगरीमें रहती थी। मिथिला नगरीको वेश्या भी जीवन्मुक्त ही होनी चाहिए। क्योंकि वह विदेहोंकी नगरी है। वहाँके सबलोग जीवन्मुक्त होते हैं। एक दिन पिङ्गला सुन्दर रूप धारण करके घरके बाहर खड़ी हो गयी। कितने ही लोग आये और उसके पाससे निकलकर चले गये। वह इसी आशामें खड़ी थी कि कोई आजाय, कोई आजाय! अन्तमें जब कोई नहीं आया तब उसका मोह छूट गया और उसको वैराग्य हो गया। उस समय उसने इस आशयका संगीत गाया कि आशाके फन्देमें फँसे हुए लोगोंके लिए निर्वेद ही तलवारका काम करता है। जबतक निर्वेद नहीं होता तबतक मनुष्य देह-बन्धनसे नहीं छूट सकता। जबतक विज्ञान न हो, तबतक ममता नहीं छूट सकती। मेरा मोह देखो कि मैं इन दुष्ट पुरुषोंसे अपनी वासना पूरी करना चाहती हूँ। हृदयमें जो परमात्मा है, उसको तो मैंने छोड़ दिया। वही तो मेरा नित्य रमण है, नित्य रतिप्रद है और नित्य वित्तप्रद है। उसको छोड़कर मैं अन्य पुरुषोंको आशा करती हूँ। यह मेरे लिए कितने भारी दुःखकी बात है। भला इस क्षणभङ्गुर शरीरमें क्या रखा है।

यदस्थिभिर्निर्मितवंशवंश्यस्थूणं त्वचा रोमनखैः पिनद्धम्।
क्षरन्नवद्वारमगारमेतद् विण्मूत्रपूर्णं मदुपैति कान्या॥ ३३

पुरुष-शरीरकी निन्दा करती हुई पिङ्गलाने कहा कि हाय-हाय मैं कैसी बेवकूफ हूँ, जो इस शरीरसे रतिसुख चाहती हूँ। यह शरीर तो एक ऐसा घर है, जो हड्डियोंसे बना हुआ है। चारों ओरसे रोम-नख द्वारा छाया हुआ है और इसमें नौ दरवाजे हैं, जिनसे गन्दगी निकलती रहती है। यह शरीर तो विण्मूत्रसे भरा हुआ है। इसके ऊपरके चामको देखकर लोग कहते हैं कि यह बहुत सुन्दर है और उसका सम्भोग करते हैं। इस विदेह नगरीमें केवल मैं ही मूढ़ हूँ, जो परमात्माको छोड़कर विनाशी पुरुषोंकी अभिलाषा करती हूँ। लेकिन अब मैं परमात्मामें रमण करूँगी। संसारके लोगोंमें ऐसी कोई सामर्थ्य नहीं कि वे कामना पूर्ण कर सकें। आज विष्णु भगवान् मुझपर प्रसन्न हो गये कि मुझे निर्वेद हो गया। अन्यथा मुझ जैसी अभागिनीको क्लेशोंके कारण वैराग्य नहीं हो सकता था !

मैवं स्युर्मन्दभाग्यायाः क्लेशा निर्वेदहेतवः।
येनानुबन्धं निर्हृत्य पुरुषः शममृच्छति॥ ३८

वैराग्य हुए बिना शान्ति नहीं मिलती। यह वैराग्य लोभसे नहीं हुआ, दोष-दर्शनसे नहीं हुआ, दोष-चिन्तनसे नहीं हुआ, यह वैराग्य तो विष्णु भगवान्‌की कृपासे आया है। मैं अब उनकी कृपाको सिर-आँखपर धारण करती हूँ और उनको शरणमें जाती हूँ। अब मैं उन्हींके साथ विहार करूँगी। इस संसारमें प्राणी गिर गया है।

असलमें जब मनुष्य सावधान होता है, भोगका त्याग करता है, तभी वह परम कल्याणका भाजन होता है। इसीलिए हमेशा यह देखते रहना चाहिए कि कालरूपी अजगरने इस संसारको पकड़ रखा है।

यही निश्चय करके पिङ्गलाने अपने मनमें पुरुषोंके लिए जो तृष्णा थी, उसको काट दिया और अपनी शैयापर सुखी होकर सो गयी।

इसीलिए सांख्य-दर्शनमें एक सूत्र आया है—'निराशः सुखी पिङ्गलावत्' (४.११)—अर्थात् पिङ्गलाके समान निराश होकर सुखी हो जाओ। जो दुनियाकी आशा नहीं करेगा, वही सुखी रहेगा। आशा छूटनेपर ही आरामकी नींद आती है।

आशा हि परमं दुःखं नैराश्यं परमं सुखम्।
यथा सञ्छिद्य कान्ताशां सुखं सुष्वाप पिङ्गला॥ ४४

इस प्रसङ्गमें यह बात कही जाती है कि जब दत्तात्रेयजी विदेह नगरीमें विचरण कर रहे थे, तब वे थोड़ी देरके लिए पिङ्गलाके घरके सामने एक वट-वृक्षके नीचे बैठ गये। जब उधरसे हवा चली तब दत्तात्रेयजीके शरीरकी हवा लगते ही पिङ्गलाको वैराग्य हो गया।

अब दत्तात्रेयजी वर्णन करते हैं कि मनुष्य जितना परिग्रह करता है, उतना ही उसे दुःख होता है और जितना अकिञ्चन रहता है, उतना ही उसको सुख होता है। यह मैंने चील जैसे कुरर पक्षीसे सीखा, जो अपने मुँहमें माँसका टुकड़ा लेकर उड़ रहा था। दूसरे बलवान् पक्षी उसपर झपट पड़े और माँसका टुकड़ा छीननेके लिए उसको चोंचोंसे मारने लगे। जब उसने माँसका टुकड़ा अलग फेंक दिया, तब सभी पक्षी टुकड़ेकी ओर चले गये और कुरर पक्षीको आराम हो गया।

बालकसे मैंने यह सीखा है कि उसको मानापमानका कोई ख्याल नहीं होता। वह आपसमें अपने साथियोंसे लड़ पड़ता है, मार-पीटकर लेता है और रो पड़ता है। उसके माँ-बाप तो दूसरे बालकोंके माँ-बापसे लड़कर हमेशाके लिए वैर बाँध लेते हैं, लेकिन वह बालक पाँच-दस मिनटके बाद ही आपसमें खेलने लगता है। विमुग्ध बालक और गुणातीत पुरुष दोनों ही परमानन्दसे भरे रहते हैं।

राजन्, एक कुमारी कन्यासे मैंने क्या सीखा, यह सुनो! एक बार उसका वरण करनेके लिए कुछ लोग उसके घर आये! उस समय घरमें वह बेचारी अकेली थी। चावल थे नहीं। उसने सोचा कि धान कूटकर चावल निकाल ले। लेकिन जब वह धान कूटने लगी तब शङ्खकी चूड़ियाँ आवाज करने लगीं। अब उसने सोचा कि कहीं ये लोग जान न जायँ कि मैं धान कूट रही हूँ। इसलिए उसने अधिक चूड़ियाँ तोड़ दीं, केवल दो-दोको पहने रखा! फिर भी आवाज होने लगी तब उसने एक-एक चूड़ी और तोड़ दी। जब दोनों कलाइयोंमें केवल एक चूड़ी रह गयी तब आवाज होनी बन्द हो गयी। मैं वहीं कहीं बैठा हुआ था और सारा दृश्य देख रहा था। उससे मैंने यह शिक्षा ग्रहण की कि जब लोग एक साथ रहते हैं तब झगड़े होते हैं और दो आदमी एक साथ रहते हैं तब वे झगड़ा भले न करें, बातचीत तो करते ही हैं। इसलिए साधुको अकेले ही विचरना चाहिए।

राजन्, मैंने बाण बनानेवाले लोहारसे यह बात सीखी है कि वैराग्य और अभ्यासके द्वारा मनको एकाग्र करना चाहिए। इससे मन कर्मवासनाको छोड़ देता है, ध्येयाकारताको प्राप्त होता है। फिर बाहर-भीतरका भेद मिट जाता है। जब वह लोहार बाण बना रहा था तब उसमें

इतना तन्मय हो गया था कि सामनेसे राजाकी सवारी निकल गयी, किन्तु उसे पता ही नहीं चला !

असलमें दत्तात्रेयजी लोहारके पास खड़े होकर उसका काम देख रहे थे। इतनेमें उनके शरीरकी हवा लग गयी और लोहारके मनमें एकाग्रता आगयी।

दत्तात्रेयजी कहते हैं कि राजन्, मैंने सर्पसे यह सीखा कि जैसे वह अकेला रहता है, चुप रहता है, बहुत कम बोलता है, लोगोंके सामने नहीं रहता, अपने लिए घर नहीं बनाता और दूसरोंके बिलमें घुसकर अपना काम चला लेता है, इसी प्रकार अवधूतको रहना चाहिए, आश्रम बनानेके चक्करमें नहीं पड़ना चाहिए।

देखो, भागवतमें ऐसा लिखा है कि जो मनुष्य विरक्त होनेके बाद यदि उन्हीं चीजोंको अपने पास इकट्ठा कर लेता है, जिनसे विरक्त हुआ है तो वह वान्ताशी कहलाता है। जैसे कुत्ता उगलकर खा लेता है, वैसे ही उंगला हुआ खानेवालेको वान्ताशी कहते हैं। इसलिए छोड़ी हुई चीजको कभी पकड़ना नहीं चाहिए।

मैंने मकड़ीसे यह सीखा कि जैसे वह अपने मुँहमें-से उगलकर जाला बनाती है, उसमें खूब घूमती है, खेलती है, वह जाला उसकी जीविकाका साधन बन जाता है, उसमें जो मक्खी-मच्छर फँस जाते हैं उनको वह खा लेती है और अन्तमें उस जालेको खाकर अकेली रह जाती है, वैसे ही ईश्वर अपनेमें ही सारी सृष्टि बनाता है, उसीमें विहार करता है और अन्तमें स्वयं उसको निगलकर एक अद्वितीय परमेश्वरके स्वरूपमें रहता है—'परावराणां परम आस्ते कैवल्य-संज्ञितः' (१८)। कैवल्यका अर्थ है केवल, अकेला, अद्वितीय, द्वैतका अत्यन्ताभाव।

दत्तात्रेयजी कहते हैं कि मैंने भृङ्गीकीटसे भी सबक सीखा है ! जब वह एक कीड़ेको अपने रहनेकी जगहमें बन्द कर देता है, तब वह कीड़ा भयसे भृंगीका चिन्तन करते-करते भृङ्गी हो जाता है। इसी तरह मनुष्य भी एकाग्र मनसे जिस वस्तुका ध्यान करता है तो उसको उस वस्तुका स्वरूप प्राप्त हो जाता है।

अन्तमें दत्तात्रेयजी कहते हैं कि राजन्, मैंने इन चौबीस वस्तुओंसे सीखा सो तो सीखा हो, अपने शरीरसे भी बहुत कुछ सीखा ! क्योंकि यह पैदा होता है, मरता है, इसके साथ तरह-तरहके दुःख लगे रहते हैं—'सततार्त्युदर्कम्' (२५)—'सततदुःखमेव उदर्कम् उत्तर फलम् यस्य तादृशः'। विवाह करो, पुत्र पैदा करो, धन इकट्ठा करो—इसीमें मनुष्य लगा रहता है। फिर बड़े कष्टके साथ जो कुछ इकट्ठा करता है, वह सब छोड़कर मर जाता है और उसीके लिए पुनः पैदा

होता है। मनुष्यको एक ओर उसकी जीभ खींचती है, दूसरी ओर उसकी मूत्रेन्द्रिय खींचती है और तीसरी ओर त्वचा, उदर, श्रवण, घ्राण, चपलदृक् खींचते हैं। जैसे बहुत-सी सौतें एक पतिको सताती हैं, वैसे ही इन्द्रियाँ मनुष्यको सताती हैं।

भगवान्‌ने बहुत सारे शरीर बनाये, लेकिन उनको बिल्कुल सन्तोष नहीं हुआ। जब उन्होंने मनुष्यका शरीर बनाया, तब वे अपनी कारीगरीपर बहुत आनन्दित हुए—

तैस्तैरतुष्टहृदयः पुरुषं विधाय ब्रह्मावलोकधिषणं मुदमाप देवः। २८

काशी विश्वविद्यालयके प्राच्यविद्या-विभागाध्यक्ष महामहोपाध्याय पण्डित प्रथमनाथ तर्क-भूषण इस श्लोकार्द्धपर घण्टों तक प्रवचन करके उसके अर्थका आस्वादन करते-कराते थे।

तो, परमेश्वर मनुष्य-शरीरके निर्माणपर इसीलिए मुग्ध हो गये कि उसमें ऐसी बुद्धि है, धिषणा है, जिससे वह परब्रह्म परमात्माका दर्शन कर सकता है—'ब्रह्मसाक्षात्काराय धिषणा बुद्धिर्यस्य तं पुरुषम्'। परमेश्वरने ऐसे पुरुषको बनाकर बहुत ही आनन्द लिया।

देखो, बहुत जन्मोंके बाद मनुष्य-शरीर मिलता है। इससे बहुत काम बन सकता है, लेकिन यह अनित्य है। इसलिए जबतक इसकी मृत्यु न हो जाय तबतक काम बना लेना चाहिए। विषय-भोग तो पशु-पक्षीके शरीरमें भी मिल जायेगा। परन्तु 'ब्रह्मावलोकधिषणा' वहाँ नहीं मिलेगी।

दत्तात्रेयजी कहते हैं कि मैं वैराग्यके कारण ही पृथिवीमें विचरण करता रहता हूँ। परन्तु मुझे वैराग्य और कहीं नही मिला। 'विज्ञानालोक आत्मनि' (३०) सारे विज्ञान अपने भीतर ही दीखते हैं। दूसरोंका देखा हुआ विज्ञान काम नहीं आता। जो केवल एक गुरुसे प्राप्त ज्ञान है, वह सुस्थिर नहीं होता। इसलिए तुम क्षण-क्षणमें गुरुतत्त्वको देखो। वह सबमें भरा हुआ है। यह एक परम सत्य है कि ब्रह्म अद्वितीय है और जब ब्रह्म अद्वितीय है तब गुरु भी अद्वितीय ही होना चाहिए, वृत्ति भी अद्वितीय होनी चाहिए, आत्मा भी अद्वितीय होना चाहिए। परन्तु अद्वैत होनेपर भी विद्वानोंने अनेक प्रकारसे इसका गान किया है—'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति'। (ऋग्० १.१६४.४६)

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—उद्धवजी इतना कहनेके बाद गम्भीर बुद्धि दत्तात्रेयजी जैसे आये थे, वैसे ही चले गये। उनके सत्संगसे हमारे पूर्वजोंके पूर्वज राजा यदुको सारी आसक्ति छूट गयी और वे समदर्शी हो गये।



अब भगवान् श्रीकृष्ण उद्धवजीको बताते हैं कि मैंने जिसके लिए जो धर्म बताया है, उसका पालन प्रमादरहित होकर करना चाहिए। मनुष्यको अपने वर्ण, आश्रम और कुलके आचारका निष्काम भावसे आचरण करना चाहिए। उसे दूसरेके वर्णाश्रम और कुलाचारमें प्रविष्ट होनेकी कोशिश नहीं करनी चाहिए और न उसको अपनेमें लेनेकी कोशिश करनी चाहिए। लोग अपने-अपने धर्म और अपने-अपने अधिकारमें निष्ठा रखें। जो लोग दूसरेका धर्म अच्छा समझकर अपना धर्म बदलते हैं, वे बहुत गलत काम करते हैं। इसी तरह अपने धर्मकी तारीफ करके दूसरेको धर्मान्तरित करनेवाले लोग भी अच्छा नहीं करते। सबको अपनी-अपनी निष्ठामें रहना चाहिए। सब परमात्माके स्वरूप हैं और सबमें वह ज्यों-का-त्यों एक है। विषयको सच समझकर जो आरम्भ किया जाता है, उसको झूठा समझो। जैसे स्वप्नावस्थाके विषय-दर्शन और जाग्रत्के मनोरथ विफल होते हैं, वैसे ही बाहरमें जो नानात्व-बुद्धि है, वह बिल्कुल विफल है।

सुप्तस्य विषयालोको ध्यायतो वा मनोरथः।
नानात्मकत्वाद् विफलस्तथाभेदात्मधीर्गुणैः॥ ३

मनुष्य कर्म करे तो ऐसा कर्म करे कि उससे जल्दी छुट्टी मिल जाय। वह निवृत्ति-कर्म तो करे, किन्तु प्रवृत्ति-कर्मका परित्याग कर दे। यदि भगवत्तत्त्वकी जिज्ञासामें रुचि हो जाय तो कर्म-विधानका आदर करनेकी आवश्यकता नहीं रह जाती। सत्य, अहिंसा आदि यम और तप-स्वाध्याय आदि जो नियम हैं, उनका पालन करना चाहिए। इसमें कभी कोई त्रुटि हो जाय तो उसकी चिन्ता न करके पुनः उसके पालनका प्रयास करना चाहिए। लेकिन यम-नियमसे बढ़कर गुरु-सेवा है। गुरुकी सेवा निष्कपट भावसे करनी चाहिए। इसमें जल्दबाजी नहीं करनी चाहिए। संसारमें सबसे उदासीन रहना चाहिए। दुनिया बदलनेकी कोशिश नहीं करनी चाहिए, अपने मनको ऐसा बदल देना चाहिए कि जहाँ रहे, वहीं आनन्दका अनुभव हो।

आत्मा स्थूल, सूक्ष्म, कारण—इन शरीरोंसे पृथक् है, द्रष्टा है। मनीराम जब सो जाते हैं तब उन्हींका नाम कारण शरीर, जब सपना देखते हैं तब उन्हींका नाम सूक्ष्म शरीर और जब देहसे मिल जाते हैं तब उन्हींका नाम स्थूल शरीर हो जाता है। इस प्रकार चक्कर लगानेवाले मनीरामका सोना और जागना इन दोनोंको आत्मा देखता रहता है। लेकिन आत्माको देखनेवाला कोई नहीं। जैसे आग जलनेवाली लकड़ीसे बिल्कुल अलग होती है और उसको जलाती है, प्रकाशित करती है, वैसे ही आत्मा शरीरके भीतर रहकर भी इससे बिल्कुल अलग है।

देखो, यह संसार क्या है ? शास्त्रमें संसारका अर्थ भूखण्ड अर्थात् ईंट-पत्थर नहीं होता यह बात आप ध्यानमें रख लें। श्रीशंकराचार्य भगवान्‌ने कहा है कि अपनेमें कर्तापन और भोक्तापनका जो अभिमान है, इसीका नाम संसार है—'कर्तृत्व-भोक्तृत्वलक्षणः संसारः। वैष्णवोंने कहा है कि अहंता और ममता—इन दोनोंका नाम ही संसार है।

श्रीकृष्ण कहते हैं—उद्धवजी, यह दुनिया ईश्वरकी बनायी हुई है। परन्तु इसमें जो अभिमान और ममता है, यह ईश्वरसे विमुखताके कारण ही है। इसलिए हमेशा विचारके द्वारा देहस्थित आत्माको जानकर प्रपञ्चमें कभी सत्यबुद्धि नहीं करनी चाहिए। यह संसार जीवका तभीतक है, जबतक वह अविद्यामें फँसा हुआ है। आत्मा देहसे बिल्कुल परे है। खेत किसीको दुःख नहीं देता, खेतको मेरा समझनेवाला दुःखी होता है। इसी प्रकार देह किसीको दुःख नहीं देता, जो इसको मेरा समझता है, उसीको दुःख होता है। इसलिए देहाभिनिविष्ट बुद्धिका परित्याग कर देना चाहिए।

संसारस्तन्निबन्धोऽयं पुंसो विद्याच्छिदात्मनः। १०

संसार अविद्यामूलक है, देहाभिमानमूलक है। आत्माका ज्ञान होनेपर उसका छेदन हो जाता है। छित्—छिनत्ति इति छित्। इसलिए आत्माके स्वरूपकी जिज्ञासा करके शरीरमें जो वस्तु-बुद्धि है उसका परित्याग कर देना चाहिए। जैसे यज्ञमें अरणि-मन्थनके द्वारा अग्नि उत्पन्न करते हैं, वैसे ही आचार्य एवं शिष्य अधरारणि—नीचेकी लकड़ी और उत्तरारणि—ऊपरकी लकड़ी हैं। वचन सन्धान है, विद्या सन्धि है और उससे जो ज्ञानाग्नि पैदा होती है, वह संसारके सम्बन्धको जला देती है।

देखो, अभीतक यह बात कही गयी कि आत्मा नित्य है, एक है। उपाधिके कारण कर्तृत्व-आदि धर्म होते हैं। लेकिन यदि कोई ऐसा कहे कि कर्मके कर्त्ता और सुख-दुःखके भोक्ता जीव नाना हैं, संसारके स्रक्‌चन्दनवनितादि प्रवाह-रूपसे नित्य हैं, इनके लिए कर्ता ईश्वरकी भी जरूरत नहीं होती, तब भी शरीरमें जन्म-मृत्युके प्रभाव तो आयेंगे ही। कर्मके कर्ता और सुख-दुःखके भोक्ताकी परतन्त्रता तो रहेगी ही। वैराग्यका निमित्त बना रहेगा। दुःख केवल मूर्खोंको ही नहीं होता, बड़े-बड़े विद्वान् और बुद्धिमान् भी दुःखी होते हैं। जो लोग कहते हैं कि हम बहुत चतुर हैं, इसलिए सुखी हैं, उनका अहंकार व्यर्थ है। क्योंकि उनको भी इस बातका पता नहीं कि हम मृत्युसे कैसे बचें ?

देखो, अर्थको अर्थ क्यों कहते हैं ? एक तो मूर्ख लोग जिसको चाहें, उसका नाम अर्थ है— अर्थ्यते इति अर्थः' और दूसरे 'इयर्ति इति अर्थ'—जो भाग जाय, उसका नाम अर्थ है।

तो, जैसे किसीके सिरपर मौत खड़ी हो, उसे फाँसीपर चढ़ानेके लिए ले जाया जा रहा हो और वह कहे कि आओ, मालपूआ खा लें, खीर खा लें क्योंकि मरना तो है ही। परन्तु क्या उसे मालपूआ-खीर खानेमें मजा आयेगा ? मनुष्यकी स्थिति यही है।

यदि कहो कि परलोकमें बहुत सुख है, अतः उसके लिए निर्विघ्न धर्मका अनुष्ठान करना चाहिए। लेकिन क्या धर्मानुष्ठानकी निर्विघ्न सम्पन्नता आसान है ? आपको मालूम होना चाहिए कि यज्ञ-यागादि कर्मोंमें मन्त्र अशुद्ध बोलता है पुरोहित और काम बिगड़ता है यजमानका। यदि होता होम करते समय बाँयें घुटनेको नीचे गिरानेकी जगह दाहिने घुटनेको नीचे गिरा दे तो यजमानकी हानि होती है। इसलिए पहले तो कर्मका निर्विघ्न होना ही बहुत कठिन है। फिर यदि कदाचित् निर्विघ्न हो भी जाय और उसके फलस्वरूप स्वर्ग मिल जाय तो वहाँ क्या होता है ? स्वर्गमें गये, वहाँ बड़े-बड़े ऐश्वर्य प्राप्त हुए, अप्सराओंका भोग मिला, कामद-विमानपर चढ़कर घूमते रहे, लेकिन जिस दिन पुण्य क्षीण होता है, उसी दिन वहाँसे नीचे ढकेल दिये जाते हैं। फिर यदि पाप किया होता है तो नरकमें या पशु-पक्षी-कीटकी योनियोंमें जाना पड़ता है। इसलिए जो देहसे कर्म करता है, उसको सदा सुख-ही-सुख मिले—ऐसा नहीं हो सकता।

संसारके सभी प्राणी भयभीत हैं। ब्रह्माको भी अपनी थोड़ी आयुका भय है। उस भयके निवारणका उपाय क्या है ? असलमें सत्त्वादि गुणोंसे ही इन्द्रियोंकी सृष्टि होती है। इन्द्रियोंसे कर्मकी सृष्टि होती है। जीव इन्द्रियोंसे संयुक्त होकर कर्म-फलका उपभोग करता है। जबतक जीवके गुणोंकी विषमता है, तबतक नानात्व है। जबतक नानात्व है तबतक परातन्त्र्य है। जबतक परातन्त्र्य है तबतक भय है। जो इस विषमतामें फँस जाते हैं, उन्हींको शोक-मोहका आश्रय लेना पड़ता है।

इस सृष्टिके समय एक ही परमात्माके अनेक नाम हो जाते हैं। वास्तवमें काल, आत्मा. आगम, लोक, स्वभाव, धर्म—ये सब परमात्माके ही नाम हैं।

अब उद्धवजीने श्रीकृष्णसे पूछा कि भगवन्, आप यह बतायें कि देह-गुणोंमें रहकर जीव अपावृत है या अनपावृत है ? गुणोंमें बँधता है कि नहीं बँधता ? बँधता है तो कैसे बँधता है ? बद्ध और मुक्त जीवमें क्या अन्तर होता है ? मुझे तो ऐसा लगता है कि नित्यबद्ध और नित्यमुक्त दोनों एक ही है।



भगवान् श्रीकृष्णने कहा कि प्यारे उद्धवजी, किसीमें सत्त्वगुणकी अधिकता हो अथवा शान्त सत्त्वगुण निर्गुण हो तो लोग कहने लगते हैं कि यह तो मुक्त है। किसीमें रजोगुण-तमोगुण ज्यादा हो तब कहते हैं कि यह बद्ध है।

बद्धो मुक्त इति व्याख्या गुणतो मे न वस्तुतः। १

असलमें यह व्याख्या मैंने ही की है, जो बिल्कुल प्रामाणिक है। वस्तुतः बद्ध और मुक्त कोई नहीं है। गुणोंके अनुसार ही बद्ध और मुक्त होते हैं। गुण मायिक हैं। इसलिए 'न मे मोक्षो न बन्धनम्' (१)—मेरे स्वरूपभूत जो जीवात्मा हैं, उनका न मोक्ष है और न बन्धन है। देहमें अभिमान करनेसे ही माया अथवा अविद्याके कारण शोक, मोह, सुख, दुःख, आदि होते हैं। 'संसृतिर्न तु वास्तवी' (२)—यह संसृति वास्तविक नहीं है। यह तो केवल प्रातीतिक है। विद्या-अविद्या दोनों मेरे शरीर हैं। इन्हींसे मोक्ष और बन्धन होते हैं। मेरा एक ही जीव जबतक अविद्या रहती है तबतक तो अपनेको बद्ध और पृथक्-पृथक् देखता है, किन्तु विद्याकी प्राप्ति हो जानेपर मुक्त देखने लगता है।

देखो, बद्ध-मुक्तमें क्या विलक्षणता है? वे दोनों एक ही शरीरमें स्थित होकर नियम्य—नियन्ताके रूपमें रहते हैं—'स्थितयोरेक धर्मिणि'। (५) बात यह है कि दोनों सुपर्णा हैं, सदृश हैं, सखा हैं और एक ही शरीरमें रहनेवाले हैं। इनमें-से जो अविद्यावान् हैं, वह अपनेको भोक्ता मानकर दुःखी होता है और जो विद्यायुक्त है, जिसकी अविद्या निवृत्त हो गयी है, वह 'निरन्नोऽपि' होनेपर भी बलसे प्रबल है। जो अपिप्पलाद है, वह आत्माको जानता है और जो अविद्या युक्त है वह आत्माको क्या जानेगा? विद्वान् देहमें रहकर भी देहमें नहीं रहता और अविद्वान् वेदातीत होनेपर भी अविद्याके कारण अपनेको देहमें मानता है।

जो मुक्त है, वह इन्द्रियोंसे विषयोंका ग्रहण होनेपर भी मैं इनका ग्रहण करता हूँ—ऐसा अभिमान कर बैठता है और इस प्रकार दूसरेके कर्मको अपना मानकर उसमें बँध जाता है। इसलिए विद्वान्को सोच-विचार करके विरक्त हो जाना चाहिए। उसका शरीर चाहे सोवे, चाहे बैठे, चाहे देखे, चाहे खाये—खाना तो इन्द्रियोंके गुणोंका होता है, वह स्वयं अविद्वान्के समान

बद्ध नहीं होता। वह तो वायुके समान असंग हो जाता है। वैराग्य और ज्ञानके द्वारा उसकी सारी शंका ढह जाती है। वह स्वप्नसे जाग जाता है। वह देहमें रहकर भी देहके गुणोंसे मुक्त रहता है। संसारी लोग चाहे उसको पीड़ा पहुँचायें, चाहे उसकी पूजा करें, उससे उसको कोई विकार नहीं होता—'न व्यतिक्रियते बुधः'।

न स्तुवीत न निन्देत कुर्वतः साध्वसाधु वा।
वदतो गुणदोषाभ्यां वर्जितः समदृङ्मुनिः॥ १६
न कुर्यान्न वदेत् किञ्चिन्न ध्यायेत् साध्वसाधु वा।
आत्मारामोऽनया वृत्त्या विचरेज्जडवन्मुनिः॥ १७

कोई चाहे अच्छा करे या बुरा करे, अच्छा कहे या बुरा कहे—'क्योंकि वह गुण-दोषके आधारपर वैसा करता-कहता है—लेकिन तुम न तो उसकी स्तुति करो और न निन्दा करो। समदर्शी मुनि होकर रहो! न अच्छा-बुरा करो, न अच्छा-बुरा बोलो और न अच्छा-बुरा सोचो, आत्माराम होकर रहो।' महात्माको इसी वृत्तिसे जडवत् विचरण करना चाहिए।

देखो, इस प्रकारके आचरणका उपदेश उनके लिए नहीं है, जो प्रचार करनेकी वासनासे युक्त हैं। यह तो उनके लिए है, जो प्रचारकी वासनासे निर्मुक्त होकर सहज आत्मस्वरूपमें स्थित रहते हैं। जो लोग संन्यास लेते ही इसलिए हैं कि वे तुरन्त महन्त हो जायेंगे, उनका संन्यास तो केवल प्रचारके काम ही आ सकता है और किसी काम नहीं आ सकता। जो सचमुच विरक्त हैं, परमात्माकी प्राप्तिके उद्देश्यसे अथवा परमात्माके प्राप्त हो जानेपर संन्यास ग्रहण करते हैं, उनकी स्थिति बिल्कुल विचित्र होती है।

भगवान् कहते हैं कि उद्धवजी, यदि कोई शास्त्र तो बहुत पढ़ ले, परन्तु परमात्माकी प्राप्ति न हो तो उसका पढ़ना-लिखना बिल्कुल व्यर्थ चला जाता है। जिस वाणीमें परमात्मा नहीं, वह बाँझ है! धीर पुरुषको उस वाणीका उच्चारण या श्रवण नहीं करना चाहिए।

इस प्रकार आत्म-जिज्ञासा द्वारा आत्मामें जो नानात्वका भ्रम है, उसको काट देना चाहिए और मनको परमात्मामें लगा देना चाहिए। यदि कदाचित् मन परमात्मामें न लग सके तो सब काम निष्काम होकर करना चाहिए।

श्रद्धालुर्मे कथाः शृण्वन् सुभद्रा लोकपावनीः।
गायन्ननुस्मरन् कर्म जन्म चाभिनयन् मुहुः॥ २३

भगवान् श्रीकृष्णने कहा कि मेरी कथा सुभद्रा है, लोकपावनी है। उसका श्रवण श्रद्धाके साथ करना चाहिए। मेरे जन्म-कर्मका गान और अभिनय करना चाहिए। मनुष्य जो कुछ भी

करे, मेरे लिए ही करे। इससे उसको निश्चला भक्ति मिलती है और निश्चला भक्ति मिल जानेपर मेरी उपासना करनेवालोंको मेरे पदकी प्राप्ति होती है।

अब उद्धवजीने पूछा कि महाराज, आपका भक्त कैसा होता है? आपकी भक्ति कैसी होती है? आप प्रकृतिसे परे हैं। इसलिए यह आपके सिवाय और कोई नहीं बता सकता।

यहाँ देखो, श्रीमद्भागवतमें भक्त और ज्ञानीका वर्णन करते समय कहीं भी यह नहीं कहा गया है कि वह गेरुआ पहनता है, पीला पहनता है, सफेद पहनता है, चन्दन खड़ा लगाता है या पड़ा लगाता है, रुद्राक्षकी माला पहनता है या तुलसीकी माला पहनता है! वैसे तुलसी या रुद्राक्षकी माला रखनेवालोंका भी वर्णन है। परन्तु भक्तके लिए नियम रूपमें नहीं है। यह तो बाह्य वेशभूषा है। इसका नियम अपने-अपने सम्प्रदायके अनुसार धारण करो।

भगवान्‌ने कहा कि उद्धवजी, मेरे भक्तका असली लक्षण वेश-भूषामें नहीं रहता। उसका लक्षण तो यह है कि—

कृपालुरकृतद्रोहस्तितिक्षुः सर्वदेहिनाम्। सत्यसारोऽनवद्यात्मा समः सर्वोपकारकः। २९

वह सबपर कृपा करता है। किसीसे द्रोह नहीं करता। जो कुछ दुःख-सुख आता है, सह लेता है। सत्य उसके जीवनका सार होता है। वह निश्छलात्मा होता है, समदर्शी होता है और सर्वोपकारी होता है। कामनाएँ उसको घायल नहीं करतीं। वह सब सद्‌गुणोंसे युक्त होता है। 'अमानी मानदः'—स्वयं तो वह मान नहीं करता, लेकिन दूसरेको सम्मान देता है।

भगवान्‌ने कहा कि उद्धवजी, जो गुण-दोषोंको भली भाँति समझकर और मेरे द्वारा वेद-रूपसे उपदिष्ट धर्मोंका भी परित्याग करके सर्वथा निवृत्ति-परायण होकर मेरा भजन करता है, वह सत्तम है। चाहे मुझे जानो, चाहे मत जानो, लेकिन अनन्यभावसे मेरी भक्ति करनी चाहिए। मेरी मूर्तिका, मेरे भक्तका दर्शन और स्पर्श करना चाहिए तथा उनकी अर्चा, परिचर्या एवं स्तुति करनी चाहिए। मेरे गुण-कर्मोंका अनुमोदन करना चाहिए और श्रद्धा-पूर्वक मेरी कथाका श्रवण तथा मेरा अनुध्यान करना चाहिए। उसे जो कुछ भी मिले, उसको मुझे अर्पित कर देना चाहिए। मेरे दिव्य जन्म-कर्मका कथन करना चाहिए और पर्वोंको मनाना चाहिए। मेरे मन्दिरोंमें गीत-ताण्डव-वादित्रगोष्ठी द्वारा उत्सव करना चाहिए। शोभा-यात्रा निकालनी चाहिए। बलिविधान करना चाहिए और वैदिक-तान्त्रिकी दीक्षा ग्रहण करनी चाहिए। मेरी अर्चा-स्थापना आदिमें श्रद्धा रखनी चाहिए। मेरे लिए उद्यान, उपवन, मन्दिर आदिका निर्माण कराना चाहिए और स्वयं अपने हाथसे मेरी सेवा करनी चाहिए। अभिमान या दम्भ नहीं करना चाहिए। अपने

शुभ कर्मोंका बखान नहीं करना चाहिए। यहाँतक कि मुझे जो वस्तु एक बार अर्पित कर दी जाय, उसको अपने काममें नहीं लेना चाहिए। यह नहीं कि दीपक जलाकर मेरे चरणोंमें अर्पित-कर दिया और फिर उसके प्रकाशमें लिखने-पढ़ने बैठ गये—

अपि दीपावलोकं मे नोपयुञ्ज्यान्निवेदितम्।४०

अपने लिए जो भी इष्ट है, प्रिय है, वह सब मुझे अर्पित कर देना चाहिए। जिसकी जहाँ मौज हो, वहाँ मेरी पूजा कर लेनी चाहिए।

सूर्योऽग्निर्ब्राह्मणो गावो वैष्णवः खं मरुज्जलम्।४२

मेरी पूजा चाहे सूर्यमें कर लो, चाहे अग्निमें कर लो, ब्राह्मणमें कर लो, गायमें कर लो, वैष्णवमें कर लो, आकाशमें कर लो, मरुत्में कर लो, जलमें कर लो, पृथिवीमें कर लो, अपने-आपमें कर लो अथवा सब प्राणियोंमें कर लो, ये सब मेरे पूजाके स्थान हैं।

अब भगवान् बताते हैं कि सूर्यमें त्रयीविद्यासे, अग्निमें हविष्यसे, ब्राह्मणमें आतिथ्यसे गायमें हरी-हरी घाससे, वैष्णवमें बन्धुत्वकी भावनासे, हृदयाकाशमें ध्यानसे, वायुमें मुख्यबुद्धिसे, जलमें अच्छे-अच्छे पदार्थोंसे और वेदीमें मन्त्र द्वारा हवनसे मेरी पूजा हो जाती है।

लेकिन यहाँ प्रश्न उठता है कि अपनेमें कैसे पूजा करें? इस सम्बन्धमें एक महात्माने बताया कि भगवान् अपने अन्दर भी बैठे हैं। इसलिए जब हम खायें-पीयें तब ऐसा सोचें कि अपने भीतर बैठे भगवान्की सेवा कर रहे हैं।

भगवान् कहते हैं कि उद्धवजी, 'भोगैरात्मानमात्मनि' (४५)—अपनेमें मेरी पूजा करनी हो तो ठीक-ठीक भोग देना चाहिए। यह नहीं कि भूखे-प्यासे रहकर मेरा साक्षात्कार करे। सबके प्रति समताका भाव रखना, यह क्षेत्रज्ञकी आराधना है। मैं सबमें चतुर्भुज रूपसे बैठा हूँ, इस तरह जो मेरी सेवा-पूजा करता है, उसको स्मृतिकी प्राप्ति होती है। भक्तियोग और सत्सङ्गके बिना मनुष्यके लिए दूसरा कोई श्रेष्ठ उपाय नहीं है। अब मैं तुम्हें एक बहुत ही गुप्त बात बताता हूँ।



भगवान्‌ने कहा कि उद्धवजी, सुनो ! मैं योग, सांख्य, धर्म, स्वाध्याय, तपस्या, त्याग इष्टापूर्त, दक्षिणा, व्रत, यज्ञ, छन्द, तीर्थ, नियम, यम आदिसे किसीके वशमें नहीं होता। मुझे वशमें करनेका उपाय केवल सत्सङ्ग है—'यथावरुन्धे सत्सङ्गः' (२)। सत्सङ्ग संसारकी सभी आसक्तियोंको छुड़ा देता है—'सर्वसङ्गापहो हि माम्'। (२२)

असलमें साधुका स्वभाव इतना मीठा है, उसकी वाणी इतनी मधुर है, उसका हृदय इतना सरल है कि जो उसके सम्पर्कमें आजाता है, वह उसीका हो जाता है। संसारके लोग तो ताना मार-मारकर बोलते हैं। उनका मन बहुत कपटो होता है। उनके व्यवहारमें बहुत कड़वाहट होती है।

इसलिए जो एक बार सत्सङ्गमें आजाय, उससे फिर कभी सत्सङ्ग छूटता ही नहीं। वह सब दुःसङ्गोंको छुड़ा देता है। सत्सङ्गसे नीच-से-नीच दैत्य, राक्षस, मृग, खग, गन्धर्व, अप्सरा, विद्याधर और मनुष्य सब-के-सब तर जाते हैं। सत्सङ्ग तो अन्त्यजके लिए भी वर्जित नहीं। यदि वह सत्सङ्गमें बैठ जाय तो उसको बैठने देना चाहिए, हटाना नहीं चाहिए—

विद्याधरा मनुष्येषु वैश्याः शूद्राः स्त्रियोऽन्त्यजाः।
रजस्तमःप्रकृतयस्तस्मिंस्तस्मिन् युगेऽनघ ॥ ४

अन्त्यजोंने भिन्न-भिन्न युगोंमें सत्सङ्ग किया है और वे परमात्माको प्राप्त हुए हैं। वृत्रासुर, वृषपर्वा, प्रह्लाद, बलि, बाण, मय, विभीषण, सुग्रीव, हनुमान्, जाम्बवान्, गज, गीध, धर्मव्याध, कुब्जा, व्रजगोपी, यज्ञपत्नियाँ आदि सबने सत्सङ्गके प्रभावसे ही मुझे प्राप्त किया। वे कुछ पढ़े-लिखे नहीं थे, बड़े-बड़े ग्रन्थ लेकर कहीं पढ़नेके लिए नहीं गये थे।

ते नाधीतश्रुतिगणा नोपासितमहत्तमाः।
अव्रतातप्ततपसः सत्सङ्गान्मामुपागताः ॥ ७

उन्होंने श्रुतिका अध्ययन नहीं किया था, परन्तु मैं उनको सत्सङ्गसे मिल गया। बात यह है कि सत्सङ्गमें सब शास्त्रोंका सार मिल जाता है। जो बात शास्त्रोंके पढ़नेसे हृदयमें साक्षात् अपरोक्ष निरावृत नहीं होती, उसका निरावरण पाँच मिनटके सत्सङ्गमें हो जाता है।

गाय, खग, नाग, मृग आदिने तो केवल भावसे मुझे प्राप्त कर लिया। जो वस्तु सांख्य,

दान, व्रत, तप, स्वाध्यायसे बहुत यत्न करनेपर भी नहीं मिलती, वह उन्हें मिल गयी। मैं जब अक्रूरके साथ वृन्दावनसे मथुरा चला गया, तब गोपियाँ इतनी व्याकुल हो गयीं कि उन्होंने जो रास-रात्रियाँ क्षणभरके समान व्यतीत की थीं, वे ही मेरे बिना उनको कल्पके समान लगने लगीं। उनका मन मुझमें ऐसा लगा कि वे सब-कुछ भूल गयीं। मुनियोंको हजारो वर्षोंतक योगाभ्यास करके जो स्थिति प्राप्त होती है, वही स्थिति गोपियोंको केवल प्रेमसे प्राप्त हो गयी। वे तो केवल रमणके रूपमें मुझे चाहती थीं और कहती थीं कि हमारा यार हमको चाहिए। 'अस्वरूपविदोऽबलाः' (१३)। 'जारयति धर्मम् इति जारः'—जो धर्मको जीर्ण कर दे, जला दे, उसका नाम यार या जार होता है। ऐसा तो वे समझती थीं कि मैं उनका जार हूँ, मुझसे मिलना धर्मके विरुद्ध है। परन्तु सत्सङ्गकी ऐसी महिमा है कि वे मेरे स्वरूपको, ब्रह्मको प्राप्त हो गयीं।

तस्मात्त्वमुद्धवोत्सृज्य चोदनां प्रतिचोदनाम्।
प्रवृत्तं च निवृत्तं च श्रोतव्यं श्रुतमेव च॥ १४
मामेकमेव शरणमात्मानं सर्वदेहिनाम्।
याहि सर्वात्मभावेन मया स्या ह्यकुतोभयः॥ १५

इसलिए उद्धवजी, तुम विधि-निषेधके चक्करको छोड़ दो—'चोदनां प्रतिचोदनाम्'। प्रवृत्तिमार्ग और निवृत्तिमार्गके झगड़ेमें मत पड़ो। जो पहले सुना हुआ है और जो आगे सुनोगे, उसको भी छोड़ दो। क्योंकि 'श्रुतिविप्रतिपन्नाते यदा स्थास्यति निश्चला' (गीता २.५३)के अनुसार तरह-तरहकी बात सुनते-सुनते तुम्हारी अक्ल भटक गयी है। इसलिए सब-कुछ छोड़कर एक मात्र मेरी शरणमें आजाओ। मैं ही तुम्हारा निवासस्थान हूँ और मैं ही तुम्हारा रक्षक हूँ। मतलब यह कि रक्षाके लिए किसी रक्षकको मत ढूँढो और रहनेके लिए कोई मठ-मन्दिर मत ढूँढो—'मामेकमेव शरणम्'। (१५)

कोषकार अमरसिंहके कथनानुसार 'शरणं गृहरक्षित्रोः' (३.३.५.३)—घर और रक्षक दोनोंको शरण कहते हैं।

तो, जो सर्वाधार है, जिसमें सब रह रहे हैं, उसीमें तुम भी रहो, वह सबकी व्यवस्था करता है, तुम्हारी भी करेगा। दोनों हाथ उठाकर कह दो कि मालिक, तेरी जो मौज हो, वह कर ले। इस तरह अपना सब भार मुझपर छोड़ दो। मैं तो तुम्हारे हृदयमें हूँ, तुम्हारा परम प्रेमास्पद अन्तर्यामी, आत्मा बनकर बैठा हूँ—'आत्मानं सर्वदेहिनाम्'। इसलिए सर्वात्मभावसे मेरे पास आजाओ, मेरी ओरसे निर्भय हो जाओ।

उद्धवजीने कहा कि महाराज, आप तो चले थे मुझे उपदेश करने और कहने लगे यह कि

भ्रम छोड़ो, विधि छोड़ो, प्रवृत्ति-निवृत्ति छोड़ो और श्रुति छोड़ो! इससे तो आप मुझे और भी संशयमें डाल रहे हैं। कृपया आप साफ-साफ बताइये कि मैं क्या करूँ?

इसपर भगवान्‌ने कहा—

स एष जीवो विवरप्रसूतिः प्राणेन घोषेण गुहां प्रविष्टः। १७

देखो, यहाँ जीव शब्दका अर्थ ईश्वर है। 'जीवयति इति जीवः'—जो सबको जीवनदान दे, उसका नाम जीव है। इसी तरह गीतामें एक जगह ईश्वर शब्दका प्रयोग जीवके अर्थमें हुआ है—

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात्॥ गीता १५.८

लेकिन इन शब्दोंको लेकर लड़ाई-झगड़ा नहीं करना चाहिए। शब्दका पाण्डित्य कोई बहुत भारी पाण्डित्य नहीं है। जो परमार्थ वस्तु है, उसे समझना चाहिए।

यहाँ भगवान् कहते हैं कि ईश्वर मायासे, प्रपञ्चके रूपमें भास रहा है। जीव अविद्यासे अपनेको कर्ता-भोक्ता मान रहा है और कर्ता-भोक्ता माननेसे उसे विधि-निषेधका अधिकार हो गया है। उसी अवस्थामें शास्त्र कहते हैं कि चित्तशुद्धिके लिए कर्म करना जरूरी है। परन्तु जब चित्त शुद्ध हो जाय तो कर्मका परित्याग करके भगवान्‌का भजन करना चाहिए।

यह बात बतानेके लिए कि ईश्वरसे प्रपञ्च कैसे प्रकट हुआ है—भगवान् कहते हैं कि जिस ईश्वरको परोक्ष मानते हो, वही ईश्वर हमारे मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूरक आदि चक्रोंमें प्रकट होता है। परन्तु जो नादवान् प्राण है, उसके सहित आधार-चक्रमें प्रविष्ट हुआ है। वहाँसे मनोमय सूक्ष्मरूप (पश्यन्ती और मध्यमा-रूप) धारण करके मणिपूरक-चक्रमें आता है, फिर विशुद्ध-चक्रमें आता है, उसके बाद मुखमें आता है और वही आवाज बनकर प्रकट होता है—

मात्रा स्वरो वर्ण इति स्थविष्ठः। १७

वही मात्रा, स्वर और वर्ण होकर वैखरी वाणी बनता है तथा नाना रूपोंसे वेदमें प्रकट होता है। इस बातको भी समझ लेना कि आग आकाशमें अदृश्य रूपसे व्याप्त रहती है। परन्तु यदि काष्ठमें उसका मन्थन किया जाय तो पहले उसका सूक्ष्म रूप आता है, फिर चिनगारी निकलती है और उसके बाद लपट पैदा हो जाती है। इसी तरहसे ईश्वरकी क्रमिक अभिव्यक्ति होती है। केवल जीवमें ही ईश्वर शब्दके रूपमें प्रकट हुआ हो सो बात नहीं। वह सभी इन्द्रियोंमें प्रकट है। वाणीमें, हाथमें, पादमें, गुदामें, घ्राणमें, रसमें, दृष्टिमें, स्पर्शमें, श्रवणमें, मनमें, बुद्धिमें, अहंकारमें, सारे प्रपञ्चमें परमात्मा ही प्रकट हुआ है।

परमात्मा पहले एक ही था, उसके बाद त्रिगुणके रूपमें और फिर अनेक रूपोंमें प्रकट हुआ। जैसे बीज पहले बीज रहता है, फिर अङ्कुर होता है और उसके बाद अनेक रूपोंमें प्रकट होता है, वैसे ही परमात्मा संसार-वृक्षके रूपमें प्रकट हुआ है। पाप और पुण्य इसके दो बीज हैं। अपरिमित वासनाएँ इसका मूल हैं। तीन गुण इसके अङ्कुर हैं। पञ्चभूत स्कन्ध हैं। शरीर आदि विषय-उत्पत्ति हैं। ग्यारह इन्द्रियाँ इसकी शाखाएँ हैं। उसपर ईश्वर और जीव दो पक्षी बैठे हैं और इसके दो फल हैं—सुख और दुःख। जो इस संसार-वृक्षको मैं-मेरा मानकर गृहस्थ हो गया, उसको तो दुःख मिलता है और जो इसमें मैं-मेरा छोड़कर साधु हो गया, उसको सुख-ही-सुख होता है।

इसी प्रकार एक ही ईश्वर मायाके द्वारा अनेक रूप हो गया है। 'एवं गुरूपासनयैक-भक्त्या विद्याकुठारेण शितेन धीरः' (२४)—इसको जाननेके लिए गुरुकी उपासना करो, अनन्य-भक्तिके द्वारा ज्ञानके कुल्हाड़ेको शान धरा दो और उससे जीवाशयको काटकर परमात्मासे एक हो जाओ। उसके बाद ज्ञानकी तलवारको भी फेंक दो।

देखो, जबतक रोग रहे, तभीतक दवा खानी चाहिए। जब रोग निवृत्त हो जाय तो दवा खानेकी जरूरत नहीं। नदी सामने हो तभी पार जानेके लिए नावकी जरूरत है, पार हो गये तो नावकी जरूरत नहीं। रास्तेमें चलनेके लिए जूतोंकी जरूरत है, ठाकुरवाड़ीमें पहुँच जानेपर जूतोंकी जरूरत नहीं। इसी प्रकार ज्ञानास्त्रका उपयोग अज्ञानकी निवृत्तिके लिए ही है।

श्रीविश्वनाथ चक्रवर्तीजीने एक जगह ज्ञानियोंपर कटाक्ष करते हुए कहा है कि जैसे तुम्हारे ज्ञानास्त्रके परित्यागकी विधि मिलती है, वैसे ही कहीं भजनास्त्रके परित्यागकी विधि भी है क्या? इसका उत्तर है कि नहीं है। ज्ञान न हो तब भी भजन करो और ज्ञान हो गया तब भी भजन करो। भजन हमेशा रहेगा। ज्ञान तो केवल रोग मिटानेके लिए है, रोगकी दवा है।



भगवान् श्रीकृष्ण आगे कहते हैं कि उद्धवजी, सत्त्वादि प्रकृतिके गुण हैं, आत्माके नहीं। इसलिए सत्त्वको बढ़ाकर रज-तमको नष्ट करना चाहिए। जब केवल सत्त्व रह जाय तो उसको शान्ति आदि वृत्तियोंके द्वारा दान आदि वृत्तियोंका भी परित्याग कर देना चाहिए। सत्त्व गुणके बढ़नेपर भक्तिरूप परम धर्मका उदय होता है। सात्त्विक पदार्थोंके सेवनसे सत्त्वगुण बढ़ता है और सत्त्वगुण बढ़नेपर धर्म आता है। इसके सम्बन्धमें दस पदार्थोंका ध्यान रखना चाहिए—शास्त्र, जल, प्रजा, देश, समय, कर्म, जन्म, ध्यान, मन्त्र और संस्कार।

शास्त्र पढ़ना हो तो उपन्यास और कथा-कहानी नहीं पढ़नी चाहिए, क्योंकि वे तत्त्वका वर्णन नहीं करते। विरक्तको कार्य-निरूपक शास्त्रका अध्ययन नहीं करना चाहिए,

कारण-निरूपक शास्त्रका अध्ययन करना चाहिए। क्योंकि कारण-दृष्टि आनेपर ही वैराग्य होगा। कार्य-दृष्टि आजायेगी तो राग-द्वेष हो जायेगा। इसी प्रकार आप जल कैसा पीते हैं—गङ्गाजल पीते हैं या बोतलका पानी पीते हैं—इसका ख्याल करना चाहिए। आप रहते कैसे-कैसे लोगोंमें हैं—आस्तिकोंमें या नास्तिकोंमें—इस बातका ध्यान रखना आवश्यक है। रहनेका स्थान कैसा है? उसमें धर्मके संस्कार हैं या वह कसाईका घर है, यह विचार भी रखना चाहिए। समयका ध्यान रखना आवश्यक है। कर्म-संस्कारके लिए हम क्या करते हैं, इसपर दृष्टि रखनी चाहिए। जन्मका संस्कार गुरु-दीक्षा आदिके द्वारा करना चाहिए। इसी प्रकार ध्यानके द्वारा ज्ञान उत्पन्न करना चाहिए। उत्तम मन्त्रका जप करना चाहिए और अच्छे-अच्छे संस्कार धारण करना चाहिए। इन्हीं दस बातोंसे मनुष्यके जीवनमें गुणोंकी वृद्धि होती है।

तत्तत् सात्त्विकमेवैषां यद् यद् वृद्धाः प्रचक्षते।
निन्दन्ति तामसं तत्तद् राजसं तदुपेक्षितम्॥ ५

किसी भी वंश-परम्परा अथवा सम्प्रदायमें बड़े-बूढ़े लोग जिन गुणोंकी प्रशंसा करते हैं, उनका नाम सात्त्विक है! जिनकी निन्दा करते हैं, उनका नाम तामस और जिनकी उपेक्षा कर देते हैं, उनका नाम राजस होता है। मनुष्यको सात्त्विकका सेवन करना चाहिए। उससे ज्ञान होता है, स्मृति होती है। अन्तमें अपने-आप वृत्तियाँ वृत्तियोंसे लड़कर शान्त हो जाती हैं और आत्मा निष्क्रिय रहता है।

उद्धवजीने पूछा—भगवान्, लोग यह जानते हुए भी कि संसारकी वस्तुओंसे बहुत दुःख होता है—उनमें क्यों फँसते हैं?

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—उद्धवजी, इस देहमें मनुष्यकी जो मैं-बुद्धि हो गयी है, यही उसका सबसे बड़ा अपराध और दुःखका हेतु है—

अहमित्यन्यथाबुद्धिः प्रमत्तस्य यथा हृदि ।९

यह कितने अधिक आश्चर्यकी बात है कि चाहे कोई शैव हो, शाक्त हो, वैष्णव हो गाणपत्य हो, सौर हो अथवा द्वैती, अद्वैती, विशिष्टाद्वैती, द्वैताद्वैती हो—यहाँतक कि अनेकान्तवादी जैन अथवा शून्यवादी, विज्ञानवादी बौद्ध क्यों न हो, सबके मतोंमें देहके प्रति मैं-बुद्धि बिल्कुल वर्जित है। यह विचारसे सिद्ध नहीं होता ! फिर भी लोग उसी देहमें फँसते हैं, रजोगुणी-तमोगुणी कर्म करने लगते हैं और कामनासे व्याप्त हो जाते हैं।

इसलिए यदि मनुष्यके भीतर कभी विवेकका उदय हो जाय और वह अपने मनको रोककर असंग बना ले तो फिर वह तो न कहीं फँसेगा और न उसे दुःख होगा। साधकको आसन-प्राणायाम आदिका अभ्यास करके अपने मनको मेरे रूपमें लगाना चाहिए। मैंने अपने शिष्य सनकादिकोंको योगका यही सार बताया है कि अपने मनको चारों ओरसे खींचकर मुझमें लगा दो—

सर्वतो मन आकृष्य मय्यद्धाऽऽवेश्यते यथा।१४

अब तो उद्धवजीको बड़ा आनन्द मिला भगवान्‌के वचनोंसे। बोले कि आपने सनकादिकोंको उपदेश किया, यह मैं जानना चाहता हूँ।

भगवान् बोले—उद्धवजी, तुम जानते ही हो कि सनकादि ब्रह्माजीके मानस पुत्र हैं। एक दिन वे ब्रह्माजीके पास गये और उन्होंने उनसे योगकी यह बहुत ही सूक्ष्म बात पूछी कि पिताजी, शब्द, स्पर्श आदि विषय मनमें प्रवेश करते हैं और मन विषयोंमें प्रवेश करता है। फिर इस मनको विषयोंसे अलग कैसे करें ?

लेकिन ब्रह्माजीको इस प्रश्नका उत्तर नहीं आया। इसलिए नहीं आया कि वे कर्म-परायण हैं, उनकी बुद्धि कर्म करनेमें लगी हुई है। यदि कोई संन्यासी अपने आश्रमका निर्माण करवा रहा हो और उसकी बुद्धि एक गाड़ी, दो गाड़ी, तीन गाड़ी ईंट गिननेमें लगी हो तो उसका गेरुआ कपड़ा क्या करेगा ? वेदान्तका सूक्ष्म तत्त्व गेरुआ कपड़ेसे थोड़े ही आयेगा ? ब्राह्माजी भी यही तो गिनते हैं कि इस जीवके पूर्वकर्म कैसे हैं ? इसका अन्तःकरण कैसा है ? इसको शरीर कैसा देना चाहिए ? शरीर देना माने ईंट-पत्थर गिनना। इसलिए वे ध्यान करनेपर भी उत्तर नहीं दे सके—'ध्यायमानं प्रश्नबीजं नाभ्यपद्यत कर्मधीः'। (१८)

देखो, बेटोंके पूछे हुए प्रश्नका उत्तर बाप न दे सके तो उसके लिए यह बहुत शर्मकी बात हो जाती है। यहाँ यही हुआ ! इसलिए ब्रह्माजीने मेरा चिन्तन किया—'स मामचिन्तयद् देवः प्रश्नपारतितीर्षया'। (१९) मैं हंसका रूप धारण करके वहाँ गया। वह मेरा हंसावतार था !

सनकादि और ब्रह्माजी मेरे पास आये और पूछने लगे कि तुम कौन हो ? मैंने उनसे कहा कि यदि वस्तु एक ही है, एक ही सोनेसे सब जेवर बने हैं, एक ही मिट्टीसे सब बर्तन बने हैं तो तुम

लोग यह प्रश्न कैसे करते हो कि मैं कौन हूँ ? वस्तु केवल आत्मा है किसी वासना अथवा मानस-भावनाका नाम वस्तु नहीं ! सबके शरीर पञ्चभूतोंसे ही बने हुए हैं। उनमें तुम कौन हो, इस प्रश्नका क्या अर्थ होता है ? निरर्थक है प्रश्न तुम्हारा—'वाचारम्भो ह्यनर्थकः'। (२३) मैंने उनको श्रुतिको याद दिला दी—'वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्' (छान्दोग्य ६.१.४)। देखो, यह मेरी दृष्टिकी बात है कि मेरे सिवाय दूसरा कोई है ही नहीं।

अब तुम लोग अपने प्रश्नकी बात लो ! सचमुच यह मन शब्द, स्पर्श, रूप, रस, आदि विषयाकारताको छोड़कर देखनेमें नहीं आता। विषयाकारतासे मन विषयोंमें चला गया और विषय मनमें आगये ! जन्म जन्मके सस्कारोंको नित्यता बहुत विचित्र है। नित्यताका अपरोक्ष कभी होता नहीं। यदि अनादि ओर अनन्तकाल कभी किसीका दिखायी पड़े, यदि कभी किसीको भूतका आदि और भविष्यका अन्त दीख जाय तो नित्यताका अपरोक्ष हो सकता है। इसीलिए कल्पित नित्यतामें मनुष्यका मन बहुत ज्यादा जाता है। जो अकल्पित है, नित्य है, कूटस्थ है, अविनाशी है, स्वात्मा है; उसकी ओर किसकी दृष्टि जाती है ?

मन और विषय दोनों कहाँ हैं ? ये जीवके देह हैं, जीवके स्वरूप नहीं। 'जीवस्य देह उभयं गुणाश्चेतो मदात्मनः (२५)—चित्त ओर गुण दोनों जीवके शरीर हैं, क्योंकि जीव न गुणात्मक है और न चित्तात्मक है। 'मदात्मनः'—जीव तो मेरा स्वरूप है। यह विषयोंका चिन्तन करते-करते विषय हो गया और गुण विषयोंमें प्रविष्ट हो गये। इनसे छूटनेका उपाय यह नहीं कि विषयसे मनको अलग करें या विषयको मनसे अलग करें। जो विवेकी हैं, साधक हैं, उनकी ही बुद्धिमें यह बात आ सकती है !

'मद्रूप उभयं त्यजेत्' (२६)—आत्मा-जीवात्मा मेरा स्वरूप है। जीवात्माको केवल विषयका ही संसर्ग नहीं छोड़ना, चित्तका भी संसर्ग छोड़ना है। इसलिए चित्त और विषय दोनोंको छोड़कर मटियामेट करके मेरे स्वरूपमें आजाओ ! जीव मन और विषय दोनोंसे विलक्षण हैं। क्योंकि यह साक्षी है—'साक्षित्वेन विनिश्चितः' (२७)। मन ही विषय लाकर आत्माके सामने उपस्थित करता है, इसलिए 'मयि तुर्ये स्थितो जह्यात्' (२८)—मुक्त तुरोयमें स्थित हो जाओ ! फिर गुण और चित्त दोनोंका परित्याग हो जायेगा।

तुम्हारे सामने समस्या यह है कि विषयसे मनको अलग कैसे करें ? इसका समाधान यह है कि मन और विषय दोनोंको डालो मिट्टीमें और तुम मेरे साथ मिल जाओ। मेरी गोदमें आजाओ। जैसे कोई बच्चा,हाथमें खिलौना ले रखा हो, अपने माँ-बापकी गोदमें बैठकर रो रहा हो, माँ-बाप उससे कहते हों कि बेटा, यह खिलौना फेंक दो और हमारी गोदमें बैठे रहो; वैसे ही परमात्मा कहता है कि अरे आत्मा, तू मन और विषयके खिलौनोंको फेंक दे तथा मुझसे एक हो जा ! तुम्हारा स्वरूप तभीतक है, जबतक नानात्वकी निवृत्ति नहीं हो जाती।

असत्त्वादात्मनोऽन्येषां भावानां तत्कृताभिदा।
गतयो हेतवश्चास्य मृषा स्वप्नदृशो यथा॥ ३१

आत्माके सिवाय दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं। इसलिए अनात्म वस्तुओंके कारण जो भेद बनता है, स्वर्ग-नरक-पूर्वजन्मादिकी जो गतियाँ होती हैं और इनके कारण जो कर्मादि होते हैं, वे सब-के-सब स्वप्नकी तरह मृषा हैं।

जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओंमें समन्वित एक आत्मा है तथा सबका साक्षी है। ऐसा विचार कर लो कि सारी अवस्थाएँ मनकी हैं। सन्तोंके वचनोंसे ज्ञानकी तलवार प्राप्त कर लो और उससे अहङ्कारजन्य संशयोंका छेदन करके भगवान्‌का भजन करो—'ज्ञानासिना भजत माखिलसंशयाधिम्' (३३)। अखिल संशयोंके निवासका भजन मत करो। सारे संशयोंका खजाना मन ही है। सब-कुछ मनका ही खेल है और यह बड़ा चञ्चल है। एक विज्ञान ही अनेक रूपोंमें भास रहा है। उधरसे अपनी दृष्टिको हटाओ। यदि कभी-कभी प्रपञ्चकी प्रतीति भी हो रही है तो होने दो। प्रपञ्चकी प्रतीतिसे कुछ बनता-बिगड़ता नहीं।

संदृश्यते क्व च यदीदमवस्तुबुद्ध्या।
त्यक्तं भ्रमाय न भवेत् स्मृतिरानिपातात्॥ ३५

यदि यह अवस्तु-बुद्धिसे दिखाई पड़ता है तो दिखायी पड़ने दो। जब तुमने पहचान लिया है कि यह साँप नहीं, रस्सी है तो इसे साँप दीखने दो। यह पहचान लेनेपर कि आकाशमें नीलिमा रंग नहीं है, भले ही कोटि-कोटि कल्पोंतक नीलिमा दीखती रहे तो इससे क्या हानि है? इसी प्रकार जब पहचान लिया गया कि परमात्मामें नानात्व नहीं, प्रपञ्च नहीं, तब नानात्व, प्रपञ्च दीखता रहे तो इससे क्या बनता-बिगड़ता है? परन्तु स्मृति बनी रहती है। जैसे शराबीके कन्धेपर कपड़ा है या नहीं है, इसका उसको भान नहीं रहता, वैसे ही साक्षात्कार हो जानेके बाद सिद्ध पुरुषकी दृष्टि शरीरपर नहीं जाती। शरीर प्रारब्धके अनुसार रहता है और उसमें प्राण चलते हैं, परन्तु जीवन्मुक्त महापुरुष इस स्वाप्न शरीरको कभी मैं-मेरा नहीं कहता।

सनकादि ऋषियो, मैंने जो-कुछ कहा; वह सांख्य-योगका सार है। असलमें सांख्ययोगका सार मैं ही हूँ और तुम्हें तत्त्वज्ञानका उपदेश करने आया हूँ—

अहं योगस्य सांख्यस्य सत्यस्यर्तस्य तेजसः।
परायणं द्विजश्रेष्ठाः श्रियः कीर्तेर्दमस्य च॥ ३९

सारे गुण मुझ निर्गुणका ही भजन करते हैं। मैं सबका प्रिय सुहृद् हूँ।

उद्धवजी, इस तरह मैंने सनकादिकोंका सन्देह मिटा दिया। उन्होंने परम भक्तिसे मेरी पूजा और स्तुति की। फिर मैं उनके सामने ही अपने धाममें चला गया।



अब अद्धवजीने पूछा कि महाराज, महात्मा लोग कहते हैं कि मनुष्यके श्रेय बहुत-से हैं। वे सभी समानरूपसे श्रेष्ठ हैं या उनमें-से किसीकी प्रधानता है ? आपने बताया कि भक्तियोग-सरीखा और कोई योग नहीं। भक्तिको न ज्ञानकी जरूरत है, न कर्मकी जरूरत है और न योगकी जरूरत है। 'अनपेक्षितः' (२)—ज्ञान, कर्म और योगके बिना ही भक्ति कल्याण करती है। क्योंकिइससे सारी आसक्तियाँ टूट जाती हैं और अपने-आपमें मन लग जाता है।

भगवान् श्रीकृष्ण बोले कि उद्धवजी, पहले वेद-वाणीका लोप हो गया था। मैंने ब्रह्माको उसका उपदेश किया। उन्हींसे पढ़कर देवता, दानव, किन्नर आदि सब लोगोंने उसको धारण किया और उन्हींमें-से तरह-तरहकी वाणियाँ निकालीं।

बात यह है कि सबकी प्रकृति अलग-अलग है–'प्रकृतिवैचित्र्याद् भिद्यन्ते मतयो नृणाम्' (८)। सबकी इन्द्रियाँ अलग-अलग हैं, सबके अन्तःकरण अलग-अलग हैं और उनकी कर्मवासना अलग-अलग है। इसलिए सब अपनी-अपनी रुचिके अनुसार बोलने लगते हैं। कोई कहता है कि एकमात्र धर्म ही परमश्रेय है।

देखो, पूर्वमीमांसकोंने फटकारते हुए कहा कि जो कर्मके अनधिकारी हैं, उनके लिए ही शास्त्रमें संन्यासका विधान है, अन्यथा संन्यासी कोई नहीं। आओ, कर्म करो, यज्ञ करो, होम करो, केवल धर्म ही पुरुषार्थ है। इस प्रकार बच्चे-कच्चेवाले लोग संन्यास और अद्वैत-वेदान्तकी बहुत निन्दा करते हैं।

काव्यालङ्कारवाले कहते हैं कि यश ही सब-कुछ है। वात्स्यायनने कहा कि काम ही सच्चा पुरुषार्थ है। उनका कामशास्त्र बड़ा भारी शास्त्र है। उसमें लिखा है कि जो किस्मतके मारे हैं, वे ही घरसे निकल जाते हैं। उनके भाग्यमें न स्त्रीका सुख है, न बच्चोंका सुख है, न धनका सुख है। उनको उनका प्रारब्ध मार-मारकर संन्यासी बना देता है। यह बात संन्यासी लोगोंको तो क्या अच्छी लगेगी, लेकिन जो गृहस्थ हमेशा गृहस्थ ही रहना चाहते हैं, उनके लिए बहुत मजेकी बात है यह !

योगी कहते हैं कि शम-दमादि ही सब कुछ है। दण्ड-नीतिवाले कहते हैं कि ऐश्वर्य और पद बना रहे तो हम सारी सृष्टिपर शासन करेंगे। कोई त्यागको श्रेष्ठ बोलते हैं। कोई-कोई भोजनको ही परमपुरुषार्थ मानते हैं। कोई यज्ञ-दान आदिको सर्वश्रेष्ठ मानते हैं। परन्तु ये सब नष्ट होनेवाले हैं, तुच्छ हैं। अन्तमें इन सबका फल दुःख मिलता है।

मय्यर्पितात्मनः सभ्य निरपेक्षस्य सर्वतः। १२

असलमें सुख तो भक्तिमें है। जिसे दुनियाँकी कोई चीज नहीं चाहिए, जिसने अपने मनको

मुझमें अर्पित कर दिया है, जो मेरे साथ मिलकर बैठा है, उसको मिलनेवाला सुख विषयी पुरुषोंको कहाँसे मिलेगा ? वे तो हमको यह मिले, वह मिले—इसी चक्करमें इधर-उधर भटक रहे हैं।

आप बड़े-बड़े नगरोंमें किसी सड़कके किनारे खड़े हो जाइये तो एक-एक मिनटमें सौ-दो-सौ मोटरें भागती दिखायी देंगी। उनमें बैठे लोग कहाँ दौड़े जाते हैं ? एक बार मुझे बम्बईमें यह ख्याल हुआ कि कहीं आग लगी होगी, बुझाने जाते होंगे। फिर ख्याल आया कि यह शकल क्या आग बुझानेवाली है ? नहीं, नहीं, कहीं बाहर आग नहीं लगी, इनके कलेजेमें आग लगी है। उसीको बुझानेके लिए ये दौड़े जा रहे हैं।

भगवान् कहते हैं कि उद्धवजी, जिनका मन सन्तुष्ट होता है वे तो जहाँ जायँ, वहीं आनन्द है। भक्तको तो सार्वभौम, रसाधिपत्य, योगसिद्धि अथवा अपुनर्भव कुछ भी नहीं चाहिए। इसीलिए ब्रह्माजी, शंकरजी, संकर्षणजी, लक्ष्मीजी और यहाँतक कि मेरा अपना शरीर भी मुझे उतना प्यारा नहीं, जितने प्यारे तुम हो !

भगवान्का अर्थ है तुम, तुम्हारे जैसा भक्त। लेकिन ऐसे भक्त मुझे पसन्द नहीं हैं, जो तख्तीपर लिखकर लटका देते हैं कि मैं भक्तराज हूँ। मुझे तो भक्तोंमें ये लक्षण चाहिए—

निरपेक्षं मुनिं शान्तं निर्वैरं समदर्शनम्। १६

जिनको किसीकी अपेक्षा नहीं, जिनकी दृष्टि-शक्तिका कभी लोप नहीं होता, उनका नाम निरपेक्ष है। 'ईक्षा' माने दृष्टि और 'अपेक्षः' माने 'अपगता ईक्षा यस्य'। जिसकी दृष्टि चली गयी, वह अपेक्ष हो गया। दुनियामें जितने भी अपेक्ष हैं, अन्धे हैं, उनसे जो बिल्कुल निष्क्रान्त है, वह निरपेक्ष है।

भगवान् कहते हैं कि जो निरपेक्ष है, मुनि है, शान्त है, निर्वैर है, समदर्शी है, मैं उसके पीछे-पीछे चलता हूँ। क्योंकि मेरी ऐसी मान्यता है कि ऐसे भक्तके चरणोंकी धूल मुझपर पड़ जायेगी तो मैं पवित्र हो जाऊँगा।

एक टीकाकार, जो बहुत प्रसिद्ध हैं, जब इसपर टीका लिख रहे थे, तब उनके ध्यानमें आया कि भगवान् तो स्वयं परम पावन हैं। फिर वे क्यों कहते हैं कि मैं पवित्र हो जाऊँगा। क्या भगवान्में कोई अपवित्रता है ? फिर उन्होंने स्वयं ही पासा पलटकर कह दिया—भगवान् इसलिए पीछे-पीछे चलते हैं कि उनकी चरण-धूलिसे भक्त पवित्र हो जायेगा। लेकिन वे जब पीछे-पीछे चलेंगे तो आगे चलनेवाले भक्तपर उनके पाँवकी धूल कैसे पड़ेगी ? असलमें भगवान् अपनी दृष्टिसे अपनेमें एक असङ्गति अनुभव करते हैं कि भक्त तो अपना सर्वस्व, अपना अहं और अपना मम सब-कुछ मेरे प्रति अर्पित कर देता है। इसपर मुझे 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' (४.११)के अनुसार करना चाहिए। परन्तु मैं ऐसा नहीं कर पाता कि एक भक्तको अपना सर्व-अहं और सर्व-मम अर्पित कर दूँ। मुझसे जैसा सच्चा प्रेम भक्त करता है और सर्वात्मना यह समझता है कि

मेरे सिवाय उसका कोई नहीं, वैसा ही सच्चा प्रेम यदि मैं अपने एक भक्तके प्रति करूँ कि मेरा तेरे सिवाय और कोई नहीं, तब तो मैं एकका ही होकर रह जाऊँगा। फिर दूसरे भक्तोंका कैसे होऊँगा ? इसी कारण भगवान्‌को अपनेमें यह कमी अनुभव होती है कि भक्त लोग तो मुझे सच्चे दिलसे मैं-मेरा अर्पित करते हैं, परन्तु मैं उनके प्रति थोड़ी-सी माया रखता हूँ और जो भक्त सामने आता है, उसीसे कहता हूँ कि 'मैं तेरा ही हो गया।' यह जो मेरे अन्दर कपट है, इससे छूटनेके लिए हो मैं भक्तोंके पीछे-पीछे चलता हूँ उनके चरणोंकी धूल सिरसे लगाता हूँ और कहता हूँ कि तू बड़ा है, मैं छोटा हूँ। तू सच्चा है और मैं कच्चा हूँ।

भगवान् कहते हैं—जो मेरे निष्किञ्चन भक्त हैं, सबपर पेम करनेवाले हैं, उनको जिस निरपेक्ष सुखकी प्राप्ति होती है, वह संसारी लोगोंको नहीं प्राप्त होती। यदि ऐसे भक्तके सामने कभी विषय आयेगा तो उन विषयोंको मेरी भक्ति दबा देती है। जैसे आग लकड़ीको जला देती है, वैसे ही यदि मेरे भक्तसे कभी गलती भी हो जाय तो उस गलतीका निवारण मेरी भक्ति कर देती है।

तथा मद्विषया भक्तिरुद्धवैनांसि कृत्स्नशः। १९

उद्धव, मैं योग, सांख्य, धर्म, स्वाध्याय, तप और त्यागसे वशमें नहीं होता, मेरी भक्ति ही मुझे वशमें करती है। केवल एक भक्तिसे ही मैं वशमें होता हूँ। मेरी भक्ति उन लोगोंको भी पवित्र कर देती है, जो जन्मसे श्वपाक हैं, चाण्डाल हैं—

भक्तिः पुनाति मन्निष्ठा श्वपाकानपि सम्भवात्। २१

एक दिन वृन्दावनमें श्रीशङ्कराचार्य महाराजने अपने भाषणमें कहा कि कोई जातिसे, विद्यासे, बुद्धिसे, ऐश्वर्यसे, धनसे श्रेष्ठ नहीं होता। श्रेष्ठ वही है, जिसके हृदयमें भगवान्‌की भक्ति होती है। यही भगवान् कहते हैं—यही भागवत-धर्म है।

उद्धवजी, यदि किसीमें सत्य-दयासे युक्त धर्म हो और तपस्यासे युक्त विद्या हो, परन्तु भगवान्‌की भक्ति न हो तो वह धर्म और विद्या उसको पवित्र नहीं कर सकती। जिसके हृदयमें भक्ति नहीं, शरीरमें रोमाञ्च नहीं, चित्तमें द्रवता नहीं और जिसकी आँखोंमें आँसू नहीं, उसका अन्तःकरण कैसे शुद्ध होगा ?

वाग् गद्‌गदा द्रवते यस्य चित्तं रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च।
विलज्ज उद्‌गायति नृत्यते च मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति॥ २४

जिसकी वाणी प्रेमसे गद्‌गद हो रही है, जो बार-बार रोये, हँसे, गान करे और नाचे—वह क्या करता है ? सारे संसारको पवित्र कर देता है।

यहाँ मैं आपको यह सुनाना चाहता हूँ कि 'योगेन धर्मेण आत्मानं पुनाति'—योगसे, धर्मसे मनुष्य अपनेको पवित्र करता है। 'ज्ञानेन अविद्यानिवृत्तिद्वारात्मानं पुनाति'—ज्ञानसे अविद्या-

निवृत्ति द्वारा भी अपने-आपको पवित्र करता है। ठीक है। परन्तु 'भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति'— भक्तियुक्त मनुष्य चौदह भुवनोंको, सारे लोकोंको पवित्र कर देता है। भक्ति तो विसर्पणी है, चारों ओर फैल जाती है।

उद्धवजी, जिस प्रकार आगसे धातु अपनी मैल छोड़ देती है, उसी प्रकार भक्तियोगसे आत्मा कर्म छोड़ देता है। जैसे-जैसे मेरे नामोच्चारण, कथाश्रवण आदिसे अन्तःकरणकी शुद्धि होती है, वैसे-वैसे सूक्ष्म वस्तुका दर्शन होता जाता है। जैसे अञ्जन लगानेसे आँखोंमें देखनेकी शक्ति बढ़ जाती है, वैसे ही अन्तःकरण शुद्ध होनेपर सूक्ष्म वस्तुओंको देखनेकी सामर्थ्य बढ़ जाती है। जो विषयका चिन्तन करेगा, उसे विषयमें आसक्ति होगी और जो भगवान्‌का स्मरण करेगा; उसे भगवान्‌में आसक्ति होगी। इसलिए संसारके जो बुरे-बुरे, किन्तु मनोरम विषय हैं, इनका परित्याग करके मुझमें मन लगाओ। जो संसारके भोग-रागमें लगे हुए हैं, उनका सङ्ग छोड़कर एकान्तमें बैठ जाना चाहिए और मेरा ध्यान करना चाहिए। संसारमें क्लेश, बन्धन और उनके हेतु बहुत हैं, परन्तु पति-पत्नीका, स्त्री-पुरुषका जो यौन आकर्षण है, इससे बढ़कर और कोई फन्दा नहीं है।

अब जब उद्धवजीने यह पूछा कि महाराज, आपका ध्यान कैसे करें तो भगवान्‌ने ध्यान करनेकी विधि बताते हुए कहा कि ध्यानके लिए धरती सम होनी चाहिए, आसन सम चाहिए और बैठनेका ढङ्ग भी सम होना चाहिए। पीठकी रीढ़ सीधी करके ही ध्यानमें बैठना चाहिए। हाथको अपनी गोदमें रख लेना चाहिए। इसका अर्थ है कि हाथमें भी शान्ति रहनी चाहिए। दृष्टिको नासिकाके अग्रभागपर स्थिर करना चाहिए। आँख चञ्चल हो और इधर-उधर जा रही हो तो मनमें एकाग्रता नहीं आ सकती। पुरुष तो आँखमें ही बैठकर इधर-उधर घूमता है। इसलिए दृष्टि स्थिर होना अनिवार्य है। इसके बाद पूरक-कुम्भक-रेचक प्राणायाम करके ॐकारका घण्टानाद-तुल्य उच्चारण करके अपने मनको ऊपर ले जाना चाहिए—

हृद्यविच्छिन्नमोङ्कारं घण्टानादं बिसोर्णवत्।
प्राणेनोदीर्य तत्राथ पुनः संवेशयेत् स्वरम्॥ ३४
एवं प्रणवसंयुक्तं प्राणमेव समभ्यसेत्।
दशकृत्वस्त्रिषवणं मासादर्वाग् जितानिलः॥ ३५

दस-दस बार लम्बा प्राण करके, दीर्घ स्वरमें तीन बार ॐकारका उच्चारण करनेपर साधक जितानिल हो जाता है। हृदयके कमलको ऊर्ध्वमुख करना चाहिए। वह मुरझाया हुआ है, उसको जाग्रत् कर देना चाहिए। उसमें आठ दल हैं, कर्णिकाके साथ ध्यान करना चाहिए। उस कर्णिकामें सूर्य, सोम और अग्निका विन्यास करना चाहिए, अग्निके अन्दर भगवान्‌का ध्यान करना चाहिए।

देखो, यह तो भगवान्की बतायी ध्यान-विधिकी बात है। अब कुछ भक्तों और फकीरोंकी बात भी सुनो। जब किसीने यह कहा कि हृदयमें पहले सूर्यका ध्यान करो, फिर चन्द्रमाका ध्यान करो और फिर अग्निका ध्यान करो—क्योंकि अग्नि ईश्वरका रूप है, तब वृन्दावनके भक्तोंने कहा कि हमने हाथ जोड़ा ऐसे ध्यानको, हमारे श्यामसुन्दर अग्निमें !

अयोध्याके भक्तोंने कहा कि कोई कर्मकाण्डी हो तो अग्निके बीचमें भगवान्का ध्यान करे। हम तो अपने भगवान्को आगके पास नहीं जाने देंगे !

लेकिन फकीरने कहा कि हमें तो भीतरकी आँखसे भगवान्के रूप-सौन्दर्यका ध्यान करना है। यहाँ सूर्यका अर्थ सूर्याधिष्ठातृक नेत्र हैं। सूर्य हैं अधिदेवता और नेत्र इन्द्रिय है। इसलिए हमें मानस-नेत्रसे भगवान्के रूप-सौन्दर्यको देखना है। इसी तरह मनके अधिष्ठातृ देवता हैं चन्द्रमा। अतः मनसे भगवान्को प्यारा-प्यारा देखना ही चन्द्रमा है। अग्नि वागधिष्ठात्री देवता है—वागधिदेवता है। इसलिए जो अपना इष्ट मन्त्र है, उसके मध्यमें परमात्माका दर्शन करना है। अग्निमें इष्टके ध्यानका अर्थ आग नहीं, अपने मन्त्रमें, मन्त्र-मूर्तिके रूपमें भगवान्का ध्यान करना है।

कर्णिकायां न्यसेत् सूर्यसोमाग्नीनुत्तरोत्तरम्।
वह्निमध्ये स्मरेद् रूपं ममैतद् ध्यानमङ्गलम्॥ ३६

अब दूसरी बात सुनिये। मैं यथाश्रुत अर्थ आपको सुना देता हूँ। अग्निमें भगवान्का ध्यान इसलिए करना चाहिए कि भगवान्का रूप अलौकिक है, अप्राकृत है, वह अग्निमें रहकर भी अग्निसे जलता नहीं। जब आप इस दृष्टिसे देखेंगे तो उसमें आन्तर-महत्त्व-बुद्धिका उदय होगा कि ये तो आगमें भी नहीं जल रहे हैं, सचमुच दिव्य हैं। दिव्य-बुद्धि होनेसे आपकी चित्तवृत्ति भगवान्में लग जायेगी। यह यथाश्रुत अर्थ माहात्म्य-बोधक है, ऐश्वर्य-बोधक है। जहाँ प्यारकी दृष्टि है, दुलारकी दृष्टि है, वहाँ भीतर बोलो 'कनुआ, कनुआ' और बाहर श्रीकृष्णका ध्यान हो जाय।

समं प्रशान्तं सुमुखं दीर्घचारुचतुर्भुजम्।
सुचारुसुन्दरग्रीवं सुकपोलं शुचिस्मितम्॥ ३८

यह भगवान्के रूपका वर्णन है। एक बात ध्यानमें रखना कि भगवान्के दोनों कान बराबर दीखें, दोनों आँखें बराबर दीखें और दोनों नथुने बराबर दीखें। इस प्रकार जब आप भगवान्का ध्यान करेंगे तो मजा आजायेगा। अन्यथा आँख-कान दोनों दो तरहके हो जायेंगे, क्योंकि मन दोनोंमें बारी-बारी जाता है, दोनों आँखों या कानोंका ध्यान एक साथ नहीं होता। मन दो बारमें उनका ध्यान करता है। जब आप ऐसा प्रयत्न करेंगे तो आपका मन बिल्कुल एक-सरीखा देखने लगेगा।

समानकर्णविन्यस्तस्फुरन्मकरकुण्डलम् ।
हेमाम्बरं घनश्यामं श्रीवत्सश्रीनिकेतनम् ॥ ३९
शङ्खचक्रगदापद्मवनमालाविभूषितम् ।
नूपुरैर्विलसत्पादं कौस्तुभप्रभया युतम् ॥ ४०

इस तरह भगवान्‌का ध्यान करके आप यह देखें कि वे सर्वाङ्गसुन्दर हैं—हृद्य हैं। 'प्रसाद-सुमुखेक्षणम्' (४१)—उनकी ऐसी आँख बन रही है, ऐसा मुँह हो रहा है कि जैसे कुछ देना चाहते हैं। चुपके-से बुलाते हैं, इशारा करते हैं कि ओ मेरे प्यारे भक्त, जरा इधर आ। मैं अपना दिल तुमको देता हूँ! इसको लिये जा। जब भक्तने पूछा कि महाराज, आप बिना दिलके कैसे रहेंगे तो भगवान्‌ने कहा कि मैं तेरे पास रहेगा। मुझको सन्तोष रहेगा कि यह सुरक्षित है। मेरे पास मेरा दिल रहूँगा तो इसे और कोई भक्त छीन ले जायेगा। इसलिए तू मेरा दिल अपने पास ही रख।

भगवान् कहते हैं कि मनुष्य 'सुकुमारमभिध्यायेत'—मेरे सर्वाङ्गमें ध्यान लगाये। मन द्वारा इन्द्रियोंको विषयोंमें-से खींचकर और बुद्धिसे मनको खींचकर मुझमें मन लगाये। जब सारे शरीरमें मन लग जाय तो खींचकर एक अङ्गमें लगा दे और दूसरे अङ्गका ध्यान न करे। 'सुस्मितं भावयेन्मुखम्' (४३)—मेरे मुस्कुराते हुए मुखारविन्दका ध्यान करे।

देखो, भागवतमें जहाँ-जहाँ ध्यानका प्रसंग आता है, इसी प्रकारका आता है। ऐसा लगता है कि आखिरमें तो निर्गुण, निराकार, निर्विकार, निर्धर्मक, निर्विशेष, प्रत्यक् चैतन्या-भिन्न, अद्वय तत्त्वसे एक होना ही है। यह सगुण रूपका ध्यान तो रास्तेमें आया था।

तत्र लब्धपदं चित्तमाकृष्य व्योम्नि धारयेत्।
तच्च त्यक्त्वा मदारोहो न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥ ४४

भगवान् कहते हैं कि हृदयाकाशमें, चित्तको खींचकर फिर उसे परमात्मालम्बन कर दे। 'मदारोहो न किञ्चिदपि चिन्तयेत्'—दूसरा कुछ भी चिन्तन न करे। एक प्रकारसे समाहित मति हो जाय। 'मामेवात्मानमात्मनि' (४५)—अपने आपको मेरा स्वरूप देखे। 'सर्वात्मन् ज्योति-र्ज्योतिषि संयुतम्' (४५)—जैसे ज्योतिमें ज्योति मिल जाती है, लौ-में-लौ मिल जाती है—इसी तरह आत्माको परमात्मामें मिला दे। ऐसा ध्यान करनेसे आखिरमें फल क्या निकलता है?

संयास्यत्याशु निर्वाणं द्रव्यज्ञानक्रियाभ्रमः। ४६

देखो, द्रव्य अलग है और ज्ञान अलग है। ऐसे समझो कि यह हाथकी घड़ी एक द्रव्य है और इसका ज्ञान हृदयमें है। इसको हम हाथसे उठा रहे हैं। अब घड़ी अलग, ज्ञान अलग, हाथ अलग—यह मालूम पड़ रहा है। जब साक्षात्कार हो जायेगा तो यह भ्रम बिल्कुल मिट जायेगा।



: १५ :

अब भगवान् श्रीकृष्णने बताया कि उद्धवजी, जब मनुष्य अपने इन्द्रिय, प्राण और मनको वशमें करके साधना करने लगता है तब उसके सामने सिद्धियाँ आती हैं।

इसपर उद्धवजीने पूछा कि भगवन्, किस धारणासे कौन-सी सिद्धि आती है? आप ही सिद्धियोंके दाता हैं। इसलिए कृपया उनका दर्शन कराइये।

भगवान् कहते हैं—सिद्धियाँ अट्ठारह हैं। उनमें आठ तो प्रधान हैं और दस गौण हैं। अणिमा, महिमा, लघिमा—ये तीन देहकी सिद्धियाँ हैं। अणिमा माने छोटा बन जाना, महिमा माने बड़ा बन जाना और लघिमा माने हलका बन जाना। इन तीनों सहित प्राप्ति, प्राकाश्य, ईशिता, वशिता, प्राकाम्य—ये आठ सिद्धियाँ स्वाभाविक हैं। देहमें ऐसी सिद्धि होती है कि भूख-प्यास न लगे। भूख-प्यासके बिना भी आदमी रह सके। दूरका देख ले, दूरका सुन ले, मनके वेगसे चल ले। उसे कामित रूपकी प्राप्ति हो, उसका परकायमें प्रवेश हो, स्वेच्छासे उसकी मृत्यु हो, देवताओंका दर्शन हो और संकल्पके अनुरूप प्राप्ति हो। वह अलंघिताज्ञा हो। जो लोग न साधन करते हैं और न विश्वास करते हैं, उनको सिद्धियाँ क्यों दिखाई देंगी? लेकिन विश्वास-पूर्वक साधन करनेवाले इन सिद्धियोंको प्रत्यक्ष देखते हैं। भूत-भविष्यका ज्ञान हो जाना, द्वन्द्व रहित हो जाना, दूसरेके मनकी बातको समझ जाना, अग्नि, सूर्य आदिको स्तब्ध कर लेना, अपराजित होना—ये सब सिद्धियाँ साधकोंको प्राप्त होती हैं।

देखिये मैंने स्वयं महापुरुषोंके जीवनमें ऐसी सिद्धियाँ देखी हैं। केवल देखी ही नहीं, इनसे लाभ भी उठाया है। परन्तु मनुष्यको इन सिद्धियोंके चक्करमें नहीं पड़ना चाहिए। क्योंकि 'ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः' (योगसूत्र ३.३७)—ये सिद्धियाँ समाधिमें, भगवत्प्राप्तिमें विघ्न हैं। 'स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्मयाकरणं पुनरनिष्टप्रसङ्गात्' (योगसूत्र ३.५१)। यदि कोई देवता भी आकर कहे कि आओ, तुम्हें मैं यह भोग देता हूँ तो न उसकी बात माननी चाहिए और न अभिमान करना चाहिए कि मैं अब सिद्ध हो गया।

भूतसूक्ष्मकी उपाधिसे परमात्माका चिन्तन करनेपर जब मन भूतसूक्ष्माकार हो जाता है तब अणिमाकी प्राप्ति होती है। यह बिल्कुल मनोवैज्ञानिक है। इसको कोई करके देख ले। ज्ञानशक्ति-रूप महत्तत्त्वकी उपाधिसे परमात्माका चिन्तन करनेपर मनको महिमाकी प्राप्ति हो जाती है। इसी प्रकार किस साधनसे लघिमा मिलती है और किस साधनसे इन्द्रियाधिष्ठातृत्व मिलता है, यह सर्व-साधारणके कामकी वस्तु नहीं। जिसको सिद्धि प्राप्त करनेके लिए ध्यान करना हो, उसको वह ध्यान करना चाहिए।

असलमें मनुष्यका जैसा मन हो जाता है, उसको वैसी ही सिद्धि और वैसी ही गति मिल जाती है! यहाँ जो बात बतायी गयी है, उसका तात्पर्य केवल इतना ही है कि भगवान्में ही सब-कुछ है।

इसीलिए भगवान् कहते हैं कि जितनी भी सिद्धियाँ जन्म, ओषधि, तपस्या, मन्त्र आदिसे प्राप्त होती हैं, वे सब मेरी भक्तिसे मिल जाती हैं। मेरी धारणा करनेसे मेरी ऐसी कोई सिद्धि नहीं, जो नहीं मिल सकती—

मद्धारणां धारयतः का सा सिद्धिः सुदुर्लभा। ३२

मैं ही सम्पूर्ण सिद्धियोंका हेतु और पति हूँ तथा सब साधनोंका स्वामी हूँ।

सर्वासामपि सिद्धीनां हेतुः पतिरहं प्रभुः। ३५

सबके अन्दर अन्तरात्मा रूपसे मैं ही बैठा हुआ हूँ—

अहमात्माऽऽन्तरो बाह्योऽनावृतः सर्वदेहिनाम्। ३६

इसलिए मनुष्यको सिद्धियोंके चक्करमें न पड़कर भगवान्का भजन करना चाहिए। इन सिद्धियोंके वर्णनका तात्पर्य सिद्धियोंके प्रति आकर्षण पैदा करना नहीं, भगवान्के भजनमें प्रवृत्त करना है।



उद्धवजीने कहा—भगवन्, आप स्वयं परमात्मा हैं। विद्वान् लोग भिन्न-भिन्न रूपमें आपकी उपासना करते हैं। कृपया मुझे बताइये कि किन-किन भावोंमें आपकी उपासना करनी चाहिए?

भगवान् श्रीकृष्णने बताया कि उद्धवजी, कुरुक्षेत्रके युद्धमें अर्जुनने मुझसे यही प्रश्न किया था कि मेरी क्या-क्या विभूतियाँ हैं और उनमें कैसे मेरी आराधना करनी चाहिए? तुम जानते ही हो कि अर्जुनको यह प्राकृत मति हो गयी थी कि मैं हन्ता हूँ और यह हत है।

देखो उद्धवजी, संसारमें जितने भी प्राणी हैं, उन सबका आत्मा, ईश्वर मैं हूँ। सर्वभूत मैं हूँ। सबका पालनादि-हेतु मैं हूँ। गतिमान्की गति मैं हूँ। वशीकरण करनेवालोंका काल मैं हूँ। गुणियोंमें प्रथम कार्य अहं मैं हूँ। महानोंमें महत्तत्त्व मैं हूँ। सूक्ष्मोंमें जीव मैं हूँ। दुर्जयोंमें मन मैं हूँ। वेदोंमें वेदोंका प्रथम अध्यापक हिरण्यगर्भ मैं हूँ। मन्त्रोंमें प्रणव मैं हूँ। अक्षरोंमें अकार मैं हूँ। छन्दोंमें गायत्री मैं हूँ। देवताओंमें इन्द्र मैं हूँ। तीर्थोंमें गङ्गा मैं हूँ। वर्णोंमें ब्राह्मण, आश्रमोंमें संन्यासी, सरोवरोंमें समुद्र मैं हूँ। पृथिवीमें गन्ध मैं हूँ। जलमें रस मैं हूँ। अग्निमें तेज मैं हूँ।

इस प्रकार अपनी विभूतियोंका वर्णन करते हुए भगवान्ने कहा कि जहाँ-जहाँ तेज, श्री, कीर्ति, ऐश्वर्य, त्याग, आह्लादकत्व, भाग्य, वीर्य, क्षमा, विज्ञान है, ये सब मेरी विभूतियाँ हैं। इन सब विभूतियोंकी कभी गणना नहीं हो सकती। ये सब मनोविकार हैं। केवल वाणीसे इनका वर्णन किया जाता है—'मनोविकारा एवैते यथा वाचाभिधीयते। (४१)

'शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः' (योगसूत्र १.९)—ये सब-के-सब विकल्प हैं। इसलिए भगवान् कहते हैं कि उद्धवजी, अपने मनको विकल्पमें मत ले जाओ! 'वाचं यच्छ मनो यच्छ प्राणान् यच्छेन्द्रियाणि च' (४२)—बोलना बन्द करो, मन बन्द करो और प्राणेन्द्रियोंको बन्द करो। देखो व्यवहारमें ठीक होनेपर भी जब अपने-आपको मुझमें ले जाना है तब मनको विकल्पमें नहीं, अविकल्पमें ले जाकर लगाना चाहिए। फिर संसारकी प्राप्ति नहीं होती। जो अपने मनको वशमें न करके इन विकल्पोंमें फँस जाता है, उसका तप, व्रत, दान बह जाता है। इसलिए मन, प्राण आदिको वशमें करके मेरी भक्ति करनी चाहिए।

असलमें 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' अर्थात् ज्ञानसे ही मुक्ति होती है—इस बातको हमारे जितने भी वैदिक आचार्य हैं, वे सब मानते हैं। परन्तु जिन्होंने तत्त्वको विशिष्ट माना है, उनके लिए विशिष्ट ज्ञानसे भी मुक्ति होती है। भक्ति विशिष्ट ज्ञान है। भक्ति-विशिष्ट ज्ञानसे ही उनकी मुक्ति होती है। लेकिन जो तत्त्वको निर्विशेष मानते हैं, उनको अविशिष्ट ज्ञानसे मुक्ति होती है। यह तो बिल्कुल लकीर खींची हुई बात है, गुर है। इसका गणित अगर समझमें आगया तो ज्यादा पढ़ने, लिखनेकी जरूरत नहीं पड़ती।



अब उद्धवजीने कहा कि कमलनयन श्रीकृष्ण, आपने कल्पके आदिमें भक्तिके साधनके रूपमें धर्मका वर्णन किया था। उस धर्मका अनुष्ठान किस प्रकार किया जाय ? कैसे आपकी भक्ति हो ? धर्म तो भक्तिके लिए है। भक्ति ही परमधर्म है। हमने धर्मका अनुष्ठान किया और भक्ति न की तो सब व्यर्थ है। चन्दन-भस्म बहुत लगाया, होम बहुत किया, दान-व्रत बहुत किया, लेकिन हम किस मालिककी ओरसे कर रहे हैं, किसके प्रयोज्य कर्ता हैं, यह हमको मालूम नहीं पड़ा तो सब बेकार चला जायेगा। आपने पहले हंस रूपसे ब्रह्माको धर्म बताया था। अब वह लोगोंको मालूम नहीं और आपके सिवाय दूसरा कोई उसका वक्ता नहीं है। इसलिए आप उसका वर्णन कीजिये।

यह सुनकर भगवान् श्रीकृष्णने कहा कि तुमने बहुत बढ़िया प्रश्न किया है उद्धवजो, सावधान होकर उत्तर सुनो। मनुष्य वर्ण और आश्रमके द्वारा अपनेको एक विभागमें रखकर ही धर्म करता है। पहले संस्कृत होकर अधिकारी बनता है और धर्मका अनुष्ठान करता है। अन्यथा कभी कुछ और कभी कुछ करनेपर सब बिखर जायेगा। सत्ययुगके प्रारम्भमें एक ही वर्ण था। उस समय लोग जन्मसे ही कृतकृत्य होते थे। वेद प्रणव था। वृषरूप धर्म था। सारी प्रजा तपोनिष्ठ थी। उसके बाद आया त्रेता। तब त्रयीका प्रादुर्भाव हुआ। विष्णु यज्ञरूप हुआ। वर्णाश्रमी लोग अपने-अपने धर्मके द्वारा भगवान्‌की आराधना करते थे। उन्हींके सर्वाङ्ग या चार अङ्गोंसे चार वर्णों और चार आश्रमोंकी उत्पत्ति हुई। शौच, सन्तोष आदि ब्राह्मणका स्वभाव है। तेज, बल, धैर्य आदि क्षत्रियका स्वभाव है। आस्तिक्य, दाननिष्ठा, अदम्भ माने बनावट न करना और ब्राह्मण सेवा—यह सब वैश्यकी प्रकृति है। द्विज, गाय आदिकी सेवा और 'यथालब्धेन सन्तोषः'—यह शूद्रको प्रकृति है।

जो वर्णाश्रमको नहीं मानते उनका स्वभाव विकारी हो जाता है। क्योंकि निर्विकार बननेके लिए उनके अन्दर कोई संस्कार नहीं होता। चाहे किसी भी वर्णमें रहनेवाले हों, पर उन्हें इस बातका तो ध्यान रखना ही चाहिए कि वे किसीको दुःख न पहुँचायें, सत्यभाषण करें, दूसरेका धन न लें, काम-क्रोध-लोभको काबूमें रखें और सबकी भलाई करें। यह सार्ववर्णिक धर्म है।

ब्रह्मचारी दो तरहके होते हैं—एक उपकुर्वाण और दूसरा नैष्ठिक। उपकुर्वाण ब्रह्मचारी उपनयन ग्रहण करके गुरुकुलमें रहे। वहाँ वेद पढ़े। मेखलादि धारण करे। स्नान-जप-ध्यान

आदिमें मौन रहे। नख-रोम न काटे। जान-बूझकर वीर्यपात न करे। कभी अनजानमें ऐसा हो जाय तो गायत्रीका जप करे। पवित्रतासे रहे। सन्ध्यावन्दन करे। अपने गुरुको ईश्वरका रूप समझे। क्योंकि 'सर्वदेवमयो गुरुः' (२७)—गुरु सर्वदेवमय है। कभी उनका अपमान न करे। उनको मनुष्य समझकर उनके गुणोंमें दोष न निकाले। उनसे कोई माँग न करे कि मुझे रोटी दो, वस्त्र दो। खुद ही रोटी लाकर उनको खिलाये—'सायं प्रातरुपानीय भैक्ष्यं तस्मै निवेदयेत्' (२८)। हमेशा छोटेकी तरह आचरण करे और जबतक विद्या समाप्त न हो जाय तबतक उनकी सेवामें रहे।

नैष्ठिक ब्रह्मचारीका धर्म यह है कि यदि उसे विशेष लोककी प्राप्तिकी इच्छा हो तो वह गुरुको दक्षिणाके रूपमें अपना शरीर ही अर्पित कर दे। गुरुमें, आत्मामें और सबमें मुझ परमात्माका दर्शन करे—'अपृथग्धीरुपासीत' (३२)। नैष्ठिक ब्रह्मचर्य धारणकर लेनेपर स्त्रियोंके बीचमें न रहे। जो स्त्री-भोगकी चर्चा करते हैं और उसमें सुख लेते हैं, उनका संग भी न करे! शौचाचमन, स्नान आदि बिल्कुल ठीक-ठीक करे। सर्वभूतमें मद्भाव रखे। यदि वह आजीवन ब्रह्मचारी रहना चाहता हो तब तो वह अपने-आप ही मेरा भक्त हो जायेगा।

इसके बाद फिर उपकुर्वाण ब्रह्मचारीके धर्मका वर्णन करते हुए भगवान् कहते हैं कि यदि वह वेदाध्ययन समाप्त करके गृहस्थ होना चाहे तो समावर्तन-संस्कार करे! वह चाहे घरमें जाय, चाहे वानप्रस्थ ग्रहण करे और चाहे संन्यासी हो जाय। यदि गृहस्थाश्रममें जाना चाहे तो योग्य पत्नीसे विवाह करे।

त्रिवर्णमें यजन-अध्ययन आदिके सम्बन्धमें जो नियम हैं, उन्हे समझ लेना चाहिए। याजन, अध्यापन और दानग्रहण ये तीन ब्राह्मणके धर्म हैं, परन्तु प्रतिग्रहको दोष समझकर ब्राह्मणको दान नहीं लेना चाहिए। जहाँतक हो सके उसको या तन और अध्यापनके द्वारा अपनी जीविका चलानी चाहिए। खेतों और दूकानोंमें पड़े हुए जो अन्नके दाने हैं, उनको बीनकर अपना काम चलाना चाहिए। जो शिलोञ्छवृत्तिसे सन्तुष्ट होता है, उसके मनमें अन्ततोगत्वा भक्ति आजाती है और उसको मोक्षकी प्राप्ति होती है। जो ब्राह्मण गरीबीसे दुःखी हो, उसका उद्धार करनेसे बहुत पुण्य होता है।

सर्वाः समुद्धरेद् राजा पितेव व्यसनात् प्रजाः।
आत्मानमात्मना धीरो यथा गजपतिर्गजान्॥ ४५

जैसे कोई हाथी कहीं दलदलमें धँस जाय तो उसके साथके दूसरे हाथी उसे अपनी सूँड़से पकड़-पकड़कर निकालनेकी कोशिश करते हैं, वैसे ही प्रजापर कोई दुःख आजाय तो राजाका

यह धर्म है कि वह उसको उस दुःखमें-से निकाले! ऐसे राजाके लोक-परलोक दोनों बन जाते हैं।

किसीको भी यथाशक्ति अपनेसे नीचकी वृत्तिका सेवन नहीं करना चाहिए और जो स्वभावसे मिल जाय, उससे अपना निर्वाह कर लेना चाहिए—

यदृच्छयोपपन्नेन शुक्लेनोपार्जितेन वा।
धनेनापीडन् भृत्यान् न्यायेनैवाहरेत् क्रतून्॥ ५१

यदि कभी यज्ञ करना हो तो जो अपने-आप आजाय, उससे अथवा शुद्ध स्ववृत्तिसे उपार्जित धन द्वारा यज्ञ करे। कभी अपने सेवकोंसे बेगार न ले, ऐसा नहीं कि नौकरसे काम करा लिया और उसको तनख्वाह नहीं दी। इस तरहसे यज्ञ नहीं करना चाहिए। यज्ञ आदिके लिए जबरदस्ती किसीसे चन्दा लेनेकी कोशिश नहीं करनी चाहिए।

देखो उद्धवजी, इस संसारमें कुछ भी सत्य नहीं है। कुटुम्बमें आसक्ति करके दूसरेको दुःख नहीं पहुँचाना चाहिए। क्योंकि कुटुम्ब भी जानेवाला है। ये सब भाई-बन्धु वैसे ही मिल गये हैं, जैसे राही मिल जाते हैं और रास्ते अलग-अलग हो जाते हैं। 'गृहेष्वतिथिवद्वसन्' (५४)—जैसे कोई अतिथि रातके समय किसीके घरमें रहता है, खाता है, पलँगपर सोता है, बिस्तरका उपयोग करता है, मीठी-मीठी बात करता है, लेकिन दूसरे दिन चला जाता है, वैसे ही मनुष्यको गृहस्थाश्रमका उपयोग करना चाहिए। उसमें अहङ्कार-ममकार नहीं करना चाहिए और गृहस्थ-धर्मके द्वारा भगवान्‌की आराधना करनी चाहिए। घरमें रहे वनमें जाय, जहाँ भी रहे, जिस स्थितिमें भी रहे, मुझ परमात्माकी आराधना करे। अगर वह मैं-मेरा करके घरमें ही बँध जायेगा और सोचेगा कि अरे मेरे माँ-बाप बूढ़े हो गये, उनको कौन खिलायेगा, मेरे बिना बच्चे कैसे रहेंगे तो यही सब सोचते-सोचते उसकी जिन्दगी बीत जायेगी। मनुष्यकी मौत सिरपर सवार है। उसे समय रहते चेत जाना चाहिए अन्यथा अन्तमें घोर अन्धकारकी प्राप्ति होती है—

अतृप्तस्ताननुध्यायन् मृतोऽन्धं विशते तमः। ५८



अब भगवान् कहते हैं कि उद्धवजी, जिनको वानप्रस्थमें जाना हो, उनको वल्कल, तृण, पर्ण, अजिन—ये सब धारण करना चाहिए। केश-रोम आदि भी धारण करना चाहिए। धरतीमें सोना चाहिए। तीन बार नहाना चाहिए। पञ्चाग्नि तापना चाहिए। वर्षा, सरदी, गर्मी आदि सब सहना चाहिए। खाने-पीनेमें कालपक्व अर्थात् प्राकृत वस्तुओंका सेवन करना चाहिए।

इसके बाद यदि वैराग्य हो जाय या शरीर असमर्थ हो जाय तो अपने शरीरके भीतर ही अग्निका संन्यास करके संन्यास ग्रहण कर लेना चाहिए। एक तो वानप्रस्थ-धर्मके पालनमें असमर्थता और दूसरे संसारसे वैराग्य—यह क्रम-संन्यास होता है। वैराग्यसे जो संन्यास होता है, वह वस्तु-संन्यास होता है।

कई लोग तो संन्यासके नामपर बहुत चिढ़ते हैं। एक ब्रह्मचारीजी थे, उन्होंने संन्यास लेनेका निश्चय किया। उनके घरवाले श्रीउड़िया बाबाजीके पास आये और बोले कि महाराज, ये संन्यासी हो जायेंगे तो हमारा मिलना-जुलना कैसे होगा? उड़िया बाबाजीने कहा कि देखेंगे। दूसरे दिन सवेरे जब वे जंगलमें निकले तब उन ब्रह्मचारीकी कुटियापर चले गये और पूछा कि तुम संन्यासी हो रहे हो? ब्रह्मचारी बोले कि हाँ महाराज! बाबाने कहा कि अरे राम राम, तुम संन्यासी हो जाओगे तो क्या खुद रोटी बनाकर खाओगे? ब्रह्मचारीने कहा—हाँ महाराज, और क्या करूँगा? बाबा बोले कि संन्यासीको तो अग्नि छूनी नहीं चाहिए। सबके घरसे रोटी लेकर खानी चाहिए। ब्रह्मचारीने कहा कि यह तो मैं नहीं करूँगा, चाहे संन्यासी होऊँ चाहे ना होऊँ! उन्होंने संन्यास लेनेका विचार छोड़ दिया। ऐसे-ऐसे लोग भी होते हैं।

भगवान् कहते हैं कि अपनी तपस्याको क्षुद्र कामनाओंके लिए कभी प्रयुक्त नहीं करना चाहिए। निरपेक्ष होकर रहना चाहिए। कई लोग तो ऐसा कहते हैं कि जहाँ चोटी नहीं रही, जनेऊ नहीं रहा, होम नहीं रहा, गायत्रीका जप नहीं रहा, वहाँ क्या आश्रम है? परन्तु यह तो निवृत्तिरूप आश्रम है। यह हिन्दू-धर्मकी, वर्णाश्रम-धर्मकी पूर्णता है कि उसमें केवल प्रवृत्ति ही धर्म नहीं होती, निवृत्ति भी धर्म होती है। करना ही धर्म नहीं होता, त्यागना भी धर्म होता है! भोगना ही धर्म नहीं होता, भोग छोड़ना भी धर्म होता है। इसमें स्त्री-पुत्रादि बहुत विघ्न डालते हैं कि यह तो हमसे पार चला जायेगा।

संन्यासी अगर वस्त्र धारण करे तो मात्र कौपीन धारण करे और उसके ऊपर ऐसा वस्त्र लपेट ले, जिससे कौपीन ढक जाय। वह दण्ड, कमण्डलुके अतिरिक्त दूसरी कोई चीज अपने संग्रहमें

न रखे। देखकर पाँव रखे, वस्त्रसे छानकर जल पीये, सत्यवाणी बोले—और मनसे विचार करके जो शुद्ध हो, उसका आचरण करे। 'मनःपूतं समाचरेत्' (१६)—इसका अर्थ है कि संन्यासी अन्वय-व्यतिरेकको युक्तिसे विचार करके जो कर्म आत्महित और लोकहितके लिए हो, उसको करे। वह मौनादि धारण करे। यदि उसका वाणी, देह, मनपर नियन्त्रण नहीं तो वह संन्यासी कैसा ?

एक दिन एक साधु जङ्गलमें गये। वहाँ कोल-भील आये। उन्होंने कहा कि तुमलोग मुझे प्रणाम करो, मैं बड़ा भारी महात्मा हूँ ? कोल-भीलोंने पूछा कि महाराज, आप कैसे महात्मा हैं ? महात्मा कैसे हुआ जाता है ? महात्माने अपने पासके एक दण्ड या त्रिदण्डको दिखा दिया और बोले यह धारण करनेसे मैं महात्मा हूँ। इसलिए मुझको प्रणाम करो !

यह सुनकर एक कोल-भील अपना हथियार लेकर जङ्गलमें चला गया और वहाँसे बाँसोंका बोझ सिरपर रखकर ले आया। फिर बोला—तुम्हारे पास एक या तीन हैं, लेकिन मेरे पास तो उसका एक बोझ है। इसलिए मैं बड़ा महात्मा हूँ, तुम मुझको प्रणाम करो ! यह गप्प नहीं है, श्रीमद्भागवतमें भी कुछ इसी आशयकी बात है—

मौनानीहानिलायामा दण्डा वाग्देहचेतसाम् ।
न ह्येते यस्य सन्त्यङ्ग वेणुभिर्न भवेद् यतिः ॥ १७

एक-दण्ड अथवा त्रिदण्डकी तो चर्चा ही छोड़ो, यदि कोई बाँसका बोझ भी सिरपर ले ले तो उससे वह यति नहीं होता। असलमें संन्यासका धर्म मन, वाणी, शरीरका दण्ड है।

संन्यासीको चारों वर्णोंमें गर्हितको छोड़कर शेष सबसे भिक्षा लेनी चाहिए। भिक्षाके लिए सात घरोंमें जाना चाहिए। इसका पहलेसे संकल्प नहीं होना चाहिए। ऐसा नहीं कि किसी गाँवमें पहुँचे और वहाँ डोंड़ी पिटवा दी कि आज मैं भिक्षा माँगनेके लिए आनेवाला हूँ। इसलिए बढ़िया-बढ़िया चीज बननी चाहिए।

'भिक्षां चतुर्षु वर्णेषु' (१८)—इसपर श्रीधर स्वामीने अपनी टिप्पणी जड़ी है। ऐसे तो इसका साफ अर्थ है कि निन्दितका त्याग करता हुआ चारों वर्णोंमें भिक्षाचरण करे। परन्तु श्रीधर स्वामीने लिखा कि ब्राह्मणोंमें ही जो चार प्रकारके होते हैं, उन्हींके यहाँसे भिक्षा ले। पर यह बात दण्डियोंके लिए है। जो दण्डरहित हैं, वे तीन या चार वर्णोंमें भिक्षा ले सकते हैं—ऐसा उपनिषदोंमें प्राप्त होता है।

तो संन्यासी भिक्षाग्रहण करके गाँवसे बाहर जाय। वहाँ मौन होकर, जलमें डुबोकर जिन पशुपक्षियोंको देना है, उनको देकर भिक्षा खाय। अकेला पृथिवीमें विचरण करे—'एकश्चरेन्महीमेतां' (२०)। 'आत्मानं चिन्तयेदेकमभेदेन मया मुनिः'। (२१)

भगवान् कहते हैं कि जो संन्यासी है, मुनि है, वह मुझ परमात्माके साथ अभेद भावसे इस प्रकार आत्मचिन्तन करे—हे भगवन्, जो तुम हो, वही मैं हूँ और जो मैं हूँ, वही तुम हो।

इसके अतिरिक्त संन्यासीका और कोई सिद्धान्त नहीं। द्वैताद्वैतका चाहे जितना झगड़ा हो, लेकिन संन्यासीको तो ऐसा ही अभेद-चिन्तन करना चाहिए। इससे उसके धर्ममें किसी प्रकारकी बाधा ही नहीं पड़ती। वह यह विचार करे कि इन्द्रियोंका जो विक्षेप है, वही बन्धन है और इन्द्रियोंका जो संयम है, वही मोक्ष है। इसलिए इनको वशमें करके रहे। प्रयोजन-वश ही गाँवमें जाय, अन्यथा कटता रहे। वह पवित्र-से-पवित्र वानप्रस्थाश्रमियोंकी भिक्षा कहण करे।

नैतद् वस्तुतया पश्येद् दृश्यमानं विनश्यति। २६

यह जो दृश्यमान् सृष्टि है, इसको सन्यासी कभी सच्ची वस्तु न समझे, क्योंकि इसका विनाश हो जाता है—'विनाशित्वात् स्वप्नवत्'। इसमें कभी आसक्ति न करे और लोक-परलोकमें कुछ भी न चाहे। 'सर्वं मायेति तर्केण स्वस्थस्त्यक्त्वा न तत् स्मरेत्'। (२७)

संन्यासी यही समझे कि सब माया है। यह आवश्यक नहीं कि वह हमेशा संन्यासीका लिङ्ग अथवा चिह्न धारण करे। 'ज्ञाननिष्ठो विरक्तो वा मद्भक्तो वानपेक्षकः' (२८)—यदि उसकी निष्ठा ज्ञानमें न हो तो उसके लिए कुछ कहना ही नहीं, वह चाहे जहाँ भी अपनी निष्ठा कर ले। लेकिन यदि वह ज्ञाननिष्ठ हो, विरक्त हो अथवा निरपेक्ष भक्त हो तो उन दोनोंके लिए बड़ा बढ़िया विधान है—

सलिङ्गानाश्रमांस्त्यक्त्वा चरेदविधिगोचरः। २८

यह कि वह लिङ्गवाले—चिह्नवाले आश्रमोंका परित्याग करके, अचिह्न होकर, अविधि-गोचर अर्थात् विधि-निषेधका अगोचर होकर विचरण करे। बुध होनेपर भी बालकी तरह क्रीड़ा करे। कुशल होनेपर भी जड़वत् आचरण करे और विद्वान् होनेपर भी उन्मत्तकी तरह बोले!

शयान एवाश्नाति पिबति खादत्यवमेहति ह्रदतिस्म।

स्वर्गादि-प्रतिपादक, यज्ञयागदि-प्रतिपादक जो वेद हैं, उनमें 'वादरतो न स्यात्'—वादरत न हो, जैसा कि गीतामें कहा गया है—

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः॥ गीता २.४२

संन्यासी अपनेको यमदूतवाले धर्ममें न ले जाय, धर्मराजवाले धर्ममें रखे! भगवान्के पार्षदवाले धर्ममें रखे। पाखण्डी न बने हेतुवादी न हो। सूखे और निरर्थक वाद-विवादमें न पड़े। तत्त्व द्वैत है या अद्वैत है—इसपर आओ शास्त्रार्थ कर लो, ऐसा न कहे।

देखो, अनादिकालसे अबतक किसीने शास्त्रार्थमें इस प्रश्नको हल नहीं किया। सब अपने-अपने पन्थके अनुसार मानते हैं। आगे भी मानेंगे ही, तो अब भी मान लें। छेड़छाड़ करनेकी क्या जरूरत है? ऐसा चुनौती देना कि हम तुम्हारे विशिष्टाद्वैतको हराते हैं, तुम अपना तिलक बदलो! हम तुम्हारे अद्वैतको हराते हैं, तुम अपना दण्ड छोड़ दो—ये सब बातें बिल्कुल गलत हैं। सब-के-

सब सम्प्रदाय अनादिकालसे हैं। सबने सबका खण्डन किया है, सबने अपने-अपने मतका मण्डन किया है! श्रुतिमें सबका बीज विद्यमान है। नास्तिक सम्प्रदायका बीज सृष्टिमें है। इसलिए डरना नहीं चाहिए।

'अस्तीत्येके नायमस्तीति चैके' (कठ उप० १.१.२०)—ये दो पक्ष चलते आ रहे हैं। एक पक्ष है कि आत्मा मरनेके बाद रहता है और दूसरा पक्ष है कि आत्मा मरनेके बाद नहीं रहता। इनपर शास्त्रार्थ करके अपना सिर फोड़ना है। तुम्हारी जिस सम्प्रदायमें निष्ठा हो, उसके अनुसार आचरण करो।

संन्यासीको कभी भी व्यर्थका वाद-विवाद नहीं करना चाहिए। कोई पक्ष नहीं लेना चाहिए। तर्कनिष्ठ नहीं होना चाहिए। भीड़-भाड़से ज्यादा उद्विग्न नहीं होना चाहिए। किसीको उद्विग्न भी नहीं करना चाहिए। यह नहीं कहना चाहिए कि ऐ गृहस्थ, तू हमारे पास आकर बैठ गया। बैठा है तो तुम ऐसे लोकमें चले जाओ, जहाँ धरती ही नहीं, ब्रह्माण्ड नहीं। अरे बाबा, गृहस्थ बैठता है तो बैठने दो। उसको क्यों हटाते हो? तुम्हीं अपने-आपको ईश्वरके साथ क्यों नहीं जोड़ लेते?

एक कथा आती है। किसी स्त्रीका धक्का लग गया एक ऐसे मुसलमानको, जो नमाज पढ़ रहा था। उसने कहा कि या खुदा, तूने हमको धक्का लगा दिया। वह बोली कि मैं तो एक मनुष्यसे प्रेम करती हूँ, उसके प्रेममें मैंने तुमको नहीं देखा। लेकिन तुम खुदासे प्रेम करके भी मुझे देखते हो, इसके लिए तुमको शर्म आनी चाहिए!

अतः संन्यासी झूठमूठ किसीको उद्विग्न न करे। किसीसे किसी कारणवश वैर न करे, क्योंकि सबके अन्दर एक परमात्मा बैठा हुआ है। खाना मिले तो खा ले, न मिले तो भूखे रह जाय। यह दैवाधीन है। एकादशी यदि जल्दी आजाय तो उसमें भी खुश होनेकी जरूरत है। इसके लिए नाराज क्यों होना। भोजनके लिए चेष्टा कर लेनी चाहिए।

एक भक्त कहा करते थे कि भोजन माँगकर कर लेना अच्छा है। क्योंकि 'योगक्षेमं वहाम्यहम्' (गीता ९.२२)की प्रतिज्ञावाले भगवान् हमारे लिए भोजनकी टोकरी सिरपर लेकर आयेंगे तो उनको बहुत तकलीफ होगी। वे हमारे लिए भोजन लायें, चिन्ता करें, इससे पहले चलो हम उनकी चिन्ता मिटा दें। हमारे प्यारेको चिन्ता न करनी पड़े!

आजकल कई लोग भिक्षा माँगकर खानेवाले साधुओंको भी समाजका बोझ समझते हैं। जब वे झोली लेकर गाँवमें जाते हैं तब कहते हैं कि अरे ओ मुसटण्डा, तू बिना कुछ किये खाता है? उस समय सच्चे साधुको जो सहिष्णुता आती है, अपमान सहन करनेकी शक्ति आती है, वह आरामसे क्षेत्रमें बैठकर खानेवालोंको नहीं आती। आप लोगोंमें कोई क्षेत्रमें खानेवाले हों तो नाराज मत होना! महन्तों और मण्डलेश्वरोंकी कमाई जिसे वे तरह-तरहसे लाकर इकट्ठा करते

हैं, खानेसे चित्तका शुद्ध होना बहुत कठिन है। क्षमा करें, मैं दो-टूक बात करता हूँ। लोग जब मरने लगते हैं तब अन्नपर हाथ रखकर कहते हैं कि जाओ संन्यासियोंके क्षेत्रमें दे आओ! उस अन्नको खाकर चित्तकी शुद्धि कैसे हो?

भगवान् कहते हैं कि उद्धवजी, संन्यासी आवश्यकतासे अधिक एक ग्रास भी न खाय! क्योंकि वह अन्दर जायेगा तो चित्तको बिगाड़ देगा! इसलिए जितनेसे जिन्दा रहे, उतना ही खाय। जो कुछ अन्न-वस्त्रादि प्राप्त हो, उसीमें सन्तोष करे! इसीसे तत्त्वज्ञान होता है।

शौचमाचमनं स्नानं न तु चोदनया चरेत्।
अन्यांश्च नियमाञ्ज्ञानी यथाहं लीलयेश्वरः॥ ३६

संन्यासीको वेदाज्ञाके अधीन होकर शौच, आचमन, स्नान करनेकी आवश्यकता नहीं है, उसका कोई भी नियम वेदकी आज्ञाके अनुसार नहीं है। वह तो मेरी तरह लीला-लीलामें ही सब-कुछ करता है। जब वह मुझ परमात्मासे एक होनेका नित्य चिन्तन करता है, तब उसको आज्ञा देनेवाला कौन है? परमात्माका ज्ञान होनेके बाद विकल्प नामकी वस्तु नहीं रहती। यदि कभी यह रूप दिखायी भी पड़ता है, तो उसकी कोई कीमत नहीं होती। यदि वैराग्यवान् संन्यासी हो तो उसे चाहिए कि वह सारे संसारसे वैराग्य करके गुरुके पास जाये और वहाँ ब्रह्मज्ञान प्राप्त करे। यदि वह गुरुकी सेवा करके षड्वर्गको वशमें नहीं करेगा तो उसकी इन्द्रियाँ प्रबल रहेंगी। फिर उसको ज्ञान-वैराग्य तो हुआ नहीं, त्रिदण्ड उसकी जीविका-का साधन बन गया—'त्रिदण्डमुपजीवति'। (४०)

यदि संन्यासीका अन्तःकरण शुद्ध नहीं हुआ तो वह अपने हृदयमें स्थित देवताओंको, मुझको और अपने-आपको अपमानित कर रहा है। संन्यासीका धर्म यही है कि उसमें शान्ति बनी रहे। वह किसीको दुःख न पहुँचाये। वानप्रस्थका धर्म है कि उसमें तपस्या और विवेक जाग्रत् रहे। गृहस्थका धर्म यह है कि वह प्राणियोंकी रक्षा और यज्ञ करे। ब्रह्मचारीका धर्म यह है कि वह गुरुकी सेवा करे।

इस प्रकार जो धर्मसे मेरी आराधना करता है, उसको मेरी भक्तिकी प्राप्ति होती है। भक्तिसे ब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है और ज्ञान-विज्ञानसे युक्त होकर मनुष्य मुझे प्राप्त होता है। वैसे तो वर्णाश्रम धर्म बहुत श्रेष्ठ है, परन्तु जबतक इसमें भक्तिका रस नहीं मिलता, तबतक धर्म-रसकी उत्पत्ति नहीं होती। आनन्द तो तब है, जब मनुष्यको अपने धर्मके पालनमें मजा आये। जब मनुष्यके हृदयमें मेरी भक्ति होगी और वह यह अनुभव करेगा कि मैं अपने प्यारेके लिए, प्रभुके लिए धर्म कर रहा हूँ और वे प्रसन्न हो रहे हैं, तब उसको और भी आनन्द आयेगा।

उद्धवजी, मैंने तुमको बता दिया कि मेरा भक्त किस प्रकार मुझे प्राप्त करता है!

अब भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि उद्धवजी, जो विद्या और अध्ययनसे सम्पन्न हैं, वे सारे प्रपञ्चको—द्वैतको मायामात्र तथा मेरी शक्तिका विलास जानकर अपने सम्पूर्ण ज्ञानको भी मुझमें ही विलीन कर देते हैं—'मायामात्रमिदं ज्ञात्वा ज्ञानं च मयि संन्यसेत्' (१)। ज्ञानीके लिए परमात्माके सिवाय दूसरी कोई चीज नहीं। इसीका नाम विद्वत्-संन्यास है! ज्ञानी अपने ज्ञानके द्वारा मुझ परमात्माका भरण-पोषण करता है—

ज्ञानी प्रियतमोऽतो मे ज्ञानेनासौ बिभर्ति माम्। ३

क्योंकि जब संसारी लोग कहते हैं कि परमेश्वर नहीं, तब ज्ञानी कहता है कि परमेश्वर तो साक्षात् अपरोक्ष है, अकाट्य है!

देखो, एक दिन एक सज्जन आये। बोले कि स्वामीजी, ईश्वर तो है ही नहीं। मैंने कहा कि भैया, ईश्वर तो तुम्हीं हो। यदि तुम्हें विश्वास न हो तो मेरी इस बातको काटो। वे बोले कि ईश्वर तो सृष्टि-स्थिति बनाता है, मैंने तो सृष्टि-स्थिति नहीं बनायी। मैंने कहा कि यह तुमको किसने बताया कि ईश्वर सृष्टि-स्थिति बनाता है। यह लक्षण ईश्वरका नहीं, झूठा है। ईश्वर तो तुम्हीं हो। अब वे इधर-उधर देखने लगे और बोलने लगे कि ईश्वरका लक्षण तो यह है, ईश्वरका लक्षण तो वह है। मुझमें ऐसे लक्षण कहाँ हैं? इस तरह वे स्वयं ही लक्षण बता-बताकर ईश्वरको सिद्ध करने लगे। उनकी प्रत्येक बात ईश्वरको प्रमाणित करने लगी।

इसलिए भगवान् कहते हैं कि उद्धवजी, अपने आपको जानकर, ज्ञान-विज्ञान-सम्पन्न होकर, मेरा भजन करना चाहिए। विकार माया है। जो वस्तु आदि-अन्तमें नहीं होती, वह मध्यमें भी नहीं होती। जैसे सपनेकी चीज आदिमें नहीं, अन्तमें नहीं, वैसे मध्यमें भी नहीं होती। लेकिन जो वस्तु आदि-अन्तमें रहती है, वह मध्यमें भी रहती है—जैसे आत्मा! इसको इस तरह समझो कि जैसे घड़ेके आदि-अन्तमें मिट्टी है, वैसे ही बीचमें भी मिट्टी ही है और यदि आदि-अन्तमें घड़ा नहीं तो बीचमें भी घड़ा नहीं। वह बिल्कुल मिट्टी है।

अब उद्धवजीने कहा कि प्रभो, आप मुझे ज्ञानकी बात सुनाइये। मैं तो संसारमें बहुत दुःखी हो रहा हूँ। आप अपने अपवर्ग-प्रापक वचनोंके द्वारा मुझे सींच दें।

भगवान् बोले कि उद्धवजी, यह प्रश्न युधिष्ठिरने महाभारत-युद्धके बाद भीष्मपितामहसे पूछा था। भीष्मपितामहने युधिष्ठिरके प्रश्नोंका जो उत्तर दिया, वही मैं तुमको सुनाता हूँ—'तानहं तेऽभिधास्यामि' (१३)। इसमें ज्ञान-वैराग्य आदिकी सभी बातें हैं।

उद्धवजी, भीष्मपितामहने बताया था कि प्रकृति आदि अट्ठाईस तत्त्वोंमें जो कारण तत्त्व है, वह कार्यमें अनुगत होता है। उन सब तत्त्वोंमें जो एक अनुगत तत्त्व होता है, उसीको ज्ञान

कहते हैं। उसके बिना दूसरी चीज नहीं होती। इस बातको जान लेनेका नाम ही विज्ञान होता है। दूसरे शब्दोंमें पहले हम देखते थे कि ये सारे पदार्थ एकसे अनुगत हैं, परन्तु जब ऐसी दृष्टि हो जाती है कि ज्ञाप्य और ज्ञापकका भेद नहीं, एक ही परमात्मा ब्रह्म है; तब उसी दृष्टिका नाम विज्ञान हो जाता है।

श्रुतिने तो यहाँतक कह दिया है कि 'व्याप्यव्यापकता मिथ्या'–व्याप्य–व्यापक भाव भी एक प्रकारसे अज्ञानकी प्रक्रिया है। जो आदि–मध्य अन्तको प्राप्त होता है और फिर प्रलयमें शेष रह जाता है, वही सत्य है–'यच्छिष्येत तदेव सत्' (१६)। इस सम्बन्धमें श्रुति, प्रत्यक्ष, ऐतिह्य और अनुमान–ये चार प्रकारके प्रमाण हैं। परन्तु सृष्टि चारों प्रकारके प्रमाणोंसे बाधित है और परमात्मा अबाधित है। उसीको सत्य समझना चाहिए। जो आत्मतत्त्व है, वह सबसे निराला है। संसारके जो कार्य हैं, कर्म हैं वे परिणामी हैं और विरञ्चिलोक–पर्यन्त नश्वर हैं। इसलिए विपश्चित् पुरुषको देखना चाहिए। जैसे संसारमें जो पैदा होता है, वह मर जाता है, वैसे ही परलोकमें कर्मादिके द्वारा जो पैदा होता है, वह नष्ट हो जाता है। इसलिए स्वर्ग और मर्त्यलोकके भोगके चक्करमें न पड़कर भक्तियोग करना चाहिए। इस भक्ति–योगका वर्णन मैंने तुम्हें पहले सुना दिया है।

अब यह सुनो कि भक्ति कैसे प्राप्त होती है? उसका उपाय यह है कि मेरी अमृतमयी कथामें श्रद्धा करो, मेरा अनुकीर्तन करो, मेरी पूजामें निष्ठा रखो और स्तुतियोंसे मेरा स्तवन करो।

'आदरः परिचर्यायां सर्वाङ्गैरभिवन्दनम्' (२१)—मेरी परिचर्यामें आदर-भाव करो। परन्तु मेरी जितनी पूजा होती है, उससे भी अधिक मेरे भक्तकी पूजा करो—'मद्भक्तपूजाभ्यधिका (२१)। सबमें, सब प्राणियोंमें मुझको देखो—'सर्वभूतेषु मन्मतिः' (२१)। परन्तु मैं अपने भक्तमें सबसे अधिक रहता हूँ। इसलिए उसकी पूजा अधिक करनी चाहिए। शरीरकी चेष्टा मेरे लिए, कामनाओंका वर्जन मेरे लिए और इष्ट, दान, हुत, जप, तप आदि सब कुछ मेरे लिए करो। इस प्रकार आत्म-निवेदन करके जब मेरी सेवा की जाती है तब भक्ति होती है। फिर कुछ भी बाकी नहीं रहता। जब मुझमें चित्तका अर्पण होता है, तब वैराग्य, धर्म, ऐश्वर्य, ज्ञान—सबकी प्राप्ति हो जाती है।

भगवान्ने संक्षेपमें बताया कि जिस कर्मसे मेरी भक्ति हो, उसका नाम धर्म है। जिससे आत्मा और परमात्माकी एकताका दर्शन हो, उसका नाम ज्ञान है; जिससे विषयोंमें अनासक्ति हो, उसका नाम वैराग्य है और अणिमादिका नाम ऐश्वर्य है।

इसके बाद उद्धवजीने छब्बीस प्रश्न इकट्ठे ही कर दिये, जिनका उत्तर देते हुए भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि उद्धवजी, अहिंसा-सत्य-अस्तेय आदि जो बारह हैं, इनका नाम यम और

शौच-जप-तप-होम आदि जो बारह हैं इनका नाम नियम है। मनुष्य यदि इनका पालन करे तो जो चाहे, वह हो सकता है। परमात्माके प्रति बुद्धिके निष्ठावती होनेका नाम शम है, समाधिका नाम शम नहीं। इसी तरह इन्द्रियोंके संयमका नाम दम है, जबरदस्ती करनेका नाम दम नहीं।

दुःखको सह लेना तितिक्षा है। जिह्वा और उपस्थपर विजय करना धृति है। किसीको दण्ड न देना सबसे बड़ा दान है। कामनाका त्याग करना सबसे बड़ा तप है। स्वभावपर विजय पानेका नाम शूरता है। समदर्शनका नाम सत्य है। सूनृता वाणीका नाम ऋत है। कर्ममें अनासक्तिका नाम पवित्रता है। असलमें त्यागको ही संन्यास कहते हैं। धर्म ही मनुष्यका धन है और यज्ञ ही भगवान् है। किसीको ज्ञान देने योग्य बना देना, ज्ञानका अधिकारी बना देना—यही सबसे बड़ी दक्षिणा है। प्राणायाम ही परम बल है। ऐश्वर भावका नाम भग है। भगवान्की भक्तिका नाम लाभ है। भेदरहित दृष्टिका नाम विद्या है। अकर्ममें हेयत्व-दर्शनका नाम लज्जा है। नैरपेक्ष्यादि—किसीसे कुछ न चाहनेका नाम लक्ष्मी है, हीरा-मोती-सोना-चाँदीका नाम लक्ष्मी नहीं। जबतक मनुष्यके मनमें चाह बनी है, तबतक उसके पास लक्ष्मी कहाँ है ? वह तो दरिद्र है। असलमें सुख-दुःख दोनोंके भावको छोड़ देनेका नाम ही सुख है। काम-सुख और भोग-सुखकी इच्छाका नाम दुःख है। जो बन्ध-मोक्षको ठीक-ठीक समझे, वह पण्डित है। जिसकी बुद्धि देहादिमें है, वह मूर्ख है। जिससे मैं मिलूँ, वही मार्ग है। संसारमें फँस जाना उत्पथ है। सत्त्वगुणका हृदयमें आना स्वर्ग है। तमोगुणका अधिक होना नरक है। गुरु ही अपना सच्चा बन्धु है। मनुष्यका शरीर ही घर है। जिसमें सद्गुण हैं, वही धनाढ्य है। जो धनाढ्य है, वही सद्गुणी है—यह तो चापलूसोंका मत है। जो असन्तुष्ट हैं, वे दरिद्र हैं। जो अजितेन्द्रिय है, वह कृपण है। विषयोंमें जिसकी अनासक्ति है, वही समर्थ है और जो उनमें आसक्त है, वही असमर्थ है।

उद्धवजी, तुमने जो-जो प्रश्न पूछे थे, उन सबके उत्तर मैंने दे दिये। बहुत ज्यादा गुण-दोष सुनकर क्या करोगे ? गुण-दोष देखना ही दोष है—इसलिए दोष है कि जिसमें गुण देखोगे, उससे राग हो जायेगा और जिसमें दोष देखोगे, उससे द्वेष हो जायेगा। अतः गुण-दोष मत देखो, मुझ परमात्माको देखो। गुण-दोष दोनोंको न देखना ही सबसे बड़ा गुण है।

देखो, गुण-दोषोंपर दृष्टि डालना छोड़कर अपने असङ्ग साक्षी स्वरूपमें स्थित हो जाना अपने आपको अद्वय ब्रह्म जान लेना ही, सबसे बड़ी बात है। गोस्वामी तुलसीदासजीने भी इसीका अनुवाद किया है—

सुनहु तात मायाकृत गुण अरु दोष अनेक।
गुन यह उभय न देखिये, देखिये सो अविवेक॥



उद्धवजीने कहा कि महाराज, वेदमें वर्णित विधि-निषेध, वर्णाश्रम प्रतिलोम, अनुलोम, देश-काल आदिके जो विषय हैं, वे सब गुण-दोष भेदकी दृष्टिसे ही तो सिद्ध होते हैं। अन्यथा विधि-निषेध कैसे बनेगा ? वेद ही गुण-दोष—भेद-दृष्टिका वर्णन करता है और वही अपवाद भी करता है। इससे तो एक भ्रान्ति उत्पन्न करनेवाली स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

असलमें इस भ्रान्तिका कारण यह है कि भगवान् श्रीकृष्ण तो तत्त्ववस्तुमें—परमार्थ वस्तुमें गुण-दोषका निषेध करते हैं। लेकिन उद्धवजी कह रहे हैं कि वस्तुओंमें गुण-दोष होता है और वेद उसका अनुवाद करता है। वेदके प्रामाण्यके विषयमें जो उच्चकोटिका दृष्टि-कोण है, वह यह है कि परमार्थतः निर्गुणतत्त्वमें गुण-दोष कुछ नहीं। जहाँ अनादि अविद्याके कारण वासना है, कामना है, पक्षपात है, लोभ है, तृष्णा है; वहाँ उस विकारकी निवृत्तिके लिए वेद संस्कारके रूपमें गुण और दोषका विभाग करके दोषके परित्याग तथा गुणके ग्रहणको बताता है। गुण-दोष वस्तुमें-से नहीं निकलते, वेदमें-से निकलते हैं। वेद ही गुण-दोषका विभाग करता है। हमारी आँखमें-से ही सुन्दर-असुन्दर निकलता है, वस्तुमें-से सुन्दर-असुन्दर नहीं निकलता। क्योंकि हमारी आँख वासना-वासित है। प्रमेयगत गुण-दोष वासना-वासित प्रमाणमें ही निकलते हैं। यदि निर्वासन-प्रमाण होगा तो कुछ नहीं निकलेगा। इस प्रकार धर्म-अधर्मके सम्बन्धमें जो वेदवाणी है, वह निर्वासन-प्रमाण है। उसमें केवल मनुष्यके कल्याणके लिए ही अध्यारोप-अपवादके द्वारा वस्तुओंके गुण-दोषकी सृष्टि की गयी है। अनिर्वचनीयताका शास्त्रार्थ बिल्कुल अलग है।

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि देखो उद्धवजी, तुम इस शास्त्रार्थमें मत पड़ो कि गुण-दोष वस्तुमें-से निकलते हैं कि वेदमें-से निकलते हैं। असली हैं कि नकली हैं। इस विवादमें भी पड़नेकी जरूरत नहीं कि अर्थमें-से शब्द निकलते हैं कि शब्दमें-से अर्थ निकलता है। शब्द-अर्थ दोनों नित्य हैं कि उनका सम्बन्ध औत्पत्तिक है। यह शास्त्रार्थ तो दोनों पक्षोंको थोड़ा जाग्रत् रखनेके लिए है, जिससे कि अनिर्वचनीयता सिद्ध करनेमें सुभीता हो। शास्त्रार्थका उद्देश्य यही होता है कि दोनों पक्षोंके युक्ति-तर्क जगत्‌में जाग्रत् रहें।

भगवान् कहते हैं कि मैंने वेदोंमें तथा अन्यत्र भी तीन योग बताये हैं—कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोग। इनके अतिरिक्त मनुष्यके कल्याणके लिए और कोई उपाय नहीं। इन योगोंमें कौन अच्छा है, कौन बुरा है—इसपर विचार मत करना।

देखो, घरमें बच्चेको सूप पिलाना अच्छा है कि खीर पिलाना अच्छा है ? इसका उत्तर यही है कि यदि बीमार हो तो सूप पिलाना अच्छा है और स्वस्थ हो तो खीर खिलाना अच्छा है। अपने आपमें सूप अच्छा है और न खीर अच्छी है।

इसी तरह अधिकारी-भेदसे योगोंका उपयोग है। जिनके मनमें वैराग्य है, जो कर्मन्यासी हैं, उनके लिए ज्ञानयोग है। जिनके मनमें वैराग्य नहीं, उनके लिए कर्मयोग है और जिनके मनमें भगवान्के प्रति, भगवान्की कथाके प्रति श्रद्धा हो गयी है, जिनको न तो पूरा वैराग्य है और न पूरी आसक्ति है, उनके लिए भक्तियोग है। कर्म करनेका विधान तो तभीतक है, जबतक वैराग्य न हो। नामरूपात्मक प्रपञ्चसे विरक्त होकर अपने स्वरूपमें बैठाना तो एक लीला है। यह कर्मका विधान नहीं।

दूसरी बात भगवान्ने यह बतायी कि यदि भगवत्कथा-श्रवणादि द्वारा जगत्के मूल कारणमें भक्ति करनी हो तब भी कर्मका विधान नहीं है। इसलिए अपने धर्ममें रहकर निष्काम भावसे भगवान्की आराधना करनी चाहिए। मनुष्य पाप न करे तो नरकसे बच जाता और उसको विशुद्ध ज्ञानकी प्राप्ति होती है। मनुष्य-लोक सबसे बढ़िया है। इसमें ज्ञान और भक्ति दोनोंकी प्राप्ति होती है। स्वर्ग-नरकके चक्करमें ज्यादा नहीं पड़ना चाहिए। इस लोकमें भी ज्यादा इकट्ठा करनेके चक्करमें नहीं पड़ना चाहिए।

न नरः स्वर्गतिं काङ्क्षेन्नारकीं वा विचक्षणः।
नेमं लोकं च काङ्क्षेत देहावेशात् प्रमाद्यति॥ १३

मृत्युसे पहले-पहले प्रयत्न कर लेना चाहिए कि इस जीवनमें भगवत्प्राप्ति हो जाय। इससे बढ़कर और कोई बात नहीं है। काल दिन-रात हमारी आयुको घटाता जा रहा है। इसमें निःस्पृह होकर मेरा भजन करना चाहिए। मनुष्यको जो शरीर मिला है, यह एक नाव है। गुरु इसका कर्णधार है और भगवान्की कृपा अनुकूल वायु है। यदि इसके द्वारा भवसागरसे पार नहीं जाओगे तो आत्मघात करोगे। जब ज्यादा काम-धन्धा करनेका मन न हो तो भगवान्में मन लगाना चाहिए। मनपर दृष्टि रखनी चाहिए। उसे धीरे-धीरे अनुरोधपूर्वक मार्गपर लाना चाहिए, जोर-जबरदस्ती नहीं करनी चाहिए। मनको वशमें करना बहुत बड़ा योग है।

'सांख्येन सर्वभावानाम्' (२२)—यह विचार करना चाहिए कि कैसे प्रकृतिमें-से सारी सृष्टि उत्पन्न होती है और कैसे फिर लीन हो जाती है। कार्य-कारण-विभागसे, अनुलोम-प्रतिलोम-भावसे प्रलयका चिन्तन करनेपर राग-द्वेष मिट जाता है, मन प्रसन्न हो जाता है और दुष्टता छोड़कर भगवान्में लगता है। कैसे भी हो, मनमें-से संसारका चिन्तन छूट जाना चाहिए। यदि कभी कोई गलती हो जाय तो उसके लिए कोई दूसरा प्रायश्चित्त नहीं करना चाहिए।

देखो, प्रायश्चित्त भी अधिकारके अनुसार ही होता है। कोई समाधि लगा रहा हो और उसमें कोई गलती हो जाय तो उसको बारह बरसवाला प्रायश्चित नहीं करना चाहिए, बल्कि प्राणायाम आदिके द्वारा पुनः समाधि लगानी चाहिए।

इसीलिए भगवान् कहते हैं कि अपने-अपने अधिकारके अनुसार ही गुण और दोषका विभाग होता है। यदि मेरी कथामें श्रद्धा हो गयी और समझ गये कि संसारके भोग दुःख हैं, किन्तु उनको त्याग नहीं सकते तो उन भोगोंको भोगते हुए भी मेरी भक्ति करनी चाहिए। अन्तमें भक्ति जीत जाती है और भोग हार जाते हैं।

देखो, यहाँ तो वोटका मामला है। जैसे आप बोले कि सीताराम मद्रास, सीताराम बम्बई, सीताराम दिल्ली, सीताराम कलकत्ता। अब कलकत्ता, मद्रास, दिल्ली, बम्बईका तो एक-एक वोट हुआ और सीतारामके चार वोट हो गये। इसलिए सीतारामको विजयी समझो। यही उपाय भगवान्‌में मन लगानेका है। इसमें डरना नहीं चाहिए। भोग आये तो भोग भी करते चलो और भगवान्‌का भजन भी करते चलो। यही बात मध्यकालके महात्माओंने बतायी है। ऐसा करनेसे धीरे-धीरे कामनाका नाश हो जाता है, हृदय ग्रन्थिका भेद हो जाता है, संशय निवृत्त हो जाते हैं और कर्म क्षीण हो जाते हैं। ऐसा समझो कि जिसके-हृदयमें बिना ज्ञान-वैराग्यके भी भक्ति आगयी, उसका कल्याण हो जायेगा।

न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिह। ३१

जो ज्ञान, वैराग्य और तपस्यासे मिलता है, वह भक्तिसे मिल जाता है। उससे मोक्ष चाहिए तो मोक्ष लो, स्वर्ग चाहिए तो स्वर्ग लो और वैकुण्ठ चाहिए तो वैकुण्ठ लो। परन्तु भगवान्‌के भक्त यह सब-कुछ नहीं चाहते। लेकिन कुछ न चाहना ही सबसे बड़ा है। यह मत समझना कि तुम्हारा कल्याण वैकुण्ठमें है या मुक्तिमें। कुछ न चाहना ही सबसे बड़ा कल्याण है।

नैरपेक्ष्यं परं प्राहुर्निःश्रेयसमनल्पकम्। ३५

क्योंकि इसीमें भक्तिका उदय होता है। भगवान्‌के भक्तोंके लिए गुण-दोषका चक्कर बिल्कुल झूठा है। उन्हें अन्तमें परमात्माकी प्राप्ति होती है।



भगवान् कहते हैं कि उद्धवजी, जो ज्ञान भक्ति-योग आदि छोड़कर भोगमें लग जाते हैं, वे गलत रास्तेपर चले जाते हैं। अपने-अपने अधिकारके अनुसार ही चलना चाहिए। किसी चीजको पवित्र या अपवित्र समझकर ग्रहण करने या छोड़ देनेके कारण जो गुण-दोषादि बताये गये हैं उनका एक प्रयोजन है। वस्तुएँ तो सब समान हैं, परन्तु वेद उनको कहीं शुद्ध बताता है और कहीं अशुद्ध बताता है। कभी कहता है कि यह अर्थका हेतु है और कभी कहता है यह अनर्थका हेतु है। कहीं शुभ और कहीं अशुभ कहता है—इसीलिए कि मनुष्यके मनमें विवेकका जागरण हो जाय!

धर्मके लिए शुद्धि-अशुद्धि है, व्यवहारके लिए गुण-दोष है और जीवन-यात्राके लिए शुभाशुभ है। वे सब समान हैं। वेद ही उनमें भेद उत्पन्न करता है, जिससे कि हम विविक्त होकर, तटस्थ होकर उनको देख सकें और अपने तटस्थ आत्माको परमात्मासे मिला सकें।

वेदेन नामरूपाणि विषमाणि समेष्वपि।
धातुषूद्धव कल्प्यन्ते एतेषां स्वार्थसिद्धये॥ ६

वेद सममें ही विषमकी कल्पना कर देता है। जैसे स्थान तो सब ठीक हैं, लेकिन जहाँ कृष्ण मृग नहीं विचरता, वह देश अच्छा नहीं। काल तो शुभ ही होता है, लेकिन उसमें द्रव्य-सम्पत्ति न हो और सूतकादि आजायँ तो अशुभ हो जाता है। कालकी दृष्टिसे देखो तो उसमें दिन-रात कुछ भी नहीं होता। लेकिन उसीमें इष्ट-अनिष्टको लेकर शुभाशुभकी कल्पना कर ली गयी। कई चीजें भी ऐसी होती हैं, जिनमें कोई द्रव्य मिला दो तो शुद्ध हो जाती हैं, फिर गङ्गा-जल डाल दो तो उनकी शुद्धिका कहना ही क्या है? किसी-किसी वस्तुके बारेमें तो ऐसा है कि यदि ब्राह्मण कह दे कि वह शुद्ध है तो उसको शुद्ध मान लो। किसी चीजपर पानी छिड़क दिया जाता है तो वह शुद्ध हो जाती है। किसीने कोई चीज सूँघ ली, तो वह अशुद्ध हो गयी। कई चीजें पहले दिन, दूसरे दिन, तीसरे तीन शुद्ध रहती हैं, पर आठ-नौ दिन बीत जायँ तो अशुद्ध मानी जाती हैं। पृथिवीपर गिरा हुआ वर्षाका पानी दस दिनमें शुद्ध हो जाता है। अन्न जो आज पवित्र है, कल बासी होनेपर अशुद्ध हो जाता है। बहुत सारा पानी हो तो चाण्डालादिके स्पर्श करनेपर भी अशुद्ध नहीं माना जाता और उसमें स्नान-पान आदि चलते रहते हैं। लेकिन वही पानी थोड़ा-सा हो तब अशुद्ध हो जाता है। इसी प्रकार ग्रहण, सूतक आदिमें जिसके पास अन्नादि बहुत हैं, उसके लिए तो वे अशुद्ध हो जाते हैं, किन्तु जो बेचारे गरीब हैं, उनके लिए अशुद्ध नहीं होते। किसीके घरमें बेटा हुआ। दस दिनके भीतर पता नहीं चला! सब काम होता रहा, पूजा-उपासना, अनुष्ठान-दान आदि सब होते रहे। बादमें पता चला तो बोले कि अब क्या करें? ब्राह्मणोंने कहा कि नहालो, शुद्धि हो जायेगी। जो कुछ अशुद्धि-कालमें हुआ वह लौटाया तो जा सकता नहीं। कहनेका मतलब यह है कि इन सब बातोंके सम्बन्धमें सोच-विचार करके निश्चय करना चाहिए।

इसी ढंगसे देश, काल, वस्तु, शक्ति, व्यक्ति, स्नान, दान, तप, अवस्था, वीर्य, संस्कार, कर्म—इन सबकी पवित्रता होती है। कई चीजें तो ऐसी हैं कि भगवान्का स्मरण करो और वे सब शुद्ध हो जाती हैं। कभी गुण भी दोष हो जाता है और कभी दोष भी गुण हो जाता है। विधिमें यह सामर्थ्य है। लेकिन अपनी बात तो यह है कि इन सब झगड़ोंसे अलग रहना ही सबसे बड़ी पवित्रता है। निवृत्ति-धर्म सबसे श्रेष्ठ है। जब विषयोंमें गुणाध्यास होता है तब आसक्ति हो जाती है। आसक्तिसे काम होता है। कामसे कलह होता है। कलहसे क्रोध होता है। क्रोधसे मोह होता है और इस प्रकार मनुष्य फँस जाता है। स्वर्गादिके सम्बन्धमें जो फलश्रुति है, वह तो ऐसी ही है—जैसे हम किसीको कहें कि आओ, तुम यह दवा खा लो, फिर तुम्हें लड्डू मिल जायेगा! इस फलश्रुतिकी तरफ ज्यादा ध्यान नहीं देना चाहिए।

उद्धवजी, वेदका असली अभिप्राय ठीक-ठीक न जाननेके कारण ही लोग फँस जाते हैं। बहुत लोग वेदके नामपर हिंसा करते हैं। ऐसे लोग मेरे परोक्ष मतको तो जानते नहीं। यदि हिंसामें राग ही होता तो यह कैसे कहा जाता कि 'यज्ञ एव न चोदना' (२९)—केवल यज्ञमें हिंसा करना, दूसरी जगह नहीं करना। असलमें हिंसा अच्छी चीज नहीं।

लोग अपने मनमें परलोककी कामना करके बहुत दान-उपदान करते हैं, इन्द्रादिकी उपासना करते हैं और सोचते हैं कि हम स्वर्गमें जायेंगे तो वहाँ बड़े-बड़े भोग मिलेंगे। ऐसे लोगोंको 'मद्वार्तापि न रोचते' (३४)—मेरी कथा-वार्ता बिल्कुल अच्छी नहीं लगती! वे तो पुष्पिता वाणीमें विक्षिप्तमना हो रहे हैं और अत्यन्त स्तब्ध हैं।

वेदोंका अभिप्राय क्या है? 'वेदा ब्रह्मात्मविषयाः' (३५)—वेद ब्रह्म और आत्माका निरूपण करनेके लिए हैं। उनमें कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड, ज्ञानकाण्ड होते हैं। वे परोक्षरूपसे वस्तुका निरूपण करते हैं। उनको समझना बहुत कठिन है!

यहाँ भगवान्ने बहुत विस्तारसे वेदोंका वर्णन करके बताया कि वेद क्या विधान करता है, किस देवताका नाम लेता है और किसका अनुवाद करके विकल्प करता है। उन्होंने कहा कि श्रुतिका हृदय मेरे सिवाय और कोई जानता ही नहीं। इसलिए 'नान्यो मद् वेद कश्चन' (४२)—मैं जैसा कहता हूँ, उसको तुम वैसा ही स्वीकार करो। उसमें ज्यादा अक्ल लगानेकी जरूरत नहीं।

मां विधत्तेऽभिधत्ते मां विकल्प्यापोह्यते त्वहम्। ४३

श्रुति मेरा ही विधान करती है और मेरा ही नाम लेती है। इन्द्र आदि नाम मेरे ही नाम हैं। श्रुति मेरा ही विकल्प करके मेरा ही अपोहन कर देती है। शब्दसे मेरा आश्रय लेकर, भेदको मायामात्र बताकर और अन्तमें उसका प्रतिषेध करके श्रुति समाप्त हो जाती है। भेद मायामात्र है और तद्विषयक वेद अनुवादात्मक है। उसका प्रतिषेध तत्त्वज्ञान करानेके लिए है। 

अब उद्धवजीने पूछा कि प्रभो, लोग तत्त्वकी कई संख्याएँ बताते हैं। कुछ कहते हैं कि अट्ठाईस हैं, कुछ कहते हैं कि छब्बीस हैं और कुछ कहते हैं कि पच्चीस हैं। इस प्रकार भिन्न-भिन्न संख्या बतानेका अभिप्राय क्या है ?

भगवान्‌ने कहा—उद्धवजी, इसमें कोई शङ्का करनेकी आश्यकता नहीं है। विद्वान् ब्राह्मण जो कहते हैं, वह ठीक है। ये सब उनकी समझानेकी प्रक्रियाएँ हैं, जो अलग-अलग हैं। वे लोग अपने-अपने पक्षको सिद्ध करनेके लिए शास्त्रार्थ भी करते हैं और कहते हैं कि हमारा पक्ष ठीक, तुम्हारा गलत। लेकिन तुम्हें गुणन और भागमें आग्रह नहीं करना चाहिए। जो उसका फल है, हल है, उसपर ध्यान देना चाहिए।

इसके बाद भगवान्‌ने यह बात बतायी कि तत्त्वकी संख्या अठाईस बतानेवालोंका पक्ष कैसा है, छब्बीस बतानेवालोंका पक्ष कैसा है और पच्चीस बतानेवालोंका पक्ष कैसा है ? उन्होंने उन सभी पक्षोंकी प्रक्रिया समझा दी और यह भी बता दिया कि इनमें कहीं भी गुण-दोषकी दृष्टि नहीं करनी चाहिए। वे जो तत्त्व-दृष्टिसे समझाना चाहते हैं, उसीको समझना चाहिए।

सर्वं न्याय्यं युक्तिमत्त्वाद् विदुषां किमशोभनम्। २५

देखो, जब भगवान् कहते हैं कि सब पक्ष ठीक हैं तब लगता है कि उनके हृदयमें कितनो शान्ति होगी। जो सोचेगा कि यह गलत है, वह ठीक है—उसका मस्तिष्क कितना विचलित रहेगा। इसलिए यदि आपको अपना दिमाग ठीक रखना है, शान्त रखना है तो परमात्मामें मन लगाइये। युक्तियाँ तो सब पक्षोंमें होती हैं।

अब उद्धवजीने पूछा कि महाराज, प्रकृति, पुरुष, जड़, चेतन—ये सब पृथक्-पृथक् प्रभाववाले हैं। प्रकृतिमें आत्मा और आत्मामें प्रकृति देखनेमें आती है। लेकिन इसका विवेक ठीक नहीं होता। इसलिए आप मेरा यह संशय दूर कर दें।

भगवान्‌ने बताया कि उद्धवजी, प्रकृति और पुरुषको द्रष्टा एवं दृश्य समझो। एक विषय है दूसरा विषयी है, एक अनित्य है दूसरा नित्य है, एक जड़ है दूसरा चेतन है और एक सङ्गी है, दूसरा असङ्ग है। जो असङ्ग है, वह परमात्मासे एक है और बाकी सब दो नम्बरके हैं। एक नम्बरका सत्य परमात्मा है और दो नम्बरका सत्य दुनिया है। दो नम्बरका सत्य कुछ खास जानने लायक नहीं।

असलमें द्रष्टा-दृश्यका विवेक किये बिना, द्रष्टाको दृश्यसे पृथक् किये बिना उसको परमात्माके रूपमें जान भी कैसे सकेंगे ? प्रकृति आध्यात्मिक, आधिदैविक आदि रूपोंमें प्रकट होती है। जैसे मनुष्यके नेत्रको लीजिये। उसे अध्यात्म बोलते हैं, क्योंकि वह शरीरके भीतर है। बाहर जो रूप दीखता है, उसका नाम अधिभूत है। वह पञ्चभूतमें दिखाई पड़ रहा है। जो अपने शरीरमें दीखे, वह अध्यात्म और जो पञ्चभूतमें दीखे, वह अधिभूत—'भूते इति अधिभूतम् आत्मनि इति अध्यात्मम्'।

आँखमें जो अधिदैवका, सूर्यांशका प्रवेश है, उसीसे ये तीनों अलग-अलग सिद्ध होते हैं। तीनोंमें-से एक न रहे तो किसीकी सिद्धि न हो। इसलिए इस विलक्षणताको समझना चाहिए। आत्मा इन तीनोंसे बिल्कुल न्यारा है, इन तीनोंमें-से कोई नहीं।

आत्मा परिज्ञानमयो विवादो ह्यस्तीति नास्तीति भिदार्थनिष्ठः। ३३

आत्मामें अस्ति और नास्तिका कोई भेद नहीं चलता। लेकिन जो लोग परमात्मासे विमुख हैं, वे हमेशा इसीमें लगे रहेंगे कि क्या द्रष्टा है और क्या दृश्य है ? इसको वे छोड़ेंगे नहीं।

अब जब उद्धवजीने यह पूछा कि महाराज, जो लोग आपको भूलकर संसारमें लगे हैं, वे किस प्रकार भटकते हैं, तब भगवान्‌ने बताया कि मनीराम बड़े-बड़े खेल रचते रहते हैं। ये ही एक देहसे दूसरे देहमें जाते हैं। आत्मा उस मनको मैं-मेरा समझकर उसके साथ-साथ अपने जानेका अनुभव करता है और जैसा ध्यान करता है, वैसा ही हो जाता है। जब नया शरीर आता है तब पूर्व देहकी अत्यन्त विस्मृति हो जाती है—

जन्तोर्वै कस्यचिद्धेतोर्मृत्युरत्यन्तविस्मृतिः। ३८

किसी भी कारणसे पूर्वजन्मकी विस्मृति हो जानेका नाम मृत्यु और किसी भी शरीरको मैंके रूपमें मान बैठनेका नाम जन्म है—

जन्म त्वात्मतया पुंसः सर्वभावेन भूरिद।
विषयस्वीकृतिं प्राहुर्यथा स्वप्नमनोरथः॥ ३९

स्वप्न-मनोरथमें क्या होता है ? कभी-कभी तो जागते ही रहते हैं और ख्याल होता है कि चल रहे हैं। उस समय इतने तन्मय हो जाते हैं कि पाँव हिलने लगते हैं, हाथ हिलने लगते हैं। कभी-कभी मनमें सोचते-सोचते जीभसे बोलने लगते हैं। कितनी तन्मयता हो जाती है उस समय। इसी प्रकार हमारा मैं जिस शरीरपर चढ़ जाता है, उस शरीरके साथ उसका जन्म हो जाता है और जब उस शरीरसे निवृत्त हो जाता है अथवा यों कहो कि वह शरीर छूट जाता है, तब उसकी मृत्यु हो जाती है।

असलमें यह इन्द्रियोंकी ही सृष्टि है। उन्हींके कारण संसारके वेगमें तीन प्रकारकी सृष्टि भासती है। गङ्गाजी, जो कल दिखाई पड़ रही थीं, वे आज कहाँ हैं? वे तो सैकड़ों मील दूर बह गयीं। मनुष्य-शरीरका भी वही हाल है। जो शरीर कल था, वह आज नहीं और जो आज है, वह कल नहीं रहेगा। यह तो क्षण-क्षणमें बदल रहा है। जो मनुष्य ऐसा समझता और व्यवहार करता है कि पहले दिखाई पड़ा गङ्गा-जल और पुरुष अब भी है, वह अज्ञानी है। 'मृषागोर्धीर्मृषायुषाम्'—विषय भोगमें अपना जीवन व्यतीत करनेवाले मृषायु मनुष्य ही ऐसा बोलते और सोचते हैं।

परन्तु कहीं-कहीं विवेकी लोग भी इसी बातमें फँसे रहते हैं और जन्म-नाशको प्राप्त होते हैं। सारी अवस्थाएँ शरीरकी होती हैं। आत्माके साथ इनका कोई सम्बन्ध नहीं होता। जैसा अपने बारेमें है, वैसा ही सबके बारेमें है। जैसे एक व्यक्तिका शरीर अपने बापसे पैदा होता है और वह बेटा पैदा करके स्वयं मर जाता है, वैसे ही सब शरीर है। लोग शरीरमें तादात्म्य करके ही इसका सुख, इसका दुःख, इसका पाप, इसका पुण्य, इसकी लम्बाई, इसकी चौड़ाई अपने ऊपर थोप लेते हैं। असलमें है कुछ नहीं। लेकिन जैसे जल हिलनेसे उसमें प्रतिविम्बित वृक्ष हिलते हुए दिखाई पड़ते हैं और नदीमें नाव चलनेपर किनारेके वृक्ष चलते हुए मालूम पड़ते हैं, वैसे ही अपना मनो-निबन्धन ही सब रूपोंमें भासता है।

किसी स्त्रीको एकने कहा कि यह हमारी पत्नी है और दूसरेने कहा कि यह मेरी बेटी है। लेकिन उसमें पत्नीपना अथवा पुत्रीपना कहाँ है? मनमें-से निकलकर ही तो पत्नीपना या पुत्रीपना उसमें चला गया। इसी तरह स्त्री-पुरुषका भेद भी जबतक मन रहता है तभीतक मालूम पड़ता है। इसलिए जैसे स्वप्नदृष्ट पदार्थ होते हैं, वैसे ही यह विषयानुभव है, जो बिल्कुल मृषा है। वस्तु न होनेपर भी चिन्तन करनेके कारण मालूम पड़ती है।

यथा मनोरथधियो धियानुभवो मृषा।
स्वप्नदृष्टाश्च दाशार्ह तथा संसार आत्मनः॥ ५४

भगवान्‌ने समझाया कि उद्धवजी, तुम विषय-भोगमें मत लगो! दुनियादार लोग कभी तो आक्षेप करते हैं, कभी अपमान करते हैं, कभी ठग लेते हैं, कभी दोष निकालते हैं. कभी मारते हैं, कभी काटते हैं, कभी मूत देते हैं। लेकिन मनुष्यको अपना आपा अपने आपमें रखना चाहिए। किसीके कहनेसे अपने-आपको शरीर नहीं मान लेना चाहिए।

उद्धवजीने कहा कि महाराज, यह तो बड़ा मुश्किल है, क्योंकि सबकी अपनी-अपनी प्रकृति होती है और प्रकृतिपर विजय प्राप्त करना बहुत कठिन है।



: २३ :

श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि परीक्षित, जब उद्धवजीने ऐसा कहा तब भगवान् मुकुन्द बहुत प्रसन्न हुए और उनकी प्रशंसा करके कहने लगे—सचमुच इस संसारमें ऐसा कोई साधु नहीं है, जिसको दुर्जन लोग वाग्वाण मारें और वह अपने मनको समाहित कर ले—

बार्हस्पत्य स वै नात्र साधुर्वै दुर्जनेरितैः।
दुरुक्तैर्भिन्नमात्मानं यः समाधातुमीश्वरः॥ २

इस श्लोककी चर्चा चलनेपर मेरे बाबा कहा करते थे कि बेटा, इसका अर्थ ऐसे करो—'स वै न अत्र साधुः यः दुर्जनेरितैः दुरुक्तैर्भिन्नमात्मानं'—यहाँ वही पुरुष साधु है, जो दुर्जनों द्वारा गाली-गलौज करते रहनेपर भी अपने मनका समाधान कर ले। परन्तु ऐसा अर्थ अन्य किसी भी टीका-टिप्पणीकारने नहीं किया है। अब आप जैसे विद्वान् लोग प्रमाण हैं, इसलिए विचार करें कि कैसा अर्थ होना चाहिए ?

'न तथा तप्यते विद्धः पुमान् बाणैः' (३)—बाणसे उतनी चोट नहीं लगती, जितनी चोट दुष्टोंके दुर्वचनोंसे लगती है। इसके सम्बन्धमें एक इतिहास यह है कि मालवदेशमें कोई बड़ा कृपण ब्राह्मण रहता था। वह किसीका स्वागत-सत्कार नहीं करता था। उसके सब सम्बन्धी उनसे दुःखो हो गये। धर्मादिके बिना उसका धन भी नष्ट हो गया। कुछ जातिवालोंने ले लिया और कुछ चोरोंने। इस प्रकार धनका नाश हो जानेपर ब्राह्मणको बड़ी चिन्ता हुई, बहुत निर्वेद हुआ। उसने कहा कि हाय-हाय, मैंने अपना जोवन नष्ट कर दिया।

शरीर चाहे कितना भी सुन्दर हो, पर उसमें जरा-सा कोढ़ हो जाय तो उसके सौन्दर्यको बिगाड़ देता है। इसी प्रकार मनुष्यमें कितने भी सद्गुण हों, परन्तु जब लोभ आजाता है तो उससे कोढ़के समान ही उसके जीवनको दाग लग जाता है। धन तो ऐसा है कि उसको कमानेमें, बढ़ानेमें, उसके रख-रखावमें, उसे खर्च करनेमें, नाशसे बचानेमें और उसका उपभोग करनेमें जहाँ देखो, वहाँ दुःख है। 'एते पञ्चदशानर्था ह्यर्थमूला मता नृणाम्' (१९)—धनके साथ पन्द्रह दुःख लगे हुए हैं। इसलिए इनसे जरा बचकर रहना चाहिए। धनके लिए सम्बन्धो शत्रु हो जाते हैं और मित्र छोड़कर चले जाते हैं।

ब्राह्मणने सोचा कि मेरी जिन्दगी तो व्यर्थ गयी। भगवान्‌की मायाने लोगोंको कितना मोहित कर रखा है। लेकिन मुझपर भगवान् आज कितने सन्तुष्ट हैं कि मैं बिल्कुल दरिद्र हो गया हूँ। अब मैं तपस्यासे अपना शेष जीवन व्यतीत करूँगा। खट्वाङ्गको तो दो घड़ीमें स्वर्ग मिला है। मेरे पास तो अभी बहुत समय है।

इस प्रकार ब्राह्मण ममता-अहंता छोड़कर भिक्षु हो गया। अब वह गाँव-नगरमें घूमे और किसीको अपना परिचय न दे। लोग उसका अपमान करें। कोई तो उस बेचारेका दण्ड छीन ले, कोई कमण्डलु छीन ले, कोई रुद्राक्ष माला ले ले और कोई चीर ले ले। लोग उसको भोजन दिखा-दिखाकर ललचायें, कभी खाते समय उसके भोजनमें टट्टी-पेशाब कर दें। कोई उसको चोर-डाकू बताये और कोई उसकी बड़ी-बड़ी निन्दा करे।

लेकिन वह ब्राह्मण सोचे कि यह तो मेरे प्रारब्धका फल है। कभी उसके मनमें कोई दुःख आये ही नहीं। वह अपने धर्ममें दृढ़ रहा। उसने अनुभव किया कि उसे कोई दुःख देनेवाला नहीं है। देवता, आत्मा, ग्रह, कर्म, काल—ये सब दुःख देनेवाले नहीं हैं। मनुष्यको जो दुःख होता है, वह उसके मनसे ही होता है।

असलमें जो चीज जहाँ, जिस समय, जैसी होती है, उसी देशमें, उसी कालमें उसी आकारमें उसका उपादान भी होता है। जैसे घड़ा है तो घट-देशमें, घट-कालमें, घट-आकृतिमें घटकी उपादानभूता मृत्तिका विद्यमान है। इसी प्रकार जो सुख-दुःख होता है, वह जिस हृदय देशमें होता है, यावत्काल रहता है और जैसी उसकी रूपरेखा होती है, वही उसका उपादान होता है। मनके बिना दुखः होता ही नहीं। दुःखका उपादान प्रतिकूल संवेदनवाले मनमें ही है। मन ही वृत्तियोंकी सृष्टि करता है। आत्मा असङ्ग है। अध्यासके कारण ही सारा-का-सारा दुःख होता है। कामनाओंके कारण ही जीवको बन्धन होता है। ईश्वरको बन्धन नहीं होता। अगर संसारके दीखनेसे ही किसीको बन्धन होता है तो ईश्वरको भी बन्धन होना चाहिए। दान, स्वधर्म, जप, नियम, जितने साधन हैं, वे मनको वश करनेके लिए ही हैं।

'परो हि योगो मनसः समाधिः' (४६)—सबसे बड़ा योग मनका समाहित रहना है। मनको ऐसे दफना दो, जैसे वह मर गया हो अथवा वह हो ही नहीं। चलते, फिरते, बोलते भी मनको दफना कर रखो। उसको जगाकर मत रखो। जैसे जब कोई मर जाता है तो समाधि दे देते हैं, वैसे ही मनको समाधिस्थ कर देना चाहिए। मनमें पूरा समाधान रहना चाहिए। जिसका मन शान्त है, उसको दानादिका कोई प्रयोजन नहीं। जिसका मन असंयत है, उसको भी दानादिसे क्या प्रयोजन है? सारे देवता मनके वशमें हैं। जो लोग अपनेको तो वशमें नहीं करते और

दूसरोंको वशमें करनेके लिए जाते हैं, वे संसारमें मित्र, उदासीन, रिपु बनाकर झूठमूठ विमूढ होते हैं। यह देह तो केवल मनका खेल है। इसको मैं मानकर लोग संसारमें भटकते हैं। यदि कोई दूसरा सुख-दुःखका हेतु हो तो भौतिक वस्तुको, स्थूल-सूक्ष्मको ही दुःख होगा। आत्माको दुःख नहीं होगा। फिर जब कभी अपने दाँतसे अपनी जीभ कट जाय तो मनुष्य किसपर क्रोध करे?

एक बहुत भलेमानुस थे। एक दिन उनके दाँतसे उनकी जीभ कट गयी तो वे लोहा लेकर अपने दाँतोंको तोड़नेके लिए तैयार हो गये। किसीसे समझाया कि तुम्हारी जीभ तो कटी-सो-कटी, अब तुम्हारे दाँत भी टूट जायेंगे। ऐसी गलती क्यों करते हो?

तो, देवता भी सुख-दुःख नहीं देते। सुख-दुःख देनेवाला आत्मा भी नहीं, ग्रहादि भी नहीं। कालादि भी सुख-दुःखके हेतु नहीं। दूसरा कोई भी दूसरेको सुख-दुःख नहीं देता—

कोउ न काहु सुख दुःख कर दाता। निज कृत कर्म भोग सुनु भ्राता॥

जो लोग अपनेमें कर्तापन मानते हैं, उन्हीं लोगोंको यह भाव होता है कि इसने हमको खूब सताया। जो अपनेको कर्ता नहीं मानते, वे दूसरेको कर्ता कहाँसे मानेंगे? जो भक्ति-सिद्धान्तकी दृष्टिसे यह मानते हैं कि ईश्वर ही सब-कुछ करवा रहा है, उनको तो सब जगह अपने प्यारेक हाथ दिखायी देता है। इसलिए कहीं भी किसी दूसरेके द्वारा दुःख नहीं मिलता। इसी परात्म-निष्ठाका आश्रय लेकर बड़े-बड़े महापुरुष चले हैं।

अहं तरिष्यामि दुरन्तपारं तमो मुकुन्दाङ्घ्रिनिषेवयैव। ५८

इसलिए भिक्षु ब्राह्मणने यह निश्चय किया कि मैं मुकुन्द भगवान्‌के चरणारविन्दकी सेवा करके इस अज्ञानान्धकारको पार कर जाऊँगा। दुःख मुझे छूयेंगे नहीं। इस तरह वह महात्मा बिना धनके, निर्विण्ण होकर सारी पृथिवीमें विचरण करता और दुष्ट लोग उसको सताते। परन्तु वह अकम्पित रहता। 'अकम्पितोऽमुं मुनिराह गाथाम्' (५९)—अकम्पित रहकर ही उसने इस गाथाका गान किया।

इसलिए उद्धवजी, 'सुखदुःखप्रदो नान्यः' (६०)—सुख-दुःख देनेवाला दूसरा कोई नहीं। 'आत्मविभ्रमः' (६०)—अपनी भ्रान्ति ही सुख-दुःख देती है। संसारके शत्रु-मित्र अपने अज्ञानके बनाये हुए हैं। इसलिए अपने मनको वशमें करो और मुझमें स्थित कर दो। भिक्षुने जैसे सुख-दुःखको सह लिया, वैसे ही महात्माको भी सुख-दुःख सह लेना चाहिए। जो पुरुष एकाग्रचित्तसे इस भिक्षु-गीतको सुनता और धारण करता है, उसे सुख-दुःख कभी नहीं सताते।



भगवान् कहते हैं कि उद्धवजी, अब मैं तुमको सांख्यतत्त्व बताता हूँ, जिसे जानकर मनुष्य भेद-भ्रम छोड़ देता है। किसी भी वस्तुके वर्त्तमान स्वरूपको समझानेके लिए उसके जन्म और प्रलय-स्वरूपकी कल्पना की जाती है। तभी उसका वर्त्तमान स्वरूप समझमें आता है। आदियुगमें जब कि लोग विवेकी होते हैं, तब ज्ञान और अर्थ, द्रष्टा और दृश्य जुदा-जुदा नहीं रहते। सब ब्रह्मरूप रहता है। वही जब मायामें प्रतिफलित होता है तब द्रष्टा-दृश्य दो-के रूपमें दीखने लगता है। इसमें एकका नाम होता है प्रकृति और दूसरेका नाम होता है पुरुष। ज्ञानका नाम पुरुष है और ज्ञेयका नाम प्रकृति है। उसीसे सत्त्व-रज-तम तीन गुण और अहंकार आदिसे युक्त पाञ्चभौतिक सृष्टि होती है। फिर उसमें मेरा शरीर प्रकट होता है। मेरे शरीरमें नाभि होती है और नाभिमें पद्म होता है। पद्मसे ब्रह्मा होते हैं और वे ब्रह्मा चतुर्दश लोकोंकी सृष्टि करते हैं।

यह सारी सृष्टि कर्मका फल है। परन्तु भक्तिका फल वैकुण्ठ है। भक्ति-फल वैकुण्ठको छोड़कर बाकी सब गतियाँ चल हैं। मैं ही कलात्मा हूँ। मुझमें ही यह संसार डूबता-उतराता रहता है। मैं ही इसका आदि, अन्त और मध्य हूँ।

'विकारो व्यवहारार्थो यथा तैजसपार्थिवाः' (१७)—जिस प्रकार सोना और मिट्टीमें जो घड़ा, कङ्कन आदि विकार हैं, वे व्यवहारके लिए हैं—वस्तुतः आदि, मध्य, अन्तमें सोना और मिट्टी ही है, उसी प्रकार जिसको लेकर यह सारी सृष्टि चलती है, वह अबाधित तत्त्व सत्य है और ये जो बनते-बिगड़ते हैं, इनका नाम है विकार। जब प्रलय होता है तब ये सब-के-सब अन्ततः प्रकृतिमें और प्रकृति महापुरुषमें जाकर लीन हो जाती है। इस प्रकार सृष्टि-स्थिति-प्रलयकी दृष्टिसे इसपर विचार करना भी ज्ञानकी एक प्रक्रिया है, सांख्यके सिद्धान्त या तत्त्वका निरूपण नहीं। वह तो एक प्रकारसे ध्यानका निरूपण है। सृष्टिमें कहीं भी राग-द्वेष नहीं होना चाहिए, क्योंकि वह एकमें-से निकली है, एकमें रह रही है और एकमें ही लीन हो जायेगी। इसलिए सब एक ही है।

एवमन्वीक्षमाणस्य कथं वैकल्पिको भ्रमः।
मनसो हृदि तिष्ठेत व्योम्नीवार्कोदये तमः॥ २८
एष सांख्यविधिः प्रोक्तः संशयग्रन्थिभेदनः।
प्रतिलोमानुलोमाभ्यां परावरदृशा मया॥ २९

प्रतिलोमानुलोम पद्धतिसे विचार करनेके कारण सृष्टि और प्रलयकी कल्पना करके बुद्धिमें तत्त्वकी एकता बैठा दी जाती है, जिससे कि कहीं राग-द्वेष न हो।



इसके बाद भगवान् श्रीकृष्णने गुणोंके स्वरूपका वर्णन करते हुए कहा कि उद्धवजी, शम, दम, तितिक्षा, ईक्षा, तपस्या, सत्य, तुष्टि, त्याग, स्पृहा, सन्तोष आदि सत्त्वकी वृत्तियाँ हैं। अभिलाष, व्यापार आदि रजकी वृत्तियाँ हैं और क्रोध, लोभ, हिंसा आदि तमकी वृत्तियाँ हैं। मैं-मेरा तो वृत्तियोंका सन्निपात है। इन्हीं वृत्तियोंके अनुसार मनुष्य अपने-अपने कर्म करता है और उन कर्मोंके अनुसार उसकी गति होती है।

देखो, तुम अपने मनको देखकर यह समझ सकते हो कि इस समय कलियुगमें हो कि त्रेतामें हो कि द्वापरमें हो। असलमें मनकी बुराई ही बुरा समय और बुरा स्थान तथा मनकी अच्छाई ही अच्छा स्थान और अच्छा समय है। जब मन खूब प्रसन्न हो, मुझ परमात्मामें लग रहा हो, निस्संग हो, तब समझना चाहिए कि सत्त्वगुण है। जब मन भटक रहा हो, तब समझो कि रजोगुण है और जब मनमें आलस्यादि हों तब समझना कि तमोगुण है।

इसी प्रकार जो जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति तीन अवस्थाएँ हैं, ये भी तीन गुणोंके द्वारा ही होती हैं। तीन गतियाँ भी गुणोंसे ही होती हैं। गुणोंके क़ारण ऊपर अथवा नीचेकी चाहे जो गति प्राप्त हो, परन्तु यदि पुरुष त्रिगुणातीत हो जाय तो उसे मेरी प्राप्ति होती है। ज्ञान भी तीन प्रकारका है! अपनेको जानो तो सात्त्विक ज्ञान, भेदको जानो तो राजस ज्ञान और मूढ़ताको जानो, मूढ़की तरह रहो तो तामस ज्ञान होता है। परन्तु मुझ परमात्माका ज्ञान हो जाय तो वह निर्गुण ज्ञान है।

देखो, गीतामें जो ज्ञानका उपदेश किया गया है, वह त्रिगुणोंके अन्दर किया गया है। परन्तु यहाँ भागवतमें जो एक-एक विभाग बताया हुआ है, यह बिल्कुल विलक्षण है।

उद्धवजी, वनमें रहना सात्त्विक है, गाँवमें रहना राजस है और जूआ-घरमें रहना तामस है। लेकिन मेरे मन्दिरमें रहना निर्गुण है, गुणातीत है। मुझ परमात्मासे सम्बन्ध रखनेवाली वस्तुको संसारमें नहीं डालना चाहिए! जो कर्त्ता अनासक हो वह सात्त्विक, जो क्रोधान्ध हो वह राजस, जो अनुसन्धान-शून्य हो वह तामस और जो मेरी शरणमें हो वह निर्गुण है।

इस प्रकार सब वस्तुओंका आश्रय मुझमें है। यही गुणातीत होनेकी पद्धति है। इसी नियमके अनुसार सारी सृष्टि होती है। इसलिए यह मनुष्य-शरीर प्राप्त करके विषय-संगका परित्याग कर दो और मेरा भजन करो। जो निस्संग विद्वान् मेरा भजन करता है, वह त्रिगुणोंपर विजय प्राप्त कर लेता है और लिङ्ग शरीरका परित्याग करके मुझ परब्रह्म परमात्मासे एक हो जाता है। उसके लिए फिर बाहर-भीतरका कोई भेद नहीं रहता—

मयैव ब्रह्मणा पूर्णो न बहिर्नान्तरश्चरेत्। ३६



मल्लक्षणमिमं कायं लब्ध्वा मद्धर्म आस्थितः।
आनन्दं परमात्मानमात्मस्थं समुपैति माम् ॥ १

देखो, भगवान् कितने निपुण हैं। जब मत्स्यावतार धारण करते हैं तब मछलियोंमें यह व्याख्यान देने लगते हैं कि जैसा मैं हूँ, वैसा ही शरीर मैंने तुमलोगोंको दिया है। तुमलोग मुझे ही अपना भजनीय समझो। जब वराहोंमें बैठते हैं तब कहते हैं कि जैसे तुम हो, वैसा ही मैं हूँ, आओ मेरा भजन करो। इसी तरहके अन्य अवतारोंमें भी बोलते हैं।

अब जब कि भगवान् मनुष्योंके मध्य हैं, तब कहते हैं कि उद्धवजी, 'मल्लक्षणमिमं कायं'—जैसा मैं हूँ, वैसे ही तुम हो। जैसे लक्षण मेरे अन्दर हैं, वैसे ही लक्षण तुम्हारे अन्दर हैं। इसलिए तुम भक्तियोग करो और 'मद्धर्मं आस्थितः'—भागवत-धर्मका आश्रय लो। इसका फल यह होगा कि—

आनन्दं परमात्मानमात्मस्थं समुपैति माम्।

तुम्हें आनन्दका साक्षात्कार हो जायेगा। तुम्हें जो गुण दिखाई पड़ रहे हैं, वे वास्तविक नहीं, मायामात्र हैं—'गुणेषु मायामात्रेषु' (२)। गुण माने यह मत समझना कि वे किंभूत किमाकार हैं।

देखो, सांख्यवाले कहते हैं कि गुण दीखते ही नहीं। मोह देखकर तमःका, क्रिया देखकर रजःका और ज्ञान देखकर सत्त्वका केवल अनुमान किया जाता है। त्रिगुण प्रत्यक्ष होता ही नहीं, केवल अनुमित है। इसीलिए वेदान्त-दर्शन आदिमें अनुमान-प्रधान जो मत हैं, उनका खण्डन करके वैदिक मतकी स्थापना की गयी है।

यहाँ गुण शब्दका अर्थ यही है कि शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध दिखाई तो पड़ रहे हैं, परन्तु इनमें रहकर भी कहीं फँसना नहीं चाहिए। संसारके विषयी लोगोंका संग करके उनका अनुगमन करनेवालेकी वही दशा होती है, जैसे अन्धेके सहारे चलनेवाले अन्धोंकी। उन्हें घोर अन्धकारमें भटकना पड़ता है।

भगवान् कहते हैं कि उद्धवजी, तुम चक्रवर्ती सम्राट् ऐल अर्थात् पुरुरवाकी कथा जानते ही हो। उसने सारे विश्वको तो जीत लिया। परन्तु उर्वशीके रूपमें ऐसी महामाया उसके सामने आयी कि वह उसके पाँवोंमें अपने सिरके बल गिर पड़ा—'या करोति पदाक्रान्तान् भ्रूविजृम्भेण केवलम्'।

उर्वशीके लिए राजा पुरुरवा बड़ा विकल हुआ, नंगा होकर घूमने लगा। अन्तमें जब ईश्वर-कृपासे उसको वैराग्य हुआ तब बोला कि अरे मुझे तो समयका ख्याल ही नहीं रहा!

इतने दिनोंतक मैंने सन्ध्या-वन्दन नहीं किया। सूर्योदय-सूर्यास्तका कोई पता नहीं चला। उर्वशीने मुझ चक्रवर्ती सम्राट्को अपना खिलौना बना लिया। वह मुझे तिनकेकी तरह छोड़कर चली गयी। जैसे गधा गधीकी लात खाता हुआ उसके पीछे-पीछे चलता है, वैसे ही मैं भी उसके पीछे चला। स्त्रीने जिसके मनका हरण कर लिया, उसकी विद्या, तपस्या आदि सब व्यर्थ हैं।

किं विद्यया किं तपसा किं त्यागेन श्रुतेन वा।
किं विविक्तेन मौनेन स्त्रीभिर्यस्य मनो हृतम्॥ १२

इस श्लोकका अर्थ ऐसे करना चाहिए कि मनुष्य-जीवनमें जो यौन आकर्षण है, लैङ्गिक आकर्षण है; वह जैसे स्त्रीका पुरुषके प्रति है, वैसे ही पुरुषका स्त्रीके प्रति है! इसलिए यहाँ एकके वर्णनसे दूसरेका भी वर्णन हो जाता है—वैसे ही, जैसे मधुसूदनसे कैटभारि भी उपलक्षित होता है। स्त्री और पुरुषने यदि परस्पर अपना मन खो दिया तो समझो कि सब-कुछ लुटा दिया।

पुरुरवा कहते हैं कि मैं तो पशुकी तरह उर्वशीके सामने हार गया और अब भी मेरी कामना तृप्त नहीं होती। यह पुंश्चली, यह कुलटा, मेरे मनको हरण करके ले गयी। इसके समझानेपर भी मेरा मोह नहीं जाता।

किमेतया नोऽपकृतं रज्ज्वा वा सर्पचेतसः। १७

मैंने ही रस्सीको साँप समझ लिया, रस्सीने मेरा क्या बुरा किया? मैंने ही इसपर अपनेको आसक्त कर दिया। इसका कोई दोष नहीं। कहाँ यह मलिन शरीर और कहाँ इसके सद्गुण! मैंने अज्ञानवश असुन्दरको सुन्दर समझ लिया। यह शरीर किसका है, कुछ पता नहीं। पत्नी कहती है कि यह मेरा पति है, माता-पिता कहते हैं कि हमने इसको पैदा किया है, स्वामी कहता है कि मैंने इसका पालन किया है, आग जीभ लपलपाती हुई कहती है कि मैं एक दिन इसको भस्म कर दूँगी, कुत्ते कहते हैं कि यह हमारा है और गीध कहते हैं कि यह हमारा है। ऐसी स्थितिमें इस शरीरके बारेमें कोई न्यायाधीश भी नहीं बता सकता कि यह किसका है?

अहो सुभद्रं सुनसं सुस्मितं च मुखं स्त्रियः। २०

लोग कहते हैं कि इस शरीरमें क्या बढ़िया नाक है, क्या बढ़िया मुस्कान है। लेकिन भर्तृहरि कहते हैं—

स्तनौ मांसग्रन्थी कनककलशावित्युपमितौ
मुखं श्लेष्मागारं तदपि च शशाङ्केन तुलितम्। वैराग्यशतक १९

स्त्रियोंके स्तन मांसकी गाँठें हैं और बोलते हैं सोनेका कलश है। मुखमें लार भरा हुआ है और बोलते हैं अधरामृत है।

विण्मूत्रपूये रमतां क्रमीणां कियदन्तरम् । २१

इसलिए पुरुरवा भी कहते हैं कि जो विष्ठा-मूत्रमें रमण करते हैं, उनमें और कीड़ेमें क्या अन्तर है। मनुष्यको बहुत सँभलकर रहना चाहिए। स्त्री-सङ्ग तो बिल्कुल नहीं करना चाहिए। स्त्रैणके सङ्गसे भी बचना चाहिए। बड़े-बड़े विद्वानोंके लिए भी षड्वर्ग—काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य विश्वास करने योग्य नहीं।

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं कि उद्धवजी, इस प्रकार उद्गार प्रकट करके राजा पुरुरवा उर्वशीका मोह छोड़कर अज्ञानरहित हो गये और उन्होंने आत्मस्वरूप मेरा साक्षात्कार प्राप्त कर लिया। इसलिए बुद्धिमान् मनुष्यको चाहिए कि वह पुरुरवाकी तरह दुःसङ्ग छोड़कर सत्संग करे; क्योंकि सन्त अनपेक्ष होते हैं, भगवच्चित्त होते हैं, समदर्शी होते हैं। जो निर्मम हैं, निरंहकार हैं, निर्द्वन्द्व हैं, निष्परिग्रह हैं; उन्हींका नाम सन्त है।

देखो, आजकल खिताबी सन्त भी होते हैं। कोई सभा उनको सन्तका खिताब देकर घोषित कर देती है कि ये सन्त हैं। लेकिन वह खिताबी सन्त किसी कामका नहीं निकलेगा। जो असली सन्त है, उसीके भीतरसे सन्त निकलता है। बाहरसे किसीपर सन्तपना ओढ़ाया नहीं जाता।

भगवान् कहते हैं कि उद्धवजी सन्त वहीं हैं, जो मेरी लीला-कथाका श्रवण, गायन और अनुमोदन करते हैं। इसीसे मेरी भक्ति बढ़ती है।

भक्तिं लब्धवतः साधोः किमन्यदवशिष्यते । ३०

जब भक्ति मिल गयी तो और क्या बाकी रहा? जिसने अग्निका आश्रय ले लिया, उसको शीत, भय, तम कैसे कष्ट पहुँचा सकते हैं? जो इस घोर भवसागर में डूबते-उतराते हैं, उनके लिए यही सबसे बढ़िया नाव है कि वे ब्रह्मवेत्ता शान्त सन्तका आश्रय लें। धर्म ही संसार-भयको मिटानेवाला हैं। 'सन्तोऽर्वाग् बिभ्यतोऽरणम्'। (३३) जो इस संसारमें डर रहे हैं, उनके लिए सन्त ही शरण्य हैं। कहते हैं कि सूर्योदय होता है तो मनुष्यकी आँखोंको रोशनी मिलती है। लेकिन उससे दीखता क्या है? विषय-भोग—'बहिरर्कः समुत्थितः' (३४)—राम-राम, क्या वह सूर्य सन्तोंकी बराबरी करेगा? क्योंकि सन्त तो वह आँख देते हैं, जिससे भीतर मुझ परमात्माके दर्शन होते हैं।

इसलिए भगवान्ने कहा कि सन्त ही देवता हैं, सन्त ही बन्धु-बान्धव हैं, सन्त ही आत्मा हैं और सन्त ही मैं हूँ—'सन्त आत्माहमेव च'।

उद्धवजी, इलानन्दन पुरुरवाको मेरा साक्षात्कार होते ही उर्वशी-लोकको स्पृहा मिट गयी और वह इस पृथिवी-तलपर विचरण करने लगा।



उद्धवजीने भगवान्‌से कहा कि महाराज, आपकी पूजाके बिना तो काम नहीं बनेगा। अगर हाथ-पाँव आपकी पूजामें नहीं लगेंगे तो और किसी संसारी काममें लग जायेंगे। आँख-जीभ आपकी पूजामें नहीं लगेंगी तो किसी और काममें लग जायेंगी। इसलिए आप इनको कुछ ऐसी फँसावट दें कि ये आपमें लगे रहें—'क्रियायोगं समाचक्ष्व' (१)। बड़े-बड़े नारदादि महात्मा जो आपकी आराधनाका वर्णन करते हैं, वह आपके मुँहसे ही निकला हुआ है। वह सब वर्णों, सब आश्रमोंके लिए उत्तम-से-उत्तम श्रेय है। 'स्त्रीशूद्राणां च मानद' (४)—बड़े-बड़े वैदिकोंने अपनी ओरसे जिन लोगोंको निकाल दिया है, उनको भी यदि आश्रय मिल सकता है तो आपकी आराधनासे ही मिल सकता है। उनके लिए कल्याणकारी भी यही है। इसलिए हे कमलनयन, आप मुझको कर्म-बन्धनसे मुक्त करनेवाली विधि बतायें।

भगवान्‌ने कहा कि उद्धवजी, इसका विस्तार तो बहुत है। लेकिन मैं थोड़ेमें बता रहा हूँ। मेरी पूजाकी तीन विधियाँ हैं—वैदिक, तान्त्रिक और मिश्रित। इनमें-से जिसमें रुचि हो, उसके अनुसार पूजा करनी चाहिए।

पहली बात यह है कि यज्ञोपवीत आदि संस्कारसे सम्पन्न होकर मेरी आराधना करनी चाहिए। फिर मूर्तिमें, वेदीमें, आगमें, सूर्यमें, जलमें, हृदयमें अथवा ब्राह्मणमें मेरी पूजा करनी चाहिए। पूजा करनेकी पद्धति अपने गुरुसे प्राप्त करनी चाहिए और फिर उसीके अनुसार स्नान, सन्ध्या-वन्दनादि करके मेरी पूजा करनी चाहिए।

शैली दारुमयी लौही लेप्या लेख्या च सैकती।
मनोमयी मणिमयी प्रतिमाष्टविधा स्मृता॥ १२

भगवान् कहते हैं कि मेरी प्रतिमाएँ आठ प्रकारकी होती हैं और उनमें प्राण-प्रतिष्ठा भी चल-अचल दो प्रकारसे होती है। कहीं आवाहन-विसर्जन करना पड़ता है और कहीं नहीं करना पड़ता। मेरी पूजा विविध वस्तुओंसे भी हो सकती है, जितनी वस्तुएँ मिलें, उनसे भी हो सकती है और कुछ न मिले तो मानसिक भी हो सकती है—'यथालब्धैर्हृदि भावेन चैव हि' (१५)। मेरी पूजाके लिए तुलसीका एक दल भी बहुत है।

एक महात्माको मैंने देखा कि वे तुलसीके सूखे पत्ते रखते थे। उनमें-से एक पत्ता रोज शालग्रामको चढ़ाते थे। जब पूरा पत्ता नहीं चढ़ा पाते तो उसमें-से जरा-सा, एक कणिका ही लेकर चढ़ा देते थे। वस्तुतः भगवान्‌की पूजामें वस्तुकी जरूरत नहीं, केवल भावनाकी जरूरत है।

उद्धवजी, जैसी मूर्ति हो, वैसी ही पूजा करनी चाहिए। यदि अर्चामें पूजा करनी हो तो स्नान आदि करना चाहिए। स्थण्डिलमें तत्त्वका न्यास करना चाहिए। अग्निमें हवन करना चाहिए। सूर्यमें अभ्यर्हण करना चाहिए। सलिलमें अर्घ्यादि देना चाहिए। अगर कोई प्रेमसे मुझे पानी दे दे तो वह मेरे लिए बहुत है। लेकिन दुष्ट अथवा अभक्त लोग बहुत सारी वस्तुएँ दें तब भी मेरी दृष्टिमें उसकी कोई कीमत नहीं। पवित्र होकर, पवित्र भावसे जैसे अपने घर आये हुए विशिष्ट अतिथिके हाथ-पाँव धोते-धुलाते हैं, आचमन करवाते हैं, वैसे ही मेरी सेवा करनी चाहिए।

उद्धवजी, पूजाके पहले अपने-अपने शरीरको भी भूत-शुद्धि आदिके द्वारा शुद्ध कर लेना चाहिए। फिर मेरी जीवकलाका ध्यान करके और पिण्डमें उसकी पूजा करके परमात्ममय हो जाना चाहिए। मेरे जो आयुध हैं, अस्त्र हैं, आभूषण हैं, पार्षद हैं, उन सबकी पूजा भी करनी चाहिए। आगम, देवता आदिकी पूजा भी कर लेनी चाहिए। स्वर्णघर्म नामक अनुवाक आदिका पाठ कर लेना चाहिए। जैसे शास्त्रमें विधि है वैसे ही मेरी पूजा करनी चाहिए। हवन भी करना चाहिए और उसके बाद नारायणात्मक मूलमन्त्रका जप भी करना चाहिए—

मूलमन्त्रं जपेद् ब्रह्म स्मरन्नारायणात्मकम्। ४२

इसके बाद विष्वक्सेन आदिको पूजाका प्रसाद देना चाहिए। मेरी कथा आदिका श्रवण करना-कराना चाहिए। मुहूर्त भरके लिए भी समय निकालकर मुझमें तन्मय हो जाना चाहिए। मेरी स्तुतियाँ करनी चाहिए। मुझे साष्टाङ्ग दण्डवत् करना चाहिए। जहाँ पूजा होती हो, वहाँ पूजा करनी चाहिए। मन्दिर बनवाना चाहिए और वहां हमेशा मेरी पूजा होती रहे, ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए। ब्राह्मणको दी हुई वृत्तिका हरण नहीं करना चाहिए। जो कर्त्ताको फल होता है, वही उसके सहायकको होता है, प्रेरकको होता है और अनुमोदकको होता है। इसमें सब फल-भागी होते हैं।



देखो, असलमें घूम-फिरकर निर्माण तो अपने मनका ही होना चाहिए। मन बढ़िया रहेगा तो भगवान् उसमें स्थित रहेंगे। इसलिए मनको शुद्ध करना अनिवार्य है। जब मनुष्यका मन बिगड़ जाता है तो सारी दुनिया ही बिगड़ जाती है और मन यदि निर्मल हो, प्रसन्न हो तो सारी दुनिया ही बन जाती है।

इसलिए भगवान् कहते हैं कि उद्धवजी, अपने-अपने स्वभावके अनुसार जो कर्म कर रहे हैं, उनकी प्रशंसा या निन्दा मत करो—

परस्वभावकर्माणि न प्रशंसेन्न गर्हयेत्। १

क्योंकि जो इस निन्दा-स्तुतिमें लग जाता है, वह असत्य अर्थमें अभिनिविष्ट होनेके कारण परमात्मासे वञ्चित हो जाता है। जैसे स्वप्न और मृत्यु है, वैसे ही नानार्थ-दर्शन है।

किं भद्रं किमभद्रं वा द्वैतस्यावस्तुनः कियत्।
वाचोदितं तदनृतं मनसा ध्यातमेव च ॥ ४

द्वैत अवस्तु है। उसमें क्या अच्छा है, क्या बुरा है, कितना अच्छा और कितना बुरा है—छोड़ो इस झगड़ेको, यह नाप-तौल तो बनियोंके जिम्मे कर दो। यहाँ तो इतनी ही बात है कि जो वाणीसे कहा जाता है, वही मनसे सोचा जाता है। इसलिए वह सब ध्यान देने योग्य नहीं। 'छायाप्रत्याह्वयाभासाः' (५)—परछाईं, प्रतिध्वनि और सीपी आदिमें चाँदीका आभास न होनेपर भी अर्थकारी होते हैं।

देखो, छायासिद्ध करनेवाले लोग शीशेमें अपनी परछाईं देख-देखकर, उससे फिर चीज मँगाने लगते हैं। मैंने ऋषिकेश आदिमें देखा है कि पण्डा लोग अज्ञानी यात्रियोंसे प्रतिध्वनिमें 'लड्डू लोगे कि पेड़ा ?' यह बोल-बोलकर लड्डू-पेड़ा ले लेते हैं।

भगवान् कहते हैं कि देहादि न होनेपर भी मृत्यु पर्यन्त भय देते हैं। मेरे सिवाय कोई दूसरी वस्तु नहीं है। सबसे विलक्षण है आत्मा, आत्मासे विलक्षण कुछ है ही नहीं। आत्माके सिवाय कुछ है ही नहीं। जो त्रिविध प्रतीति है, यह बिल्कुल निर्मूल है। मायाकी रचना है। यह

समझकर दुनियामें किसीकी निन्दा और स्तुति मत करो ! सूर्यकी तरह विचरण करो। सूर्य अपने रास्ते चलता रहता है और सबके ऊपर अपनी रोशनी डालता रहता है।

प्रत्यक्षेणानुमानेन निगमेनात्मसंविदा। आद्यन्तवदसज्ज्ञात्वा निःसङ्गो विचरेदिह॥ ९

प्रत्यक्षसे कई चीजें अनित्य हैं—जैसे घड़ेको डण्डा मारो तो वह फूट जायेगा। अनुमानसे भी कई चीजें अनित्य हैं—जैसे पृथिवी आदि सावयव होनेके कारण अनित्य हैं। वेदसे भी जाना जाता है कि कई चीजें अनित्य हैं—जैसे आकाशादिकी उत्पत्ति आदि। कई वस्तुएँ आत्मानुभूतिसे भी अनित्य हैं—जैसे कार्यकारणादि भाव। जो प्राकृत भाव हैं, वे अपने अद्वैत स्वरूपमें बिल्कुल नहीं हैं। इसलिए जिसका आदि है, अन्त है, वह असत्य है। उससे असङ्ग रहकर विचरण करना चाहिए।

अब उद्धवजीने पूछा कि भगवन्, यह सृष्टि किसके लिए है—आत्माके लिए कि देहके लिए ? भगवान्‌ने यह उत्तर दिया कि न आत्माके लिए, न देहके लिए। यह जो सम्बन्ध बन गया है उसीके लिए सृष्टि है—'संसारः फलवांस्तावदपार्थोऽप्यविवेकिनः' (१२)। वास्तवमें यह अपार्थ है। यदि पार्थ होता तो भगवान् इससे बहुत प्यार करते। परन्तु यह तो बिल्कुल अपार्थ है, अपगतार्थ है, इसमें कोई प्रयोजन ही नहीं !

देखो, पार्थ शब्दका अर्थ भी इसी प्रकार करते हैं। 'पः परमेश्वरः अर्थः यस्य'—पमेश्वर ही जिसके जीवनका अर्थ है, उसका नाम पार्थ है।

यह संसार क्या है ? जैसे स्वप्न सोते हुए-के लिए दुःखदायी है और जागते हुए-के लिए नहीं, वैसे ही जो सो रहे हैं, अज्ञान-निद्रामे पड़े हुए हैं, उन्हीके लिए स्वप्नको तरह दुखदायी है। ज्ञानकी तलवार उठाओ, उपासनासे उसपर शान धराओ और उससे द्वैतके भ्रमको काट दो, फिर निर्भय होकर विचरो !

ज्ञान, विवेक, निगम, तपस्या, प्रत्यक्ष अनुमान आदि सबसे यही बात सिद्ध होती है कि जो आदि-अन्तमें है, वही मध्यमें है। वही काल है, वही हेतु है। जैसे सोना जेवर बननेके पहले सोना था, सोना रहेगा और बीचमे सोना है—उसका नाम चांहे कुछ भी रख लो—वैसे ही विज्ञानस्वरूप आत्मदेवके सामने ही जन्म हुआ, इन्हींके सामने मृत्यु हुई और ये ज्यों-के-त्यों हैं। ये सबमें समन्वित भी हैं और सबसे व्यतिरिक्त भी हैं। यही तुरीय तत्त्व है।

देखो, वेदान्त-दर्शनमें जितनी भी श्रुतियाँ और युक्तियाँ आयी हैं, उन सबका संग्रह

श्रीमद्भागवतमें है। जो लोग कहते हैं कि भागवतमें वेदान्त नहीं, उन्होंने बिल्कुल वेदान्त नहीं पढ़ा। ये सब वेदान्त-वचन ही तो हैं—

न यत् पुरस्तादुत यन्न पश्चान्मध्ये च तन्न व्यपदेशमात्रम्। २१

जो वस्तु पहले नहीं थी और बादमें नहीं रहेगी, वह बीचमें भी नहीं होती। वह तो नाममात्र है।

भूतं प्रसिद्धं च परेण यद् यत् तदेव तत् स्यादिति मे मनीषा। २१

जो वस्तु जिस उपादान कारणसे उत्पन्न होती है, वह वही होती है। जो वस्तु जिससे प्रकाशित होती है, वह अपने प्रकाशकसे भिन्न नहीं होती। जिस प्रमाणसे, जिस सत्तासे, जिसकी सिद्धि होती है, वह उससे अभिन्न होती है। अभिन्न निमित्तोपादान कारणसे भिन्न भी कोई वस्तु नहीं होती, बीचमें भी वह बिल्कुल वही रहती है। संसार बिना हुए ही भास रहा है। इसलिए विवेक करना आवश्यक है।

विवेककी पद्धति यही है कि जहाँ अपना आपा न मालूम होता हो, वहाँ उससे अपनेको अलग कर लो कि तुम मिट्टी-पानी-आग-हवा नहीं हो। अन्तःकरणादि चाहे विक्षिप्त रहें, चाहे समाहित रहें। लोग अज्ञानियोंको समाधि लगानेका लालच देकर फँसाते हैं। असलमें जो अपना आपा ही नहीं, अपनेसे बिल्कुल अलग है, जिसके दुःखसे हम समझदारीसे दूर हो सकते हैं, उसके लिए प्राणायाम करनेकी क्या जरूरत है? वह इतना सस्ता है कि बात समझ ली और दुःख दूर हो गया। दुःख तो बेवकूफोंके कारण ही हो रहा था।

उद्धवजी, अन्तःकरण आदि चाहे समाहित हों चाहे विक्षिप्त हों, इनके साथ हमारा कोई सम्बन्ध नहीं। आकाशमें बादल आये तो क्या और न आये तो क्या? इनसे सूर्यका क्या बनता-बिगड़ता है? कभी धुँआ आया, कभी धूल आयी, कभी बादल आया। परन्तु आकाश तो ज्यों-का-त्यों है। ऐसा ही आत्मा है अपना।

फिर भी जबतक ऐसा दृढ़ ज्ञान न हो जाय, तबतक मनुष्यको आसक्ति छोड़कर, अपना अन्तःकरण शुद्ध करना चाहिए। क्योंकि अन्तःकरण शुद्ध किये बिना, यदि रोग रह जाता है तब वह फिर बढ़ जाता है और मनुष्यको दबा लेता है।

जो योगभ्रष्ट देवता आदिके द्वारा उत्पन्न विघ्नोंसे विहत हो जाते हैं, वे फिर योग करते हैं, कर्ममें नहीं फँसते। कर्मकी धारा तो अपने-आप बह रही है। विद्वान् पुरुष इसमें तृष्णा नहीं

करता। उसका शरीर चाहे किसी भी स्थितिमें हो—खड़ा हो, बैठा हो, चल रहा हो, सो रहा हो, खा रहा हो, वह उसको अपना नहीं देखता। उसे तो दूसरे ही लोग देखते हैं कि यह कर रहा है, किन्तु वह तो किये बिना ही होता है।

जिस प्रकार सूर्योदय होता है तो वह किसी वस्तुको उत्पन्न नहीं करता, केवल अन्धकार मिटा देता है और जो चीज पहलेसे होती है, वही उसके द्वारा दीखती है—इसी प्रकार ब्रह्म-ज्ञान भी ब्रह्मको, आत्माको पैदा नहीं करता, दोनोंकी एकताको पैदा नहीं करता, इनमें अनेकताका जो अज्ञान है, तमः है, उसको मिटा देता है।

एवं समीक्षा निपुणा सती मे हन्यात्तमिस्रं पुरुषस्य बुद्धः । ३४

ज्ञान तो केवल बुद्धिके अध्यासको मिटाता है। आत्मदेव तो स्वयं ज्योति, अजन्मा, अप्रमेय महानुभूति, सकलानुभूति, एक, अद्वितीय है। वहाँ वाणीकी गति नहीं। एक परमात्मामें अनेकता देखना ही सबसे बड़ा भ्रम है। इसके लिए कोई आलम्बन नहीं। यह जो पञ्चभूतात्मक, नामात्मक आकृति आभासके द्वारा दीख रही है, वह सब मिथ्या है। जो लोग उसे सच्चा कहते हैं, वे पण्डितमानी हैं, परन्तु वास्तवमें वे पण्डित नहीं और तत्त्ववेत्ता उनके मतको स्वीकार नहीं करते।

यदि अभ्यास करते समय विघ्न आजायें तो योग-धारणासे, तपस्यासे, मन्त्रसे उन विघ्नोंको दूर कर देना चाहिए। मेरे ध्यानमें बैठ जाने अथवा मेरे नामका कीर्तन करनेसे तो सारे विघ्न दूर हो जाते हैं। यदि योगसाधनासे चमत्कारों और सिद्धियोंकी प्राप्ति हो जाय तो उन्हे बताना नहीं चाहिए। कई लोग कहते हैं कि शरीरको अजर-अमर बनाकर मेरा भजन करेंगे। लेकिन उनका यह प्रयास बिल्कुल निरर्थक है। क्योंकि एक दिन तो ब्रह्मा भी मर जाते हैं। इस प्रकारकी सिद्धिपर कभी विश्वास नहीं करना चाहिए।

उद्धवजी, जो साधक मेरी शरण ग्रहण करके, मेरा भजन करनेमें लगा रहता है, उसको कोई विघ्न-बाधा डिगा नहीं सकती। उसकी समस्त कामनाएँ नष्ट हो जाती हैं और वह आत्मानन्दमें मग्न हो जाता है।



उद्धवजीने कहा कि भगवन्, जिस योगीका मन उसके काबूमें नहीं आता, उसके लिए तो आपका बताया हुआ ज्ञान बहुत ही कठिन है। इसलिए कृपा करके ऐसा उपाय बताइये, जिससे ज्ञानी पुरुष सुखपूर्वक आपके आनन्द-वर्षी पदाम्बुजका सेवन करें। आपने बताया कि योगी और कर्मीके पास तो विघ्न जाते हैं, लेकिन भक्तके पास विघ्न नहीं आते। क्यों न हो, आप तो अपने भक्तोंको अपनाकरके बैठे हैं—

योऽरोचयत् सह मृगैः स्वयमीश्वराणां श्रीमत्किरीटतटपीडितपादपीठः। ४

आप रामावतारमें बड़े-बड़े देवताओंके बीचमें न रहकर बन्दरोंके साथ रहनेके लिए आये। जङ्गलकी चिड़ियोंसे आपने प्रीति की। आपको बड़े-बड़े लोग नहीं चाहिए। 'दासेष्वनन्यशरणेषु यदात्मसात्त्वम्' (४)—जो आपके अनन्यशरण सेवक हैं, उनको आप अपना मानते हैं।

इसीलिए मैं आपकी शरणमें आया हूँ। आपको छोड़ भी कौन सकता है? बस, आपकी चरणरजके प्रेमियोंकी प्राप्ति मुझे होती रहे। आपसे मैं कभी उऋण नहीं हो सकता; यदि ब्रह्माकी आयु भी मुझे मिल जाय तब भी मैं उऋण नहीं हो सकता। क्योंकि आप एक तो गुरु बनकर आये, रास्ता बताया और फिर आकर हृदयमें बैठ गये। आप ही गुरु हैं, आप ही नाम हैं, आप ही मिलते हैं, आप ही आत्मा हैं और आप ही फल हैं।

तनु भृशामशुभं विधुन्वन्नाचार्यचैत्यवपुषा स्वगतिं व्यनक्ति। ६

भगवान् बोले कि उद्धवजी, तुम्हारी बात सुनकर बहुत खुशी हुई। अब मैं तुमको सरल भागवत-धर्मकी बात बताता हूँ। यदि कोई इस बातको ठीक-ठीक मान ले तो वह मृत्युके पार हो जायेगा। मनुष्य सारे कर्म करे, परन्तु मेरे लिए करे। अपने मन और चित्तको मुझमें अर्पित कर दे और मेरे धर्ममें प्रीति रखे। ऐसे पुण्यदेशमें निवास करे, जहाँ साधु लोग रहते हैं। पुण्यतीर्थ वही है, जहाँ सत्सङ्ग मिलता रहता है। भक्तों द्वारा आचरित धर्मको ग्रहण करे। मेरी सेवा

करे। सबके भीतर मुझको देखे। 'ईक्षेतात्मनि चात्मानं तथा खममलाशयः' (१२)—मुझको अपने अन्दर आकाशके समान देखे। सबमें मेरी भावना करे। यही भागवत-धर्म है।

ब्राह्मणे पुल्कसे स्तेने ब्रह्मण्येऽर्के स्फुलिङ्गके।
अक्रूरे क्रूरके चैव समदृक् पण्डितो मतः॥ १४

जो ब्राह्मण और कसाई, चोर और ब्राह्मण, भक्त, सूर्य और चिनगारी, अक्रूर और क्रूरमें समदर्शी है, उसको पण्डित कहते हैं। दृष्टिमें परिवर्तन हो जाना चाहिए। जो सबमें भगवद्भाव करता है, वह किसीसे होड़ नहीं करता, किसीमें दोष नहीं देखता, किसीका तिरस्कार नहीं करता और अपनेमें अहंकार नहीं करता।

विसृज्य स्मयमानान् स्वान् दृशं व्रीडां च दैहिकीम्।
प्रणमेद् दण्डवद् भूमावाश्वचाण्डालगोखरम्॥ १६

जो तुमपर हँसते हैं, उनको हँसने दो, शारीरिक दृष्टि और क्रीड़ा छोड़ दो! कुत्तेके सामने, चाण्डालके सामने, बैलके सामने, गधेके सामने दण्डवत् प्रणाम करो। जबतक सबमें मुझ परमात्माका दर्शन न हो तबतक इसी प्रकारकी उसासना करनी चाहिए। फिर तो सब परब्रह्मात्मक हो जाता है।

अयं हि सर्वकल्पनां सध्रीचीनो मतो मम।
मद्भावः सर्वभूतेषु मनोवाक्कायवृत्तिभिः॥ १९

उद्धवजी, मेरी प्राप्तिके जितने साधन हैं, उन सबमें यही सुगम और श्रेष्ठ है कि समस्त प्राणियोंमें मेरी भावना करो। इसमें कोई विघ्न नहीं। इसको प्रारम्भ कर देनेपर इसका ध्वंस नहीं होता! मनुष्यके जो-जो भाव हों, उन सबको वह मुझे समर्पित कर दे तो वे मेरी प्रसन्नताके कारण धर्म बन जाते हैं।

देखो, एक आदमी कहीं बैठा था। इतनेमें उसने देखा कि उसके सामनेसे भेड़िया आ रहा है। वह डरके मारे उठकर भागा और भागकर पासके मन्दिरमें पहुँच गया। भगवान्‌ने सोचा कि यह मेरा भक्त है, आश्रयके लिए मेरे पास आया है और उनकी कृपासे उसकी रक्षा हो गयी। वह बेचारा भयके निमित्तसे भागा, मन्दिरमें गया और भगवान्‌ने उसका भागना धर्म मान लिया।

तदायासो निरर्थः स्याद् भयादेरिव सत्तम। २१

इसी तरह जो आयास है, वह निरर्थक नहीं होता, सार्थक होता है। बुद्धिमानोंकी बुद्धि यही है, मनीषियोंकी मनीषा यही है कि वे मेरा भजन करके मुझे प्राप्त कर लें।

यत् सत्यमनृतेनेह मर्त्येनाप्नोति मामृतम्। २२

यह शरीर झूठा है, इसमें सचको पालो। यह मरनेवाला है, इसमें अमृतको प्राप्त कर लो।

उद्धवजी, यही वेदका सार-सार अंश है। इसको मैंने संक्षेप और विस्तारसे तुमको सुना दिया। देवता लोग इसको नहीं समझते। इसका अध्ययन करनेवाले पुरुषको परब्रह्मका अधिगम होता है। जो इसका दान करता है अर्थात् लोगोंको सुनाता है, वह तो मानो मेरे स्वरूपका ही दान करता है। इसका अध्ययन ज्ञान-दीप है। इससे अध्येता पवित्र हो जाता है।

उद्धवजी, बताओ तुमने ब्रह्मका अनुभव कर लिया न! लेकिन तुम इसे अयोग्य अनधिकारी पुरुषको मत बताना। इसको जान लेनेके बाद कुछ भी जानना शेष नहीं रहता— वैसे ही, जैसे अमृत पीनेके बाद कुछ पीना शेष नहीं रहता। ज्ञान, कर्म, योग, वार्ता, दण्डधारण आदिमें जितना भी प्रयोजन है, वह सब इसमें है।

अन्तमें भगवान्‌ने कहा—

मर्त्यो यदा त्यक्तसमस्तकर्मा निवेदितात्मा विचिकीर्षितो मे।
तदामृतत्वं प्रतिपद्यमानो मयाऽऽत्मभूयाय च कल्पते वै॥ ३४

मनुष्य जब कर्मोंकी ओरसे अन्तर्मुख होता है और अपने-आपको मेरे चरणोंमें निवेदित कर देता है तब बाहर खड़ी मौत भी उसका कुछ बिगाड़ नहीं सकती। मनुष्य जब मेरी ओर मुँह करके मेरे सामने खड़ा हो जाता है तब मैं विशिष्ट बनानेको विचिकित्सा करता हूँ और उसको अमृतत्वकी प्राप्ति हो जाती है।

इस प्रकार जब भगवान्‌ने अपना उपदेश पूर्ण कर लिया तब उद्धवजीने अपने हाथ जोड़ लिये। प्रीतिसे उनका कण्ठ गद्‌गद हो गया। उन्होंने भगवान्‌के चरणारविन्दका स्पर्श करके कहा कि प्रभो, अब मेरा मोहान्धकार दूर हो गया। आपने मुझे विज्ञानमय प्रदीप दे दिया। ऐसा कौन कृतज्ञ है, जो आपके चरणारविन्दको छोड़कर कहीं और जाय? मेरे तो सब फन्दे कट गये। आपके चरणोंमें नमस्कार है। बस, मैं केवल एक बात चाहता हूँ—वह यह कि आपके चरण-कमलोंमें मेरी अनपायिनी भक्ति बनी रहे—

यथा त्वच्चरणाम्भोजे रतिः स्यादनपायिनी । ४०

भगवान्‌ने कहा कि उद्धवजी, अब तुम बदरीनाथ चले जाओ । वहाँ अलकनन्दामे स्नान करना, मेरा भजन करना, यथा समय तुम मेरे पास आजाओगे ।

श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि परीक्षित, इसके बाद उद्धवजी पहले तो वियोग-कातर हो गये । उन्हें मूर्च्छा-सी आने लगी । बड़ी मुश्किलसे उन्होंने अपने-आपको सम्हाला, भगवान्‌की चरण-पादुकाको अपने सिरपर धारण किया और उनको अपने हृदयमें लेकर उनकी आज्ञाके अनुसार बदरीदाथकी यात्रा की । यह कथा-प्रसङ्ग आनन्द-समुद्रके मन्थनसे निकाला हुआ ज्ञानामृत है । जो इसका सेवन करता है, वह मुक्त हो जाता है । यदि सारा जगत् इसका सेवन करे तो वह भी मुक्त हो जाय ।

अन्तमें श्रीशुकदेवजी महाराज इस प्रसङ्गका उपसंहार करते हुए कहते हैं—

भवभयमपहन्तुं ज्ञानविज्ञानसारं निगमकृदुपजह्रे भृङ्गवद् वेदसारम् ।
अमृतमुदधितश्चापाययद् भृत्यवर्गान् पुरुषमृषभमाद्यं कृष्णसंज्ञं नतोऽस्मि ॥ ४९

परीक्षित, समुद्र-मन्थनका अमृत भी भगवान् श्रीकृष्णने ही निकाला था । उसमें भी जो वेदसार है, निगमवृत्त है, ज्ञान-विज्ञान है और भवभयको नष्ट करनेवाला भेषज है, वह भी भगवान् श्रीकृष्णने ही निकाला है । इसलिए मैं उन अमृतोदधि पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णको नमस्कार करता हूँ ।



अब जब राजा परीक्षितने यह पूछा फि उद्धवजीके बदरीनाथ धाम चले जानेके बाद द्वारकामें क्या हुआ, तब श्रीशुकदेवजी महाराजने कहा—यह मैं तुमको सुना चुका हूँ कि द्वारकामें बहुत विघ्न होने लगे थे और भगवान्‌ने यदुवंशियोंको कह दिया था कि तुम लोग प्रभास-क्षेत्र चले जाओ ! वहाँ तुमको किसीका कोई शाप नहीं लगेगा।

भगवान्‌के आदेशसे सब यदुवंशी वहाँ चले गये थे और पूजा-स्नान, खान, पान करने लगे थे। लेकिन वे पान केवल पानीका ही नहीं करते थे, मधुपान भी करते थे। इसलिए उन्होंने खूब मधुपान किया—'ततः तस्मिन् महापानं पपुर्मैरेयकं मधु'। (१२)

देखो, इस सृष्टिमें यदि ज्ञानका, बुद्धिका कोई साक्षात् शत्रु है तो यही मद्यपान है। इसको पीकर कोई होश-हवाशमें नहीं रहता और चाहे जो कर बैठता है।

इसलिए यदुवंशी भी उसके नशेमें एक दूसरेसे लड़ने लगे। यहाँतक कि उनको देखा-देखी पशु-पक्षी भी आपसमें लड़ने लगे। प्रद्युम्न और साम्ब आपसमें भिड़ गये। इसी तरह अक्रूर और भोज, अनिरुद्ध और सात्यकि सब आपसमें युद्ध करने लगे। जब बलराम और श्रीकृष्ण उनको रोकने आये तब उन यदुवंशियोंने समझा कि ये हमारे विरोधी हैं और वे उनपर भी प्रहार करने लगे। अब तो उन दोनोंको भी आगया क्रोध और उन्होंने भी उनका संहार प्रारम्भ कर दिया—

अथ तावपि संक्रुद्धावुद्यम्य कुरुनन्दन।
एरका मुष्टिपरिघौ चरन्तौ जघ्नतुर्युधि॥ २३

अन्तमें जब सब यदुवंशियोंका संहार हो गया तब बलरामजीने तो समाधि लगा ली और अपना शरीर छोड़ दिया। किन्तु श्रीवत्साङ्क, घनश्याम, देवकीनन्दन भगवान् श्रीकृष्ण एक पिप्पलवृक्षके नीचे बैठ गये। उनके चरणको जरा व्याधने हरिण समझ लिया और उसपर बाण छोड़ दिया। फिर जब उसको पता लगा तब उसने कहा कि मैंने अनजानेमें बहुत अपराध किया

है। आप मुझे क्षमा करें! भगवान् बोले कि डरो मत, तुम मुझसे पहले मेरे लोकमें पहुँच जाओ। उसने बहुत पछताकर फिर क्षमा माँगी। पर भगवान्ने कहा—नहीं-नहीं, तुम तो मेरे बहुत प्रिय हो। तुमने तो मेरे ही मनका काम किया है—'काम एष कृतो हि मे' (३९)—तुम जल्दी यहाँसे चले जाओ। यह कहकर भगवान्ने उसको भेज दिया।

अब जब भगवान्का सारथि दारुक वहाँ पहुँचा तब कहने लगा कि प्रभो, यह सब देखकर मेरी आँखोंके सामने अँधेरा छा गया है। मैं अशान्त हो गया हूँ।

इतनेमें दारुक देखता क्या है कि भगवान्का गरुड़ध्वज उतरा और तत्काल उड़ गया। उनके साथ भगवान्के सब आयुध आदि भी चले गये। दारुक और भी आश्चर्यचकित हो गया।

भगवान्ने दारुकसे कहा कि तुम द्वारकामें जाकर सब समाचार सुना देना। यह भी कह देना कि वहाँ किसीको रहना नहीं चाहिए। चूँकि सातवें दिन समुद्र सबको डुबो देगा, इसलिए सब लोग इन्द्रप्रस्थ चले जायें।

फिर भगवान्ने कहा—दारुक, तुम भागवत-धर्मका पालन करना। 'ज्ञाननिष्ठ उपेक्षकः' (४९)—ज्ञाननिष्ठ होकर सबकी उपेक्षा कर देना और इस घटनाको मेरी माया समझकर शान्त हो जाना।

यहाँ 'ज्ञाननिष्ठ उपेक्षक' शब्दका तात्पर्य निर्गुण ज्ञान नहीं है। क्योंकि भगवान् इसका प्रयोजन बताते हुए कहते हैं कि 'मद्धर्ममास्थाय'—मेरे भागवत-धर्मका पालन करना।

भगवान्का आदेश पाकर दारुकने उनको प्रणाम किया और द्वारका चला गया।



श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि परीक्षित, दारुकके चले जानेपर भगवान्‌के पास ब्रह्मा, शङ्कर, इन्द्रादि आये। वे लोग भगवान्‌के निर्याणका उत्सव परम उत्सुक होकर देख रहे हैं और उनकी लीलाका गान कर रहे हैं। भगवान्‌ने उनको देखकर अपने-आपको अपने-आपमें स्थित कर लिया—'संयोज्यात्मनि चात्मानम्' (५)। वे जो एक व्यक्तिके रूपमें प्रकट थे, अध्यस्त थे, उसको उन्होंने परमतत्त्वके साथ एक करके अपने नेत्र बन्द कर लिया।

लोकाभिरामां स्वतनुं धारणाध्यानमङ्गलम्। ६

भगवान्‌ने अपने धारणा-ध्यानमङ्गल लोकाभिराम भगवत्-शरीरको न तो बलरामजीकी तरह छोड़ा और न योगियोंकी तरह योग-धारणाकी अग्निसे जलाया। वे ज्यों-के-त्यों अपने धाममें पधार गये—'अदग्ध्वा धामाविशत् स्वकम्' (६)।

देखो, महाभारत, पद्मपुराण तथा दूसरे ग्रन्थोंमें ऐसा भी वर्णन आता है कि जो लोग भगवान्‌के विग्रह-प्रेमी हैं, उनके लिए उन्होंने एक लीला-शरीर छोड़ दिया।

पद्मपुराणमें वर्णन है कि भगवान् श्रीकृष्णका शरीर ही जगन्नाथपुरीमें देवताके रूपमें स्थापित हुआ है। भगवान् जिस भक्तको जैसा दिखाना चाहते हैं, उसको वैसा दिखाते हैं।

लेकिन भागवतमें यही वर्णन है कि भगवान् अपने दिव्य अङ्गोंके साथ अपने धाममें प्रविष्ट हुए। ब्रह्माजीको भी उनके स्वधाम-प्रवेशका पता नहीं चला। सब देवता लोग भगवान्‌की परम योगमयी गति देखकर उनकी प्रशंसा करते हुए अपने-अपने लोकमें चले गये।

असलमें भगवान्‌का प्रकट होना और जाना नटके नाटककी तरह है—'मायाविडम्बनमवेहि यथा नटस्य' (११)। जो गुरु-पुत्रको यमपुरीसे सशरीर लौटा सकते थे, देवकीके मरे हुए बेटोंको ला सकते थे, स्वयं तुम्हें गर्भमें ब्रह्मास्त्रसे बचा सकते थे, वे क्या स्वयं जिन्दा नहीं रह सकते थे? अवश्य ही रह सकते थे। परन्तु उन्होंने यह विचार किया कि अन्तमें भी एक आदर्श स्थापित करना चाहिए—

नैच्छत् प्रणेतुं वपुरत्र शेषितं मर्त्येन किं स्वस्थगतिं प्रदर्शयन्। १२

भगवान्‌ने सोचा कि अगर मैंने शरीर रख लिया तो ये सब दुनियादार लोग कहेंगे कि जो ज्ञानी होता है, वह मरता ही नहीं, उसका शरीर हमेशा रहता है। वे मरनेवालेको ज्ञानी नहीं मानेंगे। इधर ज्ञानी लोग कहेंगे कि अब तो हम भी अपने शरीरको रखेंगे, क्योंकि भगवान्‌ने रखा है। ये दोनों बातें ठीक नहीं रहेंगी। इसलिए भगवान्‌ने मर्त्यलोकमें स्वस्थ पुरुषोंकी गति प्रदर्शित करते हुए अपने शरीरको रखना उचित नहीं समझा।

इधर दारुक द्वारकामें गया और वहाँ उसने सब-कुछ कह सुनाया। सुनकर लोग बहुत ही दुःखी हुए और सिर पीटते हुए प्रभास क्षेत्र आये। वहाँ उनको जो-कुछ करना-कराना था, वह सब उन्होंने किया।

इसके बाद अर्जुन द्वारकासे बाल-वृद्धों आदिको लेकर इन्द्रप्रस्थ गये और उन सबको यथा-योग्य आवास दिया। तुम्हारे दादा युधिष्ठिरने जब यह सब सुना तब वे भी स्वर्गारोहण कर गये।

परीक्षित, रुचिरावतर भगवान्‌के परम पराक्रमयुक्त परमानन्दमय बाल और कैशोर चरित्र मनुष्यके मनको शान्ति देनेवाले हैं। जो इनका श्रवण करता है, उसको परमहंस-गति अर्थात् भगवान्‌में परम भक्तिकी प्राप्ति होती है।

यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि श्रीशुकदेवजी महाराजने भगवान्‌के निर्वाण का वर्णन करते-करते अन्तमें क्या कहा है—

इत्थं हरेर्भगवतो रुचिरावतारवीर्याणि बालचरितानि च शन्तमानि।
अन्यत्र चेह च श्रुतानि गृणन् मनुष्यो भक्तिं परां परमहंसगतौ लभेत॥ २८

तात्पर्य यह है कि 'अरे मन चल!' 'कहाँ चलें महाराज?' वहाँ चल, जहाँ 'नन्दके आनन्द भये, जय कन्हैया लालकी' ध्वनि गूँज रही है। इसलिए यहाँ अन्त मत करो, समाप्त मत करो। चले चलो वहाँ, जहाँ नन्दोत्सव हो रहा है।

हरिः ॐ तत्सत्

भागवत-दर्शन

 श्रीमद्भागवत महापुराण 

२

द्वादश स्कन्ध



प्रवचन

अनन्तश्री विभूषित

स्वामी अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय

द्वादश स्कन्ध

अतसीकुसुमोपमेयकान्तिर्यमुनाकूलकदम्बमूलवर्ती ।
नवगोपवधूविलासशाली वनमाली वितनोतु मङ्गलं नः ॥

यह बारहवाँ स्कन्ध श्रीवल्लभाचार्यजी महाराजके मतानुसार आश्रय-स्कन्ध तथा निरोध-स्कन्ध दोनों है। निरोध माने प्रलय होता है। इसमें चारों प्रकारके प्रलयका वर्णन है। उन्होंने क्रमका परित्याग न करके ज्यों-का-त्यों साक्षात् क्रम लिया है। परन्तु श्रीधरस्वामीके मतमें यह केवल निरोध-स्कन्ध ही है। उन्होंने आश्रय-स्कन्ध दशम स्कन्धको बताया है। क्योंकि उसमें आश्रय-स्वरूप भगवान् श्रीकृष्णका वर्णन आता है। श्रीधरस्वामीका कहना है कि आत्यन्तिक प्रलय होनेपर भी जो सूक्ष्म तत्त्व विद्यमान रहता है, उस प्रत्यक् चैतन्याभिन्न ब्रह्मतत्त्वका निरूपण होनेके कारण यह स्कन्ध केवल निरोध-स्कन्ध है।

परन्तु यदि विचार करके देखें तो इसमें कुछ विशेष मतभेदकी बात नहीं है। क्योंकि इसमें एक ऐसे निरोधका वर्णन है, जो आत्यन्तिक प्रलयरूप निरोध है और अन्यत्र देखनेमें नहीं आता। वह आत्यन्तिक प्रलयरूप निरोध उत्पत्ति और प्रलयके अधिष्ठान, सर्वाधार, सर्वाश्रय परमात्माका ही वर्णन है। इसलिए इसमें आप राजाश्रय, कालाश्रय, साधनाश्रय, मुक्त्याश्रय, वेदाश्रय आदिका वर्णन देखेंगे। इस प्रकार प्रत्येक अध्यायमें किसी-न-किसी रूपमें आश्रय-स्वरूप परमात्माका वर्णन है।

अब राजा परीक्षितके यह पूछनेपर कि यदुवंश विभूषण श्रीकृष्णके स्वधाम-गमनके अनन्तर किसका वंश चला ? श्रीशुकदेवजी महाराजने बताया—बृहद्रथ-वंशमें जो होनेवाले राजा हैं, उनमें रिपुञ्जय-पर्यन्तका वर्णन नवम स्कन्धमें किया जा चुका है। रिपुञ्जय ही पुरञ्जय है।

इसके बाद श्रीशुकदेवजी महाराजने राजाओंकी एक लम्बी-सी सूची दे दी है और बताया है कि इतने, वर्षोंमें इतने और इतने वर्षोंमें इतने राजा होते हैं। ये सब आपसमें मार-काट करते हैं और बहुत छोटे मनके होते हैं।

इसके बाद श्रीशुकदेवजी महाराजने वर्णन किया है कि आगे चलकर दस गुरुण्ड और ग्यारह मौन राजा होंगे। लेकिन ये राजा लोग थोड़े-दिनोंतक रहेंगे और थोड़ी-थोड़ी धरतीका उपभोग करेंगे। एक समयमें बहुतसे राजा होंगे और इनकी मनोवृत्ति बहुत छोटी रहेगी—

तुल्यकाला इमे राजन् म्लेच्छप्रायश्च भूभृतः। ४०

यहाँ एक बात ध्यान देने लायक है। भागवतकी पुस्तक बहुत पुरानी है। जो लोग इसको नयी मानते है, वे भी एक हजार वर्षकी तो मानते ही हैं। क्योंकि आठ-नौ सौ बरस पहलेकी पुरानी हस्त-लिखित पुस्तक उपलब्ध है। इसमें यह श्लोक आया है—

सिन्धोस्तटं चन्द्रभागां कौन्तीं काश्मीरमण्डलम्।
भोक्ष्यन्ति शूद्रा व्रात्याद्याम्लेच्छाश्चाब्रह्मवर्चसः॥ ३९

इसका अर्थ है कि सिन्धुके तटवर्ती भाग, चन्द्रभागा, कौन्तीपुरी तथा काश्मीर-मण्डलपर म्लेच्छ आदि शासन करेंगे, जो बड़े पापी होंगे।

कथापि खलु पापानां अलमश्रेयसे यतः। (शिशुपाल वध २।४०)

फिर भी जो पाठका पुण्य लेना चाहते हैं, उनको तो सारे ग्रन्थका पाठ करना ही चाहिए। परन्तु जब राजा बिगड़ जाता है तब प्रजा भी उसीके समान शील और आचारवाली हो जाती है। यह हमारे शास्त्रका सिद्धान्त है कि राजा ही कालका कारण होता है—

कालो वा कारणं राज्ञः राजा वा कालकारणम्।
इति ते संशयो माभूत् राजा कालस्य कारणम्॥ (शान्तिपर्व ६९-७९)

परिस्थितियोंसे मनुष्य नहीं बनता, मनुष्य परिस्थितिको बनाता है। जब राजा लोग पापी हो जाते हैं तब प्रजामें भी पापकी वृत्ति आजाती है और वे आपसमें लड़कर नष्ट-भ्रष्ट हो जाते हैं। ●

श्रीशुकदेवजी महाराज आगे वर्णन करते हैं कि परीक्षित, जब धर्म दिनोंदिन क्षीण होने लगता है तब जिसके पास ज्यादा पैसा होता है, वह तनख्वाह दे-देकर ऐसे पढ़े-लिखे लोगोंको अपने पास रख छोड़ते हैं, जिनसे वे शास्त्रका मनमाना अर्थ करवा लेते हैं। उनके पास बीसों आदमी केवल शास्त्रका अर्थ बदलनेके लिए ही रहते और पैसा लेते हैं।

देखो, मुँडिया लिपिमें लिखते हैं सठ। उसको सेठ भी पढ़ सकते हैं और वह सठ तो है ही। लेकिन चाटुकार लोगोंने कहा कि श्रेष्ठसे सेठ बना है, शठसे नहीं बना—'चाटुकारप्रसादेन शठः श्रेष्ठत्वमागतः।' ये चाटुकार लोग पैसेको ही सब कुछ मानते हैं—

वित्तमेव कलौ नृणां जन्माचारगुणोदयः॥ २

चाहे जैसी व्याख्या कर लो इसकी। कलियुगमें यही न्याय है कि जिसके पास लाठी है, उसीके पास भैंस हैं। जहाँ मन मिल जाता है, वहाँ ब्याह हो जाता है। उसमें धर्म-कर्मकी तो

इसी प्रकार बुद्धि, इन्द्रिय और विषय हैं। ये अपनेसे पृथक् जो परमात्मा है, उससे पृथक् नहीं। अवस्थाएँ तो बुद्धिकी होती हैं। ये केवल मायामात्र हैं।

मायामात्रमिदं राजन् नानात्वं प्रत्यगात्मनि। २५

इसलिए श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि राजन्, प्रत्यगात्मामें जो नानात्व है, यह मायामात्र है। जैसे आकाशमें कभी बादल रहते हैं, कभी नहीं रहते। जितने अवयवी हैं, वे सब अवयव ही होते हैं। परन्तु ये सब-के-सब बिना अर्थके ही भासते हैं—

विनार्थेन प्रतीयेरन् पटस्येवाङ्ग तन्तवः। २७

असत्में जो व्यक्ति और जाति दिखायी पड़ती है, वह सब-का-सब भ्रम है। 'यत् सामान्यविशेषाभ्याम्'। (२८) दो व्यक्ति और द्वित्वरूप सामान्य, जाति दोनों भ्रम हैं। क्योंकि दोनों अन्योन्याश्रित हैं, आद्यन्तवत् हैं, अवस्तु हैं। विकार-प्रसिद्ध होनेपर भी अनिर्वचनीय ही है। यदि कुछ है तो वह परमात्मासे बिलकुल जुदा नहीं।

यदि कोई अज्ञानी पुरुष सत्यको नाना मानता है तो नानात्व कैसा होगा? वैसा ही होगा जैसे एक ही आकाशमें नाना घरोंके कारण नानात्व है, एक ही ज्योतिमें नाना दीपोंके कारण नानात्व है, एक ही हवामें शरीरोंकी उपाधिके कारण नाना प्राणत्व है और एक ही सोनेमें नाना आभूषणोंके कारण नानात्व है। इसी तरह परमात्माका अनेक रूपोंमें वर्णन होता है। जिस प्रकार सूर्यसे बादल दीखता है और वह सूर्य तथा सूर्यके अंशभूत चक्षुको ढक देता है, इसी प्रकार यह 'अहंकार, जो ब्रह्ममें प्रकट हुआ है, ब्रह्मांश आत्माको ही आवृत करता है। जब अर्क-प्रभव घन विदीर्ण हो जाता है तब चक्षु रूपको देखती है। इसी प्रकार जब उपाधि नष्ट हो जाती है तब आत्म-ज्ञान होता है। तुम विवेककी तलवार लेकर सब भ्रमों और उपाधियोंको काट डालो।

परीक्षित, कई लोग वर्णन करते हैं कि जो क्षण-क्षणमें वस्तुओंकी उत्पत्ति और उनका विनाश होता रहता है, वही प्रलय है। यह सब नारायणकी लीला है। जो संसाररूपी समुद्रसे पार जाना चाहते हैं, उनके लिए भगवान्के लीला-कथा-रसनिषेवणके सिवाय और कोई उपाय नहीं।

इस भागवत महापुराणको पहले नारायणने ब्रह्माको, ब्रह्माने नारदको और नारदने कृष्ण द्वैपायनको बताया था। वहीं मैंने तुमको सुनाया है। अब आगे सूतजी—शौनकादिको सुनायेंगे।



: ३ :

श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं कि परीक्षित, जब पृथिवी देखती है कि लोग मुझे जीतनेके लिए युद्ध करते हैं तब उसको हँसी आती है। ये पानीके बुलबुले जैसे लोग शरीरको कितना महत्त्व देते हैं ? सोचते हैं कि हम समुद्रावरणा पृथिवीको जीत लेंगे। लेकिन बड़े-बड़े मनु और मनु-पुत्र भी इसमें नहीं रहे। अन्तमें यह मेरी धरती है, ऐसी ममता करके मर गये। पृथु, पुरूरवा, गाधि, नहुष, भरत, अर्जुन, मान्धाता, सगर, राम, खट्वाङ्ग धुन्धुहा, रघु, तृणबिन्दु, ययाति, शर्याति, शन्तनु, गय, भगीरथ, कुवलयाश्व, ककुत्स्थ, नैषध, नृग, हिरण्यकशिपु, वृत्रासुर, रावण, नमुचि, शम्बर, भौम आदि सब कहते थे कि हम सर्वज्ञ हैं, वीर हैं और हमने सबको जीत लिया है। लेकिन कालने उनको कथावशेष कर दिया—'कथावशेषाः कालेन' (१३)। अब उनकी कहानी पण्डित लोग सुनाते हैं।

सुनते हैं, रावणके मनमें ऐसी इच्छा थी कि हम एक ऐसी सीढ़ी बनायेंगे, जिससे खटाखट ऊपर चढ़ा जा सके। उसकी लिफ्टका पता नहीं होगा। उसका मनोरथ पूरा नहीं हुआ—

कथा इमास्ते कथिता महीयसां विताय लोकेषु यशः परेयुषाम्।
विज्ञानवैराग्यविवक्षया विभो वचोविभूतीर्न तु पारमार्थ्यम्॥ १४

श्रीशुकदेवजी महाराज कहते हैं परीक्षित, मैंने जो बड़े-बड़े लोगोंकी कथा तुम्हें सुनायी है, वे सब अपना-अपना यश दुनियामें फैलाकर मर गये।

यहाँ तुम्हारे मनमें यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि ऐसे लोगोंकी कथा मैंने क्यों सुनायी? मुर्दोंकी याद भी क्यों करनी ? मुर्दाकार, शवाकार वृत्ति क्यों करनी ?

इसका यही उत्तर है परिक्षित, कि इससे तुम भी अपने जीवनमें कुछ सीखो, विज्ञान प्राप्त करो और इस देहसे वैराग्य करो। इसमें जितना भगवान्‌के चरित्रका गान है, वही अमङ्गलघ्न है। पुनः-पुनः उसीको सुनना चाहिए। उसीसे भगवान्‌की भक्ति आती है। बाकी बातें तो वर्णनका वैभव है, उनमें परमार्थ कुछ भी नहीं है।

अब राजा परीक्षितने पूछा कि महाराज, कलियुगके दोषोंपर विजय प्राप्त करनेका उपाय क्या है ? आप मुझे युग, धर्म, काल—ये सब बतानेकी कृपा करें।

श्रीशुकदेवजी महाराजने बताया कि सत्ययुगमें सत्य, दया, तप, दान—ये चार पाद रहते हैं। कलियुगमें अधर्म बहुत बढ़ जाता है और दुराचारी निर्भय हो जाते हैं।

प्रभवन्ति यदा सत्त्वे मनोबुद्धीन्द्रियाणि च।
तदा कृतयुगं विद्याज्ज्ञाने तपसि यद् रुचिः॥ २७

परीक्षित, जब अपना मन, अपनी बुद्धि और अपनी इन्द्रियाँ सात्त्विक हो जायँ, ज्ञान और तपस्यामें रुचि हो जाय तब समझना कि यह सत्ययुग है, जब मनमें कामना आये तो समझना कि रजोगुणी वृत्ति त्रेता है। जब लोभ, असन्तोष आये तो समझना कि यह द्वापर है। जब मनमें माया, छल, कपट, अनृत, तन्द्रा, निद्रा, हिंसा, विषाद आये तब समझना कि कलियुग है। कलियुग बहुत ही दूषित युग है। इसमें लोगोंका भाग्य तो होगा थोड़ा, लेकिन वे महाशना हो जायेंगे, उनका भोजन बढ़ जायेगा। डाकुओंकी वृद्धि हो जायेगी। पाखण्डी लोग अर्थ बदल-बदलकर वेदोंको दूषित कर देंगे।

देखो, पण्डितोंको वेदार्थके साथ मनोरंजन नहीं करना चाहिए। उसका जो यथार्थ अर्थ है वही प्रकट करना चाहिए। केवल विनोदके लिए जब उसके दूसरे-दूसरे अर्थ प्रकट करने लगते हैं, तब लोगोंको उसमें भ्रम हो जाता है।

परीक्षित, कलियुगमें राजा प्रजाको खाने लगेंगे—'प्रजाभक्षाः' (३२)। ब्राह्मण शिश्नोदर-

परायण हो जायेंगे—'शिश्नोदरपरा द्विजाः' (३२)। लोगोंका ऐसा स्वभाव हो जायेगा कि वे कानी कौड़ीके लिए सब कुछ बेच देंगे, निन्दित कर्म करेंगे।' धन न रहनेपर स्त्रियाँ पतिको और सेवक स्वामीको छोड़ देंगे। बड़ी दुष्टता फैलेगी संसारमें। पुरुष स्त्रैण हो जायेंगे।

शूद्राः प्रतिग्रहीष्यन्ति तपोवेषोपजीविनः। ३८

तपस्वीका वेश धारण करके शूद्र दान लेते मिलेंगे। जिनको धर्मके बारेमें कुछ मालूम नहीं, वे उत्तम आसनपर बैठकर धर्मका वर्णन करने लगेंगे। जहाँ देखो वहीं दुर्भिक्ष, जहाँ देखो वहीं टैक्स—'दुर्भिक्षकरकर्शिताः।' (३९)

सबसे बड़ी दुर्दशाकी बात तो यह होगी कि लोग भगवान्का भजन नहीं करेंगे। पाखण्डियोंके मतमें चले जायेंगे। मनुष्य यदि मरते समय, आतुरावस्थामें पाँव फिसलकर गिरते हुए, विवश होकर भी भगवान्के नामका उच्चारण करे तो उसका कर्मबन्धन छूट जाता है। परन्तु कलियुगमें लोग उसी भगवान्की आराधना नहीं करेंगे।

देखो, भगवान् यदि हृदयमें हों तो कलियुग कुछ बिगाड़ नहीं सकता। यह तो कलियुगके दोषोंका वर्णन किया है। उसका उद्देश्य यही है कि लोग कलियुगसे डरकर भी अपने हृदयमें भगवान्को बैठायें, उनका भजन करें।

भगवान्के चरित्रका श्रवण, नामका संकीर्तन, उनका ध्यान-पूजन और आदर मनुष्यके अयुत-अयुत जन्मके दोषोंको दूर कर देता है। जैसे सोना और अग्निके सम्बन्धसे सोनेका दोष दूर हो जाता है, वैसे ही भगवत्सम्बन्धसे जीवके सारे दोष दूर हो जाते हैं। हृदयमें भगवान्की भक्तिसे जैसी शुद्धि प्राप्त होती है, वैसी और किसी साधनासे प्राप्त नहीं होती।

तस्मात् सर्वात्मना राजन् हृदिस्थं कुरु केशवम्। ४९

इसलिए परीक्षित्, तुम अपने हृदयमें भगवान्को बैठा लो। म्रियमाणको भगवान्का ही ध्यान करना चाहिए, क्योंकि वे सर्वात्मा सर्वप्रथम हैं। वे ध्यान करनेवालेको अपना स्वरूप बना लेते हैं। वैसे तो कलियुगमें बड़े-बड़े दोष हैं, परन्तु एक गुण यह है कि भगवान् श्रीकृष्णके नाम-संकीर्तनसे मनुष्य मुक्तसंग होकर परम तत्त्वको प्राप्त कर लेता है। सत्ययुगमें ध्यानसे, त्रेतामें यज्ञसे, द्वापरमें परिचर्यासे जो-कुछ मिलता है; वह सब कलियुगमें केवल भगवन्नामसे, श्रीकृष्ण-श्रीकृष्णके उच्चारणसे मिल जाता है।

अब श्रीशुकदेवजी महाराजने परमाणु आदिसे लेकर कालका वर्णन करते हुए बताया कि एक सहस्र चतुर्युग ब्रह्माका दिन होता है। उसीको कल्प बोलते हैं। उसमें चौदह मनु होते हैं।

इसके बाद श्रीशुकदेवजीने प्रलय आदिका वर्णन किया और कहा कि जब ब्रह्माकी आयु बीत जाती है तब सात प्रकृतियोंका प्रलय हो जाता है। इसका नाम प्राकृत प्रलय होता है। ब्रह्माजीका जो एक दिन है; वह तो नैमित्तिक प्रलयके अन्तर्गत है। उनकी आयु समाप्त होनेपर जो प्रलय होता है, उसको प्राकृत प्रलय बोलते हैं। उस समय सृष्टिमें बड़े-बड़े उपद्रव होते हैं और पञ्चभूतका प्रलय हो जाता है। उसमें पृथिवी आदि सब लीन हो जाते हैं। नैमित्तिक प्रलयमें पञ्च-भूतका प्रलय नहीं होता, केवल प्राणियोंका प्रलय होता है।

परीक्षित, नित्य प्रलय, नैमित्तिक प्रलय और प्राकृत प्रलय—ये तीनों कालके चक्रमें अनेक प्रकारसे समझाये गये हैं। जो वस्तु प्रतिक्षण बदल रही है, वह भी नित्य-प्रलय है। नीदमें सो जाना भी नित्य-प्रलय ही है।

इस प्रकार नित्य नैमित्तिक और महाप्रलय प्रकृतिकी धारामें होते ही रहते हैं। महाप्रलय होता है, फिर सृष्टि हो जाती है। लेकिन जो आत्यन्तिक प्रलय है, वह कालकी धारामें नहीं होता। क्योंकि कालकी धारा अलग चलती रहती है।

जो अपने स्वरूपको जान लेता है, वह परब्रह्म परमात्मासे एक हो जाता है। उसके लिए सृष्टि होती हुई भी नहीं-सी हो जाती है। यही ब्रह्मज्ञान आत्यन्तिक प्रलय है। ब्रह्मज्ञानसे जो सम्पूर्ण प्रपञ्चका बाध होता है, उसीको आत्यन्तिक प्रलय कहते हैं।

बुद्धीन्द्रियार्थरूपेण ज्ञानं भाति तदाश्रयम्। २३

देखो, जो बुद्धि, इन्द्रिय और विषय भास रहे हैं, ये क्या हैं? असलमें जिस ज्ञानके आश्रित होकर ये भास रहे हैं, वह आश्रयभूत ज्ञान ही इनके रूपमें प्रकट हो रहा है। उसके बिना कोई दृश्य ही नहीं। उससे भिन्न और कुछ नहीं। जो आदि-अन्तवाला है, वह तो अवस्तु है और ज्ञान वस्तु है। जैसे आँख है, रूप है और दीपक है। ये तीनों हैं आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधि-भौतिक। परन्तु ज्योतिसे पृथक् तीनों नहीं। ये सब बदलते रहते हैं और ज्योति एक रहती है।

कोई बात ही नहीं रह गयी। लोग पूछते हैं कि तुम साधु हो कि गृहस्थ हो? साधु उत्तर देते हैं कि गेरुवा नहीं देखते? गेरुवा दिखाकर अपनी साधुता सिद्ध करते हैं। जो बहुत बोलें, उसको पण्डित माना जाता है। गरीबको दुष्ट कहा जाता है। दम्भीको साधु मानते हैं। दो घण्टे बाथरूम-में नहानेका नाम प्रसाधन है, शृङ्गार है। जो बली होता है, वही राजा बन बैठता है। एक आदमी दूसरे आदमीका भोजन छीन लेता है, उसकी स्त्री आदि छीन लेता है। बारम्बार अना-वृष्टि होती है और अकाल पड़ता है। व्याधि, सन्ताप होते हैं। वर्णाश्रम क्षीण होने लगता है। वेदपथ क्षीण होने लगता है। पाखण्ड प्रचुर हो जाता है। राजा लोग प्रायः डकैत हो जाते हैं, आश्रम घर-गृहस्थीके समान हो जाते हैं और वर्ण शूद्रके समान हो जाते हैं। इस प्रकार कलियुगमें गधेका धर्म ज्यादा बढ़ जाता है।

इसके बाद सम्भल ग्रामके विष्णुयशासे कल्कि भगवान्‌का अवतार होगा। वे घोड़ेपर चढ़-कर दुष्टोंको मारेंगे और सत्ययुगका प्रवर्तन करेंगे।

इसके बीचमें श्रीशुकदेवजी महाराजने कालका वर्णन भी किया है कि कितने कालतक कैसा होता है। उन्होंने कहा कि जिस दिन भगवान्‌ने अपना चरणारविन्द धरतीपरसे उठाया, उसी दिन कलियुगकी प्रवृत्ति हुई। इसका अर्थ है कि यदि आप भगवान्‌के चरणारविन्दको अपने हृदय-पर बनाये रक्खेंगे तो कलियुग आपके जीवनमें बिल्कुल नहीं आयेगा।

कलियुगके अन्तमें देवापि फिरसे क्षत्रिय-धर्मका प्रवर्तन करेंगे। ये चारों युग देश, काल, वृत्तिके अनुसार अनुक्रमसे होते रहते हैं। जो बड़े-बड़े राजा हुए, इन्होंने पृथिवीसे ममता की और कहा कि यह मेरी पृथिवी है। लेकिन अन्तमें मर गये। उन्होंने नाम तो रखा राजा और मरकर कहाँ गये?

कृमिविड्भस्मसंज्ञान्ते राजनाम्नोऽपि यस्य च। ४१

यह मत समझना कि राजा लोग मरते होंगे तो हंस होते होंगे और गरीब लोग मरते होंगे तो कीड़े होते होंगे। उनकी भी वही गति होती है, जो गरीबोंकी होती है। जो इस शरीरके लिए प्राणियोंको दुःख देते हैं, वे अपना भला-बुरा नहीं समझते। उन्हें तो नरक ही मिलेगा। लोग कहते हैं कि अजी, यह धरती मेरे पूर्वजोंकी है और अन्तमें मर जाते हैं। अब तो केवल उनकी कहानी ही सुननेको मिलती है—

कालेन ते कृताः सर्वे कथामात्राः कथासु च। ४४

: ५ :

देखो, यह पाँचवाँ अध्याय सबसे छोटा अध्याय है। इसमें जो सबसे अन्तिम बात कही हुई है, उसको आप देख लें। इसपर टीका-टिप्पणी करनेकी कोई जरूरत नहीं।

इस अध्यायमें श्रीशुकदेवजी महाराजने बताया है कि परीक्षित, श्रीमद्भागवतमें विश्वात्मा भगवान् श्रीहरिका ही वर्णन है, जिनसे ब्रह्मा-रुद्र प्रकट होते हैं। 'मैं मरूँगा'—यह सोचना पशु-बुद्धि है। तुम इसको छोड़ दो। तुम न तो कभी पैदा हुए हो और न कभी मरोगे। देहका जन्मना और मरना तुम्हारा जन्मना-मरना नहीं। तुम पुत्र-पौत्र आदि रूपमें फिर पैदा होंगे, यह बात भी नहीं। क्योंकि आत्मा बीजांकुरवत् नहीं है। यह तो अग्निवत् है। जैसे कोई स्वप्नमें अपना कटना-मरना देखे, वैसे ही संसारका जन्म-मरण है।

यहाँ प्रश्न उठा कि सपना देखनेवाला कौन है? इसका उत्तर है कि वह आत्मा है। आत्मा ही देहका जीना-मरना-कटना आदि देखता है। यह स्वयं अजन्मा है, अमर है। जैसे घड़ा फूट जानेपर आकाश नहीं फूटता, वह पहलेकी तरह आकाश हो रहता है, वैसे ही देह मर जानेके बाद उसमें जो चैतन्य है, वह ज्यों-का-त्यों रहता है। वह कोई छोटी-मोटी चीज नहीं, साक्षात् ब्रह्म है। वह पहले भी ब्रह्म, बीचमें भी ब्रह्म और अन्तमें भी ब्रह्म। मन ही सूक्ष्म-शरीरकी सृष्टि कर लेता है।

मतलब यह कि वासनाओंसे सूक्ष्म शरीरकी सृष्टि हो जाती है और उसमें 'मैं'—बुद्धि हो जानेसे यह आत्मा फँस जाता है। स्वयं-प्रकाश आत्माका आना-जाना कुछ नहीं होता। वह तो आकाशके समान सबका आधार है, अनन्त है।

न तत्रात्मा स्वयं ज्योतिर्यो व्यक्ताव्यक्तयोः परः। ८

परीक्षित, तुम अपने हृदयमें विद्यमान आत्माके बारेमें स्वयं विचार करो। ब्राह्मणकी आज्ञासे तक्षक तुमको भस्म नहीं करेगा। मृत्यु भी तुमको भस्म नहीं करेगी—

मृत्यवो नोपधक्ष्यन्ति मृत्यूनां मृत्युमीश्वरम्। १०

तुम स्वयं मृत्युकी भी मृत्यु हो, ईश्वर हो, तुमको कोई मार नहीं सकता। तुम इस तरह अनुसन्धान करो—

अहं ब्रह्म परं धाम ब्रह्माहं परमं पदम्। ११

मैं परमधाम ब्रह्म हूँ और परमधाम ब्रह्म मैं हूँ। इस प्रकार अपने आपमें दोनों ओरसे विचार करो कि 'अहं ब्रह्म'—मैं ब्रह्म हूँ। ऐसा अपरोक्ष ज्ञान होनेसे ब्रह्ममें जो परोक्षपन तथा अनात्मपन होता है, वह दूर हो जाता है। ब्रह्माहम्—ब्रह्म मैं हूँ—ऐसा अपरोक्ष ज्ञान हो जानेसे आत्मामें जो अब्रह्मपन तथा परिच्छिन्नपन प्रतीत होता था, वह दूर हो जाता है। यह नहीं कि मैं ब्रह्म हूँ, केवल मैं ब्रह्ममें लीन हो जाता हूँ। क्योंकि यदि मैं ब्रह्ममें लीन हो जाता हूँ तो ब्रह्म भी मुझमें लीन हो जाता है। इसमें छोटे-बड़ेका भेद बिल्कुल नहीं रहना चाहिए—'आत्मन्याधाय निष्कले। (११)

परीक्षित, अब तुमको तक्षक भले ही काट जाय। लेकिन तुम देखोगे कि तुमसे जुदा न तो विश्व है और न शरीर है।

आत्मस्वरूप पुत्र परीक्षित, तुमने विश्वात्मा भगवान्‌की लीलाके सम्बन्धमें जो-जो प्रश्न किये थे, उन सबका उत्तर मैंने दे दिया। अब तुम और क्या सुनना चाहते हो?



इधर सूतजी कहते हैं कि शौनक आदि ऋषियों, भगवान्के शरणागत एवं उनके द्वारा संरक्षित राजर्षि परीक्षितने श्रीशुकदेवजी महाराजके सब उपदेश बहुत ध्यानसे सुने। फिर वे सिर झुकाकर परमहंस भगवान्के चरणोंके पास जरा और खिसक गये और हाथ जोड़कर बोले—

महाराज, मैं तो अपने आपमें स्थित हो गया। आपने मुझपर महान् अनुग्रह किया कि मुझे परमात्माका श्रवण करा दिया। अब मुझे मृत्यु आदिका कोई भय नहीं, मैं तो ब्रह्ममें प्रविष्ट हो गया। आपने मुझे अभयका दर्शन करा दिया। अब मैं प्रसन्न हूँ। ज्ञान-विज्ञानमें निष्ठा होनेसे मेरे अज्ञानकी निवृत्ति हो गयी। आपने मुझको परमात्माका साक्षात् दर्शन करा दिया।

इत्युक्तस्तमनुज्ञाप्य भगवान् बादरायणिः। ८

सूतजी कहते हैं कि राजा परीक्षितने ऐसा कहकर बड़े प्रेमसे श्रीशुकदेवजी महाराजकी पूजा की और श्रीशुकदेवजी महाराज अपने साथी महात्माओंके साथ सभासे उठकर चले गये।

इसके बाद वर्णन आया है कि शुकदेवजी महाराजके चले जानेपर राजा परीक्षितने परमात्माका ध्यान किया और परमात्मामें लीन होकर उन्होंने गङ्गाजीके तटपर अपना शरीर छोड़ दिया।

इधर मुनिकुमार शृङ्गीके शापानुसार तक्षक राजा परीक्षितको डँसने चला। उसको मार्गमें कश्यप नामका एक ब्राह्मण मिला जो सर्पदंशकी चिकित्सा जानता था। तक्षकने उसको बहुत-सा धन देकर लौटा दिया। परीक्षितका शरीर तो अपनी माताके गर्भमें ही अश्वत्थामाके ब्रह्मास्त्रसे दग्ध हो गया था। परन्तु उस समय भगवान्ने उसको बचा लिया।

अब परीक्षितको दूसरी तरहसे मरना नहीं था, ब्रह्मास्त्रसे ही मरना था। इसलिए दूसरे ब्रह्मास्त्र अथवा ब्रह्मशापास्त्रके समय भगवान्ने परीक्षितको ऐसा बना दिया कि वह उनको छू ही न सके। क्योंकि लौकिक अग्निसे उनकी मृत्यु नहीं होनी चाहिए थी। इसलिए जब तक्षकने ब्राह्मण वेशमें परीक्षितके पास पहुँचकर डँसा, तब उसके पहले ही वे ब्रह्मभूत हो गये थे, केवल उनका शरीर तक्षकके दंशसे भस्म हुआ।

अब जब राजाके पुत्र जनमेजयको अपने पिताकी मृत्युका कारण मालूम हुआ तो उसने बड़ा भारी नाग-यज्ञ किया। उसमें अगणित सर्प भस्म हो गये। तक्षककी रक्षा इन्द्रने की। जनमेजयने ऐसा मन्त्र पढ़वाया कि इन्द्र भी तक्षकके साथ हवन-कुण्डमें गिरकर भस्म हो जायें। इन्द्रका विमान चक्कर काटने लगा।

यह देखकर बृहस्पतिजी आये और उन्होंने जनमेजयको समझाया कि राजन्, सर्पराज तक्षकको मारना आपके योग्य काम नहीं है। इस संसारमें प्राणियोंका जीना-मरना उनके हाथमें नहीं है। वे सब अपने-अपने कर्मके अनुसार ही जीते-मरते और गति पाते हैं। भगवान्‌की महामाया सब जगह व्याप्त हो जाती है और उससे सबलोग मोहित हो जाते हैं। केवल भगवान्‌के भक्त ही उससे बचते हैं। परमात्माके स्वरूपमें मायाकी कोई चाल नहीं चलती। जिनके मनमें अहंता-ममता नहीं होती, उन्हींको परम पदकी प्राप्ति होती है।

परं पदं वैष्णवमामनन्ति तद् यन्नेति नेतीत्यतदुत्सिसृक्षवः। ३२

सूतजी कहते हैं कि ऋषियों, जनमेजयने बृहस्पतिकी आज्ञा शिरोधार्य की और सर्प-सत्र बन्द कर दिया। फिर अन्तमें उन्होंने बृहस्पतिजीका पूजन किया और उनको नमस्कार किया।

इसके बाद जब शौनकजीने पूछा कि ये वेद कैसे प्रकट होते हैं, तब सूतजीने बताया—शरीरके भीतर एक अनाहत नाद होता है। मनुष्य चाहे तो उसको साधनाके द्वारा श्रवण कर सकता है। जो ॐकार-ध्वनि होती है, वही सर्व वेद-उपनिषद्का बीज है। उसीसे वेद प्रकट होते हैं।

सूतजीने शौनकजीके पूछनेपर यह बताया कि व्यासजी महाराज किस प्रकार वेदोंका विभाग करके अपने शिष्योंको पढ़ाते हैं? यह भी बताया कि शुक्ल यजुर्वेद संहिता कैसे अलग हो गयी। वैशम्पायनजीने याज्ञवल्क्यको शाप दे दिया कि तुम मेरी पढ़ायी संहिताको उगल दो। याज्ञवल्क्यने उगल दिया। वैसे इसमें याज्ञवल्क्यका कोई बहुत बड़ा अपराध नहीं था।

बात यह हुई कि एकबार वैशम्पायनने शिष्योंसे कहा कि तुम सब लोग मिलकर हमसे जो अनजानमें ब्रह्म-हत्या हो गयी है, उसका प्रायश्चित्त कर लो। इसपर याज्ञवल्क्यने कह दिया कि महाराज, आप छोटे-मोटे चेलोंको यह बात क्यों कहते हैं? ये क्या प्रायश्चित्त करेंगे? मैं अकेले कर लूँगा। अब तो वैशम्पायनजी नाराज हो गये और उन्होंने कहा कि अरे तू मेरे ब्राह्मण-शिष्योंका अपमान करता है। तू बहुत अभिमानी है। हमारी विद्या ग्रहण करनेके योग्य नहीं। उन्होंने उनसे अपनी पढ़ायी विद्या उगलवा ली।

उसके बाद याज्ञवल्क्यजीने सूर्यकी आराधना की और सूर्यने उनको बिलकुल ताजा यजुर्वेद दिया। उसपर उन्होंने वाजसनेय-संहिता बनायी। इस प्रकार सूतजीने वेदोंकी उत्पत्तिका प्रसंग बताया।



: ७ :

इसके बाद सूतजीने शौनकादिको बताया कि अनेक ऋषि-मुनि हुए और उन्होंने पुराण-संहिता तथा वेद-संहिता चलायी। पुराणोंमें सर्ग, विसर्ग, वृत्ति, रक्षा, मन्वन्तर, वंश, वंशानुचरित, लय, हेतु और आश्रय—इन दस वस्तुओंका वर्णन है। दूसरे स्कन्धमें इनका वर्णन बहुत अच्छे ढंगसे आ चुका है।

लेकिन ये दस लक्षण बड़े पुराणोंमें ही होते हैं। छोटे पुराणोंमें पाँच ही लक्षण होते हैं। उसमें ईश्वरसे महदादि तत्त्वोंकी सृष्टि कैसे होती है, इस वर्णनको सर्ग कहते है और ईश्वरसे ही प्राणियोंकी सृष्टि कर्मानुसार कैसे होती है, उसे विसर्ग कहते हैं। इसके बाद वृत्ति, रक्षा, मन्वन्तर, वंश, वंशानुचरित आदिका वर्णन है। ये सब पुराण-विषयक वर्णन हैं।

असलमें जितनी भी अवस्थाएँ हैं वे सब सारे संसारमें होती हैं। उन सबमें एक परमात्मा ही प्रकट है और वही आश्रय है। जैसे घटादिमें मिट्टी है, वैसे ही सम्पूर्ण सृष्टिमें मिट्टी है। पुराण अठारह होते हैं। उनमें ब्राह्म, पाद्म, वैष्णव, शैव, लैङ्ग, आदि पुराण प्रमुख हैं।

इस प्रकार सूतजीने बताया कि किस प्रकार शाखाओं और पुराणोंका प्रणयन होता है।



: ८ :

अब शौनकजीने यह प्रश्न किया कि सूतजी, लोग कहते हैं कि मार्कण्डेयजी बड़े दीर्घायु थे, कल्पान्तमें भी शेष रह गये। परन्तु जिस कल्पमें वे हुए हैं, उस कल्पमें तो अभी कोई प्रलय ही नहीं हुआ। वे तो हमारे ही वंशके एक ऋषि हैं। ऐसी स्थितिमें उन्होंने प्रलय कैसे देखा? इस विषयमें हमको जो शंका है, उसका आप निवारण कीजिये।

सूतजीने बताया, मार्कण्डेय बड़े नैष्ठिक ब्रह्मचारी थे। उन्होंने भगवान्‌की आराधना की। वे तपस्या, स्वाध्याय आदिसे युक्त होकर रहे। इन्द्रने उनकी तपस्याका नाश करनेके लिए गन्धर्व-अप्सरा आदिको भेजा। उन्होंने वहाँ जाकर खूब ऊधम मचाया, उपद्रव किये। गन्धर्वोंने गान किया, अप्सराओंने नृत्य किये। कामदेवने अपने धनुषपर वाण चढ़ाकर छोड़ा। पर मार्कण्डेयपर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। अन्तमें ऋषिके तेजसे सब भस्म होने लगे और भाग खड़े हुए।

मनुष्यको छोटी-सी सफलता मिल जाती है तो उसे बहुत अहंकार हो जाता है, लेकिन मार्कण्डेय मुनिको इतनी बड़ी सफलता मिलनेपर भी किसी प्रकारका अहंकार नहीं हुआ। क्योंकि भगवान्‌की जिनपर कृपा होती है, उनके अन्दर किसी प्रकारका विकार नहीं आता। मार्कण्डेयजीके सामने जब काम अपने गणों-सहित निस्तेज हो गया तब इन्द्रको बहुत विस्मय हुआ।

अब नर-नारायण ऋषि मार्कण्डेयजीके पास आये। उनमें एक श्वेत हैं और दूसरे श्याम हैं। दोनोंकी आँखें बड़ी-बड़ी हैं—'शुक्लकृष्णौ नवकञ्जलोचनौ।' (३३) दोनों अत्यन्त सुन्दर हैं, चतुर्भुज हैं और मृग-चर्म धारण किये हुए हैं। उनको देखकर मार्कण्डेयजीको बहुत आनन्द हुआ। उन्होंने उनको आसनपर बैठाकर उनकी खूब पूजा की।

मार्कण्डेयजीने कहा—महाराज, मैं आपकी महिमाका वर्णन क्या करूँ? आपकी वजहसे ही हमारी वाणी बोलती है, जीभ हिलती है और साँस चलती है। यद्दर्शनं निगम आत्मरहः प्रकाशम्' (४९) आपके दर्शनोंसे आपके स्वरूपका ज्ञान हो जाता है, जिसके विषयमें ब्रह्मा आदि भी मोहित हो जाते हैं। 'तं सर्ववादविषयप्रतिरूपशीलम्' (४९) जब वाद-विवाद होने लगता है, तब आप जो जैसा कहता है, वैसा ही शील-स्वभाव ग्रहण कर लेते हैं, वास्तवमें आप विज्ञानघन हैं, मैं आपकी वन्दना करता हूँ।

ॐ

श्रीसूतजी कहते हैं कि जब मार्कण्डेय मुनिने इस प्रकार वन्दना कर ली तब भगवान् नर-नारायणने कहा—ब्रह्मर्षि-शिरोमणे, तुम मेरे अनन्य भक्त हो, तुम्हारी जो इच्छा हो, वह वर मुझसे माँग लो।

मार्कण्डेय बोले—अब मुझे कोई वर नहीं चाहिए। 'स भगवान् मेऽक्षगोचरः'। (५) जब आपका दर्शन हो गया तो वरकी क्या जरूरत है ? यदि आप वर देना ही चाहते हैं तो यह वर दीजिये कि मैं आपकी माया देख लूँ।

इसपर भगवान्‌ने कहा—माया देखने लायक तो नहीं होती। फिर भी तुम मेरी माया देख लेना।

एक दिन जब मार्कण्डेयजी तुंगभद्रा नदीके तटपर अपने आश्रममें बैठकर भजन कर रहे थे तब वहाँ चारों ओरसे समुद्र उमड़कर आगये। वह आश्रम डूबने लगा, बाग-बगीचे डूबने लगे। यहाँतक कि पहाड़ भी डूबने लगे। मार्कण्डेय जी बड़े भारी अन्धकारमें डूब गये। उनको कभी मगर निगल जाय और कभी उगल दे। कभी वे भँवरमें फँस जायँ। कहीं शोक, कहीं मोह, कहीं दुःख, कहीं सुख—इस चक्करमें मार्कण्डेयजी भटकने लगे, इसमें लाखों वर्ष बीत गये।

एक बार वे क्या देखते हैं कि पृथिवीके टीलेपर बरगदका छोटा-सा पेड़ है। 'प्रागुत्तरस्यां शाखायाम्' (२१) उसके पत्तेपर एक बालक लेटा हुआ है। वह बालक बड़ा सुन्दर है और अपने दोनों हाथोंसे अपने पाँवकी अंगुलियोंको पकड़कर चूस रहा है। मार्कण्डेयजी उस शिशुको देखकर विस्मित हो गये।

आप समझ ही गये होंगे कि उस दिव्य शिशुके रूपमें साक्षात् भगवान् थे। भगवान्‌ने सोचा कि 'ममाङ्घ्रिराजीवरसं पिबन्ति किम्'—बड़े-बड़े महात्मा मेरे चरणोंका रस क्यों पीते हैं ? इसमें जरूर कुछ-न-कुछ स्वाद होगा। इसलिए वे अपना पाँव पीकर देखने लगे—'स्वपादाम्बुज-पानकौतुकी'।

जब मार्कण्डेयजी उस शिशुके पास पहुँचे तब उसकी साँससे खिंचकर उसके पेटके भीतर चले गये। वहाँ जाकर देखा कि जैसे बाहर संसार है, वैसे ही भीतर भी है। वहाँ भी चातुर्वर्ण्य, चारों आश्रम, पञ्चभूत, काल, हिमालय, पुष्प, नदियाँ, अपना आश्रम, ऋषि आदि हैं। वहाँ भी उन्होंने ऐसा ही प्रलय, ऐसा ही वट-वृक्ष और ऐसा ही बालक देखा। वे कुछ बोल न सके। इतनेमें वह सब दृश्य तिरोहित हो गया और उन्होंने देखा कि वे तो अपने आश्रममें बैठे हुए हैं।

❀

श्रीसूतजी कहते हैं कि ऋषियों, मार्कण्डेयजी भगवान्‌की मायाका दर्शन करनेके बाद मन-ही-मन उनका स्तवन करते हुए उनकी शरणमें स्थित हो गये। उन्होंने यह निश्चय कर लिया कि इस मायासे पार पानेका उपाय भगवान्‌की शरणागति ही है।

एक दिनकी बात है। भवानीके साथ भगवान् शंकर भ्रमण करते हुए वहाँ आये। भवानीने कहा कि देखो, यह कैसा बड़ा महात्मा है, चलो इसको कोई वर देकर इसकी तपस्या सिद्ध कर दें। शंकरजी बोले कि देवी, यह कुछ चाहनेवाला ऋषि नहीं है। इसको तो भगवान्‌की परा भक्ति प्राप्त हो गयी है। लेकिन तुम कहती हो तो चलो, इससे थोड़ी देर बातचीत कर लेते हैं। साधुका समागम प्राप्त होना परम लाभ है—

अयं हि परमो लाभो नृणां साधुसमागमः। ७

भगवान् शंकर पास आये तो उन्होंने देखा कि मार्कण्डेय मुनि ध्यानमग्न हैं। भगवान् शंकरने उनका ध्यान भंग कर दिया और वे स्वयं उनके ध्यानमें प्रविष्ट हो गये। जब मुनिको शंकरजीका दर्शन प्राप्त हुआ तब उन्होंने अपनी आँखें खोलीं। देखा तो सामने साक्षात् शंकरजी खड़े हैं। मुनिने उनकी स्तुति-पूजा की। शंकरजीने कहा कि मार्कण्डेयजी, वर माँग लो! तुमको क्या चाहिए बोलो! मेरा दर्शन अमोघ है। तुम तो निःसङ्ग सन्त ब्राह्मण हो और हमारी आरा-

धना करते रहते हो। तुम्हारे जैसे महात्मा मुझमें, ब्रह्मामें और विष्णुमें किसी प्रकारका भेद नहीं देखते—

न ते मय्यच्युतेऽजे च भिदामण्वपि चक्षते। २२

इसलिए हमलोग तुम्हारे जैसे महात्माओंपर प्रसन्न रहते हैं और तुम्हारी सेवा करना चाहते हैं। देखो, मार्कण्डेयजी! जड़का नाम देवता नहीं होता, पानी का नाम तीर्थ नहीं होता। वे तो बहुत देरसे पवित्र करते हैं। परन्तु तुम्हारे जैसे सन्तोंके दर्शनसे तत्काल पवित्रता मिल जाती है—

न ह्यम्मयानि तीर्थानि न देवाश्चेतनोज्झिताः। २३

शंकरजीने कहा कि हम तो तुम्हारे चरणोंमें नमस्कार करते हैं। तुम्हारे चरित्रके श्रवण और दर्शनसे, बड़े-बड़े पातकी तथा अन्त्यज भी पवित्र हो जाते हैं। फिर तुम्हारा यदि सम्भाषण और सत्संग भी मिल जाये तो कहना ही क्या है!

शंकरजीकी बात सुनकर ऋषि मार्कण्डेयने कहा कि भगवन्, यह तो आपकी लीला है कि आप धर्म सिखानेके लिए अपने नियम्यकी इस प्रकार स्तुति करते हैं। मैं बारम्बार आपके चरणोंमें प्रणाम करता हूँ। मैं आपसे क्या वर मागूँ? आपके दर्शनके बाद तो मनुष्य पूर्णकाम, सत्यकाम हो जाता है; फिर भी आपकी आज्ञा है, इसलिए आपसे एक वर माँगता हूँ—

भगवत्यच्युतां भक्तिं तत्परेषु तथा त्वयि। ३४

मुझे भगवान्‌के प्रति पराभक्तिकी प्राप्ति हो, भगवान्‌के भक्तोंकी भक्ति मिले और आपमें भी भक्ति बनी रहे। इसके बाद मार्कण्डेयजीने शंकरजीकी सेवा-पूजा की। शंकरजी बोले कि मार्कण्डेयजी, तुम अजर-अमर हो जाओ और पुराणोंके कर्ता बनो।

श्रीसूतजी कहते हैं कि शौनकजी, इस प्रकार वरदान देकर भगवान् शंकर भवानीके साथ चले गये। मार्कण्डेयजीको उनके महायोगका परम फल मिल गया। मार्कण्डेयजीका चरित्र भगवान्‌के प्रभाव और महिमासे भरपूर है। जो इसको सुनते-समझते हैं, वे आवागमनसे छूट जाते हैं।



अब शौनकजीने कहा कि सूत जी, हमलोग आपसे क्रिया-योग जानना चाहते हैं। भगवान्‌की आराधना करते समय किन-किन तत्त्वोंसे उनके अङ्गोपाङ्ग, आयुध, स्वरूप आदिका कैसे निरूपण किया जाता है ?

श्रीसूतजीने कहा कि मैं आपके प्रश्नका उत्तर देनेके पहले अपने गुरुको नमस्कार करता हूँ—'नमस्कृत्य गुरून् वक्ष्ये' (४)

यहाँ देखो, विष्णुपुराणमें विस्तारपूर्वक गुरुको नमस्कार करनेकी विधिका बहुत सुन्दर वर्णन है। इसलिए सूतजीने पहले अपने गुरुको नमस्कार किया और फिर वैष्णवी विभूतिका वर्णन किया।

उन्होंने बताया कि माया आदि नौ तत्त्वोंसे षोडश विकारात्मक विराट्‌का निर्माण हुआ, जिसमें त्रिगुण दीखता है। यही भगवान्‌का पौरुष-रूप हैं। इसमें पृथिवी पाद है, स्वर्ग सिर है, नभ नाभि है और सूर्य नेत्र है। इस प्रकार विराट् ही भगवान्‌का रूप है और यह भी साढ़े तीन हाथका ही है। उसमें भगवान् कौस्तुभमणिके रूपमें शुद्ध चैतन्यको धारण करते हैं। कौस्तुभकी प्रभा ही श्रीवत्स है। वे अपनी मायाको वन-मालाके रूपमें धारण करते हैं। वेद उनका पीताम्बर है और प्रणव यज्ञोपवीत है। सांख्य-योग उनके कुण्डल हैं। ब्रह्मलोक सुहृद् है। प्रधानतत्त्व शेषाख्य आसन है। सत्त्वगुण पद्म है, प्राण-तत्त्व गदा है और जल-तत्त्व शङ्ख है। उनका सुदर्शन तेजस् तत्त्व है। आकाश-तत्त्व तलवार है। तमोमय चर्म है। कालरूप धनु है। कर्म तूणीर है। इन्द्रियाँ शर और क्रीड़ायुक्त मन रथ है। षड्गुण ऐश्वर्य लीला-पद्म है। धर्म चाँवर है। यश व्यञ्जन है। छत्र वैकुण्ठ है। वेदरूप गरुड़ वाहन है और भगवान्‌की शक्ति ही श्री है। पञ्चरात्रादि आगम विष्वक्सेन हैं। अणिमादि अष्ट गुण है। नन्द-सुनन्द आदि द्वारपाल हैं। वासुदेव, सङ्कर्षण आदि उनका चतुर्व्यूह है इस प्रकार भगवान्‌का श्रीविग्रह तत्त्वरूप है। वे सृष्टिका स्थिति-संहार करते हैं।

इतना वर्णन करते-करते सूतजीको भगवान् श्रीकृष्णका ध्यान हो गया और वे उनको सम्बोधित करते हुए कहने लगे—श्रीकृष्ण, आपके जो नाम हैं, वे श्रवण-मङ्गल हैं। हम आपके सेवक हैं। आप हमारी रक्षा कीजिये।

इसके बाद शौनकजीने सौरगणके सम्बन्धमें प्रश्न किया और सूतजीने वर्ष भरके जो अलग-अलग ऋषि आदि होते हैं, उन सबका विस्तारसे वर्णन किया और यह बताया कि बालखिल्यादि ऋषि द्वादशगणोंके साथ रहकर सूर्य भगवान्‌का भजन-पूजन करते हैं।



अब सूतजी कहते हैं कि शौनक आदि ऋषियो, आप लोगोंने जो प्रश्न किये, उनका उत्तर मैंने आप लोगोंको सुना दिया। विष्णु भगवान्के चरित्र अद्भुत हैं, उनकी लीला अद्भुत है। भागवतमें उन्हींके चरित्रका वर्णन है, उन्हीं पापहारी प्रभुकी लीलाओंका गायन है—

अत्र संकीर्तितः साक्षात् सर्वपापहरो हरिः। ३

इस महापुराणके प्रथम स्कन्धमें भक्ति-योग और वैराग्यका वर्णन है। इसके अतिरिक्त पारीक्षित-उपाख्यान, नारदाख्यान, गङ्गातटपर परीक्षितका बैठना आदि, यह सब है। द्वितीय स्कन्धमें क्रममुक्ति, सद्योमुक्तिका वर्णन है। तीसरे स्कन्धमें विदुर-उद्धवका संवाद है, प्राकृत, वैकृत, सर्ग आदिका वर्णन है, वराहावतार है, कर्दमका चरित्र है और कपिलावतार है। चतुर्थ स्कन्धमें मनु-कन्याओंकी वंश-परम्पराका वर्णन है, ध्रुवका चरित्र है। पृथु, प्राचीनर्वाह, नारद आदिका संवाद है। पञ्चम स्कन्धमें प्रियव्रत आदिका उपाख्यान है। षष्ठ स्कन्धमें भगवान्के अनुग्रहका वर्णन है। अजामिलोपाख्यान, दक्षका जन्म, उनकी कन्याओंका वंश, वृत्रासुरका निधन है। सातवें

स्कन्धमें प्रह्लाद-चरित्र है। आठवें स्कन्धमें सिन्धु-मन्थन है। नवम स्कन्धमें राजवंशोंका कीर्तन है। राज-चरित्र है। राम-चरित्र है। दशम स्कन्धमें भगवान् श्रीकृष्णका वर्णन है। वसुदेवके घरमें जन्म और पूतनाके प्राणोंको पी जाना, छकड़ेको उलट देना, तृणावर्तको मारना, बकासुर, धेनुकासुर, वत्सासुर, प्रलम्बासुर आदिका नाश, दावाग्निका पान, कालियका दमन, नन्दका मोचन, चीरहरण-प्रसंग, गोवर्धन-पूजा, रास-लीला और वृषभासुर आदिका वध है। वृन्दावनसे मथुरा जाना, वहाँ कंसादिको मारना, व्रजमें उद्धवादिको भेजना और जरासन्ध-कालयवन आदिके वधका वर्णन है। उसके बाद द्वारकाको बसाना, विवाह, बाणासुर आदिके साथ भगवान्का युद्ध, शिशुपाल, पौण्ड्रक आदिको मारना तथा कौरव-सेनाका संहार है। फिर ग्यारहवें स्कन्धमें भगवान् और उद्धवका संवाद है, जिसमें आत्मविद्याका वर्णन है। इसके बाद भगवान्के स्वधाम-गमनका प्रसंग है। बारहवें स्कन्धमें भावी राजाओंका, युग-लक्षणका, परीक्षितके देह-त्यागका, वेद-शाखा-विभागका, महापुरुषके अङ्गोपाङ्गादिका और सौरगणका वर्णन है—

पतितः स्खलितश्चार्तः क्षुत्त्वा वा विवशो ब्रुवन् ।
हरये नम इत्युच्चैर्मुच्यते सर्वपातकात् ॥ ४६

ऋषियों, यदि कोई मनुष्य धरतीपर गिर पड़े, उसके पाँव फिसल जायँ, उसे कोई दुःख हो जाय, उसको छींक आजाय, किसी भी अवस्थामें विवश होकर भी वह 'हरये नमः, हरये नमः, हरये नमः' बोल दे तो वह सारे पापोंसे मुक्त हो जाता है। नाम-संकीर्तन करनेसे भगवान् आकर हृदयमें बैठ जाते हैं और सारे दुःखोंको दूर कर देते हैं। वह वाणी और वह कथा झूठी है, जिसमें भगवान्का वर्णन नहीं। जिसमें भगवान्के गुणानुवादका वर्णन है वही सत्य है, वही मङ्गल है—

तदेव रम्यं रुचिरं नवं नवं तदेव शश्वन्मनसो महोत्सवम् ।
तदेव शोकार्णवशोषणं नृणां यदुत्तमश्लोकयशोऽनुगीयते ॥ ४९

भगवान्का यश ही सर्वोत्तम है। जिस कवितामें भगवान्का यश नहीं, वह कविता कितनी भी सुन्दर क्यों न हो, हंस-परमहंस उसका सेवन नहीं करते। वह तो कौओंके लिए है। यदि कविता अच्छी न हो, व्याकरणसे अशुद्ध भी हो, पर उसमें भगवान्का नाम-यश हो तो महात्मा लोग उसको धारण करते हैं। अच्युतके भावसे वर्जित नैष्कर्म्य-ज्ञानकी भी पूरी शोभा नहीं होती—

नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम् । ५२

यद्यपि ज्ञान निरञ्जन है, निर्मल है, परन्तु यदि उसमें भगवद्-भक्ति न हो तो उसकी थोड़ी-बहुत शोभा रहती है, परन्तु पर्याप्त शोभा नहीं होती—'अलम् न शोभते।' कर्ममें रक्खा ही क्या है? वह निष्काम होनेपर भी भक्तिके बिना शोभित नहीं होता। सबका फल यह है कि भगवान् श्रीधरके चरणारविन्दका, उनके गुणानुवादके द्वारा स्मरण हो। भगवान्के चरणारविन्दकी अविस्मृति सब अमंगलोंको दूर कर देती है और शान्ति देती है। परमात्माकी भक्तिसे ज्ञान-विज्ञान सब-कुछ मिल जाता है—

अविस्मृतिः कृष्णपदारविन्दयोः क्षिणोत्यभद्राणि शमं तनोति च। ५३

ब्राह्मणों, आप लोग धन्य हो, जो भगवान्की ऐसी भक्ति करते हो। आप लोगोंने बार-बार याद दिलाकर प्रश्न-पर-प्रश्न किये तो मैंने वासुदेवकी कथाका वर्णन किया। यह कथा ऐसी है कि जो इसका श्रवण-श्रावण करता-कराता है, उसको परम कल्याणकी प्राप्ति होती है। वेदादिके पाठसे बड़े-बड़े विद्वानोंको जो मङ्गल मिलता है, वह इसीसे मिल जाता है। कोई किसी भी वर्णका क्यों न हो, यहाँतक कि शूद्र भी क्यों न हो, यदि भगवान्के इस चरित्रका पाठ करे तो वह पातकसे छूट जाता है—

विप्रोऽधीत्याप्नुयात् प्रज्ञां राजन्योदधिमेखलाम्।
वैश्यो निधिपतित्वं च शूद्रः शुद्धयेत् पातकात्॥ ६४

ऋषियों, दूसरे पुराणोंमें पदे-पदे भगवान्का ऐसा वर्णन नहीं है। यहाँ तो प्रत्येक कथा-प्रसंगमें भगवान्का वर्णन है। जो भगवान् सबकी सृष्टि-स्थिति और प्रलयके मूलतत्त्व हैं और शंकर, ब्रह्मादि जिनकी वन्दना करते हैं, उनको हम नमस्कार करते हैं। जो अपनी नव शक्तियोंके साथ अपने आपमें क्रीड़ा करते रहते हैं, उन उपलब्धि मात्र स्वरूप परमात्माको हम नमस्कार करते हैं!

स्वसुखनिभृतचेतास्तद्व्युदस्तान्यभावोऽप्यजितरुचिरलीलाकृष्टसारस्तदीयम्।
व्यतनुत कृपया यस्तत्त्वदीपं पुराणं तमखिलवृजिनघ्नं व्याससूनुं नतोऽस्मि॥ ६८

अन्तमें जो अपने परमानन्द—आत्मानन्दमें निमग्न हैं और उसके कारण जिनका द्वैतभाव बिलकुल मिट गया है, जिनको भगवान्ने अपनी ओर खींचकर अपने लीला-चरित्रके कथनमें लगा लिया, उन व्याससूनु शुकदेवजी महाराजको भी हम नमस्कार करते हैं!



अब श्रीसूतजी कहते हैं कि ब्रह्मादि जिनके स्तवनमें लगे रहते हैं, ऋषि-मुनि आदि वेदोंके द्वारा जिनका गुणगान करते हैं, योगी लोग जिनका ध्यान करते हैं और जिन्हें देवतादि भी नहीं जान पाते, उन परमात्माको मेरा नमस्कार है—

यं ब्रह्मा वरुणेन्द्ररुद्रमरुतः स्तुन्वन्ति दिव्यैः स्तवै-
र्वेदैः साङ्गपदक्रमोपनिषदैर्गायन्ति यं सामगाः।
ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनो
यस्यान्तं न विदुः सुरासुरगणा देवाय तस्मै नमः॥ १

इसके बाद आगेके श्लोकमें, जो काव्यकी दृष्टिसे भी बड़ा सुन्दर है, सूतजी आधार-भूत कच्छप भगवान्की वन्दना करते हुए कहते हैं—जिस समय उनकी पीठपर मन्दराचल चल रहा था, उस समय उन्हें मालूम हुआ कि खुजली हो रही है और उनको आरामसे नींद आगयी। नींदमें कच्छप भगवान्की साँस थोड़ी-सी बढ़ गयी। लेकिन उस साँसके बढ़नेसे समुद्रको ऐसा धक्का लगा कि उसमें ज्वार-भाटा आगया—

पृष्ठे भ्राम्यदमन्दमन्दरगिरिग्रावाग्रकण्डूयना-
न्निद्रालोः कमठाकृतेर्भगवतः श्वासानिलाः पान्तु वः।
यत्संस्कारकलानुवर्तनवशाद् वेलानिभेनाम्भसां
यातायातमतन्द्रितं जलनिधेर्नाद्यापि विश्राम्यति॥ २

इस स्तवनके बाद सूतजीने पुराणोंकी संख्या बताते हुए कहा कि किस पुराणमें कितने-कितने श्लोक हैं। उन्होंने बताया कि ब्रह्मपुराणमें दस हजार, पद्मपुराणमें पचपन हजार श्लोक हैं। इस प्रकार सब पुराणोंकी श्लोक-संख्या बताते हुए उन्होंने कहा कि कुल मिलाकर चार लाख श्लोक हैं। श्रीमद्भागवत महापुराणमें अट्ठारह हजार श्लोक हैं।

इदं भगवता पूर्वं ब्रह्मणे नाभिपङ्कजे। १०

शौनकजी, इसको पहले भगवान् नारायणने ब्रह्माको बताया। इसलिए बताया कि—'कारुण्यात् सम्प्रकाशितम्' (१०)—भगवान् नारायणके हृदयमें करुणा आगयी। उन्होंने देखा कि जीव और ब्रह्मा दोनों अभीतक प्रलयमें सो रहे हैं। जब ब्रह्माजी उठेंगे तो जीवोंको अन्तः-करण, इन्द्रिय और शरीर देंगे। वे सब संसारमें जायेंगे और बहुत दुःखी होंगे। इसलिए भगवान्ने

उनका दुःख दूर करनेके लिए श्रीमद्भागवतको प्रकाशित किया। उन्होंने कहा कि ब्रह्माजी, तुम संसारको बनानेवाले हो, इसलिए उससे छूटनेका उपाय हम तुमको दे देते हैं।

इस भागवतके आदि-मध्य-अन्तमें वैराग्यका आख्यान है। इसमें भगवान्‌की कथाएँ भरी हुई हैं। इस अमृतसे सन्तरूपी देवता आनन्दित होते हैं।

सर्ववेदान्तसारं यद् ब्रह्मात्मैकत्वलक्षणम्।
वस्त्वद्वितीयं तन्निष्ठं कैवल्यैकप्रयोजनम्॥ १२

शौनकजी, जो समस्त वेदान्तोंका सार है, अद्वितीय वस्तु है, उसीमें इस भागवतकी निष्ठा है, परिसमाप्ति है।

शौनकजीने कहा कि महाराज, सब अपनी-अपनी व्याख्याके सम्बन्धमें यही कहते हैं। अद्वैतवादी भी अद्वितीयपरक व्याख्या कर लेते हैं। जैसे अमुक अद्वितीय विद्वान् है, अद्वितीय पहलवान है—उस कथनका यह अर्थ नहीं कि दूसरा कोई विद्वान् या पहलवान नहीं, वैसे ही 'परमेश्वर अद्वितीय है' कहनेसे यह सिद्ध नहीं होता कि परमात्मा अद्वितीय है। 'अद्वितीय वस्तु' और 'तन्निष्ठम्' कहनेसे भगवान्‌की व्याख्या पूरी नहीं होती।

सूतजीने कहा कि लो, साफ-साफ बता देता हूँ—'ब्रह्मात्मैकत्वलक्षणं यत् अद्वितीयं वस्तु'—ब्रह्म और आत्माकी एकता ही लक्षण है इसका। ऐसी अद्वितीय वस्तु है यह।

शौनकजीने कहा—'ब्रह्मात्मैकत्व तो सायुज्यमें भी हो जाता है, कहीं उसीसे तो आपका अभिप्राय नहीं?

सूतजी बोले कि नहीं—कैवल्यैकप्रयोजनम्—एकमात्र कैवल्य ही इसका प्रयोजन है। कैवल्य स्वकी प्रधानतासे होता है। आत्मा कैवल्य होता है। सायुज्य होगा तो किसीसे मिलना होगा। इसलिए सायुज्य दूसरेकी प्रधानतासे होता है। कैवल्य तो स्वरूपभूत ही होता है।

अविद्याकी निवृत्तिसे उपलक्षित जो स्वरूप है, वही कैवल्य है और वही इसका प्रयोजन है।

शौनकजी, श्रीमद्भागवतका दान करना बहुत पुण्यप्रद है। जबतक श्रीमद्भागवतका श्रवण नहीं हुआ, तभीतक दूसरे पुराणोंकी महिमा है। श्रीमद्भागवत सब वेदान्तोंका सार है। जो इसके रसामृतसे तृप्त है उसकी अन्यत्र कहीं रति नहीं होती। जैसे नदियोंमें गङ्गा हैं, देवताओंमें अच्युत हैं, वैष्णवोंमें शङ्कर हैं, वैसे ही पुराणोंमें श्रीमद्भागवत है। जैसे क्षेत्रोंमें काशी सबसे श्रेष्ठ क्षेत्र है, वैसे ही पुराणोंमें श्रीमद्भागवत सबसे श्रेष्ठ पुराण है। अमल है श्रीमद्भागवत पुराण। इसमें छिलका, गुठली, त्याज्यांश कुछ भी नहीं। वैष्णव लोग इससे प्यार करते हैं—'यद्वैष्णवानां प्रियम्' (१८)। कहीं-कहीं 'यद्वैष्णवानां धनम्' पाठ भी है।

यस्मिन् पारमहंस्यमेकममलं ज्ञानं परं गीयते। १८

श्रीमद्भागवतमें एक अमल परम ज्ञानका गान होता है। अमल परम ज्ञान वही है, जिसमें ज्ञाता-ज्ञेयका विभाग न हो। हंसका ज्ञान प्रकृति-पुरुष विवेकात्मक द्वैत ज्ञान होता है। उसको हंस-ज्ञान भी बोलते। पारमहंस्यम् माने आत्म-अनात्मविवेक-रूप ज्ञान नहीं, यह तो अद्वैत-बोधरूप ज्ञान है। इसमें ज्ञान, विराग, भक्ति सहित नैष्कर्म्यका आविष्कार किया गया है। इसका जो विचार करता है, वह भक्तिसे युक्त हो जाता है।

कस्मै येन विभासितोऽयमतुलो ज्ञानप्रदीपः पुरा। १९

अन्तमें, जैसे 'सत्यं परं धीमहि' (१९) कहकर श्रीमद्भागवतको प्रारम्भ किया था, वैसे ही वही कहकर समाप्त करते हैं।

शौनक जी, इसको नारायणरूप भगवान्ने ब्रह्मा-रूप भगवान्को बताया, उसके बाद ब्रह्मा-रूप भगवान्ने नारद-रूप भगवान्को बताया। फिर नारद-रूप भगवान्ने व्यास-रूप भगवान्को बताया। इस आदान-प्रदानके मूलमें केवल करुणा ही करुणा है। किसीका कोई स्वार्थ नहीं, किसीमें कोई तृष्णा नहीं—

तच्छुद्धं विमलं विशोकममृतं सत्यं परं धीमहि। १९

अन्तमें सूतजी कहते हैं कि अब हम उन सर्वसाक्षी भगवान् वासुदेवको नमस्कार करते हैं, जिन्होंने कृपा करके मुमुक्षु ब्रह्माको इस श्रीमद्भागवतका उपदेश किया। उस शुक-रूप ब्रह्मको नमस्कार करते हैं, जिन्होंने संसारसर्पसे दंष्ट्र विष्णुरात परीक्षितको छुड़ाया। फिर इन दो श्लोकोंमें उपसंहार करते हुए कहते हैं—

भवे भवे यथा भक्तिः पादयोस्तव जायते।
तथा कुरुष्व देवेश नाथस्त्वं नो यतः प्रभो॥ २२
नामसंकीर्तनं यस्य सर्वपापप्रणाशनम्।
प्रणामो दुःखशमनस्तं नमामि हरिं परम्॥ २३

प्रभो, आप ऐसी कृपा करें कि आपके चरणारविन्द-युगलमें जन्म-जन्मान्तरतक हमारी भक्ति हो। हमको भक्ति चाहिए। चाहे वह जैसे भी प्राप्त हो—जन्म लेकर हो, मुक्त होनेसे हो अथवा कीट-पतंगादिकी योनियाँ प्राप्त करनेसे हो। 'यथा भक्तिः जायते तथा कुरुष्व' (२२) जिससे भक्ति हो, वही कीजिये। क्योंकि आप हमारे स्वामी हैं। आप जैसा चाहें वैसा ही कीजिये। आपका नाम-संकीर्तन सर्व पापोंका प्रणाशन है। आपके चरणोंमें किया हुआ प्रणाम सम्पूर्ण दुःखोंका शमनकर्ता है। आपको हम नमस्कार करते हैं, नमस्कार करते हैं—

— तं नमामि हरिं परम्, तं नमामि हरिं परम् —



उपसंहार

भगवान्‌की कृपासे श्रीमद्‌भागवतकी यह पाक्षिक-कथा पूरी हुई और आप सबने बड़े आनन्दसे, प्रेमसे उसका श्रवण किया। अब आप अपने इस वक्ताके हृदयकी दो बात भी सुन लीजिये।

मुझे किशोरावस्थासे ही श्रीमद्‌भागवतकी सप्ताह-कथा करते रहनेका सौभाग्य प्राप्त है। यदि मैं यह कहूँ कि मेरे पितामहने मुझे बचपनमें ही श्रीमद्‌भागवतकी घुट्टी पिला दी तो इसमें तनिक भी अतिशयोक्ति नहीं है। सर्वप्रथम मैंने अपने घरमें अपनी माताको ही सप्ताह-कथा सुनायी थी। समय-समयपर अन्य अनेक गुरुजनोंको सप्ताह-कथा सुनानेके बाद जब मैं तरुणावस्थामें गीताप्रेस, गोरखपुर पहुँचा तब वहाँ 'कल्याण'-सम्पादक श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार आदिको सप्ताह-कथा सुनानेका अवसर मिला। वहीं महामना मालवीयजी महाराजसे मुलाकात हुई और उन्होंने भी मुझसे सप्ताह-कथा-श्रवण करनेकी अभिलाषा प्रकट की। संयोगवश मैं उनकी वह अभिलाषा तो पूरी नहीं कर सका, लेकिन संन्यास-ग्रहण करनेके पूर्व, मैंने उनको काशी हिन्दू विश्वविद्यालयमें श्रीमद्‌भागवतके कुछ फुटकर प्रसंग सुना दिये। सुनकर मालवीयजी महाराज मुग्ध हो गये और मैं भी उनके जैसे परम भागवत महापुरुषको कथा सुनाकर कृतकृत्य हो गया। मेरे गृहस्थ-जीवनका वह अन्तिम भागवत-प्रवचन था।

संन्यास-ग्रहणके बाद तो भगवत्स्वरूप सन्त-महात्माओंको कथा-श्रवण करानेकी ऐसी परम्परा प्रारम्भ हुई कि वह अभीतक चली आ रही है। श्रीउड़ियाबाबाजी महाराज तथा श्रीहरिबाबाजी महाराजने अनेक बार कथाका श्रवण किया। हमारी ये आनन्दमयी माँ तो चौथी बार कथा-श्रवण कर रही हैं। इन लोगोंको कथा-श्रवण करानेमें जो आनन्द आता है, उसका वर्णन मैं कैसे करूँ? वह वर्णनातीत है।

मैं कहना यह चाहता हूँ कि श्रीमद्‌भागवत कल्पवृक्ष है। इसका आश्रय ग्रहण करके इसके द्वारा प्राप्त द्रव्यसे अगणित ब्राह्मण अपनी गृहस्थी और साधु-महात्मा अपना आश्रम चलाते आ रहे हैं। यदि मैंने भी गृहस्थ-जीवनमें अपनी जीविका चलानेके लिए तथा संन्यास-जीवनमें किसी आश्रमकी स्थापना करनेके लिए श्रीमद्‌भागवतको साधन बनाया होता तो इसमें अधर्मकी कोई बात नहीं होती। लेकिन मैंने इसे कभी धर्म नहीं समझा और जब कभी श्रोतागण कथा-श्रवणके

उपलक्ष्यमें द्रव्य चढ़ानेकी चेष्टा करते हैं तो मुझे बड़ी परेशानी होती है।' मुझको याद है, जब श्रीआनन्दमयी माँ किशनपुरमें कथा-श्रवण कर रही थीं तब लोगोंने मना करनेपर भी रुपये चढ़ाने शुरू कर दिये। श्रीआनन्दमयी माँने मेरी परेशानी दूर करनेके लिए उन सब रुपयोंको एकत्र किया और वहीं लोगोंमें लुटा दिया। इसलिए आप लोग भी कोई दक्षिणा चढ़ानेकी चेष्टा मत कीजिये।

लेकिन कभी-कभी ऐसी दक्षिणा मिल जाती है, जिसको अस्वीकार नहीं किया जा सकता। नैमिषारण्यकी सप्ताह-कथामें माँकी ओरसे मुझे स्वयं शालिग्राम भगवान् दक्षिणास्वरूप प्राप्त हुए और आज देखता हूँ कि श्रीमद्भागवतपर गोपालजी विराजमान हैं। अब इन भगवद्विग्रहोंकी बराबरी दूसरी कोई भी दक्षिणा कैसे कर सकती है? माँ मुझपर इतना स्नेह, इतना अनुग्रह करती हैं कि इन्होंने नैमिषारण्यकी कथाके बाद शालिग्राम भगवान्‌के साथ-साथ स्वयं अपनेको भी मुझे दक्षिणास्वरूप भेंट कर दिया तथा मैंने भी अपना हाथ बढ़ाकर उनका हाथ पकड़ लिया। देखा कि आपके साथ बैठकर महामहोपाध्याय पण्डित गोपीनाथ कविराज तथा पण्डितराज राजेश्वर शास्त्री जैसे दिग्गज विद्वानोंने भी बड़े प्रेमसे कथा सुनी। यही मेरे लिए सबसे बड़ी दक्षिणा है इसके अतिरिक्त मुझे और कोई दक्षिणा नहीं चाहिए।

दूसरी बात है श्रीमद्भागवत तथा वक्ताको प्रणाम करनेकी। निस्सन्देह कथा-श्रवणके बाद भगवान्‌के वाङ्मयविग्रह श्रीमद्भागवतको तथा वक्ताको भी प्रणाम करनेकी परम्परा है और वह बहुत अच्छी है। प्रणाम हमारी श्रद्धाका प्रतीक है और उससे लाभ-ही-लाभ है। लेकिन जहाँ भीड़ अधिक हो, वहाँ दूरसे मन-ही-मन प्रणाम कर लिया जाय तो अच्छा रहता है। यदि सब लोग एक साथ आगे आकर प्रणाम करनेका प्रयास करेंगे तो धक्का-मुक्कीसे भगवान्‌की यह प्रतिमा धराशायी हो जायगी, श्रीमद्भागवत-ग्रन्थ नीचे गिर जायगा, मञ्च टूट-फूट जायगा, सब व्यवस्था बिगड़ जायेगी और इस प्रकार प्रणाम करनेसे कोई लाभ नहीं होगा। मुझे तो कई बार चलते समय पैर छूकर प्रणाम करनेवालोंके कारण गिरनेकी नौबत आजाती है। इसलिए आप सबसे प्रार्थना है कि आप दूरसे मन ही-मन प्रणाम करके चले जायँ। यदि किसी-किसीको प्रणाम किये बिना रहा न जाय, तो चुपचाप भगवत्स्मरण करते हुए खड़े रहें। जब भीड़ छँट जाय तब अन्तमें श्रीमद्भागवतका स्पर्श करके प्रणाम कर लें। श्रवणके बाद हृदयमें शान्ति आनी चाहिए और वाणीसे भगवन्नाम निकलना चाहिए। यदि आप लोग ऐसा न करके एक साथ उठकर हल्ला-गुल्ला करेंगे तो आप कथा-श्रवणके वास्तविक आनन्दसे वञ्चित हो जायँगे।

तीसरी बात यह है कि जो लोग ज्ञानी हैं, उनको तो परमात्मा हस्तामलकवत् प्राप्त है ही। ज्ञानका अर्थ ही होता है कि जैसे हम इस रूमालको पहचानते हैं, वैसे ही हमारे लिए परमात्मा

साक्षात् अपरोक्ष प्रत्यगात्मा है। जिनको ज्ञान हो गया, जो ज्ञान-समर्थ अथवा ज्ञानाधिकारी हो गये, उनके लिए तो परमात्माके बारेमें कहना ही क्या है? जो लोग ध्यान कर सकते हैं, वे ध्यानके द्वारा परमात्मामें मन लगा लेते हैं। इसी प्रकार उपासना, यज्ञ, दान, व्रत आदि-साधन भी भगवान्‌की प्रसन्नताके लिए हैं।

किन्तु भगवान्‌का नाम एक ऐसा साधन है, जो नास्तिकको आस्तिक बना देता है और बिछुड़े हुएको भगवान्‌से मिला देता है। इसलिए मैं आपसे यही दक्षिणा माँगता हूँ कि आप भगवान्‌के सर्व-समर्थ नामका आश्रय ग्रहण करें और श्रद्धा-विश्वासपूर्वक उसके जपका नियम लें। इसीसे आपका श्रवण साङ्ग होगा, आपके हृदयमें भगवान्‌की भक्ति आयेगी, प्रीति उत्पन्न होगी और भगवान्‌के प्रति उन्मुखता बढ़ेगी। आपका जीवन किसी-न-किसी प्रकार भगवान्‌से जुड़े, इसके लिए आप दिनमें सौ बार नहीं तो दस-पाँच बार—यहाँतक कि केवल एक बार ही सही, भगवन्नाम लेनेका नियम बना लीजिये। यदि आप पहलेसे नियम लिये हुए हैं तो बहुत ठीक है, अन्यथा प्रतिदिन भगवान्‌का नाम लेनेका नियम अवश्य बना लीजिये।

एक बात और। भगवान्‌के नामोच्चारणसे पिछले सब पाप मिट जाते हैं, यह आप निश्चित समझिये। फिर यह काशी है, गङ्गाजीका तट है और यहाँ बड़े-बड़े महात्मा बैठे हैं। स्वयं श्रीमाँ विराजमान हैं। इसलिए यहाँ भगवान्‌का नाम लेनेसे किसी भी पापका अस्तित्व रह जायगा, यह प्रश्न ही नहीं उठता। विश्वास कीजिये कि यदि आपने एक बार भी भगवन्नाम ले लिया है आप शुद्ध-बुद्ध-मुक्त हो गये हैं। लेकिन इसके साथ एक शर्त जरूर है और वह यह है फिर आपके द्वारा दूसरा पाप न हो तथा आप निरन्तर नाम लेते रहें। आगे चलकर आप देखेंगे कि वाणीसे नाम लेनेकी जरूरत नहीं रह जायगी। क्योंकि आप नाममय हो जायँगे।

नामैकं वा यस्य वाचि प्रविष्टं बुद्ध्यान्विष्टं श्रोत्ररन्ध्रं गतं वा।
दग्ध्वा पापं शुद्धसत्त्वात्मदेहं कृत्वा साक्षात् संविधत्तेऽनवद्यम्॥

यदि आपसे फिर पाप हो जाता है तो उसे मिटानेके लिए आपके पास एक ऐसा आश्रय चाहिए, जो आपको ग्लानिग्रस्त न होने दे। 'सुगमं भगवन्नाम जिह्वा च वशवर्तिनी'—भगवान्‌का नाम बहुत ही सुगम है और जिह्वा अपने वशमें है। नामके रूपमें भगवान्‌ने मनुष्यको अपने साथ मिलानेके लिए एक ऐसा निर्विघ्न मार्ग दे दिया है, जिसपर चलकर वह उन तक अवश्य पहुँच जाता है और उसको परम कल्याणकी प्राप्ति हो जाती है।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

